1'3 VHP

रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला-१३

3190

स्याद्वादमञ्जरी

सम्पादक—

प्रोफेसर पं० जगदीशचन्द्र शास्त्री एम. ए.

वर्ग संख्या................ प्राप्ति-संख्या 3190

ग्रन्थ-कार्ड

श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान

ग्रन्थागार

नरिया, वाराणसी-५

ग्रन्थ नाम स्याद्वाद मंजरी

लेखक श्री हेमचन्द्राचार्य

लेनेवाले का नाम	देनेकी तिथि	लेनेवालेका हस्ताक्षर	लौटानेकी तिथि

प्रकाश हितैषी शास्त्री
संपादक सन्मति संदेश
५३५, गांधी नगर, दिल्ली-३१

3190

प्रकाश हितैषी शास्त्री
संपादक सन्मति संदेश
५३५, गांधी नगर, दिल्ली-३१

नमः सर्वज्ञाय

रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता-

अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवनटीका

श्रीमल्लिषेणसूरिप्रणीता

स्याद्वादमञ्जरी

एम्० ए० इत्युपपदधारिणा शास्त्रिणा

जगदीशचन्द्रेण

हिन्दीभाषायां अनुवादिता

उपोद्घात-परिशिष्टानुक्रमणादिभिः संयोज्य च
सम्पादिता

सा च मुम्बापुरीस्थ
श्रेष्ठि मणीलाल, रेवाशङ्कर जगजीवन जौहरी
परमश्रुतप्रभावकमण्डलाधिकारिभिः
मुम्बय्यां न्यूभारत-मुद्रणालये मुद्रयित्वा प्राकाश्यं नीता

वीरनिर्वाण संवत् २४६० विक्रम संवत् १९९१ ईसवी सन् १९३५

मूल्यं सार्द्धरूप्यकचतुष्टयं ४।।)

प्रकाशक—
शेठ मणीलाल, रेवाशंकर जगजीवन जौहरी
आ० व्यवस्थापक परमश्रुतप्रभावकमंडल
जौहरीबाजार, बम्बई नं० २

मुद्रक—
रघुनाथ दिपाजी देसाई;
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस, ६, केळेवाडी,
गिरगांव, बंबई नं. ४

विषयानुक्रमणिका ।

	विषय	पृष्ठ
	प्राक्कथन—लेखक-श्रीयुत भिक्खनलाल आत्रेय एम. ए., डी. लिट्, दर्शनाध्यापक काशी विश्वविद्यालय	7
	प्रकाशकका निवेदन	8
	सम्पादकीय निवेदन	9-10
	ग्रन्थ और ग्रंथकार	11-34
	हेमचन्द्र	11-14
	मल्लिषेण	15-22
	जैनदर्शनमें स्याद्वादका स्थान	23-34
	स्याद्वादका मौलिक रूप और उसका गूढ़ रहस्य	23-26
	स्याद्वादपर एक ऐतिहासिक दृष्टि	26-29
	स्याद्वादका जैनेतर साहित्यमें स्थान	29-32
	स्याद्वादका समन्वयदृष्टिमें स्थान	32-34
	स्याद्वादमंजरीका अनुवाद	१-३४५
	टीकाकारका मंगलाचरण	२
श्लोक १	अवतरणिका	३
	अनन्तविज्ञान आदि भगवानके चार विशेषण	३
	चार मूल अतिशय	४
	उक्त विशेषणोंकी सार्थकता	४-७
	श्रीवर्धमान आदि विशेषणोंकी सार्थकता	८-९
	श्लोकका दूसरा अर्थ	१०-११
श्लोक २	भगवानके यथार्थवादका प्ररूपण	१२-१३
श्लोक ३	भगवानके नयमार्गकी महत्ता	१४-१६
श्लोक ४-१०	न्यायवैशेषिकदर्शनपर विचार	१६-२१
श्लोक ४	सामान्यविशेषवाद	१६-२०
श्लोक ५	नित्यानित्यवाद	२०-३८
	दीपकका नित्यानित्यत्व	२०-२४
	अंधकारका पौद्गलिकत्व	२२-२४
	आकाशमें नित्यानित्यत्व	२४-२७
	नित्यका लक्षण	२५
	पातंजलयोग और वैशेषिकोंके नित्यानित्यवादका समर्थन	२८-२९
	एकान्त नित्यानित्यवादमें अर्थक्रियाका अभाव	३०-३६
श्लोक ६	ईश्वरके जगत्कर्तृत्वपर विचार	३८-५८
	ईश्वरको जगत्कर्ता सिद्ध करनेमें पूर्वपक्ष	३८-४१
	पूर्वपक्षका खंडन	४२-५७
	किरणोंके गुणत्वकी सिद्धि	४९-५०
	ईश्वरवादियोंके आगममें पूर्वापरविरोध	५२-५३

विषय पृष्ठ
श्लोक ७ समवायका खण्डन ५८–६५
श्लोक ८ ६५–९२
सत्ता भिन्न पदार्थ है—पूर्वपक्ष ६५–७१
वैशेषिकोंके छह पदार्थ ६५–७०
ज्ञान आत्मासे भिन्न है—पूर्वपक्ष ७२
मोक्ष ज्ञान और आनन्दरूप नहीं है—पूर्वपक्ष ७३–७४
सत्ता भिन्न पदार्थ नहीं है–उत्तरपक्ष ७४–७७
ज्ञान आत्मासे भिन्न नहीं है–उत्तरपक्ष ७७–८३
मोक्ष ज्ञान और आनन्दरूप है–उत्तरपक्ष ८४–९०
श्लोक ९ आत्माके सर्वव्यापकत्वका खंडन ९२–१०६
अवयव और प्रदेशमें भेद ९९
आत्माको शरीरपरिमाण माननेमें शंका और उसका समाधान १०१–१०३
आत्माके कथंचित् सर्वव्यापकत्वकी सिद्धि १०३
समुद्घातका लक्षण और उसके भेदोंका विस्तृत स्वरूप १०४–१०५
श्लोक १० नैयायिकोंद्वारा प्रतिपादित छल, जाति और निग्रहस्थान मोक्षके कारण नहीं हो सकते १०६–१२१
नैयायिकोंके सोलह पदार्थ १०९
नैयायिकोंके प्रमाणोंके लक्षणका खंडन १०९–११०
नैयायिकोंके बारह प्रकारके प्रमेयका खंडन १११
छलके भेद १११–११२
चौबीस प्रकारकी जाति–उसका विस्तृत स्वरूप ११२–११७
बाईस प्रकारका निग्रहस्थान–उसका विस्तृत स्वरूप ११८–१२०
श्लोक ११–१२ मीमांसकोंकी मान्यताओंपर विचार १२१–१५२
वेदमें कही हुई हिंसा धर्मका कारण है–पूर्वपक्षका खंडन १२२–१२५
जिनमंदिरके निर्माण करनेमें पुण्यसंचय १२५–१२६
सांख्य लोगोंका वैदिक-हिंसाका विरोध १२८
व्यास और वेदान्तियोंका वेदविहित हिंसाका विरोध १३१
श्राद्ध करनेमें दोष १३४–१३५
आगमके अपौरुषेयत्वका खंडन १३६
श्लोक १२ परोक्षज्ञानवादी मीमांसक और एक ज्ञानको अन्य ज्ञानोंसे माननेवाले न्यायवैशेषिकोंका खंडन १४३–१५२
ज्ञानको स्वप्रकाशक नहीं माननेवाले भट्ट मीमांसकोंका पूर्वपक्ष और उसका खंडन १४४–१४८
न्यायवैशेषिकोंकी मान्यताका खंडन १४८–१५१
श्लोक १३ ब्रह्माद्वैतवादियोंके मायावादपर विचार १५२–१६४
वेदान्तियोंका पूर्वपक्ष और उसका खंडन १५४–१५७
असत्ख्याति आदि ख्यातियोंका विस्तृत स्वरूप १५४–१५५

विषय पृष्ठ

अद्वैतवादियोंके द्वारा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ब्रह्मकी सिद्धि १५८–१६०
अद्वैतवादका खंडन १६०–१६२
श्लोक १४ कथंचित् सामान्यविशेषरूप वाच्य-वाचक भावका समर्थन १६४–१८२
एकान्त सामान्यवादी अद्वैतवादी, मीमांसक और सांख्योंका पूर्वपक्ष १६५–१६७
एकान्त विशेषवादी बौद्धोंका पूर्वपक्ष १६७–१६८
स्वतंत्र सामान्य-विशेषवादी न्यायवैशेषिकोंका पूर्वपक्ष १६९
उक्त तीनों पक्षोंका खंडन १७०–१७२
शब्दका पौद्गलिकत्व १७२–१७४
आत्माका कथंचित् पौद्गलिकत्व १७४
शब्द और अर्थका कथंचित् तादात्म्य संबंध १७५–१७६
सम्पूर्ण पदार्थोंमें भावाभावत्वकी सिद्धि १७६–१७८
अपोह, जाति, विधि आदि शब्दार्थका खंडन १८०–१८१
श्लोक १५ सांख्योंके सिद्धान्तोंपर विचार १८२–१९५
सांख्योंका पूर्वपक्ष १८२–१८८
पूर्वपक्षका खंडन १८८–१९२
सांख्योंकी अन्य विरुद्ध कल्पनायें १९३–१९४
श्लोक १६–१९ १९५–२५५
श्लोक १६ सौत्रांतिक, वैभाषिक और योगाचार बौद्धोंके सिद्धांतोंका खंडन १९५
प्रमाण और प्रमिति अभिन्न हैं–पूर्वपक्षका खंडन १९६–२०१
क्षणिकवाद और उसका खंडन २०१–२०५
ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होकर पदार्थको जानता है–इसका खंडन २०६–२११
ज्ञानाद्वैत–पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष २११–२२१
श्लोक १७ शून्यवादियोंका खंडन २२६–२४०
प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमितिकी असिद्धि–पूर्वपक्ष २२९–२३१
उत्तरपक्ष २३१–२३९
आत्माकी सिद्धि २३२–२३६
सर्वज्ञकी सिद्धि २३६–२३७
प्रमेय, प्रमाण और प्रमितिकी सिद्धि २३८–२३९
श्लोक १८ क्षणिकवादमें कृतप्रणाश आदि दोष २४०–२४८
क्षणिकवादका परिवर्तितरूप २४८
श्लोक १९ वासना और क्षणसंतति भिन्न, अभिन्न, और अनुभय रूपसे सिद्ध नहीं होती २४९–२५५
बौद्धमतमें वासना (आलयविज्ञान) में दोष २५२–२५३
श्लोक २० चार्वाकमतपर विचार २५६–२६२
केवल प्रत्यक्षको प्रमाण माननेवाले चार्वाकोंका खण्डन २५६–२५९
भौतिकवादका खंडन २६०–२६१

	विषय	पृष्ठ
श्लोक २१–२८	स्याद्वादकी सिद्धि	२६२–३२७
श्लोक २१	प्रत्येक वस्तुमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी सिद्धि	२६२–२६७
श्लोक २२	प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म हैं	२६७–२७१
श्लोक २३	सप्तभंगीका प्ररूपण	२७१–२८८
	मिथ्यादृष्टि द्वादशांगको पढ़कर भी उसे मिथ्याश्रुत समझता है	२७४–२७७
	मांस, मद्य और मैथुनमें जीवोंकी उत्पत्ति	२७६–२७७
	स्याद्वादके प्रसिद्ध सात भंग	२७८–२८३
	सकलादेश और विकलादेश रूप सप्तभंगी	२८३–२८६
श्लोक २४	अनेकांतवादमें विरोध आदि दोषोंका निराकरण	२८८–२९५
श्लोक २५	अनेकांतवादके चार भेद	२९५–२९७
श्लोक २६	एकान्त नित्यवाद और एकान्त अनित्यवादका खंडन	२९७–३०१
	नित्य और अनित्यवादियोंका परस्पर खंडन	२९८–२९९
श्लोक २७	एकान्तवादमें सुख-दुख आदिका अभाव	३०१–३०६
श्लोक २८	दुर्नय, नय और प्रमाणका स्वरूप	३०७–३२७
	नयका स्वरूप और उसके नैगम आदि सात भेद	३१०
	प्रमाण और प्रमाणके भेद	३२१–३२२
	एकसे लेकर नयके असंख्यात भेद	३२३–३२५
	नय और प्रमाणमें अन्तर	३२३
	नैगम नयके भिन्न भिन्न लक्षण और उसके भेद	३२५
	द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके विभागमें मतभेद (टि.)	३२६–३२७
श्लोक २९	जीवोंकी अनन्तताका प्रतिपादन	३२७–३३४
	पतंजलि, अक्षपाद आदि ऋषियोंका जीवोंकी अनन्तताका समर्थन	३२९
	पृथिवी, आदिमें जीवत्वकी सिद्धि	३३०–३३१
	निगोदका स्वरूप	३३१–३३२
	गोशाल, अश्वमित्र और स्वामी दयानन्दकी मोक्षके विषयमें मान्यता	३३२–३३३
	जीवोंके सदा मोक्ष जाते रहते हुए भी यह संसार जीवोंसे खाली नहीं होता	३३३
	गोशाल, महीदास, मनुस्मृति और महाभारतकारका वनस्पतिमें जीवत्वका समर्थन	३३३–३३४
	आधुनिक विज्ञानसे पृथिवीमें जीवत्वका समर्थन	३३४
श्लोक ३०	स्याद्वाददर्शनमें जैनेतर दर्शनोंका समन्वय	३३४–३३८
श्लोक ३१	भगवानके यथार्थवादित्वका समर्थन	३३८–३४०
श्लोक ३२	जिनभगवानसे ही जगतके उद्धार होनेकी शक्यता	३४१–३४३
प्रशस्ति		३४५

विषय	पृष्ठ
अयोगव्यवच्छेदिका	३४७–३५५
परिशिष्ट	३५७–४४७
जैन परिशिष्ट	३५७–३८४
दुःषमार	३५७–३५९
केवली	३५९–३६१
अतिशय	३६२–३६३
एवं व्योमापि...	३६३–३६५
अपुनर्बन्ध	३६५
प्रदेश	३६५–३६७
केवलीसमुद्घात	३६७–३६९
लोक	३६९–३७१
भवतामपि...	३७१–३७२
आधाकर्म	३७२–३७३
द्रव्यषट्क	३७३–३७८
द्वादशांग	३७८–३८१
प्राण	३८१–३८२
ज्ञानके भेद	३८२–३८३
निगोद	३८३–३८४
बौद्ध परिशिष्ट	३८५–४०७
बौद्धदर्शन	३८५
बौद्धोंके मुख्य सम्प्रदाय	३८५–३८६
सौत्रान्तिक	३८५–३८८
वैभाषिक	३८८–३८९
सौत्रान्तिक-वैभाषिकोंके सिद्धान्त	३८९–३९२
शून्यवाद	३९२–३९६
विज्ञानवाद	३९६–३९९
बौद्धोंका अनात्मवाद	३९९–४०७
बौद्ध साहित्यमें आत्मा संबंधी मान्यताएं	४०४–४०७
न्यायवैशेषिक परिशिष्ट	४०८
न्यायवैशेषिकदर्शन	४०८–४०९
न्यायवैशेषिकोंके समानतंत्र	४१०
न्यायवैशेषिकोंमें मतभेद	४११
वैदिकसाहित्यमें ईश्वरका विविध रूप	४११–४१३
ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण	४१३–४१५
ईश्वर विषयक शंकायें	४१५–४१७
ईश्वरके विषयमें पाश्चात्य विद्वानोंका मत	४१७–४१८
न्यायवैशेषिक-साहित्य	४१८–४१९

विषय	पृष्ठ
सांख्ययोग परिशिष्ट	४२०–४२७
सांख्य, योग, जैन और बौद्धदर्शनोंकी तुलना	४२०
सांख्ययोगदर्शन	४२१
सांख्यदर्शन	४२१–४२३
सांख्यदर्शनके प्ररूपक	४२३–४२५
योगदर्शन	४२६
जैन और बौद्धदर्शनमें योग	४२६–४२७
मीमांसक परिशिष्ट	४२८–४३७
मीमांसकोंके आचार विचार	४२८
मीमांसकोंके सिद्धांत	४२८–४३४
मीमांसक और जैन	४३४–४३५
मीमांसादर्शनका साहित्य	४३६–४३७
वेदान्त परिशिष्ट	४३८–४४२
वेदान्तदर्शन	४३८
वेदान्तसाहित्य	४३८–४४०
वेदान्तदर्शनकी शाखायें	४४०–४४१
शंकरका मायावाद	४४१–४४२
चार्वाक परिशिष्ट	४४३–४४४
चार्वाकमत	४४३
चार्वाक लोगोंके सिद्धान्त	४४४
चार्वाकसाहित्य	४४४
विविध परिशिष्ट	४४५–४४७
आजीविक	४४५–४४६
संवर-प्रतिसंवर	४४६
क्रियावादी	४४६–४४७
अनुक्रमणिका	१—५१
स्याद्वादमंजरीके अवतरण (१)	१—१८
स्याद्वादमंजरीमें निर्दिष्ट ग्रन्थ और ग्रन्थकार (२)	१९–२४
अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोंकी सूची (३)	२५
अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची (४)	२६
स्याद्वादमंजरीके न्याय (५)	२७
स्याद्वादमंजरीके विशेष शब्दोंकी सूची (६)	२८—३६
स्याद्वादमंजरीकी टिपण्णीमें उपयुक्त ग्रंथ (७)	३७–३८
अयोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोंकी सूची (८)	३९
अयोगव्यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची (९)	४०–४१
अयोगव्यवच्छेदिकाकी टिप्पणीमें उपयुक्त ग्रंथ (१०)	४१
परिशिष्टोंके विशेष शब्दोंकी सूची (११)	४२—४३
परिशिष्टोंमें उपयुक्त ग्रंथ (१२)	४४—४६
सम्पादनमें उपयुक्त ग्रंथ (१३)	४७—५१
शुद्धाशुद्धिपत्र—	५२

प्राक्कथन।

आज मेरे लिए बड़े हर्ष और सौभाग्यका अवसर है, कि मैं अपने सुयोग्य शिष्य तथा प्रिय मित्र श्री. जगदीशचन्द्र जैन एम. ए. द्वारा अनुवादित तथा संपादित स्याद्वादमञ्जरीके आदिमें कतिपय शब्द लिख रहा हूँ। ग्रन्थ, ग्रन्थकार, ग्रन्थके सिद्धान्तों और उनसे सम्बद्ध अनेक विषयोंका परिचय तो जगदीशचन्द्रजीने पाठकोंको सरल और निर्दोष राष्ट्रीय भाषामें भली भाँति दे ही दिया है। मुझे इस विषयमें यहाँपर अधिक कुछ नहीं कहना है। मेरे लिये तो एक ही विषय रह गया है। वह है पाठकोंको सम्पादक महोदयका परिचय देना।

श्री. जगदीशचन्द्र जैन सुप्रसिद्ध श्री काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके अग्रगण्य स्नातकोंमेंसे हैं। उन्होंने वहाँसे सन् १९३२ में दर्शन (Philosophy) में एम. ए. की उपाधि प्राप्त की थी। विश्वविद्यालयके गर्भमें भारतीय-दर्शन—विशेषतः जैन और बौद्ध—के साथ साथ उन्होंने पाश्चात्य-दर्शनका गहरा और विस्तृत अध्ययन किया, और दार्शनिक समस्याओंपर निष्पक्ष भावसे स्वतंत्र विचार किया। मुझे उनके आचार-विचार और आदर्शोंसे खूब परिचिति है, क्योंकि वे कई वर्ष तक मेरी निरीक्षकता (Wardenship) में छात्रावासमें रहे हैं, और उन्होंने मेरे साथ मनोविज्ञान (Psychology) और भारतीय-दर्शनका अध्ययन किया है। सायंकालके भ्रमणमें अक्सर उनके साथ दार्शनिक विषयोंपर बातचीत हुआ करती थी। अपनी इस परिचितिके आधारपर मैं निःसंकोच यह कह सकता हूँ, कि श्री. जगदीशचन्द्रजी एक बहुत होनहार दार्शनिक विद्वान् और लेखक हैं। दार्शनिकोंके दो सबसे बड़े गुण—निष्पक्ष और न्यायपूर्वक विचार और समन्वय बुद्धि—उनमें कूट कूट कर भरे हैं। वे केवल दार्शनिक ही नहीं हैं, सहृदय भी हैं। यही कारण है कि अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अहिंसावादमें उनकी श्रद्धा है। स्याद्वादमञ्जरीमें इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन है, इसीलिये उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका राष्ट्रभाषामें अनुवाद तथा सम्पादन किया है। अनुवाद और सम्पादन बहुत ही उत्तम रीतिसे हुए हैं। प्रत्येक श्लोक और उसकी टीकाके अनुवादके अन्तमें जो भावार्थ दिया गया है, उसमें विषयका बहुत सरलतासे प्रतिपादन हुआ है। कहीं कहीं जो टिप्पणियाँ दी गई हैं, वे भी बहुत उपयोगी हैं। अन्तमें सब दर्शनों सम्बन्धी विशेषतः बौद्धदर्शन सम्बन्धी—परिशिष्टों और कई प्रकारकी अनुक्रमणिकाओंने पुस्तकको बहुमूल्य बना दिया है। गुणज्ञ पाठक स्वयं ही समझ जायँगे कि सम्पादक महोदयने कितना परिश्रम किया है।

मेरी यह हार्दिक इच्छा है, कि इस पुस्तकका प्रचार खूब हो, और विशेषतः उन लोगोंमें हो जो जैनधर्मावलम्बी नहीं हैं। सत्य और उच्च भाव और विचार किसी एक जाति या मज़हबवालोंकी वस्तु नहीं हैं। इनपर मनुष्यमात्रका अधिकार है। मनुष्यमात्रको अनेकान्तवादी, स्याद्वादी और अहिंसावादी होनेकी आवश्यकता है। केवल दार्शनिक क्षेत्रमें ही नहीं, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रमें, विशेषतः इस समय—जब कि समस्त भूमण्डलकी सभ्यताका एकीकरण हो रहा है और सब देशों, जातियों और मतोंके लोगोंका संपर्क दिन पर दिन अधिक होता जा रहा है—इन ही सिद्धान्तोंपर आरूढ़ होनेसे संसारका कल्याण हो सकता है। मनुष्य-जीवनमें कितना वाञ्छनीय परिवर्तन हो जाय, यदि सभी मनुष्योंको प्रारम्भसे शिक्षा मिले कि सब ही मत सापेक्षक हैं; कोई भी मत सर्वथा सत्य अथवा असत्य नहीं है; पूर्ण सत्यमें सब मतोंका समन्वय होना चाहिये; और सबको दूसरोंके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिये जैसा कि वे दूसरोंसे अपने प्रति चाहते हैं। मैं तो इस दृष्टिके प्राप्त कर लेनेको ही मनुष्यका सभ्य होना समझता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि यह पुस्तक पाठकोंको इस प्रकारकी दृष्टि प्राप्त करनेमें सहायक होगी।

भिक्खनलाल आत्रेय एम. ए., डी. लिट्.,
दर्शनाध्यापक,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

आषाढ पूर्णिमा १९९२

प्रकाशकका निवेदन।

लगभग २४ वर्षके वाद यह ग्रन्थ फिर प्रकाशित किया जा रहा है। पहले इसके एक अंश (पत्र १०८ तक) की टीका पं० जवाहरलालजी साहित्यशास्त्रीकृत और शेषांश (पत्र २१७ तक) की पं० वंशीधरजी शास्त्रीकृत थीं। अवकी वार पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए० ने इसका सम्पादन किया है, और आधुनिक तुलनात्मक पद्धतिसे ग्रन्थको सर्वाङ्गसुन्दर बनानेके लिए उन्होंने यथेष्ट परिश्रम किया है। गहन विषयके विद्यार्थियोंके लिए इसमें अव काफी मसाला इकट्ठा कर दिया गया है। आशा है कि इसका आदर होगा। वास्तवमें यह टीका और इसके परिशिष्टादि सव अंश बिल्कुल नये हैं। पहले संस्करणसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। सिवाय इसके कि मूल ग्रन्थ वही है, जो पहले था।

प० मं० की तरफसे और भी कई नये महत्त्वपूर्ण उपयोगी ग्रंथ सुसम्पादित होकर छप रहे हैं।

जौहरी वाजार, वम्वई
ज्येष्ठ कृष्ण ३०
वि. सं. १९९१

निवेदक—
मणीलाल जौहरी

सम्पादकीय निवेदन ।

आज तक स्याद्वादमंजरीके निम्न लिखित संस्करण निकल चुके हैं—

१ यशोविजय ग्रंथमाला काशी
२ अगरचन्द्रजी भैरोदानजी सेठिया बीकानेर
३ हीरालाल हंसराज जामनगर
४ रायचन्द्रशास्त्रमाला बम्बई
५ चौखंभा सीरीज़ काशी
६ आर्हतमतप्रभाकर पूना
७ भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट पूना

इन आवृत्तियोंसे प्रस्तुत स्याद्वादमंजरीकी प्रस्तुत आवृत्तिमें कुछ विशेषता हैं या नहीं, इसका निर्णय तो स्वयं विज्ञ पाठकगण ही ठीक ठीक कर सकेंगे। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है, कि प्रस्तुत ग्रंथको अनेक दृष्टियोंसे सांगोपांग परिपूर्ण बनानेका यथाशक्ति प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत संस्करणका संक्षिप्त परिचय

१ संशोधन—इस ग्रंथका संशोधन रायचन्द्रमालाकी एक प्राचीन और शुद्ध हस्तलिखित प्रतिके आधारसे किया गया है। इस प्रतिके आदि अथवा अन्तमें किसी संवत् आदिका निर्देश न होनेसे इस प्रतिका ठीक ठीक समय मालूम नहीं हो सका, परन्तु प्रति प्राचीन मालूम होती है।

२ संस्कृतटिप्पणी—संस्कृतके अभ्यासियोंके लिये मूल पाठके कठिन स्थलोंको स्पष्ट करनेके लिये इस ग्रंथमें संस्कृतकी टिप्पणियां लगाई गई हैं। इन टिप्पणियोंमें सेठ मोतीलाल लाधाजीद्वारा संपादित स्याद्वादमंजरीकी संस्कृत टिप्पणियोंका भी उपयोग किया गया है। एतदर्थ हम उक्त सम्पादक महोदयका आभार मानते हैं।

३ अनुवाद—अनुवादको यथाशक्य सरल और प्रवाहबद्ध बनानेका प्रयत्न किया गया है। इसके लिये अनुवाद करते समय बहुतसे शब्दोंकी छूट भी लेनी पड़ी है। विषयका वर्गीकरण करनेके साथ विषयको सरल और स्पष्ट बनानेके लिये न्यायके कठिन विषयोंको 'शंका—समाधान,' 'वादी—प्रतिवादी,' 'स्पष्टार्थ' रूपमें उपस्थित किया गया है। प्रत्येक श्लोकके अंतमें श्लोकका संक्षिप्त भावार्थ दिया गया है। अनेक स्थलोंपर भावार्थ लिखते समय ग्रंथके मूल विषयके बाह्य विषयोंकी भी विस्तृत चर्चा की गई है (उदाहरणके लिये देखो श्लोक २८—२९ का भावार्थ) । कहीं कहीं हिन्दी अनुवाद करते समय और भावार्थ लिखते समय हिन्दीकी टिप्पणियां भी जोड़ी गई हैं ।

४ अयोगव्यवच्छेदिका—इस संस्करणमें हेमचन्द्रकी दूसरी कृति अयोगव्यवच्छेदिकाका अनुवाद भी दे दिया गया है। इसके साथ तुलनाके लिये सिद्धसेन और समंतभद्रकी कृतियोंमेंसे टिप्पणीमें अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

५ परिशिष्ट—यह इस संस्करणका महत्त्वपूर्ण भाग है। इसमें जैन, बौद्ध, न्यायवैशेषिक, सांख्ययोग, पूर्वमीमांसा, वेदान्त, चार्वाक और विविध नामके आठ परिशिष्ट गर्भित हैं। जैन परिशिष्टमें तुलनात्मक दृष्टिसे जैन पारिभाषिक शब्दों और विचारोंका स्पष्टीकरण है। बौद्ध परिशिष्टमें बौद्धोंके विज्ञानवाद, शून्यवाद, अनात्मवाद आदि दार्शनिक सिद्धांतोंका पाली, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाके ग्रंथोंके आधारसे प्रामाणिक विवेचन किया गया है। आशा है इसके पढ़नेसे पाठकोंकी बौद्ध दर्शन संबंधी बहुतसी भ्रांतिपूर्ण धारणायें दूर होंगी। तीसरे न्यायवैशेषिक परिशिष्टमें ईश्वर संबंधी चर्चा विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। चौथे सांख्ययोग परिशिष्टमें सांख्य, योग, जैन और बौद्धदर्शनोंकी तुलना करते समय जो ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति संबंधी भेद दिखाया गया है, वह ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। पांचवें परिशिष्टमें मीमांसक और जैनोंकी तुलना, छठेमें शंकरके मायावादकी विज्ञानवाद और शून्यवादसे तुलना, सातवेंमें चार्वाकमत और आनन्दघनजीका उसे जिनभगवानकी कूख बताना, और आठवें परिशिष्टमें आजीविक सम्प्रदाय—ध्यानपूर्वक पढ़ने योग्य विषय हैं।

६ अनुक्रमणिका—इस संस्करणमें नीचे लिखी तेरह अनुक्रमणिकायें लगाई गई हैं—

(१) स्याद्वादमंजरीके अवतरण–इन अवतरणोंमें कई अनुपलब्ध अवतरणोंकी मैंने स्वयं खोज की है। ये अवतरण प्रायः सेठ मोतीलाल लाधाजी और प्रो. ध्रुवकी स्याद्वादमंजरीके आधारसे लिये गये हैं।

(२) स्याद्वादमंजरीमें निर्दिष्ट ग्रंथ और ग्रंथकार
(३) अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोंकी सूची
(४) अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची
(५) स्याद्वादमंजरीके न्याय
(६) स्याद्वादमंजरीके शब्दोंकी सूची
(७) स्याद्वादमंजरीकी संस्कृत और हिन्दी टिप्पणीमें उपयुक्त ग्रंथ और ग्रंथकार
(८) अयोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोंकी सूची
(९) अयोगव्यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची
(१०) अयोगव्यवच्छेदिकाकी टिप्पणीमें उपयुक्त ग्रंथ
(११) परिशिष्टके शब्दोंकी सूची
(१२) परिशिष्टमें उपयुक्त ग्रंथ
(१३) सम्पादनमें उपयुक्त ग्रंथ

उपसंहार

जिस समय मैं बनारस हिन्दु युनिवर्सिटीमें एम. ए. के कोर्समें अपने आदरणीय अध्यापक प्रो. फणिभूषण अधिकारी एम. ए. से स्याद्वादमंजरी पढ़ता था, उस समय मुझे उनके साथ दर्शनशास्त्रके अनेक विषयोंपर चर्चा करनेका अवसर प्राप्त हुआ था। उसी समयसे मेरी इच्छा थी, कि मैं स्याद्वादमंजरीके ऊपर कुछ लिखकर जैनदर्शन तथा राष्ट्र-भाषाकी सेवा करूँ। संयोगवश पिछले वर्ष मेरा बम्बईमें आना हुआ,और मैंने रायचन्द्र जैनशास्त्रमालाके व्यवस्थापक श्रीयुत मणीलाल रेवाशंकर जगजीवन झवेरीकी स्वीकृति मिलते ही स्याद्वादमंजरीका काम आरंभ कर दिया। इस ग्रंथके आरंभसे इसकी समाप्ति होनेतक अनेक सज्जनोंने जो मुझे अनेक प्रकारसे सहयोग दिया है, उसके लिये मैं सबका आभार मानता हूँ। स्नेही श्रीयुत दलसुख डाह्याभाई मालवणीयाने स्याद्वादमंजरीके संस्कृत और उसके अनुवादके बहुतसे प्रूफोंका संशोधन किया है। मेरे बंधु साहित्यरत्न पं. दरबारीलालजी न्यायतीर्थने इस ग्रंथ संबंधी अनेक प्रश्नोंकी चर्चामें रस लेकर अपना बहुमूल्य समय ख़र्च किया है। स्थानीय बुद्धिस्ट सोसायटीके मंत्री के. ए. पाध्ये बी. ए., एलएल. बी., वकील बम्बई हायकोर्टने स्थानीय एशियाटिक लायब्रीमें मुझे हरेक प्रकारके सुभीते दिलवाकर, तथा एन. आर. फाटक बी. ए. ने अपनी लाइब्रेरीमेंसे बहुतसी पुस्तकें देकर मुझे सहायता पहुँचाई है। रायचन्द्रशास्त्रमालाके मैनेजर श्रीयुत कुन्दनलालजीने मेरे लिये आवश्यकीय पुस्तकों आदिका प्रबन्ध करके उदारता दिखाई है। पं. नाथूरामजी प्रेमी, मुनि हिमांशुविजयजी, मोहनलाल दलीचंद देसाई बी. ए., एलएल. बी., तथा मोहनलाल भगवानदास झवेरी एम. ए. सोलिसीटर आदि सज्जनोंने भी हरतरह अपनी सहानुभूतिका प्रदर्शन किया है। मेरी पत्नी कमलश्रीने हिन्दीके प्रूफ पढ़वानेमें और अनुक्रमणिका बनानेमें मेरी सहायता की है। मैं इन सब महानुभावोंका हृदयसे आभार मानता हूँ। मुनि मोहनलाल सेंट्रल जैन लाइब्रेरी, हीराचन्द गुमानजी जैन बोर्डिंग लाइब्रेरी, ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन तथा न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेसके अध्यक्षोंने मुझे अपना पूर्ण सहयोग दिया है। इस संस्करणके तैय्यार करनेमें प्रो. आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुवकी स्याद्वादमंजरी तथा अन्य अनेक ग्रन्थोंसे जो मुझे सहायता मिली है, मैंने उनका यथास्थान उल्लेख किया है। मैं इन सब विद्वानोंका आभार मानता हूँ।

जुबेलीबाग,
तारदेव बम्बई
२०–६–३५

जगदीशचन्द्र जैन

ग्रंथ और ग्रंथकार

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र आचार्य श्वेताम्बर परम्परामें महान प्रतिभाशाली एक असाधारण विद्वान हो गये हैं। हेमचन्द्राचार्यका जन्म ई. स. १०७८ में गुजरातके धन्धुका ग्राममें मोढ़ वणिक् जातिमें हुआ था। हेमचन्द्रके जन्मका नाम चंगदेव अथवा चांगोदेव था। इनके पिताका नाम चच्च, चाच अथवा चाचिग, और माताका नाम पाहिनी अथवा चाहिणी था। एक बारकी बात है, कि देवचन्द्र नामके एक जैन साधु धंधुकामें आये। उस समय चंगदेवकी अवस्था केवल पांच वर्षकी थी। पाहिनी अपने पुत्रको लेकर जिनमंदिरके दर्शन करनेके लिये गई। देवचन्द्र भी इसी मंदिरमें ठहरे थे। जिस समय पाहिनी जिन प्रतिबिम्बकी प्रदक्षिणा दे रही थी, उस समय चंगदेव देवचन्द्र महाराजके पास आकर बैठ गये। आचार्य चंगदेवके शरीरपर असाधारण चिन्ह देखकर आश्चर्यचकित हुए, और उन्होंने चंगदेवके घर जाकर पाहिनीसे उसके पुत्रको जैन साधु संघमें दीक्षित करनेकी अनुमति मांगी[1]। पाहिनीने गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य की, और चंगदेवको देवचन्द्र आचार्यके सुपुर्द कर दिया। जब चंगदेवके पिता बाहरसे लौटे, इस घटनाको सुनकर बहुत क्रुद्ध हुए। अन्तमें सिद्धराजके तत्कालीन जैन मंत्री उदयनने चंगदेवके पिताको शान्त किया, तथा चंगदेवका विधि विधानपूर्वक दीक्षा-संस्कार हो गया.। दीक्षाके पश्चात् चंगदेवका नाम सोमचन्द्र रक्खा गया। प्रतिभाशाली सोमचन्द्रने शीघ्र ही तर्क, लक्षण, साहित्य और आगम इन चारों विद्याओंका पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। देवचन्द्रसूरिने अपने शिष्यका अगाध पांडित्य देखकर सोमचन्द्रको सूरिकी उपाधिसे विभूषित किया, और अब सोमचन्द्र हेमचन्द्रसूरिके नामसे कहे जाने लगे।

एक बार हेमचन्द्र आचार्य विहार करते करते गुजरातकी राजधानी अणहिल्लपुर पाटणमें पधारे.। उस समय वहां महाराज सिद्धराज जयसिंह राज्य करते थे। सिद्धराजने हेमचन्द्र आचार्यको राजसभामें आमंत्रित किया, और हेमचन्द्रके अगाध पाण्डित्यको देखकर बहुत मुग्ध हुए। हेमचन्द्र अणहिल्लपुरमें ही रहने लगे। सिद्धराजने कोई अच्छा व्याकरण न देखकर

---

[1] सोमप्रभसूरिके अनुसार चंगदेवने स्वयं ही देवचन्द्रसूरिके उपदेश सुनकर उनका शिष्य होनेकी इच्छा प्रगट की, और वे देवचन्द्रसूरिके साथ साथ फिरने लगे। देवचन्द्र भ्रमण करते करते जब खंभातमें आये, वहांपर चंगदेवके मामा नेमिचन्द्रने चंगदेवके माता-पिताको समझाया, और देवचन्द्रसूरिने चंगदेवको दीक्षा दी।

हेमचन्द्रसे कोई व्याकरण बनानेको कहा। सिद्धराजके प्रार्थना करनेपर हेमचन्द्रने गुजरातके लिये सिद्धहेमशब्दानुशासन नामके व्याकरणकी रचना की। इस गुजरातके प्रधान व्याकरणके समाप्त होनेपर यह व्याकरण राजाके हाथीपर रखकर राज दरबारमें लाया गया। सिद्धराज शैवधर्मी थे। एक वार हेमचन्द्र सिद्धराजके साथ सोमनाथके मंदिरमें गये। हेमचन्द्रने निम्न श्लोकोंसे शिव भगवानको नमस्कार किया, और अपने हृदयकी विशालताका परिचय दिया—

भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥
यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया यया।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते॥

हेमचन्द्रके उपदेशसे सिद्धराजकी जैनधर्मके प्रति प्रीति उत्पन्न हुई, और इसके फलस्वरूप सिद्धराजने पाटणमें 'रायविहार' और सिद्धपुरमें 'सिद्धविहार' नामक चौबीस जिन प्रतिमावाले मंदिर बनवाये। सिद्धराजके समय हेमचन्द्र केवल अपने विद्या-वैभवके कारण सत्कारके पात्र हुए थे। परन्तु सिद्धराजके उत्तराधिकारी कुमारपाल हेमचन्द्रको राजगुरुकी तरह मानते थे। हेमचन्द्रके उपदेशसे कुमारपालने अपने राज्यभरमें देव-देवियोंके ऊपर की जानेवाली प्राणियोंकी हिंसाको, और मांस, मद्य, द्यूत, शिकार आदि दुर्व्यसनोंको रोकनेकी घोषणा कराई, और जैनधर्मके सिद्धांतोंका अधिकाधिक प्रचार किया।

हेमचन्द्र चारों विद्याओंके समुद्र थे, और अपने असामान्य विद्या वैभवके कारण ही कलिकालसर्वज्ञके नामसे प्रख्यात थे। मल्लिषेण हेमचन्द्रको महान् पूज्य दृष्टिसे स्मरण करते हैं, और उन्हें चार विद्याओं संबंधी साहित्यके निर्माण करनेमें साक्षात् ब्रह्माकी उपमा देते हैं। सिद्धहेमशब्दानुशासनके अतिरिक्त हेमचन्द्रने तर्क, साहित्य, छन्द, योग, नीति आदि विविध विषयोंपर अनेक ग्रंथोंकी रचना करके जैन साहित्यको खूब ही पल्लवित बनाया है। कहा जाता है, कि सब मिलाकर हेमचन्द्रने साढ़े तीन करोड़ श्लोकोंकी रचना की है। हेमचन्द्रके मुख्य ग्रंथ निम्न प्रकार हैं—

१ प्राकृत और अपभ्रंश व्याकरण—प्राकृतव्याकरण।

२ महाकाव्य (संस्कृत और प्राकृत)—द्व्याश्रय महाकाव्य, इसमें भट्टिकाव्यकी तरह प्रत्येक श्लोकके दो अर्थ निकलते हैं।

---

१ एक विद्वान्ने इस व्याकरणकी प्रशंसा निम्न श्लोकसे की थी—

भ्रातः संवृणु पाणिनीप्रलपितं कातंत्रकंथा वृथा
मा कार्षीः कटुशाकटायनवचः क्षुद्रेण चान्द्रेण किम्।
किं कण्ठाभरणादिभिर्बठरयत्यात्मानमन्यैरपि
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुराः श्रीसिद्धहेमोक्तयः॥ जैन साहित्यनो इतिहास पृ. २९४।

३ कोष—अभिधानचिंतामणि–सवृत्ति [हैमीनाममाला], अनेकार्थसंग्रह, देशीनाममाला–सवृत्ति और निघंटुशेष।

४ अलंकार—काव्यानुशासन–सवृत्ति।

५ छंद—छंदोनुशासन–सवृत्ति।

६ न्याय—प्रमाणमीमांसा [अपूर्ण], अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अयोगव्यवच्छेदिका।

७ योग—योगशास्त्र-सवृत्ति [अध्यात्मोपनिषद्]।

८ स्तुति—वीतरागस्तोत्र।

९ चरित—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित।

इन ग्रंथोंके अतिरिक्त हेमचन्द्रने और भी बहुतसे ग्रंथोंका निर्माण किया है। निस्सन्देह हेमचन्द्र भारतके एक दैदीप्यमान रत्न थे। हेमचन्द्र आचार्यके विना जैन साहित्य ही नहीं बल्कि गुजरात भरका साहित्य सूना कहा जाता है।

अन्ययोग और अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिकायें

दार्शनिक विचारोंको संस्कृत भाषाके पद्योंमें लिखनेकी रीति भारतवर्षमें बहुत समयसे चली आती है। उपलब्ध भारतीय साहित्यमें सर्वप्रथम विज्ञानवादी बौद्ध आचार्य वसुबंधुद्वारा विज्ञानवादकी सिद्धिके लिये वीस श्लोकप्रमाण विंशिका, और तीस श्लोकप्रमाण त्रिंशिकाकी रचना देखनेमें आती है। जैन साहित्यमें सबसे पहले प्रसिद्ध जैन दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकरने द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की। हरिभद्रने भी विंशतिविंशिकाओंको बनाया है। हेमचन्द्रने सिद्धसेनकी द्वात्रिंशिकाओंका अनुकरण करके ही सरल और अत्यन्त मार्मिक भाषामें अन्ययोगव्यवच्छेद और अयोगव्यवच्छेद नामकी दो द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की है।

हेमचन्द्रकी उक्त दोनों द्वात्रिंशिकायें महावीर भगवानकी स्तुतिरूप हैं। इन दोनोंमें बत्तीस बत्तीस श्लोक हैं। इनमें इकत्तीस श्लोक उपजाति और अन्तका एक श्लोक शिखरिणी छन्दमें लिखे गये हैं। अन्ययोगव्यवच्छेदिकामें[1] अन्य दर्शनोंमें दूषणोंका प्रदर्शन किया गया है। इसमें आदिके तीन और अन्तके तीन श्लोकोंमें भगवानकी स्तुति; सतरह श्लोकोंमें न्यायवैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, बौद्ध और चार्वाकदर्शनोंकी समीक्षा; तथा नौ श्लोकोंमें स्याद्वादकी सिद्धि की गई है—

१—स्तुतिरूप छह श्लोकोंमें भगवानके अतिशय, उनके यथार्थवाद, नयमार्ग, और निष्पक्ष शासनका वर्णन करते हुए अन्तमें जिन भगवानके द्वारा ही अज्ञानांधकारमें पड़े हुए जगतकी रक्षाकी शक्यताका प्रतिपादन किया गया है।

२—(क) अन्य दर्शनोंके समीक्षात्मक रूप सतरह श्लोकोंमें ४–१० श्लोक तक छह श्लोकोंमें न्याय-वैशेषिकोंके सामान्यविशेषवाद, नित्यानित्यवाद, ईश्वरकर्तृत्व, धर्म-धर्मिका

---

[1] अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके कई श्लोकोंका उल्लेख माधवाचार्यने सर्वदर्शनसंग्रहमें किया है।

भेद, सामान्यका भिन्नपदार्थत्व, आत्मा और ज्ञानका भिन्नत्व, बुद्धि आदि आत्माके गुणोंके उच्छेदको मोक्ष मानना, आत्माकी सर्वव्यापकता, तथा छल, जाति और निग्रहस्थानसे मुक्ति मानना—इन सिद्धांतोंकी समीक्षा की गई है।

(ख) ११–१२ वें श्लोकमें मीमांसकोंकी,

(ग) १३ वें श्लोकमें वेदान्तियोंके मायावादकी,

(घ) १४ वें में एकान्त सामान्य और एकान्त विशेष रूप वाच्य-वाचक भावकी,

(ङ) १५ वें, में सांख्यदर्शनके सिद्धांतोंकी, तथा

(च) १६–१९ में बौद्धोंके प्रमाण और प्रमितिकी अभिन्नता, ज्ञानाद्वैत, शून्यवाद, क्षणभंगवादकी, और

(छ) २० वें श्लोकमें चार्वाकदर्शनकी समीक्षा की गई है।

३—शेष नौ श्लोकोंमें प्रत्येक वस्तुमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी सिद्धि, सकलादेश और विकलादेशसे सप्तभंगीका प्ररूपण, स्याद्वादमें विरोध आदि दोषोंका खंडन, एकान्तवादोंका खंडन, दुर्नय, नय और प्रमाणका स्वरूप, और सर्वज्ञकथित जीवोंकी अनन्तताके प्ररूपणके साथ स्याद्वादकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की गई है।

अयोगव्यवच्छेदिका नामकी दूसरी द्वात्रिंशिकामें स्वपक्षकी सिद्धि की गई है। अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अयोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोंका उल्लेख हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसावृत्ति, योगशास्त्रवृत्ति आदि ग्रंथोंमें मिलता है, इससे माल्म होता है इन ग्रंथोंके बननेसे पहले ही इन द्वात्रिंशिकाओंकी रचना हो चुकी थी। अयोगव्यवच्छेदिकामें हेमचन्द्र आचार्यने तीर्थिकोंके आगमको सदोष सिद्ध करके जिनशासनकी महत्ताका विविध प्रकारसे बड़ी ओजस्विनी भाषामें प्रतिपादन किया है। हेमचन्द्राचार्यका सुदृढ विश्वास है, कि जैनेतर आगमोंमें हिंसा आदि का विधान पाया जाता है, अतएव पूर्वापरविरोधसे रहित यथार्थवादी जिन भगवानका हितापदेशी शासन ही प्रामाणिक हो सकता है। जिन शासनके सर्वोत्कृष्ट और कल्याणरूप होने पर भी जो लोग जिन शासनकी उपेक्षा करते हैं, यह उन लोगोंके दुष्कर्मका ही फल समझना चाहिये। हेमचन्द्र घोषणा करके कहते हैं, कि वीतरागको छोड़कर दूसरा कोई देव, और अनेकान्तको छोड़कर दूसरा कोई न्यायमार्ग नहीं है—

इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणामुदारघोषामवघोषणां ब्रुवे।
न वीतरागात्परमस्ति दैवतं न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः॥

अन्तमें हेमचन्द्र जिनदर्शनके प्रति अपना पक्षपात और जिनेतर दर्शनोंके प्रति द्वेष भावका निराकरण करते हुए अपने समदर्शीपनेकी भावनाको व्यक्त करते हैं, और यथार्थवाद गुणके कारण जिनशासनकी ही महत्ता सिद्ध करते हैं—

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीर प्रभुमाश्रिताः स्मः॥

टीकाकार मल्लिषेण

मल्लिषेण नामके अनेक[1] जैन आचार्य हो गये हैं। हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके ऊपर स्याद्वादमंजरी नामकी टीका लिखनेवाले प्रस्तुत मल्लिषेणसूरि श्वेताम्बर विद्वान हैं। मल्लिषेणने अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिकाकी टीकाके अतिरिक्त अन्य कौनसे ग्रंथोंकी रचना की है, ये भारतके कौनसे प्रदेशके रहनेवाले थे, आदि वातोंके संबंधमें कुछ विशेष पता नहीं लगता। स्याद्वादमंजरीके अंतमें दी हुई प्रशस्ति[2]से केवल इतना ही मालूम होता, है कि नागेंद्रगच्छीय[3]

---

[1] पं. नाथूराम प्रेमीजीने अपनी विद्वद्रत्नमाला (प्रथम भाग) में मल्लिषेण नामके दो दिगम्बर विद्वानोंका उल्लेख किया है। एक मल्लिषेण उभयभाषाचक्रवर्ती कहे जाते थे, जो संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंके महाकवि थे। अव तक इनके महापुराण, नागकुमार महाकाव्य, और सज्जनचितवल्लभ नामके तीन ग्रंथोंका पता लगा है। दूसरे मल्लिषेण 'मलधारिन्' के नामसे प्रसिद्ध थे। ये मल्लिषेण शक संवत् १०५० में फाल्गुनकृष्ण तृतीयाके दिन श्रवणवेलगुलमें समाधिस्थ हुए थे। प्रवचनसारटीका, पंचास्तिकायटीका, ज्वालिनीकल्प, पद्मावतीकल्प, वज्रपंजरविधान, ब्रह्मविद्या और आदिपुराण नामक ग्रंथ भी मल्लिषेण आचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता, कि ये ग्रंथ कौनसे मल्लिषेणने रचे थे।

[2] नागेन्द्रगच्छगोविन्दवक्षोऽलंकारकौस्तुभाः।
ते विश्ववन्द्या नन्द्यासुरुदयप्रभसूरयः॥
श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगगनदिनमणिभिः।
वृत्तिरियं मनुरविमितशाकाब्दे दीपमहसि शनौ॥
श्रीजिनप्रभसूरिणां साहाय्योद्भिन्नसौरभा।
श्रुतावुत्तंसतु सतां वृत्तिः स्याद्वादमंजरी॥

[3] मोतीलाल लाधाजीने आर्हतमतप्रभाकर पूनासे प्रकाशित स्याद्वादमंजरीकी प्रस्तावनामें नागेन्द्रगच्छके आचार्योंकी परम्परा निम्न प्रकारसे दी है।—

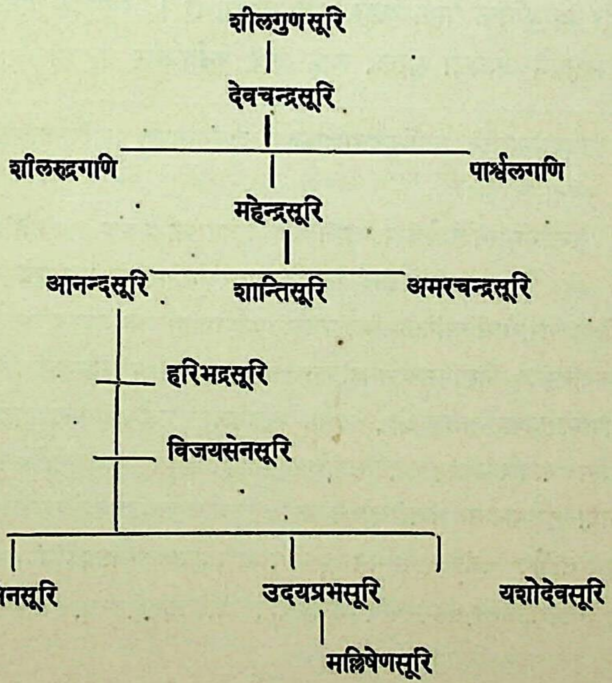
शीलगुणसूरि
देवचन्द्रसूरि
शीलरुद्रगणि
पार्श्वलगणि
महेन्द्रसूरि
आनन्दसूरि
शान्तिसूरि
अमरचन्द्रसूरि
हरिभद्रसूरि
विजयसेनसूरि
उदयसेनसूरि
उदयप्रभसूरि
यशोदेवसूरि
मल्लिषेणसूरि

उदयप्रभसूरि मल्लिषेणके गुरु थे, तथा शक संवत् १२१४ (ई. स. १२९२) में दीपमालिकाको शनिवारके दिन जिनप्रभसूरिकी[2] सहायतासे मल्लिषेणने स्याद्वादमंजरीको समाप्त किया है।

मल्लिषेणसूरि अपने समयके एक प्रतिभाशाली विद्वान् थे। मल्लिषेण न्याय, व्याकरण और साहित्यके प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने जैनन्याय और जैनसिद्धांतोंके गंभीर अध्ययन करनेके साथ न्याय-वैशेषिक, सांख्य, पूर्वमीमांसा, वेदान्त और बौद्धदर्शनके मौलिक ग्रंथोंका विशाल अध्ययन किया था। मल्लिषेणकी विषय-वर्णनकी शैली सुस्पष्ट, प्रसाद गुणसे युक्त और हृदयको स्पर्श करनेवाली है। न्याय और दर्शनशास्त्रके कठिनसे कठिन विषयोंको अत्यन्त सरल और हृदयग्राही भाषामें रखकर पाठकोंको मुग्ध करनेकी कलामें मल्लिषेण अत्यन्त कुशल थे। इसीलिये स्याद्वादमंजरी—मल्लिषेणकी एक मात्र उपलब्ध रचना—न्यायका ग्रंथ कहे जानेकी अपेक्षा 'साहित्यका एक अंश' (Piece of literature) कहा जाता है। यद्यपि रत्नप्रभसूरिकी स्याद्वादरत्नावतारिका भी साहित्यके ढंगपर ही लिखी गई है, परन्तु रत्नावतारिकामें समासोंकी दीर्घता और अर्थ-काठिन्य होनेके कारण उसमें भाषाकी अत्यन्त जटिलता आ गई है[3]। इस लिये एक ओर सन्मतितर्क, अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि जैन न्यायके गहन वनमेंसे, और दूसरी ओर स्याद्वादरत्नाकर, स्याद्वादरत्नावतारिका जैसी विकट और घोर अटवीमेंसे निकलकर स्याद्वादमंजरीको विश्राम करनेका सर्वांगसुंदर आधुनिक पार्क कहा जा सकता है। यहांपर प्रत्येक दर्शनके महत्वपूर्ण सिद्धांतोंका वहुत संक्षेपमें अत्यन्त सरल, स्पष्ट और मनोरंजक भाषामें वर्णन किया गया है।

---

[1] उदयप्रभसूरिने धर्माभ्युदयमहाकाव्य, आरंभसिद्धि, उपदेशमालाकर्णिकावृत्ति आदि ग्रंथोंकी रचना की है।

[2] जिनप्रभसूरिने तीर्थकल्प, अजितशान्तिस्तव आदि ग्रंथ बनाये हैं।

[3] उदाहरणके लिये—इह हि लक्ष्यमाणाऽक्षोदीयोऽर्थाक्षूणाक्षरक्षीरनिरन्तरे, तत इतो दृश्यमानस्याद्वादमहामुद्रामुद्रितानिद्रप्रमेयसहस्रोत्तुंगतंगत्तरंगभंगिसंगसौभाग्यभाजने, अतुलफलभरभ्राजिष्णुभूयिष्ठागमाऽभिरामातुच्छपरिच्छेदसन्दोहशाद्वलासन्नकाननिकुंजे, निरुपममनीषामहायानपात्रव्यापारपरायणपूरुषप्राप्यमाणाप्राप्तपूर्वरत्नविशेषे, क्वचन वचनारचनाऽनवद्यगद्यपरम्पराप्रवालजालजटिले, क्वचन सुकुमारकान्तालोकनीयास्तोकश्लोकमौक्तिकप्रकरकरम्बिते, क्वचिदनेकान्तवादोपकल्पितानल्पविकल्पकल्लोलोल्लासितोद्दामदूषणाद्रिविद्राव्यमाणानेकतीर्थिकनक्रचक्रचक्रवाले, क्वचिदपगताशेषदोषानुमानाभिधानोद्वर्तमानासमानपाठीनपुच्छछटाऽच्छोटनोच्छलदतुच्छशीकरश्लेषसंजायमानमार्तण्डमण्डलप्रचण्डच्छमत्कारे, क्वापि तीर्थिकग्रंथग्रंथिसार्थसमर्थकदर्थनोपस्थापितार्थानवस्थितप्रदीपायमानप्लवमानज्वलन्मणिफणीन्द्रभीषणे, सहृदयसैद्धान्तिकतार्किकवैयाकरणकवि चक्रचक्रवर्तिसुविहितसुगृहीतनामधेयास्मद्गुरुश्रीदेवसूरिभिर्विरचिते स्याद्वादरत्नाकरे......। स्याद्वादरत्नावतारिका पृ. २।

उपाध्याय यशोविजयजीने स्याद्वादमंजरीके ऊपर स्याद्वादमंजूषा नामकी वृत्ति लिखी है[1] । स्याद्वादमंजरीका उल्लेख माधवाचार्यने सर्वदर्शनसंग्रहमें किया है[2] ।

मल्लिषेण हरिभद्रसूरिकी कोटिके सरल प्रकृतिके उदार और मध्यस्थ विद्वान थे। सिद्धसेन आदि जैन विद्वानोंकी तरह मल्लिषेण भी 'सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनोंके समूहको जैनदर्शन' कहकर 'अन्धगजन्याय' का उपयोग करते हैं। अन्य दर्शनोंके विद्वानोंको पशु, वृषभ आदि असभ्य शब्दोंसे न कहकर वेदान्तियोंको सम्यग्दृष्टि, व्यासको ऋषि, कपिलको परमर्षि, उदयनको प्रामाणिकप्रकाण्ड रूपसे उल्लेख करना, तथा श्वेताम्बर होते हुए भी समंतभद्र, विद्यानन्द आदि दिगम्बर विद्वानोंके निःसंकोच भावसे उद्धरण देना मल्लिषेणकी धार्मिक सहिष्णुताके साथ उनके समदर्शीपनेकी भावनाको स्पष्ट रूपसे प्रमाणित करता है । स्याद्वादमंजरीमें सर्वज्ञसिद्धिकी चर्चाके प्रसंगपर भी मल्लिषेण स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति जैसे दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायके विवादस्थ प्रश्नोंके विषयमें मौन रहते हैं, इससे भी प्रतीत होता है, कि अन्य दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्योंकी तरह मल्लिषेणको साम्प्रदायिक चर्चाओंमें कोई भी रस नहीं था। अनेक वृक्षोंसे पुष्पोंको चुनने समान अनेक दर्शन संबंधी शास्त्रोंसे प्रमेयोंको चुन चुनकर निस्सन्देह मल्लिषेणसूरिने 'अकृत्रिमबहुमति' वाली स्याद्वादमंजरी नामकी माला गूंथकर जैनदर्शनके साहित्यको खूब ही अलंकृत बनाया है।

स्याद्वादमंजरीका विहंगावलोकन

श्लोक १–३

ये श्लोक भगवानकी स्तुतिरूप हैं। इन श्लोकमें चार अतिशयों सहित भगवानके यथार्थवादका प्ररूपण करते हुए भगवानके शासनकी सर्वोत्कृष्टता बताई गई है।

---

[1] मोहनलाल दुलीचंद देसाईने अपने 'जैनसाहित्यनो इतिहास' नामक पुस्तकके ६४५ पृष्ठपर उपाध्याय यशोविजयकी उपलब्ध अप्रकट कृतियोंमें इस वृत्तिका उल्लेख किया है।

[2] यदवोचदाचार्यः स्याद्वादमंजर्याम्–

अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्।
एकदेशविशिष्टोऽर्थः नयस्य विषयो मतः ॥
न्यायानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तौ श्रुतवर्त्मनि।
सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वस्तु श्रुतमुच्यते ॥
अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्
यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः।
नयानशेषानविशेषमिच्छन्
न पक्षपाती समयस्तथार्हतः ॥ सर्वदर्शनसंग्रह–आर्हतदर्शन।

उक्त तीन श्लोकोंमें पहलेके दो श्लोक सिद्धसेनके न्यायावतारके, और अन्तिम श्लोक हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदिकाका है। मालूम नहीं ये श्लोक स्याद्वादमंजरीके कर्ताके नामसे कैसे उद्धृत किये गये हैं।

श्लोक ४–१०

इन छह श्लोकोंमें न्याय–वैशेषिकोंके निम्न सिद्धांतोंपर विचार किया गया है—

(१) सामान्य और विशेष भिन्न पदार्थ नहीं हैं।

(२) वस्तुको एकान्त-नित्य अथवा एकान्त-अनित्य मानना न्यायसंगत नहीं है।

(३) एक, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, स्वतंत्र और नित्य ईश्वर जगतका कर्ता नहीं हो सकता।

(४) धर्म-धर्मीमें समवाय संबंध नहीं वन सकता।

(५) सत्ता (सामान्य) भिन्न पदार्थ नहीं है।

(६) ज्ञान आत्मासे भिन्न नहीं है।

(७) आत्माके बुद्धि आदि गुणोंके नाश होनेको मोक्ष नहीं कह सकते।

(८) आत्मा सर्वव्यापक नहीं हो सकती।

(९) छल, जाति, निग्रहस्थान आदि तत्व मोक्षके कारण नहीं हो सकते।

तथा—

(क) तम (अंधकार) अभावरूप नहीं है, बल्कि वह आकाशकी तरह स्वतंत्र द्रव्य है, और वह पौद्गलिक है।

(ख) 'अप्रच्युत, अनुत्पन्न और सदास्थिरत्व' नित्यका लक्षण मानना ठीक नहीं। 'पदार्थके स्वरूपका नाश नहीं होना' ही नित्यका लक्षण ठीक हो सकता है।

(ग) किरणें गुणरूप नहीं है, उन्हें तैजस पुद्गलरूप मानना चाहिये।

(घ) नैयायिकोंके प्रमाण, प्रमेय आदिके लक्षण दोष पूर्ण हैं।

इसके अतिरिक्त इन श्लोकोंमें—

(अ) जैनदृष्टिसे आकाश आदिमें नित्यानित्यत्व,

(ब) पतंजलि, प्रशस्तकार और बौद्धोंके अनुसार वस्तुओंका नित्यानित्यत्व,

(स) अनित्यैकान्तवादी बौद्धोंके क्षणिकवादमें दूषण,

(ड) वैदिक संहिता, स्मृति आदिके वाक्योंमें पूर्वापरविरोध, तथा

(इ) केवलिसमुद्घात अवस्थामें जैनसिद्धांतके अनुसार आत्म-व्यापकताकी संगतिका प्ररूपण किया गया है।

श्लोक ११–१२

इन श्लोकोंमें पूर्वमीमांसकोंके निम्न सिद्धांतोंपर विचार किया गया है—

(१) वेदोंमें प्रतिपादित हिंसा धर्मका कारण नहीं हो सकती।

(२) श्राद्ध करनेसे पितरोंकी तृप्ति नहीं होती।

(३) अपौरुषेय वेदको प्रमाण नहीं मान सकते।

(४) ज्ञानको स्वपरप्रकाशक न माननेसे अनेक दूषण आते हैं, इस लिये ज्ञानको स्व और परका प्रकाशक मानना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इन श्लोकोंमें—

(क) जिन मंदिरके निर्माण करनेका विधान,

(ख) सांख्य, वेदान्ती और व्यास ऋषिका याज्ञिक हिंसाका विरोध, तथा

(ग) ज्ञानको अनुव्यवसायगम्य माननेवाले न्यायवैशेषिकोंका खंडन किया गया है।

श्लोक १३

इस श्लोकमें ब्रह्माद्वैतवादियोंके मायावादका खंडन किया गया है। यहांपर प्रत्यक्ष प्रमाणको विधि और निषेध दोनों रूप प्रतिपादन किया है।

श्लोक १४

इस श्लोकमें एकान्त सामान्य और एकान्त विशेष वाच्य—वाचक भावका खंडन करते हुए कथंचित् सामान्य और कथंचित् विशेष वाच्य--वाचक भावका समर्थन किया गया है। इस श्लोकमें निम्न महत्वपूर्ण विषय आये है—

(१) केवल द्रव्यास्तिकनय अथवा संग्रहनयको माननेवाले अद्वैतवादी, सांख्य और मीमांसकोंका सामान्यैकान्तवाद मानना युक्तियुक्त नहीं है।

(२) केवल पर्यायास्तिकनयको माननेवाले बौद्धोंका विशेषैकान्तवाद ठीक नहीं है।

(३) केवल नैगमनयको स्वीकार करनेवाले न्याय—वैशेषिकोंका स्वतंत्र और परस्पर निरपेक्ष सामान्य-विशेषवाद मानना ठीक नहीं है।

तथा—

(क) शब्द आकाशका गुण नहीं है, वह पौद्गलिक है, और सामान्य-विशेष दोनों रूप है।

(ख) आत्मा भी कथंचित् पौद्गलिक है।

(ग) अपोह, सामान्य अथवा विधिको शब्दार्थ नहीं मान सकते।

श्लोक १५

इस श्लोकमें सांख्योंकी निम्न मान्यताओंकी समीक्षा की गई है—

(१) चित्शक्ति (पुरुष) को ज्ञानसे शून्य मानना परस्पर विरुद्ध है।

(२) बुद्धि (महत्) का जड़ मानना ठीक नहीं है। अहंकारको भी आत्माका ही गुण मानना चाहिये, बुद्धिका नहीं।

(३) सत्कार्यवाद माननेवाले सांख्य लोगोंक्त आकाश आदिका पांच तन्मात्राओंसे उत्पत्ति मानना असंगत है।

(४) बंध पुरुषके ही मानना चाहिये, प्रकृतिके नहीं।

(५) वाक्, पाणि आदिको पृथक् इन्द्रिय नहीं कह सकते, इस लिये पांच ही इन्द्रियां माननी चाहिये।

(६) केवल ज्ञान मात्रसे मोक्ष नहीं हो सकता।

श्लोक १६–१९

इन श्लोकोंमें बौद्धोंके निम्न मुख्य सिद्धांतोंपर विचार किया गया है—

(१) प्रमाण और प्रमाणके फलको सर्वथा अभिन्न न मानकर कथंचित् भिन्नाभिन्न मानना चाहिये।

(२) सम्पूर्ण पदार्थोंको एकान्त रूपसे क्षणध्वंसी न मानकर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित स्वीकार करना चाहिये।

(३) पदार्थोंके ज्ञानमें तदुत्पत्ति और तदाकारताको कारण न मानकर क्षयोपशम रूप योग्यताको ही कारण मानना चाहिये।

(४) विज्ञानवादी बौद्धोंका विज्ञानाद्वैत मानना ठीक नहीं है।

(५) प्रमाता, प्रमेय आदि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध होते हैं, इस लिये माध्यामिक बौद्धोंका शून्यवाद युक्तिसंगत नहीं है।

(६) बौद्धोंके क्षणभंगवादमें अनेक दोष आते हैं, इस लिये क्षणभंगवादका सिद्धांत दोष पूर्ण है।

(७) क्षणभंगवादकी सिद्धिके लिये नाना क्षणोंकी परम्परारूप वासना अथवा संतानको मानना भी ठीक नहीं बनता।

तथा—

(क) नैयायिकोंके प्रमाण और प्रमितिमें एकान्त भेद नहीं बन सकता।

(ख) आत्माकी सिद्धि।

(ग) सर्वज्ञकी सिद्धि।

श्लोक २०.

इस श्लोकमें चार्वाक मतके सिद्धांतोंका खण्डन किया गया है।

श्लोक २०–२९

इन श्लोकोंमें स्वपक्षका समर्थन करते हुए स्याद्वादकी सिद्धि की गई है। इन श्लोकोंमें निम्न सिद्धांतोंका प्रतिपादन किया गया है—

(१) प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है। द्रव्यकी अपेक्षा वस्तुमें ध्रौव्य और पर्यायकी अपेक्षा सदा उत्पाद और व्यय होता रहता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर सापेक्ष हैं।

(२) आत्मा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आदि सम्पूर्ण द्रव्योंमें नाना अपेक्षाओंसे नाना धर्म रहते हैं, अतएव प्रत्येक वस्तुको अनन्तधर्मात्मक मानना चाहिये। जो वस्तु अनन्तधर्मात्मक नहीं होती, वह वस्तु सत् भी नहीं होती।

(३) प्रमाणवाक्य और नयवाक्यसे वस्तुमें अनन्त धर्मोंकी सिद्धि होती है। प्रमाणवाक्यको सकलादेश और नयवाक्यको विकलादेश कहते हैं। पदार्थके धर्मोंका काल, आत्मरूप, अर्थ, संबंध, उपकार गुणिदेश, संसर्ग और शब्दकी अपेक्षा अभेदरूप कथन करना सकलादेश; तथा काल, आत्मरूप आदिकी भेद विवक्षासे पदार्थोंके धर्मोंका प्रतिपादन करना विकलादेश है। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिअवक्तव्य, स्यान्नास्ति-अवक्तव्य, और स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्यके भेदसे सकलादेश और विकलादेश प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगीके सात सात भेदोंमें विभक्त है।

(४) स्याद्वादियोंके मतमें स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा वस्तुमें अस्तित्व है, और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा नास्तित्व है। जिस अपेक्षासे वस्तुमें अस्तित्व है, उसी अपेक्षासे वस्तुमें नास्तित्व नहीं है। अतएव सप्तभंगी नयमें विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव नामक दोष नहीं आ सकते।

(५) द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वस्तु नित्य, सामान्य, अवाच्य, और सत् है, तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य, विशेष, वाच्य और असत् है। अतएव नित्यानित्यवाद, सामान्यविशेषवाद, अभिलाप्यानभिलाप्यवाद तथा सदसद्वाद इन चारों वादोंका स्याद्वादमें समावेश होजाता है।

(६) नयरूप समस्त एकांतवादोंका समन्वय करनेवाला स्याद्वादका सिद्धांत ही सर्वमान्य हो सकता है।

(७) भावाभाव, द्वैताद्वैत, नित्यानित्य आदि एकांतवादोंमें सुख-दुख, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदिकी व्यवस्था नहीं बनती।

(८) वस्तुके अनन्त धर्मोंमेंसे एक समयमें किसी एक धर्मकी अपेक्षा लेकर वस्तुके प्रतिपादन करनेको नय कहते हैं। इस लिये जितने तरहके वचन होते हैं, उतने ही नय हो सकते हैं। नयके एकसे लेकर संख्यात भेद तक हो सकते हैं। सामान्यसे नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात भेद किये जाते हैं। न्यायवैशेषिक केवल नैगमनयके, अद्वैतवादी और सांख्य केवल संग्रहनयके, चार्वाकलोग केवल व्यवहारनयके, बौद्ध लोग केवल ऋजुसूत्रनयके, और वैयाकरण केवल शब्दनयके माननेवाले हैं। प्रमाण

सम्पूर्ण नयरूप होता है। नयवाक्योंमें स्यात् शब्द लगाकर बोलनेको प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे प्रमाणके दो भेद होते हैं।

(९) जितने जीव व्यवहार राशिसे मोक्ष जाते हैं, उतने ही जीव अनादि निगोदकी अव्यवहार राशिसे निकलकर व्यवहार राशिमें आ जाते हैं, और यह अव्यवहार राशि आदि रहित है, इस लिये जीवोंके सतत मोक्ष जाते रहनेपर भी यह संसार जीवोंसे कभी खाली नहीं हो सकता।

(१०) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिमें जीवत्वकी सिद्धि।

(११) प्रत्येक दर्शन नयवादमें गर्भित होता है। जिस समय नयरूप दर्शन परस्पर निरपेक्ष भावसे वस्तुका प्रतिपादन करते हैं, उस समय ये दर्शन परसमय कहे जाते है। जिस प्रकार सम्पूर्ण नदियां एक समुद्रमें जाकर मिलती है, उसी तरह अनेकांत दर्शनमें सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनोंका समन्वय होता है इस लिये जैनदर्शन स्वसमय है।

श्लोक ३०–३२

इन श्लोकोंमें महावीर भगवानकी स्तुतिका उपसंहार करते हुए अनेकांतवादसे ही जगतका उद्धार होनेकी शक्यताका प्रतिपादन किया गया है।

जैनदर्शनमें स्याद्वादका स्थान

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुत्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थनमिव गोपी ॥ (अमृतचन्द्र)

स्याद्वादका मौलिक रूप और उसका रहस्य—विज्ञानने इस बातको भले प्रकार सिद्ध कर दिया है, कि जिस पदार्थको हम नित्य और ठोस समझते हैं, वह पदार्थ बड़े वेगसे गति कर रहा है, जो हमें काले, पीले, लाल आदि रंग दिखाई पड़ते हैं, वे सब सफेद रंगके रूपान्तर हैं, जो सूर्य हमें छोटासा और बिलकुल पास दिखाई देता है, वह पृथिवी मंडलसे साढ़े बारह लाख गुना बड़ा और यहाँसे नौ करोड़ तीस लाख मीलकी ऊँचाईपर है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है, कि जब हम अनन्त समय बीत जानेपर भी ब्रह्माण्डकी छोटीसे छोटी वस्तुओंका भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके, तो जिसको हम दार्शनिक भाषामें पूर्णसत्य (Absolute) कहते हैं, उसका साक्षात्कार करना कितना दुष्कर होना चाहिये। भारतके प्राचीन तत्त्ववेत्ताओंने तत्त्वज्ञान संबंधी इस रहस्यका ठीक ठीक अनुभव किया था। इसीलिये जब कभी आत्मा, परब्रह्म, पूर्णसत्य आदिके विषयमें पूर्वकालकी परिषदोंमें प्रश्नोंकी चर्चा उठती थी, तो 'नैषा तर्केण मतिरापनेया (कठ), नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन (मुण्डक), सव्वे सरा नियट्टंति तक्का तत्थ न विज्जइ (आचारांग), परमार्थो हि आर्याणां तूष्णींभावः (चन्द्रकीर्ति)—वह केवल अनुभवगम्य है, वह वाणी और मनके अगोचर है, वहाँ जिह्वा रुक जाती है, और तर्क काम नहीं करती, वास्तवमें तूष्णींभाव ही परमार्थ सत्य है, आदि वाक्योंसे इन शंकाओंका समाधान किया जाता था। इसका मतलब यह नहीं, कि भारतीय ऋषि अज्ञानवादी थे, अथवा उनको पूर्णसत्यका यथार्थ ज्ञान नहीं था। किन्तु इस प्रकारके समाधान करनेसे उनका यही अभिप्राय था, कि पूर्णसत्य तक पहुँचना तलवारकी धार पर चलनेके समान है, अतएव इसकी प्राप्तिके लिये अधिकसे अधिक साधनाकी आवश्यकता है। वास्तवमें जितना जितना हम पदार्थोंका विचार करते हैं, उतने ही पदार्थ विशीर्यमाण दृष्टिगोचर होते हैं। महर्षि सुकरातके शब्दोंमें, हम जितना जितना शास्त्रोंका अवलोकन करते हैं, हमें उतना ही अपनी मूर्खताका अधिकाधिक आभास होता है।

जैनदर्शनका स्याद्वाद भी इसी तत्त्वका समर्थन करता है। जैन दार्शनिकोंका सिद्धांत है, कि मनुष्यकी शक्ति बहुत अल्प है, और बुद्धि बहुत परिमित है। इस लिये हम अपनी छद्मस्थ दशामें हज़ारों-लाखों प्रयत्न करनेपर भी ब्रह्माण्डके असंख्य पदार्थोंका ज्ञान करनेमें असमर्थ रहते हैं। हम विज्ञानको ही लेते हैं। विज्ञान अनन्त समयसे विविध रूपमें प्रकृतिका अभ्यास करनेमें जुटा है, परन्तु हम अभी तक प्रकृतिके एक अंश मात्रको भी पूर्णतया नहीं जान

---

१ पाश्चिमात्य विचारक ब्रैडले (Bradley), बर्गसन (Bergson) आदि विद्वानोंने भी सत्यको बुद्धि और तर्कके बाह्य कहकर उसे Experience और Intution का विषय बताया है।

सके। दर्शनशास्त्रकी भी यही दशा है। सृष्टिके आरंभसे आज तक अनेक ऋषि-महर्षियोंने तत्त्वज्ञान संबंधी अनेक प्रकारके नये नये विचारोंकी खोज की, परन्तु हमारी दार्शनिक गुत्थियां आज भी पहलेकी तरह उलझी पड़ी हुई हैं। स्याद्वाद यही प्रतिपादन करता है, कि हमारा ज्ञान पूर्णसत्य नहीं कहा जा सकता, वह पदार्थोंकी अमुक अपेक्षाको लेकर ही होता है, इस लिये हमारा ज्ञान आपेक्षिक सत्य है। प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म हैं। इन अनन्त धर्मोंमेंसे हम एक समयमें कुछ धर्मोंका ही ज्ञान कर सकते हैं, और दूसरोंको भी कुछ धर्मोंका ही प्रतिपादन कर सकते हैं। जैन तत्त्ववेत्ताओंका कथन है, कि जिस प्रकार कई अंधे मनुष्य किसी हाथीके भिन्न भिन्न अवयवोंको हाथसे टटोलकर हाथीके उन भिन्न भिन्न अवयवोंको ही पूर्ण हाथी समझकर परस्पर लड़ते हैं, ठीक इसी प्रकार संसारका प्रत्येक दार्शनिक सत्यके केवल अंशमात्रको ही जानता है, और सत्यके इस अंशमात्रको सम्पूर्ण सत्य समझकर परस्पर विवाद और वितण्डा खड़ा करता है। सचमुच यदि संसारके दार्शनिक अपने एकान्त आग्रहको छोड़कर अनेकान्त अथवा स्याद्वाददृष्टिसे काम लेने लगें, तो हमारे जीवनके बहुतसे प्रश्न सहजमें ही हल हो सकते हैं। वास्तवमें सत्य एक है, केवल सत्यकी प्राप्तिके मार्ग जुदा जुदा हैं। अल्प शक्तिवाले छद्मस्थ जीव इस सत्यका पूर्ण रूपसे ज्ञान करनेमें असमर्थ हैं, इस लिये उनका सम्पूर्ण ज्ञान आपेक्षिक सत्य ही कहा जाता है। यही जैन दर्शनकी अनेकांत दृष्टिका गूढ़ रहस्य है।

यहाँ एक शंका हो सकती है, कि इस सिद्धांतके अनुसार हमें केवल आपेक्षिक अथवा अर्धसत्यका ही ज्ञान हो सकता है, स्याद्वादसे हम पूर्ण सत्य नहीं जान सकते। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है, कि स्याद्वाद हमें अर्ध-सत्योंके पास ले जाकर पटक देता है, और इन्हीं अर्धसत्योंको पूर्ण सत्य मान लेनेकी हमें प्रेरणा करता है। परन्तु केवल निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्योंको मिलाकर एक साथ रख देनेसे वह पूर्णसत्य नहीं कहा जा सकता। तथा किसी न किसी रूपमें पूर्ण सत्यको माने विना कोई भी दर्शन पूर्ण कहे जानेका अधिकारी नहीं है। इस भावको भारतके प्रसिद्ध विचारक विद्वान् प्रो. राधाक्रिश्नन्ने निम्न प्रकारसे उपस्थित किया है—

The theory of Relativity cannot be logically sustained without the hypothesis of an absolute.......... The Jains admit that things are one in their universal aspect (Jāti or Kāraṇa) and many in their particular aspect (Vyakti or Kārya). Both these, according to them, are partial points of view. A plurality of reals is admittedly a relative truth. We must rise to the complete point of view and took at the whole with all the wealth of its attitudes. If Jainism stops short with plurality, which is at best a relative and partial truth, and does not ask whether there is any higher truth pointing to a one which particularises itself in the objects of the world, connected with one another, vitally, essentially and immanently, it throws overboard its own logic and exalts a relative truth into an absolute one'.

इस शंकाका समाधान बहुत स्पष्ट है, और वह यह है, जैसा कि ऊपर बताया गया है, कि स्याद्वाद पदार्थोंके जाननेकी एक दृष्टि मात्र है। स्याद्वाद स्वयं अंतिम सत्य नहीं है। यह हमें अन्तिम सत्य तक पहुंचानेके लिये केवल मार्गदर्शकका काम करता है। स्याद्वादसे केवल व्यवहार सत्यके जाननेमें उपस्थित होनेवाले विरोधोंका ही समन्वय किया जा सकता है, इसीलिये जैन दर्शनकारोंने स्याद्वादको व्यवहार सत्य माना है। व्यवहार सत्यके आगे भी जैनसिद्धांतमें निरपेक्ष सत्य माना गया है, जिसे जैन पारिभाषिक शब्दोंमें केवलज्ञानके नामसे कहा जाता है। स्याद्वादमें सम्पूर्ण पदार्थोंका क्रम क्रमसे ज्ञान होता है, परन्तु केवलज्ञान सत्यप्राप्तिकी वह उत्कृष्ट दशा है, जिसमें सम्पूर्ण पदार्थ और उन पदार्थोंकी अनन्त पर्यायोंका एक साथ ज्ञान होता है। स्याद्वाद परोक्षज्ञान श्रुतज्ञानमें गर्भित होता है, इस लिये स्याद्वादसे केवल इन्द्रियजन्य पदार्थ ही जाने जा सकते हैं, किन्तु केवलज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है, इस लिये केवलज्ञानमें भूत, भविष्य और वर्तमान सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिभासित होते[३] हैं। अतएव स्याद्वाद हमें

---

[१] इन्डियन फिलासफी जि. १ पृ. ३०५-६। इसी प्रकारके विचार 'इन्डियन फिलासफिकल काँग्रेसके किसी अधिवेशनके समय Jain Instrumental theory of knowledge नामक लेखमें संभवतः हनुमंतराव एम. ए. ने प्रगट किये हैं। लेखका कुछ अंश निम्न प्रकारसे है—

Its great defect lies in the fact that it (the doctrine of Syādvāda) yields to the temptation of an easy compromise without overcoming the contradictions inherent in the opposed standpoints in a higher synthesis... .... It takes care to show that the truths of science and of every day experience are relative and one-sided; but it leaves us in the end with the view that truth is a sum of relative truths. A mere putting together of half truths definite-indefinite cannot give us the whole truth.

[२] स्याद्वादसे ही लोकव्यवहार चल सकता है, इस वातको सिद्धसेन दिवाकरने निम्न गाथासे व्यक्त किया है—

जेण विणा लोगस्सवि विवहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स॥

[३] समंतभद्रने आप्तमीमांसामें स्याद्वाद और केवलज्ञानके भेदको स्पष्ट रूपसे निम्न श्लोकोंमें प्रतिपादन किया है—

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनं।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतं॥ १०१॥
उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वं वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य गोचरे॥ १०२॥
स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥ १०५॥

तथा देखो अष्टसहस्री पृ. २७५–२८८

केवल जैसे-तैसे अर्धसत्योंको ही पूर्णसत्य मान लेनेके लिये बाध्य नहीं करता। किन्तु वह सत्यका दर्शन करनेके लिये अनेक मार्गोंकी खोज करता है। स्याद्वादका इतना ही कहना है, कि मनुष्यकी शक्ति बहुत सीमित है, इस लिये वह आपेक्षिक सत्यको ही जान सकता है। पहले हमें व्यावहारिक विरोधोंका समन्वय करके आपेक्षिक सत्यको प्राप्त करना चाहिये। आपेक्षिक सत्यके जाननेके बाद हम पूर्णसत्य—केवलज्ञान—का साक्षात्कार करनेके अधिकारी हैं।

स्याद्वादपर एक ऐतिहासिक दृष्टि—अहिंसा और अनेकान्त ये जैनधर्मके दो मूल सिद्धांत हैं। महावीर भगवानने इन्हीं दो मूल सिद्धांतोंपर अधिक भार दिया था। महावीर शारीरिक अहिंसाके पालन करनेके साथ मानसिक अहिंसा (intellectual toleration) के ऊपर भी उतना ही ज़ोर देते हैं। महावीरका कहना था, कि उपशम वृत्तिसे ही मनुष्यका कल्याण हो सकता है, और यही वृत्ति मोक्षका साधन है। भगवानका उपदेश था, कि प्रत्येक महान् पुरुष भिन्न भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार ही सत्यकी प्राप्ति करता है। इस लिये प्रत्येक दर्शनके सिद्धांत किसी अपेक्षासे सत्य हैं। हमारा कर्तव्य यही है, कि हम व्यर्थके वाद-विवादमें न पड़कर अहिंसा और शांतिमय जीवन यापन करें। हम प्रत्येक वस्तुको प्रतिक्षण उत्पन्न होती हुई और नष्ट होती हुई देखते हैं, और साथ ही इस वस्तुके नित्यत्वका भी अनुभव करते हैं, अतएव प्रत्येक पदार्थ किसी अपेक्षासे नित्य और सत्, और किसी अपेक्षासे अनित्य और असत्, आदि अनेक धर्मोंसे युक्त है। अनेकांतवाद संबंधी इस प्रकारके विचार प्रायः प्राचीन आगम ग्रंथोंमें देखनेमें आते हैं। एक समय गौतम गणधर महावीर भगवानसे पूछते हैं 'कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है, अथवा अज्ञान स्वरूप?' भगवान उत्तर देते हैं, 'कि आत्मा नियमसे ज्ञान स्वरूप है। क्योंकि ज्ञानके बिना आत्माकी वृत्ति नहीं देखी जाती। परन्तु आत्मा ज्ञान रूप भी है और अज्ञानरूप भी है'[1]। ज्ञातृधर्मकथा[2]

---

[1] सर्वनयानां जिनप्रवचनस्यैव निबंधनत्वात्। किमस्य निबंधनमिति चेत्। उच्यते। निबंधनं चास्य 'आया भन्ते नाणे अन्नाणे' इति स्वामी गौतमस्वामिना पृष्टो व्याकरोति 'गोदमा णाणे णियमा' अतो ज्ञानं नियमादात्मनि। ज्ञानस्यान्यव्यतिरेकेण वृत्त्यदर्शनात्। नयचक्र लिखित।

(जैनसाहित्यसंशोधक १–४ पृ. १४६)

[2] सुया, एगे वि अहं दुवे वि अहं जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं।
से केणट्ठेणं भंते, एगे वि अहं जाव।
सुया, दव्वट्ठाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठाए दुवे वि अहं, णएसट्ठाए अक्खए वि अहं अव्वए वि अहं, अव्वट्ठिए वि अहं उवओगट्ठाए अणेगभूयभावभविए वि अहं। ज्ञातृधर्मकथा ५–४६ पृ. १०७।
उ. यशोविजयजीने इसी भावको निम्न रूपसे व्यक्त किया है—

यथाह सोमिलप्रश्ने जिनः स्याद्वादसिद्धये।
द्रव्यार्थादहमेकोऽस्मि दृग्ज्ञानार्थादुभावपि॥
अक्षयश्चाव्ययश्चास्मि प्रदेशार्थविचारतः।
अनेकभूतभावात्मा पर्यायार्थपरिग्रहात्॥ अध्यात्मसार।

और भगवती आगमोंमें भी एक ही वस्तुको द्रव्यकी अपेक्षा एक, ज्ञान और दर्शनकी अपेक्षा अनेक, किसी अपेक्षासे अस्ति, किसीसे नास्ति, और किसी अपेक्षासे अवक्तव्य कहा गया है। प्राचीन आगमोंमें स्याद्वादके सात भंगोंका कहीं उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु यहां त्रिपदी (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) सिय अत्थि, सिय णत्थि, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय आदि स्याद्वादके सूचक शब्दोंका अनेक स्थानोंपर उल्लेख पाया जाता है। आगम ग्रंथोंके ऊपर ईसाके पूर्व चौथी शताब्दिमें भद्रबाहुकी दस निर्युक्तियोंमें भी इन्हीं विचारोंको विशेष रूपसे प्रस्फुटित किया गया है। इसके पश्चात् ईसवी सन् प्रथम शताब्दिके आचार्य उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और तत्त्वार्थभाष्यमें अनेकांतवादकी और विशेषकर नयवादकी चर्चा विस्तृत रूपमें पायी जाती है। यहां अर्पित, अनर्पित, नयोंके भेद और-उपभेदोंका वर्णन विस्तारसे किया गया है। परन्तु यहां तक हमें स्याद्वादके सात भंगोंके नामोंका उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

इन सात भंगोंका नाम सर्वप्रथम हमें कुन्दकुन्दके पंचास्तिकाय और प्रवचनसारमें दिखाई पड़ता है। यहां सात भंगोंके केवल नाम एक गाथामें गिना दिये गये हैं। जान पड़ता है, कि इस समय जैन आचार्य अपने सिद्धांतोंपर होनेवाले प्रतिपक्षियोंके कर्कश तर्कप्रहारसे सतर्क हो गये थे, और इसीलिये वौद्धोंके शून्यवादकी तरह जैन श्रमण अनेकांतवादको सप्तभंगीका तार्किकरूप देकर जैन सिद्धांतोंकी रक्षाके लिये प्रवृत्तिशील होने लगे थे। इसके पूर्व सप्तभंगी नयवाद अथवा अधिकसे अधिक स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य इन तीन मूल भंगोंके रूपमें ही पाया जाता है। स्याद्वादको प्रस्फुटित करने वाले जैन आचार्योंमें ईसवी सन्‌की चौथी शताब्दिके विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर और समंतभद्रका नाम सबसे महत्वपूर्ण है। ये दोनों अपूर्व प्रतिभाशाली उच्चकोटिके दार्शनिक विद्वान थे। इन विद्वानोंने जैन तर्कशास्त्रपर सन्मतितर्क, न्यायावतार, युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा आदि स्वतंत्र ग्रंथोंकी रचना की। सिद्धसेन और समंतभद्रने अनेक प्रकारके दृष्टांतोंसे और नयोंके सापेक्ष और निरपेक्ष वर्णनसे स्याद्वादका अभूतपूर्व ढंगसे प्रतिपादन किया, तथा जैनेतर सम्पूर्ण दृष्टियोंको अनेकांतदृष्टिके अंशमात्र बताकर मिथ्यादर्शनोंके समू-

---

१ आया भंते, रयणप्पभा पुढवी अन्ना रयणप्पभा पुढवी ?
गोयमा, रयणप्पभा सिय आया, सिय नो आया,
सिय अवत्तव्वं आया तिय नो आया तिय। भगवती १२-१० पृ. ५९२।

२ उदधाविव सर्वसिंधवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥ द्वा. द्वात्रिंशिका ४-१५।

हको जैनदर्शन बताते हुए अपनी सर्वसमन्वयात्मक उदार भावनाका परिचय दिया। इनके बाद ईसाकी चौथी-पाँचवी शताब्दिमें मल्लवादि और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण नामके श्वेताम्बर विद्वानोंका प्रादुर्भाव हुआ। मल्लवादि अपने समयके महान तार्किक विद्वान समझे जाते थे। इन्होंने अनेकांतवादका प्रतिपादन करनेके लिये नयचक्र आदि ग्रंथोंकी रचना की। जिनभद्रगणि श्वेताम्बर आगमोंके मर्मज्ञ पण्डित थे, इन्होंने विशेषावश्यकभाष्य आदि शास्त्रोंकी रचना की। जिनभद्रने प्रायः सिद्धसेन दिवाकरकी शैलीका ही अनुसरण किया। इन विद्वानोंके पश्चात् ईसाकी आठवीं-नौवीं शताब्दिमें अकलंक और हरिभद्रका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। इन विद्वानोंने स्याद्वादका नाना प्रकारसे ऊहापोहात्मक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन करके स्याद्वादको सांगोपांग परिपूर्ण बनाया। इस समय प्रतिपक्षी लोग अनेकांतवादपर अनेक तरहके प्रहार करने लगे थे। कोई लोग अनेकांतको संशय कहते थे, कोई केवल छलका ही रूपान्तर कहते थे, और कोई इसमें विरोध अनवस्था आदि दोषोंको बताकर इसका खंडन थे। ऐसे समयमें अकलंक और हरिभद्रने तत्त्वार्थराजवार्तिक, सिद्धिविनिश्चय, अनेकांतजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय आदि ग्रंथोंका निर्माण करके बड़ी योग्यताके साथ दोषोंका निवारण किया, और अनेकांतकी जयपताका फहराई। ईसाकी नौवी शताब्दिमें विद्यानन्द और माणिक्यनन्दि नामके महान् दिगम्बर विद्वान् हो गये हैं। विद्यानन्द अपने समयके बड़े भारी नैयायिक थे। इन्होंने कुमारिल आदि वैदिक विद्वानोंके जैनदर्शनपर होनेवाले आक्षेपोंका बड़ी योग्यतासे परिहार किया है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, आदि महान ग्रंथोंको लिखकर अनेक प्रकारसे तार्किक शैलीद्वारा स्याद्वादका प्रतिपादन और समर्थन किया है। माणिक्यनन्दिने सर्वप्रथम जैन न्यायको परीक्षामुखके सूत्रोंमें गूंथकर अपनी अलौकिक प्रतिभाका परिचय देकर जैनन्यायको समुन्नत बनाया है। ईसाकी दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दिमें होनेवाले प्रभाचन्द्र और अभयदेव महान तार्किक विद्वान थे। इन विद्वानोंने सन्मतितर्कटीका (वादमहार्णव), प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्रोदय आदि जैन न्यायके ग्रंथ बनाकर जैन दर्शनकी महान सेवा की है। इन विद्वानोंने सौत्रांतिक, वैभाषिक, विज्ञानवाद, शून्यवाद, ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत आदि वादोंका समन्वय करके स्याद्वादका नैयायिक पद्धतिसे प्रतिपादन किया है। इनके पश्चात् ईसाकी बारहवीं शताब्दिमें वादिदेवसूरि और कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रका नम्बर आता है। वादिदेव वादशक्तिमें असाधारण माने जाते थे। वादिदेवने स्याद्वादका स्पष्ट विवेचन करनेके लिये प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रंथ लिखे हैं। हेमचन्द्र अपने समयके असाधारण पुरुष थे। इन्होंने अन्ययोग-

---

१ भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥ सन्मति ३–६५ ।

२ देखो तत्वार्थराजवार्तिक 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्रकी व्याख्या, तथा अनेकांतजयपताका ।

व्यवच्छेदिका, अयोगव्यवच्छेदिका, प्रमाणमीमांसा आदि ग्रंथ लिखकर अपूर्व ढंगसे स्याद्वादकी सिद्धि करके जैनदर्शनके सिद्धांतोंको पल्लवित किया है। ईसवी सन्की सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दिमें उपाध्याय यशोविजय और पंडित विमलदास जैनदर्शनके अन्तिम विद्वान हो गये हैं। उपाध्याय यशोविजयजी जैन परम्परामें लोकोत्तर प्रतिभाके धारक असाधारण विद्वान थे। इन्होंने योग, साहित्य, प्राचीनन्याय आदिका गंभीर पांडित्य प्राप्त करनेके साथ नव्यन्यायका भी अध्ययन किया था। स्याद्वादके द्वारा अभूतपूर्व ढंगसे सम्पूर्ण दर्शनोंका समन्वय करके स्याद्वादको ‘ सार्वतांत्रिक ’ सिद्ध करना यह निश्चयसे उपाध्यायजीकी ही प्रतिभा थी[1]। यशोविजयजीने शास्त्रवार्तासमुच्चयकी स्याद्वादकल्पलता टीका, नयोपदेश, नयरहस्य, नयप्रदीप, न्यायखंडखाद्य, न्यायालोक, अष्टसहस्री-टीका आदि अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। पं. विमलदास दिगम्बर विद्वान थे। इन्होंने नव्यन्यायको अनुकरण करनेवाली भाषामें सप्तभंगीतरंगिणी नामक स्वतंत्र ग्रंथकी संक्षिप्त और सरल भाषामें रचना करके एक महान क्षतिकी पूर्ति की है।

स्याद्वादका जैनेतर साहित्यमें स्थान—किसी वस्तुको भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे विविध रूपमें दर्शन करनेके स्याद्वादसे मिलते जुलते सिद्धांत जैन साहित्यके अतिरिक्त अन्यत्र भी उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेदमें कहा गया है, कि ‘ उस समय सत् भी नहीं था और असत् भी नहीं था[2] ’ ईशावास्य, कठ, प्रश्न, श्वेताश्वतर आदि प्राचीनतम उपनिषदोंमें भी ‘ वह हिलता है और हिलता भी नहीं है, वह अणुसे छोटा है और बड़ेसे बड़ा है, सत् भी है, असत् भी है[3] ’ आदि प्रकारसे विरुद्ध नाना गुणोंकी अपेक्षा ब्रह्मका वर्णन किया गया है। भारतीय षट्दर्शनकारोंने भी इस प्रकारके विचारोंका प्रतिपादन किया है। उदाहरणके लिये वेदान्तमें अनिर्वचनीयवाद[4], कुमारिलका सापेक्षवाद, बौद्धोंका मध्यममार्ग[5] आदि सिद्धांत स्याद्वादसे मिलते जुलते

---

[1] तुलना करो—ब्रुवाणा भिन्नभिन्नार्थान्नयभेदव्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतांत्रिकम् ॥ ५१ ॥ अध्यात्मसार।

[2] नासदासीन्न सदासीत्तदानीम्। ऋग्वेद। १०–१२९–१।
यद्यपि सदसदात्मकं प्रत्येकं विलक्षणं भवति तथापि भावभावयोः सहवस्थानमपि संभवति। सायण भाष्य। उ. यशोविजयजीका भी कथन है, कि वेदोंमें भी स्याद्वादका विरोध नहीं किया गया है। देखो इस पृष्ठकी टि.१।

[3] तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके। ईश ५। अणोरणीयान् महतो महीयान्। कठ. २–२०। सदसच्चामृतं च यत्। प्रश्न २–५।

[4] प्रो. ध्रुवने वेदान्त और जैन दर्शनकी तुलना करते हुए लिखा है—While the vedāntin sees intellectual peace in the absolute by transcending the antinomies of intellect, the Jain finds it in the fact of the Relativity of knowledge and the consequent revelation of the many-sidedness of Reality—the one leading to religious mysticism, the other to intellectual toleration.
प्रो. ध्रुव—स्याद्वादमंजरी प्रस्तावना पृ. XII.

[5] तुलना करो—अस्तीति काश्यपो अयं एकोऽन्तः नास्तीति काश्यपो अयं एकोऽन्तः यदनयोर्द्वयोः अन्तयोर्मध्यं तदरूप्यं अनिदर्शनं अप्रतिष्ठं अनाभासं अनिकेतं अविज्ञप्तिकं यमुच्यते काश्यपः मध्यमप्रतिपदधर्माणां। काश्यपपरिवर्तन महायानसूत्र।

विचारोंका ही समर्थन करते हैं[1]। ग्रीक दर्शनमें भी एम्पीडोक्लीज़ (Empedocles), ऐटोमिस्ट्स (Atomists) और एनैक्सागोरस (Anaxagoras) दर्शनिकोंने इलिअटिक्स (Eleatics) के नित्यत्ववाद और हैरेक्लिटस (Hereclitus) के क्षणिकवादका समन्वय करते हुए पदार्थोंके नित्यदशामें रहते हुए भी अपेक्षिक परिवर्तन (Relative change) स्वीकार किया है। ग्रीकके महान् विचारक प्लेटोने भी इसी प्रकारके विचार प्रगट किये हैं[3]। पश्चिमके आधुनिक दर्शन (Modern Philosophy) में भी इस प्रकारके समान विचारोंकी कमी नहीं है। उदाहरणके लिये जर्मनीके प्रकाण्ड तत्त्ववेत्ता हेगेल (Hegel) का कथन है, कि विरुद्धधर्मात्मकता ही संसारका मूल है। किसी वस्तुका यथार्थ वर्णन करनेके लिये हमें उस वस्तु संबंधी संपूर्ण सत्य कहनेके साथ उस वस्तुके विरुद्ध धर्मोंका किस प्रकार

---

[1] नैयायिक आदि दार्शनिकोंने किस प्रकारसे स्याद्वादके सिद्धांतको स्वीकार किया है, इसके विशेष जाननेके लिये देखो षड्दर्शनसमुच्चय गुणरत्न टीका पृ. ९६–९८; दर्शन और अनेकांतवाद। तथा–

इच्छन् प्रधानं सत्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुंफितं गुणैः।
सांख्यः संख्यावतां मुख्यो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन्।
यौगो वैशेषिको वाऽपि नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
प्रत्यक्षं भिन्नमात्रंशे मेयांशो तद्विलक्षणम्।
गुरुर्ज्ञानं वदन्नेकं नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु वदन्ननुभवोचितम्।
भट्टो वापि मुरारिर्वा नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
अवद्धं परमार्थेन वद्धं च व्यवहारतः।
ब्रुवाणो ब्रह्मवेदान्ती नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
ब्रुवाणा भिन्नभिन्नार्थान्नयभेदव्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतांत्रिकम्।

अध्यात्मसार ४५–५१।

[2] There are beings or particles of reality that are permanent, original, imperishable, underived, and these can not change into anything else: They are what they are and must remain so, just as the Eleatic school maintains. These beings, or particles of reality, however, can be combined and separated, that is, form bodies that can again be resolved into their elements. The original bits of reality can not be created or destroyed or change their nature, but they can change their relations in respect to each other. And that is what we mean by change.

Thilly : History of Philosophy पृ. ३२।

[3] When we speak of not being, we speak, I suppose not of something opposed to being, but only different.—Dialogues of Plato.

समन्वय हो सकता है, यह बताना चाहिये। नये विज्ञानवाद (New Idealism) के प्रतिपादक ब्रैडलेके अनुसार प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुओंसे तुलना किये जानेपर आवश्यकीय और अनावश्यकीय दोनों सिद्ध होती है। संसारमें कोई भी पदार्थ नगण्य अथवा अकिंचित्कर नहीं कहा जा सकता। अतएव प्रत्येक तुच्छसे तुच्छ विचारमें और छोटीसे छोटी सत्तामें सत्यता विद्यमान है[2]। आधुनिक दार्शनिक जोअचिम (Joachim) का कहना है, कि कोई भी विचार स्वतः ही, दूसरे विचारसे सर्वथा अनपेक्षित होकर केवल अपनी ही अपेक्षासे सत्य नहीं कहा जा सकता। उदाहरणके लिये, तीनसे तीनको गुणा करनेपर नौ होता है (३×३=९), यह सिद्धांत एक वालकके लिये सर्वथा निष्प्रयोजन है, परन्तु इसे पढ़कर एक विज्ञानवेत्ताके सामने गणितशास्त्रके विज्ञानका सारा नक्शा सामने आ जाता है[3]। मानसशास्त्रके विद्वान प्रो. विलियम जेम्स (W. James) ने भी लिखा है, हमारी अनेक दुनिया हैं। साधारण मनुष्य इन सब दुनियाओंका एक दूसरेसे असम्बद्ध तथा अनपेक्षित रूपसे ज्ञान करता है। पूर्ण तत्त्ववेत्ता वही है, जो सम्पूर्ण दुनियाओंसे एक दूसरेसे सम्बद्ध और अपेक्षित रूपमें जानता है[4]। इसी प्रकारके विचार पेरी[5] (Perry), नैयायिक जोसेफ[6] (Joseph), एडमन्ड

---

१ Reality is now this, now that; in this sense it is full of negations, contradictions, and oppositions: the plant germinates, blooms, withers, and dies; man is young, mature, and old. To do a thing justice, we must tell the whole truth about it, predicate all those contradictions of it, and show how they are reconciled and preserved in the articulated whole which we call the life of the thing.

Thilly : History of Philosophy पृ. ४६७।

२ Everything is essential and everything worthless in comparison with other. Now where is there even a single fact so fragmentary and so poor that to the universe it does not matter. There is truth in every idea however false, there is reality in every existence however slight. Appearance and Reality पृ. ४८७।

३ No judgment is true in itself and by itself. Every judgment as a piece of concrete thinking is informed, conditioned to some extent, constituted by the apperceipient character of the mind.

Nature of Truth अ. ३ पृ. ९२–३।

४ The Principles of Psychology vol. 1 अ. २० पृ. २९१।

५ Present Philosophical Tendencies. Chapter on Realism.

६ Introduction to Logic. पृ. १७२–३१

हाम्स[1] (Edmund Holms) प्रभृति विद्वानोंने प्रगट किये हैं[2]।

स्याद्वाद और समन्वय दृष्टि—स्याद्वाद सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनोंका समन्वय करता है। जैन दर्शनकारोंका कथन है, कि सम्पूर्ण दर्शन नयवादमें गर्भित हो जाते हैं, अतएव सम्पूर्ण दर्शन नयकी अपेक्षासे सत्य हैं। उदाहरणके लिये ऋजूसूत्रनयकी अपेक्षा बौद्ध, संग्रहनयकी अपेक्षा वेदान्त, नैगमनयकी अपेक्षा न्याय-वैशेषिक, शब्दनयकी अपेक्षा शब्दब्रह्मवादी, तथा व्यवहारनयकी अपेक्षा चार्वाक दर्शनोंको सत्य कहा जा सकता है। ये नयरूप समस्त दर्शन परस्पर विरुद्ध होकर भी समुदित होकर सम्यक्त्व रूप कहे जाते हैं। जिस प्रकार भिन्न भिन्न मणियोंके एकत्र गूंथे जानेसे एक सुन्दर माला तैय्यार हो जाती है, उसी तरह जिस समय भिन्न भिन्न दर्शन सापेक्ष वृत्ति धारण करके एकत्रित होते हैं, उस समय ये जैन दर्शन कहे जाते हैं। अतएव जिस प्रकार धन, धान्य आदि वस्तुओंके लिये विवाद करनेवाले पुरुषोंको कोई साधु पुरुष समझा बुझाकर शांत कर देता है, उसी तरह स्याद्वाद परस्पर एक दूसरेके ऊपर आक्रमण करनेवाले दर्शनोंको सापेक्ष सत्य मानकर सबका समन्वय करता है। इसीलिये जैन विद्वानोंने जिन भगवानके वचनोंको मिथ्यादर्शनोंका समूह मानकर अमृतका सार बताया हैं। उपाध्याय यशोविजयजीके शब्दोंमें कहा जाय, तो हम कह सकते है, कि एक "सच्चा अनेकांतवादी किसी भी दर्शनसे द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण नयरूप दर्शनोंको इस प्रकारसे वात्सल्य दृष्टिसे देखता है, जैसे कोई पिता अपने पुत्रोंको देखता है। क्योंकि अनेकान्तवादीकी न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। वास्तवमें सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जानेका

---

[1] Let us take the antithesis of the swift and the slow. It would be nonsense to say that every movement is either swift or slow. It would be nearer the truth to say that every movement is both swift and slow, swift by comparison with what is slower than itself, slow by comparison with what is swifter than itself. In the Quest of Ideal. पृ. २१।

[2] 'स्याद्वादपर एक ऐतिहासिक दृष्टि' तथा 'स्याद्वादका जैनेतर साहित्यमें स्थान' ये दोनों शीर्षक मेरे विशालभारत मार्च १९३३ के अंकमें प्रकाशित 'जैनदर्शनमें अनेकान्तपद्धतिका विकासक्रम' नामक लेखके आधारसे लिखे गये हैं। यह लेख The History and Development of Anekāntavāda in Jain philosophy के नामसे पूनासे प्रकाशित होनेवाले Review of Philosophy and Religion नामक षाण्मासिक पत्रके मार्च १९३५ के अंकमें अंग्रेजीमें भी प्रकाशित हुआ है।

[3] वौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद्वेदान्तिनां संग्रहात्।
सांख्यानां तत एव नैगमनयाद् यौगश्च वैशेषिकः॥
शव्दब्रह्मविदोऽपि शव्दनयतः सर्वैर्नयैर्गुंफितां।
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते॥ अध्यात्मसार-जिनमतिस्तुति।

अधिकारी वही है, जो स्याद्वादका अवलंवन लेकर सम्पूर्ण दर्शनोंमें समान भाव रखता है। वास्तवमें माध्यस्थ भाव ही शास्त्रोंका गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है। माध्यस्थ भाव रहनेपर शास्त्रोंके एक पदका ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रोंके पढ़ जानेसे भी कोई लाभ नहीं[1]। " निस्सन्देह सच्चा स्याद्वादी सहिष्णु होता है, वह राग-द्वेषरूप आत्माके विकारों पर विजय प्राप्त करनेका सतत प्रयत्न करता रहता है। वह दूसरोंके सिद्धांतोंको आदरकी दृष्टिसे देखता है, और मध्यस्थ भावसे सम्पूर्ण विरोधोंका समन्वय करता है। सिद्धसेन दिवाकरने वेद, सांख्य, न्यायवैशेषिक, बौद्ध आदि दर्शनोंपर द्वात्रिंशिकाओंकी रचना करके, और हरिभद्रसूरिने षड्दर्शनसमुच्चयमें छह दर्शनोंकी निष्पक्ष समालोचना करके इसी उदार वृत्तिका परिचय दिया है। इतना ही नहीं, वल्कि मल्लवादि, हरिभद्रसूरि, राजशेखर, पं. आशाधर, उ. यशोविजय आदि अनेक जैन विद्वानोंने वैदिक और बौद्ध ग्रंथोंपर टीका-टिप्पणियां लिखकर अपनी गुणग्राहिता, समन्वयवृत्ति और हृदयकी विशालताको स्पष्टरूपसे प्रमाणित किया है[2]।

वास्तवमें देखा जाय तो सत्य एक है तथा वैदिक, जैन और बौद्ध दर्शनोंमें कोई परस्पर विरोध नहीं। प्रत्येक दार्शनिक भिन्न भिन्न देश और कालकी परिस्थितिके अनुसार सत्यके केवल अंश मात्रको ग्रहण करता है। वैदिक धर्म व्यवहार प्रधान है, बौद्ध धर्मको श्रवण प्रधान, और जैनधर्मको कर्तव्य प्रधान कहा जा सकता[3] है। एक दर्शन कर्म, उपासना और ज्ञानको मोक्षका प्रधान कारण कहता है; दूसरा शील, समाधि और प्रज्ञाको; तथा तीसरा सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रको मोक्ष प्रधानका कारण मानता है, परन्तु सबका ध्येय एक ही है। जिस प्रकार सरल और टेढ़े मार्गसे जानेवाली भिन्न भिन्न नदियाँ अन्तमें जाकर एक ही समुद्रमें मिलती हैं, उसी तरह भिन्न भिन्न रुचियोंके कारण उद्भव होनेवाले समस्त दर्शन

---

[1] यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी ॥ ६१ ॥
तेन स्याद्वादमालंव्य सर्वदर्शनतुल्यतां।
मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति सः शास्त्रवित् ॥ ७० ॥
माध्यस्थमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिध्यति।
स एव धर्मवादः स्यादन्यद्बालिशवल्गनम् ॥ ७२
माध्यस्थसहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा।
शास्त्रकोटिः वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना ॥ ७३ ॥ अध्यात्मसार।

[2] सुना जाता है, कि एक बार गुजरातमें जैन विद्वानोंकी ओरसे ब्राह्मणोंके वेदको अपनानेका भी प्रयत्न हुआ था।

[3] श्रोतव्यो सौगतो धर्मः कर्तव्यः पुनरार्हतः।
वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः ॥ हरिभद्र।

एक ही पूर्णसत्यमें समाविष्ट हो जाते हैं[1]। षट्दर्शनोंको जिनेन्द्रके अंग कहकर परमयोगी आनंदघनजीने आनन्दघन चौवीसीमें इस भावको निम्न भाषामें व्यक्त किया है—

षट्दरसण जिन अंग भणीजे। न्याय षडंग जो साधे रे।
नमिजिनवरना चरण उपासक। षट्दर्शन आराधे रे॥ १॥
जिनसुर पादप पाय वखाणुं। सांख्यजोग दोय भेदें रे।
आतम सत्ता विवरण करता। लहो दुग अंग अखेदें रे॥ २॥
भेद अभेद सुगत मीमांसक। जिनवर दोय कर भारी रे।
लोकालोक अवलंबन भजिये। गुरुगमथी अवधारी रे॥ ३॥
लोकायतिक कूख जिनवरनी। अंशविचार जो कीजे।
तत्त्वविंचार सुधारस धारा। गुरुगम विण केम पीजे॥ ४॥
जैन जिनेश्वर उत्तम अंग। अंतरंग बहिरंगे रे।
अक्षरन्यास धरा आराधक। आराधे धरी संगे रे॥ ५॥

निस्सन्देह एकतामें विविधता और विविधतामें एकताका दर्शन करके जैन आचार्योंने स्याद्वादका प्रतिपादन करके विश्वको महान सेवा अर्पण की है।

---

[1] त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति।
प्रभिन्ने प्रस्थाने पराभिदमतः पथ्यमिति च।
रूचीनां वैचित्र्यात् ऋजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गमयत् त्वमसि पयसामर्णव इव॥ शिवमहिम्न स्तोत्र।

नमः सर्वज्ञाय

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालाया
श्रीमल्लिषेणसूरिप्रणीता

स्याद्वादमञ्जरी

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता
अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवनटीका
हिन्दीभाषानुवादसहिता ।

टीकाकारस्य मंगलाचरणम्

यस्य ज्ञानमनन्तवस्तुविषयं यः पूज्यते दैवतै-
र्नित्यं यस्य वचो न दुर्नयकृतैः कोलाहलैर्लुप्यते ।
रागद्वेषमुखद्विषां च परिषत् क्षिप्ता क्षणाद् येन सा
स श्रीवीरविभुर्विधूतकलुषां बुद्धिं विधत्तां मम ॥ १ ॥
निस्सीमप्रतिभैकजीवितधरौ निःशेषभूमिस्पृशा
पुण्यौघेन सरस्वतीसुरगुरू स्वाङ्गैकरूपी दधत् ।
यः स्याद्वादमसाधयन् निजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे
सद्बुद्ध्यम्बुनिधिप्रबोधविधये श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः ॥ २ ॥
ये हेमचन्द्रं मुनिमेतदुक्तग्रन्थार्थसेवामिषतः श्रयन्ते।
संप्राप्य ते गौरवमुज्ज्वलानां पदं कलानामुचितं भवन्ति ॥ ३ ॥
मातर्भारति सन्निधेहि हृदि मे येनेयमाप्तस्तुते-
र्निर्मातुं विवृतिं प्रसिद्ध्यति जवादारम्भसम्भावना ।
यद्वा विस्मृतमोष्ठयोः स्फुरति यत् सारस्वतः शाश्वतो
मन्त्रः श्रीउदयप्रभेतिरचनारम्यो ममाहर्निशम् ॥ ४ ॥

टीकाकारका मंगलाचरण

अर्थ—जो अनन्त वस्तुओंको जानते हैं, देवोंके द्वारा पूजे जाते हैं, जिनके वचन कुसिद्धांतोंसे लुप्त नहीं होते, तथा जिन्होंने रागद्वेष–प्रधान शत्रुओंकी सभाको क्षणभरमें परास्त कर दिया है, ऐसे **वीरप्रभु** मेरी बुद्धिको निर्मल करें ॥ १ ॥ समस्त मध्यलोकवर्ती प्राणियोंके पुण्य-प्रतापसे असीम प्रतिभारूप प्राणोंके धारक सरस्वती और बृहस्पतिको अपने शरीररूपमें धारण करते हुए जिन्होंने अपने शरीरके दृष्टान्तसे ही स्याद्वादके सिद्धांतको सिद्ध कर दिखाया है, अर्थात् जिन्होंने एक ही शरीरमें परस्पर भिन्न सरस्वती और सुरगुरुके धारण करनेसे, एक ही पदार्थको परस्पर भिन्न अनेक धर्मोंका धारक सूचित किया है, ऐसे हेमचन्द्रप्रभु मेरे सद्बुद्धिरूपी समुद्रकी वृद्धि करें ॥२॥ जो लोग इस ग्रन्थके अध्ययनके बहाने हेमचन्द्रमुनिका आश्रय लेते हैं, वे उज्ज्वल कलाओंके गौरवको प्राप्त करके योग्य पदको प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥ हे सरस्वती माता ! तुम मेरे हृदयमें निवास करो, जिससे मैं आप्तस्तुति-(द्वात्रिंशिका) की व्याख्या (स्याद्वादमंजरी) शीघ्र ही प्रारंभ कर सकूँ । अथवा नहीं, मैं भूल गया, क्योंकि ‘ श्रीउदयप्रभ ’—रचनासे मनोहर शाश्वत सरस्वतीका मंत्र तो दिनरात मेरे होठोंमें स्फुरित हो ही रहा है । उदयप्रभ टीकाकारके गुरुका नाम है । यहाँ टीकाकार गुरु-भक्तिके वश होकर कहते हैं, कि गुरुस्मरणके प्रभावसे सरस्वती माता स्वयं मेरे हृदयमें विराजमान हैं । अतएव सरस्वती मातासे प्रार्थना करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती ॥ ४ ॥

अवतरणिका

इह हि विषमदुःषमाररजनितिमिरतिरस्कारभास्करानुकारिणा वसुधातलावतीर्णसुधासारिणीदेश्यदेशनावितानपरमार्हतीकृतश्रीकुमारपालक्ष्मापालप्रवर्तिताभय–दानाभिधानजीवातुसंजीवितनानाजीवप्रदत्ताशीर्वादमाहात्म्यकल्पावधिस्थायिविशद–यशःशरीरेण निरवद्यचातुर्विद्यनिर्माणैकब्रह्मणा श्रीहेमचन्द्रसूरिणा जगत्प्रसिद्धश्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचितद्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकानुसारि श्रीवर्धमानजिनस्तुतिरूपमयोग[1]व्यवच्छेदा[2]न्ययोगव्यवच्छेदाभिधानं द्वात्रिंशिकाद्वितयं विद्वज्जनमनस्तत्त्वावबोधनिबन्धनं विदधे । तत्र च प्रथमद्वात्रिंशिकायाः सुखोन्नेयत्वाद् तद्व्याख्यानमुपेक्ष्य द्वितीयस्यास्तस्या निःशेषदुर्वादिपरिषदधिक्षेपदक्षायाः कतिपयपदार्थविवरणकरणेन स्वस्मृतिबीजप्रबोधविधिर्विधीयते । तस्याश्चेदमादिकाव्यम्—

---

[1] विशेषणसङ्गतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा शङ्खः पाण्डुरएवेति । अयोगव्यवच्छेदस्य लक्षणं चोद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्वम् । [2] विशेष्यसंगतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः, यथा पार्थ एव धनुर्धरः । अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेदः ।

अवतरणिका

अर्थ—इस लोकमें दुषमा आरा (पंचमकाल) की रात्रिके अंधकारको दूर करनेके लिये सूर्यके समान, तथा पृथ्वीतलपर उतरकर आई हुई अमृत-नहरके समान धर्मोपदेशसे उत्कृष्ट जैनधर्मानुयायी बनाये हुए कुमारपाल राजाकी अभयदानरूप जीवनौषधिसे जीवनको प्राप्त करनेवाले प्राणियोंके आशीर्वादसे कल्पकालपर्यंत स्थायी निर्मल यशरूपी शरीरको धारण करनेवाले, तथा चार विद्याओं (लक्षण, आगम, साहित्य, तर्क) की निर्दोष रचना करनेके लिये ब्रह्माके समान, श्रीहेमचन्द्रसूरिने जगत्प्रसिद्ध श्रीसिद्धसेनदिवाकरद्वारा रचित 'द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका'का अनुसरण करनेवाली श्रीवर्धमान जिनेन्द्रकी स्तुतिरूप, विद्वानोंको तत्त्वज्ञान देनेवाली अयोगव्यवच्छेद तथा अन्ययोगव्यवच्छेद नामकी दो बत्तीसियोंकी रचना की है। भाव यह है, कि सिद्धसेनदिवाकरकी बत्तीस बत्तीसियोंकी रचनाका अनुसरण करके हेमचन्द्रसूरिने भी दो बत्तीसियाँ बनाईं हैं। अयोगव्यवच्छेद नामक बत्तीसीमें जैनसिद्धान्तोंकी स्थापना करके 'स्वपक्ष-साधन' तथा अन्ययोगव्यवच्छेदिकामें परवादियोंके मतोंका खंडन करते हुए 'परपक्षदूषण'का प्रदर्शन किया गया है। यहाँ टीकाकार मल्लिषेण अयोगव्यवच्छेदिका नामक पहली बत्तीसीके सरल होनेके कारण उसकी व्याख्याकी उपेक्षा करके, समस्त दुर्वादियोंकी सभाको परास्त करनेमें समर्थ अन्ययोगव्यवच्छेदिका नामकी दूसरी बत्तीसीके कुछ पदार्थोंका विस्तृत विवरण करते हैं। दूसरी बत्तीसीका यह प्रथम श्लोक है—

अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ।
श्रीवर्धमानं जिनमाप्तमुख्यं स्वयम्भुवं स्तोतुमहं यतिष्ये ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—अनंतज्ञानके धारक, दोषोंसे रहित, अबाध्यसिद्धांतसे युक्त, देवोंद्वारा पूजनीय, यथार्थ वक्ताओंमें प्रधान, और स्वयंभू, श्रीवर्धमान जिनेन्द्रकी स्तुति करनेके लिये मैं प्रयत्न करूँगा।

श्रीवर्धमानं जिनमहं स्तोतुं यतिष्य इति क्रियासंबन्धः । किंविशिष्टम् ? अनन्तम्—अप्रतिपाति, वि-विशिष्टं सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वेनोत्कृष्टं, ज्ञानं केवलाख्यं विज्ञानम्, ततोऽनन्तं विज्ञानं यस्य सोऽनन्तविज्ञानस्तम् । तथा अतीताः—निःसत्ताकीभूतत्वेनातिक्रान्ताः, दोषा रागादयो यस्मात् स तथा तम् । तथा अबाध्यः—

---

१ पण्डा तत्त्वानुगा मोक्षे ज्ञानं विज्ञानमन्यतः । शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ॥ इत्यभिधानचिन्तामणौ द्वितीयकाण्डे २२४ श्लोकः ।

परैर्बाधितुमशक्यः, सिद्धान्तः – स्याद्वादश्रुतलक्षणो यस्य स तथा तम् । तथा अमर्त्याः – देवाः, तेषामपि पूज्यम् – आराध्यम् ॥

व्याख्यार्थ—मैं वर्धमान जिनेन्द्रकी स्तुति करनेका प्रयत्न करूँगा । वर्धमान जिनेन्द्र अनन्त केवलज्ञानके धारक, रागद्वेष आदि अठारह दोषोंसे रहित, प्रतिवादियोंद्वारा अखण्डनीय स्याद्वादरूप सिद्धांतसे युक्त तथा देवोंसे पूजनीय हैं ।

अत्र च श्रीवर्धमानस्वामिनो विशेषणद्वारेण चत्वारो मूलातिशयाः प्रतिपादिताः । तत्रानन्तविज्ञानमित्यनेन भगवतः केवलज्ञानलक्षणविशिष्टज्ञानानन्त्यप्रतिपादनाद्ज्ञानातिशयः । अतीतदोषमित्यनेनाष्टादश[1]दोषसंक्षयाभिधानाद् अपायापगमातिशयः । अबाध्यसिद्धान्तमित्यनेन कुतीर्थिकोपन्यस्तकुहेतुसमूहाशक्यबाधस्याद्वादरूपसिद्धान्तप्रणयनभणनाद्वचनातिशयः । अमर्त्यपूज्यमित्यनेनाकृत्रिमभक्तिभरनिर्भरसुरासुरनिकायनायकनिर्मितमहाप्रातिहार्य[2]सपर्यापरिज्ञानात्पूजातिशयः ॥

यहाँ ऊपरके चार विशेषणोंसे वर्धमानस्वामीके चार मूल अतिशयोंका प्रतिपादन किया गया है । ‘ अनन्तज्ञान ’ से विशिष्टज्ञान—केवलज्ञानकी अनन्ततारूप ज्ञानातिशय, ‘ अतीतदोष ’ से अठारह दोषोंके क्षयरूप अपायापगमअतिशय, ‘ अबाध्यसिद्धांत ’ से तीर्थिकोंके हेतुओंद्वारा अखण्डनीय स्याद्वादकी प्ररूपणारूप वचनातिशय तथा ‘ अमर्त्यपूज्य ’ विशेषणसे सहजभक्तिभावसे विनम्र देव और असुरोंके नायक इन्द्रद्वारा की हुई महाप्रातिहार्य पूजारूप पूजातिशयका सूचन किया गया है ।

अत्राह परः । अनन्तविज्ञानमित्येतावदेवास्तु, नातीतदोषमिति । गतार्थत्वात् । दोषात्ययं विनानन्तविज्ञानत्वस्यानुपपत्तेः । अत्रोच्यते । कुनयमतानुसारिपरिकल्पितासव्यवच्छेदार्थमिदम् । तथा चाहुराजीविकनयानुसारिणः—

“ ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम् ।
गत्वागच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ” ॥

इति । तद् नूनं न ते अतीतदोषाः । कथमन्यथा तेषां तीर्थनिकारदर्शनेऽपि भवावतारः ॥

---

[1] अन्तराया दानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः । हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥७२॥ कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा । रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥७३॥ अभिधानचिन्तामणिः प्रथमकाण्डे श्लोकौ ।

[2] कंकिल्लि कुसुमवुट्ठि देवज्झुणि चामरासणाइं च । भावलयभेरिछत्तं जयन्ति जिणपाडिहेराइं ॥१॥ प्रवचनसारोद्धारे द्वार ३९ (गाथा ४४०) ।छाया–१ अशोकवृक्षः, २ कुसुमवृष्टिः, ३ दिव्यध्वनिः, ४ चामरे, ५ आसनानि च, । ६ भामण्डलं, ७ भेरी, ८ छत्रम् , ।

उपर्युक्त चार विशेषणोंकी सार्थकता

(क) **शंका**—वर्धमानस्वामीके 'अनन्तविज्ञान' विशेषण देना ही पर्याप्त है, 'अतीतदोष' विशेषणकी आवश्यकता नहीं। कारण कि विना दोषोंके नाश हुए अनन्तविज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती ? **समाधान**—कुवादियोंद्वारा कल्पित आप्तके निराकरण करनेके लिये 'अतीतदोष' विशेषण दिया गया है। उदाहरणके लिये आजीविकमतके अनुयायी कहते हैं "धर्म-तीर्थके प्रवर्तक ज्ञानी मोक्ष प्राप्त करते हैं, तथा अपने तीर्थका तिरस्कार होते देखकर वे फिर मोक्षसे संसारमें चले आते हैं।" जैनसिद्धांतका कथन है, कि ये ज्ञानी दोषोंसे रहित नहीं हैं। कारण कि यदि वे सम्पूर्ण दोषोंसे रहित होते, तो तीर्थका तिरस्कार देखकर उन्हें संसारमें फिरसे आनेकी आवश्यकता न होती। इसीलिये आजीविकमतका निराकरण करनेके लिय 'अतीतदोष' विशेषण दिया गया है।

आह। यद्येवम् अतीतदोषमित्येवास्तु, अनन्तविज्ञानमित्यतिरिच्यते। दोषात्यये ऽवश्यंभावित्वादनन्तविज्ञानत्वस्य। न। कैश्चिद्दोषाभावेऽपि तदनभ्युपगमात्। तथा च वैशेषिकवचनम्—

"सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते" ॥

तथा—"तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे" ॥

तन्मतव्यपोहार्थमनन्तविज्ञानमित्यदुष्टमेव। विज्ञानानन्त्यं विना एकस्याप्यर्थस्य यथावत् परिज्ञानाभावात्। तथा चार्षम् —

"जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ॥"

तथा—"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः" ॥

(ख) **शंका**—यदि ऐसा ही है, तो केवल 'अतीतदोष' विशेषण ही दिया जाय, 'अनन्तविज्ञान' की क्या आवश्यकता है ? कारण कि दोषोंके नष्ट होनेपर अनन्तविज्ञान-

---

१ आचारांगसूत्रे प्रथमश्रुतस्कंधे तृतीयाध्ययने चतुर्थोद्देशे सूत्रम् १२२। छाया-य एकं जानाति स सर्वं जानाति। यः सर्वं जानाति स एकं जानाति। **तुलना करो**—जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे। णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादीणि। ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥ (प्रवचनसार अ. १ गा. ४८,४९) छाया-यो न विजानाति युगपदार्थान् त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान्। ज्ञातुं तस्य न शक्यं सपर्ययं द्रव्यमेकं वा ॥ द्रव्यमनन्त पर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातीनि। न विजानाति यदि युगपत् कथं स सर्वाणि जानाति ॥

की प्राप्ति अवश्यंभावी है ? **समाधान**—कितने ही वादी दोषोंके नाश होनेपर भी अनन्तविज्ञानकी प्राप्ति नहीं स्वीकार करते। अतएव 'अनन्तविज्ञान' विशेषण दिया गया है। वैशेषिकोंका मत है, "ईश्वर सब पदार्थोंको जाने अथवा न जाने, वह इष्ट पदार्थोंको जाने इतना ही बस है। यदि ईश्वर कीड़ोंकी संख्या गिनने बैठे तो वह हमारे किस कामका ?" तथा "अतएव ईश्वरके उपयोगी ज्ञानकी ही प्रधानता है। क्योंकि यदि दूर तक देखनेवालेको ही प्रमाण माना जाय, तो फिर हमें गीध पक्षियोंकी भी पूजा करनी चाहिये।" कहनेका तात्पर्य यह है, कि वैशेषिक लोग ईश्वरको अतीतदोष स्वीकार करके भी उसे सकल पदार्थोंका ज्ञाता नहीं मानते। इस लिये इस मतका निराकरण करनेके लिये ग्रन्थकारने अनन्तविज्ञान विशेषण दिया है, और यह विशेषण सार्थक ही है, क्योंकि अनन्तज्ञानके विना किसी वस्तुका भी ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। आगमका वचन भी है "जो एकको जानता है, वह सबको जानता है, और जो सबको जानता है, वह एकको जानता है।" तथा "जिसने एक पदार्थको सब प्रकारसे देखा है, उसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे देख लिया है। तथा जिसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे जान लिया है, उसने एक पदार्थको सब प्रकारसे जान लिया है।" कहनेका भाव यह है, कि जबतक हम एक पदार्थका पूर्ण रीतिसे ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते, उस समयतक हमें सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव 'एक' और 'अनेक' सापेक्ष हैं, अर्थात् 'एक' का ज्ञान प्राप्त करना, 'अनेक' को जानना है। इस लिये अतीतदोष विशेषणके समान अनन्तविज्ञान विशेषण भी उतना ही आवश्यक है। इसीलिये वैशेषिकमतका निराकरण करनेके लिये अतीतदोषके साथ अनन्तविज्ञान विशेषण दिया गया है।

ननु तर्हि अबाध्यसिद्धान्तमित्यपार्थकम्, यथोक्तगुणयुक्तस्याव्यभिचारिवचनत्वेन तदुक्तसिद्धान्तस्य बाधायोगात्। न। अभिप्रायापरिज्ञानात्। निर्दोषपुरुषप्रणीत एव अबाध्यः सिद्धान्तः। नापरेऽपौरुषेयाद्याः। असम्भवादिदोषाघ्रातत्वात्, इति ज्ञापनार्थम्। आत्ममात्रतारकमूकान्तकृत्केवल्यादिरूपमुण्डकेवलिनो यथोक्तसिद्धान्तप्रणयनासमर्थस्य व्यवच्छेदार्थं वा विशेषणमेतत्॥

(ग) **शंका**—'अबाध्यसिद्धांत' विशेषण देना व्यर्थ है। कारण कि जो पुरुष 'अनन्तविज्ञान' और 'अतीतदोष' है, उसके वचनोंमें कोई दोष नहीं होता, इस लिये

---

[१] ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च। पुंसश्च ताल्वादि ततः कथं स्यादपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः।

[२] (१) द्रव्यभावमुण्डनप्रधानस्तथाविधबाह्यातिशयशून्यः केवली (२) संविग्नो भवनिर्वेदादात्मनिःसरणं तु यः। आत्मार्थे संप्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली॥ (३) यः पुनः सम्यक्त्वावाप्तौ भवनैर्गुण्यदर्शनतस्तन्निर्वेदादात्मनिःसरणमेव केवलमभिवाञ्छति तथैव चेष्टते स मुण्डकेवली भवति। इति।

उसका सिद्धांत अबाध्य होना ही चाहिये ? **समाधान**—अबाध्यसिद्धांत विशेषण देनेसे यहाँ यही अभिप्राय है, कि निर्दोष पुरुषके निर्मित सिद्धांत ही अबाध्य हैं, तथा असंभव आदि दोष युक्त होनेसे अपौरुषेय आदि अर्थात् पुरुषके विना निर्मित वेद आदि सिद्धांत दोषरहित नहीं हैं। अथवा, सिद्धांतोंके रचनेमें असमर्थ, स्वयं अपना ही उद्धार करनेवाले मूक तथा अन्तकृत् मुण्डकेवलियोंके निराकरण करनेके लिये अबाध्यसिद्धांत विशेषण दिया गया है। भावार्थ यह है, कि अबाध्यसिद्धांत विशेषणकी सार्थकता दो प्रकारसे बतायी गई है। (अ) निर्दोष पुरुषद्वारा निर्मित सिद्धांत ही बाधा रहित हो सकता है, पुरुषके विना निर्मित (अपौरुषेय) वेद अबाधित नहीं हो सकता। क्योंकि तालु आदिसे उत्पन्न वर्णोंके समूहको वेद कहते हैं, तथा तालु आदि स्थान मनुष्य-जन्य हैं, अतएव वेदोंका अपौरुषेय मानना असंभव दोषसे दूषित है। (आ) मुण्डकेवलियोंका निराकरण उक्त विशेषणकी दूसरी सार्थकता है। बाह्य अतिशयोंसे रहित, संसारसे वैराग्यभावको प्राप्त होकर जो केवली केवल अपनी ही आत्माके उद्धारका प्रयत्न करते हैं, वे ' मुण्डकेवली ' कहे जाते हैं। ये केवली ' अन्तःकृत् ' और ' मूक ' दो प्रकारके होते हैं। दोनों ही केवली कर्मोंके नाश करनेवाले और सम्पूर्ण पदार्थोंके द्रष्टा होते हैं। इनमें अन्तर केवल इतना ही है, कि अन्तःकृत् केवलीके संसारसे मुक्त होनेका समय बहुत नज़दीक रहता है, या यह कहना चाहिये, कि मुक्त होनेके कुछ समय पहले ही अन्तःकृत् केवलीको केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। तथा मूककेवली किसी शारीरिक दोषके कारण उपदेश देनेमें असमर्थ होते हैं, इसलिये वे मौन रहते हैं। उक्त दोनों केवली किसी सिद्धांतकी रचना नहीं कर सकते हैं। यही कारण है, कि अतीतदोष और अनन्तविज्ञानके धारक होते हुए भी मुण्डकेवलियोंका निराकरण करनेके लिये ग्रन्थकारने अबाध्यसिद्धांत विशेषण दिया है। मुण्डकेवली सिद्धांतकी रचना करनेमें ही असमर्थ हैं, फिर उस सिद्धांतके अबाध्य होनेकी तो बात ही दूर रही।

अन्यस्त्वाह। अमर्त्यपूज्यमिति न वाच्यम्। यावता यथोद्दिष्टगुणगरिष्ठस्य त्रिभुवनविभोरमर्त्यपूज्यत्वं न कथञ्चन व्यभिचरतीति। सत्यम्। लौकिकानां हि अमर्त्याः पूज्यतया प्रसिद्धाः, तेषामपि भगवानेव पूज्य इति विशेषणेनानेन ज्ञापयन्नाचार्यः परमेश्वरस्य देवाधिदेवत्वमावेदयति॥ एवं पूर्वार्धे चत्वारोऽतिशया उक्ताः॥

(घ) **शंका**—' अमर्त्यपूज्य ' विशेषणकी क्या आवश्यकता है ? **समाधान**—लौकिकपुरुष देवोंको ही पूज्य दृष्टिसे देखते हैं। ये देव भी भगवानको पूज्य मानते हैं, यही सूचित करनेके लिये आचार्यमहोदय भगवानको देवाधिदेव कहते हैं। इस प्रकार पूर्वार्धके श्लोकमें चार अतिशयोंका वर्णन किया गया है।

अनन्तविज्ञानत्वं च सामान्यकेवलिनामप्यवश्यंभावीत्यतस्तद्व्यवच्छेदाय श्रीवर्धमानमिति विशेष्यपदमपि विशेषणरूपतया व्याख्यायते । श्रिया चतुस्त्रिंशदतिशयसमृद्ध्यनुभवात्मकभावार्हन्त्यरूपया वर्धमानं वर्धिष्णुम् । नन्वतिशयानां परिमिततयैव सिद्धान्ते प्रसिद्धत्वात् कथं वर्धमानतोपपत्तिः इति चेत् । न । यथा निशीथचूर्णौ[1] भगवतां श्रीमदर्हतामष्टोत्तरसहस्रसङ्ख्यबाह्यलक्षणसङ्ख्याया उपलक्षणत्वेनान्तरङ्गलक्षणानां सत्त्वादीनामानन्त्यमुक्तम् । एवमतिशयानामधिकृतपरिगणनायोगेऽप्यपरिमितत्वमविरुद्धम् । ततो नातिशयश्रिया वर्धमानत्वं दोषाश्रय इति ॥

श्रीवर्धमान आदि विशेषणोंकी सार्थकता

अनन्तविज्ञान सामान्यकेवलियोंमें भी पाया जाता है, अतएव सामान्यकेवलियोंके परिहारके लिये ‘ श्रीवर्धमान ’ विशेष्य होनेपर भी इसकी विशेषणरूपसे व्याख्या कीगई है।‘श्रीवर्धमान’ अर्थात् चौंतीस अतिशयोंकी समृद्धि भावअर्हंतरूप लक्ष्मीसे बढ़े हुए । शंका—जैनसिद्धांतमें अतिशयोंकी संख्या चौंतीस प्रतिपादित की गई है, फिर ‘अतिशय समृद्धिसे बढ़े हुए ’ कहना ठीक नहीं है ? **समाधान**—जिस प्रकार ‘ निशीथचूर्णि ’ में श्रीअरहंत भगवानके एक हज़ार आठ बाह्य लक्षणोंको उपलक्षण मानकर सत्त्व आदि अंतरंग लक्षणोंको अनन्त कहा गया है, इसी प्रकार उपलक्षणसे अतिशयोंको परिमित मान करके भी उन्हें अनन्त कहा जा सकता है, इस लिये कोई शास्त्रविरोध नहीं है । अतएव ‘ अतिशय लक्ष्मीसे बढ़े हुए ’ कहना दोषयुक्त नहीं है ।

अतीतदोषता चोपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनामपि सम्भवतीत्यतः क्षीणमोहाख्याप्रतिपातिगुणस्थान[2]प्राप्तिप्रतिपत्त्यर्थं जिनमिति विशेषणम् । रागादिजेतृत्वाद् जिनः समूलकाषङ्कषितरागादिदोष इति । अबाध्यसिद्धान्तता च श्रुतकेवल्यादि[3]ष्वपि दृश्यतेऽतस्तदपोहायाप्तमुख्यमिति विशेषणम् । आप्तिर्हि[4] रागद्वेषमोहानामैकान्तिक आत्यन्तिकश्च क्षयः, सा येषामस्ति ते खल्वाप्ताः अभ्रादित्वाद्[5] मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः । तेषु मध्ये मुखमिव सर्वाङ्गानां प्रधानत्वेन मुख्यम् । “ शाखादेर्यः[6] ” इति

---

[1] निशीथचूर्णिग्रन्थे १७ उद्देशे ।

[2] गुणस्थानस्यचतुर्दश भेदाः । १ मिच्छे २ सासण ३ मीसे ४ अविरय ५ देसे ६ पमत्त ७ अपमत्ते । ८ नियट्टि ९ अनियट्टि १० सुहुमु ११ वसम १२ खीण १३ सजोगि १४ अजोगिगुणा । (द्वितीयकर्मग्रन्थ द्वितीय गाथा) छाया–मिथ्यात्वसास्वादनमिश्रमविरतदेशं प्रमत्ताप्रमत्तम् । निवृत्त्यनिवृत्तिसूक्ष्मोपशमक्षीणसयोग्ययोगिगुणाः ॥

[3] श्रुतेन केवलिनः श्रुतकेवलिनः । चतुर्दशपूर्वधरत्वात् । ‘ अथ प्रभवः प्रभुः । शय्यंभवो यशोभद्रः संभूतविजयस्ततः ॥ ३३ ॥ भद्रबाहुः स्थूलभद्रः श्रुतकेवलिनो हि षट् ॥ ३४ ॥ इति अभिधानचिन्तामणौ प्रथमकाण्डे । [4] निःशेषीकृतेऽपि पुनरुद्भवमाशङ्क्यात्यन्तिकः, अभूयःसंभवदोषविनाशः । [5] ‘ अभ्रादिभ्यः ’ हैमसूत्रम् ७।२।४६ । [6] हैमसूत्रम् ७।१।११४

तुल्ये यः । अमर्त्यपूज्यता च तथाविधगुरूपदेशपरिचर्यापर्याप्तविद्याचरणसंपन्नानां सामान्यमुनीनामपि न दुर्घटा, अतस्तन्निराकरणाय स्वयम्भुवमिति विशेषणम् । स्वयम्-आत्मनैव, परोपदेशनिरपक्षतयावगततत्त्वो भवतीति स्वयम्भूः-स्वयं संबुद्धः, तम् । एवंविधं चरमजिनेन्द्रं स्तोतुं-स्तुतिविषयीकर्तुम् अहं यतिष्ये-यत्नं करिष्यामि ॥ अत्र चाचार्यो भविष्यत्कालप्रयोगेण योगिनामप्यशक्यानुष्ठानं भगवद्गुणस्तवनं मन्यमानः श्रद्धामेव स्तुतिकरणेऽसाधारणं कारणं ज्ञापयन् यत्नकरणमेव मदधीनं न पुनर्यथावस्थितभगवद्गुणस्तवनसिद्धिरिति सूचितवान् । अहमिति च गतार्थत्वेऽपि परोपदेशान्यानुवृत्त्यादिनिरपेक्षतया निजश्रद्धयैव स्तुतिप्रारम्भ इति ज्ञापनार्थम् ॥

'अतीतदोषत्व' 'उपशान्तमोह' नामक ग्यारहवें गुणस्थानवालोंके भी संभव है,इस लिये अप्रतिपाति 'क्षीणमोह' नामक बारहवें गुणस्थानकी प्राप्ति बतानेके लिये 'जिन' विशेषण दिया गया है। जिसने रागादि दोषोंको जड़मूलसे उखाड़ दिया है, उसे जिन कहते हैं। 'अबाध्यसिद्धान्त' श्रुतकेवली आदिमें भी पाया जाता है, उसका निराकरण करनेके लिये 'आप्तमुख्य' विशेषण दिया गया है। जिसके राग, द्वेष और मोहका सर्वथा क्षय हो गया है, उसे आप्त कहते हैं। [यहाँ अभ्रादिगणमें मत्वर्थमें 'अ' प्रत्यय हुआ है, ('अभ्रादिभ्यः' हेमसूत्र ७।२।४६)। जिस प्रकार सम्पूर्ण अंगोंमें मुख प्रधान है, इसी तरह जिनेन्द्रभगवान आप्तोंमें प्रधान हैं, इस लिये उन्हें आप्तमुख्य कहा गया है। यहाँ 'शाखादेर्यः' (७।१।११४ हेमशब्दानुशासन) सूत्रसे तुल्य अर्थमें 'य' प्रत्यय हुआ है।] सद्गुरुओंके उपदेश और सेवासे ज्ञान और चारित्रको प्राप्त करनेवाले सामान्यमुनि भी देवोंद्वारा पूजे जाते हैं, इस लिये उनका निराकरण करनेके लिये 'स्वयंभू' विशेषण दिया गया है। जिसने दूसरेके उपदेशके विना स्वयं ही तत्त्वोंको जान लिया है, वह स्वयंभू कहलाता है। इन पूर्वोक्त विशेषणोंसे युक्त अंतिम जिनेन्द्र वर्धमानस्वामीकी स्तुति करनेका मैं (हेमचन्द्र) प्रयत्न करूँगा। भगवानके गुणोंका स्तवन योगियोंद्वारा भी अशक्य है, और असाधारण श्रद्धाके वशसे ही उन गुणोंकी स्तुति की जाती है, यह सूचित करनेके लिये आचार्यने 'यतिष्ये' भविष्य कालका प्रयोग किया है। यद्यपि 'यतिष्ये' कहनेसे 'अहं' का स्वयं बोध हो जाता है, फिर भी दूसरोंके उपदेशके विना केवल अपनी ही भक्तिसे मैं इस स्तवनको आरंभ करता हूँ, यह बतानेके लिये 'अहं' पद दिया गया है।

अथवा। श्रीवर्धमानादिविशेषणचतुष्टयमनन्तविज्ञानादिपदचतुष्टयेन सह हेतुहेतुमद्भावेन व्याख्यायते। यत एव श्रीवर्धमानम्, अत एवानन्तविज्ञानम्। श्रिया—कृत्स्नकर्मक्षयाविर्भूतानन्तचतुष्कसंपद्रूपया[1] वर्धमानम्। यद्यपि श्रीवर्धमानस्य परमे-

---

[1] (१) अनन्तज्ञान (२) अनन्तदर्शन (३) अनन्तचारित्र (४) अनन्तवीर्य इति चतुष्कम्।

श्वरस्यानन्तचतुष्कसंपत्तेरुत्पत्त्यनन्तरं सर्वकालं तुल्यत्वात् चयापचयौ न स्तः, तथापि निरपचयत्वेन शाश्वतिकावस्थानयोगाद् वर्धमानत्वमुपचर्यते । यद्यपि च श्रीवर्धमानविशेषणेनानन्तचतुष्कान्तर्भावित्वेनानन्तविज्ञानत्वमपि सिद्धम्, तथाप्यनन्तविज्ञानस्यैव परोपकारसाधकतमत्वाद्, भगवत्प्रवृत्तेश्च परोपकारैकनिवन्धनत्वाद्, अनन्तविज्ञानत्वं शेषानन्तत्रयात् पृथग् निर्धार्याचार्येणोक्तम् ॥

अथवा—(१) श्रीवर्धमानं, (२) जिनं, (३) आप्तमुख्यं, (४) स्वयंभुवं ये क्रमशः (१) अनन्तविज्ञानं, (२) अतीतदोषं, (३) अबाध्यसिद्धान्तं, (४) अमर्त्यपूज्यंके साथ कारण और कार्यरूपसे प्रतिपादित किये जासकते हैं। भगवान सम्पूर्ण कर्मोंके नाशसे उत्पन्न होनेवाली अनन्तचतुष्टय लक्ष्मीसे वृद्धिंगत हैं अतएव अनन्तविज्ञानके धारक हैं। यद्यपि वर्धमानस्वामीके अनन्तचतुष्टय लक्ष्मी सर्वदा एक समान रहती है, अतएव उसमें घटना वढ़ना नहीं होता, फिर भी उस लक्ष्मीके सदा एक समान रहनेके कारण उसमें वर्धमानताका उपचारसे प्रतिपादन किया गया है। तथा, यद्यपि श्रीवर्धमानविशेषणसे अनन्तविज्ञान अनन्तचतुष्टयमें गर्भित होजाता है, फिर भी अनन्तविज्ञानसे ही जीवोंका परोपकार होता है, और परोपकारके लिये ही भगवानकी प्रवृत्ति होती है, इस लिये अनन्तविज्ञानको अनन्तदर्शन आदि तीनोंसे पृथक् कहा है।

ननु यथा जगन्नाथस्यानन्तविज्ञानं परार्थं, तथानन्तदर्शनस्यापि केवलदर्शनापरपर्यायस्य पारार्थ्यमव्याहतमेव; केवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यामेव हि स्वामी क्रमप्रवृत्तिभ्यामुपलब्धं सामान्यविशेषात्मकं पदार्थसार्थं परेभ्यः प्ररूपयति; तत्किमर्थं तन्नोपात्तम् ? इति चेत् । उच्यते । विज्ञानशब्देन तस्यापि संग्रहाददोषः, ज्ञानमात्राया[1] उभयत्रापि समानत्वात् । य एव हि अभ्यन्तरीकृतसमता[2]ख्यधर्मा विषमताधर्मविशिष्टा ज्ञानेन गम्यन्तेऽर्थाः, त एव ह्यभ्यन्तरीकृतविषमताधर्माः समताधर्मविशिष्टा दर्शनेन गम्यन्ते; जीवस्वाभाव्यात् । सामान्यप्रधानमुपसर्जनी[3]कृतविशेषमर्थग्रहणं दर्शनमुच्यते। तथा प्रधानविशेषमुपसर्जनीकृतसामान्यं च ज्ञानमिति ॥

शंका—जिसप्रकार भगवानका अनंतज्ञान परोपकारके लिये कहा जाता है, उसी तरह अनन्तदर्शन (केवलदर्शन) भी परोपकारके लिये ही होता है। क्योंकि क्रमसे होनेवाले केवलज्ञान और केवलदर्शनसे जाने हुए पदार्थोंको ही भगवान दूसरोंको प्रतिपादित करते हैं। फिर यहाँ अनन्तदर्शनके उल्लेख नहीं करनेका क्या कारण है ? **समाधान**—अनन्तज्ञानमें ज्ञान शब्दसे दर्शनका भी सूचना होता है, क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनोंमें ज्ञानकी मात्रा समान ही है। कारण कि जो पदार्थ सामान्यधर्मोंको गौण करके विशेषधर्मों

---

[1] ज्ञानयत्तायाः। [2] समता—सामान्याख्यधर्मः। [3] उपसर्जनं—गौणम्।

सहित ज्ञानसे जाने जाते हैं, वे ही पदार्थ विशेषधर्मोंकी गौणतापूर्वक सामान्यधर्मों सहित दर्शनसे जाने जाते हैं। ज्ञान और दर्शन दोनों ही जीवके स्वभाव हैं। सामान्यकी मुख्यतापूर्वक विशेषको गौणकरके पदार्थके जाननेको ज्ञान कहते हैं। तथा सामान्यको गौणकरके विशेषकी मुख्यतापूर्वक किसी वस्तुके ज्ञानको दर्शन कहते हैं।

तथा यत एव जिनम्, अत एवातीतदोषम्; रागादिजेतृत्वाद्धि जिनः। न चाजिनस्यातीतदोषता। तथा यत एवाप्तमुख्यम्, अत एवाबाध्यसिद्धान्तम्। आप्तो हि प्रत्ययित उच्यते। तत आप्तेषु मुख्यं श्रेष्ठमाप्तमुख्यम्। आप्तमुख्यत्वं च प्रभोरविसंवादिवचनतया विश्वविश्वासभूमित्वात्। अत एवाबाध्यसिद्धान्तम्। न हि यथावज्ज्ञानावलोकितवस्तुवादी सिद्धान्तः कुनयैर्बाधितुं शक्यते। यत एव स्वयम्भुवम्, अत एवामर्त्यपूज्यम्। पूज्यते हि देवदेवो जगत्त्रयविलक्षणलक्षणेन स्वयंसम्बुद्धत्वगुणेन सौधर्मेन्द्रादिभिरमर्त्यैरिति। अत्र च श्रीवर्धमानमिति विशेषणतया यद् व्याख्यातं तदयोगव्यवच्छेदाभिधानप्रथमद्वात्रिंशिकाप्रथमकाव्यतृतीयपादवर्तमानं "श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपम्" इति विशेष्यवर्तमानं बुद्धौ संप्रधार्य विज्ञेयम्। तत्र हि आत्मरूपमिति विशेष्यपदम्, प्रकृष्ट आत्मा आत्मरूपस्तं परमात्मानमिति यावत्। आवृत्त्या वा विशेषणमपि विशेष्यतया व्याख्येयम्॥ इति प्रथमवृत्तार्थः॥ १॥

अतएव भगवान जिन हैं, इसी कारण दोषोंसे रहित हैं। रागादि जीतनेवालेको जिन कहते हैं। जो जिन नहीं हैं, वे दोषोंसे रहित नहीं हैं। भगवान आप्तोंमें मुख्य हैं, इस लिये उनका सिद्धांत बाधारहित है। जो प्रतीति (विश्वास) के योग्य है, उसे आप्त कहते हैं। इस कारण जो आप्तोंमें प्रधान अर्थात् श्रेष्ठ हो वह आप्तमुख्य है। भगवानके वचनोंमें कोई विसंवाद न होनेसे तथा सब प्राणियोंके विश्वासभूत होनेसे भगवान आप्तमुख्य हैं। इसी कारण भगवानका सिद्धांत अबाध्य कहा गया है। क्योंकि जिस प्रकार पदार्थ ज्ञानमें झलकते हैं, उन्हें उसी प्रकार कथन करनेमें बाधा नहीं आ सकती। भगवान स्वयंभू हैं, इस लिये देवोंसे वन्दनीय हैं। तीनों लोकोंमें विलक्षण स्वयंसंबुद्धत्व (स्वयं ज्ञानको प्राप्त करना) गुणके होनेसे देवोंकेदेव भगवान सौधर्मइन्द्रादि देवोंसे पूजे जाते हैं। इस श्लोकमें 'श्रीवर्धमान' विशेषणका संबंध अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाके प्रथम श्लोकके तृतीय चरण 'श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपम्' विशेष्यके साथ लगाना चाहिये। अथवा पुनः आवृत्ति करके, श्रीवर्धमान पदको पहले विशेषण बनाकर फिर विशेष्यरूपसे प्रतिपादन करना चाहिये। यह प्रथम श्लोकका अर्थ है।

---

१ अगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं वचस्विनामक्षवतां परोक्षम्। श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपमहं स्तुतेर्गोचरमानयामि॥ १॥ इति अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंकायां संपूर्णः श्लोकः।

भावार्थ—इस श्लोकमें ग्रंथके आदिमें मंगलाचरणद्वारा भगवानका स्तवन करते हुए, अनन्तविज्ञान, अतीतदोष, अबाध्यसिद्धांत, अमर्त्यपूज्य विशेषणोंसे भगवानके ज्ञानातिशय, अपायापगमअतिशय, वचनातिशय, पूजातिशय नामक चार अतिशयोंका प्रतिपादन किया गया है। तथा आजीविक और वैशेषिकमतके निराकरण करनेके लिये क्रमशः अनन्तविज्ञान और अतीतदोष तथा अपौरुषेय वेदादिकी निवृत्तिके लिये और भगवानके दवाधिदेवत्वको सूचित करनेके लिये क्रमसे अबाध्यसिद्धांत और अमर्त्यपूज्य विशेषण दिये गये हैं।

अस्यां च स्तुतावन्ययोगव्यवच्छेदोऽधिकृतस्तस्य च तीर्थान्तरीयपरिकल्पिततत्त्वाभासनिरासेन तेषामाप्तत्वव्यवच्छेदः स्वरूपम्। तच्च भगवतो यथावस्थितवस्तुतत्त्ववादित्वख्यापनेनैव प्रामाण्यमश्नुते। अतः स्तुतिकारस्त्रिजगद्गुरोर्निःशेषगुणस्तुतिश्रद्धालुरपि सद्भूतवस्तुवादित्वाख्यं गुणविशेषमेव वर्णयितुमात्मनोऽभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह—

इस स्तुतिमें 'अन्ययोगव्यवच्छेद' अर्थात् 'दूसरे दर्शनोंका व्यवच्छेद' किया गया है। अन्य मतावलम्बियोंद्वारा मान्य तत्त्वाभासोंके खण्डन करनेसे ही उनके आप्तत्वका व्यवच्छेद किया जा सकता है, तथा यह कार्य भगवानके यथार्थवादित्व गुणकी विवेचनासे ही साध्य हो सकता है। अतएव स्तुतिकार आचार्य तीन लोकके अधिपति भगवानके सम्पूर्ण गुणोंकी स्तुतिमें श्रद्धा रखते हुए भी यथार्थवादित्व गुणका ही वर्णन करते हैं—

अयं जनो नाथ! तव स्तवाय गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव।
विगाहतां किन्तु यथार्थवादमेकं परीक्षाविधिदुर्विदग्धः॥ २॥

श्लोकार्थ—हे नाथ! परीक्षा करनेमें अपनेको पंडित समझनेवाला मैं (हेमचन्द्र) आपके दूसरे गुणोंके प्रति श्रद्धाका भाव रखते हुए भी आपके स्तवनके लिये आपके 'यथार्थवाद' नामक गुणका प्रतिपादन करता हूँ।

हे नाथ! अयं—मल्लक्षणो जनः; तव गुणान्तरेभ्यो—यथार्थवादव्यतिरिक्तेभ्योऽनन्यसाधारणशारीरलक्षणादिभ्यः स्पृहयालुरेव श्रद्धालुरेव। किमर्थम्? स्तवाय—स्तुतिकरणाय। इयं "तादर्थ्ये[1] चतुर्थी"। पूर्वत्र तु "स्पृहे[2]र्व्याप्यं वा" इतिलक्षणा

---

१ हैमसूत्रम् २।२।५४। २ हैमसूत्रम् २।२।२६।

चतुर्थी। तत्र गुणान्तराण्यपि स्तोतुं स्पृहावानयं[1] जन इति भावः। ननु यदि गुणान्तरस्तुतावपि स्पृहयालुता तत्किं[2] तान्यपि स्तोष्यति स उत नेत्याशङ्क्योत्तरार्धमाह- किन्त्विति–अभ्युपगमपूर्वकविशेषद्योतने निपातः। एकम्–एकमेव। यथार्थवादं–यथा- वस्थितवस्तुतत्त्वप्रख्यापनाख्यं त्वदीयं गुणम्, अयं जनो विगाहतां–स्तुतिक्रियया समन्ताद् व्याप्नोतु। तस्मिन्नेकस्मिन्नपि हि गुणे वर्णिते तन्त्रान्तरीयदैवतेभ्यो वैशिष्ट्यख्यापनद्वारेण वस्तुतः सर्वगुणस्तवनसिद्धेः ॥

व्याख्यार्थ—हे नाथ ! मैं (हेमचन्द्र) आपके 'यथार्थवाद' के अतिरिक्त दूसरे गुणोंके प्रति भी श्रद्धा रखता हूँ। ['स्तवाय' यहाँ 'तादर्थ्ये चतुर्थी' (२।२।५४) सूत्रसे तादर्थ्यमें चतुर्थी तथा 'गुणान्तरेभ्यः' पदमें 'स्पृहेर्व्याप्यंवा' (२।२।२६) सूत्रसे स्पृह् धातुके कर्ममें विकल्पसे चतुर्थी विभक्ति हुई है।] शंका—यदि आपकी अन्य गुणोंके स्तवन करनेमें भी श्रद्धा है तो उनकी उपेक्षा क्यों करते हैं ? समाधान—इसका उत्तर श्लोकके उत्तरार्ध भागसे दिया गया है। इस यथार्थवाद नामक एक ही गुणके वर्णनसे अन्यमतोंके देवताओंसे भगवानकी विशिष्टता सिद्ध होती है, इस लिये इस एक गुणके स्तवनसे भगवानके संपूर्ण गुणोंका स्तवन होजाता है।

अथ प्रस्तुतगुणस्तुतिः सम्यक्परीक्षाक्षमाणां दिव्यदृशा[3]मेवौचिती[4]मञ्चति, नार्वाग्दृशां[5] भवादृशामित्याशङ्कां विशेषणद्वारेण निराकरोति। यतोऽयं जनः परीक्षा- विधिदुर्विदग्धः–अधिकृतगुणविशेषपरीक्षणविधौ दुर्विदग्धः–पण्डितंमन्य इति यावत्। अयमाशयः। यद्यपि जगद्गुरोर्यथार्थवादित्वगुणपरीक्षा मादृशां मतेरगोचरः, तथापि भक्तिश्रद्धातिशयात् तस्यामहमात्मानं विदग्धमिव मन्य इति। विशुद्धश्रद्धाभक्तिव्यक्ति- मात्रस्वरूपत्वात् स्तुतेः ॥ इति वृत्तार्थः ॥ २ ॥

शंका—उत्तम रीतिसे परीक्षा करनेमें समर्थ दिव्य-नेत्रवाले मुनीश्वर लोग ही भगवानके गुणोंकी स्तुति कर सकते हैं, आप जैसे छद्मस्थोंमें स्तुति करनेकी योग्यता नहीं है ? समाधान—प्रस्तुत गुणोंकी परीक्षामें अपनेको पंडित मानकर मैं (हेमचन्द्र) स्तुति आरंभ करता हूँ। तात्पर्य यह है, कि यद्यपि भगवानके यथार्थवादित्व गुणकी परीक्षा करना मेरी बुद्धिके बाहर है, फिर भी भक्ति और श्रद्धाके वश होकर मैं उस परीक्षामें अपनेको पंडित समझता हूँ। क्योंकि विशुद्ध श्रद्धा और भक्ति प्रगट करना ही स्तुति है। यह श्लोकका अर्थ है।

---

[1] 'स्पृहावानेवायम्' पाठान्तरं। [2] 'तत्किमर्थं तत्रोपेक्षा इत्याशङ्क्योत्तरार्धमाह–' पाठान्तरं। [3] अतीन्द्रियज्ञानिनां। [4] योग्यतां। [5] छद्मस्थानां।

भावार्थ—यद्यपि भगवान अनंत गुणोंसे भूषित हैं, परन्तु अन्यमतोंद्वारा मान्य आप्तोंसे भगवानकी असाधारणता दिखानेके लिये भगवानके ‘ यथार्थवाद ’ गुणका स्तवन करना ही पर्याप्त है । अतएव हेमचन्द्राचार्य दूसरे गुणोंके प्रति श्रद्धा रखते हुए भी यहाँपर भगवानके ‘ यथार्थवाद ’ गुणकी ही स्तुति करते हैं ।

अथ ये कुतीर्थ्याः कुशास्त्रवासनावासितस्वान्ततया त्रिभुवनस्वामिनं स्वामित्वेन न प्रतिपन्नाः, तानपि तत्त्वविचारणां प्रति शिक्षयन्नाह—

मिथ्याशास्त्रोंकी वासनासे दूषित परमतावलम्बी तीनलोकके स्वामी जिनभगवानको स्वामी नहीं मानते, उन्हें उपदेश देनेके लिये कहते हैं—

गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् ।
तथापि संमील्य विलोचनानि विचारयन्तां नयवर्त्म सत्यम् ॥३॥

श्लोकार्थ—हे नाथ, यद्यपि आपके गुणोंमें ईर्ष्या रखनेवाले कुमतावलम्बी आपको स्वामी नहीं मानते, परन्तु ये लोग आपके सच्चे न्याय-मार्गको ज़रा नेत्रोंको बन्द करके विचार करें ।

अमी इति—“ अदसस्तु[1] विप्रकृष्टे ” इति वचनात् तत्त्वातत्त्वविमर्शबाह्यतया दूरीकरणार्हत्वाद् विप्रकृष्टाः, परे—कुतीर्थिकाः, भवन्तं-त्वाम्, अनन्यसामान्यसकलगुणनिलयमपि; मा ईशं शिश्रियन्—मा स्वामित्वेन प्रतिपद्यन्ताम् । यतो गुणेष्वसूयां दधतः—गुणेषु बद्धमत्सराः गुणेषु दोषाविष्करणं ह्यसूया, यो हि यत्र मत्सरी भवति स तदाश्रयं नानुरुध्यते, यथा माधुर्यमत्सरी करभः पुण्ड्रेक्षुकाण्डम् । गुणाश्रयश्च भवान् । एवं परतीर्थिकानां भगवदाज्ञाप्रतिपत्तिं प्रतिषिध्य स्तुतिकारो माध्यस्थमिवास्थाय, तान् प्रति हितशिक्षामुत्तरार्धेनोपदिशति । तथापि—त्वदाज्ञाप्रतिपत्तेरभावेऽपि, लोचनानि नेत्राणि—संमील्य—मिलितपुटीकृत्य, सत्यं—युक्तियुक्तं, नयवर्त्म—न्यायमार्गं, विचारयन्तां—विमर्शविषयीकुर्वन्तु ॥

व्याख्यार्थ—‘ अमी परे भवन्तं मां ईशं शिश्रियन्, यतः गुणेषु असूयां दधतः ’ —अच्छे बुरेका विचार न करनेवाले परमतावलम्बी असाधारण गुणोंके समूह आपको ईश्वर नहीं मानते, क्योंकि वे आपके गुणोंमें ईर्ष्या करते हैं । गुणोंके रहते हुए भी दोषोंके ढूँढ़नेको असूया (ईर्ष्या) कहते हैं । जो जिन गुणोंमें ईर्ष्या करता है, वह उन गुणोंको गुणरूपसे नहीं स्वीकार करता । जैसे मीठे रससे ईर्ष्या करनेवाला

---

[1] इदमस्तु संनिकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥ १ ॥ इति संपूर्णः श्लोकः ।

ऊँट मीठे गन्नेको नहीं चाहता। परन्तु आपमें गुण अवश्य मौजूद हैं। इस प्रकार भगवानकी आज्ञाका प्रतिषेध करनेवाले परमतावलम्बियोंके प्रति उदासीन भाव रखते हुए आचार्य उपदेश करते हैं। तथापि—आपकी आज्ञाको न मानकर भी तैर्थिक लोग आँखें बन्द करके आपके युक्तियुक्त न्याय—मार्गका ज़रा विचार तो करें।

अत्र च विचारयन्तामित्यात्मनेपदेन फलवत्कर्तृविषयेणैवं ज्ञापयत्याचार्यो यदवितथनयपथविचारणया तेषामेव फलं, वयं केवलमुपदेष्टारः। किं तत्फलम्? इति चेत्, प्रेक्षावत्तेति ब्रूमः। संमील्य विलोचनानीति च वदतः प्रायस्तत्त्वविचारणमेकाग्रताहेतुनयननिमीलनपूर्वकं लोके प्रसिद्धमित्यभिप्रायः। अथवा अयमुपदेशस्तेभ्योऽरोचमान एवाचार्येण वितीर्यते; ततोऽस्वदमानोऽप्ययं कटुकौषधपानन्यायेनायतिसुखत्वाद् भवद्भिर्नेत्रे निमील्य पेय एवेत्याकूतम्॥

यहाँ 'विचारयन्तां' आत्मनेपदका प्रयोग किया गया है, इस लिये क्रियाका फल कर्त्ताको ही मिलना चाहिये। अर्थात् सच्चे न्याय-मार्गका विचार करनेसे तैर्थिक लोगोंको ही फल मिलेगा क्योंकि हम तो केवल उपदेशके देनेवाले हैं। प्रेक्षावान होना ही फलकी सार्थकता है। यहाँ किसी तत्त्वको विचार करते समय एकाग्रता प्राप्त करनेके लिये आँखोंको बन्द कर विचार करनेकी लौकिक विधिका सूचन किया गया है। अथवा उपदेशके रुचिकर नहीं होनेपर भी आचार्य इसका उपदेश देते हैं। अतएव 'कटुक औषध-पान' न्यायसे इस उपदेशके कटुक होनेपर भी यह उपदेश आगामी कालमें सुखकर होगा, इसलिये इस उपदेशको आँखें बन्द करके पान करना चाहिये।

ननु यदि च पारमेश्वरे वचसि तेषामविवेकातिरेकादरोचकता, तत्किमर्थं तान् प्रत्युपदेशक्लेश इति? नैवम्। परोपकारसारप्रवृत्तीनां महात्मनां प्रतिपाद्य[1]गतां रुचिमरुचिं वानपेक्ष्य हितोपदेशप्रवृत्तिदर्शनात्; तेषां हि परार्थस्यैव स्वार्थत्वेनाभिमतत्वात्; न च हितोपदेशादपरः पारमार्थिकः परार्थः। तथा चार्षम्—

> "रूसउ[2] वा परो मा वा, विसं वा परियत्तऊ।
> भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुणकारिया"॥

उवाच च वाचकमुख्यः[3]—

> "न[4] भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्।
> ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति"॥

इति वृत्तार्थः॥ ३॥

---

[1] बोध्यछात्रविषयिणीम्। [2] छाया—रुषतु वा परो मा वा विषं वा पर्यटतु। भाषितव्या हिता भाषा स्वपक्षगुणकारिका। एतदर्थक एव श्लोको श्रीहेमचन्द्रकृतश्रेणिकचरित्रे द्वितीयसर्गे ३२ उपलभ्यते। तथाहि—परो रुष्यतु वा मा वा विषवत् प्रतिभातु वा। भाषितव्या हिता भाषा स्वपक्षगुणकारिणी॥ ३२॥ [3] उमास्वातिः। अयमुमास्वामीत्यपि भण्यते। [4] तत्त्वार्थसूत्र संबन्धकारिकासु २९ श्लोकः।

शंका—यदि अविवेककी प्रचुरतासे किसीको जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें रुचि नहीं होती, तो आप उसे क्यों उपदेश देनेका परिश्रम उठाते हैं ? **समाधान**—यह बात नहीं है। परोपकार स्वभाववाले महात्मा पुरुष किसी पुरुषकी रुचि और अरुचिको न देखकर हितका उपदेश करते हैं। क्योंकि महात्मा लोग दूसरेके उपकारको ही अपना उपकार समझते हैं। हितका उपदेश देनेके बराबर दूसरा कोई पारमार्थिक उपकार नहीं है। ऋषियोंने भी कहा है—"उपदेश दिया जानेवाला पुरुष चाहे रोष करे, चाहे वह उपदेशको विषरूप समझे, परन्तु हितरूप वचन अवश्य कहने चाहिये" उमास्वाति वाचकमुख्यने भी कहा है—"सभी उपदेश सुननेवालोंको पुण्य नहीं होता है। परन्तु अनुग्रह बुद्धिसे हितका उपदेश करनेवालेको निश्चय ही पुण्य होता है।" यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—एकान्तरूपसे वस्तु-तत्त्वको स्वीकार करनेवाले अन्यमतावलम्बी आपके गुणोंमें ईर्ष्याबुद्धि रखते हुए आपको अपना इष्टदेव नहीं मानते। परन्तु यदि वे लोग एकान्तका आग्रह छोड़कर आपके प्रतिपादन किये हुए न्याय-मार्गका विचार करें, तो उन्हें आपकी महत्ता स्वयं ही प्रगट हो जायगी।

अथ यथावन्नयवर्त्मविचारमेव प्रपञ्चयितुं पराभिप्रेततत्त्वानां प्रामाण्यं निराकुर्वन्नादितस्तावत्काव्यषट्केनौलूक्यमताभिमततत्त्वानि दूषयितुकामस्तदन्तःपातिनौ प्रथमतरं सामान्यविशेषौ दूषयन्नाह—

अब 'यथार्थ नयमार्ग' का ही विचार करनेके लिये परमतावलम्बियोंद्वारा मान्य तत्त्वोंकी प्रमाणताका निराकरण करनेके वास्ते छह श्लोकोंमें वैशेषिकमतके तत्त्वोंमें दूषण बताते हुए पहले पहल 'सामान्य विशेष' में दोष दिखाते हैं।

स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो[1] भावा न भावान्तरनेयरूपाः।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद् द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—पदार्थ स्वभावसे ही सामान्यविशेषरूप हैं, उनमें सामान्य-विशेषकी प्रतीति करानेके लिये पदार्थांतर माननेकी आवश्यकता नहीं। इस लिये जो अकुशलवादी पररूप और मिथ्यारूप सामान्य–विशेषको पदार्थसे भिन्नरूप कथन करते हैं, वे न्याय-मार्गसे भ्रष्ट होते हैं।

अभवन्, भवन्ति, भविष्यन्ति, चेति भावाः—पदार्थाः, आत्मपुद्गला[2]दयस्ते; स्वत इति—सर्वं हि वाक्यं सावधारणमामनन्ति इति स्वत एव—आत्मीयस्वरूपादेव, अनुवृत्तिव्यत्तिवृत्तिभाजः—एकाकारा प्रतीतिरेकशब्दवाच्यता चानुवृत्तिः।

---

[1] अनुवृत्तिः—अन्वयः। व्यतिवृत्तिः—व्यतिरेकः। [2] पूरणगलनधर्माणः पुद्गलाः (दशवैकालिकप्रथमाध्ययने)।

व्यतिवृत्तिः—व्यावृत्तिः, सजातीयविजातीयेभ्यः सर्वथा व्यवच्छेदः; ते उभे अपि संवलिते भजन्ते—आश्रयन्तीति अनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजः, सामान्यविशेषोभयात्मका इत्यर्थः ॥

व्याख्यार्थ—आत्मा और पुद्गलादि पदार्थ अपने स्वरूपसे ही अर्थात् सामान्य और विशेष नामक पृथक् पदार्थोंकी विना सहायताके ही सामान्यविशेषरूप होते हैं। एकाकार और एक नामसे कही जानेवाली प्रतीतिको अनुवृत्ति अथवा सामान्य कहते हैं। सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे सर्वथा अलग होनेवाली प्रतीतिको व्यावृत्ति अथवा विशेष कहते हैं। आत्मा और पुद्गल आदि पदार्थ स्वभावसे ही इन दोनों धर्मोंसे—सामान्य-विशेषसे युक्त हैं।

अस्यैवार्थस्य व्यतिरेकमाह। न भावान्तरनेयरूपा इति। नेति निषेधे। भावान्तराभ्यां—पराभिमताभ्यां द्रव्यगुणकर्मसमवायेभ्यः पदार्थान्तराभ्यां भावव्यतिरिक्तसामान्यविशेषाभ्यां। नेयं—प्रतीतिविषयं प्रापणीयं। रूपं—यथासंख्यमनुवृत्तिव्यतिवृत्तिलक्षणं स्वरूपं येषां ते तथोक्ताः। स्वभाव एव ह्ययं सर्वभावानां यदनुवृत्तिव्यावृत्तिप्रत्ययौ स्वत एव जनयन्ति। तथाहि। घट एव तावत् पृथुबुध्नोदराद्याकारवान् प्रतीतिविषयीभवन् सन्नन्यानपि तदाकृतिभृतः पदार्थान् घटरूपतया घटैकशब्दवाच्यतया च प्रत्याययन् सामान्याख्यां लभते। स एव चेतरेभ्यः सजातीयविजातीयेभ्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावैरात्मानं व्यावर्तयन् विशेषव्यपदेशम्[1]श्नुते। इति न सामान्यविशेषयोः पृथक्पदार्थान्तरत्वकल्पनं न्याय्यम्। पदार्थधर्मत्वेनैव तयोः प्रतीयमानत्वात्। न च धर्मा धर्मिणः सकाशादत्यन्तं व्यतिरिक्ताः। एकान्तभेदे विशेषणविशेष्यभावानुपपत्तेः, करभरासभयोरिव धर्मधर्मिव्यपदेशाभावप्रसङ्गाच्च। धर्माणामपि च पृथक्पदार्थान्तरत्वकल्पने एकस्मिन्नेव वस्तुनि पदार्थानन्त्यप्रसङ्गः। अनन्तधर्मकत्वाद् वस्तुनः ॥

इसीको प्रकारान्तरसे कहते हैं। आत्मा पुद्गलादि पदार्थ, वैशेषिकोंद्वारा मान्य द्रव्य, गुण, कर्म और समवायसे पृथक् सामान्य और विशेषसे, भिन्न नहीं हैं। क्योंकि स्वयं ही सामान्य और विशेषरूप ज्ञानको उत्पन्न करना पदार्थोंका स्वभाव है। उदाहरणके लिये मोटा, गोल, उदर आदि आकारवाला घड़ा स्वयं ही उसी आकृतिके अन्य पदार्थोंको भी घटरूप और घटशब्दरूप जानता हुआ 'सामान्य' कहा जाता है। इस लिये घटको छोड़कर घटसामान्य अथवा घटत्व कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यही घड़ा दूसरे सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे अपनी व्यावृत्ति करता हुआ 'विशेष' कहा जाता है। अतएव सामान्य और विशेषको अलग पदार्थ मानना न्यायसंगत नहीं है। क्योंकि सामान्य-विशेषका ज्ञान पदार्थके धर्म (गुण)

---

[1] विशेषसंज्ञाम्।

रूपसे ही होता है। तथा धर्मी (गुणी) से धर्म सर्वथा भिन्न नहीं होते। क्योंकि धर्म और धर्मीको सर्वथा भिन्न माननेसे विशेषण-विशेष्यसंबंध नहीं बन सकता। उदाहरणके लिये ऊँट और गधा दोनों सर्वथा भिन्न हैं, इस लिये इनमें धर्म-धर्मीसंबंध नहीं हो सकता। यदि धर्मको धर्मीसे अलग पदार्थ माना जाय, तो एक ही वस्तुमें अनंत पदार्थोंका प्रसंग होगा कारण कि, वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। भाव यह है, कि वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय इन छह पदार्थोंको स्वीकार करते हैं। इन छह पदार्थोंमें सामान्य और विशेष नामक पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म आदिसे भिन्न माने गये हैं। दूसरे शब्दोंमें, वैशेषिक मतके अनुसार पदार्थोंमें 'सामान्य—विशेष' का ज्ञान होना पदार्थोंका गुण (धर्म) नहीं है, बल्कि यह ज्ञान सामान्य और विशेष नामके भिन्न पदार्थोंसे होता है। उदाहरणके लिये घटत्व घटका गुण नहीं है, यह घटमें सामान्यसंबंधसे रहता है। इसी प्रकार नीलपीत आदि भी घटके गुण नहीं हैं, घटमें विशेषसंबंधसे रहते हैं। जैनदर्शन अनेकांतात्मक (सामान्यविशेषात्मक) है, इस लिये वह वैशेषिकोंके इस सिद्धांतका खंडन करता है। जैनदर्शनके अनुसार पदार्थोंमें स्वभावसे ही सामान्य—विशेषकी प्रतीति होती है। क्योंकि सामान्य-विशेष पदार्थोंके ही गुण हैं, कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं। धर्मीसे धर्म भिन्न नहीं हो सकता। अतएव सामान्य-विशेषको भिन्न पदार्थ स्वीकार करना अयुक्तियुक्त है।

तदेवं सामान्यविशेषयोः स्वतत्त्वं यथावदनवबुध्यमाना अकुशलाः[1] अतत्त्वाभिनिविष्टदृष्टयः तीर्थान्तरीया स्खलन्ति-न्यायमार्गाद् भ्रश्यन्ति निरुत्तरीभवन्तीत्यर्थः। स्खलनेन चात्र प्रामाणिकजनोपहसनीयता ध्वन्यते। किं कुर्वाणाः , द्वयम् अनुवृत्तिव्यावृत्तिलक्षणं प्रत्ययद्वयं वदन्तः। कस्मादेतत्प्रत्ययद्वयं वदन्तः , इत्याह। परात्मतत्त्वात्—परौ पदार्थेभ्यो व्यतिरिक्तत्वादन्यौ परस्परनिरपेक्षौ च यौ सामान्यविशेषौ तयोर्यदात्मतत्त्वंस्वरूपम् अनुवृत्तिव्यावृत्तिलक्षणं, तस्मात्तदाश्रित्येत्यर्थः। "गम्ययपः[2] कर्मधारे" इत्यनेन पञ्चमी। कथंभूतात् परात्मतत्त्वाद्, इत्याह। अतथात्मतत्त्वात् मा भूत् पराभिमतस्य परात्मतत्त्वस्य सत्यरूपतेति विशेषणमिदम्। यथा येनैकान्तभेदलक्षणेन प्रकारेण परैः प्रकल्पितं, न तथा तेन प्रकारेणात्मतत्त्वं स्वरूपं यस्य तत्तथा। तस्मात् यतः पदार्थेष्वविष्वग्भावेन[3] सामान्यविशेषौ वर्तेते; तैश्च तौ तेभ्यः परत्वेन कल्पितौ। परत्वं चान्यत्वं तच्चैकान्तभेदाविनाभावि ॥

इस प्रकार सामान्य-विशेषके स्वरूपको ठीक ठीक न समझकर कदाग्रही तैर्थिक लोग निरुत्तर होनेके कारण प्रामाणिक मनुष्योंके हास्यास्पद होते हैं। कारण कि ये

---

[1] कुत्सिताग्रहवन्तः। [2] हैमसूत्रम्। २।२।७४। [3] अपृथग्भावेन।

लोग सामान्य-विशेषकों पदार्थोंसे भिन्न और परस्पर निरपेक्ष स्वीकार करते हैं। परंतु यह मान्यता सत्य नहीं है। क्योंकि सामान्य-विशेष पदार्थोंमें अभिन्न रूपसे रहते हैं, और वैशेषिकोंने सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे एकान्तभिन्न माना है। वैशेषिक लोग सामान्य-विशेषकों पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न स्वीकार करते हैं। परन्तु जैनसिद्धान्तके अनुसार सामान्य-विशेष पदार्थोंके स्वभाव हैं, क्योंकि गुण-गुणीका एकान्त भेद नहीं बन सकता। जैनदर्शनमें सामान्य-विशेष पदार्थोंसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न स्वीकार किये गये हैं।

किञ्च, पदार्थेभ्यः सामान्यविशेषयोरेकान्तभिन्नत्वे स्वीक्रियमाणे एकवस्तुविषयमनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपं प्रत्ययद्वयं नोपपद्येत। एकान्ताभेदे चान्यतरस्यासत्त्वप्रसङ्गः। सामान्यविशेषव्यवहाराभावश्च स्यात्। सामान्यविशेषोभयात्मकत्वेनैव वस्तुनः प्रमाणेन प्रतीतेः। परस्परनिरपेक्षपक्षस्तु पुरस्तान्निर्लोठयिष्यते। अत एव तेषां वादिनां स्खलनक्रिययोपहसनीयत्वमभिव्यज्यते। यो हि अन्यथास्थितं वस्तुस्वरूपमन्यथैव प्रतिपद्यमानः परेभ्यश्च तथैव प्रज्ञापयन् स्वयं नष्टः परान्नाशयति न खलु तस्मादन्य उपहासपात्रम्॥ इति वृत्तार्थः॥ ४॥

तथा सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न माननेपर एक वस्तुमें सामान्य और विशेष संबंध नहीं बन सकते। क्योंकि पदार्थोंके सामान्य-विशेषसे एकान्त-भिन्न होनेके कारण पदार्थ और सामान्य-विशेषका संबंध ही नहीं हो सकता। यदि सामान्य-विशेषकों पदार्थोंसे सर्वथा अभिन्न मानें, तो पदार्थ और सामान्य-विशेषके एकरूप हो जानेसे दोनोंमेंसे एकका अभाव मानना चाहिये। तथा इस तरह सामान्य-विशेषका व्यवहार भी न बन सकेगा, क्योंकि प्रमाणसे सामान्य-विशेषरूप ही वस्तुकी प्रतीति होती है। सामान्य-विशेषकी परस्पर निरपेक्षताका आगे खंडन किया जावेगा (देखो १४ वीं कारिकाकी व्याख्या)। इसीलिये वादियोंके स्खलनसे यहाँ उनके हास्यास्पद होनेका सूचन किया गया है। जो पुरुष वस्तुके अमुक स्वरूपको उस रूपसे स्वीकार न करके अन्यथा रूपसे स्वीकार करता है, तथा दूसरोंको भी उसी तरह प्रतिपादन करता है, वह पुरुष स्वयं नष्ट होता है, और दूसरोंकों नष्ट करता है। इसवास्ते ऐसा पुरुष हास्यका पात्र होता ही है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिकदर्शनके द्वारा मान्य सामान्य-विशेषका खंडन किया गया है। वैशेषिकोंका कहना है, कि सामान्य और विशेष पदार्थोंसे भिन्न और एक दूसरेसे निरपेक्ष हैं। उदाहरणके लिये वैशेषिकमतके अनुसार घटमें घटत्व सामान्यसंबंधसे रहता है, तथा नीलपीतादि विशेषसंबंधसे रहता है। परन्तु जैनदर्शन अनेकांतरूप है, इस लिये वह सामान्य-विशेषको पदार्थोंसे एकान्त—भिन्न स्वीकार नहीं करता। जैनदर्शनके अनुसार घटमें घटत्व अथवा नीलपीतादि किसी अन्य संबंधविशेषसे नहीं रहते, ये स्वयं घटके ही गुण हैं।

इस लिये पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेष नामके पदार्थोंको स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

अथ तदभिमतानेकान्तनित्यानित्यपक्षौ दूषयन्नाह—

अब वैशेषिकोंके एकान्त नित्य और एकांत अनित्य पक्षमें दोष दिखाते हैं—

आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ—दीपकसे लेकर आकाश तक सभी पदार्थ नित्यानित्य स्वभाववाले हैं, क्योंकि कोई भी वस्तु स्याद्वादकी मर्यादाको उल्लंघन नहीं करती । ऐसी वस्तुस्थितिमें भी आपके विरोधी लोग दीपक आदिको सर्वथा अनित्य और आकाश आदिको सर्वथा नित्य स्वीकार करते हैं ।

आदीपं—दीपादारभ्य, आव्योम—व्योम मर्यादीकृत्य, सर्ववस्तुपदार्थस्वरूपं, समस्वभावं—समः तुल्यः, स्वभावः—स्वरूपं यस्य तत्तथा । किञ्च वस्तुनः स्वरूपं द्रव्यपर्यात्मकत्वमिति ब्रूमः । तथा च वाचकमुख्यः—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्[1]" इति । समस्वभावत्वं कुतः । इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह—स्याद्वादमुद्रानतिभेदि-स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम् । ततः स्याद्वादः—अनेकान्तवादः, नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत् । तस्य मुद्रा—मर्यादा, तां, नातिभिनति—नातिक्रामतीति स्याद्वादमुद्रानतिभेदि । यथा हि न्यायैकनिष्ठे राजनि राज्याश्रियं शासति सति सर्वाः प्रजास्तन्मुद्रां नातिवर्तितुमीशते, तदतिक्रमे तासां सर्वार्थहानिभावात् एवं विजयिनि निष्कण्टके स्याद्वादमहानरेन्द्रे, तदीयमुद्रां सर्वेऽपि पदार्था नातिक्रामन्ति; तदुल्लङ्घने तेषां स्वरूपव्यवस्थाहानिप्रसक्तेः ॥

व्याख्यार्थ—दीपसे लेकर आकाशपर्यंत सब पदार्थोंका स्वरूप एकसा है । क्योंकि हम वस्तुके स्वभावको द्रव्य और पर्यायरूप मानते हैं । वाचकमुख्य भी कहते हैं—"जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है वह सत् है ।" अतएव वस्तुका स्वभाव नित्य, अनित्य आदि अनेक धर्मोंके धारक स्याद्वादकी मर्यादाको उल्लंघन नहीं करता । जिस प्रकार न्यायी राजाके शासन करनेपर उसकी प्रजा राज्यमुद्राका उल्लंघन नहीं कर सकती, क्योंकि उसके उल्लंघन करनेपर प्रजाके सर्वस्वका नाश होता है । उसी प्रकार विजयी निष्कंटक स्याद्वाद महाराजाके विद्यमान रहते हुए कोई भी पदार्थ स्याद्वादकी मर्यादाको अतिक्रमण नहीं करते । क्योंकि इस मर्यादाके उल्लंघन करनेपर पदार्थोंका स्वरूप नहीं बन सकता ।

---

[1] तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे अ. ५ सू. २९ ।

सर्ववस्तूनां समस्वभावत्वकथनं च पराभीष्टस्यैकं वस्तु व्योमादि नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपादि अनित्यमेव इति वादस्य प्रतिक्षेपबीजम् । सर्वे हि भावा द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्याः, पर्यायार्थिकनयादेशात् पुनरनित्याः । तत्रैकान्तानित्यतया परैरङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्यानित्यत्वव्यवस्थापने दिङ्मात्रमुच्यते ॥

यहाँ सब पदार्थोंके द्रव्य और पर्यायरूप कथन करनेसे आकाश आदिके सर्वथा नित्यत्व और प्रदीप आदिके सर्वथा अनित्यत्वका खंडन हो जाता है । कारण कि सभी पदार्थ द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे नित्य और पर्यायार्थिककी अपेक्षासे अनित्य हैं। यहाँ पर परवादियोंद्वारा मान्य दीपककी एकान्त अनित्यतापर विचार करते हुए दीपकको नित्य-अनित्य सिद्ध करनेके लिये कुछ संक्षेपमें कहा जाता है ।

तथाहि । प्रदीपपर्यायापन्नास्तैजसाः परमाणवः स्वरसत[1]स्तैलक्षयाद् वाताभिघाताद्वा ज्योतिष्पर्यायं परित्यज्य तमोरूपं पर्यायान्तरमाश्रयन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः ; पुद्गलद्रव्यरूपतयावस्थितत्वात् तेषाम् । नह्येतावतैवानित्यत्वं यावता पूर्वपर्यायस्य विनाशः, उत्तरपर्यायस्य चोत्पादः । न खलु मृद्द्रव्यं स्थास[2]ककोशकुशूलशिवक-घटाद्यवस्थान्तराण्यापद्यमानमप्येकान्ततो विनष्टम् ; तेषु मृद्द्रव्यानुगमस्याबालगोपालं प्रतीतत्वात् । न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम् ; चाक्षुषत्वान्यथानुपपत्तेः, प्रदीपालोकवत् ॥

दीपककी पर्यायमें परिणत तैजस परमाणु तेलके समाप्त हो जानेसे अथवा हवाका झोका लगनेसे प्रकाशरूप पर्याय छोड़कर तमरूप पर्यायको प्राप्त करनेपर भी सर्वथा अनित्य नहीं हैं । क्योंकि तेजके परमाणु तमरूप पर्यायमें भी पुद्गल द्रव्यरूपसे मौजूद हैं । तथा पूर्वपर्यायके नाश और उत्तरपर्यायके उत्पन्न होने मात्रसे ही दीपककी अनित्यता सिद्ध नहीं होती । उदाहरणके लिये मिट्टी द्रव्यके स्थासक, कोश, कुशूल, शिवक, घट (मिट्टीके पिंडसे घड़ा बनने तक उत्तरोत्तर अवस्थायें) आदि अवस्थाओंको प्राप्त कर लेनेपर भी मिट्टीका सर्वथा नाश नहीं होता । क्योंकि स्थासक आदि पर्यायोंमें प्रत्येक पुरुषको मिट्टीका ज्ञान होता है । जैनदर्शनके अनुसार संसारके समस्त पदार्थोंमें नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों धर्म विद्यमान हैं । इस लिये दीपकमें भी नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म पाये जाते हैं । दीपकका अनित्यत्व सर्व साधारणमें प्रसिद्ध ही है । इस लिये यहाँ दीपकमें केवल नित्यत्व सिद्ध किया जाता है । नैयायिक लोग अंधकारको अभावरूप मानते हैं, इस लिये नैयायिकोंके अनुसार अंधकार कोई स्वतंत्र पदार्थ न होकर वह केवल प्रकाशका अभाव मात्र है । इस लिये तमको अभावरूप माननेसे नैयायिक दीपकको नित्य नहीं मानते । परंतु जैनसिद्धांतके अनुसार तम

---

[1] स्वभावतः । [2] स्थासककोशादयो घटस्योत्पत्तेः प्राक् मृद एवावस्थाः ।

केवल प्रकाशका अभाव मात्र नहीं है, वह प्रकाशकी तरह ही स्वतंत्र द्रव्य है। जैनदर्शनमें प्रकाशकी तरह अंधकारको भी पुद्गलकी पर्याय माना है। जैनसिद्धांतके अनुसार तेजके परमाणु दीपककी पर्यायमें परिणत होते हैं। जब तेल आदि समाप्त हो जाता है, अथवा हवाका झोका लगता है, उस समय ये ही परमाणु प्रकाशकी पर्याय छोड़कर तमकी पर्यायमें बदल जाते हैं। जैनदर्शनके अनुसार केवल पर्यायान्तरको प्राप्त करना ही अनित्यत्वका लक्षण नहीं है। उदाहरणके लिये मिट्टीका घड़ा बनाते समय मिट्टी अनेक पर्यायोंको धारण करती है, परन्तु इन अनेक पर्यायोंमें मिट्टीका नाश नहीं हो जाता, मिट्टी हरेक पर्यायमें सदा विद्यमान रहती है। इसी तरह दीपकके तेज परमाणुओंका अंधकार परमाणुओंमें परिणमन होनेसे द्रव्यका नाश (अनित्यत्व) नहीं होता। यह केवल परमाणुओंका एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें पलट जाना मात्र है। इस लिये हमें दीपकको सर्वथा अनित्य ही नहीं कहना चाहिये। क्योंकि तम अभावरूप नहीं है। पर्यायसे पर्यायान्तर होनेको ही तम कहते है। अंधकारका पौद्गलिक होना असिद्ध नहीं है क्योंकि वह प्रकाशकी तरह चक्षुका विषय है। जो जो चक्षुका विषय होता है, वह पौद्गलिक होता है। प्रकाशकी तरह अंधकार भी चक्षुका विषय है, इस लिये वह पौद्गलिक है।

अथ यच्चाक्षुषं तत्सर्वं स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षते। न चैवं तमः। तत्कथं चाक्षुषम्। नैवम्। उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात्। यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं विना नोपलभ्यते तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते। विचित्रत्वात् भावानाम्। कथमन्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोकापेक्षदर्शनाः। प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः। इति सिद्धं तमश्चाक्षुषम्॥

शंका—जो चाक्षुष पदार्थ है, वह प्रतिभासित होनेमें आलोककी अपेक्षा रखता है। परन्तु तमके प्रतिभासमें प्रकाशकी ज़रूरत नहीं, इस लिये तम चक्षुका विषय नहीं कहा जा सकता। **समधान**—उक्त व्याप्ति ठीक नहीं है। क्योंकि उल्लू आदि विना आलोकके भी तमको देखते हैं। यह ठीक है, कि हम चाक्षुष घट पट आदिको विना प्रकाशके नहीं देखते, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है, कि हमें तमके देखनेमें भी प्रकाशकी आवश्यकता पड़े। संसारमें पदार्थोंके स्वभाव विचित्र होते हैं। इसीलिये पीत सुवर्ण और श्वेत मोती वगैरह तैजस होनेपर भी विना प्रकाशके प्रतिभासित नहीं होते, तथा दीपक, चन्द्र आदि प्रकाशके विना ही दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव तम चाक्षुष है।

रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते; शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात्। यानि त्वनिबिडावयवत्वमप्रतिघातित्वमनुद्भूतस्पर्शविशेषत्वमप्रतीयमानखण्डावयविद्रव्यप्रविभागत्वमित्यादीनि तमसः पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिषेध्यानि; तुल्ययोगक्षेमत्वात्॥

तथा अंधकार रूपवान होनेके कारण स्पर्शवान भी है । क्योंकि इसमें शीतस्पर्शका ज्ञान होता है । वैशेषिक लोग तमको पौद्गलिक निषेध करनेके लिये (१) कठोर अवयवोंका न होना, (२) अप्रतिघाति होना, (३) स्पर्शका न होना, (४) खंडित अवयवीरूप द्रव्यके विभागकी प्रतीति न होना, आदि हेतु देते हैं । इन हेतुओंको ग्रन्थकार प्रदीपकी प्रभाके दृष्टांतसे खंडित करते हैं । क्योंकि अंधकार और प्रदीपप्रभा दोनों ही समान हैं । तात्पर्य यह है, कि जैनदर्शनमें प्रकाश और अंधकारको पुद्गलकी पर्याय माना है । अतएव प्रकाशकी तरह अंधकार भी एक स्वतंत्र वस्तु है । इस लिये अंधकार भी प्रकाशकी तरह चक्षुका विषय है । परन्तु वैशेषिकोंके मतमें प्रकाशका अभाव ही तम है, वह कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं । वैशेषिकोंका कहना है, कि जो घट पट पदार्थ चक्षुसे जाने जाते हैं, उन सबमें प्रकाशकी आवश्यकता होती है । परन्तु तमको जाननेमें प्रकाशकी ज़रूरत नहीं पड़ती, इस लिये तम चक्षुका विषय नहीं है, और इस लिये वह पुद्गलकी पर्याय भी नहीं कहा जा सकता । इसके उत्तरमें जैन आचार्योंका कथन है, कि वैशेषिकोंकी उपर्युक्त व्याप्ति ठीक नहीं कही जा सकती । कारण कि बिल्ली, उल्लू वगैरह प्रकाशके न रहते हुए भी तमका ज्ञान करते हैं । इस लिये यह व्याप्ति नहीं बना सकते, कि समस्त चाक्षुष पदार्थ आलोककी अपेक्षा रखते है । सुवर्ण, मोती वगैरह चाक्षुष होनेपर प्रकाशकी सहायतासे प्रतिभासित होते हुए देखे जाते हैं, परन्तु दीपक, चन्द्र वगैरह नहीं । इस लिये प्रकाशकी तरह तमको भी चक्षुका विषय मानना ही युक्तियुक्त है । अंधकारके चाक्षुष होनेसे जैनदर्शनमें उसे स्पर्शवान भी माना गया है । क्योंकि जैनदर्शनके अनुसार किसी पदार्थमें स्पर्श, रस, गंध और वर्णमेंसे किसी एकके रहने पर बाकीके तीन गुण उसमें अवश्य रहते हैं । यही पुद्गलका लक्षण भी है । परन्तु वैशेषिकोंको अंधकारमें स्पर्शत्व स्वीकार करना अभीष्ट नहीं है । उनका कहना है, कि अंधकारमें कठोरता नहीं है, वह अप्रतिघाति है, उसमें स्पर्श और और विभाग नहीं हो सकता, इस लिये अंधकार पौद्गलिक नहीं कहा जा सकता । जैनदर्शनमें उक्त हेतुओंका प्रदीप-प्रभाके दृष्टांतसे खंडन किया गया है । जैनदर्शनके अनुसार अंधकार और दीपककी प्रभामें पर्यायरूपसे कोई अन्तर नहीं । इस लिये यदि वैशेषिक लोग दीपककी प्रभाको पौद्गलिक मानते हैं, तो उन्हें अंधकारको भी पुद्गलकी पर्याय मानना चाहिये । क्योंकि प्रकाशकी तरह अंधकार भी द्रव्यकी पर्याय है, फिर दोनोंमें इतनी विषमता क्यों ?

न च वाच्यं तैजसाः परमाणवः कथं तमस्त्वेन परिणमन्त इति । पुद्गलानां तत्तत्सामग्रीसहकृतानां विसदृशकार्योत्पादकत्वस्यापि दर्शनात् । दृष्टो ह्यार्द्रेन्धनसंयोगवशाद् भास्वररूपस्यापि वन्हेरभास्वररूपधूमरूपकार्योत्पादः । इति सिद्धो नित्यानित्यः

प्रदीपः। यदापि निर्वाणादर्वाग्देदीप्यमानो दीपस्तदापि नवनवपर्यायोत्पादविनाशभाक्त्वात् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्यानित्य एव ॥

दीपकके तेजपरमाणु तमरूपमें कैसे परिणत हो सकते हैं, यह शंका भी निर्मूल है। क्योंकि पुद्गलोंकी अमुक सामग्रीका सहकार मिलनेपर विसदृश कार्योंकी भी उत्पत्ति होती है। उदाहरणके लिये प्रकाशमान अग्निसे गीले ईंधनके सहयोगसे अप्रकाशमान धूमकी उत्पत्ति होती है। इस लिये यह नियम नहीं है, कि तेजके परमाणुओंसे तेजरूप कार्यकी ही उत्पत्ति हो, अंधकाररूप नहीं। क्योंकि तेजरूप अग्निसे भी अंधकाररूप धूमकी उत्पत्ति देखी जाती है। इस लिये यह सिद्ध होता है, कि दीपककी पर्यायमें परिणत तेजके परमाणु तेल आदिके क्षय हो जानेसे ही अंधकाररूप पर्यायान्तरको धारण करते हैं। वास्तवमें द्रव्यकी अपेक्षा दीपक नित्य है, वह केवल पर्यायकी अपेक्षासे ही अनित्य कहा जा सकता है। तथा दीपकके बुझनेसे पहले दैदीप्यमान दीपक अपनी नयी नयी पर्यायोंके उत्पन्न और नाश होनेकी अपेक्षा अनित्य है परन्तु इन पर्यायोंके बदलते रहनेपर भी हमें यह भान होता रहता है, कि एक ही दीपककी ये असंख्य पर्याय हैं, इस लिये दीपक नित्य है। इस लिये दीपकका नित्यानित्यत्व सिद्ध होता है।

एवं व्योमापिउत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वाद् नित्यानित्यमेव। तथाहि। अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानोपग्रह[1] एव तल्लक्षणम्। "अवकाशदमाकाशम्[2]" इति वचनात्। यदा चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो[3] विस्रसातो[4] वा एकस्मान्नभःप्रदेशात् प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति तदा तस्य व्योम्नस्तैरवगाहकैः सममेकस्मिन् प्रदेशे विभागः उत्तरस्मिंश्च प्रदेशे संयोगः। संयोगविभागौ च परस्परं विरुद्धौ धर्मौ। तद्भेदे चावश्यं धर्मिणो भेदः। तथा चाहुः-"अयमेव हि भेदो[5] भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति"। ततश्च तदाकाशं पूर्वसंयोगविनाशलक्षणपरिणामापत्त्या विनष्टम्, उत्तरसंयोगोत्पादाख्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम्। उभयत्राकाशद्रव्यस्यानुगतत्वाच्चोत्पादव्यययोरेकाधिकरणत्वम् ॥

इसी प्रकार आकाश भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप होनेसे नित्य और अनित्य है। जीव और पुद्गलोंको अवकाश-दान देना (स्थान देना) ही आकाशका लक्षण है। कहा भी है "अवकाश देनेवालेको आकाश कहते हैं।" जब आकाशमें रहनेवाले जीव और पुद्गल किसीकी प्रेरणासे अथवा अपने स्वभावसे आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे

---

१ उपग्रहः—उपकार इति तत्त्वार्थभाष्ये। २ उत्तराध्ययनसूत्रे अध्ययने २८ गाथा ९। अत्र वृत्तौ महोपाध्यायश्रीमद्भावविजयगणिकृतायामिदमुपलभ्यते। ३ पुरुषशक्त्या। ४ स्वभावेन। ५ वस्तूनि द्विविधानि लक्षणभेदात्कारणभेदाच्च। घटो जलाहरणादिगुणवान् पटश्च शीतत्राणादिगुणवान्। तथा घटस्य कारणं मृत्पिण्डादि। पटस्य कारणं तन्त्वादि।

प्रदेशमें जाते हैं, उस समय आकाशका जीव-पुद्गलोंके साथ एक प्रदेशमें विभाग और दूसरे प्रदेशमें संयोग होता है। ये संयोग और विभाग एक दूसरेके विरुद्ध हैं। इस लिये संयोग-विभागमें भेद होनेसे, संयोग-विभागको धारण करनेवाले आकाशमें भी भेद होना चाहिये। क्योंकि कहा भी है "विरुद्ध धर्मोंका रहना और भिन्न भिन्न कारणोंका होना यही भेद और भेदका कारण है।" यहाँपर लक्षण और कारणके भेदसे भेद दो प्रकारका बताया गया है। जैसे घट जल लाने और पट ठंडसे बचाने के काममें आता है, यही घट और पटमें लक्षण-भेद है। तथा घट मृत्तिकाके पिंड और पट तंतुसे उत्पन्न होता है, यही घट पटका कारण-भेद है। इस लिये यहाँ पुद्गलके एक प्रदेशमें संयोगके विनाशसे आकाशमें व्यय होता है, और दूसरे प्रदेशमें संयोगके होनेसे आकाशमें उत्पाद होता है। तथा उत्पाद और व्यय दोनों अवस्थाओंमें आकाश ही एक अधिकरण है, इस लिये आकाश ध्रौव्य है। भाव यह है, कि जैनदर्शनके अनुसार दीपककी तरह आकाश भी नित्यानित्य है। जैनसिद्धान्तमें आकाश एक अनंत प्रदेशवाला अखंड द्रव्य माना गया है। आकाशद्रव्यका काम जीव और पुद्गलको अवकाश देना है। जिस समय जीव और पुद्गलद्रव्य आकाशके एक प्रदेशको छोड़कर दूसरे प्रदेशके साथ संयोग करते हैं, उस समय आकाशका जीव-पुद्गलके साथ विभाग और संयोग होता है। अर्थात् जीव-पुद्गलके आकाश प्रदेशोंको छोड़नेके समय आकाशमें विभाग और जीव-पुद्गलके आकाश प्रदेशोंके साथ संयोग करनेमें आकाशमें संयोग होता है। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिए, कि एक ही आकाशमें संयोग-विभाग नामके दो विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं। क्योंकि संयोग-विभाग नामके धर्मोंमें भेद होनेसे संयोग-विभाग धर्मोंको धारण करनेवाले आकाश धर्मीमें भी भेद पाया जाता है। अतएव जीव-पुद्गलके आकाश प्रदेशोंको छोड़कर अन्यत्र जानेमें जीव-पुद्गलका आकाशके प्रदेशोंके साथ संयोगका विनाश होता है, अर्थात् आकाशमें विनाश (व्यय) होता है। तथा जीव-पुद्गलका आकाशके दूसरे प्रदेशोंके साथ संयोग होनेके समय आकाशमें उत्पाद होता है। तथा उक्त उत्पाद और व्यय दोनों दशाओंमें आकाश मौजूद रहता है, इस लिये आकाशमें ध्रौव्य भी है। अतएव आकाशमें उत्पाद-व्यय होनेसे अनित्यत्व और ध्रौव्य होनेसे नित्यत्वकी सिद्धि होती है।

तथा च यद् "अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्" इति नित्यलक्षणमाचक्षते। तदपास्तम्। एवंविधस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात्। "[1]तद्भावाव्ययं नित्यम्" इति तु सत्यं नित्यलक्षणम्; उत्पादविनाशयोः सद्भावेऽपि तद्भावाद्अन्वयिरूपाद् यन्न व्येति तन्नित्यमिति तदर्थस्य घटमानत्वात्। यदि हि अप्रच्युतादिलक्षणं नित्यमिष्यते तदोत्पादव्यययोर्निराधारत्वप्रसङ्गः। न च तयोर्योगे नित्यत्वहानिः।

---

[1] तत्त्वार्थसूत्रम् अ. ५ सू. ३०।

" द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा ॥ "

इति वचनात् ॥

इस पूर्वोक्त कथनसे " जो नाश और उत्पन्न न होता हो, और एकरूपसे स्थिर रहे, उसे नित्य कहते हैं " इस नित्यत्वके लक्षणका भी खंडन हो जाता है । क्योंकि ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं, जो उत्पत्ति और नाशसे रहित हों, और सदा एकसा रहे । " पदार्थके स्वरूपका नाश नहीं होना नित्यत्व है " यह जैनोंका नित्यका लक्षण ठीक है । क्योंकि उत्पाद और विनाशके रहते हुए भी जो अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता वही नित्य है । यदि अप्रच्युत आदि पूर्वोक्त नित्यका लक्षण माना जाय, तो उत्पाद और व्ययका कोई भी आधार न रहेगा । जैनसिद्धान्तके अनुसार जो नित्य पदार्थमें उत्पाद और व्यय माना गया है, उससे पदार्थकी नित्यतामें कोई हानि नहीं आती । कहा भी है—" पर्याय-रहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्याय किसने, किस समय, कहाँपर, किस रूपमें, कौनसे प्रमाणसे देखे हैं " ? अर्थात् द्रव्य विना पर्याय और पर्याय विना द्रव्य कहीं भी संभव नहीं । भाव यह है, कि जैनोंको वैशेषिकोंका नित्यत्वका लक्षण मान्य नहीं है । वैशेषिकोंके अनुसार जिसमें उत्पत्ति और नाश न हो और जो सदा एकसा रहे, वही नित्य है । जैन इस मान्यताको स्वीकार नहीं करते । उनके अनुसार उत्पाद और व्ययके होते हुए भी पदार्थके स्वरूपका नाश नहीं होना ही नित्यत्व है । जैनसिद्धांतके अनुसार वैशेषिकोंके नित्यत्वके लक्षण स्वीकार करनेसे उत्पाद और व्ययको कोई स्थान नहीं मिलता । क्योंकि कूटस्थ नित्यत्वमें उत्पत्ति और नाशका होना संभव नहीं । तथा उत्पाद और व्ययके अभावसे कोई भी पदार्थ 'सत्' नहीं कहा जा सकता । इस लिये जैन लोग कहते हैं, कि नित्यत्वको सर्वथा नित्य न मानकर उत्पाद-व्यय सहित नित्य अर्थात् आपेक्षिक-नित्य मानना चाहिये । क्योंकि कहीं भी द्रव्य और पर्याय अलग अलग नहीं पाये जाते । द्रव्यको छोड़कर पर्यायका और पर्यायको छोड़कर द्रव्यका अस्तित्व संभव नहीं । अतएव द्रव्यकी अपेक्षासे पदार्थ नित्य है और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य । इस तरह नित्य-अनित्य दोनों साथ रहते हैं । इसीलिये आकाश भी नित्यानित्य है ।

लौकिकानामपि घटाकाशं पटाकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्यानित्यत्वम् । घटाकाशमपि हि यदा घटापगमे, पटेनाक्रान्तं, तदा पटकाशमिति व्यवहारः । न चायमौपचारिकत्वादप्रमाणमेव । उपचारस्यापि किञ्चित्साधर्म्य-

---

१ एतदर्थिका गाथा-संमतितर्के प्रथमकाण्डे दृश्यते—' दव्वं पज्जवविज्जुअं दव्वविउत्ता य पज्जवा नत्थि ' ॥ १२ ॥

द्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । नभसो हि यत्किल सर्वव्यापकत्वं मुख्यं परिमाणं तत् तदाधेयघटपटादिसम्बन्धिनियतपरिमाणवशात् कल्पितभेदं सत् प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यवह्रियमाणं घटाकाशपटाकाशादितत्तद्व्यपदेशनिबन्धनं भवति । तत्तद्घटादिसम्वन्धे च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्योम्नोऽवस्थान्तरापत्तिः, ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावतोऽपि भेदः । तासां ततोऽविष्वग्भावात् । इति सिद्धं नित्यानित्यत्वं व्योम्नः ॥

प्रकारान्तरसे भी आकाश नित्यानित्य है, क्योंकि सर्वसाधारणमें भी 'यह घटका आकाश है', 'यह पटका आकाश है' यह व्यवहार होता है। जिस समय घटका आकाश घटके दूर हो जानेपर पटसे संयुक्त होता है, उस समय वही घटका आकाश पटका आकाश कहा जाता है। यह 'घटका आकाश', 'पटका आकाश' का व्यवहार उपचारसे उत्पन्न होता है इस लिये अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उपचार भी किसी न किसी साधर्म्यसे ही मुख्य अर्थको द्योतित करनेवाला होता है। आकाशका सर्वव्यापकत्व मुख्यपरिमाण आकाशमें रहनेवाले घटपटादि संबंधी नियतपरिमाणसे भिन्न होकर प्रतिनियत प्रदेशोंमें व्यापक होनेसे ही घटाकाश, पटाकाश आदि व्यवहारका कारण होता है। अर्थात् मुख्यरूपसे सर्वव्यापकत्व परिमाणवाला आकाश अपने आधेय घटपटादिके संबंधसे प्रतिनियतदेशव्यापित्व परिमाणरूप कहा जाता है। इसीसे यह घटाकाश है, यह पटाकाश है, यह व्यवहार होता है। तथा व्यापक आकाशके अमुक घट पट आदिके संबंधसे एक अवस्थासे अवस्थान्तरकी उत्पत्ति होती है। अवस्थाभेद होनेपर अवस्थाके धारक आकाशमें भेद होता है। क्योंकि ये अवस्थायें आकाशसे अभिन्न हैं। भाव यह है, कि जिस समय घट एक स्थानसे (आकाशसे) अलग होता है, और उसकी जगहपर पट रक्खा जाता है, तो यह घटका आकाश है, यह पटका आकाश है, इस प्रकारका व्यवहार होता है। अर्थात् आकाशमें एक ही जगह घटाकाशका नाश होता है, और पटाकाशकी उत्पत्ति होती है। इस लिये आकाशमें नित्यानित्य दोनों धर्म विद्यमान हैं। यह घटाकाश और पटाकाशका व्यवहार औपचारिक है अर्थात् वास्तवमें आकाशमें उत्पाद-विनाश नहीं होता, केवल आकाशके आधेय घटपटादिके परिवर्तनसे ही आकाशमें परिवर्तन होनेका व्यवहार होता है, यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि मुख्य अर्थके संबंधके विना उपचार नहीं होसकता। प्रस्तुत प्रसंगमें आकाशका सर्वव्यापकत्व मुख्यपरिमाण है। यही मुख्यपरिमाण आकाशके आधेय घटपटादिके संबंधसे प्रतिनियतदेशपरिमाणरूप कहा जाता है। इसीसे घटाकाश, पटाकाश आदि व्यवहार होता है। अतएव सर्वव्यापी आकाशके साथ घटपट आदिका संबंध होनेपर आकाशकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। आकाशकी अवस्था-

ओंमें परिवर्तन होनेसे आकाशमें परिवर्तन होता है। इस लिये आकाशको नित्य-अनित्य ही मानना चाहिये।

स्वायंभुवा[1] अपि हि नित्यानित्यमेव वस्तु प्रपन्नाः। तथा चाहुस्ते—"त्रिविधः[2] खल्वयं धर्मिणः परिणामो धर्मलक्षणावस्थारूपः। सुवर्णं धर्मि। तस्य धर्मपरिणामो वर्धमानरुचकादिः। धर्मस्य तु लक्षणपरिणामोऽनागतत्वादिः। यदा खल्वयं हेमकारो वर्धमानकं भङ्क्त्वा रुचकमारचयति तदा वर्धमानको वर्तमानतालक्षणं हित्वा अतीततालक्षणमापद्यते। रुचकस्तु अनागततालक्षणं हित्वा वर्तमानतालक्षणमापद्यते। वर्तमानगतापन्न एव तु रुचको नवपुराणभावमापद्यमानोऽवस्थापरिणामवान् भवति। सोऽयं त्रिविधः परिणामो धर्मिणः। धर्मलक्षणावस्थाश्च धर्मिणो भिन्नाश्चाभिन्नाश्च। तथा च ते धर्म्यभेदात् तन्नित्यत्वेन नित्याः। भेदाच्चोत्पत्तिविनाशविषयत्वम्। इत्युभयमुपपन्नमिति॥"

पातंजलयोगको माननेवाले भी वस्तुको नित्यानित्य स्वीकार करते हैं। उनका कथन है "धर्मीका परिणाम धर्म, लक्षण, और अवस्थाके भेदसे तीन प्रकारका है। धर्मी सुवर्णका धर्मपरिणाम वर्धमान रुचक वगैरह है। धर्मके आगामी कालमें होनेको लक्षणपरिणाम कहते हैं। जिस समय सुनार वर्धमानकको तोड़कर रुचक बनाता है, उस समय वर्धमानक वर्तमान लक्षणको छोड़कर अतीत लक्षणको, तथा रुचक अनागत लक्षणको छोड़कर वर्तमान लक्षणको प्राप्त करता है। वर्तमान दशाको प्राप्त रुचक नये और पुरानेपनको धारण करता हुआ धर्मीका अवस्थापरिणाम कहा जाता है। यह धर्म, लक्षण और अवस्थाके भेदसे धर्मीका परिणाम धर्मीसे भिन्न भी है, और अभिन्न भी। धर्म, लक्षण और अवस्था धर्मी से अभिन्न हैं, इस लिये धर्मीके नित्य होनेसे ये भी नित्य हैं और धर्मीसे भिन्न होनेके कारण, उत्पन्न और नाश होनेवाले हैं इस लिये अनित्य हैं। इस प्रकार धर्म, लक्षण और अवस्था नित्य-अनित्य दोनों हैं।"

अथोत्तरार्धं विव्रियते। एवं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वे सर्वभावानां सिद्धेऽपि तद्वस्तु एकमाकाशात्मादिकं नित्यमेव अन्यच्च प्रदीपघटादिकमनित्यमेव इत्येवकारोऽत्रापि सम्बध्यते। इत्थं हि दुर्नयवादापत्तिः[3]। अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि स्वाभिप्रेतनित्यत्वादिधर्मसमर्थनप्रवणाः शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नया इति तल्लक्षणात्।

---

[1] पातञ्जलयोगानुसारिणः। [2] पातञ्जलयोगसूत्र ३।१३इत्यत्रैतदर्थकं वाक्यजातम्।

[3] निःशेषांशजुषां प्रमाणविषयीभूयं समासेदुषां। वस्तूनां नियतांशकल्पनपराः सप्त श्रुतासंगिनः॥ औदासीन्यपरायणास्तदपरे चांशे भवेयुर्नयाश्चेदेकांशकलङ्कपङ्ककलुषास्ते स्युस्तदा दुर्नयाः॥ १॥ इति नयदुर्नययोर्लक्षणं श्रीउमास्वातिकृतपंचाशतौ ग्रंथे।

इत्यनेनोल्लेखेन त्वदाज्ञाद्विषतां—भवत्प्रणीतशासनविरोधिनां प्रलापाः—प्रलपितानि, असम्बद्धवाक्यानीति यावत् ॥

इस प्रकार सब पदार्थोंके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप सिद्ध होनेपर आकाश, आत्मा आदि सर्वथा नित्य हैं और प्रदीप, घटआदि सर्वथा अनित्य हैं, यह मानना दुर्नयवादको स्वीकार करना है। वस्तुके अनन्तधर्मात्मक होनेपर भी सब धर्मोंका तिरस्कार करके केवल अपने अभीष्ट नित्यत्व आदि धर्मोंका ही समर्थन करना 'दुर्नय' है।

अत्र च प्रथममादीपमिति परप्रसिद्ध्यानित्यपक्षोल्लेखेऽपि यदुत्तरत्र यथासंख्यपरिहारेण पूर्वतरं नित्यमेवैकमित्युक्तम् तदेवं ज्ञापयति। यदनित्यं तदपि नित्यमेव कथञ्चित्। यच्च नित्यं तदप्यनित्यमेव कथञ्चित्। प्रक्रान्तवादिभिरप्येकस्यामेव पृथिव्यां नित्यानित्यत्वाभ्युपगमात्। तथा च प्रशस्तकारः—"सा तु द्विविधा नित्या चानित्या च। परमाणुलक्षणा नित्या; कार्यलक्षणा त्वनित्या" इति ॥

इस श्लोकके पूर्वार्धमें ग्रन्थकारने अनित्य दीपक और नित्य व्योमका क्रमसे उल्लेख किया है। परन्तु उत्तरार्ध में इस क्रमका उल्लंघन करके पहले नित्य और बादमें अनित्यका उल्लेख किया गया है। इस तरह पूर्वार्धमें जो क्रमसे अनित्य और नित्य है, वही उत्तरार्ध में क्रमसे नित्य और अनित्य प्रतिपादित किया गया है। इस क्रमके उल्लंघन करनेका केवल यही अभिप्राय है, कि कोई भी पदार्थ सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य नहीं कहा जा सकता। जो अनित्य है, वह भी कथंचित् नित्य ही है, और जो नित्य है, वह भी कथंचित् अनित्य है। वैशेषिकोंने भी एक ही पृथिवीमें नित्य और अनित्य दोनों धर्म माने हैं। प्रशस्तकारने कहा है "पृथिवी नित्य-अनित्य दो प्रकार की है। परमाणुरूप पृथिवी नित्य और कार्यरूप पृथिवी अनित्य है।"

न चात्र परमाणुकार्यद्रव्यलक्षणविषयद्वयभेदाद् नैकाधिकरणं नित्यानित्यत्वमिति वाच्यम्; पृथिवीत्वस्योभयत्राप्यव्यभिचारात्। एवमबादिष्वपीति। आकाशेऽपि संयोगविभागाङ्गीकारात् तैरनित्यत्वं युक्त्या प्रतिपन्नमेव। तथा च स एवाह— "शब्दकारणत्ववचनात् संयोगविभागौ" इति नित्यानित्यपक्षयोः संवलितत्वम्। एतच्च लेशतो भावितमेवेति ॥

यहाँपर शंका हो सकती है, कि भाष्यकारके उक्त कथनमें पृथिवीका नित्यानित्यत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि नित्यानित्य दोनों धर्मोंका अधिकरण एक पृथिवी नहीं है, किन्तु परमाणु और कार्य दो अलग अलग पदार्थ हैं। परंतु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि पृथिवीत्व नित्यपृथिवी अर्थात् परमाणुपृथिवी और अनित्यपृथिवी अर्थात् कार्यरूपपृथिवी दोनोंमें

---

१ वैशेषिकदर्शने प्रशस्तपादभाष्ये पृथिवीनिरूपणप्रकरणे। २ द्व्यणुकादि लक्षणा। ३ प्रशस्तपादभाष्ये आकाशनिरूपणे।

रहता है, इस लिये पृथिवीत्वका नित्यत्व और अनित्यत्व दोनोंके साथ एकाधिकरण है। जल आदिमें भी वैशेषिकोंने नित्यानित्यरूप दोनों धर्म स्वीकार किये हैं । तथा संयोग-विभागके अंगीकार करनेसे आकाशमें भी युक्ति द्वारा अनित्यत्व सिद्ध हो ही जाता है। प्रशस्त-भाष्यमें कहा भी है " आकाश शब्दका कारण है, इससे आकाशमें संयोग और विभाग होते हैं। " इस प्रकार भाष्यकारने आकाशको नित्य–अनित्य स्वीकार किया है ।

प्रलापप्रायत्वं च परवचनानामित्थं समर्थनीयम् । वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम् । तच्चैकान्तनित्यानित्यपक्षयोर्न घटते । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपो हि नित्यः । सच क्रमेणार्थक्रियां कुर्वीत, अक्रमेण वा ? अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणां प्रकारान्तरासम्भवात् । तत्र न तावत् क्रमेण, स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात् ; समर्थस्य कालक्षेपायोगात् । कालक्षेपिणो वाऽसामर्थ्यप्राप्तेः । समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेत्, न तर्हि तस्य सामर्थ्यम् ; अपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात् । " सापेक्षमसमर्थम् " इति न्यायात् ॥

अब यहाँपर वादियोंके वचनोंको असंबद्ध बताकर सामान्यरूपसे वस्तुके नित्यत्वानित्यत्वका समर्थन करते हैं। अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तुका लक्षण है। वस्तुको एकान्तनित्य अथवा एकान्तअनित्य स्वीकार करनेसे यह लक्षण ठीक घटित नहीं होता। क्योंकि वैशेषिकोंके अनुसार जिसका कभी नाश न हो, जो उत्पन्न न हो, और जो सदा एकरूप रहे, वही नित्य है। अब यदि नित्य वस्तु वास्तवमें कोई वस्तु है, तो उसमें अर्थक्रियारित्व होना चाहिये । यह अर्थक्रिया इस नित्य पदार्थमें क्रमसे होती है, अथवा अक्रमसे ? नित्य पदार्थमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं बन सकती । क्योंकि नित्य पदार्थ समर्थ है, इस लिए कालान्तरमें होनेवाली क्रियाओंको वह प्रथम क्षणमें होनेवाली क्रियाओंके समयमेंही एक साथ कर सकता है। क्योंकि जो समर्थ है, वह कार्य करनेमें विलंब नहीं करता। तथा यदि वह कार्य करनेमें विलम्ब करता है, तो वह सामर्थ्यवान नहीं कहा जा सकता । यदि कोई शंका करे, कि पदार्थके समर्थ होनेपर भी अमुक सहकारी कारणोंके मिलनेपर ही पदार्थ अमुक कार्य करता है, तो इससे नित्य पदार्थकी असमर्थता ही सिद्ध होती है। क्योंकि वह नित्य पदार्थ दूसरोंके सहयोगकी अपेक्षा रखता है । न्यायका वचन भी है, कि "जो दूसरोंकी अपेक्षा रखता है, वह असमर्थ है।"

न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्ते अपि तु कार्यमेव सहकारिष्वसत्स्वभवत् तानपेक्षत इति चेत्, तत् किं स भावोऽसमर्थः, समर्थो वा ? समर्थश्चेत्, किं सहकारिमुखप्रेक्षणदीनानि तान्युपेक्षते न पुनर्झटिति घटयति । ननु समर्थमपि बीजम्

---

[१] हेमहंसगणिसमुच्चितमहेमचन्द्रव्याकरणस्थन्यायः २८।

इला[1]जलानिलादिसहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति, नान्यथा। तत् किं तस्य सहकारिभिः किञ्चिदुपक्रियेत, न वा ? यदि नोपक्रियेत, तदा सहकारिसन्निधानात् प्रागिव किं न तदाप्यर्थक्रियायामुदास्ते। उपक्रियेत चेत् सः, तर्हि तैरुपकारोऽभिन्नो, भिन्नो वा क्रियत इति वाच्यम्। अभेदे स एव क्रियते। इति लाभमिच्छतो[2] मूलक्षतिरायाता कृतकत्वेन तस्यानित्यत्वापत्तेः॥

अब यदि कहा जाय, कि नित्य पदार्थ स्वयं सहकारी कारणोंकी अपेक्षा नहीं करते, परन्तु सहकारी कारणोंके अभाव में नहीं होनेवाला कार्य ही सहकारी कारणों की अपेक्षा रखता है, तो प्रश्न होता है, कि वह नित्य पदार्थ समर्थ है या असमर्थ ? यदि वह समर्थ है, तो वह सहकारी कारणोंके मुँहकी तरफ क्यों देखता है, क्यों झटपट कार्य नहीं कर डालता। यदि कहो, कि जिस प्रकार बीजके समर्थ होते हुए भी बीज पृथिवी, जल, वायु आदिके सहकार से ही अंकुरको उत्पन्न करता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार नित्य पदार्थ समर्थ होते हुए भी सहकारियों के विना कार्य नहीं करता, तो प्रश्न होता है, कि सहकारीकारण नित्य पदार्थका कुछ उपकार करते हैं या नहीं ? यदि सहकारीकारण नित्य पदार्थ का कुछ उपकार नहीं करते हैं, तो वह नित्य पदार्थ जैसे सहकारीकारणोंके संबंधके पहले अर्थक्रिया करनेमें उदास था, वैसे ही सहकारियोंके संयोग होनेपर भी क्यों उदास नहीं रहता। यदि कहो, कि सहकारी नित्य पदार्थका उपकार करते हैं, तो प्रश्न होता है, कि यह उपकार पदार्थसे अभिन्न है या भिन्न ? यदि सहकारी पदार्थसे अभिन्न ही उपकार करते हैं, तो सिद्ध हुआ कि नित्य पदार्थ ही अर्थक्रियाको करता है। इस प्रकार लाभकी इच्छा रखनेवाले वादीके मूलका भी नाश होता है। क्योंकि यदि नित्य पदार्थ सहकारियोंकी अपेक्षा रक्खेगा, तो वह कृतक हो जायगा और कृतक होनेसे वह नित्य नहीं रह सकता।

भेदे तु कथं तस्योपकारः, किं न सह्यविन्ध्याद्रेरपि। तत्सम्बन्धात् तस्यायमिति चेत्, उपकार्योपकारयोः कः सम्बन्धः। न तावत् संयोगः, द्रव्ययोरेव तस्य भावात्। अत्र तु उपकार्यं द्रव्यम्, उपकारश्च क्रियेति न संयोगः। नापि समवायः, तस्यैकत्वात् व्यापकत्वाच्च प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेन सर्वत्र तुल्यत्वाद् न नियतैः सम्बन्धिभिः सम्बन्धो युक्तः। नियतसंबन्धिसंबन्धे चाङ्गीक्रियमाणे तत्कृत उपकारोऽस्य समवायस्याभ्युपगन्तव्यः। तथा च सति उपकारस्य भेदाभेदकल्पना तदवस्थैव। उपकारस्य समवायस्य समवायादभेदे समवाय एव कृतः स्यात्। भेदे पुनरपि समवायस्य न नियतसंबन्धिसंबन्धत्वम्। तन्नैकान्तनित्यो भावः क्रमेणार्थक्रियां कुरुते॥

---

[1] पृथिवी. [2] यदा कश्चिद्वार्धुषिः स्वद्रव्यं कुसीदेच्छयाधमर्णाय प्रयच्छति। तेनाधमर्णेन न मूलद्रव्यं न वा कुसीदं प्रत्यावर्त्यते तदायं न्यायः समापतति। वृद्धिमिच्छतो मूलद्रव्यक्षतिरुत्पन्नेत्यर्थः।

यदि सहकारियोंका उपकार पदार्थसे भिन्न है, तो सह्य और विंध्यपर्वतकी की तरह यह उपकार नित्य पदार्थका ही है, यह कैसे मालूम हो सकता है। अर्थात् यदि सहकारियोंके उपकारसे नित्य पदार्थ सर्वथा भिन्न है तो यह नहीं मालूम हो सकता है; कि वह उपकार नित्य पदार्थका ही है। जैसे सह्याद्रि और विंध्याचलपर्वतके अलग होनेसे उन दोनोंमें कोई संबंध स्थापित नहीं किया जासकता, उसी तरह सहकारियोंके उपकार और नित्य पदार्थमें कोई संबंध नहीं बताया जासकता, क्योंकि वे एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् हैं। यदि कहो, कि नित्य पदार्थके साथ उपकारके सम्बन्धसे यह उपकार इस नित्य पदार्थका है ऐसी प्रतीति होती है, तो प्रश्न होता है, कि उपकार्य और उपकार दोनोंमें कौनसा संबंध है? उपकार और उपकार्य में संयोग-संबंध बन नहीं सकता, क्योंकि दो द्रव्योंमें ही संयोग-संबंध होता है। यहाँपर उपकार्य द्रव्य है, और उपकार क्रिया है। इस लिये संयोग-संबंध संभव नहीं। उपकार्य और उपकारका समवाय-संबंध भी नहीं बन सकता। क्योंकि समवाय एक है और व्यापक है। इस लिये समवाय न किसी पदार्थसे दूर है और न समीप, वह सब पदार्थोंमें समान है। इस लिये नियतसंबंधियोंके साथ समवाय का संबंध मानना ठीक नहीं। यदि नियतसंबंधियोंके साथ समवायका संबंध स्वीकार किया जाय तो सहकारियोंसे किये हुए उपकार को भी समवायका उपकार मानना चाहिये। तथा इस तरह उपकारके विषयमें जो भेद-अभेद कल्पनायें की गई थीं, वे वैसी की वैसी ही रहीं। तथा उपकार और समवायका अभेद माननेपर समवाय और उपकार एक ही ठहरे, और फिर तो सहकारियों ने उपकार नहीं किया, किन्तु समवाय ही किया ऐसा कहना चाहिये। यदि समवाय और उपकार भिन्न हैं, तो नियतसंबंधियोंके साथ समवाय का संबंध नहीं होसकता, अर्थात् उपकार और समवायके भेद माननेमें दोनोंका संयोगसंबंध नहीं हो सकता, क्योंकि संयोगसंबंध द्रव्योंमें ही होता है। यदि दोनोंमें समवायसंबंध माना जाय तो समवाय व्यापक है, इस लिये नियतसंबंधियोंके साथ समवाय का संबंध नहीं बन सकता। अतएव एकान्तनित्यमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती।

नाप्यक्रमेण। नह्येको भावः सकलकालकलाकलापभाविनीर्युगपत् सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकम्। कुरुतां वा, तथापि द्वितीयक्षणे किं कुर्यात्। करणे वा, क्रमपक्षभावी दोषः। अकरणे त्वर्थक्रियाकारित्वाभावाद् अवस्तुत्वप्रसङ्गः। इत्येकान्तनित्यात् क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तार्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलाद् व्यापकनिवृत्तौ निवर्तमाना स्वव्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्तयति। अर्थक्रियाकारित्वं च निवर्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्तयति। इति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्षमः॥

नित्य पदार्थ अक्रमसे भी अर्थक्रिया नहीं करता है। क्योंकि एक पदार्थ समस्तकालमें होनेवाली अर्थक्रियाको एक ही समयमें करले यह अनुभवमें नहीं आता, अथवा यदि

नित्य पदार्थ अक्रमसे अर्थक्रिया को करे भी, तो वह दूसरे क्षणमें क्या करेगा ? यदि कहो, कि दूसरे क्षणमें भी वह अर्थक्रिया करता है, तो जो दोष क्रमसे अर्थक्रिया करनेमें आते हैं, वे सब दोष यहाँ भी आवेंगे। यदि कहा जाय, कि नित्य पदार्थ दूसरे क्षणमें कुछ भी नहीं करता, तो दूसरे क्षणमें अर्थक्रियाकारित्वका अभाव होनेसे नित्य पदार्थ अवस्तु ठहरेगा। इस प्रकार एकान्त-नित्य पदार्थमें क्रम और अक्रमसे अर्थक्रिया नहीं बनती। तथा वस्तुमें अर्थक्रियाकारित्वके नष्ट हो जानेपर वस्तुका अस्तित्व ही नहीं रहता। भाव यह है, कि जैन-सिद्धांतके अनुसार पदार्थको सर्वथा-नित्य स्वीकार करनेमें नित्य पदार्थमें अर्थक्रियाकारित्व संभव नहीं है। और अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तुका लक्षण कहा गया है। इस लिये नित्य पदार्थमें अर्थक्रियाकारित्वके अभाव होनेसे नित्य पदार्थ अवस्तु ठहरता है। क्रम और अक्रम दोनों तरहसे सर्वथा नित्य पदार्थमें अर्थक्रिया नहीं बन सकती। नित्य पदार्थमें क्रमसे अर्थ-क्रिया हो, तो यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि नित्य पदार्थ सर्वदा समर्थ है, फिर वह दूसरे क्षणमें होनेवाली क्रियाओंको एक ही साथ न करके क्रम क्रमसे क्यों करता है ? नित्य पदार्थमें अक्रमसे अर्थक्रिया मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि नित्य पदार्थ समस्त कालमें होनेवाली क्रियाओंको एक ही समयमें कर ले, ऐसी प्रतीति नहीं होती। थोड़ी देरके लिये यदि यह संभव भी हो, तो नित्य पदार्थ दूसरे क्षणमें क्या काम करेगा ? इस प्रकार क्रम और अक्रम दोनों पक्ष दोषपूर्ण हैं। अतएव वस्तुका एकान्त-नित्यत्व स्वीकार करना युक्तियुक्त नहीं है।

एकान्तानित्यपक्षोऽपि न कक्षीकरणार्हः। अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशी स च न क्रमेणार्थक्रियासमर्थः देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाभावात्। क्रमो हि पौर्वापर्यम्, तच्च क्षणिकस्यासम्भवि। अवस्थितस्यैव हि नानादेशकालव्याप्तिः देशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते न चैकान्तविनाशिनि सास्ति।

यदाहुः—

“ यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ”॥

एकान्त-नित्यकी तरह पदार्थको एकान्त-अनित्य स्वीकार करना भी योग्य नहीं। क्योंकि अनित्य-पदार्थ क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाला है, इस लिये वह क्रमसे अर्थक्रिया नहीं कर सकता। कारण कि अनित्य-पदार्थमें देश और कालकृत क्रम संभव नहीं। पूर्वक्रम और अपरक्रम क्षणिक पदार्थमें असंभव है। क्योंकि नित्य पदार्थमें ही अनेक देशोंमें रहनेवाला देशक्रम और अनेक कालमें रहनेवाला कालक्रम संभव हो सकता है। सर्वथा-अनित्य पदार्थोंमें देश और कालक्रम नहीं हो सकता। कहा भी है:—“ जो पदार्थ जिस स्थान (देश) और

Ganesh Varṇi Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

जिस क्षण (काल) में है, वह उसी स्थान और और उसी क्षणमें है, क्षणिक भावोंके साथ देश और कालकी व्याप्ति नहीं बन सकती । ”

न च सन्तानापेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः सम्भवति; सन्तानस्यावस्तुत्वात् । वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वं, न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः। अथाक्षणिकत्वं, तर्हि समाप्तः क्षणभङ्गवादः ॥

यदि कहा जाय, कि संतानकी अपेक्षासे पूर्व और उत्तर क्षणमें क्रम संभव हो सकता है, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि संतान कोई वस्तु ही नहीं । यदि संतानको वस्तु स्वीकार भी की जाय, तो संतान क्षणिक है, अथवा अक्षणिक ? संतानको क्षणिक माननेपर संतानमें क्षणिक पदार्थोंसे कोई विशेषता न होगी । अर्थात् जिस प्रकार पदार्थोंके क्षणिक होनेपर उनमें क्रम नहीं होता, वैसे ही संतानमें भी क्रम न होगा । यदि संतान अक्षणिक है, तो क्षणभंगवाद नहीं बन सकता ।

नाप्यक्रमेणार्थक्रिया क्षणिके संभवति । स ह्येको बीजपूरादिक्षणो[1] युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन् एकेन स्वभावेन जनयेत्, नानास्वभावैर्वा ? यद्येकेन तदा तेषां रसादिक्षणानामेकत्वं स्यात्; एकस्वभावजन्यत्वात् । अथ नानास्वभावैर्जनयति किञ्चिद्रूपादिकमुपादानभावेन, किञ्चिद्रसादिकं सहकारित्वेन, इति चेत्, तर्हि ते स्वभावास्तस्यात्मभूता, अनात्मभूता वा ? अनात्मभूताश्चेत् स्वभावत्वहानिः । यद्यात्मभूताः तर्हि तस्यानेकत्वम्; अनेकस्वभावत्वात् । स्वभावानां वा एकत्वं प्रसज्येत; तदव्यतिरिक्तत्वात् तेषां तस्य चैकत्वात् ॥

क्षणिक पदार्थमें अक्रमसे भी अर्थक्रिया संभव नहीं । क्योंकि एक बीजपूर (बिजौरा)-आदिक्षण (बौद्ध लोग वस्तुओंको क्षण कहते हैं, क्योंकि उनके मतमें सब पदार्थ क्षणिक हैं) एक साथ अनेक रसआदिक्षण(वस्तु) को एक स्वभावसे उत्पन्न करता है, अथवा नाना स्वभावसे ? यदि एक स्वभावसे उत्पन्न करता है, तो एक स्वभावसे उत्पन्न होनेके कारण रस आदि पदार्थोंमें एकता हो जानी चाहिये । यदि बीजपूरक्षण रसआदिक्षणको नाना स्वभावोंसे उत्पन्न करता है, अर्थात् किसी रूपआदिको उपादानभावसे, और किसी रसआदिको सहकारीभावसे उत्पन्न करता है, तो प्रश्न होता है, कि वे उपादान और सहकारीभाव बीजपूरके आत्मभूत (निज-स्वभाव) हैं, या अनात्मभूत (परस्वभाव) ? यदि उपादानादिभाव बीजपूरके परस्वभाव हैं, तो उपादानादिभाव बीजपूरके स्वभाव ही नहीं हैं । यदि उपादानादिभाव बीजपूरके आत्मभूत हैं, तो अनेक स्वभावरूप होनेसे बीजपूरपदार्थमें अनेकता हो जायगी, अर्थात् जितने स्वभाव

---

[1] ‘ बीजपूरादिरूपादि ’ पाठान्तरं । एते बौद्धाः क्षणशब्देन पदार्थान् गृह्णन्ति । यतः सर्वे पदार्थाः क्षणिकाः ।

होंगे, उतने ही उन स्वभावोंके धारक बीजपूरपदार्थ भी होंगे। अथवा उपादानादिभाव बीजपूरपदार्थसे अभिन्न हैं, और बीजपूर एक है, इस लिये स्वभावोंका एकत्व होगा।

अथ य एव एकत्रोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते। तर्हि नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसाङ्कर्यं च कथमिष्यते क्षणिकवादिना। अथ नित्यमेकरूपत्वादक्रमं, अक्रमाच्च क्रमिणां नानाकार्याणां कथमुत्पत्तिः इति चेत्, अहो स्वपक्षपाती देवानांप्रियः यः खलु स्वयमेकस्माद् निरंशाद् रूपादिक्षणलक्षणात् कारणाद् युगपदनेककार्याण्यङ्गीकुर्वाणोऽपि परपक्षे नित्येऽपि वस्तुनि क्रमेण नानाकार्यकरणेऽपि विरोधमुद्भावयति। तस्माद् क्षणिकस्यापि भावस्याक्रमेणार्थक्रिया दुर्घटा। इत्यनित्यैकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्व्यापकयोर्निवृत्त्यैव व्याप्यार्थक्रियापि व्यावर्तते। तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलब्धिबलेनैव निवर्तते। इत्येकान्तानित्यवादोऽपि न रमणीयः॥

यदि कहो, कि जो स्वभाव एक स्थानमें उपादानभाव होकर रहता है, वही दूसरे स्थानमें सहकारीभाव हो जाता है, इस लिये हम पदार्थमें स्वभावका भेद नहीं मानते, तो क्षणिकवादी लोग नित्य और एकरूप क्रमसे नाना कार्य करनेवाले पदार्थका स्वभावभेद और कार्यसंकरत्व कैसे स्वीकार करते हैं? कहनेका भाव यह है, कि बौद्ध लोग नित्य पदार्थके माननेमें जो दोष देते हैं, कि 'यदि नित्य पदार्थ क्रमसे एक स्वभावसे अर्थक्रिया करे, तो वह एक ही समयमें अपने सब कार्य कर लेगा, इस कारण कार्यसंकरता (सब कार्योंकी अभिन्नता) हो जायगी, और यदि अनेक स्वभावोंसे अर्थक्रिया करे, तो स्वभावका भेद हो जानेके कारण नित्य पदार्थ क्षणिक होगा', सो ठीक नहीं। क्योंकि बौद्ध भी एक क्षणिक पदार्थसे उपादान और सहकारी भावोंद्वारा कार्य की उत्पत्ति मानकर स्वभावका भेद मानते हैं। यदि कहा जाय, कि नित्य पदार्थ एक रूप होनेसे क्रम रहित हैं, और अक्रमपदार्थसे अनेक क्रमसे होनेवाले पदार्थोंकी कैसे उत्पत्ति हो सकती है, तो यह बौद्धोंका पक्षपात मात्र है। क्योंकि बौद्ध लोग एक और अंश रहित रूपआदिलक्षणकारणसे एकसाथ अनेक कार्योंको स्वीकार करके भी, नित्य वस्तुमें क्रमसे नाना कार्योंकी उत्पत्तिमें विरोध खड़ा करते हैं। अर्थात् बौद्ध लोग निरंश पदार्थ ही से अनेक कार्योंकी उत्पत्ति मानते हैं, फिर वे नित्य पदार्थमें क्रमसे अनेक कार्योंकी उत्पत्तिमें क्यों दोष देते हैं? अतएव क्षणिक पदार्थके अक्रमसे भी अर्थक्रियाकारित्व सिद्ध नहीं हो सकता। इस लिये एकान्तअनित्य पदार्थमें क्रम-अक्रमसे अर्थक्रिया नहीं बन सकती। तथा, पदार्थमें अर्थक्रिया न होनेसे क्षणिक पदार्थके अस्तित्वका भी अभाव हो जाता है। भाव यह है, कि जैन लोग सर्वथा नित्यत्ववादकी तरह सर्वथा अनित्यत्ववादको भी नहीं मानते हैं। उनका कहना है, कि एकांत-अनित्य पदार्थमें क्रम-अक्रमसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती। एकांत-अनित्यम

क्रमसे अर्थक्रिया इस लिये नहीं बन सकती, कि एकान्त-क्षणिक पदार्थ क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाला है। इसीलिये सर्वथा क्षणिक पदार्थोंमें देशकृत अथवा कालकृत क्रम संभव नहीं है। तथा क्षणिक पदार्थमें अक्रमसे भी अर्थक्रिया नहीं हो सकती। क्योंकि यदि क्षणिक पदार्थोंमें अक्रम से अर्थक्रिया हो, तो एक ही क्षणमें समस्त कार्य हो जाया करें, इस लिये दूसरे क्षणमें कुछ भी करनेको वाकी न रहे। अतएव दूसरे क्षणमें वस्तुके अर्थक्रिया से शून्य होनेके कारण वस्तु अवस्तु हो जानी चाहिये।

स्याद्वादे तु पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा। न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगादसन् स्याद्वाद इति वाच्यम्, नित्यानित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्; तथैव च सर्वैरनुभवात्। तथा च पठन्ति—

"भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः।
तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते" ॥ इति ॥

वैशेषिकैरपि चित्ररूपस्यैकस्यावयविनोऽभ्युपगमात् एकस्यैव पटादेश्चलाचलरक्तारक्तावृतानावृतत्वादिविरुद्धधर्माणामुपलब्धेः। सौगतैरप्येकत्र चित्रपटीज्ञाने नीलानीलयोर्विरोधानङ्गीकारात् ॥

स्याद्वादसिद्धांतके स्वीकार करनेमें पूर्व-आकारका त्याग, उत्तर-आकारका ग्रहण, और पूर्वोत्तर दोनों दशाओंमें पदार्थके ध्रुव रहनेके कारण पदार्थोंमें अर्थक्रिया माननेमें कोई विरोध नहीं आता। यदि कहो, कि एक ही पदार्थमें परस्पर दो विरुद्ध धर्म कैसे संभव हैं, तो हम कहते हैं, कि स्याद्वादमें एकान्त-नित्य और एकान्त-अनित्यसे विलक्षण तीसरा ही पक्ष स्वीकार किया गया है। क्योंकि स्याद्वादमें प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षासे नित्य और किसी अपेक्षासे अनित्य स्वीकार की गई है। यह नित्यानित्यरूप सब लोगोंके अनुभवमें भी आता है। कहा भी है—"एक भागमें सिंह दूसरे भागमें नर, इस प्रकार दो भागोंको धारण करने से भागरहित नृसिंहावतारको नरसिंह कहा जाता है।" भाव यह है, कि जिस प्रकार नृसिंहावतार एक भागमें नर है और दूसरेमें मनुष्य है, अर्थात् नर और सिंहकी दो विरुद्ध आकृतियों को धारण करता है, और फिर भी नृसिंहावतार नृसिंह नामसे कहा जाता है, उसी तरह नित्य-अनित्य दो विरुद्ध धर्मोंके रहनेपर भी स्याद्वादके सिद्धांतमें कोई विरोध नहीं आता है। इसी तरह वैशेषिक लोग भी एक अवयवीको ही चित्ररूप (परस्पर विरुद्धरूप) तथा एक ही पटको चल (हिलता हुआ) और अचल, रक्त और अरक्त, आवृत और अनावृत आदि विरुद्ध धर्म-युक्त स्वीकार करते हैं। बौद्ध लोग भी एक ही चित्रपटमें नील और अनील दो विरुद्ध धर्मोंको मानते हैं।

अत्र च यद्यप्यधिकृतवादिनः प्रदीपादिकं कालान्तरावस्थायित्वात् क्षणिकं न मन्यन्ते तन्मते पूर्वापरान्तावच्छिन्नायाः सत्ताया एवानित्यतालक्षणात् । तथापि बुद्धिसुखादिकं तेऽपि क्षणिकतयैव प्रतिपन्नाः इति तदधिकारेऽपि क्षणिकवादचर्चा नानुपपन्ना । यदापि च कालान्तरावस्थायि वस्तु तदापि नित्यानित्यमेव । क्षणोऽपि न खलु सोऽस्ति यत्र वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं नास्ति ॥ इति काव्यार्थः ॥ ५ ॥

यद्यपि वैशेषिक लोगोंने दीपक आदिको एक क्षण के बाद कालान्तरमें स्थायी माना है, इस लिये उसे क्षणिक स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि उनके मतमें आदि और अंतकी अभावरूप सत्ताको अनित्य कहा है (बौद्धोंकी तरह क्षण क्षणमें होनेवाले अभाव को नहीं), फिर भी वैशेषिक लोगोंने बुद्धि, सुख आदिको क्षणिक स्वीकार किया ही है । इस लिये यहाँपर क्षणिकवाद की चर्चा अप्रासंगिक नहीं समझनी चाहिये। (नोट—वैशेषिक लोग बुद्धि, सुख आदिको क्षणिक मानते हैं, इससे मालूम होता है कि वैशेषिक लोग अर्ध-बौद्ध गिने जाते थे । इसीलिये शंकराचार्यने उन्हें अर्ध-वैनाशिक अर्थात् अर्ध-बौद्ध कहकर संबोधन किया है— प्रो. ध्रुव-स्याद्वादमंजरी, पृ. ५४) । वैशेषिक लोग जिस तरह बुद्धि, सुख आदिको सर्वथा क्षणिक मानते हैं वैसे ही वे लोग बहुतसे पदार्थोंको सर्वथा नित्य भी स्वीकार करते हैं । परंतु वस्तुको नित्यअनित्य मानना ही ठीक है। क्योंकि जो वस्तु एक क्षणसे दूसरे क्षणमें रहनेवाली है, वह नित्यानित्य ही होती है । इसी तरह ऐसा कोई भी क्षण नहीं जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य न होते हों । यह श्लोकका अर्थ है ।

भावार्थ—जैनदर्शनके अनुसार प्रत्येक पदार्थ कथंचित्-नित्य और कथंचित्-अनित्य है। साधारणतः दीपक अनित्य और आकाश नित्य माना जाता है । परन्तु जैनदर्शनके अनुसार दीपकसे लेकर आकाश तक, अर्थात् छोटेसे लेकर बड़े तक सब पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यस्वरूप हैं, और इसीलिये नित्य-अनित्य हैं। जिस समय दीपकके तेज परमाणु तमरूप पर्यायमें परिवर्तित होते हैं, उस समय तेज परमाणुओंका व्यय होता है, तमरूप पर्यायका उत्पाद होता है, तथा दोनों अवस्थाओंमें द्रव्यरूप दीपक मौजूद रहता है । इस लिये द्रव्यकी अपेक्षा दीपक नित्य है, और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य । इसी प्रकार आकाश भी नित्य-आनित्य है । क्योंकि जिस समय आकाशमें रहनेवाले जीव-पुद्गल आकाशके एक प्रदेशको छोड़कर दूसरे प्रदेशके साथ संयुक्त होते हैं, उस समय आकाशके पूर्व प्रदेशोंसे जीव-पुद्गलोंके विभाग होनेकी अपेक्षासे आकाशमें व्यय, उत्तर प्रदेशोंके साथ संयोग होनेसे उत्पाद, तथा पूर्वोत्तर दोनों पर्यायोंमें आकाश द्रव्यके मौजूद रहनेसे ध्रौव्य अवस्थायें पायी जाती हैं । इस लिये द्रव्यकी अपेक्षा आकाश नित्य है, और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य । दूसरे शब्दोंमें, जैनसिद्धांतके अनुसार द्रव्य और पर्याय कथंचित्-भिन्न हैं और कथंचित्-अभिन्न । जिस प्रकार

विना द्रव्यके पर्याय नहीं रह सकती, उसी तरह विना पर्यायके द्रव्य नहीं रह सकते। परन्तु वैशेषिक लोग कुछ पदार्थोंको सर्वथा नित्य मानते हैं और कुछको सर्वथा अनित्य। इसीलिये वैशेषिकों द्वारा मान्य 'अप्रच्युत, अनुत्पन्न और स्थिररूप' नित्यका लक्षण न स्वीकार करके जैन लोग 'पदार्थके भावका नष्ट नहीं होना' ही नित्यत्वका लक्षण मानते हैं। इस श्लोककी व्याख्यामें टीकाकार मल्लिषेणने निम्न विषयोंपर भी विचार किया है।

(१) अंधकार तेजकी ही एक पर्यायविशेष है, यह सर्वथा अभावरूप ही नहीं है। जैनदर्शनके अनुसार प्रकाशकी तरह तम भी चक्षुका विषय है। इस लिये जैनशास्त्रोंमें अंधकारको पौद्गलिक–स्पर्श, रस, गंध और वर्णयुक्त–स्वीकार किया गया है। जैन लोगोंका कहना है, कि यदि वैशेषिक लोग दीपककी प्रभाको पौद्गलिक मानते हैं, तो उन्हें अंधकारको पुद्गलकी पर्याय माननेमें क्या आपत्ति है?

(२) पदार्थको एकान्त-नित्य अथवा एकान्त-अनित्य स्वीकार करनेसे उसमें अर्थक्रियाकारित्व अर्थात् वस्तुत्व ही सिद्ध नहीं होता। इस विषयको नाना ऊहापोहात्मक विकल्पोंके साथ टीकाकारने खूब विस्तारके साथ प्रतिपादित किया है।

(३) नित्यानित्यके सिद्धांतको दूसरे वादी भी रूपान्तरमें स्वीकार करते हैं। उदाहरणके लिये, वैशेषिक लोग पृथ्वीको नित्य और अनित्य दोनों मानते हैं। तथा एक ही अवयवीके चित्ररूपकी कल्पना करते हैं। बौद्ध लोग भी एक ही चित्रपटमें नील-अनील धर्मोंको मानते हैं। इसी तरह पातंजलमतके अनुयायी धर्म, लक्षण और अवस्थाको धर्मीसे भिन्न और अभिन्न मानते हैं।

अथ तदभिमतमीश्वरस्य जगत्कर्तृत्वाभ्युपगमं मिथ्याभिनिवेशरूपं निरूपयन्नाह–

इसके बाद वैशेषिकोंद्वारा मान्य ईश्वरके जगत्कर्तृत्वमें दूषण देते हुए कहते हैं:—

कर्तास्ति कश्चिद् जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ—हे नाथ, अप्रामाणिक लोग 'जगतका कोई कर्त्ता है,(१) वह एक है, (२) सर्वव्यापी है, (३) स्वतंत्र है और (४) नित्य है' आदि दुराग्रहसे परिपूर्ण सिद्धांतोंको स्वीकार करते हैं।

जगतः—प्रत्यक्षादिप्रमाणोपलक्ष्यमाणचराचररूपस्य विश्वत्रयस्य, **कश्चिद्**— अनिर्वचनीयस्वरूपः, पुरुषविशेषः, **कर्ता**—स्रष्टा, **अस्ति**—विद्यते। ते हि इत्थं प्रमाणयन्ति। उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं, बुद्धिमत्कर्तृकं, कार्यत्वात्; यद् यत् कार्यं तत् तत्सर्वं बुद्धिमत्कर्तृकं, यथा घटः, तथा चेदं, तस्मात् तथा; व्यतिरेके व्योमादि। यश्च बुद्धिमांस्तत्कर्ता स भगवानीश्वर एवेति॥

व्याख्यार्थ—पूर्वपक्ष—'जगतः कश्चित् कर्ता अस्ति'—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे जाने हुए स्थावर और जंगमरूप तीनों विश्वका स्वरूपसे अनिर्वचनीय कोई पुरुषविशेष सृष्टि करनेवाला है। इस लिये पृथिवी, पर्वत, वृक्ष आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान कर्ताके बनाये हुए हैं, क्योंकि ये कार्य हैं। जो जो कार्य होते हैं वे सब किसी बुद्धिमान कर्ताके बनाये हुए होते हैं, जैसे घट। उसी तरह पृथिवी पर्वत आदि भी कार्य हैं, इस लिये ये भी बुद्धिमान कर्ताके बनाये हुए होने चाहिये। आकाश आदि कार्य नहीं है, इस लिये किसी बुद्धिमान कर्ताका बनाया हुआ भी नहीं है। जो कोई इन सब पदार्थोंका बुद्धिमान कर्ता है वह भगवान ईश्वर ही है।

न चायमसिद्धो[1] हेतुः। यतो भूभूधरादेः स्वस्वकारणकलापजन्यतया अवयवितया वा कार्यत्वं सर्ववादिनां प्रतीतमेव। नाप्यनैकान्तिको[2] विरुद्धो[3] वा। विपक्षादत्यन्तव्यावृत्तत्वात्। नापि कालात्ययापदिष्टः[4]। प्रत्यक्षानुमानागमाबाधितधर्मधर्म्यनन्तरप्रतिपादितत्वात्। नापि प्रकरणसमः[5] तत्प्रतिपन्थिधर्मोपपादनसमर्थप्रत्यनुमानाभावात्॥

उक्त हेतु असिद्ध नहीं है। क्योंकि अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेके और अवयवी होनेके कारण पृथिवी, पर्वत आदिका कार्यत्व सभी वादियोंने स्वीकार किया है। यह हेतु अनैकांतिक (व्यभिचारी) अथवा विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि इसकी विपक्षसे अत्यन्त व्यावृत्ति है। जिस हेतुकी विपक्षमें भी अविरुद्ध वृत्ति हो, अर्थात् जो हेतु विपक्षमें भी चला जाय उसे अनैकांतिक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे घड़ा ठंडा है, क्योंकि मूर्तिक है। यहां मूर्तत्वकी व्याप्ति ठंडा और गरम दोनोंके साथ है, अर्थात् मूर्तित्व हेतु विपक्ष (गरम) में भी चला जाता है, इस लिये दूषित है। यहां कार्यत्वहेतुकी विपक्ष अर्थात् आकाश आदिसे व्यावृत्ति है, इस लिये यह हेतु अनैकांतिक नहीं है। इसीलिये कार्यत्वहेतु विरुद्ध भी नहीं है। क्योंकि जिस हेतुका अविनाभावसंबंध साध्यसे विरुद्धके साथ निश्चित हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे शब्द परिवर्तनशील है, क्योंकि उत्पत्तिवाला है। यहां उत्पत्तिकी व्याप्ति परिवर्तनशीलताके साथ है, जो साध्यसे विरुद्ध है। प्रस्तुत कार्यत्वहेतु अपने साध्य बुद्धिमत्कर्तृत्वके साथ अविनाभावसंबंधसे रहता है, इस लिये विरुद्ध नहीं है। कार्यत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट (प्रत्यक्ष, अनुमान आदिसे बाधित) भी नहीं है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुमान और आगमसे अबाधित, धर्म और धर्मीके सिद्ध हो जानेपर प्रतिपादन किया

---

[1] अयं साध्यसमशब्देनाभिधीयते। 'साध्याविशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः'। गौतमसूत्रे। १-२-८।
[2] 'अनैकान्तिकः सव्यभिचारः'। गौतमसूत्रे १-२-५। [3] 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः'। गौतमसूत्रे १-२-६। [4] 'कालात्ययापदिष्टः कालातीतः'। गौतमसूत्रे १-२-९। [5] 'यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः'। गौतमसूत्रे १-२-७।

गया है। अर्थात् पहले प्रमाणसिद्ध धर्म-धर्मीका कथन करके बादमें हेतुका कथन किया गया है। यह हेतु प्रकरणसम भी नहीं है। जहां साध्यके अभावका साधक कोई दूसरा मौजूद हो उसे प्रकरणसम कहते हैं। यहां कार्यत्वहेतुके प्रतिकूल अकर्तृत्व धर्मको सिद्ध करनेवाला कोई प्रत्यनुमान नहीं है।

न च वाच्यम् ईश्वरः पृथ्वीपृथ्वीधरादेर्विधाता न भवति; अशरीरत्वात्, निर्वृत्तात्मवत्, इति प्रत्यनुमानं तद्बाधकमिति। यतोऽत्रेश्वररूपो धर्मी प्रतीतोऽप्रतीतो वा प्ररूपितः? न तावदप्रतीतः, हेतोराश्रयासिद्धिप्रसंगात्। प्रतीतश्चेत्, येन प्रमाणेन स प्रतीतस्तेनैव किं स्वयमुत्पादितस्वतनुर्न प्रतीयते। इत्यतः कथमशरीरत्वम्। तस्मान्निरवद्य एवायं हेतुरिति ॥

प्रतिवादी—'ईश्वर पृथिवी, पर्वत आदिका कर्ता नहीं है, क्योंकि वह अशरीरी है, मुक्तात्माकी तरह' यह प्रत्यनुमान उक्त कार्यत्वहेतुका बाधक है, इस लिये कार्यत्वहेतु प्रकरणसम हेत्वाभाससे दूषित है। **वैशेषिक**—यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि 'ईश्वर पृथिवी आदिका कर्ता नहीं हो सकता' इस वाक्यमें ईश्वररूप धर्मी प्रतीत है, अथवा अप्रतीत? यदि धर्मी अप्रतीत हो, तो हेतु आश्रयासिद्ध होगा, अर्थात् जब धर्मी ही अप्रतीत है तब अशरीरत्वहेतु कहां रहेगा। यदि कहो, कि उक्त अनुमान में ईश्वर प्रतीत है, तो जिस प्रमाणसे ईश्वर प्रतीत है, उसी प्रमाणसे यह क्यों नहीं मानते कि ईश्वर स्वयं उत्पन्न किये हुए शरीरको ही धारण करता है। अर्थात् ईश्वरको प्रतीत (जाना हुआ) माननेसे यह भी मानना चाहिये, कि ईश्वरने अपना शरीर बनाया है, और वह जगत को बनानेमें समर्थ है। इस लिये ईश्वरको शरीर रहित नहीं कह सकते। अतएव ईश्वरके कर्तृत्वमें हमारा दिया हुआ कार्यत्वहेतु असिद्ध, विरुद्ध आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष ही है।

स चैक इति। चः पुनरर्थे। स पुनः—पुरुषविशेषः; एकः—अद्वितीयः। बहूनां हि विश्वविधातृत्वस्वीकारे परस्परविमतिसंभावनाया अनिवार्यत्वाद् एकैकस्य वस्तुनोऽन्यान्यरूपतया निर्माणे सर्वसमञ्जसमापद्येत इति ॥

(१) वह अद्वितीय पुरुषविशेष एक (एक) है। क्योंकि यदि बहुतसे ईश्वरोंको संसारका कर्ता स्वीकार किया जाय, तो एक दूसरेकी इच्छामें विरोध उत्पन्न होनेके कारण एक वस्तुके अन्यरूपमें निर्माण होनेसे संसारमें ऐक्य और क्रमका अभाव होगा।

तथा स सर्वग इति। सर्वत्र गच्छतीति सर्वगः—सर्वव्यापी। तस्य हि प्रतिनियतदेशवर्तित्वेऽनियतदेशवृत्तीनां विश्वत्रयान्तर्वर्तिपदार्थसार्थानां यथावन्निर्माणानुपपत्तिः। कुम्भकारादिषु तथा दर्शनाद्। अथवा सर्वं गच्छति जानातीति सर्वगः—

सर्वज्ञः " सर्वे गत्यर्था[1] ज्ञानार्थाः " इति वचनात् । सर्वज्ञत्वाभावे हि यथोचितोपादानकारणाद्यनभिज्ञत्वाद् अनुरूपकार्योत्पत्तिर्न स्यात् ॥

(२) तथा वह ईश्वर सर्वव्यापी (सर्वग) है । यदि ईश्वरको नियमित प्रदेशमें ही व्याप्त माना जाय, तो अनियमित स्थानोंके संसारके समस्त पदार्थों की यथारीतिसे उत्पत्ति संभव न होगी । जैसे कुंभकार एक प्रदेशमें रहकर नियमित प्रदेशके घटादिक पदार्थ को ही बना सकता है, वैसे ही ईश्वर भी नियमित प्रदेशमें रहकर अनियत प्रदेशके पदार्थोंकी रचना नहीं कर सकता । अथवा, ईश्वर सब पदार्थोंको जाननेवाला (सर्वज्ञ) है । क्योंकि कहा भी है " गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक होती हैं " यदि ईश्वर को सर्वज्ञ न मानें, तो यथायोग्य उपादान कारणोंके न जाननेके कारण वह ईश्वर अनुरूप कार्योंकी उत्पत्ति न कर सकेगा ।

तथा स स्ववशः—स्वतन्त्रः, सकलप्राणिनां स्वेच्छया सुखदुःखयोरनुभावनसमर्थत्वात् । तथा चोक्तम्—

" ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।
अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः " ॥

पारतन्त्र्ये तु तस्य परमुखप्रेक्षितया मुख्यकर्तृत्वव्याघाताद् अनीश्वरत्वापत्तिः ॥

(३) तथा ईश्वर स्वतंत्र (स्ववश) है । क्योंकि वह अपनी इच्छासे ही सम्पूर्ण प्राणियोंको सुख-दुखका अनुभव कराता है । कहा भी है—" यह जीव ईश्वरका प्रेरित किया हुआ ही स्वर्ग और नरकमें जाता है । क्योंकि ईश्वरके सिवाय अन्य जीव अपने सुख-दुःख उत्पन्न करनेमें स्वतंत्र नहीं हैं । "

तथा स नित्य इति । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपः । तस्य ह्यनित्यत्वे परोत्पाद्यतया कृतकत्वप्राप्तिः । अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इत्युच्यते । यश्चापरस्तत्कर्ता कल्प्यते, स नित्योऽनित्यो वा स्यात् ? नित्यश्चेत् अधिकृतेश्वरेण किमपराद्धम् । अनित्यश्चेत्, तस्याप्युत्पादकान्तरेण भाव्यम् । तस्यापि नित्यानित्यत्वकल्पनायाम् अनवस्थादौस्थ्यमिति ॥

(४) तथा वह ईश्वर अविनाशी, अनुत्पन्न और स्थिररूप है । ईश्वरको अनित्य माननेमें एक ईश्वर दूसरे ईश्वरसे उत्पन्न होगा, इस लिये वह कृतक (अपने स्वरूपकी सिद्धिमें दूसरे की अपेक्षा रखनेवाला) होगा । तथा ईश्वरका जो कोई दूसरा कर्ता मानोगे, वह नित्य है, या अनित्य ? यदि नित्य है, तो एक ही ईश्वरको नित्य क्यों नहीं मान लेते । यदि ईश्वरका कर्ता अनित्य है, तो उस अनित्य कर्ताका कोई दूसरा उत्पादक होना चाहिये । फिर वह कर्ता नित्य है या अनित्य ? इस प्रकार अनवस्थादोष होगा ।

---

[1] ' गत्यर्था ज्ञानार्थाः ' हेमहंसगणिसमुच्चितहेमचन्द्रव्याकरणस्थन्यायः ४४ इति ।

तदेवमेकत्वादिविशेषणविशिष्टो भगवानीश्वरस्त्रिजगत्कर्तेति पराभ्युपगममुपदर्श्य उत्तरार्धेन तस्य दुष्टत्वमाचष्टे। इमाः—एताः, अनन्तरोक्ताः, कुहेवाकविडम्बनाः—कुत्सिता हेवाकाः—आग्रहविशेषाः कुहेवाकाः कदाग्रहा इत्यर्थः। त एव विडम्बनाः विचारचातुरीबाह्यत्वेन तिरस्काररूपत्वाद् विगोपकप्रकाराः। स्युः—भवेयुः। तेषां प्रामाणिकापसदानां। येषां हे स्वामिन् त्वं नानुशासकः—न शिक्षादाता॥

उत्तरपक्ष—'इमाःकुहेवाकविडम्बनाः'—इस प्रकारकी कुत्सित आग्रहरूप विडम्बनायें विचाररहित होनेके कारण तिरस्कार के योग्य हैं, इस लिये अप्रामाणिक लोगोंकी ये विडम्बनायें अपने दोषोंको छिपानेके लिये ही हैं।

तदभिनिवेशानां विडम्बनारूपत्वज्ञापनार्थमेव पराभिप्रेतपुरुषविशेषणेषु प्रत्येकं तच्छब्दप्रयोगमसूयागर्भमाविर्भावयाञ्चकार स्तुतिकारः। तथा चैवमेव निन्दनीयं प्रति वक्तारो वदन्ति। स मूर्खः स पापीयान् स दरिद्र इत्यादि। त्वमित्येकवचनसंयुक्तयुष्मच्छब्दप्रयोगेण परमेशितुः परमकारुणिकतयानपेक्षितस्वपरपक्षविभागमद्वितीयं हितोपदेशकत्वं ध्वन्यते॥

न्यायवैशेषिकोंकी मान्यताको विडम्बना सिद्ध करनेके लिये ही श्लोकमें न्यायवैशेषिकोंद्वारा अभीष्ट ईश्वरके प्रत्येक विशेषणोंके साथ 'तत्' शब्दका प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार वक्ता लोग किसी निन्दनीय पुरुषको कहते हैं, कि वह मूर्ख है, वह पापी है, वह दरिद्र है, आदि, उसी प्रकार यहां भी ईश्वरके लिये कहा गया है, कि वह जगत्का कर्ता है, वह एक है, वह नित्य है आदि। श्लोकमें युष्मत् (त्वं) शब्दके प्रयोगसे परमदयालु होनेके कारण पक्षपातकी भावना रहित जिनेन्द्रभगवानका अद्वितीय हितोपदेशकपना ध्वनित होता है।

अतोऽत्रायमाशयः। यद्यपि भगवानविशेषेण सकलजगज्जन्तुजातहितावहां सर्वेभ्य एव देशनावाचमाचष्टे, तथापि सैव केषाञ्चिद् निचितनिकाचित[1]पापकर्मकलुषितात्मनां रुचिरूपतया न परिणमते। अपुनर्बन्धका[2]दिव्यतिरिक्तत्वेनायोग्यत्वात्। तथा च कादम्बर्यां[3] बाणोऽपि बभाण—“अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखमुपदेशगुणाः। गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य” इति। अतो वस्तुवृत्त्या न तेषां भगवाननुशासक इति॥

---

[1] उदये संकममुदये चउसुवि दादुं कमेण णो सक्कं। उवसंतं च णिधत्तिं णिकाचिदं होदि जं कम्मं। छाया—उदये संक्रमोदययोः चतुर्ष्वपि दातुं क्रमेण नो शक्यम्। उपशान्तं च निधत्तिः निकाचितं यत् कर्म॥ (गोम्मटसारकर्मकाण्ड गा. ४४०)

[2] 'पावं ण तिव्वभावा कुणइ ण बहुमन्नई भवं घोरम्। उचिअट्ठिइं च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणबन्धोत्ति इति'॥ छाया-पापं न तीव्रभावात् करोति न बहु मन्यते भवं घोरं। उचितार्थं च सेवते सर्वत्रापि अपुनर्बन्धक इति॥ इति धर्मसंग्रहे तृतीयाधिकरणे। [3] बाणभट्टकृतकादम्बरी पूर्वार्धे पृ. १०३ पं. १०.

भाव यह है, कि यद्यपि भगवान सामान्यरूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंको हितोपदेश करते हैं, परन्तु वह उपदेश पूर्वजन्ममें उपार्जन किये हुए निकाचित (जिस कर्मकी उदीरणा, संक्रमण उत्कर्षण और अपकर्षणरूप अवस्थायें न हों सकें उसे निकाचित कर्म कहते हैं) पापकर्मोंसे मलिन आत्मावाले प्राणियोंको अच्छा नहीं लगता। कारण कि, इस प्रकारके पापी जीव अपुनर्बंधक (जो जीव तीव्र भावोंसे पाप नहीं करता है तथा जिसकी मुक्ति पुद्गलपरावर्तनमें हो जाती है, उसे अपुनर्बंधक कहते हैं) आदि जीवोंसे भिन्न हैं, इस लिये उपदेशके पात्र नहीं हैं। बाणने भी कादंबरीमें कहा है "जिस प्रकार निर्मल स्फटिकमणिमें चन्द्रमाकी किरणोंका प्रवेश होता है, उसी तरह निर्मल चित्तमें उपदेश प्रवेश करता है। तथा जैसे कानोंमें भरा हुआ निर्मल जल भी पीड़ाको उत्पन्न करनेवाला है, वैसे ही गुरुओंके वचन भी अभव्यजीवको क्लेश उत्पन्न करनेवाले होते हैं। इस लिये वास्तवमें भगवान दुराग्रही पुरुषोंके उपदेष्टा नहीं हो सकते।

न चैतावता जगद्गुरोरसामर्थ्यसम्भावना। न हि कालदष्टमनुज्जीवयन् समुज्जीवितेतरदष्टको विषभिषगुपालम्भनीयः, अतिप्रसंगात्। स हि तेषामेव दोषः। न खलु निखिलभुवनाभोगमवभासयन्तोऽपि भानवीया[1] भानवः कौशिकलोक[2]स्यालोकहेतुतामभजमाना उपालम्भसम्भावनास्पदम्। तथा च श्रीसिद्धसेनः—

"सद्धर्मबीज[3]वपनानघकौशलस्य यल्लोकबान्धव तवापि खिलान्य[4]भूवन्।
तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः॥"

इस कथनसे तीन लोकके गुरु भगवानकी असमर्थता प्रगट नहीं होती, क्योंकि सामान्य सर्पोंसे डसे हुए प्राणियोंको जिलानेवाला विषवैद्य यदि कालसर्पसे डसे हुए प्राणीको न जिला सके, तो यह वैद्यका दोष नहीं है। अर्थात् यदि कोई साधारण सर्पोंके विषको अच्छा करनेवाला विषवैद्य भयंकर कालसर्पका विष न उतार सके, तो यह वैद्यका दोष नहीं, यह दोष कालसर्पसे डसे हुए मनुष्यका ही है, क्योंकि कालसर्पके विषपर यंत्र-मंत्र आदि भी प्रभाव नहीं डाल सकते हैं। इसी तरह यदि भगवान अभव्योंको उपदेश न दे सकें, तो यह दोष भगवानका नहीं है। यह दोष अभव्योंका ही है, क्योंकि तीव्र कषायसे मलिन अभव्योंकी आत्माओंपर उपदेशका कुछ असर नहीं होता। सम्पूर्ण विश्वमंडलको प्रकाशित करनेवाली सूर्यकी किरणें यदि उल्लूओंके प्रकाशका कारण नहीं हो सकें, तो यह सूर्यकी किरणोंका दोष नहीं है। सिद्धसेनआचार्यने भी कहा है "हे लोकबान्धव, उत्तम धर्मके बीज बोनेमें आप अत्यन्त कुशल हैं, फिर भी आपका उपदेश बहुतसे लोगोंको नहीं

---

[1] भानवः किरणाः। [2] घूकसमुदायस्य। [3] द्वितीयद्वात्रिंशिका श्लोक १३। [4] अनुप्तं क्षेत्रं खिलशब्देनाभिधीयते।

लगता, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि अंधकारमें फिरनेवाले उल्लू आदि पक्षियोंको सूर्यकी किरणें भौरोंके चरणोंके समान कृष्णवर्णकी ही दिखाई पड़ती हैं।"

अथ कथमिव तत् कुहेवाकानां विडम्बनारूपत्वम् इति। ब्रूमः। यत्तावदुक्तं परैः 'क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृकाः, कार्यत्वाद् घटवदिति'। तदयुक्तम्। व्याप्तेरग्रहणात्। "साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेत्" इति सर्ववादिसंवादः। स चायं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात्? सशरीरोऽपि किमस्मदादिवद् दृश्यशरीरविशिष्टः, उत पिशाचादिवददृश्यशरीरविशिष्टः? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरभ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेयत्वादिवत् साधारणानैकान्तिको हेतुः॥

न्यायवैशेषिकोंकी विडम्बनाओंको दुराग्रहरूप बताते हुए ग्रन्थकार न्यायवैशेषिकोंके कार्यत्वहेतुका विस्तारसे खंडन करते हैं। वैशेषिकोंने जो कहा है कि 'पृथिवी आदि किसी बुद्धिमान कर्ताके बनाये हुए हैं, कार्य होनेसे, घटकी तरह' यह अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि इस अनुमानमें व्याप्तिका ग्रहण नहीं होता। "प्रमाणद्वारा व्याप्तिके सिद्ध होनेपर ही साधनसे साध्यका ज्ञान होता है"। इस लिये प्रश्न होता है, कि ईश्वरने शरीर धारण करके जगतको बनाया है, अथवा शरीर रहित होकर? यदि ईश्वरने शरीर धारण करके जगतको बनाया है, तो वह शरीर हम लोगोंकी तरह दृश्य था अथवा पिशाच आदि की तरह अदृश्य (दिखाई न देनेवाला)? यदि वह शरीर हमारी तरह दृश्य था, तो इसमें प्रत्यक्षसे बाधा आती है। क्योंकि हमें ऐसा कोई दृश्यशरीरवाला ईश्वर दिखाई नहीं देता जो घास, वृक्ष, इन्द्रधनुष, बादल वगैरहकी सृष्टि करता हो। इस लिये 'जहां जहां कार्यत्व है वहां वहां सशरीरकर्तृत्व है' यह व्याप्ति नहीं बनती। अतएव कार्यत्वहेतु साधारणअनैकांतिक हेत्वाभास है। साध्यके अतिरिक्त साध्याभावके साथ भी जिसकी व्याप्ति हो उसे अनैकांतिक कहते हैं। जैसे पर्वत अग्निवाला है, प्रमेय होनेसे। यहां प्रमेयत्वहेतु अग्निरूपसाध्यके धारक पर्वतमें रहता है, और पर्वतसे भिन्न जलाशय आदिमें भी रहता है। इस लिये प्रमेयत्वहेतु अनैकांतिक हेत्वाभास है। इसी प्रकार यहां भी ईश्वरके शरीरसे बनाये हुए पदार्थोंके अलावा ईश्वरके शरीरद्वारा नहीं बनाये हुए घास, वृक्ष वगैरहमें भी कार्यत्वहेतु चला गया, इस लिये यह हेतु साधारणअनैकांतिक हेत्वाभास होनेसे दोषपूर्ण है।

द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणम्, आहोस्विदस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यम्? प्रथमप्रकारः कोशपान[1]प्रत्यायनीयः, तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात्।

---

[1] शपथेन विभावनीयः।

इतरेतराश्रयदोषापत्तेश्च । सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यम् । तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति । द्वैतीयिकस्तु प्रकारो न संचरत्येव विचारगोचरे; संशयानिवृत्तेः । किं तस्यासत्त्वाद् अदृश्यशरीरत्वं वान्ध्येयादिवत् किंवास्मदाद्यदृष्टवैगुण्यात् पिशाचादिवदिति निश्चयाभावात् ॥

यदि कहो, कि ईश्वर पिशाच आदिके समान अदृश्य शरीरसे जगतकी सृष्टि करता है, तो इस शरीरके अदृश्य होनेमें ईश्वरका माहात्म्यविशेष कारण है, अथवा हम लोगोंका दुर्भाग्य ? प्रथम पक्ष विश्वासके योग्य नहीं है । क्योंकि ईश्वरके अदृश्य शरीर सिद्ध करनेमें कोई प्रमाण नहीं है । तथा ईश्वरके माहात्म्यविशेष सिद्ध होनेपर उसके अदृश्य शरीर सिद्ध हो, और अदृश्य शरीर सिद्ध होनेपर माहात्म्य विशेष सिद्ध हो, इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष भी आता है । यदि कहो, कि हम लोगोंके दुर्भाग्यसे ईश्वरका शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता, तो यह भी ठीक नहीं जंचता । क्योंकि, वंध्यापुत्रकी तरह ईश्वरका अभाव होनेसे उसका शरीर दिखाई नहीं देता, अथवा जिस प्रकार हमारे दुर्भाग्यसे पिशाच वगैरहका शरीर दिखाई नहीं देता, वैसे ही ईश्वरका शरीर भी अदृश्य है, इस तरह कुछ भी निश्चय नहीं होता ।

अशरीरश्चेत् तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम् । घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः । अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यम् आकाशादिवत् । तस्मात् सशरीराशरीरलक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेतोर्व्याप्त्यसिद्धिः ॥

तथा ईश्वरको अशरीरस्रष्टा माननेमें दृष्टांत और दार्ष्टांतिक विषम हो जाते हैं । क्योंकि घटादिक कार्य शरीर सहित कर्ताके बनाये हुए ही देखे जाते हैं; फिर आकाशकी तरह अशरीर ईश्वर किस प्रकार कार्य करनेमें समर्थ हो सकता है ? अर्थात् ‘ जगत अशरीर ईश्वरका बनाया हुआ है, कार्य होनेसे, घटकी तरह ’ इस अनुमानमें घट दृष्टांत और जगत दार्ष्टान्तिकमें समता नहीं है, क्योंकि घट सशरीरीका बनाया हुआ माना जाता है । तथा जिस तरह अशरीरी आकाश कोई कार्य वगैरह नहीं करसकता, उसी तरह अशरीरी ईश्वर भी कार्य करनेमें असमर्थ है । इस कारण सशरीर और अशरीर दोनों पक्षोंमें कार्यत्वहेतुकी सकर्तृकत्व साध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती ।

किञ्च, त्वन्मतेन कालात्ययापदिष्टोऽप्ययं हेतुः । धर्म्येकदेशस्य तरुविद्युदभ्रादेरिदानीमप्युत्पद्यमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन प्रत्यक्षबाधितधर्म्यनन्तरं हेतुभणनात् । तदेवं न कश्चिद् जगतः कर्ता । एकत्वादीनि तु जगत्कर्तृत्वव्यवस्थापनायानीयमानानि तद्विशेषणानि षण्ढं प्रति कामिन्या रूपसंपन्निरूपणप्रायाण्येव । तथापि तेषां विचारासहत्वख्यापनार्थं किञ्चिदुच्यते ॥

तथा, तुम्हारे मतसे कार्यत्वहेतु कालात्ययापदिष्ट भी है। क्योंकि जगतरूप धर्मी (साध्य) के एकदेश वृक्ष, विद्युत्, मेघ वगैरह किसी कर्ताके बनाये हुए नहीं देखे जाते हैं, इस लिये यहाँ प्रत्यक्षसे बाधित धर्मीके साथ हेतुका कथन किया गया है, अतएव यह हेतु दोषपूर्ण है। अतएव कोई जगतका बनानेवाला नहीं है। तथा ईश्वरके जगत्कर्तृत्व साधनमें जो एकत्व आदि विशेषण दिये गये हैं वे सब नपुंसक के प्रति स्त्रियोंके रूपलावण्य आदिका कथन करनेके समान हैं। फिर भी इन विशेषणोंपर कुछ विचार किया जाता है।

तत्रैकत्वचर्चस्तावत्। बहूनामेककार्यकरणे वैमत्यसम्भावना इति नायमेकान्तः। अनेककीटिकाशतनिष्पाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्ध्नः, अनेकशिल्पिकल्पितत्वेऽपि प्रासादादीनां, नैकसरघानिर्वर्तितत्वेऽपि मधुच्छत्रादीनां चैकरूपताया अविगानेनोपलम्भात्। अथैतेष्वप्येक एवेश्वरः कर्तेति ब्रूषे। एवं चेद् भवतो भवानीपतिं प्रति निष्प्रतिमा वासना, तर्हि कुविन्दकुम्भकारादितिरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्ता स एव किं न कल्प्यते। अथ तेषां प्रत्यक्षसिद्धं कर्तृत्वं कथमपह्नोतुं शक्यम्। तर्हि कीटिकादिभिः किं तव विराद्धं यत् तेषामसदृशतादृशप्रयाससाध्यं कर्तृत्वमेकहेलयैवापलप्यते। तस्माद् वैमत्यभयाद् महेशितुरेकत्वकल्पना भोजनादिव्ययभयात् कृपणस्यात्यन्तवल्लभपुत्रकलत्रादिपरित्यजनेन शून्यारण्यानीसेवनमिवाभासते॥

एकत्व—'बहुतसे ईश्वरोंद्वारा जगतरूप एक कार्यके किये जानेपर ईश्वरोंमें मतिका भेद उत्पन्न होगा', यह वादी लोगोंका कथन एकान्त-सत्य नहीं है। क्योंकि सैकडों कीडियाँ एक वमी को बनाती हैं, बहुत से शिल्पी एक ही महलको बनाते हैं, बहुतसी मधुमक्खी एक ही शहद के छत्तेका निर्माण करती हैं, फिर भी वस्तुओंकी एक रूपतामें कोई विरोध नहीं आता। यदि वादी कहे, कि वमी, प्रासाद आदिका कर्ता भी ईश्वर ही है, तो इससे ईश्वरके प्रति आप लोगों की निरुपम श्रद्धा प्रगट होती है, और इस तरह तो जुलाहे और कुंभकार वगैरह को पट और घट वगैरहका कर्ता न मानकर ईश्वरको ही इनका भी कर्ता मानना चाहिये। यदि आप कहें, कि घट पट आदिके कर्ता कुंभकार और जुलाहा आदि प्रत्यक्षसे सिद्ध हैं, तो फिर कीटिका आदि को वमी आदिका कर्ता मानने में क्या दोष है। आप लोग कीटिका आदिके असाधारण परिश्रमसे साध्य कर्तृत्वको एक क्षणभर में ही उडा देना चाहते हैं, यह ठीक नहीं। इस लिये परस्पर मतिभेद होनेके भयसे जो एक ईश्वरकी कल्पना है, वह भोजन आदिके व्ययके डरसे कृपण पुरुषके अत्यंत प्रिय पुत्र स्त्री आदिको छोड़कर शून्य जंगलमें वास करनेके समान है। जैसे कोई कृपण पुरुष खर्चके भयसे अपने स्त्री पुत्रादिको छोड़कर वनमें चला जाय, उसी तरह मतिभेदके भयसे आप लोग भी एक ईश्वरकी कल्पना करते हैं।

तथा सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नम् । तद्धि शरीरात्मना, ज्ञानात्मना वा स्यात् ? प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वाद् इतरनिर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः। द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता । अस्माभिरपि निरतिशयज्ञानात्मना परमपुरुषस्य जगत्त्रयक्रोडीकरणाभ्युपगमात् । यदि परमेवं भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन विरोधः । तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुक्तम्—"विश्वतश्चक्षुरुत[१] विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पात्" इत्यादिश्रुतेः ॥

सर्वगतत्व—तथा ईश्वर सर्वगत भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ईश्वरका सर्वगतत्व शरीर की अपेक्षासे है, अथवा ज्ञान की ? प्रथम पक्षमें ईश्वरका शरीर ही तीनों लोकों में व्याप्त होगा, इस लिये दूसरे बनाने योग्य (निर्मेय) पदार्थोंके लिये कोई स्थान ही न रहेगा । यदि आपलोग ज्ञान की अपेक्षा ईश्वरको सर्वव्यापी मानें, तो इसमें हमारे साध्य की सिद्धि है, क्योंकि हम लोग (जैन) भी परमात्माको निरतिशयज्ञान की अपेक्षा तीनों लोकोंमें व्यापी मानते हैं। परन्तु ईश्वरको ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगत माननेसे आपके वेदसे विरोध आता है। क्योंकि वेदमें ईश्वरको शरीरकी अपेक्षासे सर्वव्यापी कहा है। श्रुति भी है "ईश्वर सर्वत्र नेत्रोंका, मुखका, हाथोंका और पैरोंका धारक है।"

यच्चोक्तं तस्य प्रतिनियतदेशवर्तित्वे त्रिभुवनगतपदार्थानामनियतदेशवृत्तीनां यथावन्निर्माणानुपपत्तिरिति । तत्रेदं पृच्छ्यते । स जगत्त्रयं निर्मिमाणस्तक्षादिवत् साक्षाद् देहव्यापारेण निर्मिमीते, यदि वा सङ्कल्पमात्रेण ? आद्ये पक्षे एकस्यैव भूभूधरादेर्विधानेऽक्षोदीयसः कालक्षेपस्य सम्भवाद् बंहीयसाप्यनेहसा न परिसमाप्तिः । द्वितीयपक्षे तु सङ्कल्पमात्रेणैव कार्यकल्पनायां नियतदेशस्थायित्वेऽपि न किञ्चिद् दूषणमुत्पश्यामः । नियतदेशस्थायिनां सामान्यदेवानामपि सङ्कल्पमात्रेणैव तत्तत्कार्यसम्पादनप्रतिपत्तेः ॥

तथा ईश्वरको शरीरकी अपेक्षा सर्वव्यापक माननेमें वादीने जो हेतु दिया है, कि यदि ईश्वरको नियतस्थानवर्ती माना जाय, तो तीनों लोकोंमें अनियत स्थानोंके पदार्थोंकी यथावत् उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, सो यहांपर प्रश्न होता है, कि ईश्वर बढईकी तरह साक्षात् शरीरकी मददसे जगतको बनाता है, अथवा संकल्पमात्रसे ? पहला पक्ष स्वीकार करनेमें पृथिवी, पर्वत आदिके निर्माण करनेमें बहुत समय लगेगा, इस लिये बहुत समय तक भी तीनों लोकोंकी रचना न हो सकेगी। यदि कहो, ईश्वर संकल्पमात्रसे ही सृष्टिको बनाता है, तो यदि एक स्थानमें रहकर भी ईश्वर जगतको बनावे, तो उसमें भी कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि नियत देशमें रहनेवाले सामान्यदेव भी संकल्पमात्रसे ही अमुक कार्योंका सम्पादन करते हैं।

---

[१] शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां सप्तदशेऽध्याये १९ मन्त्रे ।

किञ्च, तस्य सर्वगतत्वेऽङ्गीक्रियमाणे अशुचिषु निरन्तरसन्तमसेषु नरकादिस्थानेष्वपि तस्य वृत्तिः प्रसज्यते। तथा चानिष्टापत्तिः। अथ युष्मत्पक्षेऽपि यदा ज्ञानात्मना सर्वं जगत्त्रयं व्याप्नोतीत्युच्यते तदाशुचिरसास्वादादीनामप्युपालम्भसंभावनात् नरकादिदुःखस्वरूपसंवेदनात्मकतया दुःखानुभवप्रसङ्गाच्च अनिष्टापत्तिस्तुल्यैवेति चेत्, तदेतदुपपत्तिभिः प्रतिकर्तुमशक्तस्य धूलिभिरिवावकरणम्। यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्थानस्थमेव विषयं परिच्छिनत्ति, न पुनस्तत्र गत्वा, तत्कुतो भवदुपालम्भः समीचीनः। नहि भवतोऽप्यशुचिज्ञानमात्रेण तद्रसास्वादानुभूतिः। तद्भावे हि स्रक्चन्दनाङ्गनारसवत्यादिचिन्तनमात्रेणैव तृप्तिसिद्धौ तत्प्राप्तिप्रयत्नवैफल्यप्रसक्तिरिति ॥

तथा ईश्वरको शरीरकी अपेक्षा सर्वव्यापी माननेसे वह ईश्वर अशुचि पदार्थोंमें और निरन्तर महाअंधकारसे व्याप्त नरक आदि में भी रहा कहेगा और यह मानना आप लोगों को इष्ट नहीं है। ईश्वरवादी—ज्ञान की अपेक्षा जिनभगवान को जगत्रय में व्यापी माननेसे आपलोगोंके भगवान को भी अशुचि पदार्थोंके रसास्वादनका ज्ञान होता है तथा नरक आदि दुखोंके स्वरूपका ज्ञान होनेसे दुखका भी अनुभव होता है, इस लिये अनिष्टापत्ति दोनोंको समान है। जैन—यह कहना असमर्थ होकर धूल फेंकनेके समान है। क्योंकि हम ज्ञानको अप्राप्यकारी मानते हैं, अर्थात् ज्ञान आत्मा में स्थित होकर ही पदार्थोंको जानता है, ज्ञेय पदार्थोंके पास जाकर नहीं। इस लिये वादीका दिया हुआ दूषण ठीक नहीं है। तथा दूसरी बात यह भी है, कि केवल अशुचि पदार्थके ज्ञानसे ही भगवानके रसास्वादनकी अनुभूति नहीं होती है। यदि ऐसा होने लगे, तो माला, चन्दन, स्त्री, जलेबी आदि पदार्थोंके चिन्तन मात्रसे ही तृप्ति हो जानी चाहिये, और इस लिये माला, चन्दन आदिके लिये प्रयत्न करना भी निष्फल हुआ कहेगा।

यत्तु ज्ञानात्मना सर्वगतत्वे सिद्धसाधनं प्रागुक्तम् तच्छक्तिमात्रमपेक्ष्य मन्तव्यम्। तथा च वक्तारो भवन्ति। अस्य मतिःसर्वशास्त्रेषु प्रसरति इति। न च ज्ञानं प्राप्यकारि; तस्यात्मधर्मत्वेन बहिर्निर्गमाभावात्। बहिर्निर्गमे चात्मनोऽचैतन्यापत्त्या अजीवत्वप्रसङ्गः न हि धर्मो धर्मिणमतिरिच्य क्वचन केवलो विलोकितः। यच्च परे दृष्टान्तयन्ति यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्याद् निष्क्रम्य भुवनं भासयन्ति, एवं ज्ञानमप्यात्मनः सकाशाद् बहिर्निर्गत्य प्रमेयं परिच्छिनत्तीति। तत्रेदमुत्तरम्। किरणानां गुणत्वमसिद्धम्; तेषां तैजसपुद्गलमयत्वेन द्रव्यत्वात्। यश्च तेषां प्रकाशात्मा गुणः स तेभ्यो न जातु पृथग् भवतीति। तथा च धर्मसङ्ग्रहिण्यां श्रीहरिभद्राचार्यपादाः—

“ किरणा गुणा न दव्वं तेसिं पयासो गुणो न वा दव्वं ।
जं नाणं आयगुणो कहमदव्वो स अन्नत्थ ॥ १ ॥

गन्तूण न परिछिन्दइ नाणं णेयं तयम्मि देसम्मि ।
आयत्थं चिय नवरं अचिंतसत्ती उ विण्णेयं ॥ २ ॥
लोहोवलस्स सत्ती आयत्था चेव भिन्नदेसंपि ।
लोहं आगरिसंती दीसइ इह कज्जपच्चक्खा ॥ ३ ॥
एवमिह नाणसत्ती आयत्था चेव हंदि लोगंतं ।
जइ परिछिंदइ सम्मं को णु विरोहो भवे तत्थं " ॥ ४ ॥
इत्यादि ॥

तथा हमने जो ज्ञानकी अपेक्षा ईश्वरको सर्वव्यापी माना है, वह ईश्वरके ज्ञानमें सब पदार्थोंके जाननेकी शक्तिकी अपेक्षासे है । जैसे किसी मनुष्यकी बुद्धिकी शक्तिको देखकर लोग कहते हैं, कि इसकी बुद्धि सब शास्त्रों में चलती है, उसी तरह यहाँ भी हमने ईश्वरके ज्ञानकी शक्तिको देखकर ईश्वरको ज्ञानकी अपेक्षा सर्वव्यापक कहा है । तथा ज्ञान प्राप्यकारी नहीं है, क्योंकि वह आत्माका धर्म है, इस लिये ज्ञान आत्मासे बाहर निकल कर नहीं जा सकता । यदि ज्ञान आत्माके बाहर निकल कर जाने लगे, तो आत्मा अचेतन हो जाय । लेकिन यह संभव नहीं । क्योंकि धर्मीको छोड़कर केवल धर्म कहीं भी नहीं रहता । तथा वैशेषिक लोगोंने जो सूर्यका दृष्टांत दिया है, कि जैसे सूर्यकी किरणें गुणरूप होकर भी सूर्यसे बाहर जाकर संसारको प्रकाशित करती हैं, उसी तरह ज्ञान आत्माका गुण होकर भी आत्मासे बाहर जाकर प्रमेय पदार्थको जानता है, यह भी ठीक नहीं । क्योंकि किरणोंका गुणत्व ही असिद्ध है, कारण कि किरणें तैजसपुद्गलरूप हैं, इस लिये वे द्रव्य हैं । तथा किरणोंका प्रकाशात्मक गुण कभी किरणोंसे अलग नहीं होता । हरिभद्राचार्यने धर्मसंहिग्रणीमें भी कहा है—" किरणें द्रव्य हैं, गुण नहीं हैं । किरणोंका प्रकाश गुण है । यह प्रकाशरूप गुण द्रव्यको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता । इसी तरह ज्ञान आत्माका गुण है, वह आत्माको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाता । जिस देशमें ज्ञेय पदार्थ स्थित है उस प्रदेशमें ज्ञान जाकर ज्ञेयको नहीं जानता, किन्तु आत्मामें रहते हुए ही दूर देशमें स्थित ज्ञेयको जानता है । आत्माके ज्ञानमें

---

[१] किरणा गुणा न द्रव्यं तेषां प्रकाशो गुणो न वा द्रव्यं ।
यज्ज्ञानमात्मगुणः कथमद्रव्यः सः अन्यत्र ॥
गत्वा न परिच्छिनत्ति ज्ञानं ज्ञेयं तस्मिन्देशे ।
आत्मस्थमेव नवरं अचिन्त्यशक्त्या तु विज्ञेयम् ॥
लोहोपलस्य शक्तिः आत्मस्थैव भिन्नदेशमपि ।
लोहमाकर्षंती दृश्यत इह कार्यप्रत्यक्षा ॥
एवमिह ज्ञानशक्तिः आत्मस्थैव हन्त लोकान्तम् ।
यदि परिच्छिनत्ति सर्वं को नु विरोधो भवेत्तत्र ॥

अचिंत्य शक्ति है। जिस प्रकार चुम्बक पत्थरकी शक्ति चुम्बकमें ही रहकर दूर रक्खे हुए लोहेको अपनी ओर खेंचती है, इसी प्रकार ज्ञानशक्ति आत्मामें ही रहकर लोकके अंततक रहनेवाले सब पदार्थोंको जानती है, इसमें कोई विरोध नहीं है।" इत्यादि।

अथ सर्वगः सर्वज्ञ इति व्याख्यातम्। तत्रापि प्रतिविधीयते। ननु तस्य सार्वज्ञ्यं केन प्रमाणेन गृहीतम्। प्रत्यक्षेण, परोक्षेण वा? न तावत् प्रत्यक्षेण, तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नतयातीन्द्रियग्रहणासामर्थ्यात्। नापि परोक्षेण। तद्धि अनुमानं, शाब्दं वा स्यात्। न तावदनुमानम्, तस्य लिङ्गिलिङ्गसम्बन्धस्मरणपूर्वकत्वात्। न च तस्य सर्वज्ञत्वेऽनुमेये किञ्चिदव्यभिचारी लिङ्गं पश्यामः। तस्यात्यन्तविप्रकृष्टत्वेन तत्प्रतिबद्ध लिङ्गसम्बन्धग्रहणाभावात्॥

सर्वज्ञत्व—वैशेषिकोंके ईश्वरका सर्वज्ञत्व प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता। प्रत्यक्ष प्रमाणसे ईश्वरका सर्वज्ञत्व इस लिये सिद्ध नहीं हो सकता, कि प्रत्यक्ष इंद्रिय और मनके संयोगसे उत्पन्न होता है, इस लिये वह अतीन्द्रिय ज्ञानको नहीं जान सकता। परोक्ष ज्ञानसे भी ईश्वरके सर्वज्ञत्वकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि वह परोक्ष ज्ञान अनुमान से सर्वज्ञत्वको जानता है, अथवा शब्दसे? अनुमानसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि लिंगी और लिंग (साध्य और हेतु) दोनोंके संबंधके स्मरणपूर्वक ही अनुमान होता है। जैसे 'पर्वत अग्निवाला है, धूमवान होनेसे' यहाँ पहले धूमरूप लिंगका ग्रहण होता है और फिर अग्निरूप लिंगीके साथ लिंगके संबंधका स्मरण होता है। इसी तरह 'ईश्वर सर्वज्ञ है' इस अनुमानमें किसी लिंगका ग्रहण और उस लिंगका सर्वज्ञत्वरूप लिंगीके साथ संबंधका स्मरण होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। इस लिये अनुमानसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वका ज्ञान नहीं हो सकता। तथा ईश्वरके सर्वज्ञत्वरूप अनुमेयमें हम कोई भी अव्यभिचारी लिंग नहीं देखते, क्योंकि वह ईश्वर अत्यन्त दूर है, इस लिये ईश्वरसे संबद्ध लिंगका सर्वज्ञत्वरूप लिंगीके साथ संबंधका स्मरण नहीं होसकता।

अथ तस्य सर्वज्ञत्वं विना जगद्वैचित्र्यमनुपपद्यमानं सर्वज्ञत्वमर्थादापादयतीति चेत्। न। अविनाभावाभावात्। न हि जगद्वैचित्री तत्सार्वज्ञ्यं विनान्यथा नोपपन्ना। द्विविधं हि जगत् स्थावरजङ्गमभेदात्। तत्र जङ्गमानां वैचित्र्यं स्वोपात्तशुभाशुभकर्मपरिपाकवशेनैव। स्थावराणां तु सचेतनानामियमेव गतिः। अचेतनानां तु तदुपभोगयोग्यतासाधनत्वेनानादिकालसिद्धमेव वैचित्र्यमिति॥

यदि वादी लोग कहें, कि ईश्वरके सर्वज्ञत्वके विना जगतकी विचित्रता नहीं बन सकती, इस कारण अर्थापत्तिसे ईश्वरके सर्वज्ञत्वकी सिद्धि होती है, यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि जगतकी विचित्रता और सर्वज्ञताकी व्याप्तिका अभाव है। क्योंकि जंगम

(त्रस) और सचेतन स्थावर जीवोंकी विचित्रता स्वयं उपार्जित शुभ और अशुभ कर्मोंके उदयसे ही होती है। तथा अचेतन स्थावरोंके द्वारा जंगम और सचेतन स्थावरोंको कर्मफल भोगना पड़ता है, इस लिये इनकी विचित्रता अनादिकालसे सिद्ध ही है।

नाप्यागमस्तत्साधकः। स हि तत्कृतोऽन्यकृतो वा स्यात्? तत्कृत एव चेत् तस्य सर्वज्ञतां साधयति तदा तस्य महत्त्वक्षतिः। स्वयमेव स्वगुणोत्कीर्तनस्य महतामनधिकृतत्वात्। अन्यच्च, तस्य शास्त्रकर्तृत्वमेव न युज्यते। शास्त्रं हि वर्णात्मकम्। ते च ताल्वादिव्यापारजन्याः। स च शरीरे एव सम्भवी। शरीराभ्युपगमे च तस्य पूर्वोक्ता एव दोषाः। अन्यकृतश्चेत् सोऽन्यः सर्वज्ञोऽसर्वज्ञो वा? सर्वज्ञत्वे तस्य द्वैतापत्त्या प्रागुक्ततदेकत्वाभ्युपगमबाधः तत्साधकप्रमाणचर्यायामनवस्थापातश्च। असर्वज्ञश्चेत् कस्तस्य वचसि विश्वासः॥

आगमसे भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि ईश्वरको सिद्ध करनेवाला आगम ईश्वरका बनाया हुआ है, या किसी दूसरेका? यदि वह आगम ईश्वरप्रणीत होकर ही ईश्वरकी सिद्धि करता है, तो ईश्वरकी महान क्षति होगी। क्योंकि महात्मा लोग स्वयं ही अपने गुणोंकी प्रशंसा नहीं करते हैं। तथा, ईश्वर शास्त्रका कर्ता ही सिद्ध नहीं होता। क्योंकि शास्त्र अक्षररूप होता है, तथा अक्षर तालु आदिसे उत्पन्न होते हैं। यह तालु आदिका व्यापार शरीरी पुरुषके ही संभव है। यदि ईश्वरको शरीरी मानोगे, तो ईश्वरमें पूर्वोक्त दोष मानने पड़ेंगे। यदि आप कहें, कि ईश्वरको सिद्ध करनेवाला आगम दूसरेका बनाया हुआ है, तो वह दूसरा पुरुष सर्वज्ञ है, या असर्वज्ञ? यदि वह सर्वज्ञ है, तो ईश्वरके द्वैतका प्रसंग होनेसे आपने जो पहले ईश्वरको एक माना है, उसमें बाधा उपस्थित होगी। तथा अन्य पुरुषको सर्वज्ञ माननेपर बहुतसे पुरुषोंके सर्वज्ञ स्वीकार करनेमें अनवस्था दोष आवेगा। तथा यदि आगमका प्रणेता अन्य पुरुष असर्वज्ञ है, तो उसके वचनोंमें विश्वास कौन करेगा?

अपरं च भवदभीष्ट आगमः प्रत्युत तत्प्रणेतुरसर्वज्ञत्वमेव साधयति। पूर्वापरविरुद्धार्थवचनोपेतत्वात्। तथाहि "न[1] हिंस्यात् सर्वभूतानि" इति प्रथममुक्त्वा, पश्चात् तत्रैव पठितम्—

"षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः"॥

तथा "अग्नी[2]षोमीयं पशुमालभेत", "सप्तद[3]श प्राजापत्यान् पशूनालभेत"

---

१ छान्दोग्य उ. ८ अ. । २ ऐतरेय ६–३ । ३ तैत्तरीयसंहिता १–४

इत्यादि वचनानि कथमिव न पूर्वापरविरोधमनुरुध्यन्ते। तथा “नानृतं ब्रूयात्” इत्यादिना अनृतभाषणं प्रथमं निषिध्य, पश्चात् “ब्राह्मणार्थे[1]ऽनृतं ब्रूयात्” इत्यादि। तथा—

“न नर्म[2]युक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि”॥

तथा “परद्रव्याणि लोष्ठवत्” इत्यादिना अदत्तादानमनेकधा निरस्य, पश्चादुक्तम् “यद्य[3]पि ब्राह्मणो हठेन परकीयमादत्ते छलेन वा तथापि तस्य नादत्तादानम्। यतः सर्वमिदं ब्राह्मणेभ्यो दत्तम् ब्राह्मणानां तु दौर्बल्याद् वृषलाः परिभुञ्जते। तस्मादपहरन् ब्राह्मणः स्वमादत्ते स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति” इति। तथा “अपु[4]त्रस्य गतिर्नास्ति” इति लपित्वा,

“अनेका[5]नि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्”॥

इत्यादि। कियन्तो वा दधिमाषभोजनात् कृपणा विवेच्यन्ते। तदेवमागमोऽपि न तस्य सर्वज्ञतां वक्ति। किञ्च, सर्वज्ञः सन्नसौ चराचरं चेद् विरचयति, तदा जगदुपप्लवकरणवैरिणः पश्चादपि कर्तव्यनिग्रहान् सुरवैरिणः एतदधिक्षेपकारिणश्चास्मदादीन् किमर्थं सृजति इति, तन्नायं सर्वज्ञः॥

इसके अतिरिक्त, आप लोगोंका आगम अपने प्रणेताको असर्वज्ञ ही सिद्ध करता है। क्योंकि वह आगम पूर्वापरविरुद्ध है। जैसे “किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनी चाहिये” यह कहकर, पीछेसे “अश्वमेध यज्ञके मध्यम दिनमें ५९७ पशुओंका वध किया जाता है,” तथा “अग्नीषोम संबंधी पशुका वध करना चाहिये,” “सतरह प्रजापति संबंधी पशुओंको मारना चाहिये” आदि वचनोंका कथन करना शास्त्रोंके पूर्वापरविरोधको सिद्ध करता है। तथा “असत्य नहीं बोलना चाहिये” आदि वचनोंसे असत्यका निषेध करके, पीछेसे “ब्राह्मणके लिये असत्य बोलनेमें दोष नहीं है,” तथा “हास्यमें, स्त्रियोंके साथ संभोगके समय, विवाहके अवसरपर, प्राणोंका नाश होनेपर और सर्व धनके हरण होनेके समय असत्य बोलना पाप नहीं है” आदि वचनोंका कथन करना; तथा “दूसरेकी सम्पत्ति मिट्टीके ढ़ेलेके समान है” आदि वचनोंसे चोरीका निषेध करके, “यदि कोई ब्राह्मण हठसे या छलसे दूसरेके द्रव्यको हरण करता है, तो भी उसे चोरीका दोष नहीं लगता, क्योंकि जगतकी सर्व संपत्ति ब्राह्मणोंको ही दी गई है,

---

[1] आपस्तंभसूत्रे।

[2] “उद्वाहकाले रतिसम्प्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे।
विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेयुः पञ्चानृतान्याहुरपातकानि॥ वसिष्ठधर्मसूत्रे १६–३६।

[3] मनुस्मृतौ; १–१०१ इत्यत्राल्पांशेनैतत्समम्। [4] देवीभागवते। [5] आपस्तंभसूत्रे।

ब्राह्मणोंकी दुर्बलतासे शूद्र लोग इस संपत्तिका उपभोग करते हैं। इस लिये यदि ब्राह्मण दूसरेके धनको छीनता है, तो भी वह अपने ही धनको लेता है, अपने ही का उपभोग करता है, अपना ही पहरता है और अपना ही देता है" आदि वाक्योंका उल्लेख करना; तथा "पुत्ररहितकी गति नहीं होती" कहकर, "कुमार ब्रह्मचारी ब्राह्मण अपने कुलकी संततिको उत्पन्न न करके स्वर्ग गये हैं" आदि वाक्योंको कहना आगमके पूर्वापरविरोधको स्पष्टरूपसे प्रगट करता है। इस लिये आगमसे भी ईश्वरकी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती। तथा, यदि सर्वज्ञ ईश्वर इस स्थावर-जंगमरूप जगतको बनाता है, तो वह जगतमें उपद्रव करनेवाले दुष्टों और दानवोंको, तथा ईश्वरपर आक्षेप करनेवाले हम जैसे लोगोंको क्यों बनाता है? इससे मालूम होता है, कि वह ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है।

तथा स्ववशत्वं—स्वातन्त्र्यं। तदपि तस्य न क्षोदक्षमम्। स हि यदि नाम स्वाधीनः सन् विश्वं विधत्ते, परमकारुणिकश्च त्वया वर्ण्यते, तत् कथं सुखितदुःखिताद्यवस्थाभेदवृन्दस्थपुटितं घटयति भुवनम् एकान्तशर्मसंपत्कान्तमेव तु किं न निर्मिमीते। अथ जन्मान्तरोपार्जिततत्तत्तदीयशुभाशुभकर्मप्रेरितः सन् तथा करोतीति दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय[1] जलाञ्जलिः॥

स्वतंत्र—तथा ईश्वर स्वतंत्र भी नहीं है। यदि ईश्वर स्वाधीन होकर जगतको रचता है, और वह परम दयालु है, तो वह सर्वथा सुख-सम्पदाओंसे परिपूर्ण जगतको न बनाकर सुख-दुखरूप जगतका क्यों सर्जन करता है? यदि कहो, कि जीवोंके जन्मान्तरमें उपार्जन किये हुए शुभ-अशुभ कर्मोंसे प्रेरित होकर ईश्वर जगतको बनाता है, तो इस तरह ईश्वरके स्वाधीनत्वका लोप ही हो जाता है।

कर्मजन्ये च त्रिभुवनवैचित्र्ये शिपिविष्ट[2]हेतुकविष्टप[3]सृष्टिकल्पनायाः कष्टैकफलत्वात् अस्मन्मतमेवाङ्गीकृतं प्रेक्षावता। तथा चायातोऽयं "घटकुट्यां[4] प्रभातम्" इति न्यायः। किञ्च, प्राणिनां धर्माधर्मावपेक्षमाणश्चेदयं सृजति, प्राप्तं तर्हि यदयमपेक्षते तन्न करोतीति। न हि कुलालो दण्डादि करोति। एवं कर्मापेक्षश्चेदीश्वरो जगत्कारणं स्यात् तर्हि कर्मणीश्वरत्वम्, ईश्वरोऽनीश्वरः स्यादिति॥

तथा संसारकी विचित्रताको कर्मजन्य स्वीकार करनेपर सृष्टिको ईश्वरजन्य मानना केवल कष्टरूप ही है। इससे अच्छा तो आप हमारा ही मत स्वीकार करलें। तथा हमारे

---

१ स्ववशत्वं नष्टमित्यर्थः। २ महेश्वरः ३ विश्वं ४ उद्देश्यासिद्धिर्यत्र प्रतीयते तत्रायं न्याय उपयुज्यते। न्यायार्थः—कश्चित् शाकटिको मध्ये मार्गे राजदेयं द्रव्यं दातुमनिच्छन्मार्गान्तरं समासादयति परं रात्रौ भ्रष्टमार्गः प्रभाते राजग्राह्यद्रव्यग्राहिकुटीसविधावेवागच्छति। तेन तदुद्देश्यं न सिध्यतीति।

मतको स्वीकार करनेपर आपको "घटकुट्यांप्रभातम्" न्यायका प्रसंग होगा। अर्थात् जैसे कोई मनुष्य महसूली समानका महसूल न देनेके विचारसे रास्तेमें आनेवाले महसूल देनेके मुकामको छोड़कर किसी दूसरे रास्तेसे शहरके भीतर जानेके लिये रातभर इधर उधर फिर फिराकर प्रातःकाल उसी महसूल देनेके मुकामपर जा पहुँचता है (घटकुट्यां प्रभातम्), उसी प्रकार आप लोगोंने ईश्वरको जगतका नियन्ता सिद्ध करनेमें बहुत कुछ प्रयत्न किया, पर आखिरमें हमारा ही मत स्वीकार करना पड़ा। तथा, ईश्वर जीवोंके पुण्य-पापकी सहायतासे जगतको बनाता है, इससे सिद्ध होता है, कि वह पुण्य-पाप को नहीं बनाता। जैसे कुम्हार घटके बनानेमें दण्डकी सहायता लेता है, इस लिये वह दण्डको नहीं बनाता, उसी तरह यदि ईश्वर जगतके बनानेमें जीवोंके पुण्य-पापकी अपेक्षा रखता है, तो वह पुण्य-पापको नहीं बनाता है, इस लिये यदि ईश्वर जगतके बनानेमें कर्मोंकी अपेक्षा रखता है, तो वह कर्मोंके बनाने वाला नहीं कहा जा सकता, इस लिये ईश्वर अनीश्वर (असमर्थ) है, स्वतंत्र नहीं।

तथा नित्यत्वमपि तस्य स्वगृह एव प्रणिगद्यमानं हृद्यम्। स खलु नित्यत्वेनैकरूपः सन्, त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽतत्स्वभावो वा? प्रथमविधायां जगन्निर्माणात् कदाचिदपि नोपरमेत। तदुपरमे तत्स्वभावत्वहानिः। एवं च सर्गक्रियाया अपर्यवसानाद् एकस्यापि कार्यस्य न सृष्टिः। घटो हि स्वारम्भक्षणादारभ्य परिसमाप्तेरुपान्त्यक्षणं यावद् निश्चयनयाभिप्रायेण न घटव्यपदेशमासादयति। जलाहरणाद्यर्थक्रियायामसाधकतमत्वात्॥

नित्यत्व—तथा ईश्वर नित्य भी नहीं है। क्योंकि नित्य होनेसे एकरूपके धारक उस ईश्वरके त्रिभुवनकी रचना करनेका स्वभाव है, या विना स्वभावके भी वह त्रिभुवनका सर्जन करता है? यदि ईश्वरका त्रिभुवनकी रचना करनेका स्वभाव है, तो वह जगतके बनानेसे कभी भी विश्राम न लेगा। यदि विश्राम लेगा, तो ईश्वरके स्वभावकी हानि होगी। इस प्रकार जगतकी रचनाका कभी अन्त न होगा, अतएव एक भी कार्यकी रचना न हो सकेगी। क्योंकि वास्तवमें घटकी रचनाके आरंभ होनेके प्रथम क्षणसे लगाकर घटकी रचनाकी समाप्तिके अंतिम क्षण तक 'घट' व्यवहार नहीं होता। कारण कि जब तक घट बन कर तैयार न हो जाय, उस समय तक घटमें जल लाने आदिकी क्रिया नहीं हो सकती। भाव यह है, कि यदि ईश्वर नित्य है, तो उसका जगत बनानेका स्वभाव भी नित्य ही होना चाहिये। इस लिये उसे सदा जगतको बनाते ही रहना चाहिये। जगतके इस अविराम निर्माणसे एक भी कार्यकी रचना समाप्त न हो सकेगी। तथा जब तक किसी कार्यकी रचना समाप्त न हो, उस समय तक हम ईश्वरको स्रष्टा नहीं कह सकते।

अतत्स्वभावपक्षे तु न जातु जगन्ति सृजेत् तत्स्वभावायोगाद् गगनवत्। अपि च तस्यैकान्तनित्यस्वरूपत्वे सृष्टिवत् संहारोऽपि न घटते। नानारूपकार्यकरणेऽनित्यत्वापत्तेः। स हि येनैव स्वभावेन जगन्ति सृजेत् तेनैव तानि संहरेत्, स्वभावान्तरेण वा? तेनैव चेत् सृष्टिसंहारयोर्यौगपद्यप्रसङ्गः, स्वभावाभेदात्। एकस्वभावात् कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात्। स्वभावान्तरेण चेद् नित्यत्वहानिः। स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः। यथा पार्थिवशरीरस्याहारपरमाणुसहकृतस्य प्रत्यहमपूर्वापूर्वोत्पादेन स्वभावभेदादनित्यत्वम्। इष्टश्च भवतां सृष्टिसंहारयोः शम्भौ स्वभावभेदः। रजोगुणात्मकतया सृष्टौ, तमोगुणात्मकतया संहरणे, सात्त्विकतया च स्थितौ, तस्य व्यापारस्वीकारात्। एवं चावस्थाभेदः तद्भेदे चावस्थावतोऽपि भेदाद् नित्यत्वक्षतिः॥

यदि ईश्वरका जगतके रचनेका स्वभाव नहीं है, तो ईश्वर कभी भी जगतको नहीं बना सकता। जैसे आकाशका स्वभाव जगतको बनानेका नहीं है, वैसे ही ईश्वरका स्वभाव भी जगतको बनानेका न रहेगा। तथा, ईश्वरको एकान्त नित्य माननेपर सृष्टिकी तरह संहार भी न बन सकेगा। क्योंकि यदि ईश्वर सृष्टि, संहार आदि अनेक कार्योंको करेगा, तो वह अनित्य हो जायगा। तथा, जिस स्वभावसे ईश्वर सृष्टिकी रचना करता है, उसी स्वभावसे वह सृष्टिका संहार करता है, अथवा दूसरे स्वभावसे? यदि ईश्वर उसी स्वभावसे संहार करता है, तो सृष्टि और संहार एक हो जावेंगे, क्योंकि दोनोंमें स्वभावका अभेद है। एक स्वभावरूप कारणसे अनेक स्वभावरूप, कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि कहो, कि जिस स्वभावसे ईश्वर सृष्टिको बनाता है, उस स्वभावके अतिरिक्त दूसरे स्वभावसे वह संहार करता है, तो यह माननेमें ईश्वर नित्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्वभावका भेद होना ही अनित्यताका लक्षण है। जिस प्रकार आहारके परमाणुओंसे युक्त पार्थिव शरीरमें प्रतिदिन नवीन नवीन उत्पत्ति होनेके कारण स्वभाव भेद होता है, इस लिये पार्थिव शरीर अनित्य है, उसी तरह ईश्वरके स्वभावका भेद माननेपर ईश्वर भी अनित्य होगा। परन्तु आप लोग जगतकी सृष्टि और संहारमें ईश्वरके स्वभाव-भेदको स्वीकार करते हैं। क्योंकि आप लोगोंके अनुसार ईश्वर सृष्टिमें रजोगुणरूप, संहारमें तमोगुणरूप, और स्थितिमें सत्त्वगुणरूप प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार अनेक अवस्थाओंके भेद होनेसे ईश्वर नित्य नहीं कहा जा सकता।

अथास्तु नित्यः, तथापि कथं सततमेव सृष्टौ न चेष्टते। इच्छावशात् चेत्, ननु ता अपीच्छाः स्वसत्तामात्रनिबन्धनात्मलाभाः सदैव किं न प्रवर्तयन्तीति स एवोपालम्भः। तथा शम्भोरष्टगुणाधिकरणत्वे, कार्यभेदानुमेयानां तदिच्छानामपि विषमरूपत्वाद् नित्यत्वहानिः केन वार्यते॥

---

१ बुद्धीच्छाप्रयत्नसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाख्या अष्टौ गुणाः।

यदि ईश्वरको नित्य मान भी लिया जाय, तो वह जगतके बनानेमें सदा ही प्रयत्नवान क्यों नहीं रहता? यदि कहो, कि जब ईश्वरकी इच्छा होती है, उस समय वह जगतको बनाता है, तो यदि ईश्वरकी इच्छा ईश्वरके ही आधीन रहती है, तो वह सदा ही ईश्वरको जगतके बनानेमें क्यों नहीं लगाती। इस प्रकार यहाँ भी ईश्वरको अविरामरूपसे जगतको बनाते रहनेका पूर्वोक्त दोष आता है। तथा आप लोग ईश्वरमें बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग और विभाग नामके आठ गुणोंको स्वीकार करते हैं। परन्तु कार्यभेदसे अनुमेय ईश्वरकी इच्छाओंके विषमरूप होनेसे ईश्वरके नित्यत्वकी हानिको कौन दूर कर सकता है? अर्थात् यदि ईश्वर नित्य है, तो उसकी इच्छायें भी सदा समान ही रहनी चाहिये। परंतु संसारके नाना कार्योंको देखकर अनुमान होता है, कि ईश्वरकी इच्छायें भी नाना प्रकारकी (विषम) हैं, और ईश्वरकी इच्छाओंके विषम होनेसे ईश्वरको भी अनित्य मानना चाहिये।

किञ्च, प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्वार्थकरुणाभ्यां व्याप्ता। ततश्चायं जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात्, कारुण्याद् वा? न तावत् स्वार्थात् तस्य कृतकृत्यत्वात्। न च कारुण्यात्, परदुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यम्। ततः प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम्। सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयम् कारुण्येन सृष्टिः सृष्टया च कारुण्यम्। इति नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्ध्यति॥

तथा बुद्धिमान पुरुषोंकी प्रवृत्ति स्वार्थ (किसी प्रयोजनसे) अथवा करुणाबुद्धिपूर्वक ही होती है। लेकिन स्वार्थसे ईश्वर की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह कृतकृत्य है। यह प्रवृत्ति करुणासे भी संभव नहीं, क्योंकि दूसरेके दुखोंको दूर करनेकी इच्छाको करुणा कहते हैं। परन्तु ईश्वरके सृष्टि रचनेसे पहले जीवोंके इन्द्रिय, शरीर और विषयोंका अभाव था, इस लिये जीवोंके दुख भी नहीं था, फिर किस दुखको दूर करनेकी इच्छासे ईश्वरके करुणाका भाव उत्पन्न हुआ? यदि कहो, कि सृष्टिके बाद दुखी जीवोंको देखकर ईश्वरके करुणाका भाव उत्पन्न होता है, तो इतरेतराश्रय नामका दोष आता है। क्योंकि करुणासे जगतकी रचना हुई, और जगतकी रचनासे करुणा हुई। इस प्रकार ईश्वरके किसी भी तरह जगतका कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

तदेवमेवंविधदोषकलुषिते पुरुषविशेषे यस्तेषां सेवाहेवाकः स खलु केवलं बलवन्मोहविडम्बनापरिपाक इति। अत्र च यद्यपि मध्यवर्तिनो नकारस्य "घण्टालालान्यायेन" योजनादर्थान्तरमपि स्फुरति यथा इमाः कुहेवाकविडम्बनास्तेषां न

---

[१] मध्यमणिन्यायः, देहलीदीपकन्यायस्तद्वदेवायं घण्टालालान्याय उपयुज्यते।

स्युर्येषां त्वमनुशासकः इति तथापि सोऽर्थः सहृदयैर्न हृदये धारणीयः, अन्ययोगव्यवच्छेदस्याधिकृतत्वात् ॥ इति काव्यार्थः ॥ ६ ॥

इस प्रकार अनेक दोषोंसे दूषित पुरुषविशेष ईश्वरको जगतके कर्ता माननेका आग्रह केवल बलवान मोहकी विडम्बनाका फल है। 'इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्', यहां मध्यवर्ती नकारका 'घण्टालालान्याय' से (मध्यमणिन्याय अथवा देहलीदीपकन्याय या घण्टालालान्याय एक ही हैं। जैसे एक ही मणि, अथवा दीपक घरकी देहली पर रखनेसे दोनों ओरकी वस्तुओंको प्रकाशित करते हैं, अथवा एक ही घंटा अपनी दोनों तरफ बजता है, उसी तरह यहाँ भी एक ही 'नकार' का दो तरहसे अन्वय होता है)। इस श्लोकका दूसरा अर्थ भी निकलता है, कि जिनके आप अनुशासक हैं, उनके कदाग्रहरूप विडम्बनायें नहीं हैं। परन्तु यह अर्थ विद्वानोंको नहीं लेना चाहिये, क्योंकि यहाँ स्तुतिकारने अन्ययोगव्यवच्छेदका अवलम्बन लिया है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिकोंके ईश्वरके स्वरूपका खंडन किया गया है। वैशेषिकोंके अनुसार ईश्वर (१) जगतका कर्ता है, (२) एक है, (३) सर्वव्यापी है, (४) स्वतंत्र है, और (५) नित्य है।

वैशेषिक—(१) 'पृथिवी, पर्वत आदि किसी बुद्धिमान कर्ताके बनाये हुए हैं, क्योंकि ये कार्य हैं, जो जो कार्य होता है, वह किसी बुद्धिमान कर्ताका बनाया हुआ देखा जाता है, जैसे घर। पृथिवी, पर्वत आदि भी कार्य हैं, इस लिये ये भी किसी कर्ताके बनाये हुए हैं। जो किसी कर्ताका बनाया हुआ नहीं होता, वह कार्य भी नहीं होता, जैसे आकाश'। **जैन**—(क) उक्त अनुमान प्रत्यक्षसे बाधित है, क्योंकि हमें पृथिवी, पर्वत आदिका कोई कर्ता दृष्टिगोचर नहीं होता। (ख) घटका दृष्टांत विषम है। क्योंकि घटादि कार्य सशरीर कर्ताके ही बनाये हुए देखे जाते हैं, तथा ईश्वरको अशरीर कर्ता माना गया है। तथा ईश्वरको सशरीर माननेमें इतरेतराश्रय आदि अनेक दोष आते हैं।

वैशेषिक—(२) ईश्वर एक है, क्योंकि अनेक ईश्वर होनेसे जगतमें एकरूपता और क्रम नहीं रह सकता। **जैन**—उक्त मान्यता एकान्तरूपसे सत्य नहीं है। क्योंकि शहदके छत्ते आदि पदार्थोंको अनेक मधुमक्षियाँ तैय्यार करती हैं, फिर भी छत्तेमें क्रम और एकरूपता देखी जाती है।

वैशेषिक—(३) ईश्वर सर्वव्यापी और सर्वज्ञ है। **जैन**—ईश्वर सर्वव्यापी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके सर्वव्यापी होनेसे प्रमेय पदार्थोंके लिये कोई स्थान न रहेगा। ईश्वरका सर्वज्ञत्व भी किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि स्वयं

सर्वज्ञत्व प्राप्त किये विना हम प्रत्यक्षसे ईश्वरका साक्षात् ज्ञान नहीं कर सकते। अनुमानसे भी हम ईश्वरको नहीं जान सकते, क्योंकि वह बहुत दूर है, इस लिये सर्वज्ञत्वसे संबद्ध किसी हेतुसे उसका ग्रहण नहीं हो सकता। 'सर्वज्ञत्वके विना जगतकी विचित्र रचना नहीं होसकती' इस अर्थापत्ति प्रमाणसे भी सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जगतकी विचित्रताकी व्याप्ति सर्वज्ञत्वके साथ नहीं है। आगम प्रमाणसे भी हम सर्वज्ञको नहीं जानसकते, क्योंकि वेद आदि आगम पूर्वापरविरोध आदि दोषोंसे युक्त हैं, इस लिये आगम विश्वनीय नहीं है।

वैशेषिक—(४) ईश्वर स्वतंत्र है। **जैन**—यदि ईश्वर स्वतंत्र है, तो वह दुःखोंसे परिपूर्ण विश्वकी क्यों रचना करता है, अन्यथा ईश्वरको क्रूर और निर्दय मानना चाहिये। यदि कहा जाय, कि प्राणियोंके अदृष्टबलसे ही ईश्वर जीवोंको सुख-दुःख देता है, तो फिर कर्म-प्रधान ही सृष्टि माननी चाहिये, ईश्वरको कर्ता माननेकी आवश्यकता नहीं।

वैशेषिक—(५) ईश्वर नित्य है। **जैन**—सर्वथा नित्य ईश्वर सतत क्रियाशील है, अथवा अक्रियाशील। ईश्वरको सततक्रियाशील माननेपर कोई कार्य कभी समाप्त ही नहीं हो सकेगा। तथा अक्रियाशील माननेपर ईश्वर जगतका निर्माण नहीं कर सकता।

अथ चैतन्यादयो रूपादयश्च धर्मा आत्मादेर्घटादेश्च धर्मिणोऽत्यन्तं व्यतिरिक्ता अपि समवायसंम्बन्धेन संबद्धाः सन्तो धर्मधर्मिव्यपदेशमश्नुवते तन्मतं दूषयन्नाह—

'चैतन्य तथा रूप आदि धर्म आत्मा तथा घट आदि धर्मियोंसे सर्वथा भिन्न हैं, तथा धर्म–धर्मीका संबंध समवाय संबंधसे होता है,' वैशेषिकोंकी इस मान्यताको सदोष सिद्ध करते हैं—

न धर्मधर्मित्वमतीवभेदे वृत्त्यास्ति चेन्न त्रितयं चकास्ति।
इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्तौ न गौणभेदोऽपि च लोकबाधः ॥७॥

श्लोकार्थ—धर्म और धर्मीके सर्वथा भिन्न माननेपर धर्म-धर्मीका संबंध नहीं बन सकता। यदि कहो, कि समवाय संबंधसे परस्पर भिन्न धर्म और धर्मीका संबंध होता है,

---

१ उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठतीति समयात् गुणानां गुणिनो व्यतिरिक्तत्वम्।

२ 'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः संबन्ध इहप्रत्ययेहतुः स समवायः' इति प्रशस्तपादभाष्ये समवायप्रकरणे।

तो यह ठीक नहीं । क्योंकि जिस तरह हमें धर्म और धर्मीका ज्ञान होता है, वैसे समवायका ज्ञान नहीं होता । यदि कहो, कि 'तन्तुओंमें यह पट है' इस प्रत्ययसे धर्म-धर्मीमें समवायका ज्ञान होता है, तो हम कहते हैं, कि यह प्रत्यय स्वयं समवायमें भी होता है । इस लिये एक समवायमें दूसरा, दूसरेमें तीसरा, इस प्रकार एक समवायमें अनन्त समवाय माननेसे अनवस्था दोष आवेगा । यदि कहो, कि एक समवायको मुख्य मानकर समवायमें समवायत्वको गौणरूपसे स्वीकार करेंगे, तो यह कल्पना मात्र है । तथा इसे माननेमें लोकविरोध भी है ।

धर्मधर्मिणोरतीवभेदे [अतीवेत्यत्र इवशब्दो वाक्यालंकारे तं च प्रायोऽतिशब्दात् किंवृत्तेश्च प्रयुञ्जते शाब्दिकाः यथा—"आवर्जिता[1] किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्" "उद्वृत्तः[2] क इह सुखावहः परेषाम्" इत्यादि] ततश्च धर्मधर्मिणोः अतीवभेदे—एकान्तभिन्नत्वेऽङ्गीक्रियमाणे, स्वभावहानेर्धर्मधर्मित्वं न स्यात् अस्य धर्मिण इमे धर्माः, एषां च धर्माणामयमाश्रयभूतो धर्मी इत्येवं सर्वप्रसिद्धो धर्मधर्मिव्यपदेशो न प्राप्नोति । तयोरत्यन्तभिन्नत्वेऽपि तत्कल्पनायां पदार्थान्तरधर्माणामपि विवक्षितधर्मधर्मित्वापत्तेः ॥

व्याख्यार्थ—'धर्मधर्मिणोरतीवभेदे'—[यहां अतीवमें 'इव' शब्द वाक्यके अलंकारमें प्रयुक्त हुआ है, इसका कोई अर्थ नहीं है । शाब्दिक लोग 'इव' शब्दका 'अति' और 'किम्' शब्दके साथ प्रयोग करते हैं। जैसे—"आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां" "उद्वृत्तःक इह सुखावहः परेषाम्"] । धर्म और धर्मीका एकांत भेद माननेपर धर्म-धर्मीका स्वरूप नहीं बनता, इस लिये इस धर्मीके ये धर्म हैं, और इन धर्मोंका आश्रय यह धर्मी है, इस प्रकारका व्यवहार नहीं हो सकता । धर्म-धर्मीको सर्वथा भिन्न मानकर भी यदि धर्म-धर्मी भावकी कल्पना की जायगी, तो एक पदार्थके धर्म दूसरे पदार्थके धर्म हो जाया करेंगे । वैशेषिक लोग द्रव्य (धर्मी) और गुण (धर्म) को सर्वथा भिन्न मानते हैं । वैशेषिकोंके अनुसार उत्पन्न होनेके प्रथम क्षणमें द्रव्य गुणोंसे रहित होता है । जैनदर्शनके अनुसार धर्म और धर्मीका एकान्त भेद संभव नहीं है, क्योंकि एकान्त भेद माननेमें एक पदार्थका धर्म दूसरे पदार्थका धर्म हो जाना चाहिये । जैसे अग्निका उष्णत्वधर्म अग्निसे और जलका शीतत्वधर्म जलसे सर्वथा भिन्न है, तो अग्निके उष्णत्वधर्मका जलके साथ और जलके शीतत्वधर्मका अग्निके साथ संबन्ध हो जाना चाहिये । क्योंकि धर्म और धर्मी सर्वथा भिन्न हैं ।

एवमुक्ते सति परः प्रत्यवतिष्ठते। वृत्त्यास्तीति—अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवायः । स च समवयनात् समवाय इति द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषेषु पञ्चसु पदार्थेषु वर्तनाद् वृत्तिरिति चाख्यायते । तया वृत्त्या समवाय-

---

[1] कुमारसम्भवमहाकाव्ये ३–५४ । [2] शिशुपालवधमहाकाव्ये ।

सम्बन्धेन, तयोर्धर्मधर्मिणोः इतरेतरविनिर्लुण्ठितत्वेऽपि धर्मधर्मिव्यपदेश इष्यते । इति नानन्तरोक्तो दोष इति ॥

वैशेषिक—हम वृत्ति (समवाय) से धर्म और धर्मीमें संबंध मानते हैं। अयुतसिद्ध (एक दूसरेके विना न रहनेवाले) आधार्य (पट) और आधार (तंतु) पदार्थोंका इहप्रत्यय हेतु (इन तंतुओंमें पट है) संबंध 'समवाय' है। समवायसे पदार्थोंमें संबंध होता है, इस लिये इसे समवाय कहते हैं। तथा यह समवाय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन पाँच पदार्थोंमें रहता है, इस लिये इसे वृत्ति भी कहते हैं । इस समवाय-संबंधसे सर्वथा भिन्न धर्म और धर्मीमें धर्म-धर्मीका व्यवहार होता है। यह समवाय अवयव अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, नित्यद्रव्य और विशेषमें रहता है।

अत्राचार्यः समाधत्ते। चेदिति। यद्येवं तव मतिः सा प्रत्यक्षप्रतिक्षिप्ता । यतो न त्रितयं चकास्ति। अयं धर्मी, इमे चास्य धर्माः, अयं चैतत्सम्बन्धानिबन्धनं समवाय इत्येतत् त्रितयं—वस्तुत्रयं, न चकास्ति—ज्ञानविषयतया न प्रतिभासते । यथा किल शिलाशकलयुगलस्य मिथोऽनुसन्धायकं रालादिद्रव्यं तस्मात् पृथक् तृतीयतया प्रतिभासते, नैवमत्र समवायस्यापि प्रतिभासनम्, किन्तु द्वयोरेव धर्मधर्मिणोः इति शपथप्रत्यायनीयोऽयं समवाय इति भावार्थः ॥

जैन—उक्त मान्यता प्रत्यक्षसे बाधित है। क्योंकि हमें 'यह धर्मी है', 'ये इस धर्मीके धर्म है' और 'यह धर्म-धर्मीमें संबंध करानेवाला समवाय है' इस प्रकार तीन पदार्थोंका अलग अलग ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार एक पत्थरके दो टुकड़ोंको परस्पर जोड़नेवाले राल आदि पदार्थ पत्थरके दो टुकड़ोंसे अलग दिखाई देते हैं, उस तरह धर्म और धर्मीका संबंध करानेवाला समवाय कोई अलग पदार्थ प्रत्यक्षसे दृष्टिगोचर नहीं होता। हमें केवल धर्म और धर्मीका ही प्रतिभास होता है। इस लिये धर्म-धर्मी संबंध करानेवाला समवाय कोई अलग पदार्थ नहीं है।

किञ्च, अयं तेन वादिना एको नित्यः सर्वव्यापकः अमूर्तश्च परिकल्प्यते । ततो यथा घटाश्रिताः पाकजरूपादयो धर्माः समवायसम्बन्धेन घटे समवेताः तथा किं न पटेऽपि । तस्यैकत्वनित्यत्वव्यापकत्वैः सर्वत्र तुल्यत्वात् ॥

तथा, वैशेषिक लोग समवायको एक, नित्य, सर्वव्यापक और अमूर्त स्वीकार करते हैं। इस लिये घटके अग्निमें पकानेसे उत्पन्न होनेवाले रूप आदि धर्म यदि समवाय संबंधसे घटमें रहते हैं, तो ये रूप आदि पटमें भी क्यों नहीं रहते। क्योंकि समवाय एक, नित्य और व्यापक है। इस लिये वह सब जगह है। इस लिये समवाय संबंधसे घटमें रहनेवाले

धर्म पटमें भी रहने चाहिये। क्योंकि घटधर्मसमवाय और पटधर्मसमवाय दोनों ही एक, नित्य, व्यापक और अमूर्त हैं।

यथाकाश एको नित्यो व्यापकः अमूर्तश्च सन् सर्वैः सम्बन्धिभिर्युगपदविशेषेण सम्बध्यते, तथा किं नायमपीति। विनश्यदेकवस्तुसमवायाभावे च समस्तवस्तुसमवायाभावः प्रसज्यते। तत्तदवच्छेदकभेदाद् नायं दोष इति चेत्, एवमनित्यत्वापत्तिः। प्रतिवस्तुस्वभावभेदादिति ॥

जैसे एक, नित्य, व्यापक और अमूर्त आकाश एक ही साथ सब संबंधियोंसे समानरूपसे संबद्ध होता है, उसी तरह समवाय भी सब संबंधियोंसे समानरूपसे ही क्यों संबद्ध नहीं होता। तथा, घटके नष्ट होने पर घटके समवायका अभाव हो जाता है, इस लिये समवायका ही सर्वथा अभाव मानना चाहिये। क्योंकि समवाय एक है, इस लिये घटके नष्ट होनेसे नष्ट होनेवाले घट-समवायका फिर कभी सद्भाव ही नहीं होगा। यदि वैशेषिक लोग कहें, कि समवाय वास्तवमें एक ही है, लेकिन वह घटत्वावच्छेदक-समवाय, पटत्वावच्छेदक-समवाय आदि भिन्न भिन्न अवच्छेदकोंके भेदसे घट, पट आदि भिन्न भिन्न पदार्थोंमें रहता है, इस लिये घटत्वावच्छेदक-समवायके नाश होनेसे पटत्वावच्छेदक-समवायका नाश नहीं होता, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इस तरह प्रत्येक वस्तुके साथ समवायके स्वभावका भेद होनेसे समवाय अनित्य ठहरेगा।

अथ कथं समवायस्य न ज्ञाने प्रतिभासनम् यतस्तस्येहेतिप्रत्ययः सावधानं साधनम्। इह प्रत्ययश्चानुभवसिद्ध एव। इह तन्तुषु पटः, इहात्मनि ज्ञानम्, इह घटे रूपादय इति प्रतीतेरुपलम्भात्। अस्य च प्रत्ययस्य केवलधर्मधर्म्यनालम्बनत्वादस्ति समवायाख्यं पदार्थान्तरं तद्धेतुः इति पराशङ्कामभिसन्धाय पुनराह। इहेदमित्यस्ति मतिश्च वृत्ताविति। इहेदमिति-इहेदमिति आश्रयाश्रयिभावहेतुक इहप्रत्ययो वृत्तावप्यस्ति— समवायसंबन्धेऽपि विद्यते। चशब्दोऽपिशब्दार्थः तस्य च व्यवहितः सम्बन्धः तथैव च व्याख्यातम् ॥

वैशेषिक—समवायका ज्ञान अवश्य होता है। 'इहप्रत्यय' (इन तन्तुओंमें पट है) समवायके ज्ञान करानेमें प्रबल साधन है। 'इन तन्तुओंमें पट है,' 'इस आत्मामें ज्ञान है,' 'इस घटमें रूप आदि हैं,' यह 'इहप्रत्यय' अनुभवसे सिद्ध ही है। यह 'इहप्रत्यय' केवल धर्म और धर्मीके आधारसे नहीं होता, इस कारण धर्म-धर्मीसे भिन्न इहप्रत्ययका हेतु समवाय अवश्य मानना चाहिये।

इदमत्र हृदयम्। यथा त्वन्मते पृथिवीत्वाभिसंबन्धात् पृथिवी, तत्र पृथिवीत्वं

पृथिव्या एव स्वरूपमस्तित्वाख्यं नापरं वस्त्वन्तरम् । तेन स्वरूपेणैव समं योऽसावभिसम्बन्धः पृथिव्याः स एव समवाय इत्युच्यते । " प्राप्तानामेव प्राप्तिः समवायः " इति वचनात् । एवं समवायत्वाभिसम्बन्धात् समवाय इत्यपि किं न कल्प्यते । यतस्तस्यापि यत् समवायत्वं स्वस्वरूपं, तेन सार्धं सम्बन्धोऽस्त्येव । अन्यथा निःस्वभावत्वात् शशविषाणवदवस्तुत्वमेव भवेत् ततश्च इह समवाये समवायत्वम् इत्युल्लेखेन इहप्रत्ययः समवायेऽपि युक्त्या घटत एव । ततो यथा पृथिव्यां पृथिवीत्वं समवायेन समवेतं, एवं समवायेऽपि समवायत्वं समवायान्तरेण सम्बन्धनीयम्, तदप्यपरेण, इत्येवं दुस्तरानवस्थामहानदी ॥

जैन—धर्म (आश्रयी) और धर्मी (आश्रय) में इहप्रत्ययका हेतु समवाय संबंध ठीक नहीं बनता । क्योंकि धर्म और धर्मीका हेतु 'इहप्रत्यय' समवाय संबंधमें भी रहता है। वैशेषिकोंके मतमें पृथिवीत्वके संबंधसे पृथिवीका ज्ञान होता है, तथा पृथिवीत्व ही पृथिवीका अस्तित्व (स्वभाव) है । इसी पृथिवीत्वके साथ पृथिवीके संबंधको समवाय कहते हैं । कहा भी है " प्राप्त पदार्थोंकी प्राप्ति ही समवाय है " । इसी तरह वैशेषिकोंको समवायत्वके संबंधसे ही समवाय भी मानना चाहिये, क्योंकि समवायत्व समवायका स्वभाव है, और समवायका समवायत्वके साथ संबंध है। अन्यथा यदि समवायत्वको समवायका स्वभाव नहीं मानोगे, तो समवायको स्वभावरहित मानना चाहिये, और स्वभावरहित होनेसे खरगोशके सींगकी तरह समवाय अवस्तु ठहरेगा । इस लिये 'समवायमें समवायत्व है' ऐसा इहप्रत्यय समवायमें भी युक्तिसे सिद्ध होता है । अतएव जिस प्रकार पृथिवीमें पृथिवीत्व समवाय संबंधसे है, वैसे ही समवायमें समवायत्व दूसरे समवायसे, दूसरेमें तीसरेसे, इसप्रकार एक समवायकी सिद्धिमें अनन्त समवाय माननेसे अनवस्था दोष आता है ।

एवं समवायस्यापि समवायत्वाभिसम्बन्धे युक्त्या उपपादिते साहसिक्यमालम्ब्य पुनः पूर्वपक्षवादी वदति। ननु पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वाद्यभिसम्बन्धनिबन्धनं समवायो मुख्यः। तत्र त्वतलादिप्रत्ययाभिव्यङ्ग्यस्य सङ्गृहीतसकलावान्तरजातिलक्षणव्यक्तिभेदस्य सामान्यस्योद्भवात् । इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिभेदाभावे जातेरनुद्भूतत्वाद् गौणोऽयं युष्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्यः समवायत्वाभिसम्बन्धः तत्साध्यश्च समवाय इति ॥

वैशेषिक—समवाय मुख्य और गौणके भेदसे दो प्रकारका है । पृथिवीमें पृथिवीत्व मुख्य-समवाय संबंधसे रहता है । इस मुख्य-समवायका ज्ञान 'त्व' 'तल' आदि प्रत्ययोंसे होता है, और यह समवाय पृथिवी आदिकी सम्पूर्ण अवान्तर जातिरूप व्यक्तिभेदको सामान्यस ग्रहण करता है । परन्तु समवायत्वमें समवाय एक है, इस लिये उसमें व्यक्तियोंके

भेदका अभाव है, अतएव वह सामान्यका उत्पादक नहीं। अतएव आप लोगोंने जो कहा था, कि ‘इन समवायियोंमें समवाय रहते हैं, क्योंकि ‘इन समवायियोंमें समवाय है,’ ऐसा ज्ञान होता है,’ सो यह गौण समवाय है।

तदेतद् न विपश्चिच्चमत्कारकारणम्। यतोऽत्रापि जातिरुद्भवन्ती केन निरुध्यते। व्यक्तेर[1]भेदेनेति चेत्। न। तत्तदवच्छेदकवशात् तद्भेदोपपत्तौ व्यक्तिभेदकल्पनाया दुर्निवारत्वात्। अन्यो घटसमवायोऽन्यश्च पटसमवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि व्यक्तिभेद इति, तत्सिद्धौ सिद्ध एव जात्युद्भवः। तस्मादन्यत्रापि मुख्य एव समवायः इहप्रत्ययस्योभयत्राप्यव्यभिचारात्॥

जैन—यह मान्यता ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार आप लोग पृथिवीमें मुख्य समवायसे रहनेवाले पृथिवीत्वको सामान्य (जाति) का ग्राहक मानते हैं, उसी प्रकार समवायमें रहनेवाले समवायत्वको भी सामान्यका ग्राहक क्यों नहीं मानते? यदि आप लोग कहें, कि यहाँ व्यक्तिका भेद नहीं है, अर्थात् समवाय एकही है, इस कारण समवायमें जातिका अभाव है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यहाँ भी अमुक अवच्छेदकोंसे यह घट-समवाय है, यह पट-समवाय है, इस प्रकार समवायके भी व्यक्तिभेद सिद्ध है। क्योंकि घटत्वावच्छेदकसे होनेवाला घटसमवाय पटत्वावच्छेदकसे होनेवाले पटसमवायसे भिन्न है। इस लिये समवायमें भी व्यक्तिका भेद सिद्ध होता है। अतएव जिस प्रकार पृथिवीमें पृथिवीत्व मुख्य-समवाय संबंधसे रहता है, उसी तरह समवायमें समवायत्व भी मुख्य-समवाय संबंधसे मानना चाहिये, क्योंकि इहप्रत्ययकी दोनों जगह समानता है।

तदेतत्सकलं सपूर्वपक्षं समाधानं मनसि निधाय सिद्धान्तवादी प्राह। न गौणभेद इति। गौण इति योऽयं भेदः स नास्ति। गौणलक्षणाभावात्। तल्लक्षणं चेत्थमाचक्षते—

“अव्यभिचारी मुख्योऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च।
विपरीतो गौणोऽर्थः सति मुख्ये धीः कथं गौणे”॥

तस्माद् धर्मधर्मिणोः सम्बन्धने मुख्यः समवायः, समवाये च समवायत्वाभिसम्बन्धे गौण इत्ययं भेदो नानात्वं नास्तीति भावार्थः॥

तथा, वैशेषिकोंद्वारा समवायमें गौणरूपसे स्वीकृत समवायत्व भी नहीं बन सकता। क्योंकि यहां गौणका लक्षण ही ठीक नहीं बैठता, कारण कि “व्यभिचारी, विकल, साधारण और बहिरंग अर्थको गौण कहते हैं। मुख्य अर्थके रहनेपर गौण बुद्धि नहीं हो सकती।”

---

[1] ‘व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः’। इति किरणावल्यामुदयनाचार्यकृतायाम्।

समवायमें समवायत्व माननेमें मुख्य अर्थ मौजूद है, इस लिये समवायका गौणरूप नहीं बन सकता। इस लिये धर्म और धर्मीका संबंध मुख्य-समवायसे होता है, और समवाय और समवायत्वका संबंध गौण-समवाय है, यह समवायका मुख्य और गौण भेद मानना ठीक नहीं है।

किञ्च, योऽयमिह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययात् समवायसाधनमनोरथः स खल्वनुहरते नपुंसकादपत्यप्रसवमनोरथम्। इह तन्तुषु पट इत्यादेर्व्यवहारस्यालौकिकत्वात्। पांशुलपादानामपि इह पटे तन्तव इत्येव प्रतीतिदर्शनात्। इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात्॥ अत एवाह अपिच लोकबाध इति। अपि चेति–दूषणाभ्युच्चये, लोकः–प्रामाणिकलोकः, सामान्यलोकश्च; तेन बाधो–विरोधः; लोकबाधः। तदप्रतीतव्यवहारसाधनात् बाधशब्दस्य "ईहाद्योः प्रत्ययभेदतः" इति पुंस्त्रीलिङ्गता। तस्माद्धर्मधर्मिणोरविष्वग्भावलक्षण एव सम्बन्धः प्रतिपत्तव्यो नान्यः समवायादिः। इति काव्यार्थः॥ ७॥

तथा 'इन तन्तुओंमें पट है' इस प्रत्ययसे समवायकी सिद्धि करना नपुंसकसे पुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छाके समान है। क्योंकि 'इन तन्तुओंमें पट है' यह व्यवहार लोकसे बाधित है, कारण कि साधारणसे साधारण पुरुषको भी 'इन तन्तुओंमें पट है' यह प्रतीति न होकर 'इस पटमें तन्तु हैं' ऐसी प्रतीति होती है। अन्यथा इस भूतलमें घट है, यहाँ भी समवाय मानना चाहिये, क्योंकि यहाँ भी इहप्रत्यय होता है। इसीलिये ग्रन्थकारने कहा है 'अपि च लोकबाधः'–यह अप्रतीत व्यवहार साधारण लोगोंके भी अनुभवके विरुद्ध है [बाध शब्द 'ईहाद्याः प्रत्ययभेदतः' इस सूत्रसे पुलिंग और स्त्रीलिंग दोनोंमें प्रयुक्त होता है]। इस लिये धर्म और धर्मीमें तादात्म्य संबंध ही स्वीकार करना चाहिये, समवाय संबंध नहीं। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिकोंके समवाय पदार्थका खंडन किया गया है। वैशेषिकोंकी मान्यता है, कि धर्म और धर्मी सर्वथा भिन्न हैं। इन दोनों भिन्न पदार्थोंका संबंध समवायसे होता है। जैनोंका कहना है, कि जिस प्रकार दो पत्थरके टुकड़ोंको जोड़नेवाले लाख आदि पदार्थका हमें प्रत्यक्षसे ज्ञान होता है, वैसे धर्म और धर्मीका संबंध करानेवाले समवाय संबंधको हम प्रत्यक्षसे नहीं जानते, इस लिये समवायको धर्म-धर्मीसे पृथक् तीसरा पदार्थ मानना प्रत्यक्षसे बाधित है। इसके अतिरिक्त, वैशेषिक लोग समवायको एक, नित्य और सर्वव्यापक मानते हैं, अतएव एक पदार्थमें समवायके नष्ट हो जानेपर संसारके समस्त पदार्थोंमें रहनेवाला समवाय नष्ट हो जाना चाहिये। क्योंकि समवाय एक और सर्वव्यापक है। तथा, वैशेषिक लोग इहप्रत्यय (इन तंतुओंमें पट है) से समवाय

---

१ हमलिंगानुशासने पुंस्त्रीलिंगप्रकरणे श्लोक ५.

संबंधका ज्ञान करते हैं, परन्तु जैसे पटमें पटत्व समवाय संबंधसे स्वीकार करते हैं, वैसे ही वे लोग समवायमें भी समवायत्व दूसरे समवायसे और दूसरेमें तीसरे समवायसे, क्यों नहीं मानते। तथा समवायमें समवायान्तर माननेसे अनवस्था दोष आता है।

यदि वैशेषिक लोग पृथिवी आदिके बहुत होनेसे पृथिवींमें पृथिवीत्व मुख्य-समवायसे, तथा समवायके एक होनेसे समवायमें समवायत्व गौण-समवायसे मानकर मुख्य और गौणके भेदसे समवाय संबंध स्वीकार करते हैं, तो यह भी कल्पना मात्र है। क्योंकि समवाय-बहुत्व भी अनुभवसे सिद्ध है। कारण कि घट और घटरूपका समवाय पट और पटरूपके समवायसे भिन्न है। तथा इहप्रत्यय हेतु समवाय माननेसे लोकबाधा भी आती है। क्योंकि जनसाधारणको ‘ इन तंतुओंमें पट है ’ यह प्रतीति न होकर ‘ इस पटमें तंतु हैं ’ यह ज्ञान होता है। अतएव धर्म-धर्मीमें समवाय संबंध मानना ठीक नहीं, इस लिये धर्म और धर्मीमें अत्यन्त भेद मानना भी युक्तियुक्त नहीं है।

अथ सत्ताभिधानं पदार्थान्तरम्, आत्मनश्च व्यतिरिक्तं ज्ञानाख्यं गुणम्, आत्मविशेषगुणोच्छेदस्वरूपां च मुक्तिम्, अज्ञानादङ्गीकृतवतः परानुपहसन्नाह—

(१) सत्ता भिन्न पदार्थ है, (२) आत्मासे ज्ञान भिन्न है, (३) आत्माके विशेष गुणोंका नष्ट हो जाना मोक्ष है—इन मान्यताओंको अज्ञानसे स्वीकार करनेवाले वादियोंका उपहास करते हुए कहते हैं:—

सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्ता चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यत्।
न संविदानन्दमयी च मुक्तिः सुसूत्रमासूत्रितमत्वदीयैः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ—सत् पदार्थोंमें भी सब पदार्थोंमें सत्ता नहीं रहती; ज्ञान उपाधिजन्य है, इस लिये ज्ञान आत्मासे भिन्न है; मोक्ष ज्ञान और आनन्दरूप नहीं है—इस प्रकारकी मान्यताओंको प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र आपकी आज्ञासे बाह्य वैशेषिक लोगोंके रचे हुए हैं।

वैशेषिकाणां द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्याः षट्पदार्थास्तत्त्वतयाभिप्रेताः। तत्र “ पृथीव्या[1]पस्तेजो वायुराकाशः कालो दिगात्मा मन ” इति नव द्रव्याणि। गुणाश्चतुर्विंशतिः। तद्यथा “ रूप[2]रसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धिः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च ” इति सूत्रोक्ताः सप्तदश। च[3]शब्दसमुच्चिताश्च सप्त—द्रवत्वं गुरुत्वं संस्कारः स्नेहो धर्माधर्मौ शब्दश्च इत्येवं चतुर्विंशतिगुणाः। संस्कारस्य वेगभावनास्थितिस्थापकभेदाद् त्रैविध्येऽपि

---

[1] वैशेषिकदर्शने १–१–५। [2] वैशेषिकदर्शने १–१–६। [3] प्रशस्तपादभाष्ये उद्देशप्रकरणे। ९–१०

संस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वात्, शौर्यौदार्यादीनां चात्रैवान्तर्भावाद् नाधिक्यम् । कर्माणि पञ्च । तद्यथा—उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं[1] प्रसारणं गमनमिति । गमनग्रहणाद् भ्रमणरेचनस्यन्दनाद्यविरोधः ॥

व्याख्यार्थ—वैशेषिकोंने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थोंको तत्वरूपसे स्वीकार किया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, तथा (च शब्दसे) द्रवत्व, गुरुत्व, संस्कार, स्नेह, धर्म, अधर्म, और शब्द ये चौबीस गुण हैं। इन गुणोंमें वेग, भावना, और स्थितिस्थापकसे भेदसे संस्कार तीन प्रकारका है, परन्तु वह संस्कारत्व जातिकी अपेक्षासे एक ही है, शौर्य, औदार्य, आदिका इसीमें अन्तर्भाव हो जाता है। कर्म उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमनके भेदसे पांच प्रकारका है। गमनसे भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, आदिका कोई विरोध नहीं है।

अत्यन्तव्यावृत्तानां पिण्डानां यतः कारणाद् अन्योऽन्यस्वरूपानुगमः प्रतीयते, तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम् । तच्च द्विविधं परमपरं च । तत्र परं[2] सत्ता भावो महासामान्यमिति चोच्यते । द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यापेक्षया महाविषयत्वात् । अपरसामान्यं च द्रव्यत्वादि। एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते। तथाहि। द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात् सामान्यम्, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद् विशेषः। ततः कर्मधारये सामान्यविशेष इति। एवं द्रव्यत्वाद्यपेक्षया पृथिवीत्वादिकमपरं, तदपेक्षया घटत्वादिकम्। एवं चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्वं सामान्यम्, द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तेश्च विशेषः। एवं गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिकं, तदपेक्षया नीलत्वादिकम्। एवं पञ्चसु कर्मसु वर्तनात् कर्मत्वं सामान्यम्, द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्तत्वाद् विशेषः। एवं कर्मत्वापेक्षया उत्क्षेपणत्वादिकं ज्ञेयम् ॥

जिन कारणोंसे अत्यन्तव्यावृत्त पदार्थोंका स्वरूप जाना जाता है, वह अनुवृत्तिप्रत्यय-(सामान्य ज्ञान) का कारण सामान्य है। यह सामान्य दो प्रकारका है—परसामान्य और अपरसामान्य। परसामान्यको सत्ता, भाव, और महासामान्य भी कहते हैं। यह परसामान्य द्रव्यत्व आदि अपरसामान्यकी अपेक्षासे महान विषयवाला है, इस लिये द्रव्यत्व द्रव्यमें

---

[1] ऊर्ध्वदेशसंयोगकारणं कर्मोत्क्षेपणम्। अधोदेशसंयोगकारणं कर्मापक्षेपणम् । वक्रत्वापादकं कर्माकुञ्चनम्। ऋजुत्वापादकं कर्म प्रसारणम्। अनियतदेशसंयोगकारणं कर्म गमनम् । प्रशस्तपादभाष्ये उद्देशप्रकरणे। [2] 'द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते'। कारिकावली प्रत्यक्षखण्डे का. ८।

ही रहता है, परन्तु परसामान्य द्रव्य, गुण और कर्म तीनोंमें रहता है। द्रव्यत्व आदि अपरसामान्य है, इसे सामान्यविशेष भी कहते हैं। जैसे द्रव्यत्व नौ द्रव्योंमें रहनेसे सामान्य, और गुण, कर्ममें न रहनेसे विशेष कहा जाता है, इसी प्रकार द्रव्यत्व आदिकी अपेक्षा पृथिवीत्व आदि, और पृथिवीत्व आदिकी अपेक्षा घटत्व आदि अपरसामान्य है। इसी तरह गुणत्व चौबीस गुणोंमें रहनेसे सामान्य, तथा द्रव्य और कर्ममें न रहनेसे विशेष है। अतएव गुणत्वकी अपेक्षा रूपत्व आदि, और रूपत्व आदिकी अपेक्षा नीलत्व आदि अपरसामान्य है। इसी प्रकार कर्मत्व पांच कर्मोंमें रहता है, इस लिये सामान्य, और द्रव्य और गुणमें नहीं रहता, इस लिये विशेष है, तथा कर्मत्वकी अपेक्षा उत्क्षेपण आदि अपरसामान्य है। वैशेषिक लोग सामान्यको परसामान्य और अपरसामान्यके भेदसे दो प्रकारका मानते हैं। इन लोगोंके मतानुसार परसामान्य केवल द्रव्य, गुण और कर्म तीन पदार्थोंमें ही रहता है, अन्यत्र नहीं। इस परसामान्यको महासामान्य भी कहते हैं। परसामान्यका विषय अपरसामान्यसे अधिक है। द्रव्यत्व, गुणत्व, आदि अपरसामान्यके विषय हैं; 'पदार्थत्व' (द्रव्य, गुण आदि पदार्थोंमें रहनेवाला) परसामान्यका विषय कहा जा सकता है। अपरसामान्यको सामान्य-विशेष भी कहते हैं। क्योंकि यह अपरसामान्य अपने विशेषोंको सामान्यरूपसे ग्रहण करनेके साथ उनकी अन्य पदार्थोंसे व्यावृत्ति भी करता है। द्रव्यत्व द्रव्योंमें रहता है, इस लिये सामान्य, और गुणकर्मसे व्यावृत्त होता है, इस लिये विशेष कहा जाता है। इसीलिये अपरसामान्यको सामान्य-विशेष भी कहा है।

तत्र सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं कया युक्त्या इति चेद्। उच्यते। न द्रव्यं सत्ता, द्रव्यादन्येत्यर्थः। एकद्रव्यवत्त्वाद्। एकैकस्मिन् द्रव्ये वर्तमानत्वादित्यर्थः। द्रव्यत्ववत्। यथा द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु प्रत्येकं वर्तमानं द्रव्यं न भवति, किन्तु सामान्यविशेषलक्षणं द्रव्यत्वमेव एवं सत्तापि। वैशेषिकाणां हि अद्रव्यं[1] वा द्रव्यम्, अनेकद्रव्यं वा द्रव्यम्। तत्राद्रव्यं आकाशः कालो दिग् आत्मा मनः परमाणवः। अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः। एकद्रव्यं तु द्रव्यमेव न भवति। एकद्रव्यवती च सत्ता। इति द्रव्यलक्षणविलक्षणत्वाद् न द्रव्यम्। एवं न गुणः सत्ता। गुणेषु भावाद्। गुणत्ववत्। यदि हि सत्ता गुणः स्याद् न तर्हि गुणेषु वर्तेत। निर्गुणत्वाद् गुणानाम्। वर्तते च गुणेषु सत्ता। सन् गुण इति प्रतीतेः। तथा न सत्ता कर्म। कर्मसु भावात्। कर्मत्ववत्। यदि च सत्ता कर्म स्याद् न तर्हि कर्मसु वर्तेत। निष्कर्मत्वात् कर्मणाम्। वर्तते च कर्मसु भावः; सत् कर्मेति प्रतीतेः। तस्मात् पदार्थान्तरं सत्ता॥

---

[1] द्रव्यं द्विधा। अद्रव्यमनेकद्रव्यं च। न विद्यते द्रव्यं जन्यतया जनकतया च यस्य तदद्रव्यं द्रव्यम्। यथाकाशकालादि। अनेकं द्रव्यं जन्यतया च जनकतया च यस्य तदनेकद्रव्यं द्रव्यम्।

पूर्वपक्ष—(१) सत्ता द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न है (द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता–वैशेषिकसूत्र १–२–४)—सत्ता द्रव्यत्वकी तरह द्रव्यसे भिन्न है, क्योंकि वह प्रत्येक द्रव्यमें रहती है। जैसे द्रव्यत्व नौ द्रव्योंमें प्रत्येक द्रव्यमें रहता है, इस लिये द्रव्य नहीं कहा जाता, किन्तु सामान्य-विशेषरूप द्रव्यत्व कहा जाता है, उसी तरह सत्ता भी प्रत्येक द्रव्यमें रहनेके कारण द्रव्य नहीं कही जाती। वैशेषिकोंके मतमें अद्रव्यत्व अथवा अनेकद्रव्यत्व ही द्रव्यका लक्षण है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन और परमाणु अद्रव्यत्व (जो द्रव्योंसे उत्पन्न नहीं हुआ हो, अथवा द्रव्योंका उत्पादक न हो) के उदाहरण हैं, क्योंकि न तो आकाश आदि किसी द्रव्यसे बनाये गये हैं, और न किसी द्रव्यके उत्पादक हैं। तथा द्व्यणुकादि-स्कंध अनेकद्रव्यत्व (जो अनेक द्रव्योंसे उत्पन्न हुए हों, अथवा अनेक द्रव्योंके उत्पादक हों) के उदाहरण हैं। एक द्रव्यमें रहनेवाला द्रव्य नहीं होता। सत्ता एक द्रव्यमें रहती है, इस लिये सत्तामें द्रव्यका लक्षण नहीं घटता, अतएव वह द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार सत्ता गुण भी नहीं है, क्योंकि वह गुणत्वकी तरह गुणोंमें रहती है, यदि सत्ता गुण होती, तो वह गुणोंमें न रहती, क्योंकि गुणोंमें गुण नहीं रहते। सत्ता गुणोंमें रहती है, और गुण सत् है, ऐसी प्रतीति होती है, इस लिये सत्ता गुणोंमें विद्यमान है। इसी तरह सत्ता कर्म भी नहीं है, क्योंकि वह कर्मत्वकी तरह कर्ममें रहती है। यदि सत्ता कर्म हो, तो कर्ममें न रहे, क्योंकि कर्ममें कर्म नहीं रहते। सत्ता कर्ममें रहती है। अतएव सत्ताको पदार्थान्तर ही मानना चाहिये। भाव यह है, कि वैशेषिकसिद्धांतके अनुसार सत्ता द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न पदार्थ है। सत्ताको द्रव्यसे पृथक् बतानेके लिये वैशेषिक लोग 'एकद्रव्यवत्त्व' हेतु देते हैं। उनके मतानुसार द्रव्य 'अद्रव्य' और 'अनेकद्रव्य'के भेदसे दो प्रकारका माना गया है। आकाश, काल आदि द्रव्योंसे उत्पन्न नहीं होते, और न द्रव्योंको उत्पन्न करते हैं, अतएव वे अद्रव्य-द्रव्य हैं। तथा द्व्यणुकादि अनेक द्रव्योंसे उत्पन्न होते हैं, और अनेक द्रव्योंको उत्पन्न करनेवाले हैं, इस लिये वे अनेकद्रव्य-द्रव्य हैं! सत्ता न 'अद्रव्य' है और न 'अनेकद्रव्य,' वह द्रव्यत्वकी तरह प्रत्येक पदार्थमें रहनेवाली है, इस लिये सत्ताका द्रव्यमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इसी प्रकार सत्ता गुण और कर्म भी नहीं है, क्योंकि वह गुणत्व और कर्मत्वकी तरह क्रमसे प्रत्येक गुण और कर्ममें रहती है। अतएव सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म तीनोंसे भिन्न है।

तथा विशेषा नित्यद्रव्यवृत्तयः अन्त्याः[1]—अत्यन्तव्यावृत्तिहेतवः, ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात् पदार्थान्तरम्। तथा च प्रशस्तकारः—"अन्तेषु[2] भवा अन्त्याः; स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषाः। विनाशारम्भरहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु प्रतिद्रव्यमे-

---

[1] अन्तेऽवसाने वर्तन्त इत्यन्त्या यदपेक्षया विशेषो नास्तीत्यर्थः। एकमात्रवृत्तय इति भावः।

[2] विशेषप्रकरणे प्रशस्तपादभाष्ये पृ. १६८।

कैकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः। यथास्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्यस्तुल्याकृतिगुणक्रियावयवोपचयावयवविशेषसंयोगनिमित्ता प्रत्ययव्यावृत्तिर्दृष्टा। गौः शुक्लः शीघ्रगतिः पीनः ककुद्मान् महाघण्ट इति; तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु, मुक्तात्ममनस्सु चान्यनिमित्तासम्भवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिः, देशकालविप्रकृष्टे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति, तेऽन्त्या विशेषाः" इति। अमी च विशेषरूपा एव न तु द्रव्यत्वादिवत् सामान्यविशेषोभयरूपाः, व्यावृत्तेरेव हेतुत्वात् ॥

तथा, नित्य द्रव्योंमें रहनेवाले अत्यन्तव्यावृत्ति रूप 'विशेष' भी द्रव्यादिसे विलक्षण होनेके कारण पदार्थान्तर हैं। प्रशस्तकारने कहा है "अन्तमें होनेके कारण ये अन्त्य हैं, और अपने आश्रयके नियामक हैं, इस लिये विशेष हैं। ये विशेष आदि और अन्त रहित अणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन नित्य द्रव्योंमें रहते हैं, और अत्यन्तव्यावृत्ति रूप ज्ञानके कारण हैं। जैसे गौ और घोडे आदिमें तुल्य आकृति, गुण, क्रिया, अवयवोंकी वृद्धि, अवयवोंका संयोग देखकर यह गौ सफेद है, शीघ्र चलनेवाली है, मोटी है, थूवेवाली है, महान घण्टेवाली है आदि रूपसे व्यावृत्तिप्रत्यय (विशेषज्ञान) होता है, वैसे ही योगी लोगोंको नित्य, तुल्य आकृति, गुण और क्रियायुक्त परमाणु, मुक्त आत्मा और मनमें जिन निमित्तोंके कारण पदार्थोंकी विलक्षणताका ज्ञान होता है, तथा देश और कालकी दूरी होनेपर भी यह वही परमाणु है, यह प्रत्यभिज्ञान होता है, वे विशेष हैं।" ये विशेष विशेष रूप ही हैं, द्रव्यत्व आदिकी तरह सामान्य-विशेष रूप नहीं हैं, क्योंकि ये केवल व्यावृत्तिप्रत्ययके ही हेतु हैं। भाव यह है, कि विशेष सजातीय और विजातीय पदार्थोंके व्यवच्छेद करनेवाले अत्यन्तव्यावृत्ति रूप होते हैं। दो पदार्थोंमें तुल्य आकृति, गुण, क्रिया आदि देखकर उनमेंसे अन्य पदार्थोंको अलग करके एक पदार्थको जानना विशेष है। ये विशेष विशेष रूप होते हैं, सामान्य-विशेष रूप नहीं।

तथा अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवाय इति। अयुतसिद्धयोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयानाश्रितयोराश्रयाश्रयिभावः इह तन्तुषु पटः इत्यादेः प्रत्ययस्यासाधारणं कारणं समवायः। यद्वशात् स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमानं पटाद्याधार्यं तन्त्वाद्याधारे सम्बध्यते यथा छिदिक्रिया छेद्येनेति सोऽपि द्रव्यादिलक्षणवैधर्म्यात् पदार्थान्तरम्। इति षट् पदार्थाः ॥

अयुतसिद्ध आधार्य, और आधार पदार्थोंका इहप्रत्यय हेतु समवाय संबंध है। एक दूसरेको छोड़कर भिन्न आश्रयोंमें न रहनेवाले गुण, गुणी आदि अयुतसिद्धोंके 'इन

तन्तुओंमें पट है ' इत्यादि ज्ञानका असाधारण कारण समवाय है। जैसे छेदन क्रियाका छेद्य (छेदने योग्य) के साथ संबंध है, वैसे ही जिसके द्वारा अपने कारणोंसे उत्पन्न हुआ पटादि आधार्य तन्तु आदिके आधार रहता है, वह समवाय संबंध है। अतएव समवाय भी द्रव्य आदिसे विलक्षण होनेके कारण भिन्न पदार्थ है।

साम्प्रतमक्षरार्थो व्याक्रियते। सतामपीत्यादि। सतामपि-सद्बुद्धिवेद्यतया साधारणानामपि, षण्णां पदार्थानां मध्ये क्वचिदेव केषुचिदेव पदार्थेषु सत्ता—सामान्ययोगः, स्याद्-भवेत्, न सर्वेषु। तेषामेषा वाचोयुक्तिः सदिति। यतो "द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता" इति वचनाद् यत्रैव सत्प्रत्ययस्तत्रैव सत्ता। सत्प्रत्ययश्च द्रव्यगुणकर्मस्वेव, अतस्तेष्वेव, सत्तायोगः। सामान्यादिपदार्थत्रये तु न, तदभावात्। इदमुक्तं भवति। यद्यपि वस्तुस्वरूपं अस्तित्वं सामान्यादित्रयेऽपि विद्यते तथापि तदनुवृत्तिप्रत्ययहेतुर्न भवति। य एव चानुवृत्तिप्रत्ययः स एव सदितिप्रत्यय इति, तदभावाद् न सत्तायोगस्तत्र। द्रव्यादीनां पुनस्त्रयाणां षट्पदार्थसाधारणं वस्तुस्वरूपम् अस्तित्वमपि विद्यते। अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सत्तासम्बन्धोऽप्यस्ति। निःस्वरूपे शशविषाणादौ सत्तायाः समवायाभावात्॥

'सतामपि क्वचिदेव सत्ता स्यात्'—सत् बुद्धिसे जानने योग्य छह पदार्थोंमें कुछ पदार्थोंमें सत्तासामान्य रहता है, सब पदार्थोंमें नहीं। कहा भी है, "द्रव्य, गुण और कर्ममें सत् प्रत्यय होता है," इस लिये द्रव्य, गुण, और कर्ममें ही सत्ता रहती है। सामान्य, विशेष और समवायमें सत्ता नहीं रहती, इस लिये उनमें सत् प्रत्ययका भी अभाव है। तात्पर्य यह है, कि यद्यपि वस्तुका स्वरूप अस्तित्व सामान्य, विशेष और समवायमें रहता है, तथापि वह सामान्य, विशेष और समवायके अनुवृत्तिप्रत्यय (सामान्यज्ञान) का कारण नहीं है। तथा अनुवृत्तिप्रत्ययको ही सत्प्रत्यय कहते हैं। सामान्य आदिमें सत्प्रत्यय नहीं है, इस लिये इनमें सत्ता नहीं रहती। द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थोंमें समान रूपसे रहनेवाला वस्तुका स्वरूप अस्तित्व विद्यमान है, तथा अनुवृत्तिप्रत्ययका हेतु सत्तासंबंध भी है, क्योंकि अस्तित्व स्वरूपसे रहित पदार्थोंमें शशविषाणकी तरह सत्ताका समवाय नहीं बन सकता, इस लिये द्रव्य, गुण और कर्ममें अस्तित्व और सत्ता-संबंध दोनों रहते हैं।

सामान्यादित्रिके कथं नानुवृत्तिप्रत्ययः इति चेद्, बाधकसद्भावादिति ब्रूमः। तथाहि। सत्तायामपि सत्तायोगाङ्गीकारे अनवस्था। विशेषेषु पुनस्तदभ्युपगमे व्यावृत्तिहेतुत्वलक्षणतत्स्वरूपहानिः। समवाये तु तत्कल्पनायां सम्बन्धाभावः। केन हि सम्बन्धेन तत्र सत्ता सम्बध्यते, समवायान्तराभावात्। तथा च प्रामाणिकप्रकाण्डमुदयनः—

“ व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः ” ॥

इति । ततः स्थितमेतत्सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्तेति ॥

प्रतिवादी—सामान्य, विशेष और समवायमें सामान्यज्ञान (सत्ता) क्यों नहीं होता है । **वैशेषिक**—सामान्य आदिमें सामान्यज्ञान माननेमें बाधक प्रमाण हैं । क्योंकि ‘ सामान्य ’ में सत्ता स्वीकार करनेसे अनवस्था दोष आता है, अर्थात् एक सामान्यमें दूसरा और दूसरेमें तीसरा, इस तरह अनेक सामान्य मानने पड़ते हैं। तथा यदि ‘ विशेष ’ पदार्थमें सत्ता मानें, तो विशेषको व्यावृत्तिका कारण नहीं कह सकते । इसी तरह समवायमें सत्ता माननेसे संबंधका अभाव होता है । क्योंकि समवायमें सत्ता कौनसे संवंधसे रहेगी, हम कोई दूसरा समवाय नहीं मानते । उदयनाचार्यने भी कहा है—“ व्यक्तिका अभेद, तुल्यत्व, संकर, अनवस्था, रूपहानि और असंबंध ये छह जाति (सामान्य) के बाधक हैं । ” भाव यह है, कि सामान्य एक व्यक्तिमें नहीं रहता । जैसे आकाशमें आकाशत्व-सामान्य नहीं रहता । क्योंकि आकाश एक व्यक्ति रूप है । घटत्व और कलशत्वमें भी सामान्य नहीं रहता, क्योंकि घटत्व और कलशत्व दोनों एक ही पदार्थमें रहते हैं (तुल्यत्व) । भूतत्व और मूर्तत्वमें भी सामान्य नहीं रहता, क्योंकि इसमें संकर दोष आता है । अर्थात् भूतत्व केवल आकाशमें और मूर्तत्व केवल मनमें रहता है, लेकिन पृथिवी, अप्, तेज और वायुमें भूतत्व और मूर्तत्व दोनों रहते हैं, इस लिये संकर दोष आनेसे भूतत्व और मूर्तत्वमें भी सामान्य नहीं रहता । अनवस्था दोष आनेसे सामान्यमें भी सामान्य नहीं रहता । विशेषमें भी सामान्य नहीं है, क्योंकि विशेषमें सामान्य माननेसे विशेषके स्वरूपकी हानि होती है । तथा समवायमें भी सामान्य नहीं रहता, क्योंकि समवाय एक है, समवायमें समवायत्वका संबंध करनेवाला दूसरा समवाय नहीं है ।

तथा, चैतन्यमित्यादि । चैतन्यं–ज्ञानम्, आत्मनः–क्षेत्रज्ञाद्, अन्यद्–अत्यन्तव्यतिरिक्तम्, असमासकरणादत्यन्तमिति लभ्यते । अत्यन्तभेदे सति कथमात्मनः सम्बन्धि ज्ञानमिति व्यपदेशः, इति पराशङ्कापरिहारार्थं औपाधिकमिति विशेषणद्वारेण हेत्वभिधानम् । उपाधेरागतमौपाधिकम्--समवायसम्बन्धलक्षणेनोपाधिना आत्मनि समवेतम् आत्मनः स्वयं जडरूपत्वात् समवायसम्बन्धोपढौकितमिति यावत् । यद्वा-

---

१ उदयनाचार्यविरचितकिरणावल्यां द्रव्यप्रकरणे पृष्ठ १६१ । अस्य व्याख्या–आकाशत्वं न जातिः। व्यक्त्यैक्यात् । १ । घटकलशत्वे न जाती । व्यक्तितुल्यत्वात् । २ । भूतत्वमूर्तत्वे न जाती । आकाशे भूतत्वस्यैव मनसि च मूर्तत्वस्यैव सद्भावेऽपि पृथिव्यादिचतुष्टय उभयोः सद्भावात् संकरप्रसंगः । जातेरपि जात्यन्तरांगीकारेऽनवस्थाप्रसंगः । ४ । अन्त्यविशेषता न जातिः । तदंगीकारे तत्स्वरूपव्यावृत्तिहानिः स्यात् । ५ समवायत्वं न जातिः संबंधाभावात् । ६ इत्येते जातिबाधकाः ॥

त्मनो ज्ञानादव्यतिरिक्तत्वमिष्यते, तदा दुःख[1]जन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापायें तदनन्तराभावाद् बुद्धयादीनां नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदावसर आत्मनोऽप्युच्छेदः स्यात्, तदव्यतिरिक्तत्वात् । अतो भिन्नमेवात्मनो ज्ञानं यौक्तिकमिति ॥

(२) ज्ञान आत्मासे अत्यंत भिन्न है । ज्ञान आत्मासे सर्वथा भिन्न होनेपर भी समवाय संबंधसे आत्मासे संबद्ध है । ज्ञान आत्माका गुण नहीं है, वह उससे सर्वथा भिन्न है । आत्मा स्वयं जड़ है, इस लिये ज्ञान आत्मामें समवाय संबंधसे रहता है । यदि आत्मा और ज्ञानको एक ही माना जाय, तो दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, और मिथ्याज्ञानके नाश होनेपर आत्माके विशेषगुण बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार का उच्छेद होनेसे आत्माका भी अभाव हो जाना चाहिये, क्योंकि जैनमतमें आत्मा इन गुणोंसे भिन्न नहीं है । अतएव आत्मा और ज्ञानका भिन्न मानना ही युक्तियुक्त है ।

तथा न संविदित्यादि । मुक्तिः–मोक्षः न संविदानन्दमयी–न ज्ञानसुखस्वरूपा । संविद्–ज्ञानं, आनन्दः–सौख्यम्, ततो द्वन्द्वः, संविदानन्दौ प्रकृतौ यस्यां सा संविदानन्दमयी। एतादृशी न भवति बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काररूपाणां नवानामात्मनो वैशेषिकगुणानामत्यन्तोच्छेदो मोक्ष इति वचनात् । चशब्दः पूर्वोक्ताभ्युपगमद्वयसमुच्चये । ज्ञानं हि क्षणिकत्वादनित्यं, सुखं च सप्रक्षयतया सातिशयतया च न विशिष्यते संसारावस्थातः । इति तदुच्छेदे आत्मस्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति । प्रयोगश्चात्र–नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानः अत्यन्तमुच्छिद्यते, सन्तानत्वात्, यो यः सन्तानः स सोऽत्यन्तमुच्छिद्यते, यथा प्रदीपसन्तानः । तथा चायम्, तस्मात्तदत्यन्तमुच्छिद्यते इति । तदुच्छेद एव महोदयः, न कृत्स्नकर्मक्षयलक्षण इति । “ न[2] हि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहातिरास्ति अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ” । इत्यादयोऽपि वेदान्तास्तादृशीमेव मुक्तिमादिशन्ति । अत्र हि प्रियाप्रिये सुखदुःखे, ते चाशरीरं मुक्तं न स्पृशतः । अपि च–

“ यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः ।
तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्न विकल्प्यते ॥ १ ॥
धर्माधर्मनिमित्तो हि सम्भवः सुखदुःखयोः ।
मूलभूतौ च तावेव स्तम्भौ संसारसद्मनः ॥ २ ॥
तदुच्छेदे च तत्कार्यशरीराद्यनुपप्लवात् ।
नात्मनः सुखदुःखे स्त इत्यसौ मुक्त उच्यते ॥ ३ ॥

---

[1] तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानापाये रागद्वेषमोहाख्या दोषा अपयान्ति, दोषापाये वाङ्मनःकायव्यापाररूपायाः शुभाशुभफलायाः प्रवृत्तेरपायः । प्रवृत्त्यपाये जन्मापायः । जन्मापाये एकविंशतिभेदस्य दुःखस्यापायः ।

[2] न हि वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ इति छान्दोग्य उ. ८-१२ ।

इच्छाद्वेषप्रयत्नादि भोगायतनबन्धनम् ।
उच्छिन्नभोगायतनो नात्मा तैरपि युज्यते ॥ ४ ॥
तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः ।
गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्गः प्रतिष्ठितः ॥ ५ ॥
ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्मावशिष्यते ।
स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ॥ ६ ॥
ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः ।
संसारबन्धनाधीनदुःखशोकाद्यदूषितम् ॥ ७ ॥
कामक्रोधलोभगर्वदम्भहर्षाः ऊर्मिषट्कमिति ।"

(३) मोक्ष ज्ञान और आनन्द रूप नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कारका अत्यंत उच्छेद हो जाना ही मुक्ति है । ज्ञान क्षणिक है, इस लिये वह अनित्य है, और सुखमें हानि, वृद्धि होती रहती है, इस लिये सुख संसारकी अवस्थासे भिन्न नहीं है, अतएव जिस समय अनित्य ज्ञान और अनित्य सुखका उच्छेद हो जाता है, उस समय आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होता है, वही मोक्ष है। अनुमान—' मोक्षमें बुद्धि आदि विशेष गुणोंका सर्वथा नाश हो जाता है, क्योंकि बुद्धि आदि संतान हैं, अर्थात् आत्माके नित्य स्वभाव नहीं हैं । जो जो संतान होते हैं, उनका सर्वथा नाश होता है, जैसे प्रदीपकी संतान । बुद्धि आदि विशेष गुण भी संतान हैं, इस लिये उनका भी नाश होता है । बुद्धि आदि गुणोंका अत्यंत नाश ही मोक्ष है, सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय होना नहीं । ' वेदान्तियोंका भी कथन है " शरीरधारियोंके सुख-दुखका नाश नहीं होता, तथा अशरीरीको सुख-दुख स्पर्श नहीं करते ।" तथा, " जब तक वासना आदि आत्माके सम्पूर्ण गुण नष्ट नहीं होते, उस समय तक दुखकी अत्यन्तव्यावृत्ति नहीं होती । सुख-दुख धर्म और अधर्मसे ही संभव है, इसलिये धर्म-अधर्म ही संसारके मूल स्तंभ हैं । धर्म और अधर्मके नाश हो जानेपर धर्म-अधर्मके कार्य शरीर आदिका नाश हो जाता है । उस समय सुख-दुख भी नष्ट हो जाते हैं । यही मुक्तावस्था है । इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि शरीरके कारण हैं, अतएव शरीरके उच्छेद होनेपर आत्मा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदिसे भी संबद्ध नहीं होती । इस लिये बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयतन, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नौ गुणोंका जड़मूलसे नष्ट हो जाना ही मोक्ष है । मोक्षावस्थामें आत्मा सम्पूर्ण गुणोंसे रहित होकर अपने ही स्वरूपमें अवस्थित रहता है । मुक्त जीव संसारके बंधन दुःख, शोक आदिसे मुक्त होता हुआ काम,

---

[१] जयन्तविरचितन्यायमंजर्यां पृ. ५०८ । ऊर्मिषट्कं तत्र-प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे लोभमोहौ च चेतसः । शीतातपौ शरीरस्य षडूर्मिरहितः शिवः ॥

क्रोध, लोभ, गर्व, दंभ, और हर्ष (अथवा क्षुधा, पिपासा, शोक, मूढ़ता, जरा और मृत्यु) इन छह ऊर्मियोंसे निर्लिप्त रहता है। "

तदेतदभ्युपगमत्रयमित्थं समर्थयद्भिः अत्वदीयैः—त्वदाज्ञाबहिर्भूतैः कणादमतानुगामिभिः, सुसूत्रमासूत्रितम्—सम्यगागमः प्रपञ्चितः। अथवा सुसूत्रमिति क्रियाविशेषणम्। शोभनं सूत्रं वस्तुव्यवस्थाघटनाविज्ञानं यत्रैवमासूत्रितं—तत्तच्छास्त्रार्थोपनिबन्धः कृतः, इति हृदयम्। " सूत्रं[1] तु सूचनाकारि ग्रन्थे तन्तुव्यवस्थयोः "। इत्यनेकार्थवचनात्। अत्र च सुसूत्रमिति विपरीतलक्षणयोपहासगर्भं प्रशंसावचनम्। यथा— " उपकृतं[2] बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता चिरम्। " इत्यादि। उपहसनीयता च युक्तिरिक्तत्वात् तदङ्गीकरणम्। तथाहि। अविशेषेण सद्बुद्धिवेद्येष्वपि सर्वपदार्थेषु द्रव्यादिष्वेव त्रिषु सत्तासम्बन्धः स्वीक्रियते, न सामान्यादित्रये इति महतीयं पश्यतोहरता[3]। यतः परिभाव्यतां सत्ताशब्दार्थः। अस्तीति सन्, सतो भावः सत्ता आस्तित्वं तद्वस्तुस्वरूपं। तच्च निर्विशेषमशेषेष्वपि पदार्थेषु त्वयाप्युक्तम्[4]। तत्किमिदमर्द्धजरतीयं[5] यद् द्रव्यादित्रय एव सत्तायोगो, नेतरत्र त्रये इति॥

उत्तरपक्ष—(१) इस प्रकार आपकी आज्ञासे बाह्य वैशेषिक लोग उपर्युक्त सिद्धांतोंका प्रतिपादन करते हैं (' सुसूत्र ' शब्द यहां पर कटाक्ष सूचक है, जैसे " उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता चिरं। विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥ " इस श्लोकमें कटाक्ष किया गया है)। सब पदार्थोंके सत् बुद्धिसे ज्ञेय होने पर भी वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण और कर्ममें ही सत्ता-संबंध स्वीकार करते हैं, सामान्य, विशेष और समवायमें नहीं, यह उनका महान साहस है। क्योंकि सत् (अस्तित्व) के भावको सत्ता कहते हैं, यह अस्तित्व वस्तुका स्वरूप है। अस्तित्वको आप लोगोंने भी सम्पूर्ण पदार्थोंमें स्वीकृत किया है, फिर आप लोग द्रव्य, गुण और कर्ममें ही सत्ता मानते हैं, और सामान्य, विशेष और समवायमें नहीं इसका क्या कारण है।

अनुवृत्तिप्रत्ययाभावाद् न सामान्यादित्रये सत्तायोग इति चेत्। न। तत्राप्यनुवृत्तिप्रत्ययस्यानिवार्यत्वात्। पृथिवीत्वगोत्वघटत्वादिसामान्येषु सामान्यं सामान्यमिति; विशेषेष्वपि बहुत्वाद् अयमपि विशेषोऽयमपि विशेष इति; समवाये च प्रागुक्तयुक्त्या तत्तदवच्छेदकभेदाद् एकाकारप्रतीतेरनुभवात्॥

---

[1] हेमचन्द्रकृतेऽनेकार्थसंग्रहे २–४५८। [2] " विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् " इत्युत्तरार्धम्। [3] पश्यतोहरता चौर्यम्। [4] ' षण्णां पदार्थानां साधर्म्यमस्तित्वं ज्ञेयत्वमभिधेयत्वं च इति प्रशस्तकारवचनात् '। [5] अर्धा जरती अर्धा युवतिरितिवत्।

शंका—सामान्य आदिमें अनुवृत्तिप्रत्यय (सामान्य ज्ञान) नहीं होता, इस लिये इनमें सत्ता संबंध नहीं है। **समाधान**–सामान्य, विशेष और समवायमें अनुवृत्तिप्रत्यय अवश्य होता है। क्योंकि पृथिवीत्व, गोत्व, घटत्व आदि सामान्योंमें 'यह सामान्य है;' विशेषोंमें 'यह विशेष है,' 'वह विशेष है;' और समवायमें 'यह घट समवाय है,' 'यह पट समवाय है' यह सामान्य ज्ञान होता ही है।

स्वरूपसत्त्वसाधर्म्येण सत्ताध्यारोपात् सामान्यादिष्वपि सत्सदित्यनुगम इति चेत्, तर्हि मिथ्याप्रत्ययोऽयमापद्यते। अथ भिन्नस्वभावेष्वेकानुगमो मिथ्यैवेति चेद् द्रव्यादिष्वपि सत्ताध्यारोपकृत एवास्तु प्रत्ययानुगमः। नैवम्। असति मुख्येऽध्यारोपस्यासम्भवाद् द्रव्यादिषु मुख्योऽयमनुगतः प्रत्ययः, सामान्यादिषु तु गौण इति चेत्। न। विपर्ययस्यापि शक्यकल्पनत्वात्॥

शंका—जिस प्रकार द्रव्य आदिमें स्वरूप सत्ताके साधर्म्यसे सत्ता रहती है, उसी प्रकार सामान्य आदिमें भी उपचारसे सत्ता विद्यमान है, इस लिये सामान्य आदिमें 'यह सत् है' ऐसा ज्ञान होता है। **समाधान**—यदि सामान्य आदिमें सत्ताको उपचारसे स्वीकार करोगे, तो सामान्य आदिमें सत्का ज्ञान भी मिथ्या मानना चाहिये। यदि कहो, कि भिन्न स्वभाववाले पदार्थोंमें एकताकी प्रतीति मिथ्या है, तो इस तरह द्रव्य, गुण और कर्ममें भी सत्ताको उपचारसे मानकर सत्का ज्ञान मिथ्या मानना चाहिये। यदि कहो, कि सत्ता द्रव्य, गुण और कर्ममें मुख्य रूपसे तथा सामान्य, विशेष और समवायमें गौण रूपसे रहती है, अर्थात् द्रव्यादिमें मुख्य सत्ता स्वीकार करके ही सामान्य आदिमें उपचार सत्ता मानी जा सकती है, क्योंकि मुख्य अर्थके होनेपर ही उपचार होता है, तो हम (जैन) कहते हैं, कि मुख्य और गौण सत्ताकी इससे उल्टी कल्पना भी की जा सकती है, अर्थात् सामान्य आदिमें मुख्य और द्रव्यादिमें गौण सत्ता भी मान सकते हैं।

सामान्यादिषु बाधकसम्भवाद् न मुख्योऽनुगतः प्रत्ययः, द्रव्यादिषु तु तदभावाद् मुख्य इति चेद्, ननु किमिदं बाधकम्। अथ सामान्येऽपि सत्ताऽभ्युपगमे अनवस्था, विशेषेषु पुनः सामान्यसद्भावे स्वरूपहानिः, समवायेऽपि सत्ताकल्पने तद्वृत्त्यर्थं सम्बन्धान्तराभाव इति बाधकानीति चेत्। न। सामान्येऽपि सत्ताकल्पने यद्यनवस्था, तर्हि कथं न सा द्रव्यादिषु। तेषामपि स्वरूपसत्तायाः प्रागेव विद्यमानत्वात्। विशेषेषु पुनः सत्ताभ्युपगमेऽपि न रूपहानिः, स्वरूपस्य प्रत्युतोत्तेजनात्। निःसामान्यस्य विशेषस्य क्वचिदप्यनुपलम्भात्। समवायेऽपि समवायत्वलक्षणायाः स्वरूपसत्तायाः स्वीकारे उपपद्यत एवाविष्वग्भावात्मकः सम्बन्धः, अन्यथा तस्य स्वरूपा-

---

१ "निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्। सामान्यरहितत्वे तु विशेषास्तद्वदेव हि"॥

भावप्रसङ्गः। इति बाधकाभावात् तेष्वपि द्रव्यादिवद् मुख्य एव सत्तासम्बन्ध इति व्यर्थं द्रव्यगुणकर्मस्वेव सत्ताकल्पनम् ॥

शंका––द्रव्य आदिमें मुख्य सत्ता माननेसे कोई बाधा नहीं आती, लेकिन सामान्य आदिमें मुख्य सत्ता स्वीकार करनेसे बाधा आती है। ऊपर कहा भी है, कि सामान्यमें सामान्य माननेसे अनवस्था, विशेषमें सामान्य माननेसे रूपहानि, और समवायमें सामान्य माननेसे समवायान्तरका असंबंध, दोष आते हैं। **समाधान**––यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि यदि सामान्यमें सत्ता माननेसे अनवस्था दोष आता है, तो द्रव्य, गुण, कर्ममें सत्ता माननेसे भी अनवस्था दोष क्यों नहीं आना चाहिये क्योंकि सामान्यमें स्वरूप सत्ताकी तरह द्रव्य, गुण और कर्ममें भी पहलेसे ही स्वरूपसत्ता विद्यमान है। तथा, विशेषोंमें सत्ता अंगीकार करनेपर स्वरूपकी हानि नहीं होती, बल्कि विशेषोंमें सामान्य माननेपर उल्टी विशेषोंकी सिद्धि होती है, क्योंकि सामान्यरहित विशेष कहीं भी नहीं पाये जाते। इसी तरह समवायमें भी समवायरूप स्वरूप सत्ता स्वीकार करनेपर तादात्म्य संबंध सिद्ध होता है, क्योंकि यदि समवायमें स्वरूप सत्ता न मानें, तो समवायके स्वरूप का ही अभाव होगा। इस लिये सामान्य आदिमें भी द्रव्यादिककी तरह मुख्य सत्ता माननेसे कोई बाधा नहीं आती, इस लिये इनमें भी मुख्य सत्ता ही माननी चाहिये। अतएव द्रव्य, गुण, कर्ममें ही सत्ता है और सामान्य, विशेष और समवायमें नहीं, यह कल्पना व्यर्थ है।

किञ्च, तैर्वादिभिर्यो द्रव्यादित्रये मुख्यः सत्तासम्बन्धः कक्षीकृतः, सोऽपि विचार्यमाणो विशीर्येत। तथाहि। यदि द्रव्यादिभ्योऽत्यन्तविलक्षणा सत्ता, तदा द्रव्यादीन्यसद्रूपाणि स्युः। सत्तायोगात् सत्त्वमस्त्येवेति चेत्, असतां सत्तायोगेऽपि कुतः सत्त्वम्। सतां तु निष्फलः सत्तायोगः। स्वरूपसत्त्वं भावानामस्त्येवेति चेत्, तर्हि किं शिखण्डिना सत्तायोगेन। सत्तायोगात् प्राग् भावो न सन्, नाप्यसन्, सत्तायोगात् तु सन्निति चेद्, वाङ्मात्रमेतत्। सदसद्विलक्षणस्य प्रकारान्तरस्यासम्भवात्। तस्मात् सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्तेति तेषां वचनं विदुषां परिषदि कथमिव नोपहासाय जायते ॥

तथा, वैशेषिकोंने द्रव्य, गुण और कर्ममें जो मुख्य सत्ता स्वीकार की है, वह भी विचार करनेसे युक्तियुक्त नहीं ठहरती। क्योंकि यदि सत्ता द्रव्य आदिसे अत्यन्त भिन्न है, तो द्रव्यादिको असत् मानना चाहिये। यदि द्रव्यादिको सत्ताके संबंधसे सत् मानो, तो स्वयं असत् द्रव्यादि सत्ताके संबंधसे भी सत् कैसे हो सकते हैं। और यदि द्रव्यादि स्वयं सत् हैं, तो फिर उनमें सत्ताका संबंध मानना ही निष्प्रयोजन है। यदि पदार्थोंमें स्वरूपसत्व स्वीकार करनेपर भी सत्ता मानो, तो ऐसी अकार्यकारी सत्ताका संबंध माननेसे

ही क्या प्रयोजन ? यदि कहो, कि सत्ताके संबंधसे पहले द्रव्यादि पदार्थ न सत् थे, न असत्, किंतु सत्ताके संबंधसे सत्रूप होते हैं, यह भी कथनमात्र है। क्योंकि सत् और असत्से विलक्षण कोई प्रकारान्तर आपके मतमें संभव नहीं, जिससे आप लोग सत्ता संबंधके पहले द्रव्यको 'न सत्' और 'न असत्' रूप मान सकें। अतएव सत् पदार्थोंमें भी सब पदार्थोंमें सत्ता नहीं रहती, यह वैशेषिकोंका वचन उपहासके ही योग्य है।

ज्ञानमपि यद्येकान्तेनात्मनः सकाशाद् भिन्नमिष्यते, तदा तेन चैत्रज्ञानेन मैत्रस्येव नैव विषयपरिच्छेदः स्यादात्मनः। अथ यत्रैवात्मनि समवायसम्बन्धेन समवेतं ज्ञानं तत्रैव भावावभासं करोतीति चेत्। न। समवायस्यैकत्वाद् नित्यत्वाद् व्यापकत्वाच्च सर्वत्र वृत्तेरविशेषात् समवायवदात्मनामपि व्यापकत्वादेकज्ञानेन सर्वेषां विषयावबोधप्रसङ्गः। यथा च घटे रूपादयः समवायसम्बन्धेन समवेताः, तद्विनाशे च तदाश्रयस्य घटस्यापि विनाशः एवं ज्ञानमप्यात्मनि समवेतं, तच्च क्षणिकं, ततस्तद्विनाशे आत्मनोऽपि विनाशापत्तेरनित्यत्वापत्तिः॥

(२) यदि आत्माको ज्ञानसे सर्वथा भिन्न मानो, तो मैत्रके ज्ञानसे चैत्रकी आत्माके ज्ञान की तरह चैत्रके ज्ञानसे भी चैत्रकी आत्माका ज्ञान न होना चाहिये। अर्थात् जैसे चैत्रसे मैत्रका ज्ञान भिन्न है, इस लिये मैत्रके ज्ञानसे चैत्रकी आत्माको पदार्थका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही चैत्रका ज्ञान भी चैत्रकी आत्मासे भिन्न है, इस कारण चैत्रके ज्ञानसे चैत्रकी आत्माको भी पदार्थका ज्ञान न होना चाहिये। यदि कहो, कि जिस आत्मामें ज्ञान समवाय संबंधसे विद्यमान है, उसी आत्मामें ज्ञान पदार्थोंको जानता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि समवाय एक नित्य और व्यापक है, इस लिये वह सब पदार्थोंमें समान रूपसे रहता है। तथा समवायकी तरह आत्मा भी व्यापक है, इस लिये एक आत्माके ज्ञानसे सब आत्माओंको पदार्थोंका ज्ञान होना चाहिये। तथा जिस प्रकार रूपादि घटमें समवाय संबंधसे रहते हैं, उसी तरह ज्ञान भी आत्मामें समवाय संबंधसे रहता है। और जैसे रूपादिका नाश होनेपर रूपादिके आश्रय घटादिका भी नाश होता है, वैसे ही क्षणिक ज्ञानके नाश होनेपर आत्माका भी नाश हो जाना चाहिये। इस तरह आत्मा अनित्य ठहरती है।

अथास्तु समवायेन ज्ञानात्मनोः सम्बन्धः। किंतु स एव समवायः केन तयोः सम्बध्यते। समवायान्तरेण चेद् अनवस्था। स्वेनैव चेत् किं न ज्ञानात्मनोरपि तथा। अथ यथा प्रदीपस्तत्स्वाभाव्याद् आत्मानं, परं च प्रकाशयति, तथा समवायस्येदृगेव स्वभावो यदात्मानं, ज्ञानात्मानौ च सम्बन्धयतीति चेत्, ज्ञानात्मनोरपि किं न तथास्वभावता, येन स्वयमेवैतौ सम्बध्येते। किञ्च, प्रदीपदृष्टान्तोऽपि भवत्पक्षे न घटते। यतः प्रदीपस्तावद् द्रव्यं, प्रकाशश्च तस्य धर्मः, धर्मधर्मिणोश्च त्वयात्यन्तं

भेदोऽभ्युपगम्यते तत्कथं प्रदीपस्य प्रकाशात्मकता ? तदभावे च स्वपरप्रकाशस्वभावताभणितिर्निर्मूलैव ॥

यदि समवायसे ज्ञान और आत्माका संवंध मान भी लिया जाय, तो वह समवाय आत्मा और ज्ञानमें कौनसे संवंधसे रहता है ? यदि ज्ञान और आत्मामें रहनेवाला समवाय दूसरे समवायसे रहता है, तो इस प्रकार अनंत समवाय माननेसे अनवस्था दोष आता है। यदि कहो, कि समवायमें समवायान्तर मानने की आवश्यकता नहीं, समवाय अपने संबंधसे ही समवायमें रहता है, तो आप लोग ज्ञान और आत्मामें भी स्वसंबंध ही क्यों नहीं मान लेते, समवाय संबंध माननेकी क्या आवश्यकता है ? यदि आप लोग कहें, कि जैसे दीपक अपने आपको और दूसरेको प्रकाशित करता है, वैसे ही समवाय भी स्वसंबंधसे अपनेमें रहता है, तथा ज्ञान और आत्माका भी संबंध कराता है, तो आप लोग ज्ञान और आत्माका भी स्वसंबंध क्यों नहीं स्वीकार कर लेते, समवायको एक भिन्न पदार्थ क्यों मानते हैं। तथा इस कथनकी पुष्टिमें दीपकका दृष्टान्त ही नहीं घटता। क्योंकि दीपक द्रव्य है, और प्रकाश उसका धर्म है। तथा आप लोग धर्म और धर्मीका अत्यंत भेद मानते हैं, अतएव दीपक प्रकाश रूप नहीं हो सकता। दीपकके प्रकाश रूप न रहनेसे आपने जो दीपकको स्वपर-प्रकाशक कहा, वह निराधार ही सिद्ध होगा।

यदि च प्रदीपात् प्रकाशस्यात्यन्तभेदेऽपि प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशकत्वमिष्यते, तदा घटादीनामपि तदनुषज्यते, भेदाविशेषात्। अपि च तौ स्वपरसम्वन्धस्वभावौ समवायाद् भिन्नौ स्याताम्, अभिन्नौ वा ? यदि भिन्नौ, ततस्तस्यैतौ स्वभावाविति कथं सम्बन्धः। सम्वन्धनिवन्धनस्य समवायान्तरस्यानवस्थाभयादनभ्युपगमात्। अथाभिन्नौ, ततः समवायमात्रमेव। न तौ। तद्व्यतिरिक्तत्वात् तत्स्वरूपवदिति। किञ्च, यथा इह समवायिषु समवाय इति मतिः समवायं विनाप्युपपन्ना, तथा इहात्मनि ज्ञानमित्ययमपि प्रत्ययस्तं विनैव चेदुच्यते, तदा को दोषः ॥

यदि दीपकसे प्रकाशके अत्यंत भिन्न होनेपर भी दीपकको स्वपर-प्रकाशक कहो, तो घट आदिको भी स्वपर-प्रकाशक कहनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि दीपककी तरह घट आदि भी प्रकाशसे अत्यन्त भिन्न हैं। तथा, स्व और पर पदार्थोंमें संबंध करानवाला समवायका स्वभाव समवायसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि यह स्वभाव समवायसे भिन्न है, यह समवायका स्वभाव ही नहीं हो सकता। यदि इस स्वभावके भिन्न होनेपर भी समवायान्तरसे समवायके साथ इसका संबंध मानो, तो अनवस्था दोष आता है। यदि स्वपरवंधन स्वभाव समवायसे अभिन्न है, तो फिर इसे समवाय ही कहना चाहिये, इसे समवायसे पृथक माननेकी आवश्यकता नहीं। तथा, जैसे 'इन समवायियोंमें समवाय है' यह बुद्धि समवायमें समवायान्तरके विना माने भी हो सकती है, इसी

तरह 'इस आत्मामें ज्ञान है' यह ज्ञान भी समवायको भिन्न पदार्थ माने विना ही क्यों नहीं होता ।

अथात्मा कर्ता, ज्ञानं च करणं, कर्तृकरणयोश्च वर्धकिवास्योरिव भेद एव प्रतीतः, तत्कथं ज्ञानात्मनोरभेदः इति चेत् । न । दृष्टान्तस्य वैषम्यात् । वासी हि बाह्यं करणं, ज्ञानं चान्तरं, तत्कथमनयोः साधर्म्यम् । न चैवं करणस्य द्वैविध्यमप्रसिद्धम् । यदाहुर्लाक्षणिकाः—

"करणं द्विविधं ज्ञेयं बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः ।
यथा लुनाति दात्रेण मेरुं गच्छति चेतसा" ॥

यदि हि किञ्चित्करणमान्तरमकान्तेन भिन्नमुपदर्श्यते, ततः स्याद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यम्, न च तथाविधमास्ति । न च बाह्यकरणगतो धर्मः सर्वोऽप्यान्तरे योजयितुं शक्यते, अन्यथा दीपेन चक्षुषा देवदत्तः पश्यतीत्यत्रापि दीपादिवत् चक्षुषोऽप्येकान्तेन देवदत्तस्य भेदः स्यात् । तथा च सति लोकप्रतीतिविरोध इति ॥

शंका—आत्मा कर्ता है, और ज्ञान करण है। जैसे बढ़ई कर्ता है, और वह अपनेसे भिन्न कुठार रूप करणसे कार्यको करता है, वैसे ही आत्मा कर्ता है, और वह अपनेसे भिन्न ज्ञान रूप करणसे पदार्थको जानता है, अतएव ज्ञान और आत्मा भिन्न हैं । **समाधान**—यह ठीक नहीं, क्योंकि यहां पर बढ़ई और कुठारका दृष्टांत विषम है। कारण कि कुठार बाह्य और ज्ञान आभ्यन्तर करण है। इस लिये दोनोंमें साधर्म्य नहीं हो सकता। ये बाह्य और अंतरंग करण वैयाकरणोंने भी स्वीकार किये हैं। "बाह्य और अन्तरंगके भेदसे करण दो प्रकारका है। जैसे वह कुठारसे काटता है, यहां कुठार बाह्य करण है, और वह मनसे मेरु पर्वतपर पहुंचता है, यहां मन अन्तरंग करण है।" अतएव जैसे कुठार रूप बाह्य करण बढ़ई रूप कर्तासे भिन्न है, वैसे ही यदि ज्ञान रूप अन्तरंग करण आत्मा रूप कर्तासे भिन्न होता, तो दृष्टांत और दार्ष्टान्तिकमें साधर्म्य हो सकता था, लेकिन आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं। तथा बाह्यकरणका धर्म अंतरंगकरणसे संबद्ध नहीं हो सकता, अन्यथा देवदत्त दीपक और नेत्रसे देखता है, यहां दीपककी तरह नेत्र भी देवदत्तसे सर्वथा भिन्न होना चाहिये। परन्तु ऐसा माननेसे लोक विरोध आता है।

अपि च, साध्यविकलोऽपि वासीवर्धकिदृष्टान्तः । तथाहि । नायं वर्धकिः 'काष्ठमिदमनया वास्या घटयिष्ये' इत्येवं वासीग्रहणपरिणामेनापरिणतः सन् तामगृहीत्वा घटयति, किन्तु तथा परिणतस्तां गृहीत्वा । तथा परिणामे च वासिरपि तस्य

---

१ वर्धकिस्त्वष्टा, वासी तच्छस्त्रम् ।

काष्ठस्य घटने व्याप्रियते पुरुषोऽपि । इत्येवं लक्षणैकार्यसाधकत्वात् वासीवर्धक्योरभेदोऽप्युपपद्यते । तत्कथमनयोर्भेद एव इत्युच्यते । एवमात्मापि ‘ विवक्षितमर्थमनेन ज्ञानेन ज्ञास्यामि ’ इति ज्ञानग्रहणपरिणामवान् ज्ञानं गृहीत्वार्थं व्यवस्यति । ततश्च ज्ञानात्मनोरुभयोरपि संवित्तिलक्षणैककार्यसाधकत्वादभेद एव । एवं कर्तृकरणयोरभेदे सिद्धे संवित्तिलक्षणं कार्यं किमात्मनि व्यवस्थितं, आहोस्विद् विषये इति वाच्यम् । आत्मनि चेत्, सिद्धं नः समीहितम् । विषये चेत्, कथमात्मनोऽनुभवः प्रतीयते । अथ विषयस्थितसंवित्तेः सकाशादात्मनोऽनुभवः, तर्हि किं न पुरुषान्तरस्यापि, तद्भेदाविशेषात् ॥

तथा बढ़ई और कुठारका दृष्टांत साध्यविकल भी है । क्योंकि ‘ मैं इस क्षुठारसे इस लकड़ीको बनाउंगा’, यह सोचकर कुठारको लेकर ही बढ़ई काष्ठको बनाता है, तथा कुठारके ग्रहण करनेपर स्वयं बढ़ई भी काष्ठके बनानेमें प्रवृत्त होता है, इस लिये बफ़ई और कुठारमें काष्ठके बनाने रूप अर्थक्रियाकी साधकताकी अपेक्षासे भेद नहीं है । अर्थात् जिस प्रकार अपने कुठारका उपयोग करनेका विचार करते समय बढ़ईकी आत्मामें परिणाम उत्पन्न होता है, और वह कार्यमें प्रवृत्ति करनेके लिये कुठारको अपनी आत्माके रूपमें परिणत करता है, वैसे ही ज्ञानके द्वारा किसी पदार्थको जाननेका विचार करते समय आत्मामें परिणाम उत्पन्न होता है, और पदार्थोंके जाननेके लिये ज्ञान आत्मा रूपमें परिणत होता है । अतएव जैसे काष्ठके बनाने रूप अर्थक्रियामें बढ़ई तथा कुठारका अभेद है, वैसे ही पदार्थोंके जाननेकी अर्थक्रियामें आत्मा और ज्ञानमें भी अभेद ही है । इस लिये बढ़ई और कुठारका दृष्टांत आत्मा और ज्ञानमें ‘ भेद ’ सिद्ध नहीं करता, इस लिये साध्यविकल है । भाव यह है, कि जैसे काष्ठ कुठारसे बनाया जाता है, वैसे ही काष्ठ बढ़ईसे भी बनाया जाता है, इस लिये बढ़ई और कुठार दोनों एक ही अर्थक्रिया करते हैं, इस लिये अभिन्न हैं । उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान दोनों पदार्थके जानने रूप एक ही अर्थके साधक हैं, इस लिये परस्पर अभिन्न हैं । इस प्रकार कर्ता और करणके अभेद सिद्ध होनेपर प्रश्न होता है, कि संवित्ति (ज्ञान) रूप क्रिया आत्मा में होती है, या पदार्थमें ? यदि ज्ञान आत्मामें ही उत्पन्न होता है, तो यह सिद्धांत हमारे अनुकूल ही है । क्योंकि हमलोग (जैन) भी ज्ञानको आत्मामें ही मानते हैं । यदि कहो, कि यह ज्ञान पदार्थमें होता है, तो आत्मामें सुख-दुखादि अनुभव नहीं हो सकता । यदि आप लोग कहें, कि पदार्थमें स्थित ज्ञानसे ही आत्माका अनुभव होता है, तो इस ज्ञानको उस आत्माको छोड़कर दूसरी आत्माओंमें भी क्यों स्वीकार नहीं करते । क्योंकि जैसे आत्मासे विषय भिन्न है, वैसे आत्मान्तर भी आत्मासे भिन्न ही हैं ।

अथ ज्ञानात्मनोरभेदपक्षे कथं कर्तृकरणभावः इति चेत्, ननु यथा सर्प आत्मानमात्मना वेष्टयतीत्यत्र अभेदे यथा कर्तृकरणभावस्तथात्रापि । अथ परिकल्पितोऽयं कर्तृकरणभाव इति चेद्, वेष्टनावस्थायां प्रागवस्थाविलक्षणगतिनिरोधलक्षणार्थक्रियादर्शनात् कथं परिकल्पितत्वम् । न हि परिकल्पनाशतैरपि शैलस्तम्भ आत्मानमात्मना वेष्टयतीति वक्तुं शक्यम् । तस्मादभेदेऽपि कर्तृकरणभावः सिद्ध एव । किञ्च, चैतन्यमिति शब्दस्य चिन्त्यतामन्वर्थः । चेतनस्य भावश्चैतन्यम् । चेतनश्चात्मा त्वयापि कीर्त्यते । तस्य भावः स्वरूपं चैतन्यम् । यच्च यस्य स्वरूपं, न तत् ततो भिन्नं भवितुमर्हति । यथा वृक्षाद्वृक्षस्वरूपम् ॥

शंका—ज्ञान और आत्माके अभेद माननेपर कर्ता और करण संबंध नहीं बन सकता । समाधान—जैसे 'सर्प अपने आपको अपनेसे वेष्टित करता है' यहां कर्ता और करणके अभेद होनेपर भी कर्ता और करण भाव बनता है, वैसे ही आत्मा और ज्ञानके अभिन्न होनेपर भी कर्ता और करण भावमें कोई बाधा नहीं आती । यदि कहो, कि यह कर्ता और करण भाव कल्पना मात्र है, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि सर्पकी वेष्टन अवस्थासे पहले सर्पकी गतिका निरोध देखा जाता है । तथा सैकडों कल्पनायें करनेसे भी पाषाणका स्तंभ अपने आपको अपनेसे वेष्टित नहीं कर सकता । इस लियं कर्ता और करण भावको कल्पित कहना ठीक नहीं है । तथा चेतनके भावको चैतन्य कहते हैं । आत्माको आप लोगोंने भी चैतन्य स्वीकार किया है । चैतन्य आत्माका स्वरूप है । जो जिसका स्वरूप होता है, वह उससे भिन्न नहीं होता, जैसे वृक्षका स्वरूप वृक्षसे भिन्न नहीं है । इस लिये ज्ञान और आत्माको भिन्न माननां ठीक नहीं है ।

अथास्ति चेतन आत्मा, परं चेतनासमवायसम्बन्धात्, न स्वतः, तथाप्रतीतेः इति चेत् । तदयुक्तम् । यतः प्रतीतिश्चेत् प्रमाणीक्रियते, तर्हि निर्बाधमुपयोगात्मक एवात्मा प्रसिद्ध्यति । न हि जातुचित् स्वयमचेतनोऽहं चेतनायोगात् चेतनः, अचेतने वा मयि चेतनायाः समवाय इति प्रतीतिरस्ति । ज्ञाताहमिति समानाधिकरणतया प्रतीतेः । भेदे तथाप्रतीतिरिति चेत् । न । कथंचित् तादात्म्याभावे सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्शनात् । यष्टिः पुरुष इत्यादिप्रतीतिस्तु भेदे सत्युपचाराद् दृष्टा, न पुनस्तात्त्विकी । उपचारस्य तु बीजं पुरुषस्य यष्टिगतस्तब्धत्वादिगुणैरभेदः उपचारस्य मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । तथा चात्मनि ज्ञाताहमितिप्रतीतिः कथञ्चित् चेतनात्मतां गमयति तामन्तरेण ज्ञाताहमिति प्रतीतेरनुपपद्यमानत्वात् घटादिवत् । न हि घटादिरचेतनात्मको ज्ञाताहमिति प्रत्येति । चैतन्ययोगाभावात् असौ न तथा प्रत्येतीति चेत् । न ।

अचेतनस्यापि चैतन्ययोगात् चेतनोऽहमिति प्रतिपत्तेरनन्तरमेव निरस्तत्वात् । इत्यचेतनत्वं सिद्धमात्मनो जडस्यार्थपरिच्छेदं पराकरोति । तं पुनरिच्छता चैतन्यस्वरूपतास्य स्वीकरणीया ॥

यदि कहो, कि आत्मा समवाय संबंधसे चेतन है, स्वयं चेतन नहीं, क्योंकि इसी प्रकारका ज्ञान होता है, यह भी ठीक नहीं । कारण कि यदि आप लोग ज्ञान (प्रतीति) को ही प्रमाण मानते हैं, तो आत्माको निश्चयसे उपयोग रूप ही मानना चाहिये । क्योंकि कभी भी ऐसा ज्ञान नहीं होता, कि मैं स्वयं अचेतन होकर चेतनाके संबंधसे चेतन हूं, अथवा मेरी अचेतन आत्मामें चेतनका समवाय होता है । परन्तु इसके विपरीत ही आत्मा और ज्ञानके एक अधिकरणमें रहनेका ही ज्ञान होता है, कि मैं ज्ञाता हूं । यदि आप लोग कहें, कि आत्मा और ज्ञानका भेद माननेपर भी आत्मा और ज्ञानका एक अधिकरण बन सकता है, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि कथंचित् तादात्म्य (अभिन्न) संबंधके विना एक अधिकरणकी प्रतीति नहीं हो सकती । 'पुरुष यष्टि है' यह ज्ञान पुरुष और यष्टिके वास्तविक भेद होनेपर भी वास्तविक नहीं है, यह केवल उपचारसे होता है । तथा यष्टिके स्तब्धता आदि गुणोंका पुरुषके साथ अभेद होनेसे ही उपचार होता है, क्योंकि मुख्य अर्थके होनेपर उपचारकी प्रवृत्ति होती है । इसी तरह आत्मामें 'मैं ज्ञाता हूं' यह प्रतीति आत्माके कथंचित् चैतन्य स्वभावको ही द्योतित करती है, क्योंकि विना चैतन्य स्वभावके 'मैं ज्ञाता हूं' ऐसी प्रतीति नहीं होती । जैसे घटमें चैतन्य रूप नहीं है, इस लिये उसमें 'मैं ज्ञाता हूं' यह ज्ञान भी नहीं होता । यदि कहो, कि घटमें चैतन्यका संबन्ध नहीं होता है, इस लिये उसमें 'मैं ज्ञाता हूं' ऐसा ज्ञान नहीं होता, यह ठीक नहीं । क्योंकि अचेतनमें चैतन्यके संबंधसे ही 'मैं चैतन्य हूं' यह प्रतीति होती है, इस मतका हमने अभी खंडन किया है । अतएव यदि आत्माको अचेतन माना जाय, तो उससे पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता । इस लिये आत्मासे पदार्थोंका ज्ञान करनेके लिये आत्माको चैतन्य स्वीकार करना चाहिये ।

ननु ज्ञानवानहमिति प्रत्ययादात्मज्ञानयोर्भेदः, अन्यथा धनवानिति प्रत्ययादपि धनधनवतोर्भेदाभावानुषङ्गः । तदसत् । ज्ञानवानहमिति नात्मा भवन्मते प्रत्येति, जडैकान्तरूपत्वात्, घटवत् । सर्वथा जडश्च स्यादात्मा, ज्ञानवानहमितिप्रत्ययश्च स्याद् अस्य विरोधाभावात् इति मा निर्णैषीः । तस्य तथोत्पत्त्यसम्भवात् । ज्ञानवानहमिति हि प्रत्ययो नागृहीते ज्ञानाख्ये विशेषणे, विशेष्ये चात्मनि जातूत्पद्यते, स्वमतविरोधात् । "नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" इति वचनात् ॥

शंका—'मैं ज्ञानवान हूं' इस ज्ञानसे ही आत्मा और ज्ञानमें भेद सिद्ध होता है, अन्यथा 'मैं धनवान हूं' इस ज्ञानसे भी धन और धनवानमें भेद न होना चाहिये ।

समाधान—यह ठीक नहीं, क्योंकि वैशेषिकोंके मतमें घटकी तरह आत्मा सर्वथा जड़ है, इस लिये उसमें 'मैं ज्ञानवान हूं' यह ज्ञान ही नहीं हो सकता। यदि आप लोग कहें, कि आत्माके सर्वथा जड़ होते हुए भी 'मैं ज्ञानवान हूं' ऐसा प्रत्यय होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि 'मैं ज्ञानवान हूं' यह प्रतीति ही आत्मामें नहीं हो सकती, कारण कि 'मैं ज्ञानवान हूं' यह प्रत्यय ज्ञान रूप विशेषण और आत्मा रूप विशेष्य ज्ञानके विना कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि कहा है "विना विशेषणको ग्रहण किये हुए विशेष्यका ज्ञान नहीं होता।"

गृहीतयोस्तयोरुत्पद्यत इति चेत्, कुतस्तद्गृहीतिः। न तावत् स्वतः, स्वसंवेदनानभ्युपगमात्। स्वसंविदिते ह्यात्मनि ज्ञाने च स्वतः सा युज्यते, नान्यथा, सन्तानान्तरवत्। परतश्चेत्, तदपि ज्ञानान्तरं विशेष्यं नागृहीते ज्ञानत्वविशेषणे ग्रहीतुं शक्यम्। गृहीते हि घटत्वे घटग्रहणमिति ज्ञानान्तरात् तद्ग्रहणेन भाव्यम्, इत्यनवस्थानात् कुतः प्रकृतप्रत्ययः। तदेवं नात्मनो जडस्वरूपता संगच्छते। तदसङ्गतौ च चैतन्यमौपाधिकमात्मनोऽन्यदिति वाङ्मात्रम्॥

शंका—जब आत्मा विशेषण (ज्ञान) और विशेष्य (आत्मा) को ग्रहण करता है, उस समय 'मैं ज्ञानवान हूं' यह प्रतीति होती है। **समाधान**—यहां प्रश्न होता है, कि यह प्रतीति स्वतः होती है, या परतः ? यह प्रतीति स्वयं नहीं हो सकती, क्योंकि आप लोग आत्मामें स्वसंवेदन ज्ञान नहीं मानते हैं। तथा दूसरी संतानोंकी तरह आत्मा और ज्ञानके स्वसंविदित होनेपर यह प्रतीति स्वयं हो सकती है; अन्यथा नहीं। अर्थात् जैसे घट पटादि दूसरी संतानोंसे स्वसंविदित नहीं हैं, इस लिये उनमें 'मैं ज्ञाता हूं' यह प्रतीति नहीं होती, वैसे ही आत्मामें भी यह प्रतीति नहीं होनी चाहिये। यदि कहो, कि आत्मा दूसरे ज्ञानके द्वारा अपने ज्ञान रूप विशेषणको ग्रहण करती है, तो वह दूसरा ज्ञान रूप विशेष्य भी अपने ज्ञानत्व विशेषणको ग्रहण किये विना आत्माके ज्ञान रूप विशेषणको ग्रहण नहीं करसकता। अर्थात् जैसे घटत्वका ग्रहण होनेपर ही घटका ग्रहण होता है, उसी तरह ज्ञानत्वका ग्रहण होनेपर ही ज्ञानका ग्रहण होना चाहिये। इस प्रकार एक ज्ञानत्वका दूसरे तीसरे आदि ज्ञानसे ज्ञान माननेपर अनवस्था दोष आता है। इस लिये 'मैं ज्ञानवान हूं' ऐसी प्रतीति किसी भी तरह आत्मामें न हो सकेगी। अतएव आत्माको जड़ स्वीकार करना ठीक नहीं है। तथा आत्माके जड़ न सिद्ध होनेपर आत्माके ज्ञानको उपाधिजन्य मानना भी केवल कथन मात्र है।

तथा यदपि न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति व्यवस्थापनाय अनुमानमवादि सन्तानत्वादिति। तत्राभिधीयते। ननु किमिदं सन्तानत्वं स्वतन्त्रमपरापरपदार्थोत्पत्तिमात्रं वा, एकाश्रयापरापरोत्पत्तिर्वा ? तत्राद्यः पक्षः सव्यभिचारः। अपरापरेषामुत्पादकानां घटपटकटादीनां सन्तानत्वेऽप्यत्यन्तमनुच्छिद्यमानत्वात्। अथ

द्वितीयः पक्षः, तर्हि तादृशं सन्तानत्वं प्रदीपे नास्तीति साधनविकलो दृष्टान्तः। परमाणुपाकजरूपादिभिश्च व्यभिचारी हेतुः। तथाविधसन्तानत्वस्य तत्र सद्भावेऽप्यत्यन्तोच्छेदाभावात्। अपि च सन्तानत्वमपि भविष्यति अत्यन्तानुच्छेदश्च भविष्यति। विपर्यये वाधकप्रमाणाभावात्। इति संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादप्यनैकान्तिकोऽयम्। किञ्च, स्याद्वादवादिनां नास्ति क्वचिदत्यन्तमुच्छेदः, द्रव्यरूपतया स्थास्नूनामेव सतां भावानामुत्पादव्यययुक्तत्वात् इति विरुद्धश्च। इति नाधिकृतानुमानाद् बुद्ध्यादिगुणोच्छेदरूपा सिद्धिः सिद्ध्यति॥

(३) मुक्तिको ज्ञान और सुखका अभाव रूप सिद्ध करनेके लिये आप लोगोंने जो संतानत्व हेतु दिया है, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि आपके मतमें स्वतंत्र रूपसे एकके बाद दूसरे और दूसरे के वाद तीसरे, इस तरह अनेक पदार्थोंकी उत्पत्ति मात्र संतानत्व है, अथवा एक ही आश्रयमें रहते हुए एकके वाद एक, अनेक पदार्थोंकी उत्पत्ति होना संतानत्व है। पहला पक्ष सदोष है। कारण कि घट, पट, आदि एकके वाद एक, अनेक पदार्थोंके उत्पादक हैं, परन्तु उनमें सन्तानत्व है, क्योंकि उनका अत्यन्त नाश नहीं देखा जाता (वैशेषिकमतमें घट आदि संतानोंका निरन्वय नाश नहीं होता)। दूसरा पक्ष, अर्थात् एक ही आश्रयमें रहते हुए एकके वाद एक, अनेक पदार्थोंकी उत्पत्तिको संतान स्वीकार करनेमें दीपकसे विरोध आता है, क्योंकि दीपकमें सन्तानत्व नहीं रहता। इस लिये प्रदीपका दृष्टांत साधनविकल है। प्रदीपकी संतानका एक अधिकरण नहीं है, क्योंकि पूर्व अग्निकी ज्वाला रूप दीपक पूर्व अग्निकी ज्वालाके नष्ट होनेके क्षणमें नष्ट हो जाता है, इस लिये दीपकका दृष्टांत साधनसे शून्य है। तथा सन्तानत्व हेतु परमाणुपाकज रूप (अग्निके द्वारा परमाणुमें उत्पन्न किया हुआ रूप) आदिसे व्यभिचारी है, क्योंकि परमाणुपाकज रूपमें संतान होनेपर भी उसका अत्यंत नाश नहीं होता। वैशेषिक लोग 'पीलुपाक' सिद्धांतको मानते हैं। उनके मतमें जिस समय कच्चा घड़ा अग्निमें पकानेके लिये रक्खा जाता है, उस समय यह कच्चा घड़ा नष्ट हो कर परमाणु रूप हो जाता है। उसके वाद अग्निके संयोगसे परमाणुओंमें लाल रंग उत्पन्न होता है। ये परमाणु एकत्र होकर पक्के घड़ेके रूपमें बदलते हैं। यह परमाणुपाकज प्रक्रिया अत्यंत शीघ्रतासे होती है, और नौ क्षणोंमें समाप्त हो जाती है। जैन लोगोंका कहना है, कि अग्निके द्वारा उत्पन्न किये हुए परमाणुमें रूप-संतान होनेपर भी उसका अत्यंत उच्छेद नहीं होता, इस लिये उक्त हेतु व्यभिचारी है। क्योंकि कच्चे घड़ेके अग्निमें रखनेसे जब उस घटका परमाणुपर्यंत विभाग होता है, तव उन परमाणुओंमें पूर्व घटकी रूप-संतान वदलकर दूसरे रूपमें उत्पन्न होती है, इस लिये यद्यपि पूर्व और अपर संतान परमाणुरूप एक आश्रयमें रहती है, तो भी संतानका अत्यंत नाश नहीं होता। तथा संतानत्वके रहनेपर भी अत्यंत नाश नहीं हो सकता हो, इसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। क्योंकि घट

आदि पदार्थ संतान हैं, फिर भी उनका सर्वथा नाश नहीं होता। अतएव 'मुक्तिमें बुद्धि आदि गुणोंका अत्यंत उच्छेद हो जाता है, क्योंकि बुद्धि आदि सन्तान हैं' इस अनुमानमें संतानत्व हेतु विपक्ष घटादिमें उच्छेद्यत्व साध्यके अभाव अनुच्छेद्यत्वके साथ रहता है, इस लिये संदिग्ध विपक्षव्यावृत्ति होनेसे अनैकान्तिक हेत्वाभास है। तथा, स्याद्वादियोंके किसी भी द्रव्यका अत्यंत उच्छेद नहीं होता, क्योंकि द्रव्य रूपसे ध्रुव रहनेवाले पदार्थोंके ही उत्पाद और व्यय होते हैं, इस लिये संतानत्व हेतु विरुद्ध भी है। अतएव आप लोगोंके अनुमानसे मोक्षमें बुद्धि आदि गुणोंका अत्यंत नाश सिद्ध नहीं होता।

नापि "न हि वै सशरीरस्य" इत्यादेरागमात्। स हि शुभाशुभादृष्टपरिपाकजन्ये सांसारिकप्रियाप्रिये परस्परानुषक्ते अपेक्ष्य व्यवस्थितः। मुक्तिदशायां तु सकलादृष्टक्षयहेतुकमैकान्तिकमात्यन्तिकं च केवलं प्रियमेव, तत्कथं प्रतिषिध्यते। आगमस्य चायमर्थः, सशरीरस्य—गतिचतुष्टयान्यतमस्थानवर्तिन आत्मनः, प्रियाप्रिययोः—परस्परानुषक्तयोः सुखदुःखयोः अपहतिः— अभावो नास्तीति। अवश्यं हि तत्र सुखदुःखाभ्यां भाव्यम्। परस्परानुषक्तत्वं च समासकरणादभ्यूह्यते। अशरीरं—मुक्तात्मानं, वाशब्दस्यैवकारार्थत्वात् अशरीरमेव; वसन्तं—सिद्धिक्षेत्रमध्यासीनं, प्रियाप्रिये—परस्परानुषक्ते सुखदुःखे न स्पृशतः॥

तथा, मोक्ष अवस्थामें सुखका अभाव सिद्ध करनेके लिये आप लोगोंने "न हि वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" जो आगमका प्रमाण दिया है, वह भी साध्यकी सिद्धि नहीं करता। क्योंकि यहां जो मोक्षमें प्रिय-अप्रिय (सुख-दुख) का प्रतिषेध किया गया है, वह केवल शुभ, अशुभ अदृष्टके परिणामसे उत्पन्न, एक दूसरेसे संबद्ध, सांसारिक सुख-दुखकी अपेक्षासे ही किया गया है। मुक्तावस्थाका सुख समस्त पुण्य-पापके क्षयसे उत्पन्न होता है, इस लिये यह सुख एकान्तिक (एकरूप) और आत्यंतिक (नाश न होनेवाला) होता है, इस नित्य सुखका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। अतएव उक्त आगममें प्रिय-अप्रिय शब्दोंसे पुण्य-पापसे उत्पन्न होनेवाले सांसारिक सुख-दुखका ही प्रतिषेध किया गया है, मुक्तावस्थाके अनंत और अव्याबाध सुखका नहीं। इस लिये आगमका निम्नप्रकारसे अर्थ करना चाहिये:—'सशरीरस्य प्रियाप्रिययोः अपहतिः नास्ति'—संसारी आत्माके परस्पर अपेक्षित सुख-दुखका अभाव नहीं होता। (यहां 'प्रियाप्रिय' में द्वंद समास करनेसे सुख-दुखको परस्पर अपेक्षित समझना चाहिये)। 'अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः'—मुक्तावस्थामें रहनेवाले मुक्तात्माको परस्पर अपेक्षित सुख-दुखका स्पर्श नहीं होता।

इदमत्र हृदयम्। यथा किल संसारिणः सुखदुःखे परस्परानुषक्ते स्यातां, न तथा मुक्तात्मनः किन्तु केवलं सुखमेव। दुःखमूलस्य शरीरस्यैवाभावात्। सुखं

त्वात्मस्वरूपत्वादवस्थितमेव। स्वस्वरूपावस्थानं हि मोक्षः। अत एव चाशरीरमित्युक्तम्। आगमार्थश्चायमित्थमेव समर्थनीयः। यत एतदर्थानुपातिन्येव स्मृतिरपि दृश्यते—

सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
तं वै मोक्षं विजानीयाद् दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥"

न चायं सुखशब्दो दुःखाभावमात्रे वर्तते। मुख्यसुखवाच्यतायां बाधकाभावात्। अयं रोगाद् विप्रमुक्तः सुखी जात इत्यादिवाक्येषु च सुखीति प्रयोगस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गाच्च। दुःखाभावमात्रस्य रोगाद् विप्रमुक्त इतीयतैव गतत्वात् ॥

तात्पर्य यह है, कि जैसे संसारी जीवके सुख-दुख परस्पर अपेक्षित होते हैं, वैसे मुक्त जीवके नहीं होते। मुक्त जीवोंके केवल सुख ही होता है, क्योंकि उनके शरीरका अभाव है। तथा मुक्त जीव अपने आत्मस्वरूपमें स्थित रहते है, इस लिये उनके सुख ही होता है। कारण कि अपने स्वरूपमें अवस्थित होना ही मोक्ष है। इसीलिये मुक्त जीव शरीर रहित हैं। स्मृतिसे भी इस अर्थका समर्थन होता है। "जिस अवस्थामें इंद्रियोंसे बाह्य केवल बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य आत्यंतिक सुख विद्यमान है, वहीं मोक्ष है।" यहांपर सुखका अर्थ केवल दुखका अभाव ही नहीं है। यदि सुखका अर्थ केवल दुखका अभाव ही किया जाय, तो 'यह रोगी रोग रहित होकर सुखी हुआ है' आदि वाक्योंमें पुनरुक्ति दोष आना चाहिये। क्योंकि उक्त सम्पूर्ण वाक्य न कहकर 'यह रोगी रोग रहित हुआ है' इतना कहनेसे ही काम चल जाता है।

न च भवदुदीरितो मोक्षः पुंसामुपादेयतया संमतः। को हि नाम शिलाकल्पमपगतसकलसुखसंवेदनमात्मानमुपपादयितुं यतेत। दुःखसंवेदनरूपत्वादस्य सुखदुःखयोरेकस्याभावेऽपरस्यावश्यम्भावात्। अत एव त्वदुपहासः श्रूयते—

"वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छितम्।
न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तुमिच्छति ॥"

तथा, शिलाके समान सम्पूर्ण सुखोंके संवेदनसे रहित वैशेषिकोंकी मुक्तिको प्राप्त करनेका कौन प्रयत्न करेगा? क्योंकि वैशेषिकोंके अनुसार पाषाणकी तरह मुक्त जीव भी सुखके अनुभवसे रहित होते हैं। अतएव सुखका इच्छुक कोई भी प्राणी वैशेषिकोंकी मुक्तिकी इच्छा न करेगा। तथा, यदि मोक्षमें सुखका अभाव हो, तो मोक्ष दुख रूप होना चाहिये, क्योंकि सुख और दुखमें एकका अभाव होनेपर दूसरेका सद्भाव अवश्य रहता है। कुछ लोगोंने वैशेषिकोंकी मुक्तिका उपहास करते हुए कहा भी है "गौतम ऋषि वैशेषिकोंकी मुक्ति प्राप्त करनेकी अपेक्षा वृंदावनमें शृगाल होकर रहना अच्छा समझते हैं।"

सोपाधिकसावधिकपरिमितानन्दनिष्यन्दात् स्वर्गादप्यधिकं तद्विपरितानन्दम-

म्लानज्ञानं च मोक्षमाचक्षते विचक्षणाः। यदि तु जडः पाषाणनिर्विशेष एव तस्यामवस्थायामात्मा भवेत्, तदलमपवर्गेण। संसार एव वरमस्तु। यत्र तावदन्तरान्तरापि दुःखकलुषितमपि कियदपि सुखमनुभुज्यते, चिन्त्यतां तावत् किमल्पसुखानुभवो भव्य उत सर्वसुखोच्छेद एव॥

उपाधि और अवधि रहित अपरिमित आनन्द और निर्मल ज्ञानके प्राप्त करनेको विद्वान लोग मोक्ष कहते हैं। यदि मोक्षमें पाषाणके समान आत्मा जड़ रूप ही रह जाती है, तो फिर ऐसे मोक्षकी ही क्या आवश्यकता है, इससे अच्छा संसार ही है, जहां बीच बीचमें दुखसे परिपूर्ण कमसे कम थोडा बहुत सुख तो मिलता रहता है। अतएव यह विचारणीय है, कि सम्पूर्ण सुखोंका उच्छेद करनेवाले मोक्षको प्राप्त करना श्रेष्ठ है, अथवा संसारमें रहकर ही थोडे बहुत सुखका उपभोग करना अच्छा है।

अथास्ति तथाभूते मोक्षे लाभातिरेकः प्रेक्षादक्षाणाम्। ते ह्येवं विवेचयन्ति। संसारे तावद् दुःखास्पृष्टं सुखं न सम्भवति, दुःखं चावश्यं हेयम्, विवेकहानं चानयोरेकभाजनपतितविषमधुनोरिव दुःशक्यम्, अत एव द्वे अपि त्यज्येते। ततश्च संसाराद् मोक्षः श्रेयान्। यतोऽत्र दुःखं सर्वथा न स्यात्। वरमियती कादाचित्कसुखमात्रापि त्यक्ता, न तु तस्याः दुःखभार इयान् व्यूढ इति॥

शंका—मोक्षमें संसारकी अपेक्षा अधिक सुख है, इस लिये मोक्ष ही ग्राह्य है, क्योंकि संसारमें दुख रहित सुख संभव नहीं है। जैसे एक ही पात्रमें रक्खे हुए शहद और विषका अलग करना बहुत कठिन है, उसी तरह सांसारिक सुख-दुखमें विवेक पूर्वक दुखका त्याग करना कष्टसाध्य है। अतएव सुख-दुख दोनोंको ही छोड देना श्रेयस्कर है, इस लिये संसारसे मोक्ष अच्छा है, क्योंकि मोक्षमें दुखका सर्वथा अभाव है। कारण कि क्षणिक सुखसे उत्पन्न होनेवाले महान दुखको भोगनेकी अपेक्षा उस क्षणिक सुखका त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है।

तदेतत्सत्यम्। सांसारिकसुखस्य मधुदिग्धधाराकरालमण्डलाग्रग्रासवद् दुःखरूपत्वादेव युक्तैव मुमुक्षूणां तज्जिहासा। किन्त्वात्यन्तिकसुखविशेषलिप्सूनामेव। इहापि विषयनिवृत्तिजं सुखमनुभवासिद्धमेव, तद् यदि मोक्षे विशिष्टं नास्ति, ततो मोक्षो दुःखरूप एवापद्यत इत्यर्थः। ये अपि विषमधुनी एकत्र सम्पृक्ते त्यज्येते, ते अपि सुखविशेषलिप्सयैव। किञ्च, यथा प्राणिनां संसारावस्थायां सुखमिष्टं दुःखं चानिष्टम्, तथा मोक्षावस्थायां दुःखनिवृत्तिरिष्टा, सुखनिवृत्तिस्त्वनिष्टैव। ततो यदि त्वदभिमतो मोक्षः स्यात्, तदा न प्रेक्षावतामत्र प्रवृत्तिः स्यात्। भवति चेयम्। ततः सिद्धो मोक्षः सुखसंवेदनस्वभावः प्रेक्षावत्प्रवृत्तेरन्यथानुपपत्तेः॥

समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि सांसारिक सुख शहदसे लिपटी हुई तीक्ष्ण धारवाली तलवारकी नोकको चाटनेके समान है, इस लिये सांसारिक सुख दुख रूप है, अतएव मुमुक्षु लोगोंको उसे त्यागना ही ठीक है। किन्तु अविनाशी सुखके चाहने वालोंको ही सांसारिक दुख छोड़ना चाहिये। तथा संसारमें भी विषयोंकी निवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाला सुख अनुभवसे सिद्ध है। अतएव यदि मोक्षमें संसारसे विशिष्ट सुख नहीं है, तो मोक्षके दुख रूप होनेसे मोक्ष त्याज्य है। तथा, एक साथ सम्मिलित विष और मधुका त्याग भी विशेष सुखकी इच्छासे ही किया जाता है। जैसे प्राणियोंको सांसारिक अवस्थामें सुख इष्ट और दुख अनिष्ट है, वैसे ही मोक्षावस्थामें दुखकी निवृत्ति इष्ट, और सुखकी निवृत्ति अनिष्ट है। अतएव यदि मोक्षमें ज्ञान और आनन्दका अभाव है, तो मोक्षमें किसी भी बुद्धिमानकी प्रवृत्ति न होनी चाहिये। अतएव मोक्ष सुख और ज्ञान रूप है।

अथ यदि सुखसंवेदनैकस्वभावो मोक्षः स्यात् तदा तद्रागेण प्रवर्तमानो मुमुक्षुर्न मोक्षमधिगच्छेत्। न हि रागिणां मोक्षोऽस्ति रागस्य बन्धनात्मकत्वात्। नैवम्। सांसारिकसुखेष्वेव रागो बन्धनात्मकः विषयादिप्रवृत्तिहेतुत्वात्। मोक्षसुखे तु रागः तन्निवृत्तिहेतुत्वाद् न बन्धनात्मकः। परां कोटिमारूढस्य च स्पृहामात्ररूपोऽप्यसौ निवर्तते "मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः" इति वचनात्। अन्यथा भवत्पक्षेऽपि दुःखनिवृत्त्यात्मकमोक्षाङ्गीकृतौ दुःखविषयं कषायकालुष्यं केन निषिध्येत। इति सिद्धं कृत्स्नकर्मक्षयात् परमसुखसंवेदनात्मको मोक्षो, न बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदरूप इति ॥

शंका—यदि मोक्षको सुख और ज्ञान रूप माना जाय, तो मोक्षमें राग भावसे प्रवृत्ति करनेवाले मुमुक्षुको मोक्षकी प्राप्ति न होनी चाहिये। क्योंकि राग बंधन रूप है, इस लिये रागी पुरुषोंको मोक्ष नहीं मिलता। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि सांसारिक सुख ही रागका कारण है, यह सांसारिक सुख ही विषय आदिकी प्रवृत्तिमें कारण है। किन्तु मोक्षसुखका अनुराग विषय आदिकी प्रवृत्तिमें कारण नहीं है, इस लिये वह बंधन रूप नहीं। तथा उत्कृष्ट दशाको प्राप्त हुए आत्माके यह इच्छा मात्र भी राग नहीं रहता। जैसा कहा भी है "उत्तम मुनि मोक्ष और संसार दोनोंमें निस्पृह रहते हैं।" अन्यथा दुखकी अत्यन्त निवृत्ति रूप वैशेषिकोंके मोक्षमें भी दुख रूप कषायका उत्पन्न होना संभव है। अतएव सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला परम सुख और आनन्द स्वरूप ही मोक्ष मानना युक्तियुक्त है, बुद्धि आदि आत्माके विशेष गुणोंका उच्छेद होना मोक्ष नहीं कहा जा सकता।

अपि च भोस्तपस्विन्, कथञ्चिदेषामुच्छेदोऽस्माकमप्यभिमत एवेति मा विरूपं मनः कृथाः। तथाहि। बुद्धिशब्देन ज्ञानमुच्यते। तच्च मतिश्रुतावधिमनःपर्या-

यकेवलभेदात् पञ्चधा। तत्राद्यं ज्ञानचतुष्टयं क्षायोपशमिकत्वात् केवलज्ञानाविर्भावकाल एव प्रलीनम्। "नट्ठंमि य छाउमत्थिए नाणे" इत्यागमात्। केवलं तु सर्वद्रव्यपर्यायगतं क्षायिकत्वेन निष्कलङ्कात्मस्वरूपत्वाद् अस्त्येव मोक्षावस्थायाम्, सुखं तु वैषयिकं तत्र नास्ति। तद्धेतोर्वेदनीयकर्मणोऽभावात्। यत्तु निरतिशयक्षयमनपेक्षमनन्तं च सुखं तद् बाढं विद्यते। दुःखस्य चाधर्ममूलत्वात् तदुच्छेदादुच्छेदः॥

तथा, हम लोग भी बुद्धि आदिका कथंचित् उच्छेद मानते हैं, अतएव आप लोग निराश न हों। बुद्धिका अर्थ ज्ञान होता है। यह ज्ञान मति, श्रुति, अवधि, मनपर्याय और केवलज्ञानके भेदसे पांच प्रकारका है। इनमें आदिके चार ज्ञान क्षायोपशमिक (ज्ञानावरणीय कर्मके एकदेश क्षय और उपशमसे उत्पन्न होनेवाले) हैं, इस लिये केवलज्ञानके उत्पन्न होनेके समय नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि कहा भी है "छाद्मस्थिक (केवल ज्ञानके अतिरिक्त सब ज्ञानोंको छद्मस्थ ज्ञान कहते हैं) ज्ञानके नष्ट होनेपर (केवल ज्ञान उत्पन्न होता है)" केवलज्ञान सब द्रव्य और सब पर्यायोंको जानता है, और वह ज्ञानवरणीय कर्मके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न होता है, इस लिये मोक्षावस्थामें निर्दोष केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। वैषयिक सुख मोक्षमें नहीं है, क्योंकि वहां वैषयिक सुखके कारण वेदनीय कर्मका अभाव है। निरतिशय, अक्षय और अनन्त सुख मोक्षमें विद्यमान है। तथा दुखके कारण अधर्मका नाश हो जानेसे मोक्षमें दुखका भी अभाव हो जाता है।

नन्वेवं सुखस्यापि धर्ममूलत्वाद् धर्मस्य चोच्छेदात् तदपि न युज्यते। "पुण्यपापक्षयो मोक्षः" इत्यागमवचनात्। नैवम्। वैषयिकसुखस्यैव धर्ममूलत्वाद् भवतु तदुच्छेदः न पुनरनपेक्षस्यापि सुखस्योच्छेदः। इच्छाद्वेषयोः पुनर्मोहभेदत्वात् तस्य च समूलकाषंकषितत्वादभावः। प्रयत्नश्च क्रियाव्यापारगोचरो नास्त्येव, कृतकृत्यत्वात्। वीर्यान्त[2]रायक्षयोपनतस्त्वस्त्येव प्रयत्नः, दानादिलब्धि[3]वत्। न च क्वचिदुपयुज्यते, कृतार्थत्वात्। धर्माधर्मयोस्तु पुण्यपापापरपर्याययोरुच्छेदोऽस्त्येव। तदभावे मोक्षस्यैवायोगात्। संस्कारश्च मतिज्ञानविशेष एव। तस्य च मोहक्षयानन्तरं क्षीणत्वादभाव इति। तदेवं न संविदानन्दमयी च मुक्तिरिति युक्तिरिक्तेयमुक्तिः। इति काव्यार्थः॥ ८॥

शंका—सुखका कारण भी धर्म है, अतएव धर्मके उच्छेद हो जानेसे मुक्तात्माके सुख भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि कहा भी है "पुण्य और पापके क्षय होनेपर मोक्ष

---

[1] उप्पण्णंमि अणंते नट्ठंमि य छाउमत्थिए नाणे। राईए संपत्तो महसेणवणंमि उज्जाणे॥ छाया—उत्पन्नेऽनन्ते नष्टे च छाद्मस्थिके ज्ञाने। रात्र्यां संप्राप्तो महसेनवनं उद्यानं॥ ५३९॥ आवश्यकपूर्वविभागः।

[2] बलवता यूना रोगरहितेनापि पुंसा यस्य कर्मण उदयात्तृणमपि न तिर्यक्कर्तुं पार्यते तत्कर्म वीर्यान्तरायाख्यम्।

[3] लब्धयः पञ्च। तथाहि—दानलाभभोगोपभोगवीर्यभेदात्पञ्चधा। सूत्रकृताङ्ग १–१२। तत्त्वार्थसू. २–५।

होता है।" **समाधान**—यह ठीक नहीं है। क्योंकि वैषयिक सुख धर्मका कारण है, इस लिये मुक्त जीवके वैषयिक सुखका नाश हो जाता है, परन्तु उसके निरपेक्ष सुखका नाश नहीं होता। क्योंकि इच्छा और द्वेष मोहके भेद हैं, और मुक्त जीवके मोहका समूल नाश हो जाता है। तथा मुक्त जीवके कोई प्रयत्न भी नहीं होता, क्योंकि मुक्त जीव कृतकृत्य है। किन्तु मुक्त जीवके दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य इन पांच लब्धियोंकी तरह वीर्यान्तराय कर्म (जिस कर्मके उदयसे नीरोग बलवान युवक एक तृणके टुकड़ेको भी हिलानेमें असमर्थ होता है, उसे वीर्यांतराय कर्म कहते हैं) के क्षयसे उत्पन्न वीर्यलब्धि रूप प्रयत्न मुक्त जीवके होता है। मुक्त जीव कृतकृत्य रहते हैं, अतएव वे प्रयत्नका कभी उपयोग नहीं करते। तथा मुक्त जीवके धर्म-अधर्म अथवा पुण्य-पापका उच्छेद भी रहता ही है, क्योंकि धर्म-अधर्मके रहनेपर मोक्ष नहीं मिल सकता। संस्कार मतिज्ञानका ही भेद है, अतएव मतिज्ञानके क्षय होनेके बाद ही संस्कारका भी नाश हो जाता है। इस लिये मुक्त आत्माके संस्कार भी नहीं होता। अतएव मुक्त अवस्थामें ज्ञान और सुखका अभाव है, यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें वैशेषिक लोगोंके तीन सिद्धांतोंपर विचार किया गया है—(१) सत्ता द्रव्य, गुण आदिसे भिन्न है; (२) आत्मा ज्ञानसे भिन्न है; (३) मुक्त अवस्थामें ज्ञान और सुखका अभाव हो जाता है।

वैशेषिक—(१) क—सत्ता द्रव्य, गुण और कर्ममें ही रहती है (द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता)—सत्ता (परसामान्य अथवा महासामान्य) द्रव्य, गुण और कर्ममें ही रहती है, सामान्य, विशेष और समवायमें नहीं। वैशेषिकोंके अनुसार द्रव्य आदि तीन पदार्थोंमें ही सत्ता रहती है, क्योंकि इन तीनमें ही सत् प्रत्यय होता है। यद्यपि द्रव्य आदि छहों पदार्थोंमें 'अस्तित्व' रहता है, तथापि वह सामान्य आदि तीनमें अनुवृत्तिप्रत्यय (सामान्यज्ञान) का कारण नहीं है, और द्रव्यादि तीन पदार्थोंमें है, इस लिये द्रव्यादि तीन पदार्थोंमें ही सत्ता रहती है। यदि सामान्य, विशेष और समवायमें सत्ता संबंध स्वीकारं किया जाय, तो क्रमसे अनवस्था, रूपहानि और असंबंध दोष आते हैं, अतएव सत्ताको सामान्य आदि तीनमें स्वीकार न करके द्रव्य, गुण और कर्ममें ही स्वीकार करना चाहिये।

ख—सत्ता द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न है (सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं)—सत्ता द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न है। (अ) सत्ता द्रव्यसे भिन्न है। वैशेषिकोंके अनुसार जो द्रव्योंसे उत्पन्न न हुआ हो, अथवा द्रव्योंका उत्पादक न हो (अद्रव्यत्व), तथा जो अनेक द्रव्योंसे उत्पन्न हुआ हो, अथवा अनेक द्रव्योंका उत्पादक हो (अनेकद्रव्यत्व), उसे द्रव्य कहते हैं। सत्तामें द्रव्यका उक्त लक्षण घटित नहीं होता। सत्ता द्रव्यत्वकी तरह प्रत्येक द्रव्यमें रहती है, इस लिये सत्ता द्रव्य नहीं है। (ब) सत्ता गुणसे भी भिन्न है। क्योंकि सत्ता गुणत्वकी

तरह गुणोंमें रहती है। तथा गुण गुणोंमें नहीं रहते (निर्गुणत्वाद् गुणानाम्)। (स) इसी तरह सत्ता कर्मसे भी भिन्न है, क्योंकि वह कर्मत्वकी तरह कर्ममें रहती है। तथा कर्म कर्ममें नहीं रहते हैं।

'सत्ता' (सामान्य) परसामान्य और अपरसामान्यके भेदसे दो प्रकारकी है। 'पदार्थत्व' (द्रव्य, गुण आदि छह पदार्थोंमें रहनेवाले) को परसामान्य अथवा महासामान्य कह सकते हैं। द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अपरसामान्य है। द्रव्यत्व आदिकी अपेक्षासे पृथिवीत्व आदि, और पृथिवीत्व आदिकी अपेक्षासे घटत्व आदि अपरसामान्य कहे जाते हैं। अपरसामान्य एक पदार्थको जानते समय उस पदार्थकी दूसरे पदार्थसे व्यावृत्ति करता है, इस लिये इसे सामान्य-विशेष भी कहते हैं। सत्ता अथवा सामान्यकी तरह 'विशेष' भी भिन्न पदार्थ हैं। 'विशेष' सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे अत्यन्त व्यावृत्ति कराते हैं। अतएव 'विशेष' विशेष रूप ही हैं, ये सामान्य-विशेष रूप नहीं हो सकते। आधार और आधार्य पदार्थोंमें इह प्रत्ययका कारण 'समवाय' भी अलग पदार्थ है। 'इन तंतुओंमें पट है' यह इह प्रत्यय हेतु तंतु और पटमें समवाय संबंध स्थापित करता है।

जैन—(१) क–सत्ता (अस्तित्व–वस्तुका स्वरूप) को सम्पूर्ण छहों पदार्थोंमें स्वीकार करके भी वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण और कर्ममें ही 'अस्तित्व' (सत्ता) स्वीकार करते हैं, यह युक्तियुक्त नहीं है। तथा द्रव्य, गुण, कर्मकी तरह 'सामान्यप्रत्यय' (सत्ता) सामान्य, विशेष और समवायमें भी होता है, फिर कुछ पदार्थोंमें सामान्य (सत्ता) स्वीकार करना, और कुछमें नहीं, यह न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। तथा सामान्य, विशेष और समवायमें सत्ता माननेसे अनवस्था, स्वरूपहानि और, असंबंध नामक दोष नहीं आते हैं, क्योंकि सामान्यकी तरह द्रव्य, गुण, कर्ममें सत्ता स्वीकार करनेसे भी अनवस्था दोष नहीं बच सकता। तथा विशेषमें सत्ता स्वीकार करनेपर उल्टी विशेषकी सिद्धि ही होती है, क्योंकि कहीं भी सामान्य रहित विशेषकी उपलब्धि नहीं होती, इसी प्रकार समवायमें भी सत्ता (स्वरूप सत्ता) माननी ही चाहिये।

ख–यदि सत्ताको द्रव्य, गुण और कर्मसे भिन्न माना जाय, तो द्रव्यादिको असत् मानना चाहिये। इस लिये सत्ता द्रव्य आदिसे भिन्न नहीं हो सकती।

वैशेषिक—(२)—ज्ञान आत्मासे भिन्न है, अर्थात् ज्ञान समवाय संबंधसे आत्माके साथ रहता है। आत्मा स्वयं जड़ है। जिस समय हम किसी पदार्थका ज्ञान करते हैं, उस समय पहले पदार्थ और इन्द्रियका संयोग होता है, बादमें इन्द्रिय मनसे, और मन आत्मासे संबद्ध होता है। यदि आत्मा और ज्ञान एक हों, तो दुख, जन्म वगैरहका नाश होनेपर जिस समय मुक्तावस्थामें बुद्धि, सुख आदिका नाश हो जाता है, उस समय आत्माका भी नाश हो जाना चाहिये।

जैन (२) यदि आत्मा और ज्ञानको सर्वथा भिन्न माना जाय, तो हमें अपने ही ज्ञानसे अपनी ही आत्माका भी ज्ञान न हो सकेगा । तथा वैशेषिकोंके मतमें आत्मा व्यापक है, इस लिये एक आत्माके ज्ञानसे सब आत्माओंको पदार्थोंका ज्ञान होना चाहिये । तथा आत्मा और ज्ञानका समवाय संबंध भी नहीं बन सकता । आत्मा और ज्ञानमें कर्ता और करण संबंध मानकर भी दोनोंको भिन्न मानना युक्त नहीं है । क्योंकि करण हमेशा कर्तासे भिन्न नहीं होता । जैसे ‘ सर्प अपनेको अपने आपसे वेष्टित करता है ’ यहां कर्त्ता और करण भिन्न नहीं हैं । इसी तरह आत्मा और ज्ञान अलग अलग नहीं हो सकते । तथा, चैतन्यको वैशेषिकोंने भी आत्माका स्वरूप माना है । इस लिये जैसे वृक्षका स्वरूप वृक्षसे भिन्न नहीं हो सकता, वैसे ही चैतन्य आत्मासे भिन्न नहीं हो सकता । तथा ज्ञान और आत्माको भिन्न माननेपर ‘ मैं ज्ञाता हूं ’ ऐसा ज्ञान नहीं हो सकेगा । अतएव आत्मा और ज्ञानको भिन्न नहीं मानना चाहिये ।

वैशेषिक (३) मोक्ष ज्ञान और आनन्द रूप नहीं है, क्योंकि दीपककी संतानकी तरह मोक्षमें बुद्धि, सुख, दुख आदि गुणोंकी संतानका सर्वथा नाश हो जाता है । तथा मुक्तावस्थामें जीव अपने ही स्वरूपमें स्थित रहता है ।

जैन (३) यहां संतानत्व हेतु अनैकांतिक हेत्वाभाससे दूषित है । ज्ञान और सुखके अनुभवसे सर्वथा शून्य वैशेषिकोंकी ऐसी मुक्तिके प्राप्त करनेके लिये कोई भी प्रयत्नवान न होगा । तथा सांसारिक सुख ही रागका कारण है, मोक्षका अक्षय और अनंत सुख रागका कारण नहीं । अतएव मोक्षमें ज्ञान और सुखका आत्यंतिक अभाव है, यह कहना ठीक नहीं है ।

अथ ते वादिनः कायप्रमाणत्वमात्मनः स्वयं संवेद्यमानमपलप्य, तादृशकुशास्त्रशस्त्रसंपर्कविनष्टदृष्टयस्तस्य विभुत्वं मन्यन्ते । अतस्तत्रोपालम्भमाह—

अब आत्माको शरीरके प्रमाण न मानकर उसे सर्वव्यापक माननेवाले वैशेषिकोंकी मान्यता का खंडन करते हैं—

यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवद् निष्प्रतिपक्षमेतत् ।
तथापि देहाद् बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहताः पठन्ति ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ—यह निर्विवाद है, कि जिस पदार्थके गुण जिस स्थानमें देखे जाते हैं, वह पदार्थ उसी स्थानमें रहता है, जैसे जहां घटके रूप आदि गुण रहते हैं, वहीं घट भी रहता है । तथापि कुवादी लोग आत्माको सर्वव्यापक स्वीकार करते हैं ।

यत्रैव–देशे, यः पदार्थः; दृष्टगुणो, दृष्टाः–प्रत्यक्षादिप्रमाणतोऽनुभूताः, गुणा धर्मा यस्य स तथा; स पदार्थः, तत्रैव–विवक्षितदेश एव। उपपद्यते इति क्रियाध्याहारो गम्यः। पूर्वस्यैवकारस्यावधारणार्थस्यात्राप्यभिसम्बन्धात् तत्रैव नान्यत्रेत्यन्ययोगव्यवच्छेदः। अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति। कुम्भादिवदिति–घटादिवत्। यथा कुम्भादेर्यत्रैव देशे रूपादयो गुणा उपलभ्यन्ते, तत्रैव तस्यास्तित्वं प्रतीयते नान्यत्र। एवमात्मनोऽपि गुणाश्चैतन्यादयो देह एव दृश्यन्ते न बहिः, तस्मात् तत्प्रमाण एवायमिति। यद्यपि पुष्पादीनामवस्थानदेशादन्यत्रापि गन्धादिगुण उपलभ्यते, तथापि तेन न व्यभिचारः। तदाश्रया हि गन्धादिपुद्गलाः तेषां च वैश्रसिक्या प्रायोगिक्या वा गत्या गतिमत्त्वेन तदुपलम्भकघ्राणादिदेशं यावदागमनोपपत्तेरिति। अत एवाह। निष्प्रतिपक्षमेतदिति। एतद् निष्प्रतिपक्षं–बाधकरहितम्। "न हि दृष्टे[1]ऽनुपपन्नं नाम" इति न्यायात्॥

व्याख्यार्थ—'यत्रैव यः दृष्टगुणो तत्रैव'—जिस स्थानमें घट आदिके रूप आदि गुण पाये जाते हैं, उसी स्थानपर घटकी उपलब्धि होती है, अन्यत्र नहीं। इसी प्रकार आत्माके चैतन्य आदि गुण देहमें ही देखे जाते हैं, देहके बाहर नहीं, अतएव आत्मा शरीरके ही बराबर है। यद्यपि पुष्प आदिके एक स्थानमें रहते हुए भी उसके दूसरे स्थानमें गंध आदि गुण उपलब्ध होते हैं, परन्तु इससे हेतुमें व्यभिचार नहीं आता। क्योंकि पुष्प आदिमें रहनेवाले गंध आदि पुद्गल ही अपने स्वभाव अथवा वायुके प्रयोगसे गमन करते हैं, इस लिये पुष्प आदिमें रहनेवाले गंध-पुद्गल नासिका इन्द्रिय तक जाते हैं। अतएव उक्त कथन बाधा रहित है, क्योंकि "प्रत्यक्षसे देखे हुए पदार्थमें असिद्धकी संभावना नहीं होती है।"

ननु मन्त्रादीनां भिन्नदेशस्थानामप्याकर्षणोच्चाटनादिको गुणो योजनशतादेः परतोऽपि दृश्यत इत्यस्ति बाधकमिति चेत्। मैवं वोचः। स हि न खलु मन्त्रादीनां गुणः, किन्तु तदधिष्ठातृदेवतानाम्। तासां चाकर्षणीयोच्चाटनीयादिदेशगमने कौतस्कुतोऽयमुपालम्भः। न जातु गुणा गुणिनमतिरिच्य वर्तन्त इति। अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते। तथापीत्यादि। तथापि–एवं निःसपत्नं[2] व्यवस्थितेऽपि तत्त्वे। अतत्त्ववादोपहताः। अनाचार इत्यत्रेव नञः कुत्सार्थत्वात्। कुत्सिततत्त्ववादेन तदभिमताप्ताभासपुरुषविशेषप्रणीतेन तत्त्वाभासप्ररूपणेनोपहताः–व्यामोहिताः। देहाद् बहिः–शरीरव्यतिरिक्तेऽपि देशे, आत्मतत्त्वम्–आत्मरूपम्; पठन्ति शास्त्ररूपतया प्रणयन्ते। इत्यक्षरार्थः॥

---

[1] दृष्टे वस्तुनि उपपत्तेरनपेक्षेत्यर्थः। [2] निर्विवादमित्यर्थः।

शंका—मंत्र आदिके भिन्न देशमें रहते हुए भी सैकडों योजनकी दूरीपर उनके आकर्षण, उच्चाटन आदि गुण देखे जाते हैं, अतएव उक्त कथन बाधा युक्त है। समाधान-यह ठीक नहीं। क्योंकि आकर्षण, उच्चाटन आदि गुण मंत्रके नहीं हैं, किन्तु ये गुण मंत्र आदिके अधिष्ठाता देवताओंके हैं। मंत्रके अधिष्ठाता देव लोग ही आकर्षण उच्चाटन आदिसे प्रभावित स्थानमें स्वयं जाते हैं, इस लिये उक्त दोष ठीक नहीं है। क्योंकि कभी भी गुण गुणीको छोड़ कर नहीं रहते। इस प्रकार हमारे सिद्धांतके निर्विवाद सिद्ध होनेपर भी कुत्सित तत्ववाद (जैसे अनाचार शब्दमें कुत्सित अर्थ में नञ् समास किया गया है, उसी तरह 'अतत्त्ववाद' में भी नञ् समास कुत्सित अर्थमें है) से व्यामोहित वैशेषिक लोग आत्माको शरीरके वाहर भी स्वीकार करते हैं।

भावार्थस्त्वयम्। आत्मा सर्वगतो न भवति, सर्वत्र तद्गुणानुपलब्धेः। यो यः सर्वत्रानुपलभ्यमानगुणः स स सर्वगतो न भवति, यथा घटः। तथा चायम्। तस्मात् तथा। व्यतिरेके व्योमादि। न चायमसिद्धो हेतुः, कायव्यतिरिक्तदेशे तद्गुणानां बुद्ध्यादीनां वादिना प्रतिवादिना वानभ्युपगमात्। तथा च भट्टः श्रीधरः—"सर्वगतत्वेऽप्यात्मनो देहप्रदेशे ज्ञातृत्वम्। नान्यत्र। शरीरस्योपभोगायतनत्वात्। अन्यथा तस्य वैयर्थ्यादिति"॥

भाव यह है, कि आत्मा सर्वव्यापक नहीं है, क्योंकि सव जगह आत्माके गुण उपलब्ध नहीं होते। जिस वस्तुके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते, वह सर्वव्यापक नहीं होती। जैसे घड़ेके रूप आदि गुण सर्वत्र नहीं दिखाई देते, इस लिये घड़ा सर्वव्यापक नहीं है। इसी तरह आत्माके गुण भी सर्वत्र उपलब्ध नहीं हैं, इस लिये आत्मा भी सर्वव्यापक नहीं है। जो सर्वव्यापी होता है, उसके गुण सव जगह उपलब्ध होते हैं, जैसे आकाश। उक्त हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि वादी अथवा प्रतिवादीने वुद्धि आदि आत्माके गुणोंको शरीरको छोड़कर अन्यत्र स्वीकार नहीं किया है। श्रीधर भट्टने कहा भी है "आत्माके सर्वव्यापक होनेपर भी शरीरमें रहकर ही आत्मा पदार्थोंको जानता है, दूसरी जगह नहीं। क्योंकि शरीर ही उपभोगका स्थान है, यदि शरीरको उपभोगका स्थान न मानाजाय तो शरीर व्यर्थ हो जाना चाहिये" इस लिये भट्टके कथनके अनुसार आत्माके वुद्धि आदि गुण शरीरसे वाहर नहीं रहते।

अथास्त्यदृष्टमात्मनो विशेषगुणः। तच्च सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तं सर्वव्यापकं च। कथमितरथा द्वीपान्तरादिष्वपि प्रतिनियतदेशवर्तिपुरुषोपभोग्यानि कनकरत्नचन्दनाङ्गनादीनि तेनोत्पाद्यन्ते। गुणश्च गुणिनं विहाय न वर्तते। अतोऽनुमीयते सर्वगत

---

१ न्यायकन्दल्यां।

आत्मेति। नैवम्। अदृष्टस्य सर्वगतत्वसाधने प्रमाणाभावात्। अथास्त्येव प्रमाणं वह्नेरूर्ध्वज्वलनं, वायोस्तिर्यक्पवनं चादृष्टकारितमिति चेत्। न। तयोस्तत्स्वभावत्वादेव तत्सिद्धेः, दहनस्य दहनशक्तिवत्। साप्यदृष्टकारिता चेत्, तर्हि जगत्त्रयवैचित्रीसूत्रणेऽपि तदेव सूत्रधारायतां, किमीश्वरकल्पनया। तन्नायमसिद्धो हेतुः। न चानैकान्तिकः। साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्रहणेन व्यभिचाराभावात्। नापि विरुद्धः। अत्यन्तं विपक्षव्यावृत्तत्वात्। आत्मगुणाश्च बुद्ध्यादयः शरीर एवोपलभ्यन्ते, ततो गुणिनापि तत्रैव भाव्यम्। इति सिद्धः कायप्रमाण आत्मा॥

शंका—आत्माके अदृष्ट नामका एक विशेष गुण है। यह अदृष्ट उत्पन्न होनेवाले सब पदार्थोंमें निमित्त कारण है, और यह सर्वव्यापक है, क्योंकि यह दूसरे द्वीपोंमें भी निश्चित स्थानमें रहनेवाले पुरुषोंके भोगने योग्य, सुवर्ण, रत्न, चन्दन तथा स्त्री आदिको उत्पन्न करता है। इस लिये यदि आत्मा सर्वव्यापक नहीं होता, तो आत्माका अदृष्ट गुण अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं कर सकता था। तथा गुण गुणीको छोड़कर नहीं रहते, अतएव आत्मा सर्वव्यापक ही है। इस लिये आत्माके अदृष्ट गुणको सर्वत्र देखनेसे सिद्ध होता है, कि आत्मा सर्वव्यापक है। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि अदृष्टको सर्वव्यापी माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो, कि अग्निकी शिखाका ऊंचा जाना, हवाका तिरछे बहना, यह सब अदृष्टसे ही होता है, अतएव अदृष्टका साधक प्रमाण अवश्य है, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि अग्निका ऊंचे जाना और वायुका तिरछे बहना अदृष्टके बलसे ही सिद्ध नहीं होता। कारण कि जैसे अग्निमें दहनशक्ति स्वभावसे ही है, उसी तरह अग्निका ऊंचा जाना भी स्वभावसे ही मानना चाहिये, अदृष्टके बलसे नहीं। यदि कहो, कि अग्निमें जलानेकी शक्ति भी अदृष्ट के बलसे ही है, तो तीनों लोकोंके सर्जनमें भी अदृष्टको कारण मानना चाहिये, फिर ईश्वरकी कल्पना करनेसे कोई लाभ नहीं। अतएव 'आत्मा सर्वगत नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण सब जगह नहीं पाये जाते,' यह हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण सब जगह नहीं मिलते। तथा, यह हेतु अनैकांतिक भी नहीं, है क्योंकि यहां 'असर्वगत' साध्यकी 'आत्माके गुण सब जगह नहीं पाये जाते' साधनके साथ व्याप्ति ठीक बैठती है। यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि 'आत्माके गुण सब जगह नहीं पाये जाते' हेतु, 'सर्वगतत्व' विपक्षसे अत्यंत व्यावृत्त है। तथा आत्माके गुण बुद्धि आदि शरीरमें ही उपलब्ध होते है, अतएव गुणी (आत्मा) को भी उसी स्थानमें रहना चाहिये। इससे सिद्ध होता है, कि आत्मा शरीरके प्रमाण है।

अन्यच्च, त्वयात्मनां बहुत्वमिष्यते "नानात्मानो व्यवस्थात:" इति वचनात्। ते च व्यापकाः। ततस्तेषां प्रदीपप्रभामण्डलानामिव परस्परानुवेधे तदाश्रित-

---

१ नानाभेदभिन्नानां सुखदुःखादीनां प्रत्यात्मप्रतिसंधानं व्यवस्था।

शुभाशुभकर्मणामपि परस्परं सङ्करः स्यात्। तथा चैकस्य शुभकर्मणा अन्यः सुखी भवेद्, इतरस्याशुभकर्मणा चान्यो दुःखीत्यसमञ्जसमापद्येत। अन्यच्च, एकस्यैवात्मनः स्वोपात्तशुभकर्मविपाकेन सुखित्वं, परोपार्जिताशुभकर्मविपाकसम्बन्धेन च दुःखित्वमिति युगपत्सुखदुःखसंवेदनप्रसङ्गः। अथ स्वावष्टब्धं भोगायतनमाश्रित्यैव शुभाशुभयोर्भोगः, तर्हि स्वोपार्जितमप्यदृष्टं कथं भोगायतनाद् वहिर्निष्क्रम्य वह्नेरूर्ध्वज्वलनादिकं करोति इति चिन्त्यमेतत्॥

तथा, वैशेषिकोंने आत्माका बहुत्व स्वीकार किया है। जैसे कहा भी है "प्रत्येक शरीरमें भिन्न भिन्न आत्मा होनेसे आत्मा नाना हैं" अतएव यदि ये नाना आत्मा व्यापक हैं, तो दीपकोंकी प्रभाओंके परस्पर सम्मिश्रणकी तरह आत्माके शुभ-अशुभ कर्मोंका भी परस्पर सम्मिश्रण हो जाना चाहिये। इस लिये आत्माको नाना और व्यापक माननेसे आत्माके भिन्न भिन्न शुभ-अशुभ कर्मोंके एक दूसरेसे सम्मिलित हो जानेपर एकके शुभ कर्मसे दूसरा सुखी, और दूसरेके अशुभ कर्मसे दूसरा मनुष्य दुखी हुआ करेगा। तथा, एक ही आत्माके स्वयं उपार्जित शुभ कर्मोंसे सुखी, और दूसरेसे उपार्जित अशुभ कर्मोंसे दुखी होनेके कारण एक ही समयमें एक साथ सुख-दुख होने चाहिये। यदि कहो, आत्मा अपने शरीरके आश्रित रहकर ही अपने शुभ-अशुभ कर्मका फल भोगता है, तो स्वयं उपार्जन किया हुआ अदृष्ट शरीरसे बाहर निकल कर अग्निके ऊंचे ले जाने आदि कार्यको कैसे कर सकता है, यह विचारणीय है। इस लिये आत्माको अपने शरीरके आश्रित रहकर ही सुख-दुखका भोक्ता माननेसे आत्माका अदृष्ट शरीरके बाहर निकलकर अग्निको ऊंचे जलाने आदि कार्यको नहीं करसकता। क्योंकि सुख-दुखकी तरह अदृष्ट भी आत्माका ही गुण है।

आत्मनां च सर्वगतत्वे एकैकस्य सृष्टिकर्तृत्वप्रसङ्गः। सर्वगतत्वेनेश्वरान्तरानुप्रवेशस्य सम्भावनीयत्वात्। ईश्वरस्य वा तदनन्तरनुप्रवेशे तस्याप्यकर्तृत्वापत्तिः। न हि क्षीरनीरयोरन्योन्यसम्बन्धे, एकतरस्य पानादिक्रियान्यतरस्य न भवतीति युक्तं वक्तुम्। किञ्च, आत्मनः सर्वगतत्वे नरनारकादिपर्यायाणां युगपदनुभवानुषङ्गः। अथ भोगायतनाभ्युपगमाद् नायं दोष इति चेत्, ननु स भोगायतनं सर्वात्मना अवष्टभ्नीयाद्, एकदेशेन वा? सर्वात्मनाचेद्, अस्मदभिमताङ्गीकारः। एकदेशेन चेत्, सावयवत्वप्रसङ्गः। परिपूर्णभोगाभावश्च॥

तथा, आत्माको सर्व व्यापक माननेपर प्रत्येक आत्माको सृष्टि उत्पादक मानना चाहिये। क्योंकि आत्माओंके सर्वव्यापक होनेसे नाना आत्मा ईश्वरमें भी व्यापक होकर रहेंगी। अथवा, ईश्वर सर्वव्यापक है, इस लिये वह आत्मामें भी व्यापक होकर रहेगा, इस लिये ईश्वर भी कर्ता नहीं कहा जा सकता। जैसे दूध और पानीके मिल जानेपर उन्हें अलग अलग नहीं

क्रिया जा सकता, उसी प्रकार ईश्वर और आत्मा दोनोंको सर्वव्यापक माननेसे दोनोंका परस्पर सम्मिश्रण होनेके कारण, या तो आत्मा स्वयं सृष्टिका कर्ता होना चाहिये, अथवा ईश्वर भी सृष्टिका कर्ता नहीं हो सकता। तथा, आत्माको सर्वव्यापक माननेपर मनुष्य, नरक आदि पर्यायोंका एक ही साथ अनुभव होना चाहिये। यदि कहो, कि आत्मा शरीरमें रह कर ही उपभोग करता है, इस लिये उक्त दोष ठीक नहीं है, तो प्रश्न होता है, कि आत्मा सम्पूर्ण रूपसे शरीरमें व्याप्त है, अथवा एक देशसे? प्रथम पक्ष हम लोग भी स्वीकार करते हैं। क्योंकि हम भी आत्माको शरीरके परिमाण ही मानते हैं। यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार करो, तो सम्पूर्ण शरीरमें न रहनेसे आत्माको अवयव सहित मानना चाहिये, और आत्माके सावयव होनेसे वह पूर्ण रूपसे शरीरका भोग भी न कर सकेगी।

अथात्मनो व्यापकत्वाभावे दिग्देशान्तरवर्तिपरमाणुभिर्युगपत्संयोगाभावाद् आद्यकर्माभावः, तदभावाद् अन्त्यसंयोगस्य, तन्निर्मितशरीरस्य, तेन तत्सम्बन्धस्य चाभावाद् अनुपायसिद्धः सर्वदा सर्वेषां मोक्षः स्यात्। नैवम्। यद् येन संयुक्तं तदेव तं प्रत्युपसर्पतीति नियमासम्भवात्। अयस्कान्तं प्रति अयसस्तेनासंयुक्तस्याप्याकर्षणोपलब्धेः। अथासंयुक्तस्याप्याकर्षणे तच्छरीरारम्भं प्रत्येकमुखीभूतानां त्रिभुवनोदरविवरवर्तिपरमाणूनामुपसर्पणप्रसङ्गाद् न जाने तच्छरीरं कियत्प्रमाणं स्याद् इति चेत्, संयुक्तस्याप्याकर्षणे कथं स एव दोषो न भवेत्। आत्मनो व्यापकत्वेन सकलपरमाणूनां तेन संयोगात्। अथ तद्भावाविशेषेऽप्यदृष्टवशाद् विवक्षितशरीरोत्पादनानुगुणा नियता एव परमाणव उपसर्पन्ति। तदितरत्रापि तुल्यम्॥

शंका—आत्मा यदि व्यापक न हो, तो अन्य स्थानोंमें रहनेवाले परमाणुओंके साथ एक समयमें उसका संयोग न हो सकेगा, अतएव आद्य-क्रियाका अभाव होगा। आद्य-कर्मके अभावसे अंत्य-संयोगका भी अभाव होगा, अन्त्य-संयोगके अभावसे अंत्य-संयोगके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले शरीरका अभाव होगा, तथा शरीरका अभाव होनेसे शरीरका आत्माके साथ संबंध नहीं बन सकता, अतएव सब जीवोंको विना प्रयत्नके मोक्ष मिल जाना चाहिये। भाव यह है, कि वैशेषिक लोग अदृष्टसे युक्त आत्माके संयोगसे परमाणुओंमें क्रिया मानते हैं। परमाणुओंमें क्रिया होनेसे परमाणु आकाशके एक प्रदेशको छोड़ कर (विभाग) दूसरे प्रदेशसे संयुक्त (संयोग) होते हैं। इस तरह आकाशके प्रदेशमें परमाणुओंके इकट्ठे होनेसे द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि कार्य होते हैं। इस लिये यदि आत्माको सर्वव्यापक न मानें, तो उसका परमाणुओंके साथ संबंध न हो सकेगा, इस लिये वह परमाणुओंमें कोई क्रिया नहीं कर सकती। इस लिये क्रियाका अभाव होगा। क्रियाका अभाव होनेसे परमाणुका आकाशके प्रदेशोंसे विभाग और संयोग नहीं बन सकता, इस लिये जिन द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि अवयवोंका संयोग होनेसे शरीर बनता है, उस

अंत्य-संयोगका भी अभाव होगा। अतएव अंत्य-संयोगसे होनेवाले शरीरका भी अभाव हो जाना चाहिये। तथा शरीरका अभाव ही मोक्ष है, अतएव आत्माको सर्वव्यापक न माननेसे सब जीवोंको अनायास ही मोक्ष मिल जाना चाहिये। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि यह नियम नहीं, कि जो जिसके साथ संयुक्त हो, वह उसके प्रति आकर्षित होता हो। चुम्बक और लोहके परस्पर संयुक्त न होनेपर भी उनमें आकर्षण देखा जाता है। इस लिये जैसे लोहे और चुम्बक का संयोग नहीं है, फिर भी उनमें आकर्षण होता है, वैसे ही आत्मा और परमाणुओंका संयोग न होनेपर भी आत्मा परमाणुओंको आकर्षित कर सकता है, उसे सर्वव्यापक माननेकी आवश्यकता नहीं। **शंका**—यदि विना संयोगके भी आत्माका परमाणुओंके प्रति आकर्षण हो, तो आत्माको बनानेवाले तीन लोकके परमाणुओंके प्रति आत्माका आकर्षण होनेसे आत्माको महान परिमाण-वाला मानना चाहिये। **समाधान**—वैशेषिक लोगोंके मतमें आत्माके साथ संयुक्त पदार्थोंका आकर्षण माननेपर भी उक्त दोष वैसा ही रहता है। क्योंकि आत्माके व्यापक होनेसे उसका सम्पूर्ण परमाणुओंके साथ संबंध रहता ही है। **शंका**—अदृष्टके बलसें शरीरके उत्पन्न करनेके अनुकूल नियत परमाणु ही आत्माके प्रति आकर्षित होते हैं। **समाधान**—यही बात असंयुक्त परमाणुओंके साथ आत्माका संबंध माननेमें भी कही जा सकती है।

अथास्तु यथाकथञ्चिच्छरीरोत्पत्तिः, तथापि सावयवं शरीरम् प्रत्यवयवमनुप्रविशन्नात्मा सावयवः स्यात्। तथा चास्य पटादिवत् कार्यत्वप्रसङ्गः। कार्यत्वे चासौ विजातीयैः सजातीयैर्वा कारणैरारभ्येत। न तावद्विजातीयैः तेषामनारम्भकत्वात्। न हि तन्तवो घटमारभन्ते। न च सजातीयैः। यत आत्मत्वाभिसम्बन्धादेव तेषां कारणानां सजातीयत्वम्। पार्थिवादिपरमाणूनां विजातीयत्वात्। तथा चात्मभिरात्मा आरभ्यत इत्यायातम्। तच्चायुक्तम्। एकत्र शरीरेऽनेकात्मनामात्मारम्भकाणामसम्भवात्। सम्भवे वा प्रतिसन्धानानुपपत्तिः। न हि अन्येन दृष्टमन्यः प्रतिसन्धातुमर्हति, अतिप्रसङ्गात्। तदारभ्यत्वे चास्य घटवदवयवक्रियातो विभागात् संयोगविनाशाद् विनाशः स्यात्। तस्माद् व्यापक एवात्मा युज्यते। कायप्रमाणतायामुक्तदोषसद्भावादिति चेत्। न। सावयवत्वकार्यत्वयोः कथञ्चिदात्मन्यभ्युपगमात्। तत्र सावयवत्वं तावद् असंख्येयप्रदेशात्मकत्वात्। तथा च द्रव्यालङ्कारकारौ—" आकाशोऽपि सदेशः, सकृत्सर्वमूर्ताभिसम्बन्धार्हत्वात् " इति। यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिका चिन्त्या। प्रदेशेष्ववयवव्यवहारात्। कार्यत्वं तु वक्ष्यामः॥

शंका—शरीरकी उत्पत्ति चाहे संयुक्त परमाणुओंसे हो, अथवा असंयुक्त परमाणुओंसे, परन्तु शरीर अवयव सहित है। अतएव शरीरके प्रत्येक अवयवमें प्रवेश करनेसे

आत्माको भी सावयव मानना चाहिये। जैसे पट आदि सावयव होनेसे कार्य हैं, वैसे ही आत्माको भी सावयव होनेसे कार्य मानना चाहिये। तथा, यदि आत्मा कार्य है, तो वह सजातीय कारणोंसे बनती है, अथवा विजातीय कारणोंसे ? आत्मा विजातीय कारणोंसे नहीं बन सकती, क्योंकि विजातीय कारणोंसे कोई भी कार्य नहीं होता है। उदाहरण के लिये, तन्तुओंसे घड़ा नहीं बन सकता। आत्मा सजातीय कारणोंसे भी उत्पन्न नहीं हो सकती। क्योंकि पार्थिव आदि परमाणु विजातीय हैं, इस लिये सजातीय कारण आत्माके संबंधसे ही सजातीय कहे जा सकते हैं। अर्थात् जिन कारणोंसे आत्माका संबंध हो, वे ही कारण आत्माके सजातीय हो सकते हैं। अतएव यह अर्थ निकला, कि आत्माओंसे आत्मा उत्पन्न किया जाता है। परन्तु जैन लोगोंको यह मान्य नहीं है। क्योंकि एक ही शरीरमें अनेक आत्मायें एक आत्माको उत्पन्न नहीं कर सकती। यदि अनेक आत्मायें एक आत्माको उत्पन्न करें भी, तो किसी पदार्थकी स्मृति न हो सकेगी। क्योंकि एक आत्मासे देखे हुए पदार्थको दूसरा आत्मा स्मरण नहीं कर सकता। तथा, आत्मा रूप सजातीय कारणोंसे आत्माके उत्पन्न होनेपर घटकी तरह आत्माका अवयव-क्रियासे विभाग होगा, और इस प्रकार संयोगके नाश होनेसे आत्माका भी नाश होना चाहिये। अर्थात् जैसे घट रूप कार्यका अवयव-क्रियासे विभाग होनेके कारण पूर्वसंयोग का नाश होता है, उसी तरह आत्मा रूप कार्यका भी अवयव-क्रियासे विभाग होनेपर संयोगका नाश होना चाहिये। अतएव आत्माको शरीरके परिमाण माननेमें अनेक दोष आते हैं। **समाधान**—यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि हम लोग सावयवत्व और कार्यत्वको किसी अपेक्षासे आत्मामें स्वीकार करते ही हैं। हम लोग आत्माको असंख्य प्रदेशी मानते हैं, इस लिये आत्मा सावयव है। 'द्रव्यालंकार' के कर्ता कहते हैं "आकाश भी प्रदेश सहित है, क्योंकि आकाशमें एक ही समयमें सम्पूर्ण मूर्त पदार्थ रहते हैं।" यद्यपि 'गन्धहस्ति' आदि ग्रन्थोंमें अवयव और प्रदेशमें भेद बताया गया है, परन्तु यहां हम इस सूक्ष्म चर्चामें नहीं उतरते। क्योंकि प्रदेशोंमें भी अवयवका व्यवहार होता है। आत्माके कार्यत्वका आगे प्ररूपण करेंगे।

नन्वात्मनां कार्यत्वे घटादिवत्प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयावयवारभ्यत्वप्रसक्तिः। अवयवा ह्यवयविनमारभन्ते, यथा तन्तवः पटमिति चेत्। न वाच्यम्। न खलु घटादावपि कार्ये प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगारभ्यत्वं दृष्टम्। कुम्भकारादिव्यापारान्विताद् मृत्पिण्डात् प्रथममेव पृथुबुध्नोदराद्याकारस्यास्योत्पत्तिप्रतीतेः। द्रव्यस्य हि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारपरिणामः कार्यत्वम्। तच्च बहिरिवान्तरप्यनुभूयत एव ततश्चात्मापि स्यात् कार्यः। न च पटादौ स्वावयवसंयोगपूर्वककार्यत्वोपलम्भात् सर्वत्र तथाभावो युक्तः। काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भाद् वज्रेऽपि तथाभावप्रसङ्गात्। प्रमाणबाधन-

मुभयत्रापि तुल्यम् । न चोक्तलक्षणकार्यत्वाभ्युपगमेऽप्यात्मनोऽनित्यत्वानुषङ्गात् प्रतिसन्धानाभावोऽनुषज्यते । कथञ्चिदनित्यत्वे सत्येवास्योपपद्यमानत्वात् । प्रतिसन्धानं हि यमहमद्राक्षं तमहं स्मरामीत्यादिरूपम् । तच्चैकान्तनित्यत्वे कथमुपपद्यते । अवस्थाभेदात् । अन्या ह्यनुभवावस्था, अन्या च स्मरणावस्था । अवस्थाभेदे चावस्थावतोऽपि भेदादेकरूपत्वक्षतेः कथञ्चिदनित्यत्वं युक्त्यायातं केन वार्यताम् ॥

शंका—आत्माको कार्य माननेपर घटादिकी तरह आत्माकी उत्पत्ति भी सजातीय अवयवोंसे माननी चाहिये । क्योंकि अवयव ही अवयवीको उत्पन्न करते हैं, जैसे तन्तु पटको उत्पन्न करते हैं, वैसे ही आत्माकी भी अपने सजातीय अवयवोंसे उत्पत्ति माननी चाहिये । **समाधान**—यह ठीक नहीं । क्योंकि सजातीय दो कपालोंके संयोगसे घट आदि कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, कारण कि कुम्हारके व्यापारसे युक्त मिट्टीके पिंडसे दोनों कपालोंके उत्पन्न होनेके पहले भी मोटे, गोल और उदर आकारवाले घटका ज्ञान होता है । जिस समय कुम्हार मिट्टीके पिंडसे घड़ा बनानेको बैठता है, उस समय मिट्टीके पिंडसे दो कपालोंकी उत्पत्ति हुए विना ही मोटे, गोल आदि आकारवाले घटकी उत्पत्ति होती है । तथा, द्रव्यके पहले आकारको छोड़कर दूसरा आकार धारण करनेको कार्यत्व कहते हैं । यह कार्यत्व जैसे घट आदिमें बाह्य रूपमें देखा जाता है, वैसे ही आत्मामें अंतरंग रूपमें देखा जाता है । अतएव आत्मा भी कथंचित् कार्य है । यदि कहो, कि जैसे पटमें तंतु रूप अवयवोंके संयोगसे पट आदि कार्य होते हैं, वैसे ही सब पदार्थोंमें अवयवोंके संयोगसे ही कार्य होते हैं, यह ठीक नहीं ! क्योंकि सब जगह एकसे नियम नहीं होते । उदाहरणके लिये, लकड़ी लोहेसे खोदी जाती है, परन्तु वज्र लोहेसे नहीं खोदा जा सकता । यदि कहो, कि वज्रका लोहेसे खोदा जाना प्रत्यक्षसे बाधित है, तो इसी तरह कपालके संयोगसे घटका उत्पन्न होना भी प्रत्यक्षसे बाधित है । तथा, पूर्व आकार छोड़ कर उत्तर आकारको ग्रहण करने रूप कार्यत्वके माननेपर आत्माके अनित्य होनेसे स्मरणका अभाव नहीं हो सकता । क्योंकि आत्माके कथंचित् अनित्य माननेपर भी स्मरणकी सिद्धि होती है । कारण कि 'जो मैंने देखा, उसे स्मरण करता हूं' इसीको स्मरण कहते हैं । यह स्मरण आत्माको एकान्त नित्य माननेपर नहीं बन सकता । क्योंकि अनुभवकी अवस्था स्मरणकी अवस्थासे भिन्न है । तथा अवस्थाके भिन्न होनेसे अवस्थावाले आत्मामें भी भेद मानना चाहिये । अतएव आत्माको एकान्त नित्य नहीं कहा जा सकता । इस लिये आत्माको कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानना ही युक्तियुक्त है ।

अथात्मनः शरीरपरिमाणत्वे मूर्तत्वानुषङ्गात् शरीरेऽनुप्रवेशो न स्याद्, मूर्ते मूर्तस्यानुप्रवेशविरोधात् । ततो निरात्मकमेवाखिलं शरीरं प्राप्नोतीति चेत्, किमिदं

मूर्तत्वं नाम। असर्वगतद्रव्यपरिमाणत्वं, रूपादिमत्त्वं वा ? तत्र नाद्यः पक्षो दोषाय, संमतत्वात्। द्वितीयस्त्वयुक्तः, व्याप्त्यभावात्। नहि यदसर्वगतं तद् नियमेन रूपादिमदित्यविनाभावोऽस्ति। मनसोऽसर्वगतत्वेऽपि भवन्मते तदसम्भवात्। आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्वं[1] परममहत्त्वं[2] सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं[3] चेत्युक्तत्वाद् मनसो वैधर्म्यात्, सर्वगतत्वेन प्रतिषेधनात्। अतो नात्मनः शरीरेऽनुप्रवेशानुपपत्तिः, येन निरात्मकं तत् स्यात्। असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्तत्वस्य मनोवत् प्रवेशाप्रतिबन्धकत्वात्। रूपादिमत्त्वलक्षणमूर्तत्वोपेतस्यापि जलादेर्वालुकादावनुप्रवेशो न निषिध्यते आत्मनस्तु तद्रहितस्यापि तत्रासौ प्रतिषिध्यत इति महच्चित्रम्॥

शंका—आत्माको शरीरके परिमाण माननेपर आत्माको मूर्त मानना चाहिये, अतएव आत्मा मूर्त शरीरमें प्रवेश न कर सकेगी, क्योंकि मूर्त मूर्तमें प्रवेश नहीं कर सकते। अतएव सम्पूर्ण शरीरको आत्मासे रहित मानना चाहिये। **समाधान**—आप शरीरके परिमाण को (असर्वगत) मूर्त कहते हैं, अथवा रूपादिको धारण करनेको मूर्त कहते हैं ? प्रथम पक्ष हम लोग स्वयं स्वीकार करते हैं। तथा रूपादिको धारण करनेकी शरीर-परिमाणके साथ व्याप्ति नहीं है, इस लिये दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं। क्योंकि जो असर्वगत है, अर्थात् शरीरके परिमाण है, वह रूपादिसे युक्त नहीं होता, क्योंकि मनके शरीर-परिमाण होनेपर भी वह आपके मतमें रूपादिसे युक्त नहीं है। आप लोगोंने आकाश, काल, दिक् और आत्माको सर्वगत, परम महान और सब मूर्त द्रव्योंके संयोगका धारक कह करके मनको अव्यापक सिद्ध किया है। अतएव आत्माका शरीरमें प्रवेश करना असिद्ध नहीं है, जिससे शरीरको आत्मासे रहित कहा जा सके। क्योंकि मनकी तरह शरीरके परिमाण मूर्त आत्मा भी शरीरमें प्रवेश कर सकता है। अतएव जैसे वैशेषिकोंके अनुसार मूर्त मन मूर्त शरीरमें प्रवेश कर सकता है, वैसे ही हमारे मतमें मूर्त आत्मा भी मूर्त शरीरमें प्रवेश कर सकती है। तथा रूपादिसे युक्त जल आदि मूर्त पदार्थ मूर्त मिट्टी आदिमें प्रवेश करते देखे ही जाते हैं; फिर रूपादिसे रहित आत्मा मूर्त शरीरमें न प्रवेश कर सके, यह एक महान आश्चर्य है।

अथात्मनः कायपरिमाणत्वे बालशरीरपरिमाणस्य सतो युवशरीरपरिमाणस्वीकारः कथं स्यात्। किं तत्परिमाणत्यागात्, तदपरित्यागाद् वा ? परित्यागात् चेत्, तदा शरीरवत् तस्यानित्यत्वप्रसङ्गात् परलोकाद्यभावानुषङ्गः। अथापरित्यागात्, तन्न। पूर्वपरिमाणापरित्यागे शरीरवत् तस्योत्तरपरिमाणोत्पत्त्यनुपपत्तेः। तदयुक्तम्।

---

[1] सर्वमूर्तसंयोगित्वम्। [2] इयत्तारहितत्वम्। [3] सर्वेषां मूर्तद्रव्याणां आकाशं समानो देश एक आधार इत्यर्थः। एवं दिगादिष्वपि व्याख्येयं। यद्यपि आकाशादिकं सर्वसंयोगिनामाधारो न भवति, इहप्रत्ययविषयत्वेनावस्थानात्। तथापि सर्वसंयोगिसंयोगाधारभूतत्वादुपचारेण सर्वसंयोगिनामप्याधार उच्यते॥

युवशरीरपरिमाणावस्थायामात्मनो बालशरीरपरिमाणपरित्यागे सर्वथा विनाशासम्भवात्, त्रिफणावस्थोत्पादे सर्पवत्। इति कथं परलोकाभावोऽनुषज्यते। पर्यायतस्तस्यानित्यत्वेऽपि द्रव्यतो नित्यत्वात् ॥

शंका—आत्माको शरीरके परिमाण स्वीकार करनेमें बालकका शरीर युवाके शरीरमें कैसे बदलता है? हम पूछते हैं, कि बालकके शरीरके परिमाणको छोड़कर युवाका शरीर बनता है, अथवा पहले परिमाणको विना छोड़े ही उत्तर शरीरका परिमाण बन जाता है? प्रथम पक्षमें, शरीरकी तरह आत्मा भी अनित्य होना चाहिये, तथा आत्माके अनित्य होनेपर परलोक आदि भी नहीं बन सकता। द्वितीय पक्षमें, शरीरके पहले परिमाणको छोड़े विना उत्तर परिमाणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि बालकका शरीर छोड़ कर युवा शरीर प्राप्त करते समय आत्माका सर्वथा विनाश नहीं होता। जैसे फण सहित अवस्थाको छोड़कर फण रहित अवस्थाको प्राप्त करते समय सर्पकी आत्माका सर्वथा विनाश नहीं होता, उसी तरह बाल शरीरसे युवा शरीरकी अवस्था प्राप्त करते समय आत्माका नाश नहीं होता। अतएव आत्माको शरीरके परिमाण माननेपर परलोक आदिका अभाव नहीं होसकता। क्योंकि द्रव्यकी अपेक्षासे आत्मा नित्य है, और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य।

अथात्मनः कायपरिमाणत्वे तत्खण्डने खण्डनप्रसङ्गः, इति चेत्, कः किमाह शरीरस्य खण्डने कथंचित् तत्खण्डनस्येष्टत्वात्। शरीरसम्बद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशानां खण्डितशरीरप्रदेशेऽवस्थानादात्मनः खण्डनम्। तच्चात्र विद्यत एव। अन्यथा शरीरात् पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात्। न च खण्डितावयवानुप्रविष्टस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वप्रसङ्गः, तत्रैवानुप्रवेशात्। न चैकत्र सन्तानेऽनेके आत्मानः। अनेकार्थप्रतिभासिज्ञानानामेकप्रमात्राधारतया प्रतिभासाभावप्रसङ्गात्। शरीरान्तरव्यवस्थितानेकज्ञानावसेयार्थसंवित्तिवत् ॥

शंका—आत्माको शरीरके परिमाण माननेपर शरीरके नाश होनेसे आत्माका भी नाश होना चाहिये। **समाधान**—शरीरके नाश होनेपर आत्माका कथंचित् नाश हमने स्वयं स्वीकार किया है। क्योंकि शरीरसे संवद्ध आत्मप्रदेशोंमें कुछ आत्मप्रदेशोंके खण्डित शरीरमें रहनेकी अपेक्षासे आत्माका नाश होता ही है। यदि इस अपेक्षासे आत्माका नाश न माना जाय, तो शरीरके तलवार आदिसे काटे जानेपर शरीरसे भिन्न अवयवोंमें कम्पन नहीं होना चाहिये। परन्तु जिस समय पूर्ण शरीरसे कुछ अवयव कट कर अलग हो जाते हैं, उस समय उन अवयवोंमें कम्पन आदि क्रिया होती है। (जैन मान्यताके अनुसार, इन कटे हुए अवयवोंमें आत्माके कुछ प्रदेश रहते हैं, इसीलिये यह कम्पन आदि क्रिया होती है) अतएव आत्मा नाशमान है। **शंका**—शरीरके खण्डित अवयवोंमें आत्माके प्रदेशोंको स्वीकार करनेसे खण्डित अवयवोंमें भिन्न आत्मा मानना चाहिये।

समाधान—यह बात नहीं है। क्योंकि खण्डित अवयवोंमें रहनेवाले आत्माके प्रदेश फिरसे पहले शरीरमें ही लौट आते हैं। तथा, एक स्थानमें अनेक आत्मा नहीं बन सकते, अन्यथा अनेक पदार्थोंका निश्चय करानेवाली नेत्र आदि इंद्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको एक ज्ञाता रूप आत्माके आधारसे पदार्थोंका निश्चय न हो सकेगा। इस लिये एक शरीरमें अनेक आत्मा माननेपर जिस रूपको शरीरके नेत्र रूप अवयवमें स्थित आत्मा देखता है, उसका निश्चय नेत्रस्थ आत्माको ही होना चाहिये, कानकी आत्माको नहीं। अतएव एक ज्ञाताके आधारसे प्रत्येक आत्मामें 'मैं देखता हूं,' 'मैं सूंघता हूं' इस प्रकारका निश्चित ज्ञान नहीं होना चाहिये।

कथं खण्डितावयवयोः संघट्टनं पश्चाद् इति चेत्, एकान्तेन छेदानभ्युपगमात्। पद्मनालतन्तुवत् छेदस्यापि स्वीकारात्। तथाभूतादृष्टवशात् तत्संघट्टनमविरुद्धमेवेति तनुपरिमाण एवात्माङ्गीकर्तव्यः, न व्यापकः। तथा च आत्मा व्यापको न भवति, चेतनत्वात्, यत्तु व्यापकं न तत् चेतनम्, यथा व्योम, चेतनश्चात्मा, तस्माद् न व्यापकः। अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वेन सिद्धा कायप्रमाणता। यत्पुनरष्टमसमयसाध्यकेवलिसमुद्घातदशायामार्हतानामपि चतुर्दशरज्ज्वा[2]त्मकलोकव्यापित्वेनात्मनः सर्वव्यापकत्वम्, तत् कादाचित्कम्, इति न तेन व्यभिचारः। स्याद्वादमन्त्रकवचावगुण्ठितानां च नेदृशविभीषिकाभ्यो भयम्॥ इति काव्यार्थः॥ ९॥

शंका—आत्माके अवयव खण्डित हो जानेपर पीछेसे एक कैसे होते हैं। **समाधान**—हम लोग आत्माके प्रदेशोंका सर्वथा विभाग नहीं मानते। हमारे मतमें कमलकी डंड़ीके तन्तुओंकी तरह आत्माका विभाग स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार कमलकी नालके टुकड़े करनेपर टूटे हुए तंतु फिरसे आकर मिल जाते हैं, वैसे ही शरीरके खण्डित होनेपर खण्डित आत्माके प्रदेश फिरसे पहले आत्माके प्रदेशोंसे आकर मिल जाते हैं। इन आत्माके प्रदेशोंका मिल जाना अदृष्टके बलसे संभव है, इस लिये आत्माको व्यापक न, मानकर शरीरके परिमाण ही मानना चाहिये। तथा, चेतन होनेसे आत्मा व्यापक नहीं है। जो व्यापक है, वह चेतन

---

[1] हंतेर्गमिक्रियात्वात्संभूयात्मप्रदेशानां च बहिरुद्गमनं समुद्घातः। स सप्तविधः। वेदनाकषायमारणांतिकतेजोविक्रियाऽहारककेवलिविषयभेदात्। वेदनीयस्य बहुत्वादल्पत्वाच्चायुषोऽनाभोगपूर्वकमायुःसमकरणार्थं द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदाविर्भावोपशमनवद्देहस्थात्मप्रदेशानां बहिःसमुद्घातनं केवलिसमुद्घातः। केवलिसमुद्घातः अष्टसमयिकः। दंडकपाटप्रतरलोकपूरणानि चतुर्षु समयेषु, पुनः प्रतरकपाटदंडस्वशरीरानुप्रवेशाश्चतुर्षु इति। राजवर्तिके पृ. ५३

[2] उब्भियदलेक्कमुरवद्धयसंचयसण्णिहो हवे लोगो।
अद्धुदयो मुरवसमो चोद्दसरज्जूदओ सव्वो॥
छाया—उद्भूतदलैकमुरजध्वजसंचयसन्निभो भवेत् लोकः।
अर्धोदयः मुरजसमः चतुर्दशरज्जूदयः सर्वः॥
त्रिलोकसारे १–६

नहीं है, जैसे आकाश। आत्मा चेतन है, इस लिये वह व्यापक नहीं है। आत्माके अव्यापक होनेपर, 'जहां जिसके गुण पाये जाते हैं' हेतुसे आत्मा शरीरके परिमाण ही सिद्ध होती है। तथा केवलीके समुद्धात दशामें आठ समयमें चौदह राजू परिमाण तीन लोकमें व्याप्त होनेकी अपेक्षा जो आत्माको व्यापक कहा है, वह कभी कभी होता है, नियमित रूपसे नहीं, इस लिये यहां पर समुद्धात दशामें आत्माके व्यापक होनेसं व्यभिचार नहीं आता। मूल शरीरको न छोड़ कर आत्माके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको समुद्धात कहते हैं। यह समुद्धात वेदना, कषाय, मारणांतिक, तैजस, विक्रिया, आहारक और केवलीके भेदसे सात प्रकारका है। (१) तीव्र वेदना होनेके समय मूल शरीरको न छोड़ कर आत्माके प्रदेशोंके बाहर जानेको वेदनासमुद्धात कहते हैं। (२) तीव्र कषायके उदयसे दूसरेका नाश करनेके लिये मूल शरीरको विना छोड़े आत्माके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको कषायसमुद्धात कहते हैं। (३) जिस स्थानमें आयुका बंध किया हो, मरनेके अंतिम समय उस स्थानके प्रदेशोंको स्पर्श करनेके लिये मूल शरीरको न छोड़ कर आत्माके प्रदेशोंके बाहर निकलनेको मारणांतिकसमुद्धात कहते हैं। (४) तैजससमुद्धात शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका होता है। जीवोंको किसी व्याधि अथवा दुर्भिक्षसे पीड़ित देखकर मूल शरीरको न छोड़ कर मुनियोंके शरीरसे बारह योजन लम्बे, मूलभागमें सूच्यंगुलके असंख्येयभाग, अग्रभागमें नौ योजन, शुभ आकृति वाले पुतलेके बाहर निकल कर जानेको शुभ-तैजससमुद्धात कहते हैं। यह पुतला, व्याधि, दुर्भिक्ष आदिको नष्ट करके वापिस लौट आता है। किसी प्रकारके अपने अनिष्टको देखकर क्रोधके कारण मूल शरीरके विना छोड़े ही मुनियोंके शरीरसे उक्त परिमाणवाले अशुभ पुतलेके बाहर निकल कर जानेको अशुभ-तैजससमुद्धात कहते हैं। यह अशुभ पुतला अपनी अनिष्ट वस्तुको नष्ट करके मुनिके साथ स्वयं भी भस्म हो जाता है। द्वीपायन मुनिने अशुभ-तैजससमुद्धात किया था। (५) मूल शरीरको न छोड़ कर किसी प्रकारकी विक्रिया करनेके लिये आत्माके प्रदेशोंके बाहर जानेको विक्रियासमुद्धात कहते हैं। (६) ऋद्धिधारी मुनियोंको किसी प्रकारकी तत्वसंबंधी शंका होनेपर उनके मूल शरीरको विना छोड़े शुद्ध स्फटिकके आकार, एक हाथके बराबर पुतलेका मस्तकके बीचसे निकलकर शंकाकी निवृत्तिके लिये केवली भगवानके पास जाना, आहारकसमुद्धात है। यह पुतला अंतर्मुहूर्तमें केवलीके पास पहुंच जाता है, और शंकाकी निवृत्ति होनेपर अपने स्थानको लौट आता है। (७) वेदनीय कर्मके अधिक रहनेपर और आयु कर्मके कम रह जानेपर आयु कर्मको विना भोगे ही आयु और वेदनीय कर्मके बराबर करनेके लिये आत्मप्रदेशोंका समस्त लोकमें व्याप्त हो जाना केवलीसमुद्धात है। वेदना, कषाय, मारणांतिक, तैजस, वैक्रियक और आहारक समुद्धातमें छह समय ('लोकप्रकाश' आदि श्वेताम्बर शास्त्रोंमें इनका समय अन्तमुहूर्त बताया गया है) और केवलीसमुद्धातमें आठ समय लगते है। केवलीसमुद्धातमें पहले चार समयोंमें

आत्माके प्रदेश क्रमसे दण्ड, कपाट, प्रतर (मन्थान—'लोकप्रकाश') और लोकपूर्ण होते हैं, तथा बादमें प्रतर, (मन्थान) कपाट और दण्ड परिमाण हो कर अपने स्थानको लौट जाते हैं। यहां केवलीसमुद्घात अवस्थामें ही आत्माको सर्वव्यापक कहा है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें आत्माके सर्वव्यापकपनेका खंडन किया गया है। अनुमान—'जहां जिस वस्तुके गुण पाये जाते हैं, वह वस्तु उसी जगह उपलब्ध होती है, जैसे जहां घटके रूपादि गुण पाये जाते हैं, वहीं पर घट उपलब्ध होता है।' **शंका**—पुष्पके एक स्थानमें रहनेपर भी उसकी गंध दूसरे स्थानमें भी देखी जाती है। **समाधान**—दूर देशमें पाये जानेवाली गंध पुष्प का गुण नहीं है, परन्तु ये पुष्पमें रहनेवाले गंध पुद्गल ही उडकर हमारी नाक तक आते हैं।

शंका—मंत्र आदि दूर स्थानसे भी मारण, उच्चाटन आदि क्रिया करते हैं। **समाधान**—मारण, उच्चाटन मंत्रका गुण नहीं हैं, परन्तु मंत्रके अधिष्ठाता देव ही मारण आदि क्रिया करनेमें समर्थ होते हैं। इस लिये 'आत्मा व्यापक नहीं है, क्योंकि आत्माके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते। जिसके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते, वह व्यापक नहीं होता, जैसे घटके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते, इस लिये घट व्यापक नहीं है। आत्माके गुण भी सर्वत्र नहीं पाये जाते, इस लिये आत्मा भी व्यापक नहीं है। आकाश व्यापक है, इस लिये आकाशके गुण सर्वत्र पाये जाते हैं।'

शंका—अदृष्ट आत्माका गुण है। यह अदृष्ट दूर स्थानमें भी क्रिया करता है। यदि आत्माको सर्वव्यापक न मानें, तो अदृष्ट दूर देशोंमें क्रिया नहीं कर सकता। **समाधान**—अदृष्टके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अदृष्टकी सिद्धिमें हमें कोई प्रमाण भी नहीं मिलता। अग्निकी शिखाका ऊंचा जाना आदि कार्य वस्तुओंके स्वभावसे ही होते हैं। यदि अदृष्टसे सब कार्य होने लगें, तो फिर ईश्वरकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहती। तथा, आत्माको सर्वव्यापक मान कर उसे नाना स्वीकार करनेमें आत्माओंमें परस्पर भिड़न्त होनी चाहिये, और एक आत्माका सुख दूसरी आत्माको उपभोग करना चाहिये। तथा सर्वव्यापक आत्माको ईश्वरकी आत्मामें प्रवेश करना चाहिये, इस लिये या तो ईश्वरको भी सृष्टिकर्ता न मानना चाहिये, अथवा आत्माको भी सृष्टिका कर्ता कहना चाहिये।

शंका—यदि आत्माको व्यापक न मानें, तो आत्मा अपने दूसरे जन्मके शरीरके योग्य परमाणुओंको अपनी ओर कैसे आकर्षित कर सकता है। यदि किसी तरह वह अपने शरीरके योग्य परमाणुओंको आकर्षित कर भी ले, लेकिन आत्मा शरीर-परिमाण ही ठहरेगा, इस लिये आत्माको सावयव होनेसे कार्य (अनित्य) मानना चाहिये। **समाधान**—जैन लोग आत्माको सावयव मानते हैं, इस लिये आत्मामें परिमाण भी होता है। हम लोग किसी भी पदार्थको एकान्त नित्य नहीं मानते।

शंका--यदि आत्मा शरीर-परिमाण है, तो वह शरीरमें प्रवेश नहीं कर सकती, क्योंकि एक मूर्त पदार्थका दूसरे मूर्त पदार्थमें प्रवेश नहीं हो सकता। समाधान--मूर्तत्वसे यदि आप लोगोंका अभिप्राय रूपादिको धारण करनेवालेसे है, तो हम लोग आत्माको रूप आदिसे युक्त नहीं मानते। हां, यदि अव्यापकत्व को आप लोग मूर्त कहते हैं, तो हम आत्माको अवश्य शरीरके परिमाण मानते हैं। अतएव जैनसिद्धांतके अनुसार आत्मा द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है, और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य।

वैशेषिकनैयायिकयोः प्रायः समानतन्त्रत्वादौलूक्यमते क्षिप्ते यौगमतमपि क्षिप्तमेवावसेयम्। पदार्थेषु च तयोरपि न तुल्या प्रतिपत्तिरिति सांप्रतमक्षपादप्रतिपादितपदार्थानां सर्वेषां चतुर्थपुरुषार्थं प्रत्यसाधकतमत्वे वाच्येऽपि, तदन्तःपातिनां छलजातिनिग्रहस्थानानां परोपन्यासनिरासमात्रफलतया अत्यन्तमनुपादेयत्वात् तदुपदेशदातुर्वैराग्यमुपहसन्नाह—

वैशेषिक और नैयायिकोंके सिद्धांत प्रायः एकसे ही हैं, इस लिये वैशेषिकोंके सिद्धांतोंका खंडन होनेसे नैयायिकोंके सिद्धांतोंका भी खंडन हो गया समझना चाहिये। वैशेषिक और नैयायिक लोग पदार्थोंको भिन्न प्रकारसे स्वीकार करते हैं। अतएव यद्यपि नैयायिकोंद्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण पदार्थ मोक्षके कारण नहीं हैं, फिर भी उन पदार्थोंमें गर्भित, केवल दूसरेके कथनका तिरस्कार करनेवाले छल, जाति और निग्रहस्थान नामक पदार्थ सर्वथा त्याज्य हैं, इस लिये छल जाति और निग्रहस्थानके उपदेष्टा गौतम ऋषिके वैराग्यका उपहास करते हुए कहते हैं—

स्वयं विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे जनेऽस्मिन्।
मायोपदेशात् परमर्म भिन्दन्नहो विरक्तो मुनिरन्यदीयः॥ १०॥

श्लोकार्थ—यह आश्चर्य है, कि स्वयं ही विवाद रूपी पिशाचसे जकड़े हुए, वितण्डा रूप पाण्डित्यसे असंबद्ध प्रलाप करते हुए, और लोगों में छल, जाति और निग्रहस्थानके उपदेशसे दूसरोंके निर्दोष हेतुओंका खंडन करनेवाले गौतम ऋषि, वीतराग समझे जाते हैं।

अन्ये—अविज्ञातत्वदाज्ञासारतयाऽनुपादेयनामानः परे, तेषामयं शास्तृत्वेन सम्बन्धी अन्यदीयो मुनिः अक्षपादऋषिः, अहो विरक्तः—अहो वैराग्यवान्। अहो इत्युपहासगर्भमाश्चर्यं सूचयति। अन्यदीय इत्यत्र “ ईयकारके[१] ” इति दोऽन्तः। किं कुर्वन्नित्याह। परमर्म भिन्दन्—जातावेकवचनप्रयोगात् परमर्माणि व्यथयन्। “ बहुभि-

---

[१] हैमसू. ३-२-१२१।

रात्मप्रदेशैरधिष्ठिता देहावयवा मर्माणि ” इति पारिभाषिकी संज्ञा । तत उपचारात् साध्यस्वतत्त्वसाधनाव्यभिचरितया प्राणभूतः साधनोपन्यासोऽपि मर्मेव मर्म । कस्मात् तद्भिन्दन्, मायोपदेशाद्धेतोः, माया–परवञ्चनम्, तस्या उपदेशः छलजातिनिग्रहस्थानलक्षणपदार्थत्रयप्ररूपणद्वारेण शिष्येभ्यः प्रतिपादनं, तस्मात् “ गुणादस्त्रियां न वा ” इत्यनेन हेतौ तृतीयाप्रसङ्गे पञ्चमी । कस्मिन् विषये मायामयमुपादिष्टवान् इत्याह । अस्मिन् प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणे, जने–तत्त्वातत्त्वविमर्शबहिर्मुखतया प्राकृतप्राये लोके । कथम्भूते, स्वयम्–आत्मना परोपदेशनिरपेक्षमेव, विवादग्रहिले–विरुद्धः–परस्परलक्ष्यीकृतपक्षाधिक्षेपदक्षः, वादो–वचनोपन्यासो विवादः । तथा च भगवान् हरिभद्रसूरिः—

“ लब्धिख्यात्यर्थिना[2] तु स्याद् दुःस्थितेनामहात्मना ।
छलजातिप्रधानो यः स विवाद इति स्मृतः ” ॥

तेन ग्राहिल इव–ग्रहगृहीत इव । तत्र यथा ग्रहाद्यपस्मारपरवशः पुरुषो यत्किञ्चनप्रलापी स्याद् एवमयमपि जन इति भावः । तथा, वितण्डा–प्रतिपक्षस्थापनाहीनं वाक्यम् । वितण्ड्यते आहन्यतेऽनया प्रतिपक्षसाधनमिति व्युत्पत्तेः । “ अभ्युपेत्य[3] पक्षं यो न स्थापयति स वैतण्डिक इत्युच्यते ” इति न्यायवार्तिकम् । वस्तुतस्त्वपरामृष्टतत्त्वातत्त्वविचारं मौखर्यं वितण्डा । तत्र यत्पाण्डित्यम्–अविकलं कौशलं, तेन कण्डूलं मुखं लपनं यस्य स तथा तस्मिन् । कण्डूः–खर्जूः, कण्डूरस्यास्तीति कण्डूलम्, सिध्मादित्वाद् मत्वर्थीयो लप्रत्ययः । यथा क्लिलान्तरुत्पन्नकृमिकुलजनितां कण्डूतिं निरोद्धुमपारयन् पुरुषो व्याकुलतां कलयति, एवं तन्मुखमपि वितण्डापाण्डित्येनासंबद्धप्रलापचापलमाकलयत् कण्डूलमित्युपचर्यते ॥

व्याख्यार्थ—‘ अस्मिन् स्वयं विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे जने मायोपदेशात् परमर्म भिन्दन् अन्यदीयः मुनिः अहो विरक्तः ’——भूत पिशाच आदिके वशीभूत हुए पुरुषकी तरह स्वयं दूसरोंके उपदेशके विना ही विवाद (दूसरेके मतको खंडन करनेवाले वचनका कहना विवाद है । हरिभद्रसूरीने भी कहा है “ लाभ और ख्यातिके चाहनेवाले कलुषित और नीच लोग छल और जातिसे युक्त जो कुछ कथन करते हैं, वह विवाद है ।”) से ग्रसित, तथा वितण्डा (जिससे प्रतिपक्ष, अर्थात् अपने पक्षमें प्रतिवादीद्वारा दिये हुए दोषोंका खण्डन करके अपने पक्षका स्थापन न किया जा सके । न्यायवर्तिकमें भी कहा है “अपने पक्षको स्वीकार करके जो स्वपक्षको स्थापित नहीं कर सकता, उसे वैतंडिक कहते हैं।” वास्तवमें तत्व-अतत्वका विचार न करके बकवाद करनेको ही वितंडा कहते हैं) के

---

१ हैमसू. २–२२–७७ । २ हरिभद्रसूरिकृते अष्टके १२–४ । ३ उद्योतकरविरचितन्यायवार्तिके १–१–१ ।

पांडित्यसे असंबद्ध प्रलाप करनेवाले तत्व और अतत्वके विचारसे बहिर्मुख लोगोंमें, छल जाति और निग्रहस्थानका उपदेश देकर दूसरोंके निर्दोष हेतुओंका खंडन करनेवाले, आपकी आज्ञा से बाह्य अक्षपाद ऋषि, आश्चर्य है, कि वीतराग कहे जाते हैं ।

एवं च स्वरसत एव स्वस्वाभिमतव्यवस्थापनाविसंस्थुलो वैतण्डिकलोकः । तत्र च तत्परमाप्तभूतपुरुषविशेषपरिकल्पितपरवञ्चनप्रचुरवचनरचनोपदेशश्चेत् सहायः समजनि, तदा स्वत एव ज्वालाकलापजटिले प्रज्वलति हुताशन इव कृतो घृताहुतिप्रक्षेप इति । तैश्च [1]भवाभिनन्दिभिर्वादिभिरेतादृशोपदेशदानमपि तस्य मुनेः कारुणिकत्वकोटावारोपितम् । तथा चाहुः—

“ दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः ।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपमण्डिताः ॥ १ ॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः ।
मा गादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः ” ॥ २ ॥

कारुणिकत्वं च वैराग्याद् न भिद्यते । ततो युक्तमुक्तम् अहो विरक्त इति स्तुतिकारेणोपहासवचनम् ॥

यदि अपने मतको स्थापित करनेके लिये आतुर वैतंडिक लोगोंको परम आप्त कहे जानेवाले पुरुषोंके द्वारा दूसरोंको ठगनेवाले वचनोंका उपदेश दिया जाय, तो वह जलती हुई अग्निमें घीकी आहुतिका काम देता है । संसारमें आनन्द माननेवाले वादियोंने इस प्रकारका उपदेश करनेवाले गौतमको भी कारुणिक बताया है । उन लोगोंने कहा है “ कुतर्कसे बकवाद करनेवाले वितंडावादी छल आदिके विना नहीं जीते जा सकते । लोग एक दूसरेके पीछे चलनेवाले होते हैं । इस लिये कुतार्किकोंसे ठगाये जाकर लोग उनका अनुकरण न करने लग जांय, अतएव कारुणिक गौतमने छल आदिका उपदेश किया है । ” करुणा और वैराग्य अलग अलग नहीं हैं । इस लिये स्तुतिकारने ‘ अहो विरक्तः ’ ऐसा कह कर जो उपहास किया है, वह ठीक है ।

अथ मायोपदेशादिति सूचनासूत्रं वितन्यते । अक्षपादमते किल षोडशपदार्थाः । “ [2]प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तासिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासछलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः ” इति वचनात् । न चैतेषां व्यस्तानां समस्तानां वा अधिगमो निःश्रेयसावाप्तिहेतुः । न ह्येकेनेव क्रियाविरहितेन ज्ञानमात्रेण मुक्तिर्युक्तिमती । असमग्रसामग्रीकत्वात् । विघटितैकचक्ररथेन मनीषितनगरप्राप्तिवत् ॥

---

[1] भवाभिनन्दी—असारोऽप्येष संसारः सारवानिव लक्ष्यते । दधिदुग्धाम्बुताम्बूलपुण्यपण्याङ्गनादिभिः ॥ इत्यादिवचनैः संसाराभिनन्दनशीलः । [2] गौतमसूत्रे १–१–१

नैयायिकोंके मतमें सोलह पदार्थ माने गये हैं। कहा भी है "प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान के तत्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।" इन सोलह पदार्थोंमें दो चारका अथवा समस्त पदार्थोंका ज्ञान लेना मोक्षकी प्राप्तिमें कारण नहीं है। क्योंकि क्रियाके विना केवल ज्ञानसे ही मुक्ति नहीं मिलती। जिस प्रकार रथके दो पहियोंके विना केवल एक पहियेसे नगरमें नहीं घूमा जा सकता, उसी तरह ज्ञान और क्रिया दोनोंके विना केवल ज्ञान मात्रसे ही मोक्ष नहीं मिलता।

न च वाच्यं न खलु वयं क्रियां प्रतिक्षिपामः, किन्तु तत्त्वज्ञानपूर्विकाया एव तस्या मुक्तिहेतुत्वमिति ज्ञापनार्थं तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगम इति ब्रूम इति। न ह्यमीषां संहते अपि ज्ञानक्रिये मुक्तिप्राप्तिहेतुभूते। वितथत्वात् तज्ज्ञानक्रिययोः। न च वितथत्वमसिद्धम्। विचार्यमाणानां षोडशानामपि तत्त्वाभासत्वात्। तथाहि तैः प्रमाणस्य तावद् लक्षणमित्थं सूत्रितम्—"अर्थो[1]पलब्धिहेतुः प्रमाणम्" इति। एतच्च न विचारसहम्। यतोऽर्थोपलब्धौ हेतुत्वं यदि निमित्तत्वमात्रं, तत्सर्वकारकसाधारणमिति कर्तृकर्मादेरपि प्रमाणत्वप्रसङ्गः। अथ कर्तृकर्मादिविलक्षणं हेतुशब्देन करणमेव विवक्षितं, तर्हि तज्ज्ञानमेव युक्तं, न चेन्द्रियसन्निकर्षादि। यस्मिन् हि सत्यर्थ उपलब्धो भवति, स तत्करणम्। न चेन्द्रियसन्निकर्षसामग्र्यादौ सत्यपि ज्ञानाभावेऽर्थोपलम्भः। साधकतमं हि करणम्। अव्यवहितफलं च तदिष्यते। व्यवहितफलस्यापि करणत्वे दुग्धभोजनादेरपि तथाप्रसङ्गः। तन्न ज्ञानादन्यत्र प्रमाणत्वम्। अन्यत्रोपचारात्। यदपि न्यायभूषणसूत्रकारेणोक्तम्—"सम्यग[2]नुभवसाधनं प्रमाणम्" इति, तत्रापि साधनग्रहणात् कर्तृकर्मनिरासेन करणस्यैव प्रमाणत्वं सिध्यति। तथाऽप्यव्यवहितफलत्वेन साधकतमत्वं ज्ञानस्यैव इति न तत् सम्यग्लक्षणम्। "स्वपर[3]व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्" इति तु तात्त्विकं लक्षणम्॥

शंका—हम लोग क्रियाका निषेध नहीं करते, किन्तु सोलह पदार्थोंके तत्वज्ञानसे होनेवाली क्रिया ही मोक्षकी प्राप्तिमें कारण है, यह बतानेके लिये हमने कहा है "तत्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।" समाधान—आप लोगोंके द्वारा माने हुए ज्ञान और क्रिया दोनों मिल कर भी मोक्षके कारण नहीं हो सकते, क्योंकि वे ज्ञान और क्रिया दोनों मिथ्या हैं। ज्ञान और क्रियाका मिथ्या होना असिद्ध नहीं है, क्योंकि विचार करनेपर ये सोलह पदार्थ तत्वाभास सिद्ध होते हैं। कारण कि आप लोगोंने जो "पदार्थके ज्ञानमें हेतुको प्रमाण" स्वीकार किया है, वह ठीक नहीं। क्योंकि यदि निमित्त मात्रको ही हेतु कहा जाय, तो कर्ता, कर्म आदिको भी प्रमाण मानना चाहिये। क्योंकि कर्ता, कर्म आदि भी पदार्थोंके ज्ञानमें

---

१ वात्स्यायनभाष्ये। २ न्यायसारे भासर्वज्ञप्रणीते १–१। ३ प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे १–२।

निमित्त कारण हैं। यदि आप कर्ता, कर्म आदि कारकोंसे विलक्षण कारणको ही हेतु कहें, तो इन्द्रिय और पदार्थके संबंधको पदार्थके ज्ञानमें कारण न कह कर केवल ज्ञानको ही पदार्थोंके ज्ञानमें कारण मानना चाहिये। क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थका संबंध होनेपर भी ज्ञानका अभाव होनेसे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। जिसके होनेपर पदार्थका ज्ञान होता है, वह पदार्थके ज्ञानका करण है, परन्तु इन्द्रियसन्निकर्ष आदि सामग्रीके रहते हुए भी ज्ञानके अभावमें पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। तथा साधकतमको ही करण मानना चाहिये। इसी साधकतम ज्ञान रूप करणके होनेसे ही पदार्थोंके जानने रूप कार्यकी उत्पत्ति होती है। यदि करणको परम्परासे फल देनेवाला माना जाय, तो दुग्ध, भोजन आदि भी पदार्थके ज्ञानमें करण हो सकते हैं। अतएव ज्ञानको छोड़ कर और कोई प्रमाण नहीं मानना चाहिये। क्योंकि ज्ञान ही पदार्थोंके जाननेमें करण है, दूसरी जगह उपचारसे ही प्रमाण स्वीकार किया गया है। तथा न्यायभूषणकारने जो "सम्यक् प्रकारसे अनुभवका साधन करनेवाले" को प्रमाण कहा है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि कर्ता और कर्मका निराकरण करके करणको साधन माना जाय, तो प्रत्यक्ष फल देनेवाला साधकतम करण ज्ञान ही सम्यक् प्रकारसे अनुभवका साधक हो सकता है, इन्द्रिय और पदार्थोंका संबंध नहीं। अतएव अपने और परको निश्चय करनेवाले ज्ञानको ही प्रमाण मानना चाहिये। (स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणं)।

प्रमेयमपि तैरात्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदाद् द्वादशविधमुक्तम्। तच्च न सम्यग्। यतः शरीरेन्द्रियबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषफलदुःखानाम् आत्मन्येवान्तर्भावो युक्तः। संसारिण आत्मनः कथञ्चित् तदविष्वग्भूतत्वात्। आत्मा च प्रमेय एव न भवति। तस्य प्रमातृत्वात्। इन्द्रियबुद्धिमनसां तु करणत्वात् प्रमेयत्वाभावः। दोषास्तु रागद्वेषमोहाः, ते च प्रवृत्तेर्न पृथग्भवितुमर्हन्ति। वाङ्मनःकायव्यापारस्य शुभाशुभफलस्य विंशतिविधस्य तन्मते प्रवृत्तिशब्दवाच्यत्वात्। रागादिदोषाणां च मनोव्यापारात्मकत्वात्। दुःखस्य शब्दादीनामिन्द्रियार्थानां च फल एवान्तर्भावः। "प्रवृत्तिदोषजनितं सुखदुःखात्मकं मुख्यं फलं, तत्साधनं तु गौणम्[1]" इति जयन्तवचनात्। प्रेत्यभावापवर्गयोः पुनरात्मन एव परिणामान्तरापत्तिरूपत्वाद्, न पार्थक्यमात्मनः सकाशादुचितम्। तदेवं द्वादशविधं प्रमेयमिति वाग्विस्तरमात्रम्"[2]द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयम्" इति तु समीचीनं लक्षणम्। सर्वसंग्राहकत्वात्। एवं संशयादीनामपि तत्त्वाभासत्वं प्रेक्षावद्भिरनुपेक्षणीयम्। अत्र तु प्रतीतत्वाद्, ग्रन्थगौरवभयाच्च न प्रपञ्चितम्। न्यक्षेण ह्यत्र न्यायशास्त्रमवतारणीयम्, तच्चावतार्यमाणं पृथग्ग्रन्थान्तरतामवगाहत इत्यास्ताम्॥

---

[1] जयन्तन्यायमंजर्यां। [2] प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारे।

नैयायिकोंने आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुख, और अपवर्गके भेदसे जो बारह प्रकारका प्रमेय (मुमुक्षुद्वारा जानने योग्य विषय) स्वीकार किया है, वह भी ठीक नहीं । क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, फल और दुखका आत्मामें ही अन्तर्भाव हो जाता है । कारण कि शरीर, इन्द्रिय आदिसे संसारी पुरुषकी आत्मा किसी अपेक्षासे अभिन्न ही है। तथा आत्मा प्रमाता है, वह प्रमेय नहीं हो सकती । इन्द्रिय, बुद्धि और मन करण हैं, अर्थात् इनके द्वारा प्रमाता प्रमिति क्रियाका कर्ता है, इस लिये ये भी प्रमेय नहीं कहे जा सकते। राग, द्वेष और मोह प्रवृत्तिसे भिन्न नहीं हैं, क्योंकि नैयायिकोंके मतमें प्रवृत्ति शब्दसे शुभ अशुभ रूप बीस प्रकारका मन, वचन और कायका व्यापार लिया गया है। राग, आदि दोष मनका व्यापार है । दुख और इन्द्रियोंके विषय शब्द आदि फलमें गर्भित हो जाते हैं । जयन्तने कहा भी है " प्रवृत्ति और दोषसे उत्पन्न सुख-दुख मुख्य फल है, तथा सुख-दुख रूप फलका साधन गौण है," प्रेत्यभाव और अपवर्ग ये दोनों आत्माके ही परिणाम हैं, अतएव इन्हें आत्मासे भिन्न नहीं मानना चाहिये । अतएव नैयायिकोंद्वारा मान्य बारह प्रकारका प्रमेय केवल वचनोंका आडम्बर ही है । अतएव " द्रव्य और पर्याय रूप वस्तु ही प्रमेय है " (द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयं), यही प्रमेयका लक्षण सर्वसंग्राहक होनेसे समीचीन है। इसी प्रकार प्रमाण और प्रमेयकी तरह संशय आदि चौदह पदार्थोंको भी तत्वाभास ही समझना चाहिये ।

तदेवं प्रमाणादिषोडशपदार्थानामविशिष्टेऽपि तत्त्वाभासत्वे प्रकटकपटनाटकसूत्रधाराणां त्रयाणामेव छलजातिनिग्रहस्थानानां मायोपदेशादिति पदेनोपक्षेपः कृतः। तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातः छलम् । तत् त्रिधा–वाक्छलं, सामान्यछलम्, उपचारछलं चेति। तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थादर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधो वाक्छलम् । यथा नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते, परः संख्यामारोप्य निषेधति कुतोऽस्य नव कम्बलाः इति । संभावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यछलम् । यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे, कश्चिद् वदति सम्भवति ब्राह्मणे, विद्याचरणसम्पदिति, तत् छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपद् भवति, व्रात्ये[1]ऽपि सा भवेद्, व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति । औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम् उपचारछलम् । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते, परः प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतनाः मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीति ॥

इस प्रकार प्रमाण आदि सोलह पदार्थोंके सामान्य रूपसे तत्वभास सिद्ध हो जानेपर भी, यहां छल, जाति और निग्रहस्थानका खंडन किया जाता है । बोलनेवाले

---

१ सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ।

वादीक अर्थको वदल कर वादीके वचनोंके निषेध करनेको छल कहते हैं। यह छल वाक्, सामान्य और उपचारके भेदसे तीन प्रकारका है। (१) वक्ताके किसी साधारण शब्दके प्रयोग करनेपर उसके विवक्षित अर्थकी जान बूझकर उपेक्षा कर अर्थान्तरकी कल्पना करके वक्ताके वचनके निषेध करनेको वाक्छल कहते हैं। जैसे वक्ताने कहा, कि ' नवकम्बलोऽयं ब्राह्मणः ' यहां हम जानते हैं, कि ' नव ' कहनेसे वक्ताका अभिप्राय ' नूतनसे ' है, फिर भी दुर्भावनासे उसक वचनोंका निषेध करनेके लिये हम ' नव ' शब्दका अर्थ ' नौ ' करके वक्तासे पूछते हैं, कि इस ब्राह्मणके पास नौ कंबल कहां हैं? (२) संभावना मात्रसे कही गई वातको सामान्य नियम बनाकर वक्ताके वचनोंके निषेध करनेको सामान्यछल कहते हैं। जैसे ' आश्चर्य है, कि यह ब्राह्मण विद्या और आचरणसे युक्त है, ' यह कह कर कोई पुरुष ब्राह्मण की स्तुति करता है, इसपर कोई दूसरा पुरुष कहता है, कि विद्या और आचरणका ब्राह्मणमें होना स्वाभाविक है। यहां यद्यपि ब्राह्मणत्वका संभावना मात्रसे कथन किया गया है, फिर भी छलवादी ब्राह्मणमें विद्या और आचरणके होनेके सामान्य नियम बना करके कहता है, कि यदि ब्राह्मणमें विद्या और आचरण का होना स्वाभाविक है, तो विद्या और आचरण व्रात्य (पतित) ब्राह्मणमें भी होना चाहिये, क्योंकि व्रात्य ब्राह्मण भी ब्राह्मण ही है (३) उपचार अर्थमें मुख्य अर्थका निषेध करके वक्ताके वचनोंको निषेध करना, उपचारछल है। जैसे कोई कहे, कि मंच रोते हैं, तो छलवादी उत्तर देता है, कहीं मंच जैसे अचेतन पदार्थ भी रो सकते हैं, अतएव यह कहना चाहिये, कि मंचपर बैठे हुए आदमी रोते हैं।

तथा सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते, झटिति तद्दोषतत्त्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिः दूषणाभास इत्यर्थः। सा च चतुर्विंशतिभेदा। साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन यथा "साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षाऽपकर्षवर्ण्याऽवर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्ताऽनुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः" ॥

वादीके द्वारा सम्यक् हेतु अथवा हेत्वाभासके प्रयोग करनेपर, वादीके हेतुकी सदोषताकी विना परीक्षा किये हुए हेतुके समान मालूम होनेवाला शीघ्रतासे कुछ भी कह देना जाति है। यह जाति " साधर्म्य, वैधर्म्य, उत्कर्ष, अपकर्ष, वर्ण्य, अवर्ण्य, विकल्प, साध्य, प्राप्ति, अप्राप्ति, प्रसंग, प्रतिदृष्टांत, अनुत्पत्ति, संशय, प्रकरण, हेतु, अर्थापत्ति, अविशेष, उपपत्ति, उपलब्धि, अनुपलब्धि, नित्य, अनित्य और कार्यसम " के भेदसे चौवीस प्रकारकी है।

तत्र साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिर्भवति। अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद्, घटवदिति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम् नित्यः शब्दो, निरव-

---

१ गौतमसूत्रे ५-१-१।

यवत्वाद्, आकाशवत् । न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दः, न पुनराकाशसाधर्म्याद् निरवयवत्वाद् नित्य इति । वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिर्भवति । अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद्, घटवदित्यत्रैव प्रयोगे, स एव प्रतिहेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते नित्यः शब्दो निरवयवत्वात् । अनित्यं हि सावयवं दृष्टम् घटादीति । न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दः, न पुनस्तद्वैधर्म्याद् निरवयवत्वाद् नित्य इति । उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानम् उत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः । तत्रैव प्रयोगे, दृष्टान्तधर्मं कञ्चित् साध्यधर्मिण्यापादयन् उत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते । यदि घटवत् कृतकत्वादनित्यः शब्दः घटवदेव मूर्तोऽपि भवतु, न चेद् मूर्तः, घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति । अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन् अश्रावणो दृष्टः, एवं शब्दोऽप्यस्तु, नो चेद् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे श्रावणत्वधर्ममपकर्षतीति । इत्येताश्चतस्रो दिङ्मात्रदर्शनार्थं जातय उक्ताः । एवं शेषा अपि विंशतिरक्षपादशास्त्रादवसेयाः । अत्र त्वनुपयोगित्वाद् न लिखिताः ॥

(१) साधर्म्यसे उपसंहार करनेपर दृष्टांतकी समानता दिखला कर साध्यसे विपरीत कथन करनेको साधर्म्यसमा जाति कहते हैं । जैसे, वादीने कहा, ‘ शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है, जैसे घड़ा ’ । इसमें दोष देनेके लिये प्रतिवादी कहता है, ‘ यदि कृतक रूप धर्मसे शब्द और घड़ेमें समानता है, तो निरवयव रूप धर्मसे शब्द और आकाशमें भी समानता है, इस लिये शब्द आकाशके समान नित्य होना चाहिये ’ । यहां वादीद्वारा शब्दको अनित्य सिद्ध करनेमें कृतकत्व हेतुका प्रतिवादीने विलकुल खंडन नहीं किया । क्योंकि केवल दृष्टांतकी समानता दिखानेसे साध्यका खंडन नहीं होता, उसके लिये हेतु देना चाहिये, या वादीके हेतुका खंडन करना चाहिये । (२) वैधर्म्यके उपसंहार करनेपर वैधर्म्य दिखला कर खंडन करना, वैधर्म्यसमा जाति है । जैसे, ‘ शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे, घटकी तरह ’ इस प्रकार वादीके प्रयोग करनेपर प्रतिवादी कहता है, ‘ शब्द नित्य है, निरवयव होनेसे, आकाशकी तरह ’ । यहां प्रतिवादीका कहना है, कि यदि नित्य आकाशके वैधर्म्यसे शब्द अनित्य है, तो अनित्य घटके वैधर्म्यसे शब्दको अनित्य मानना चाहिये । परन्तु यहां कोई ऐसा नियामक नहीं है, कि घटके रूप साधर्म्य से कृतक होनेके कारण शब्द नित्य नहीं हो ? इस लिये वहां वादीके हेतुका कोई खण्डन नहीं होता । (३) दृष्टांतके धर्मको साध्यमें मिला कर वादीके खण्डन करनेको उत्कर्षसमा जाति कहते हैं । जैसे, वादी ने कहा, ‘ शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे, घटकी तरह ’ इस अनुमानमें दोष देनेके लिये प्रतिवादी कहता है, कि ‘ जैसे घटकी तरह शब्द अनित्य है, वैसे ही उसे घटकी तरह मूर्त भी मानना चाहिये । यदि शब्द मूर्त नहीं है, तो वह घटकी तरह अनित्य भी नहीं है । ’ यहां वादी घटका दृष्टांत देकर शब्दमें अनि-

त्यत्व सिद्ध करना चाहता है, परन्तु प्रतिवादी घटके दूसरे धर्म मूर्तत्वको शब्दमें सिद्ध करके वादीका खंडन करना चाहता है। (४) उत्कर्षसमाकी उल्टी अपकर्षसमा जाति कही जाती है। साध्यधर्मीमें से दृष्टांतमें नहीं रहनेवाले धर्मको निकाल कर वादीके प्रति विरुद्ध भाषण करनेको अपकर्षसमा जाति कहते हैं। जैसे, 'शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे, घटकी तरह' इस प्रकार वादीके कहनेपर प्रतिवादी बोलता है, कि जैसे घट कृतक होनेसे श्रवणका विषय नहीं है, इसी तरह शब्दको भी श्रवणका विषय नहीं होना चाहिये। यदि शब्द अश्रावण नहीं है, तो वह घटकी तरह अनित्य भी नहीं हो सकता।

"(५–६) जिसका कथन किया जाता है, उसे वर्ण्य, और जिसका कथन नहीं किया जाता, उसे अवर्ण्य कहते हैं। वर्ण्य या अवर्ण्यकी समानतासे जो असदुत्तर दिया जाता है, उसे वर्ण्यसमा या अवर्ण्यसमा कहते हैं। जैसे, अगर साध्यमें सिद्धिका अभाव है, तो दृष्टांतमें भी होना चाहिये (वर्ण्यसमा), यदि दृष्टांतमें सिद्धिका अभाव नहीं है, तो साध्यमें भी न होना चाहिये (वर्ण्यसमा)। (७) दूसरे धर्मोंके विकल्प उठा कर मिथ्या उत्तर देना, विकल्पसमा जाति है। जैसे, कृत्रिमता और गुरुत्वका संबंध ठीक ठीक नहीं मिलता, गुरुत्व और अनित्यत्वका नहीं मिलता, अनित्यत्व और मूर्तत्वका नहीं मिलता, इस लिये अनित्यत्व और कृत्रिमताका भी संबंध न मानना चाहिये, जिससे कृत्रिमतासे शब्द अनित्य सिद्ध किया जा सके। (८) वादीने जो साध्य बनाया है, उसीके समान दृष्टांत आदिको बतला कर मिथ्या उत्तर देना, साध्यसमा जाति है। जैसे, यदि मिट्टीके ढ़ेलेके समान आत्मा है, तो आत्माके समान मिट्टिके ढ़ेलेको भी मानना चाहिये। आत्मामें 'क्रिया' साध्य (सिद्ध करने योग्य न कि सिद्ध) है, तो मिट्टीके ढ़ेलेमें भी साध्य मानो। यदि ऐसा नहीं मानते हो, तो आत्मा और मिट्टिके ढ़ेलेको समान मत मानो। ये सब मिथ्या उत्तर हैं, क्योंकि दृष्टांतमें सब धर्मोंकी समानता नहीं देखी जाती, उसमें तो सिर्फ साध्य और साधनकी समानता देखी जाती है। विकल्पसमामें जो अनेक धर्मोंका व्यभिचार बतलाया है, उससे वादीका अनुमान खंडित नहीं होता, क्योंकि साध्य-धर्मके सिवाय अन्य धर्मोंके साथ अगर साधनकी व्याप्ति न मिले, तो इससे साधनको व्यभिचारी नहीं कह सकते। हां, अगर साध्य-धर्मके साथ व्याप्ति न मिले, तो व्यभिचारी हो सकता है। दूसरे धर्मोंके साथ व्यभिचार आनेसे साध्यके साथ भी व्यभिचारकी कल्पना व्यर्थ है। धूमकी अगर पत्थरके साथ व्याप्ति नहीं मिलती, तो यह नहीं कहा जा सकता, कि धूमकी व्याप्ति, अग्निके साथ भी नहीं है। (९-१०) प्राप्ति और अप्राप्तिका प्रश्न उठा कर सच्चे हेतुको खंडित बतलाना, प्राप्तिसमा और अप्राप्तिसमा जाति है। जैसे, हेतु साध्यके पास रह कर साध्यको सिद्ध करता है, या दूर रह कर? यदि पास रह कर, तो कैसे मालूम होगा, कि यह साध्य है, और यह हेतु है (प्राप्तिसमा)। यदि दूर रह कर, तो यह साधन

अमुक धर्मकी ही सिद्धि करता है, दूसरेकी नहीं, यह कैसे मालूम हो (अप्राप्तिसमा)। ये असदुत्तर हैं, क्योंकि धूंआ आदि पास रह कर अग्निकी सिद्धि करते हैं। दूर रह कर भी पूर्वचर आदि साधन, अपने साध्यकी सिद्धि करते हैं। जिनमें अविनाभाव संबंध है, उन्हींमें साध्य-साधकता हो सकती है, न कि सबमें। (११) जैसे साध्यके लिये साधनकी जरूरत है, उसी प्रकार दृष्टांतके लिये भी साधनकी जरूरत है, ऐसा कहना प्रसंगसमा जाति है। दृष्टांतमें वादी, प्रतिवादीको विवाद नहीं होता, इस लिये उसके लिये साधनकी आवश्यकता बतलाना व्यर्थ है, अन्यथा वह दृष्टांत ही न कहलायगा। (१२) विना व्याप्तिके सिर्फ दूसरा दृष्टांत देकर दोष लगाना, प्रतिदृष्टांतसमा जाति है। जैसे, घड़ेके दृष्टांतसे यदि शब्द अनित्य है, तो आकाशके दृष्टांतसे नित्य कहलावे। प्रतिदृष्टांत देनेवालेने कोई हेतु नहीं दिया है, जिससे यह कहा जाय, कि दृष्टांत साधक नहीं है, प्रतिदृष्टांत साधक है। विना हेतुके खंडन मंडन कैसे हो सकता है। (१३) उत्पत्तिके पहले, कारणका अभाव दिखला कर मिथ्या खंडन करना, अनुत्पत्तिसमा है। जैसे, उत्पत्तिके पहले शब्द कृत्रिम है, या नहीं ? यदि है, तो उत्पत्तिके पहले मौजूद होनेसे शब्द नित्य हो गया। यदि नहीं है, तो हेतु आश्रयासिद्ध हो गया। यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पत्तिके पहले तो वह शब्द ही नहीं था, फिर कृत्रिम अकृत्रिमका प्रश्न ही क्या ? (१४) व्याप्तिमें मिथ्या सन्देह बतला कर वादीके पक्षका खंडन करना, संशयसमा जाति है। जैसे, कार्य होनेसे शब्द नित्य है, तो यह कहना, कि इन्द्रियका विषय होनेसे शब्दकी अनित्यतामें सन्देह है। क्योंकि इन्द्रियोंके विषय नित्य भी होते हैं (जैसे गोत्व, घटत्व आदि सामान्य), और अनित्य भी होते हैं (जैसे घट, पट आदि)। यह संशय ठीक नहीं, क्योंकि जब तक कार्यत्व और अनित्यत्वकी व्याप्ति खंडित न की जाय, तब तक वहां संशयका प्रवेश हो ही नहीं सकता। कार्यत्वकी व्याप्ति यदि नित्यत्व और अनित्यत्व दोनोंके साथ हो, तो संशय हो सकता है, अन्यथा नहीं। लेकिन कार्यत्वकी व्याप्ति दोनोंके साथ हो ही नहीं सकती। (१५) मिथ्या व्याप्तिके ऊपर अवलम्बित दूसरे अनुमानसे दोष देना, प्रकरणसमा जाति है। जैसे, यदि अनित्य (घट) के साधर्म्यसे कार्यत्व हेतु शब्दकी अनित्यता सिद्ध करता है, तो गोत्व आदि सामान्यके साधर्म्यसे ऐन्द्रियकत्व (इन्द्रियका विषय होना) हेतु नित्यताको सिद्ध करे। इस लिये दोनों पक्ष बराबर कहलाये। यह असत्य उत्तर है, क्योंकि अनित्यत्व और कार्यत्वकी तो व्याप्ति है, लेकिन ऐन्द्रियकत्व और नित्यत्वकी व्याप्ति कहां है ? (१६) भूत आदि कालकी असिद्धि बतला कर हेतु मात्रको हेतु कहना, अहेतुसमा जाति है। जैसे, हेतु साध्यके पहले होता है, या पीछे होता है, या साथ होता है ? पहले तो हो नहीं सकता, क्योंकि जब साध्य ही नहीं, तब साधक किसका ? न पीछे हो सकता है, क्योंकि जब साध्य ही नहीं रहा, तब वह सिद्ध किसे करेगा ? अथवा जिस समय साध्य था, उस समय यदि साधन नहीं था, तो वह साध्य

कैसे कहलाया? दोनों एक साथ भी नहीं बन सकते, क्योंकि उस समय यह सन्देह हो जायगा, कि कौन साध्य है, कौन साधक है? जैसे, विंध्याचलसे हिमालयकी और हिमालयसे विंध्याचलकी सिद्धि करना अनुचित है, उसी तरह एक कालमें होनेवाली वस्तुओंको साध्य-साधक ठहराना अनुचित है। यह असत्य उत्तर है, क्योंकि इस प्रकार त्रिकालकी असिद्धि बतलानेसे जिस हेतुके द्वारा जातिवादीने हेतुको अहेतु ठहराया है, वह हेतु (जातिवादीका त्रिकालसिद्धि हेतु) भी अहेतु ठहर गया, और जातिवादीका वक्तव्य अपने आप खंडित हो गया। दूसरी बात यह है, कि कालभेद होनेसे या अभेद होनेसे अविनाभाव संबंध बिगड़ता नहीं है, यह बात पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर, कार्य, कारण, आदि हेतुओंके स्वरूपसे स्पष्ट विदित हो जाती है। जब अविनाभाव संबंध नहीं मिटता, तब हेतु, अहेतु कैसे कहा जा सकता है? कालकी एकतासे साध्य-साधनमें सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि दो वस्तुओंके अविनाभावमें ही साध्य-साधनका निर्णय हो जाता है। अथवा दोमेंसे जो असिद्ध हो वह साध्य, और जो सिद्ध हो, उसे हेतु मान लेनेसे संदेह मिट जाता है। (१७) अर्थापत्ति दिखला कर मिथ्या दूषण देना, अर्थापत्तिसमा जाति है। जैसे, यदि अनित्यके साधर्म्य (कृत्रिमता) से शब्द अनित्य है, तो इसका मतलब यह हुआ कि नित्य (आकाश) के साधर्म्य (स्पर्श रहितता) से नित्य है, यह उत्तर असत्य है, क्योंकि स्पर्श रहित होनेसे ही कोई नित्य कहलाने लगे, तो सुख वगैरह भी नित्य कहलाने लगेंगे। (१८) पक्ष और दृष्टांतमें अविशेषता देख कर किसी अन्य धर्मसे सब जगह (विपक्षमें भी) अविशेषता दिखला कर साध्यका आरोप करना, अविशेषसमा जाति है। जैसे, शब्द और घटमें कृत्रिमतासे अविशेषता होनेसे अनित्यता है, तो सब पदार्थोंमें सत्व धर्मसे अविशेषता है, इस लिये सभी (आकाशादि—विपक्ष भी) अनित्य होना चाहिये। यह असत्य उत्तर है, क्योंकि कृत्रिमताका अनित्यताके साथ अविनभाव संबंध है, लेकिन सत्वका अनित्यताके साथ नहीं है। (१९) साध्य और साध्यविरुद्ध, इन दोनोंके कारण दिखला कर मिथ्या दोष देना, उपपत्तिसमा जाति है। जैसे, यदि शब्दके अनित्यत्वमें कृत्रिमता कारण है, तो उसके नित्यत्वमें स्पर्श रहितता कारण है। यहां जातिवादी अपने शब्दोंसे अपनी बातका विरोध करता है। जब उसने शब्दके अनित्यत्वका कारण मान लिया, तो नित्यत्वका कारण कैसे मिल सकता है? दूसरी बात यह है, कि स्पर्श रहितताकी नित्यत्वके साथ व्याप्ति नहीं है। (२०) निर्दिष्ट कारण (साध्यकी सिद्धिका कारण—साधन) के अभावमें साध्यकी उपलब्धि बता कर दोष देना, उपलब्धिसमा जाति है। जैसे, प्रयत्नके बाद पैदा होनेसे शब्दको अनित्यत्व कहते हो, लेकिन ऐसे बहुतसे शब्द हैं, जो प्रयत्नके बाद न होनेपर भी अनित्य हैं। मेघ गर्जना आदिमें प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है। यह दूषण मिथ्या है, क्योंकि साध्यके अभावमें साधनके अभावका नियम है, न कि साधनके अभावमें

साध्यके अभावका । अग्निके अभावमें नियमसे धुंआ नहीं रहता, लेकिन धुंएके अभावमें नियमसे अग्निका अभाव नहीं कहा जा सकता । (२१) उपलब्धिके अभावमें अनुपलब्धिका अभाव कह कर दूषण देना, अनुपलब्धिसमा जाति है। जैसे, किसीने कहा, कि उच्चारणके पहले शब्द नहीं था, क्योंकि उपलब्ध नहीं होता था। यदि कहा जाय, कि उस समय शब्दपर आवरण था, इस लिये अनुपलब्ध था, तो उसका आवरण तो उपलब्ध होना चाहिये । जैसे कपड़ेसे ढ़की हुई चीज नहीं दिखती है, तो कपडा दिखता है, उसी तरह शब्दका आवरण उपलब्ध होना चाहिये । इसके उत्तरमें जातिवादी कहता है, जैसे आवरण उपलब्ध नहीं होता, उसी तरह आवरणकी अनुपलब्धि (अभाव) भी तो उपलब्ध नहीं होती। यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि आवरणकी अनुपलब्धि नहीं होनेसे ही आवरणकी अनुपलब्धि उपलब्ध हो जाती है (२२) एककी अनित्यतासे सबको अनित्य कह कर दूषण देना, अनित्यसमा जाति है। जैसे, यदि किसी धर्मकी समानतासे आप शब्दको अनित्य सिद्ध करोगे, तो सत्वकी समानतासे सब चीज़ें अनित्य सिद्ध हो जावेंगी। यह उत्तर ठीक नहीं। क्योंकि वादी, प्रतिवादीके शब्दोंमें भी प्रतिज्ञा आदिकी समानता तो है ही, इस लिये जिस प्रकार प्रतिवादी (जातिका प्रयोग करनेवाला) के शब्दोंसे वादीका खंडन होगा, उसी प्रकार प्रतिवादीका भी खंडन हो जायगा। इस लिये जहां जहां अविनाभाव हो, वहीं वहीं साध्यकी सिद्धि मानना चाहिये, न कि सब जगह। (२३) अनित्यत्वमें नित्यत्वका आरोप करके खंडन करना, नित्यसमा जाति है। जैसे, शब्दको तुम अनित्य सिद्ध करते हो, तो शब्दमें अनित्यत्व नित्य है, या अनित्य ? अनित्यत्व नित्य है, तो शब्द भी नित्य कहलाया (धर्मके नित्य होनेपर धर्मीको नित्य कहना ही पडेगा)। यदि अनित्यत्व अनित्य है, तो शब्द नित्य कहलाया। यह असत्य उत्तर है, क्योंकि जब शब्दमें अनित्यत्व सिद्ध है, तो उसीका अभाव कैसे कहा जा सकता है। दूसरी बात यह है, कि इस तरह कोई भी वस्तु अनित्य सिद्ध नहीं हो सकेगी। तीसरी बात यह है, कि अनित्यत्व एक धर्म है, अगर धर्ममें भी धर्मकी कल्पना की जायगी, तो अनवस्था हो जायगी। (२४) कार्यको अभिव्यक्तिके समान मानना (क्योंकि दोनोंमें प्रयत्नकी आवश्यकता होती है), और सिर्फ इतनेसे ही सत्य हेतुका खंडन करना, कार्यसमा जाति है। जैसे, प्रयत्नके बाद शब्दकी उत्पत्ति भी होती है, और अभिव्यक्ति (प्रगट होना) भी होती है, फिर शब्द अनित्य कैसे कहा जा सकता है। यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि प्रयत्नके अनन्तर होना, इसका मतलब है, स्वरूप लाभ करना। अभिव्यक्तिको स्वरूप लाभ नहीं कह सकते। प्रयत्नके पहले अगर शब्द उपलब्ध होता, या उसका आवरण उपलब्ध होता, तो अभिव्यक्ति कही जा सकती थी[1]।"

---

[1] पं. दरबारीलाल न्यायतीर्थ-न्यायप्रदीप. पृ. ८०-८७

तथा विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् । तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनवुद्धिः, दूषणाभासे च दूषणवुद्धिरिति । अप्रतिपत्तिः साधनस्यादूषणं, दूषणस्य चानुद्धरणम् । तच्च निग्रहस्थानं द्वाविंशतिविधम् । तद्यथा–प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरम् प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासः हेत्वन्तरम् अर्थान्तरम् निरर्थकम् अविज्ञातार्थम् अपार्थकम् अप्राप्तकालम् न्यूनम् अधिकम् पुनरुक्तम् अननुभाषणम् अज्ञानम् अप्रतिभा विक्षेपः मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणम् निरनुयोज्यानुयोगः अपसिद्धान्तः हेत्वाभासाश्च ।

विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्तिको निग्रहस्थान कहते हैं । साधनाभासमें साधनकी वुद्धि और दूषणाभासमें दूषणकी वुद्धिको विप्रतिपत्ति, अर्थात् विरुद्धप्रतिपत्ति कहते हैं । तथा प्रतिवादीके साधनको दोष रहित मान लेना, अथवा प्रतिवादीके दूषणको दूर न करना, अप्रतिपत्ति है । निग्रहस्थान वाइस प्रकारका है–१ प्रतिज्ञाहानि, २ प्रतिज्ञान्तर, ३ प्रतिज्ञाविरोध, ४ प्रतिज्ञासंन्यास, ५ हेत्वन्तर, ६ अर्थान्तर, ७ निरर्थक, ८ अविज्ञातार्थ, ९ अपार्थक, १० अप्राप्तकाल, ११ न्यून, १२ अधिक, १३ पुनरुक्त, १४ अननुभाषण, १५ अज्ञान, १६ अप्रतिभा, १७ विक्षेप, १८ मतानुज्ञा, १९ पर्यनुयोज्योपेक्षण, २० निरनुयोज्यानुयोग, २१ अपसिद्धान्त, २२ हेत्वाभास । इनमें अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण छह अप्रतिपतिसे, और वाकी सोलह विप्रतिपत्तिसे होते हैं ।

तत्र हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानम् । यथा अनित्यः शब्दः, ऐन्द्रियकत्वाद्, घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी वदन्, परेण सामान्यमैन्द्रियकमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकीकृते, यद्येवं ब्रूयात् सामान्यवद् घटोऽपि नित्यो भवत्विति, स एवं ब्रुवाणः शब्दाऽनित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात् । प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरं साधनीयमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्दः, ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते, तथैव सामान्येन व्यभिचारे चोदिते, यदि ब्रूयाद् युक्तं यत् सामान्यमैन्द्रियकं नित्यम्, तद्धि सर्वगतम्; असर्वगतस्तु शब्द इति । तदिदं शब्देऽनित्यत्वलक्षणपूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञान्तरमसर्वगतः शब्द इति निग्रहस्थानम् । अनया दिशा शेषाण्यपि विंशतिर्ज्ञेयानि । इह तु न लिखितानि, पूर्वहेतोरेव । इत्येवं मायाशब्देनात्र छलादित्रयं सूचितम् । तदेवं परवञ्चनात्मकान्यपि छलजातिनिग्रहस्थानानि तत्त्वरूपतयोपदिशतो अक्षपादर्षेर्वैराग्यव्यावर्णनं तमसः प्रकाशात्मकत्वप्रख्यापनमिव कथमिव नोपहसनीयम् ॥ इति काव्यार्थः ॥ १० ॥

(१) प्रतिवादीद्वारा हेतुके अनैकांतिक सिद्ध किये जानेपर वादीद्वारा विरोधीके दृष्टांतका धर्म अपने दृष्टांतमें स्वीकार किये जानेको, प्रतिज्ञाहानि कहते हैं। जैसे, वादीने कहा, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह इन्द्रियका विषय है, घटकी तरह'। इसपर प्रतिवादी कहता है, कि यह अनुमान अनैकांतिक हेत्वाभास है, क्योंकि सामान्य (जाति) भी इन्द्रियोंका विषय है, लेकिन वह नित्य है। इससे वादीके पक्षकी पराजय होती है, लेकिन वादी पराजय न मान कर कहता है, कि 'सामान्यकी तरह घट भी नित्य रहे'। इस प्रकार वादी अपनी अनित्यत्वकी प्रतिज्ञाको छोड़ देता है। (२) प्रतिज्ञाके खण्डित होनेपर धर्मीमें दूसरे धर्मको स्वीकार करनेको, प्रतिज्ञान्तर कहते हैं। जैसे, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह इन्द्रियका विषय है, घटकी तरह,' इस अनुमानमें प्रतिज्ञाके खंडित होनेपर यह कहना, कि सामान्य जो इन्द्रियोंका विषय होकर नित्य है, वह सर्वव्यापक है, परन्तु शब्द तो घटके समान असर्वगत है, इस लिये उसीके समान अनित्य भी है। यहां शब्दको असर्वगत कह कर दूसरी प्रतिज्ञा की गई, लेकिन इससे पूर्वोक्त व्यभिचार दोषका परिहार नहीं होता।

"(३) प्रतिज्ञा और हेतुका विरोध होना, प्रतिज्ञाविरोध है। जैसे, 'गुण, द्रव्यसे भिन्न है, क्योंकि द्रव्यसे जुदा नहीं मालूम होता'। जुदा न मालूम होनेसे तो अभिन्नता सिद्ध होती है, न कि भिन्नता। यह विरुद्ध हेत्वाभासके भीतर भी शामिल किया जा सकता है (४) अपनी प्रतिज्ञाका त्याग कर देना, प्रतिज्ञासन्यास है। 'मैंने ऐसा कब कहा!' इत्यादि। (५) हेतुके खण्डित हो जानेपर उसमें कुछ जोड़ देना हेत्वन्तर है। जैसे, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि इन्द्रियका विषय है'। यहां घटत्वमें दोष आया, तो हेतुको बढा दिया, कि सामान्यवाला हो कर जो इन्द्रियका विषय है। घटत्व खुद सामान्य तो है, परन्तु सामान्यवाला नहीं है। अगर इस तरह हेतुमें मनमानी वृद्धि होती रहे, तो व्यभिचारी हेतुमें भी व्यभिचार दोष न दिखलाया जा सकेगा। ज्योंही व्यभिचार दिखलाया गया, कि एक विशेषण जोड़ दिया जाया करेगा। (६) प्रकृत विषय (जिस विषयपर शास्त्रार्थ हो रहा है) से संबंध न रखनेवाली बात करना, अर्थान्तर है। जैसे, वादीने कोई हेतु दिया, और उसका खण्डन न हो सका, तो कहने लगे 'हेतु किस भाषाका शब्द है, किस धातुसे निकला है?' इत्यादि। (७) अर्थ रहित शब्दोंका उच्चारण करने लगना, निरर्थक है। जैसे, 'शब्द अनित्य है, क्योंकि क ख ग घ ङ है। जैसे, च छ ज झ ञ आदि'। (८) ऐसे शब्दोंका प्रयोग करना, कि तीन तीन वार कहनेपर भी जिनका अर्थ न तो प्रतिवादी समझे, न कोई सभासद समझे, उसे अविज्ञातार्थ कहते हैं। जैसे, 'जंगलके राजाके आकारवालेके खाद्यके शत्रुका शत्रु यहां है'। जंगलका राजा शेर, उसके आकारवाला बिलाव, उसका खाद्य मूषक, उसका शत्रु सर्प, उसका शत्रु मोर। (९) पूर्वापर संबंधको छोड़ कर अंडबंड बकना, अपार्थक है। जैसे, 'कलकत्तेमें पानी बरसा, कौओंके दांत नहीं होते, बम्बई बड़ा शहर है, यहां दश वृक्ष लगे हैं, मेरा कोट

बिगड़ गया ' इत्यादि। इसे एक तरहका निरर्थक ही समझना चाहिये। (१०) प्रतिज्ञा आदिका बेसिलसिले प्रयोग करना, अप्राप्तकाल है। (११) अनुवादके सिवाय शब्द और अर्थका फिर कहना, पुनरुक्त है। (१२) वादीने तीन बार कहा, परिषदने भी समझ लिया, लेकिन प्रतिवादी उसका अनुवाद न कर पाया, इसे अननुभाषण कहते हैं। (१३) वादीके वक्तव्यको सभा समझ गई, किन्तु प्रतिवादी न समझा तो अज्ञान निग्रहस्थान है। (१४) उत्तर न सूझना अप्रतिभा है। (१५) विपक्षी निग्रहस्थानमें पड़ गया हो, फिर भी यह न कहना, कि तुम्हारा निग्रह हो गया है, यह पर्यनुयोज्योपेक्षण है। (१६) निग्रहस्थानमें न पड़ा हो, फिर भी उसका निग्रह वतलाना, निरनुयोज्यानुयोग है। (१७) अपने पक्षको कमजोर देख कर बात उडा देना, विक्षेप है। जैसे, ' अभी मुझे यह काम करना है, फिर देखा जायगा ' आदि। (१७) अपने पक्षमें दोष स्वीकार करके पर पक्षमें भी वही दोष बताना, मतानुज्ञा है। जैसे, ' अगर हमारे पक्षमें भी यह दोष है, तो आपके पक्षमें भी है '। (१९-२०) पांच अंगों (प्रतिज्ञा आदि) से कमका प्रयोग करना, न्यून है, और दो दो तीन तीन हेतु दृष्टांत आदि देना, अधिक है। (२१) स्वीकृत सिद्धांतके विरुद्ध बात कहना, अपसिद्धांत है। जैसे, ' सत्का उत्पाद नहीं, असत्का विनाश नहीं, ' यह मान करके भी आत्माका नाश कहना।" (२२) असिद्ध, विरुद्ध अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसमके भेदसे हेत्वाभास पांच प्रकारका है ।

यहां माया शब्दसे छल, जाति और निग्रहस्थानका सूचन किया गया है। ये छल, जाति और निग्रहस्थान केवल दूसरोंको ठगनेके लिये हैं, परन्तु तो भी गौतम ऋषिने इनका तत्व रूपसे उपदेश किया है। इस प्रकारके उपदेश देनेवाले गौतम ऋषिको वीतराग कहना अंधकारको प्रकाश कहनेके समान होनेसे हास्यास्पद है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें यौग नामसे कहे जानेवाले नैयायिकोंके प्रमाण, प्रमेय आदि पदार्थोंका खण्डन किया गया है। ग्रंथकारका कहना है, कि नैयायिकोंके सोलह पदार्थोंमें गिने जानेवाले छल, जाति और निग्रहस्थान बिलकुल अनुपादेय हैं, इनके ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती। तथा मुक्ति प्राप्त करनेके लिये ज्ञान और क्रिया दोनोंकी आवश्यकता होती है, केवल सोलह पदार्थोंके ज्ञान मात्रसे मुक्ति संभव नहीं।

(१) क—जो पदार्थोंके ज्ञानमें हेतु हो, उसे प्रमाण कहते हैं (अर्थोपलब्धि हेतुः प्रमाणम्–वात्स्यायनभाष्य)। ख—सम्यक् अनुभवको प्रमाण कहते हैं (सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्—भासर्वज्ञ-न्यायसार)। नैयायिकोंके ये दोनों प्रमाणके लक्षण दोषपूर्ण हैं, क्योंकि नैयायिक लोग इन्द्रिय और पदार्थोंके संनिकर्षको ही प्रमाण मानते हैं,

---

१–पं. दरबारीलाल न्यायतीर्थ–न्यायप्रदीप, पृ. ८९–९३

इन्द्रिय और पदार्थोंके संबंधसे उत्पन्न होनेवाले प्रत्यक्षके करण ज्ञानको प्रमाण नहीं मानते। परन्तु इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष होनेपर भी ज्ञानका अभाव होनेसे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। तथा 'पदार्थोंके ज्ञानमें हेतु' को प्रमाण माननेपर, यदि निमित्त मात्रको ही हेतु कहा जाय, तो कर्ता, कर्म आदिको भी प्रमाण मानना चाहिये। यदि 'हेतु' का अर्थ करण हो, तो फिर ज्ञानको ही प्रमाण मानना चाहिये, क्योंकि ज्ञान ही पदार्थोंके जाननेमें साधकतम है। इस लिये 'स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणं' ही प्रमाणका निर्दोष लक्षण है।

(२) नैयायिकोंके आत्मा, शरीर आदिके भेदसे बारह प्रकारके प्रमेयकी मान्यता भी ठीक नहीं है। क्योंकि शरीर आदिका आत्मामें अन्तर्भाव हो जाता है, तथा प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) और अपवर्ग (मोक्ष) भी आत्माकी ही अवस्था हैं। तथा, आत्मा प्रमेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह प्रमाता है। दोष मनकी क्रिया है, उसका प्रवृत्तिमें अन्तर्भाव हो जाता है। दुःख और इन्द्रियार्थ फलमें गर्भित हो जाते हैं, इसे जयन्तने भी स्वीकार किया है। अतएव 'द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयं' यही प्रमेयका लक्षण मानना निर्दोष है।

(३) छल, जाति और निग्रहस्थान दूसरोंको केवल ठगनेके साधन हैं, इस लिये इन्हें तत्व नहीं कहा जा सकता। अतएव इनके ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती है।

अधुना मीमांसकभेदाभिमतं वेदविहितहिंसाया धर्महेतुत्वमुपपत्तिपुरःसरं निरस्यन्नाह—

अब वेदमें कही हुई हिंसा धर्मका कारण नहीं होती, इसका युक्तिपूर्वक खंडन करते हैं—

न धर्महेतुर्विहितापि हिंसा नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च।
स्वपुत्रघाताद् नृपतित्वलिप्सा सब्रह्मचारी स्फुरितं परेषाम्॥ ११॥

श्लोकार्थ—वेदमें कही हुई हिंसा भी धर्मका कारण नहीं है। यदि कहो, कि यहां सामान्य विधिको छोड कर अपवाद विधिसे हिंसाका प्रतिपादन किया गया है, तो यह कहना अपने पुत्रको मार कर राजा बननेकी इच्छाके समान है।

इह खल्वर्चिर्मार्गप्रतिपक्षधूममार्गाश्रिता जैमिनीया इत्थमाचक्षते। या हिंसा गार्ध्याद् व्यसनितया वा क्रियते सैवाधर्मानुबन्धहेतुः, प्रमादसंपादितत्वात्। शौनिक-

---

१ अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
इत्यर्चिर्मार्गः। अयमेवोत्तरमार्ग इत्यभिधीयते। भगवद्गीता ८-२४।

२ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥
इति धूममार्गः। अयमेव दक्षिणमार्ग इत्यप्यभिधीयते। भगवद्गीता ८-२५।

लुब्धकादीनामिव । वेदविहिता तु हिंसा प्रत्युत धर्महेतुः, देवतातिथिपितृणां प्रीतिसंपादकत्वात्, तथाविधपूजोपचारवत् । न च तत्प्रीतिसंपादकत्वमसिद्धम् । कारीरी[1]प्रभृतियज्ञानां स्वसाध्ये वृष्ट्यादिफले यः खल्वव्यभिचारः, स तत्प्रीणितदेवताविशेषानुग्रहहेतुकः । एवं त्रिपु[2]रार्णववर्णितच्छगलजाङ्गलहोमात् परराष्ट्रवशीकृतिरपि तदनुकूलितदैवतप्रसादसंपाद्या । अतिथिप्रीतिस्तु मधु[3]पर्कसंस्कारादिसमास्वादजा प्रत्यक्षोपलक्ष्यैव । पितृणामपि तत्तदुपयाचितश्राद्धादिविधानेन प्रीणितात्मनां स्वसन्तानवृद्धिविधानं साक्षादेव वीक्ष्यते । आगमश्चात्र प्रमाणम् । स च देव[4]प्रीत्यर्थमश्वमेधगोमेधनरमेधादिविधानाभिधायकः प्रतीत एव । अतिथिविष[5]यस्तु—“ महोक्षं वा[6] महाजं वा श्रोत्रिया[7]योपकल्पयेत् । ” इत्यादिः । पितृप्रीत्यर्थ[8]स्तु—

“ द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनेह पञ्च तु ” ।। इत्यादिः ।

व्याख्यार्थ—पूर्वमीमांसक—हिंसाजीवी व्याध आदिकी हिंसाकी तरह लोभ अथवा किसी व्यसनसे की हुई हिंसा ही पापका कारण होती है, क्योंकि वह हिंसा प्रमादसे उत्पन्न होती है । वेदोंमें प्रतिपादित हिंसा धर्मका ही कारण है, क्योंकि वेदमें कही हुई पूजा, सेवाकी तरह वेदोक्त हिंसा भी देव, अतिथि और पितरोंको आनन्द देनेवाली होती है । वेदोक्त हिंसाका आनन्ददायकपना असिद्ध नहीं है, क्योंकि कारीरी (जिस यज्ञके करनेसे वृष्टि होती है, उसे कारीरी यज्ञ कहते हैं) आदि यज्ञोंके करनेसे वृष्टिका होना देखा जाता है । वृष्टि होना यज्ञोंसे प्रसन्न हुए देवता लोगोंके अनुग्रहका ही फल है । अतएव जिस प्रकार कारीरी यज्ञसे देवता लोग प्रसन्न होकर वृष्टि करते हैं, उसी तरह वेदोक्त हिंसा भी देवताओंको आनन्द देनेवाली है । इसी प्रकार ‘ त्रिपुरार्णव ’ नामक मंत्रशास्त्र संबंधी ग्रंथमें कहे हुए बकरे और हरिणका मांस होम करनेसे आनन्दित देवताओंकी कृपासे ही दूसरे देश वशमें किये जाते हैं । तथा मधुपर्क (दही और मांस युक्त पूजाको मधुपर्क कहते हैं) से अतिथि लोग प्रसन्न होते हैं । इसी प्रकार पितर भी श्राद्धसे प्रसन्न होकर अपनी संतानकी वृद्धि करते हुए देखे जाते हैं । आगममें भी कहा है, देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये अश्वमेध, गोमेध नरमेध आदि यज्ञ करने चाहिये । “ अतिथिको प्रसन्न करनेके लिये श्रोत्रिय (वेदपाठी) को बड़ा बैल अथवा घोड़ा मार कर देना चाहिये । ”

---

[1] कं जलमृच्छतीति कारो जलदस्तमीरयति प्रेरयतीति कारीरी । [2] मन्त्रशास्त्रविषयको निबन्धः ।
[3] दधि सर्पिः जलं क्षौद्रं सितैताभिस्तु पंचभिः प्रोच्यते मधुपर्कस्तु सर्वदेवौघतुष्टये ॥ कालिकापुराणे ।
[4] एतरेयब्राह्मणे ४; श्रौतसूत्रे । [5] मनुस्मृतौ पंचमाध्याये; आपस्तंभगृह्यसूत्रे । [6] याज्ञवल्क्यस्मृतौ आचाराध्यायः १०९ । [7] एकां शाखां सकल्पां वा षड्भिरङ्गैरधीत्य वा । षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥ [8] मनुस्मृतौ तृतीयाध्याये । [9] मनुस्मृतिः ३–२६८ ।

तथा, "मछलीके मांससे दो, हरिणके मांससे तीन, मेढ़ेके मांससे चार, और पक्षीके मांससे पांच महिने तक पितरोंकी तृप्ति होती है।"

एवं पराभिप्रायं हृदि संप्रधार्याचार्यः प्रतिविधत्ते न धर्मेत्यादि। विहितापि—वेदप्रतिपादितापि। आस्तां तावदविहिता हिंसा—प्राणिप्राणव्यपरोपणरूपा। न धर्महेतुः—न धर्मानुबन्धनिबन्धनम्। यतोऽत्र प्रकट एव स्ववचनविरोधः। तथाहि। 'हिंसा चेद् धर्महेतुः कथम्,' 'धर्महेतुश्चेद् हिंसा कथम्।'"श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्" इत्यादिः। न हि भवति माता च, वन्ध्या चेति। हिंसा कारणं, धर्मस्तु तत्कार्यमिति पराभिप्रायः। न चायं निरपायः। यतो यद् यस्यान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते तत् तस्य कार्यम्, यथा मृत्पिण्डादेर्घटादिः। न च धर्मो हिंसात एव भवतीति प्रातीतिकम् तपोविधानदानध्यानादीनां तदकारणत्वप्रसङ्गात्॥

जैन—वेदोंमें प्रतिपादित प्राणियोंके प्राणोंको नाश करनेवाली हिंसा धर्मका कारण नहीं हो सकती, क्योंकि हिंसाको धर्म प्रतिपादन करना साक्षात् अपने वचनोंका विरोध करना है। क्योंकि जो हिंसा है, वह धर्मका कारण नहीं हो सकती, और जो धर्मका कारण है, उसे हिंसा नहीं कह सकते। कहा भी है "धर्मका सार सुनकर उसे ग्रहण करना चाहिये। (अपने प्रतिकूल बातोंको कभी दूसरोंके लिये न करना चाहिये)।" जिस प्रकार कोई स्त्री एक ही समय माता और बंध्या दोनों नहीं हो सकती, उसी तरह हिंसाका हिंसा और धर्म रूप होना परस्पर विरुद्ध है। अतएव हिंसा और धर्मको कारण और कार्य रूपसे प्रतिपादन करनेवाले मीमांसकोंका मत निर्दोष नहीं है। जो जिसके अन्वय और व्यतिरेकसे संबद्ध होता है, वह उसका कार्य होता है, जैसे मिट्टीका पिंड और घड़ा दोनोंमें अन्वय-व्यतिरेक संबंध है, इस लिये घड़ा मिट्टीके पिंडका कार्य है। परन्तु जिस प्रकार मिट्टीके पिंड होनेपर ही घट होता है, वैसे हिंसाके होनेपर ही धर्म होता है, ऐसा अनुभवमें नहीं आता। क्योंकि केवल हिंसाको धर्म माननेपर अहिंसा रूप तप, ध्यान, दान आदि धर्मके कारण नहीं कहे जा सकते।

अथ न वयं सामान्येन हिंसां धर्महेतुं ब्रूमः, किन्तु विशिष्टामेव। विशिष्टा च सैव या वेदविहिता इति चेत्, ननु तस्या धर्महेतुत्वं किं वध्यजीवानां मरणाभावेन, मरणेऽपि तेषामार्त्तध्यानाभावात् सुगतिलाभेन वा? नाद्यः पक्षः। प्राणत्यागस्य तेषां साक्षादवेक्ष्यमाणत्वात्। न द्वितीयः। परचेतोवृत्तीनां दुर्लक्षतयार्त्तध्यानाभावस्य वाङ्मात्रत्वात्। प्रत्युत हा कष्टमस्ति न कोपि कारुणिकः शरणम्, इति स्वभाषया विरसमारसत्सु तेषु वदनदैन्यनयनतरलतादीनां लिङ्गानां दर्शनाद् दुर्ध्यानस्य स्पष्टमेव निष्टङ्क्यमानत्वात्॥

---

[1] 'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवोपधारयेत्'। चाणक्यराजनीतिशास्त्रे १-७।

शंका—हम लोग सामान्य हिंसाको धर्म नहीं मानते, किंतु विशिष्ट हिंसाको ही धर्म कहते हैं। वेदमें प्रतिपादित हिंसा विशिष्ट हिंसा है । **समाधान**—आप लोग हिंसाको धर्म क्यों कहते हैं ? वध किये जानेवाले प्राणियोंका मरण नहीं होता, क्या इस लिये हिंसा धर्म है, अथवा प्राणियोंके मरणके समय उनके परिणामोंमें आर्तध्यान न होनेसे उन्हें स्वर्ग मिलता है, इस लिये हिंसा धर्म है ? यदि कहो, कि वेदोक्त विधिसे प्राणियोंको मारनेपर उनका मरण नहीं होता, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि प्राणियोंका मरण प्रत्यक्षसे देखनेमें आता है। यदि कहो, कि वेदोक्त विधिसे प्राणियोंके मारे जानेपर उनके आर्तध्यान नहीं होता, तो यह भी केवल कथन मात्र है। क्योंकि हृदय द्रावक भाषासे आक्रन्दन करते हुए प्राणियोंके मुखकी दीनता, नेत्रोंकी चंचलता आदिसे उनके दुर्ध्यानका स्पष्ट रूपसे पता लगता ह।

अथेत्थमाचक्षीथाः यथा अयःपिण्डो गुरुतया मज्जनात्मकोऽपि तनुतरपत्रादिकरणेन संस्कृतः सन् जलोपरि प्लवते, यथा च मारणात्मकमपि विषं मन्त्रादिसंस्कारविशिष्टं सद्गुणाय जायते, यथा वा दहनस्वभावोऽप्यग्निः सत्यादिप्रभावप्रतिहतशक्तिः सन् न हि प्रदहति। एवं मन्त्रादिविधिसंस्काराद् न खलु वेदविहिता हिंसा दोषपोषाय । न च तस्याः कुत्सितत्वं शङ्कनीयम् । तत्कारिणां याज्ञिकानां लोके पूज्यत्वदर्शनादिति। तदेतद् न दक्षाणां क्षमते क्षोदम्। वैधर्म्येण दृष्टान्तानामसाधकतमत्वात्। अयःपिण्डादयो हि पत्रादिभावान्तरापन्नाः सन्तः सलिलतरणादिक्रियासमर्थाः। न च वैदिकमन्त्रसंस्कारविधिनापि विशस्यमानानां पशूनां काचिद् वेदनानुत्पादादिरूपा भावान्तरापत्तिः प्रतीयते। अथ तेषां वधानन्तरं देवत्वापत्तिर्भावान्तरमस्त्येवेति चेत् किमत्र प्रमाणम्। न तावत् प्रत्यक्षम्। तस्य संबद्धवर्तमानार्थग्राहकत्वात्। "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना।" इति वचनात्। नाप्यनुमानम्। तत्प्रतिबद्धलिङ्गानुपलब्धेः। नाप्यागमः। तस्याद्यापि विवादास्पदत्वात्। अर्थापत्त्युपमानयोस्त्वनुमानान्तर्गततया तद्दूषणेनैव गतार्थत्वम्॥

शंका—जिस प्रकार भारी लोहका पिंड पानीमें डूबनेवाला होनेपर भी हलके हलके पत्तरोंके रूपमें परिणत होकर जहाजके रूपमें पानीके ऊपर तैरता है, अथवा जिस तरह मंत्रके प्रभावसे मारनेवाला विष भी शरीरको आरोग्य प्रदान करता है, अथवा जिस तरह दहनशील अग्नि सत्य आदिके प्रभावसे दहन स्वभावको छोड देती है, उसी तरह मंत्रादि विधिसे वेदोक्त हिंसा भी पाप बंधका कारण नहीं होती। यह वेदोक्त हिंसा निन्दनीय भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि इस हिंसाके कर्ता याज्ञिक लोग संसारमें पूज्य दृष्टिसे देखे जाते हैं। **समाधान**—यह ठीक नहीं। आपके लोह पिंड आदिके दृष्टांत विषम हैं, इस लिये इन दृष्टांतोंसे हेतुकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि

---

१ मीमांसाश्लोकवार्तिके ४-८४

जिस प्रकार लोह पिंड अवस्थान्तरको प्राप्त होकर जहाजके रूपमें पानीपर तैर सकता है, उस तरह वैदिक विधिसे मंत्र आदिके द्वारा मारे जाते हुए प्राणियोंकी वेदना दूर नहीं होती। यदि आप लोग कहें, कि वेदोक्त विधिसे वध किये जानेवाले प्राणियोंको स्वर्गकी प्राप्ति होती है, तो इस कथनमें कोई प्रमाण नहीं है। यह प्राणियोंकी स्वर्ग-प्राप्ति प्रत्यक्ष प्रमाणसे नहीं जानी जा सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष केवल चक्षु आदि इन्द्रियोंसे संबद्ध वर्तमान पदार्थको ही जानता है। कहा भी है "प्रत्यक्ष चक्षु आदिसे संबद्ध वर्तमान पदार्थको ही जानता है।" अनुमानसे भी प्राणियोंकी स्वर्ग-प्राप्ति सिद्ध नहीं होती, क्योंकि अनुमानका साधक कोई हेतु नहीं है। आगमके विवादास्पद होनेसे आगमसे भी इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थापत्ति और उपमान अनुमानके भीतर ही गर्भित हो जाते हैं, इस लिये अर्थापत्ति और उपमान प्रमाणसे भी वेदोक्त रीतिसे वध किये हुए प्राणियोंका स्वर्ग पाना सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अथ भवतामपि जिनायतनादिविधाने परिणामविशेषात् पृथिव्यादिजन्तुजातघातनमपि यथा पुण्याय कल्प्यते इति कल्पना, तथा अस्माकमपि किं नेष्यते। वेदोक्तविधिविधानरूपस्य परिणामविशेषस्य निर्विकल्पं तत्रापि भावात्। नैवम्। परिणामविशेषोऽपि स एव शुभफलो, यत्रानन्योपायत्वेन यतनयाप्रकृष्टप्रतनुचैतन्यानां पृथिव्यादिजीवानां वधेऽपि स्वल्पपुण्यव्ययेनापरिमितसुकृतसंप्राप्तिः, न पुनरितरः। भवत्पक्षे तु सत्स्वपि तत्तच्छ्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासप्रतिपादितेषु स्वर्गावाप्त्युपायेषु तांस्तान् देवानुद्दिश्य प्रतिप्रतीकं कर्तनकदर्थनया कान्दिशीकान् कृपणपञ्चेन्द्रियान् शौनिकाधिकं मारयतां कृत्स्नसुकृतव्ययेन दुर्गतिमेवानुकूलयतां दुर्लभः शुभपरिणामविशेषः। एवं च यं कञ्चन पदार्थं किञ्चित्साधर्म्यद्वारेणैव दृष्टान्तीकुर्वतां भवतामतिप्रसङ्गः सङ्गच्छते॥

शंका—जिस प्रकार पृथिवी आदि जीवोंका घात होनेपर भी जैन मंदिरोंका निर्माण परिणामोंकी शुद्धिका कारण होकर पुण्य रूप ही माना जाता है, उसी तरह विधिसे की हुई वेदोक्त हिंसामें परिणामोंकी विशुद्धता होनेसे पुण्य ही होता है। **समाधान**—यह ठीक नहीं है। क्योंकि मंदिरोंके निर्माण करनेमें अत्यंत अल्प ज्ञानके धारक पृथिवी आदि जीवोंका वध अनिवार्य है, तथा पृथिवी आदिके वध करनेपर अल्प पुण्यके नाश होनेपर अपरिमित पुण्यकी प्राप्ति होती है। परन्तु आप लोगोंके मतमें श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहासमें यम, नियमादिसे स्वर्गकी प्राप्तिका प्रतिपादन किया गया है, इस लिये देवी-देवताओंके उद्देश्यसे अपने शरीरके काटे जानेके भयसे विह्वल, निस्सहाय पंचेन्द्रिय जीवोंको कसाईसे भी अधिक क्रूरतासे मारनेवाले पुरुषोंके दुर्गतिको ले जानेवाले

परिणामोंको शुभ परिणाम नहीं कहा जा सकता। अतएव थोड़ा बहुत सादृश्य देख कर किसीको दृष्टांत बनाना ठीक नहीं है।

न च जिनायतनविधापनादौ पृथिव्यादिजीववधेऽपि न गुणः। तथाहि तद्दर्शनाद् गुणानुरागितया भव्यानां[1] बोधिलाभः[2], पूजातिशयविलोकनादिना च मनःप्रसादः, ततः समाधिः[3], ततश्च क्रमेण निःश्रेयसप्राप्तिरिति। तथा च भगवान् पञ्चलिङ्गीकारः–

" पुढवाइयाण[4] जइवि हु होइ विणासो जिणालयाहिन्तो।
तव्विसया वि सुदिट्ठिस्स णियमओ अत्थि अणुकंपा ॥ १ ॥
एयाहिंतो बुद्धा विरया रक्खन्ति जेण पुढवाई।
इत्तो निव्वाणगया अबाहिया आभवमिमाणं ॥ २ ॥
रोगिसिरावेहो इव सुविज्जकिरिया व सुप्पउत्ताओ।
परिणामसुंदरच्चिय चिट्ठा से बाहजोगे वि ॥ ३ ॥ "

तथा पृथिवी आदि जीवोंके वध होनेपर भी जिन मंदिरके निर्माणमें पुण्य होता है। क्योंकि मंदिरमें जिन प्रतिमाके दर्शनसे भव्य पुरुषोंको सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है, भगवानके पूजातिशयके देखनेसे मन प्रफुल्लित होता है, मनकी प्रफुल्लतासे समता भाव जागृत होता है, और समता भावसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। पंचलिंगीकार जिनेश्वरसूरिने कहा भी है– " यद्यपि जिन मंदिरके निर्माणमें पृथ्वी खोदने, ईंट तैयार करने तथा जल सिंचन आदिके कारण पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवोंका विघात होता है, तो भी सम्यग्दृष्टी जीवके पृथिवी आदि जीवोंके प्रति दयाका भाव रहता ही है। क्योंकि जिन प्रतिमा आदिके दर्शनसे तत्वज्ञानको प्राप्त करनेवाले जीव पृथिवी आदि जीवोंकी रक्षा करते हैं, और मोक्ष जाते हैं। जिस प्रकार किसी रोगीको अच्छा करनेके लिये रोगीकी नसका छेदना, उसे लंघन कराना, कटुक औषधि देना आदि प्रयोग शुभ परिणामोंसे ही किये जाते हैं, उसी प्रकार पृथिवी आदिका वध करके भी जिन मंदिरके निर्माण करनेमें पुण्य ही होता है। "

इति। वैदिकवधविधाने तु न कश्चित्पुण्यार्जनानुगुणं गुणं पश्यामः। अथ विप्रेभ्यः पुरोडाशादिप्रदानेन[5] पुण्यानुबन्धी गुणोऽस्त्येव इति चेत्। न। पवित्रसुवर्णादिप्रदानमा-

---

[1] सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः [2] बोधनं बोधिः सम्यक्त्वं प्रेत्यजिनधर्मावाप्तिर्वा।
[3] सम्यग्दर्शनादिका मोक्षपद्धतिः।

[4] छाया–पृथिव्यादीनां यद्यपि भवत्येव विनाशो जिनालयादिभ्यः। तद्विषयापि सुदृष्टेर्नियमतोऽस्त्यनुकम्पा ॥
एताभ्यो बुद्धा विरता रक्षन्ति येन पृथिव्यादीन्। अतो निर्वाणगता अबाधिता आभवमेषाम् ॥
रोगिशिरावेध इव सुवैद्यक्रिया इव सुप्रयुक्ता तु। परिणामसुन्दर इव चेष्टा सा बाधायोगेऽपि ॥
जिनेश्वरसुरिकृतपञ्चलिङ्गीग्रन्थे ५८–५९–६०।

[5] पुरो दास्यते इति पुरोडाशो हुतद्रव्यावशिष्टम्। यवचूर्णनिर्मितरोटिकाविशेषः।

त्रेणैव पुण्योपार्जनसम्भवात्। कृपणपशुगणव्यपरोपणसमुत्थं मांसदानं केवलं निर्घृणत्वमेव व्यनक्ति। अथ न प्रदानमात्रं पशुवधक्रियायाः फलं, किन्तु भूत्यादिकम्। यदाह श्रुतिः–“श्वेतं[1] वायव्यमजमालभेत भूतिकामः” इत्यादि। एतदपि व्यभिचारपिशाचग्रस्तत्वादप्रमाणमेव। भूतेश्चौपयिकान्तरैरपि साध्यत्वात्। अथ तत्र सत्रे हन्यमानानां छागादीनां प्रेत्यसद्गतिप्राप्तिरूपोऽस्त्येवोपकार इति चेत्। वाङ्मात्रमेतत्। प्रमाणाभावात्। न हि ते निहताः पशवः सद्गतिलाभमुदितमनसः कस्मैचिदागत्य तथाभूतमात्मानं कथयन्ति। अथास्त्यागमाख्यं प्रमाणम्। यथा––

“औषध्यः[2] पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुनः”॥

इत्यादि। नैवम्। तस्य पौरुषेयापौरुषेयाविकल्पाभ्यां निराकरिष्यमाणत्वात्॥

परन्तु वेदोक्त हिंसामें हम कोई पुण्योपार्जनका कारण नहीं देखते। यदि कहो, कि वेदोक्त वधके अवसरपर ब्राह्मणोंको पुरोडाश (होमके बाद बचा हुआ द्रव्य) देनेसे पुण्य होता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि सुवर्ण आदिके दान देनेसे ही पुण्य हो सकता है, मूक पशुओंके मांसका दान करना केवल निर्दयतका ही द्योतक है। यदि कहो, कि वेदोक्त रीतिसे पशुवध करनेका फल केवल ब्राह्मणोंको पशुओंके मांसका दान करना नहीं, किन्तु उससे विभूतिकी प्राप्ति होती है। श्रुतिमें भी कहा है, “ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको वायु देवताके लिये सफेद बकरेका यज्ञ करना चाहिये,” आदि। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐश्वर्यकी प्राप्ति अन्य उपायोंसे भी हो सकती है। यदि कहो, कि यज्ञमें मारे जानेवाले बकरे आदि परलोकमें स्वर्ग प्राप्त करते है, इस लिये प्राणियोंका उपकार होता है। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि बकरे आदि यज्ञमें वध किये जानेके बाद स्वर्गको प्राप्त करते हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं हैं। क्योंकि मरनेके बाद स्वर्गमें गये हुए पशु स्वर्गसे आकर वहांके समाचारोंको नहीं सुनाते। यदि आप लोग कहें, कि आगममें लिखा है, “औषधि, पशु, वृक्ष, तिर्यंच और पक्षी यज्ञमें मृत्युको प्राप्त होकर उच्च गतिको प्राप्त करते हैं,” अतएव आगमसे इसकी प्रमाणता सिद्ध होती है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि हम पौरुषेय और अपौरुषेय आगमका आगे खंडन करेंगे। (देखो इसी कारिकाकी व्याख्या)।

न च श्रौतेन विधिना पशुविशसनविधायिनां स्वर्गावाप्तिरुपकार इति वाच्यम्। यदि हि हिंसयाऽपि स्वर्गप्राप्तिः स्यात्, तर्हि बाढं पिहिता नरकपुरप्रतोल्यः। शौनिकादीनामपि स्वर्गप्राप्तिप्रसङ्गात्। तथा च पठन्ति परमर्षाः[3]—

“यूपं छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते”॥

---

१ शतपथब्राह्मणे। २ मनुस्मृतौ ५-४०। ३ सांख्याः।

वेदोक्त विधिसे पशुओंको मारनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, यह कथन सत्य नहीं है, क्योंकि यदि हिंसासे स्वर्गकी प्राप्ति होने लगे, तो संसारके सभी कसाइयोंको स्वर्ग मिलना चाहिये, तथा इस दशामें स्वर्गका मार्ग ही बन्द हो जायगा। सांख्य लोगोंने कहा भी है, "यदि यूप (यज्ञमें पशुओंको बांधनेकी लकड़ी) को नष्ट करके, पशुओंका वध करके, और रक्तसे पृथ्वीका सिंचन करके स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है, तो फिर नरक जानेके लिये कौनसे मार्ग हैं?"

किञ्च, अपरिचितास्पष्टचैतन्यानुपकारिपशुहिंसनेनापि यदि त्रिदिवपदवीप्राप्तिः, तदा परिचितस्पष्टचैतन्यपरमोपकारिमातापित्रादिव्यापादनेन यज्ञकारिणामधिकतरपदप्राप्तिः प्रसज्यते। अथ "अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः" इति वचनाद् वैदिकमन्त्राणामचिन्त्यप्रभावत्वात् तत्संस्कृतपशुवधे संभवत्येव स्वर्गप्राप्तिः, इति चेत्। न। इह लोके विवाहगर्भाधानजातकर्मादिषु तन्मन्त्राणां व्यभिचारोपलम्भाद् अदृष्टे स्वर्गादावपि तद्व्यभिचारोऽनुमीयते। दृश्यन्ते हि वेदोक्तमन्त्रसंस्कारविशिष्टेभ्योऽपि विवाहादिभ्योऽनन्तरं वैधव्याल्पायुष्कतादारिद्र्याद्युपद्रवविधुराः परःशताः। अपरे च मन्त्रसंस्कारं विना कृतेभ्योऽपि तेभ्योऽनन्तरं तद्विपरीताः। अथ तत्र क्रियावैगुण्यं विसंवादहेतुः, इति चेत्। न। संशयानिवृत्तेः। किं तत्र क्रियावैगुण्यात् फले विसंवादः, किं वा मन्त्राणामसामर्थ्याद्, इति न निश्चयः। तेषां फलेनाविनाभावासिद्धेः॥

तथा, यदि किसी प्रकारका उपकार न करनेवाले छोटे छोटे मूक प्राणियोंके वधसे भी स्वर्गकी प्राप्ति होना संभव है, तो महान उपकार करनेवाले अपने माता पिताके वध करनेसे याज्ञिक लोंगोको स्वर्गसे भी अधिक फल मिलना चाहिये। यदि आपलोग कहें, कि "मणि, मंत्र और औषधका प्रभाव अचिंत्य है," इस लिये वैदिक मंत्रोंका भी अचिंत्य प्रभाव है, अतएव मंत्रोंसे संस्कृत पशुओंका वध करनेसे पशुओंको स्वर्ग मिलता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि वैदिक विधिके अनुसार विवाह कर्म आदिके किये जानेपर भी बहुतसी स्त्रियां विधवा हो जाती हैं, तथा बहुतसे मनुष्य अल्पायु, दरिद्रता आदि उपद्रवोंसे पीडित रहते हैं। तथा विवाह आदिके वैदिक विधिसे सम्पादित न होनेपर भी स्त्री और पुरुष आनन्दसे जीवन यापन करते हैं, इस लिये वैदिक मंत्रोंसे संस्कृत वध किये जानेवाले पशुओंको स्वर्गकी प्राप्ति स्वीकार करना ठीक नहीं है। यदि आप लोग कहें, कि मंत्रोंका पूरा असर होता है, लेकिन यदि मंत्रोंकी ठीक ठीक विधि नहीं की जाय, तो मंत्रोंका असर नहीं रहता, यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि मंत्रोंकी विधिमें हेरफार होनेसे मंत्रोंका प्रभाव नष्ट हो जाता है, अथवा स्वयं मंत्रोंमें ही प्रभाव दिखानेकी असमर्थता है, यह कैसे निश्चय हो?

अथ यथा युष्मन्मते “ आरोग्गबोहिलाभं[1] समाहिवरमुत्तमं दिंतु ” इत्यादीनां वाक्यानां लोकान्तर एव फलमिष्यते, एवमस्मदभिमतवेदवाक्यानामपि नेह जन्मनि फलमिति किं न प्रतिपद्यते । अतश्च विवाहादौ नोपलम्भावकाशः, इति चेत् । अहो वचनवैचित्री । यथा वर्तमानजन्मनि विवाहादिषु प्रयुक्तैर्मन्त्रसंस्कारैरागामिनि जन्मनि तत्फलम्, एवं द्वितीयादिजन्मान्तरेष्वपि विवाहादीनामेव प्रवृत्तिधर्माणां पुण्यहेतुत्वाङ्गीकारेऽनन्तभवानुसन्धानं प्रसज्यते । एवं च न कदाचन संसारस्य परिसमाप्तिः । तथा च न कस्यचिदपवर्गप्राप्तिः । इति प्राप्तं भवदभिमतवेदस्यापर्यवसितसंसारवल्लरीमूलकन्दत्वम् । आरोग्यादिप्रार्थना तु असत्यामृषा[2]भाषापरिणामविशुद्धिकारणत्वाद् न दोषाय । तत्र हि भावारोग्यादिकमेव विवक्षितम्, तच्च चातुर्गतिकसंसारलक्षणभावरोगपरिक्षयस्वरूपत्वाद् उत्तमफलम् । तद्विषया च प्रार्थना कथमिव विवेकिनामनादरणीया । न च तज्जन्यपरिणामविशुद्धेस्तत्फलं न प्राप्यते । सर्ववादिनां भावशुद्धैरपवर्गफलसम्पादनेऽविप्रतिपत्तेरिति ॥

शंका—जिस प्रकार जैनमतमें “ आरोग्य, सम्यक्त्व तथा समाधिको प्रदान करो ” इत्यादि स्तुतियोंसे दूसरे लोकमें फल मिलना कहा जाता है, उसी तरह हमारे माने हुए वेद वाक्योंका और विवाह आदि मंत्रोंका भी पर लोकमें ही फल मिलता है । **समाधान**—यदि आप लोग इस जन्ममें विवाह आदिमें प्रयुक्त मंत्रोंका फल आगामी भवमें स्वीकार करते हैं, तो दूसरे तीसरे आदि अनेक भवोंमें मंत्रके संस्कारोंका फल मान लेनेसे अनंत भवोंकी उत्पत्ति माननी चाहिये, और इस तरह कभी संसारका अंत न होनेसे किसीको भी मोक्ष न मिलना चाहिये । तथा हम लोग जो आरोग्य आदिकी स्तुति करते हैं, वह असत्यअमृषा (व्यवहार) भाषा द्वारा परिणामोंकी विशुद्धि करनेके लिये है, दोषके लिये नहीं । असत्यअमृषा भाषा आमंत्रणी, आज्ञापनी, याचनी, प्रच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, इच्छानुकूलिका, अनभिगृहीता, अभिगृहीता, संदेहकारिणी, व्याकृता, अव्याकृताके भेदसे बारह प्रकारकी बताई गई है । (१) 'हे देव, यहां आओ, इस प्रकारके वचनोंको आमंत्रणी भाषा कहते हैं । (२) 'तुम यह करो' इस प्रकारके आज्ञा सूचक बचन कहना, आज्ञापनी भाषा है । (३) 'यह दो' इस प्रकार याचनाके सूचक बचन बोलना, याचनी भाषा है । (४) अज्ञात अर्थको पूछना, प्रच्छनी भाषा है । (५) 'जीव हिंसासे निवृत्त होकर चिरायुका उपभोग करते हैं' इस प्रकार शिष्योंके उपदेश सूचक बचनोंका कहना, प्रज्ञापनी भाषा है । (६) मांगनेवालेको निषेध करनेवाले वचनोंका बोलना, प्रत्याख्यानी भाषा है । (७) किसी कार्यमें अपनी अनुमति देनेको इच्छानुकूलिका

---

[1] छाया-आरोग्यं बोधिलाभं सामाधिवरमुत्तमं ददतु । आवश्यके २४-६।

[2]-आमंत्रणी, आज्ञापनी, याचनी, प्रच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, इच्छानुकूलिका, अनभिग्रहीता, अभिग्रहीता, संदेहकारिणी, व्याकृता, अव्याकृता इति द्वादशविधा असत्यामृषाभाषा लोकप्रकाशे तृतीयसर्गे योगाधिकारे ।

भाषा कहते हैं। (८) 'बहुतसे कार्योंमें जो तुम्हे अच्छा लगे वह करो' इस प्रकारके वचनोंको अनभिगृहीता भाषा बोलते हैं। (९) बहुतसे कार्योंमें अमुक कार्य करना चाहिये, और अमुक नहीं, इस प्रकार निश्चित वचनोंके बोलनेको अभिगृहीता भाषा कहते हैं। (१०) संशयको उत्पन्न करनेवाली भाषाको संदेहकारिणी भाषा कहते हैं। जैसे 'सैंधव' कहनेपर सिंधा नमक और घोड़ा दोनों पदार्थोंमें संशय उत्पन्न होता है। (११) जिससे स्पष्ट अर्थका ज्ञान हो, वह व्याकृता भाषा है। (१२) गंभीर अथवा अस्पष्ट अर्थको बतानेवाले वचनोंको अव्याकृता भाषा कहते हैं। नोट—गोम्मटसार आदि दिगम्बर ग्रंथोंमें असत्यअमृषा भाषाके नौ भेद बताये गये हैं—देखो, गोम्मटसार जीवकांड, २२४—२२५। आरोग्य आदिकी प्रार्थना करनेसे हमारा अभिप्राय केवल संसारके भाव रोगोंको दूर करनेका है। इस भाव आरोग्यकी प्रार्थनासे परिमाणोंकी विशुद्धि होती है। क्योंकि सभी वादी भावोंकी शुद्धिसे ही मोक्ष मानते हैं।

न च वेदनिवेदिता हिंसा न कुत्सिता। सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्नैरर्चिर्मार्गप्रपन्नैर्वेदान्तवादिभिश्च गर्हितत्वात्। तथा च तत्त्वदर्शिनः पठन्ति—

"देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम्" ॥

वेदान्तिका अप्याहुः—

"अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे।
हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति" ॥

तथा "अग्निर्मामेतस्माद्धिंसाकृतादेनसो मुञ्चतु" छान्दसत्वाद् मोचयतु इत्यर्थः। इति। व्यासेनाप्युक्तम्—

"ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाम्भसि।
स्नात्वाऽतिविमले तीर्थे पापपङ्कापहारिणि ॥ १ ॥
ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे दममारुतदीपिते।
असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तमम् ॥ २ ॥
कषायपशुभिर्दुष्टैर्धर्मकामार्थनाशकैः।
शममन्त्रहुतैर्यज्ञं विधेहि, विहितं बुधैः ॥ ३ ॥
प्राणिघातात् तु यो धर्ममीहते मूढमानसः।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥ ४ ॥

इत्यादि[1] ॥

---

[1] अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव। छान्दोग्य. उ. ८-५-१; मुण्डक. उ. १-२-६ बृहदारण्यक उ. ३-१; भ. गीता ४-२३; महाभारते शांतिपर्वणि।

तथा, वेदोक्त हिंसा निंदनीय है। क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त ज्ञान-मार्गके अनुयायी वेदान्तियोंने भी इस हिंसाकी निंदा की है। तत्वदर्शी लोगोंने कहा है "जो निर्दय पुरुष देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये अथवा यज्ञके बहाने पशुओंका वध करते हैं, वे लोग दुर्गतिमें पड़ते हैं।" वेदान्तियोंने भी कहा है, "यदि हम पशुओंसे यज्ञ करें, तो घोर अंधकारमें पडें। अतएव हिंसा न कभी धर्म हुआ, न है, और न होगा।" तथा, "अग्नि देवता इस हिंसा-जन्य पापसे मुझे मुक्त करो।" व्यास ने कहा है "ज्ञान-चादरसे ढ़के हुए, ब्रह्मचर्य और दया-जलसे पूर्ण, पाप-कीचडको नष्ट करनेवाले, अत्यंत निर्मल तीर्थमें स्नान करके, जीव-कुण्डमें दम-पवनसे उद्दीपित ध्यान-अग्निमें अशुभ कर्म रूपी काष्ठकी आहुति देकर उत्तम अग्निहोत्र यज्ञको करो; धर्म, काम और अर्थको नष्ट करनेवाले शम-मंत्रोंसे दुष्ट कषाय-पशुओंका यज्ञ करो; जो मूढ़ पुरुष प्राणियोंका वध करके धर्मकी कामना करते हैं, वे लोग काले सर्पकी खोहसे अमृतकी वर्षा चाहते हैं।" इत्यादि।

यच्च याज्ञिकानां लोकपूज्यत्वोपलम्भादित्युक्तम्। तदप्यसारम्। अबुधा एव पूजयन्ति तान् न तु विविक्तबुद्धयः। अबुधपूज्यता तु न प्रमाणम्। तस्याः सारमेयादिष्वप्युपलम्भात्। यदप्यभिहितं देवतातिथिपितृप्रीतिसंपादकत्वाद् वेदविहिता हिंसा न दोषायेति। तदपि वितथम्। यतो देवानां संकल्पमात्रोपनताभिमताहारपुद्गलरसास्वादसुहितानां वैक्रियशरीरत्वाद् युष्मदावर्जितजुगुप्सितपशुमांसाद्याहुतिप्रगृहीतौ, इच्छैव दुःसंभवा। औदारिकशरीरिणामेव तदुपादानयोग्यत्वात्। प्रक्षेपाहारस्वीकारे च देवानां मन्त्रमयदेहत्वाभ्युपगमबाधः। न च तेषां मन्त्रमयदेहत्वं भवत्पक्षे न सिद्धम्। "चतुर्थ्यन्तं पदमेव देवता" इति जैमिनिवचनप्रामाण्यात्। तथा च मृगेन्द्रः—

"शब्देतरत्वे युगपद् भिन्नदेशेषु यष्टृषु।
न सा प्रयाति सांनिध्यं मूर्तत्वादस्मदादिवत्" ॥

तथा, आपने जो याज्ञिक पुरुषोंको लोकमें पूज्य बताया, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मूर्ख लोग ही याज्ञिकोंकी पूजा करते हैं, पण्डित लोग नहीं। तथा, मूर्ख लोगोंके द्वारा याज्ञिकोंका पूजा जाना प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कुत्ते आदि भी लोकमें पूजे जाते हैं। तथा, आप लोगोंने जो कहा, कि वेदोक्त हिंसा, देवता, अतिथि और पितरोंको प्रसन्न करती है, अतएव वह हिंसा निर्दोष है, यह कथन भी निस्सार है। क्योंकि देव लोग वैक्रियक शरीरके धारक होते हैं, अतएव वे अपने संकल्प मात्रसे किसी भी पदार्थको उत्पन्न

---

१ अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणुमहच्छरीरविविधकरणं विक्रिया सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियकं।

२ उदारं स्थूलं, उदारं प्रयोजनं अस्येति औदारिकं।

कर सकते हैं। इस लिये देव लोग ग्लानिसे युक्त आप लोगोंके दिये हुए पशुके मांस खानेकी इच्छा नहीं कर सकते। तथा, औदारिक (स्थूल) शरीरवाले प्राणी ही इस आहुतिको ग्रहण कर सकते हैं। यदि आप लोग देवोंको यज्ञकी अग्निमें आहुति दिये हुए आहारका भक्षक स्वीकार करेंगे, तो देवोंको मंत्रमय शरीरके धारक नहीं कह सकते। परन्तु आप लोगोंने देवोंको मंत्रमय शरीरके धारक स्वीकार किया है। जैमिनी ऋषिने कहा भी है "देवताओंके लिये चतुर्थीका ही प्रयोग करना चाहिये।" (पूर्व मीमांसकोंने ईश्वरका अस्तित्व नहीं माना है। उन लोगोंके मतमें आहुति दिये जानेवाले देवताओंको छोड़ कर दूसरे देवोंका अस्तित्व नहीं है)। मृगेन्द्रने भी कहा है "यदि देवता लोग मंत्रमय शरीरके धारण करनेवाले न होकर हम लोगोंकी तरह मूर्त शरीरके धारक हों, तो जैसे हम लोग एक साथ बहुत स्थानोंमें नहीं जा सकते, उसी प्रकार देवता लोग भी एक साथ सब यज्ञोंमें उपस्थित नहीं हो सकते।"

सेति देवता। हूयमानस्य च वस्तुनो भस्मीभावमात्रोपलम्भात्, तदुपभोगजनिता देवानां प्रीतिः प्रलापमात्रम्। अपि च, योऽयं त्रेताग्निः[1] स त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवतानां मुखम्। "आग्निर्मुखा वै देवाः"[2] इति श्रुतेः। ततश्चोत्तममध्यमाधमदेवानामेकेनैव मुखेन भुञ्जानानामन्योन्येच्छिष्टभुक्तिप्रसङ्गः। तथा च ते तुरुष्केभ्योऽप्यतिरिच्यन्ते। तेऽपि तावदेकत्रैवामत्रे भुञ्जते, न पुनरेकेनैव वदनेन। किञ्च, एकस्मिन् वपुषि वदनबाहुल्यं क्वचन श्रुयते, यत्पुनरनेकशरीरेष्वेकं मुखमिति महदाश्चर्यम्। सर्वेषां च देवानामेकस्मिन्नेव मुखेऽङ्गीकृते, यदा केनचिदेको देवः पूजादिनाऽऽराद्धोऽन्यश्च निन्दादिना विराद्धः, ततश्चैकेनैव मुखेन युगपदनुग्रहनिग्रहवाक्योच्चारणसङ्करः प्रसज्येत। अन्यच्च, मुखं देहस्य नवमो भागः, तदपि येषां दाहात्मकं, तेषामेकैकशः सकलदेहस्य दाहात्मकत्वं त्रिभुवनभस्मीकरणपर्यवसितमेव संभाव्यत इत्यलमतिचर्चया॥

यदि आप लोग कहें, कि होम किये हुए पदार्थ भस्म हो जाते हैं, अतएव होम किये हुए पदार्थके उपभोगसे देव लोग प्रसन्न होते हैं, यह कहना भी व्यर्थ है। तथा, आप लोगोंने त्रेता अग्नि (दक्षिण अग्नि, आहवनीय अग्नि और गार्हपत्य अग्नि) को तैंतीस करोड देवता लोगोंका मुख स्वीकार किया है। श्रुतिमें भी कहा है "देवोंका अग्नि ही मुख है।" परन्तु इस तरह उत्तम, मध्यम और जघन्य श्रेणीके अनेक देवता लोग एक ही मुखसे होम किये हुए पदार्थोंका भक्षण करेंगे, अतएव उच्छिष्ट पदार्थोंके खानेमें देवता लोग मुसलमानोंसे भी बढ़ जावेंगे। क्योंकि मुसलमान लोग तो एक ही पात्रमें भोजन करते हैं, परन्तु देवता लोग एक ही मुखसे भोजन किया करेंगे। तथा एक शरीरमें अनेक मुख कहीं कहीं सुननेमें आते हैं, परन्तु अनेक शरीरोंमें एक

---

१ दक्षिणाग्निः, आहवनीयः, गार्हपत्य इति त्रयोऽग्नयः। 'अग्नित्रयमिदं त्रेता' इत्यमरः।

२ आश्व. गृ. सू. अ. ४

मुखका होना कहीं नहीं सुना जाता। तथा, सब देवताओंके एक मुख माननेपर यदि कोई एक देवकी स्तुति और दूसरे देवकी निंदा करे, तो एक ही मुखसे देवता लोगोंको एक साथ अनुग्रह और निग्रह रूप वाक्योंको बोलना चाहिये। तथा देहके नौंवे हिस्सेको मुख कहा गया है, यदि यह नवमां हिस्सा भी अग्नि रूप हो, तो तैंतीस करोड़ देवता लोग संसारको भस्म ही कर डालेंगे।

यश्च कारीरीयज्ञादौ वृष्ट्यादिफलेऽव्यभिचारस्तत्प्रीणितदेवतानुग्रहहेतुक उक्तः सोऽप्यनैकान्तिकः। क्वचिद् व्यभिचारस्यापि दर्शनात्। यत्रापि न व्यभिचारस्तत्रापि न त्वदाहिताहुतिभोजनजन्मा तदनुग्रहः। किन्तु स देवताविशेषोऽतिशयज्ञानी स्वोद्देशनिर्वर्तितं पूजोपचारं यदा स्वस्थानावस्थितः सन् जानीते, तदा तत्कर्तारं प्रति प्रसन्नचेतोवृत्तिस्तत्तत्कार्याणीच्छावशात् साधयति। अनुपयोगादिना पुनरजानानोऽपि वा पूजाकर्तुरभाग्यसहकृतः सन् न साधयति। द्रव्यक्षेत्रकालभावादिसहकारिसाचिव्यापेक्षस्यैव कार्योत्पादस्योपलम्भात्। स च पूजोपचारः पशुविशसनव्यतिरिक्तैः प्रकारान्तरैरपि सुकरः, तत्किमनया पापैकफलया शौनिकवृत्त्या॥

आप लोग जो कहते हैं, कि कारीरी यज्ञ करनेसे देवता लोग प्रसन्न होकर वृष्टि करते हैं, यह भी अनैकांतिक है। क्योंकि बहुतसी जगह यज्ञके करनेपर भी वृष्टि नहीं होती। तथा जहां यज्ञके करनेपर वृष्टि होती है, वहां उस वृष्टिमें देवताओंकी आहुतिसे उत्पन्न अनुग्रहको कारण नहीं मान सकते। क्योंकि देवता लोग अपने स्थानमें बैठे रह कर ही अपने पूजा सत्कार आदिको अवधिज्ञानसे जान कर पूजा सत्कार करनेवाले पुरुषसे प्रसन्न हो कर उसकी इच्छानुसार फल देते हैं। यदि देवता लोगोंका पूजा आदिकी ओर उपयोग न हो, अथवा उपयोग होनेपर भी पूजकोंका भाग्य प्रबल न हो, तों पूजा करनेवाले पुरुषकी अभीष्ट सिद्धि नहीं होती। कारण कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, आदि सहकारी कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति होती है। तथा पशुओंका वध करनेकी अपेक्षा देवताओंको प्रसन्न करनेके अन्य बहुतसे उपाय हैं, फिर आप लोग इस हिंसक और निंद्य वृत्तिका ही क्यों प्रयोग करते हैं।

यच्च छगलजाङ्गलहोमात् परराष्ट्रवशीकृतिसिद्ध्या देव्याः परितोषानुमानम्, तत्र कः किमाह। कासाञ्चित् क्षुद्रदेवतानां तथैव प्रत्यङ्गीकारात्। केवलं तत्रापि तद्वस्तुदर्शनज्ञानादिनैव परितोषो, न पुनस्तद्भुक्त्या। निम्बपत्रकटुकतैलारनालधूमांशादीनां हूयमानद्रव्याणामपि तद्भोज्यत्वप्रसङ्गात्। परमार्थतस्तु तत्तत्सहकारिसमवधानसचिवाराधकानां भक्तिरेव तत्तत्फलं जनयति। अचेतने चिन्तामण्यादौ तथा दर्शनात्। अतिथीनां तु प्रीतिः संस्कारसंपन्नपक्वान्नादिनापि साध्या। तदर्थं महोक्षमहाजादिप्रकल्पनं निर्विवेकतामेव ख्यापयति॥

देवीको बकरे और हरिणके होम करनेसे दूसरे देश वशमें हो जाते हैं, यह कथन भी असत्य है। क्योंकि पहले तो उत्तम देव-देवी इस घृणित और हिंसात्मक कार्यसे प्रसन्न नहीं हो सकते। यदि कोई क्षुद्र देवता प्रसन्न भी हो, तो वह मांसादिके देखने अथवा जानने मात्रसे ही संतुष्ट हो जाता है, उसे मांसादिके उपभोग करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। तथा, यदि अग्निमें आहूति दिये हुए मांसादि देवता लोगोंके मुखमें पहुंच सकते हैं, तो होम किये हुए नीमके पत्ते, कड़वा तेल, चावल (कांजिया—अमरकोश), सालवृक्ष (साग), आदिको आप लोगोंने क्यों निषिद्ध माना है। इस लिये यह मानना चाहिये, कि वास्तवमें सहकारी कारणोंसे युक्त आराधककी भक्तिही वृष्टि, विजय आदि फलमें कारण होती है। जैसे चिन्तामणि रत्नके अचेतन होनेपर भी वह मनुष्यके पुण्योदयके कारण ही फल देनेवाला होता है । तथा, जब हम सुन्दर, सुस्वादु, अन्न वनस्पति आदि भोजनसे अतिथि लोगोंका सत्कार कर सकते हैं, तो फिर उन्हें बैल, बकरे आदिका मांस खिलाना निरी मूर्खता नहीं तो और क्या है।

पितृणां पुनः प्रीतिरनैकान्तिकी। श्राद्धादिविधानेनापि भूयसां सन्तानवृद्धेरनुपलब्धेः। तदविधानेऽपि च केषाञ्चिद् गर्दभशूकराजादीनामिव सुतरां तद्दर्शनात्। ततश्च श्राद्धादिविधानं मुग्धजनविप्रतारणमात्रफलमेव। ये हि लोकान्तरं प्राप्तास्ते तावत् स्वकृतसुकृतदुष्कृतकर्मानुसारेण सुरनारकादिगतिषु सुखमसुखं वा भुञ्जाना एवासते ते कथमिव तनयादिभिरावर्जितं पिण्डमुपभोक्तुं स्पृहयालवोऽपि स्युः। तथा च युष्मद्यूथिनः पठन्ति—

“ मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम्।
तन्निर्वाणप्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम् ”॥

इति। कथं च श्राद्धविधानाद्यर्जितं पुण्यं तेषां समीपमुपैतु। तस्य तदन्यकृतत्वात् जडत्वाद् निश्चरणत्वाच्च॥

श्राद्ध करनेसे पितर लोग प्रसन्न होते हैं, यह कथन भी दोषपूर्ण है। क्योंकि श्राद्ध आदिके करनेपर भी बहुतसे लोगोंके संतान नहीं होती, और श्राद्ध न करनेपर भी गधे, सूअर आदिके बहुतसी सन्तान हो जाती हैं। अतएव श्राद्ध आदिका विधान केवल मूर्ख लोगोंके ठगनेके लिये ही किया गया है। जो पितृजन परलोक चले जाते हैं, वे लोग इस भवमें किये हुए अपने शुभ और अशुभ कर्मोंके अनुसार देव, नरक आदि गतियोंमें सुख, दुखका उपभोग करते हैं, इस लिये वे लोग अपने पुत्र आदिद्वारा दिये हुए पिण्डका उपभोग करनेकी इच्छा भी नहीं कर सकते। आप लोगोंके मतानुयायियोंने कहा भी है “ यदि श्राद्ध मरे हुए प्राणियोंको तृप्तिका कारण हो सकता है, तो दीपकके बुझ जानेपर भी तेलको दीपककी ज्योतिके बढ़ानेमें कारण मानना चाहिये। ” तथा इस लोकमें श्राद्ध

आदिसे उत्पन्न पुण्य परलोक सिधारे हुए पितरोंके पास कैसे पहुंच सकता है, क्योंकि यह पुण्य पितरोंसे भिन्न पुत्र आदिसे किया हुआ रहता है, तथा यह पुण्य जड़ और गति रहित है।

अथ तेषामुद्देशेन श्राद्धादिविधानेऽपि पुण्यं दातुरेव तनयादेः स्यादिति चेत्। तन्न। तेन तज्जन्यपुण्यस्य स्वाध्यवसायादुत्तारितत्वात्। एवं च तत्पुण्यं नैकतरस्यापि इति विचाल एव विलीनं त्रिशङ्कुज्ञातेन। किन्तु पापानुबन्धिपुण्यत्वात् तत्त्वतः पापमेव। अथ विप्रोपभुक्तं तेभ्य उपतिष्ठत इति चेत्, क इवैतत्प्रत्येतु। विप्राणामेव मेदुरोदरतादर्शनात्। तद्वपुषि च तेषां संक्रमः श्रद्धातुमपि न शक्यते। भोजनावसरे तत्सङ्क्रमालिङ्गस्य कस्याप्यनवलोकनात् विप्राणामेव च तृप्तेः साक्षात्करणात्। यदि परं त एव स्थूलकवलैराकुलतरमतिगार्द्ध्याद् भक्षयन्तः प्रेतप्रायाः, इति मुधैव श्राद्धादिविधानम्। यदपि च गयाश्राद्धादियाचनमुपलभ्यते, तदपि तादृशविप्रलम्भकविभङ्गज्ञानि-व्यन्तरादिकृतमेव निश्चेयम्॥

यदि कहो, कि पितरोंके उद्देश्यसे श्राद्धके करनेपर दान देनेवाले पुत्र आदिको ही पुण्य होता है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि श्राद्ध आदिसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यसे पुत्रका कोई भी संबंध नहीं। अतएव श्राद्धजन्य पुण्य न तो पितरोंका पुण्य कहा जा सकता है, और न पुत्रोंका। जिस प्रकार वसिष्ठ ऋषिके शापसे त्रिशंकु राजा चांडाल हो कर, जिस समय विश्वामित्रकी सहायतासे किये हुए यज्ञके माहात्म्यसे पृथ्वीको छोड कर स्वर्ग जाने लगा, और इन्द्रने कुपित हो कर त्रिशंकु राजाको स्वर्गमें नहीं आने दिया, उस समय वह पृथिवी और स्वर्गके वीचमें लटका रह गया, उसी प्रकार श्राद्धसे उत्पन्न पुण्यको पिता और पुत्र दोनों ही उपभोग नहीं कर सकते, इस लिये यह पुण्य बीचमें ही लटका रह जाता है। इस लिये यह पुण्य पापका कारण होनेसे वास्तवमें पाप ही है। यदि आप लोग कहें, कि ब्राह्मणोंको खिलाया हुआ भोजन पितरोंके पास पहुंच जाता है, यह भी विश्वास करने योग्य नहीं है। क्योंकि जो भोजन ब्राह्मणोंको खिलाया जाता है, उससे ब्राह्मणोंका ही पेट मोटा होता है। पितरोंका ब्राह्मणोंके शरीरमें प्रविष्ट होना भी विश्वासके योग्य नहीं, क्योंकि ब्राह्मणोंको भोजन कराते समय उनके शरीरमें पितरोंके प्रवेश होनेका कोई भी चिह्न दिखाई नहीं पड़ता। तथा भोजन खा कर ब्राह्मण लोग ही तृप्त होते हैं। ये ब्राह्मण लोग बडे बडे ग्रासोंद्वारा अति लोलुपताके साथ भोजन करते हुए साक्षात् प्रेतोंके समान मालूम होते हैं। अतएव श्राद्ध आदिमें विश्वास करना बिलकुल व्यर्थ है। तथा बहुतसे पितर पुत्रोंके शरीरमें प्रविष्ट हो कर जो गया आदि तीर्थ स्थानोंमें श्राद्ध करनेके लिये कहते हैं, वे भी कोई ठगनेवाले खोटे ज्ञानके धारक व्यंतर आदि नीच जातिके देव ही हुआ करते हैं।

---

१ तत्त्वार्थसू० १-३२।

यदप्युदितम् आगमश्चात्र प्रमाणमिति । तदप्यप्रमाणम् । स हि पौरुषेयो वा स्यात्, अपौरुषेयो वा ? पौरुषेयश्चेत् सर्वज्ञकृतः, तदितरकृतो वा ? आद्यपक्षे युष्मन्मतव्याहतिः । तथा च भवत्सिद्धांतः ।

" अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते ।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः " १ ॥

द्वितीयपक्षे तु तत्र दोषवत्कर्तृत्वेनाश्वासप्रसङ्गः । अपौरुषेयश्चेत् न संभवत्येव । स्वरूपनिराकरणात्, तुरङ्गशृङ्गवत् । तथाहि । उक्तिर्वचनमुच्यते इति चेति पुरुषक्रियानुगतं रूपमस्य । एतत्क्रियाभावे कथं भवितुमर्हति । न चैतत् केवलं क्वचिद् ध्वनदुपलभ्यते । उपलब्धावप्यदृश्यवक्ताशङ्कासंभवात् । तस्मात् यद् वचनं तत् पौरुषेयमेव, वर्णात्मकत्वात्, कुमारसंभवादिवचनवत् । वचनात्मकश्च वेदः । तथा चाहुः–

" ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च ।
पुंसश्च ताल्वादि ततः कथं स्यादपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः " ॥

हिंसा करनेमें जो आप लोगोंने आगमको प्रमाण कहा, वह आगम ही प्रमाण नहीं कहा जा सकता । हम पूछते हैं, वह आगम पौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय है ? यदि वह आगम पौरुषेय है, तो वह पुरुष सर्वज्ञ है, या असर्वज्ञ ? यदि आगमका बनानेवाला पुरुष सर्वज्ञ है, तो आप लोगोंके सिद्धांतसे विरोध आता है । क्योंकि कहा है " कोई अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात् द्रष्टा नहीं है, अतएव नित्य वेद वाक्योंसे ही अतीन्द्रिय पदार्थोंकी यथार्थताका निश्चय होता है ।" यदि असर्वज्ञ पुरुषको आगमका कर्ता मानो, तो असर्वज्ञ पुरुषके सदोष होनेके कारण उस आगममें विश्वास नहीं किया जा सकता । यदि कहो, कि आगम अपौरुषेय है, यह भी असंभव है । क्योंकि वचन रूप क्रिया पुरुषद्वारा ही संभव हो सकती है, पुरुषकी क्रियाके विना वचन नहीं होता। यदि कहीं पुरुष-जन्य क्रियाके विना भी वचन सुन पडे, तो उस स्थानमें किसी अदृश्य वक्ताकी कल्पना करनी होगी । अतएव ' वचन ' पौरुषेय ही है, क्योंकि वह वर्णात्मक है । 'जैसे कुमारसंभव आदि वर्णात्मक होनेसे पौरुषेय हैं, वैसे वेद भी वचन रूप होनेसे वर्णात्मक है, इस लिये वेद पौरुषेय है । कहा भी है " वर्णोंका समूह निश्चय ही तालु आदिसे उत्पन्न होता है, तथा वेद वर्णात्मक है । तालु आदि स्थान पुरुषके ही होते हैं, इस लिये वेद अपौरुषेय नहीं हो सकता । "

श्रुतेरपौरुषेयत्वमुररीकृत्यापि तावद्भवद्भिरपि तदर्थव्याख्यानं पौरुषेयमेवाङ्गीक्रियते । अन्यथा " अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः " इत्यस्य श्वमांसं भक्षयेदिति किं नार्थः । नियामकाभावात् । ततो वरं सूत्रमपि पौरुषेयमभ्युपगतम् । अस्तु वा

---

१ तैत्तरीयसंहिता ।

अपौरुषेयः, तथापि तस्य न प्रामाण्यम् । आप्तपुरुषाधीना हि वाचां प्रमाणतेति । एवं च तस्याप्रामाण्ये, तदुक्तस्तदनुपातिस्मृतिप्रतिपादितश्च हिंसात्मको यागश्राद्धादिविधिः प्रामाण्यविधुर एवेति ॥

तथा, श्रुतिको अपौरुषेय मान कर भी आप लोगोंने श्रुतिके व्याख्यानको पौरुषेय ही माना है। यदि श्रुतिके अर्थका व्याख्यान पौरुषेय न मानो, तो "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" (स्वर्गकी इच्छा रखनेवाला अग्निहोत्र यज्ञकी आहुति दे) इस श्रुतिका "स्वर्गका इच्छुक कुत्तेके मांसकी आहुति दे" (अग्निहा श्वा तस्य उत्रं मांसं) यह अर्थ भी किया जा सकता है। क्योंकि यदि श्रुतिका व्याख्याता पुरुष नहीं है, तो अमुक श्रुतिका अमुक ही अर्थ होता है, दूसरा नहीं, इसका कोई नियम न रह सकेगा। अतएव श्रुतिके अर्थकी तरह श्रुतिको भी पौरुषेय ही स्वीकार करना चाहिये। अथवा वेदका अपौरुषेयत्व भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वेदका प्रमाण्य भी आप्त पुरुषोंके वचनोंके ऊपर ही अवलम्बित है। अतएव वेदके अप्रामाण्य होनेपर वेद और स्मृति आदिद्वारा प्रतिपादित हिंसात्मक याग, श्राद्ध आदिका विधान भी अप्रामाण्य ही है।

अथ योऽयं "न[1] हिंस्यात् सर्वभूतानि" इत्यादिना हिंसानिषेधः स औत्सर्गिको मार्गः, सामान्यतो विधिरित्यर्थः। वेदविहिता तु हिंसा अपवादपदम्, विशेषतो विधिरित्यर्थः। ततश्चापवादेनोत्सर्गस्य बाधितत्वाद् न श्रौतो हिंसाविधिर्दोषाय। "उत्सर्गापवादयोरपवादो[2] विधिर्बलीयान्" इति न्यायात्। भवतामपि हि न खल्वेकान्तेन हिंसानिषेधः। तत्तत्कारणे जाते पृथिव्यादिप्रतिसेवनानामनुज्ञानात्। [3]ग्लानाद्यसंस्तरे आधाकर्मादि[4]ग्रहणभणनाच्च। अपवादपदं च याज्ञिकी हिंसा, देवतादिप्रीते, पुष्टालम्बनत्वात् ॥

शंका—उत्सर्ग (सामान्य) और अपवादके भेदसे विधि दो प्रकारकी होती है। इन दोनों विधियोंमें अपवाद विधि बलवान होती है। प्रस्तुत प्रसंगमें "किसी जीवकी हिंसा न करो (मा हिंस्यात् सर्वभूतानि)" यह सामान्य विधि तथा "वेद विहित हिंसा पापके लिये नहीं होती" यह अपवाद विधि है। अतएव सामान्य और अपवाद विधिमें अपवाद विधिके बलवान होनेके कारण वेदोक्त हिंसा दोषपूर्ण नहीं है। तथा जैन भी हिंसाका सर्वथा निषेध नहीं करते, क्योंकि अमुक कारणोंके उपस्थित होनेपर पृथिवी आदिके वध करने की आज्ञा जैन शास्त्रोंमें भी दी गई है। इसी प्रकार

---

१ छान्दोग्य उ. ८। २ हेमहंसगणिसमुच्चितहेमव्याकरणस्थन्यायः । 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' इत्युत्सर्गस्य 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इति शास्त्रमपवादः। ३ संयमानिर्वाहः। ४ आधाय साधूंश्चेतसि प्रणिधाय यत्क्रियते भक्तादि तदाधाकर्म । पृषोदरादित्वादिति यलोपः। आधानं साधुनिमित्तं चेतसः प्रणिधानं यथामुकस्य साधोः कारणेन मया भक्तादि पचनीयमिति । आधया कर्म पाकादिक्रिया आधाकर्म। तद्योगाद् भक्ताद्यपि आधाकर्म।

सामान्य रूपसे साधुओंको उद्दिष्ट भोजनके त्यागकी आज्ञा होनेपर भी, रोग आदिके कारण संयमका पालन करनेमें असमर्थ मुनियोंके लिये उद्दिष्ट भोजन (आधाकर्म) ग्रहण करनेकी आज्ञा भी जैन शास्त्रोंने दी है, अतएव सामान्यसे हिंसाका निषेध करके भी देवता आदिको प्रसन्न करनेके लिये हमारे शास्त्रोंमें यज्ञमें हिंसाका विधान अपवाद विधिसे ही किया गया है।

इति परमाशङ्क्य स्तुतिकार आह । नोत्सृष्टमित्यादि। अन्यार्थमिति मध्यवर्ति पदं डमरुक[1]मणिन्यायेनोभयत्रापि सम्बन्धनीयम्। अन्यार्थमुत्सृष्टम्—अन्यस्मै कार्याय प्रयुक्तम्—उत्सर्गवाक्यम्, अन्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन नापोद्यते—नापवादगोचरीक्रियते। यमेवार्थमाश्रित्य शास्त्रेषूत्सर्गः प्रवर्तते, तमेवार्थमाश्रित्यापवादोऽपि प्रवर्तते तयोर्निम्नोन्नतादिव्यवहारवत् परस्परसापेक्षत्वेनैकार्थसाधनविषयत्वात्। यथा जैनानां संयमपरिपालनार्थं नवकोटिविशुद्धाहारग्रहणमुत्सर्गः। तथाविधद्रव्यक्षेत्रकालभावापत्सु च निपतितस्य गत्यन्तराभावे पंचकादियतनया अनेषणीयादिग्रहणमपवादः। सोऽपि च संयमपरिपालनार्थमेव। न च मरणैकशरणस्य गत्यन्तराभावोऽसिद्ध इति वाच्यम्।

“ सव्वत्थ[2] संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा।
मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही नयाऽविरई ” ॥

इत्यागमात् ॥

समाधान—सामान्य और अपवाद दोनों वाक्य शास्त्रोंके एक ही अर्थको ले कर प्रयुक्त होते हैं। जैसे ऊंच नीचका व्यवहार सापेक्ष होनेसे एक ही अर्थका साधक है, वैसे ही सामान्य और अपवाद दोनों सापेक्ष होनेसे एक ही प्रयोजनको सिद्ध करते हैं। उदाहरणके लिये, जैन मुनियोंके वास्ते सामान्य रूपसे संयमकी रक्षाके लिये नव कोटि (स्वयं मारना, दूसरेसे मरवाना, मारनेवालेका अनुमोदन करना, स्वयं पकाना, दूसरेसे पकवाना, पकानेवालेका अनुमोदन करना, स्वयं मोल लेना, दूसरेसे मोल लिवाना, और मोल लेनेवालेका अनुमोदन करना) से विशुद्ध आहार ग्रहण करनेकी विधि बताई गई है। परन्तु यदि किसी कारणसे कोई मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-जन्य आपदाओंसे ग्रस्त हो जाय, और उसे कोई मार्ग सूझ न पडे, तो ऐसी दशामें वह पंच कोटिसे विशुद्ध आहारका ग्रहण कर सकता है, यह अपवाद नियम है। परन्तु जैसे सामान्य विधि संयमकी रक्षाके लिये है, वैसे ही अपवाद विधि भी संयमकी रक्षाके लिये है। क्योंकि मरणासन्न मुनिके अपवाद मार्गका अवलम्बन करनेके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है। यदि कहो, कि मरणासन्न मुनिको भी अपवाद मार्ग ग्रहण न करके किसी दूसरे ही मार्गका अवलम्बन लेना चाहिये, यह

---

[1] डमरुमध्ये प्रतिबद्धो मणिरेक एव सन् डमरुविचाले तदुभयाङ्गसंबद्धो भवति तद्वदेकमेवान्यार्थमिति पदमुभयत्र संबध्यते। अयमेव न्यायो देहलीदीपन्याय इत्यप्यभिधीयते।

[2] छाया-सर्वत्र संयमं संयमादात्मानमेव रक्षेत्। मुच्यतेऽतिपातात्पुनर्विशुद्धिर्न चाविरतिः ॥

ठीक नहीं है। क्योंकि आगममें कहा है " मुनिको सब प्रकारसे अपने संयमकी रक्षा करना चाहिए, यदि संयमका पालन करनेमें अपना मरण होता हो, तो संयमको छोड़ कर अपनी आत्माकी रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि इस तरह मुनि दोषोंसे रहित होता है, वह फिरसे शुद्ध हो सकता है, और उसके व्रत भंगका दोष नहीं लगता।"

तथा आयुर्वेदेऽपि यमेवैकं रोगमधिकृत्य कस्यांश्चिदवस्थायां किञ्चिद्वस्त्वपथ्यं, तदेवावस्थान्तरे तत्रैव रोगे पथ्यम्–

" उत्पद्यते हि सावस्था देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं तु वर्जयेत् " ॥

इति वचनात्। यथा बलवदादेर्ज्वरिणो लङ्घनं, क्षीणधातोस्तु तद्विपर्ययः। एवं देशाद्यपेक्षया ज्वरिणोऽपि दधिपानादि योज्यम्। तथा च वैद्याः–

" कालाविरोधि निर्दिष्टं ज्वरादौ लङ्घनं हितम्।
ऋतेऽनिलश्रमक्रोधशोककामकृतज्वरान् " ॥

एवं च यः पूर्वमपथ्यपरिहारो, यत्र तत्रैवावस्थान्तरे तस्यैव परिभोगः। स खलूभयोरपि तस्यैव रोगस्य शमनार्थः। इति सिद्धमेकविषयत्वमुत्सर्गापवादयोरिति॥

आयुर्वेदमें भी जो वस्तु रोगकी एक अवस्थामें अपथ्य है, वही दूसरी अवस्थामें पथ्य कही गई है। कहा भी है " देश और कालसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंमें न करने योग्य कार्योंको करना पड़ता है, और करने योग्य कार्योंको छोड़ना पड़ता है।" जैसे बलवान ज्वरके रोगीको लंघन स्वास्थ्यप्रद है, परन्तु क्षीणधातु ज्वरके रोगीको वही लंघन घातक होता है, इसी तरह किसी देशमें ज्वरके रोगीको दही खिलाना पथ्य समझा जाता है, परन्तु वही दही दूसरे देशके ज्वरके रोगीके लिये अपथ्य है। वैद्योंने भी कहा है, " वात, श्रम, क्रोध, शोक और काम-जन्य ज्वरको छोड़ कर दूसरे ज्वरोंमें ग्रीष्म, शीत, आदि ऋतुओंके अनुकूल लंघन करना हितकारी है।" अतएव एक रोगमें जिस अपथ्यका त्याग किया जाता है, वही अपथ्य उसी रोगकी दूसरी अवस्थामें उपादेय होता है। परन्तु एक रोगकी दोनों अवस्थाओंमें अपथ्यका त्याग और अपथ्यका ग्रहण दोनों ही रोगको शमन करनेके लिये होते हैं। इस लिये सामान्य और अपवाद दोनों ही विधि एक ही प्रयोजनको सिद्ध करती हैं, इस लिये अपवाद विधि सामान्य विधिसे बलवान नहीं हो सकती।

भवतां चोत्सर्गोऽन्यार्थः अपवादश्चान्यार्थः " न हिंस्यात् सर्वभूतानि " इत्युत्सर्गो हि दुर्गतिनिषेधार्थः। अपवादस्तु वैदिकहिंसाविधिर्देवताऽतिथिपितृप्रीतिसंपादनार्थः। अतश्च परस्परनिरपेक्षत्वे कथमुत्सर्गोऽपवादेन बाध्यते। " तुल्यबलयोर्विरोध " इति न्यायात्। भिन्नार्थत्वेऽपि तेन तद्बाधने अतिप्रसङ्गात्। न च

वाच्यं वैदिकहिंसाविधिरपि स्वर्गहेतुतया दुर्गतिनिषेधार्थ एवेति। तस्योक्तयुक्त्या स्वर्गहेतुत्वनिर्लोठनात्। तमन्तरेणापि च प्रकारान्तैरपि तत्सिद्धिभावात् गत्यन्तराभावे ह्यपवादपक्षकक्षीकारः। न च वयमेव यागविधेः सुगतिहेतुत्वं नाङ्गीकुर्महे, किन्तु भवदाप्ता अपि। यदाह व्यासमहर्षिः—

" पूजया विपुलं राज्यमग्निकार्येण संपदः।
तपः पापविशुद्ध्यर्थं ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् "॥

अत्राग्निकार्यशब्दवाच्यस्य यागादिविधेरुपायान्तरैरपि लभ्यानां संपदामेव हेतुत्वं वदन्नाचार्यः तस्य सुगतिहेतुत्वमर्थात् कदर्थितवानेव। तथा च स एव भावाग्निहोत्रं ज्ञानपालीत्यादिश्लोकैः स्थापितवान्॥

आप लोगोंके वक्तव्यमें उत्सर्ग विधि और अपवाद विधि दोनों भिन्न भिन्न प्रयोजनोंके साधक हैं। जैसे " किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनी चाहिये, " यह सामान्य विधि नरक आदि खोटी गतियोंका निषेध करनेके लिये बताई गई है; तथा " वेदोक्त हिंसा हिंसा नहीं है, " यह अपवाद विधि देवता, अतिथि और पितरों को प्रसन्न करनेके लिये कही गई है। इस प्रकार सामान्य और अपवाद दोनों एक दूसरे से निरपेक्ष हैं, अतएव सामान्य विधि अपवाद विधिसे वाधित नहीं हो सकती। क्योंकि " तुल्य बल होनेपर ही विरोध होता है "। इस लिये सामान्य और अपवादके भिन्न भिन्न प्रयोजनों के सिद्ध करनेपर भी सामान्य और अपवादमें विरोध नहीं हो सकता। यदि आप लोग कहें, कि वैदिक हिंसा भी स्वर्गका कारण है, इस लिये उससे भी दुर्गतिका निषेध होता है, अतएव सामान्य और अपवाद एक ही प्रयोजनके साधक हैं, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि वैदिक हिंसा स्वर्गका कारण नहीं हो सकती, इसका हमने ऊपर युक्तियोंसे खंडन कर दिया है! वैदिक हिंसाके विना अन्य साधनोंसे भी स्वर्गकी प्राप्ति होती है। अतएव यदि स्वर्गकी प्राप्तिके लिये अन्य साधन न होते, तो आप वैदिक हिंसासे स्वर्गपानेके लिये अपवाद विधि स्वीकार कर सकते थे, परंतु आपने स्वयं ही यम, नियम आदिको स्वर्गका कारण माना है। (देखो गौतम-धर्मसूत्र, पातंजल-योगसूत्र, मनुस्मृति आदि) तथा केवल जैन लोग ही वेदोक्त यज्ञ विधानका निषेध नहीं करते, परन्तु आप लोगोंके पूज्य व्यास जैसे ऋषियोंने भी कहा है " पूजासे विपुल राज्य, यज्ञ आदिसे संपदा, तपसे पापोंकी शुद्धि तथा ज्ञान और ध्यान से मोक्ष मिलता है। " यहां व्यास ऋषिने ' अग्निकार्य ' शब्दसे याग आदिके विधानको केवल सम्पदाओंका ही कारण माना है, सुगतिका कारण नहीं बताया। तथा ' ज्ञानपालि ' आदि श्लोकोंसे व्यास ऋषि पहले ही भाव-अग्निहोत्र (भावयज्ञ) का प्रतिपादन कर चुके हैं।

तदेवं स्थिते तेषां वादिनां चेष्टामुपमया दूषयति स्वपुत्रेत्यादि। परेषां भवत्प्रणीतवचनपराङ्मुखानां स्फुरितं—चेष्टितम्, स्वपुत्रघाताद् नृपतित्वलिप्सासब्रह्मचारि-

निजसुतनिपातनेन राज्यप्राप्तिमनोरथसदृशम् । यथा किल कश्चिदविपश्चित् पुरुषः परुषाशयतया निजमङ्गजं व्यापाद्य राज्यश्रियं प्राप्तुमीहते । न च तस्य तत्प्राप्तावपि पुत्रघातपातककलङ्कपङ्कः क्वचिदपयाति । एवं वेदविहितहिंसया देवतादिप्रीतिसिद्धावपि, हिंसासमुत्थं दुष्कृतं न खलु पराहन्यते । अत्र च लिप्साशब्दं प्रयुञ्जानः स्तुतिकारो ज्ञापयति यथा तस्य दुराशयस्यासदृशतादृशदुष्कर्मनिर्माणनिर्मूलितसत्कर्मणो राज्यप्राप्तौ केवलं समीहामात्रमेव, न पुनस्तत्सिद्धिः । एवं तेषां दुर्वादिनां वेदविहितां हिंसामनुतिष्ठतामपि देवतादिपरितोषणे मनोराज्यमेव । न पुनस्तेषामुत्तमजनपूज्यत्वमिन्द्रादिदिवौकसां च तृप्तिः । प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् ॥ इति काव्यार्थः ॥ ११ ॥

अतएव जैसे कोई मूर्ख पुरुष कठोर स्वभावके कारण अपने पुत्रका वध करके राज्यको प्राप्त करना चाहता है, और राज्य पानेपर वह पुत्र वधके पापसे मुक्त नहीं होता, इसी प्रकार याज्ञिक लोग वेदोक्त हिंसाके द्वारा देवता आदिको प्रसन्न करके स्वर्गको प्राप्त करना चाहते हैं, परंतु यदि हिंसाके द्वारा देवता आदि प्रसन्न होते भी हों, तो भी याज्ञिक लोग हिंसा-जन्य पापसे मुक्त नहीं हो सकते। तथा जिस प्रकार अपने पुत्रका वध करनेवाले पापी पुरुषको राज्यकी प्राप्ति नहीं होती, वह केवल राज्यको पानेकी इच्छा मात्र ही करता रहता है, उसी तरह वेदोक्त हिंसाका अनुष्ठान करते हुए भी हिंसासे देवता आदिको प्रसन्न करना केवल इच्छा मात्र है। वास्तवमें न तो हिंसासे देव लोग प्रसन्न होते हैं, और न हिंसक पुरुषोंकी जनसमाजमें कोई प्रतिष्ठा ही बढ़ती है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—(१) इस श्लोकमें वैदिक लोगोंकी हिंसाका खंडन किया गया है। **वैदिक**—वेदमें प्रतिपादित हिंसा पुण्यका कारण है, क्योंकि उस हिंसासे प्रसन्न होकर देवता लोग वृष्टि करते हैं, अतिथि लोग दया दिखलाते हैं, और पितर संतानकी वृद्धि करते ह। **जैन**—किसी भी प्रकारकी हिंसा धर्मका कारण नहीं हो सकती, यदि हिंसा धर्मका कारण हो, तो वह हिंसा नहीं कही जा सकती। तथा वेदद्वारा प्रतिपादित हिंसा हिंसा नहीं है, यह कहनेमें भी प्रत्यक्ष विरोध आता है। मंत्र आदिकके बलसे वेदोक्त हिंसा पापका कारण नहीं होती, और इस प्रकारकी हिंसासे स्वर्ग मिलता है, यह कहना भी असत्य है, क्योंकि मंत्रोंको पढ़ पढ़ कर पशुओंके वध करनेमें भी मूक पशु अनन्त वेदनासे छटपटाते हुए देखे जाते हैं। वेदोक्त रीतिसे वध किये हुए पशुओंको स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसमें भी कोई प्रमाण न होनेसे यह बात विश्वसनीय नहीं है। तथा, जिस प्रकार विवाह, गर्भाधान आदि कार्योंमें वेदोक्त मंत्रविधि के प्रयोग करनेपर भी इष्टकी सिद्धि नहीं होती, उसी तरह मंत्रसे संस्कृत हिंसासे भी स्वर्ग नहीं मिलता।

शंका—जिस प्रकार जैन मंदिरोंके निर्माण करनेमें त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसा होनेपर भी जैन लोग मंदिरोंके बनानेमें पुण्य समझते हैं, उसी तरह वेदोंमें प्रतिपादित हिंसा भी पुण्यका ही कारण होती है। **समाधान**—जैन मंदिरोंके निर्माणमें हिंसा अवश्य होती है, परन्तु वह हिंसा इतनी अल्प है, कि मंदिरमें जिन प्रतिमाके दर्शनसे उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति जैसे महान पुण्यके सामने वह नगण्य है। जिस प्रकार कोई वैद्य रोगीको अच्छा करनेके लिये नश्तर लगाना, लंघन कराना आदि दुख रूप क्रियाओंको करता हुआ भी अपने शुभ परिणामोंके कारण पुण्यका ही भागी होता है, उसी तरह जिन मंदिरोंका निर्माण शुभ परिणामोंसे अनंत सुखकी प्राप्तिके लिये ही किया जाता है। तथा वेदोक्त हिंसा स्वर्गकी प्राप्तिमें कारण नहीं होती। क्योंकि वध-स्थलपर ला कर इकट्ठे किये हुए पशुओंका करुणापूर्ण आक्रन्दन अशुभ गतिका ही कारण होता है। तथा आप लोगोंने स्वयं यम, नियमादिको स्वर्ग पानेमें कारण बताया है। तथा, यदि यज्ञमें वध किये हुए सब पशुओंको स्वर्ग मिलने लगे, तो संसारके सभी हिंसकोंको स्वर्ग मिलना चाहिये। अतएव कपिल ऋषिके अनुयायियोंने कहा है, "यदि पशुओंको मारकर, उनके रक्तसे पृथ्वी मंडलको सींचकर स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है, तो फिर नरक जानेके लिये और भी महा भयंकर पाप करने चाहिये।" तथा यदि छोटे छोटे मूक पशुओंके वधसे स्वर्ग मिल सकता है, तो अपने प्रिय माता पिताकी यज्ञमें आहुति देनेसे मोक्ष मिलना चाहिये।

शंका—वाक्य सामान्य और अपवादके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। जैसे 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि,' अर्थात् किसी प्राणीको मत मारो, यह सामान्य वाक्य है,' और 'वेदोक्त हिंसा पुण्यका कारण होती है,' यह अपवाद वाक्य है। सामान्य और अपवाद वाक्योंमें अपवाद वाक्य विशेष बलवान होता है, इस लिये वेदोक्त हिंसामें पाप नहीं है। **समाधान**—सामान्य और अपवाद दोनों वाक्य एक ही भावके द्योतक होने चाहिये, परन्तु प्रस्तुत प्रसंगमें अपवाद वाक्य देवता, अतिथि और पितरोंको प्रसन्न करनेके लिये है, और सामान्य वाक्य पाप और उसके फलको दूर करनेके लिये बताया गया है। तथा देवता आदिको प्रसन्न करनेके लिये हिंसाके अतिरिक्त अन्य दूसरे उपाय आपके शास्त्रोंमें भी बतलाये हैं, फिर आप हिंसात्मक उपायोंका ही क्यों अवलम्बन लेते हैं।

(२) इसी तरह इस लोकमें ब्राह्मणोंको खिलाया हुआ भोजन किसी भी तरह मृत प्राणियोंको तृप्त नहीं कर सकता। इस लिये श्राद्ध करना भी धर्म नहीं है (देखो व्याख्या)। (३) वर्णात्मक वेद तालु आदिसे उत्पन्न होता है, और तालु आदि स्थान पुरुषके ही संभव हैं। तथा श्रुतिके तात्पर्यको समझानेके लिये भी किसी वक्ताकी आवश्यकता है, इस लिये वेदको पौरुषेय मानना ही युक्तियुक्त है।

सांप्रतं नित्यपरोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकभेदभट्टानाम् एकात्मसमवायिज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवादिनां च यौगानां मतं विकुट्टयन्नाह—

अब, ज्ञानको प्रत्यक्ष न मान कर उसे परोक्ष माननेवाले भट्ट मीमांसक, तथा एक ज्ञानको अन्य ज्ञानोंसे स्वीकार करनेवाले न्याय-वैशेषिक लोगोंके मतपर विचार करते हैं—

स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः प्रकाशते नार्थकथान्यथा तु ।
परे परेभ्यो भयतस्तथापि प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—ज्ञान अपनेको और दूसरे पदार्थोंको जानता है, अन्यथा पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता । इस अकाट्य सिद्धांतके सर्वमान्य होनेपर भी अन्य मतावलम्बियोंने ज्ञानको स्वसंवेदनसे रहित स्वीकार किया है ।

बोधो—ज्ञानं, स च स्वार्थावबोधक्षम एव प्रकाशते । स्वस्य-आत्मस्वरूपस्य, अर्थस्य च पदार्थस्य योऽवबोधः—परिच्छेदस्तत्र, क्षम एव-समर्थ एव प्रतिभासते इत्ययोगव्यवच्छेदः । प्रकाशत इति क्रियया अवबोधस्य प्रकाशरूपत्वसिद्धेः सर्वप्रकाशानां स्वार्थप्रकाशकत्वेन, बोधस्यापि तात्सिद्धिः । विपर्यये दूषणमाह । नार्थकथान्यथात्विति । अन्यथेति—अर्थ प्रकाशनेऽविवादाद्, ज्ञानस्यस्वसंविदितत्वानभ्युपगमेऽर्थकथैव न स्यात् । अर्थकथापदार्थसम्बन्धिनी वार्ता, सदसद्रूपात्मकं स्वरूपमिति यावत् । तुशब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च, स चार्थकथया सह योजित एव । यदि हि ज्ञानं स्वसंविदितं नेष्यते, तदा तेनात्मज्ञानाय ज्ञानान्तरमपेक्षणीयं तेनाप्यपरमित्याद्यनवस्था । ततो ज्ञानं तावत् स्वावबोधव्यग्रतामग्नम् । अर्थस्तु जडतया स्वरूपज्ञापनासमर्थ इति को नामार्थस्य कथामपि कथयेत् । तथापि एवं ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे युक्त्या घटमानेऽपि, परे—तीर्थान्तरीयाः, ज्ञानं—कर्मतापन्नम्, अनात्मनिष्ठं—न विद्यते आत्मनः स्वस्य निष्ठा निश्चयो यस्य तदनात्मनिष्ठम्, अस्वसंविदितमित्यर्थः, प्रपेदिरे—प्रपन्नाः । कुतः इत्याह । परेभ्यो भयतः, परे-पूर्वपक्षवादिनः, तेभ्यः सकाशात् ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वं नोपपद्यते, स्वात्मनि क्रियाविरोधादित्युपालम्भसम्भावनासम्भवं यद्भयं तस्मात् तदाश्रित्येत्यर्थः ॥

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार दीपक अपने और दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान निज और पर पदार्थोंको जानता है । यदि ज्ञानको स्वसंविदित न माना जाय, तो पदार्थोंकी भाव और अभाव व्यवस्था नहीं बन सकती । क्योंकि यदि ज्ञान स्वसंवेदन रूप नहीं हो, तो एक ज्ञानके जाननेके लिये दूसरा और दूसरेके लिये तीसरे ज्ञानकी आवश्यकता होनेसे अनवस्था दोष मानना पड़े । इस लिये जब ज्ञान ही अपने आपको नहीं जान सकता, तो फिर जड़ रूप पदार्थोंका ज्ञान कैसे हो सकता है । अतएव पदार्थके

विषयमें कोई बात करना भी असंभव हो जायगा। इस प्रकार युक्तिसे ज्ञानके स्वसंवेदन रूप सिद्ध होनेपर भी 'आत्मामें क्रियाके विरोध होनेसे ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं हो सकता' दूसरे वादियोंके इस उपालंभके भयसे भट्टमतके अनुयायी ज्ञानको स्वप्रकाशक नहीं मानते।

इत्थमक्षरगमनिकां विधाय भावार्थः प्रपञ्च्यते। भट्टास्तावदिदं वदन्ति। यत् ज्ञानं स्वसंविदितं न भवति, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। न हि सुशिक्षितोऽपि नटबटुः स्वस्कन्धमधिरोढुं पटुः, न च सुतीक्ष्णाप्यसिधारा स्वं छेत्तुमाहितव्यापारा। ततश्च परोक्षमेव ज्ञानमिति। तदेतन्न सम्यक्। यतः किमुत्पत्तिः स्वात्मनि विरुध्यते ज्ञप्तिर्वा? यद्युत्पत्तिः सा विरुध्यताम्। नहि वयमपि ज्ञानमात्मानमुत्पादयतीति मन्यामहे। अथ ज्ञप्तिः नेयमात्मनि विरुद्धा। तदात्मनैव ज्ञानस्य स्वहेतुभ्य उत्पादात्। प्रकाशात्मनेव प्रदीपालोकस्य। अथ प्रकाशात्मैव प्रदीपालोक उत्पन्न इति परप्रकाशोऽस्तु। आत्मानमप्येतावन्मात्रेणैव प्रकाशयतीति कोऽयं न्यायः इति चेत्, तत्किं तेन वराकेणाप्रकाशितेनैव स्थातव्यम्, आलोकान्तराद् वास्य प्रकाशेन भवितव्यम्। प्रथमे प्रत्यक्षबाधः। द्वितीयेऽपि सैवानवस्थापत्तिश्च॥

भट्ट—ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं होता, वह पहले नहीं जाने हुए पदार्थोंको ही जानता है। क्योंकि प्रकाश होना क्रिया है, इस लिये कोई भी क्रिया स्वयं ही अपना विषय नहीं हो सकती। जैसे चतुरसे चतुर नट भी स्वयं अपने कंधेपर नहीं चढ़ सकता, तथा पैनीसे पैनी तलवारकी धार भी अपने आपको नहीं काट सकती, वैसे ही ज्ञानमें भी क्रिया होना संभव नहीं है, अतएव ज्ञान परोक्ष ही है। **जैन**—यह ठीक नहीं। हम पूछते हैं, ज्ञान स्वयं उत्पन्न नहीं होता, अथवा ज्ञान निज स्वरूपको नहीं जानता। यदि कहो, कि ज्ञान अपने आप उत्पन्न नहीं होता, तो हम भी इसे स्वीकार करते हैं। परन्तु यदि आप लोग ज्ञानको निज स्वरूपका ज्ञाता न मानें, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि जैसे दीपकका प्रकाश प्रकाश रूप ही उत्पन्न होता है, वैसे ही ज्ञान भी अपने कारणोंसे ज्ञान रूप ही उत्पन्न होता है। **शंका**—दीपकका प्रकाश प्रकाश रूप होता है, यह ठीक है, परन्तु यह प्रकाश दूसरे पदार्थोंको ही प्रकाशित करता है, अपने आपको नहीं। **समाधान**—यदि दीपकका प्रकाश दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित करता हुआ अपने आपको प्रकाशित नहीं करता है, तो दीपकको स्वयं अप्रकाशित ही मानना चाहिये। परन्तु यह प्रत्यक्षसे बाधित है, क्योंकि दीपक दूसरे पदार्थोंको प्रकाशित करनेके साथ स्वयं भी प्रकाशित होता हुआ देखा जाता है। यदि दीपकका प्रकाश स्वयं प्रकाशित होनेमें दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा रक्खे, तो इसमें अनवस्था दोष आता है।

अथ नासौ स्वमपेक्ष्य कर्मतया चकास्तीत्यस्वप्रकाशकः स्वीक्रियते, आत्मानं न प्रकाशयतीत्यर्थः। प्रकाशरूपतया तूत्पन्नत्वात् स्वयं प्रकाशत एवेति चेत्, चिरञ्जीव।

न हि वयमपि ज्ञानं कर्मतयैव प्रतिभासमानं स्वसंवेद्यं ब्रूमः। ज्ञानं स्वयं प्रतिभासत इत्यादावकर्मकस्य तस्य चकासनात्। यथा तु ज्ञानं स्वं जानामीति कर्मतयापि तद्भाति, तथा प्रदीपः स्वं प्रकाशयतीत्ययमपि कर्मतया प्रथित एव ॥

शंका—एक ही क्रियामें कर्ता और कर्म दोनों नहीं रह सकते, इस लिये प्रकाश क्रियाका कर्ता दीपक प्रकाश क्रियाका कर्म नहीं हो सकता, अतएव दीपकका प्रकाश अपने आपको प्रकाशित नहीं करता, किन्तु वह प्रकाश रूपमें उत्पन्न होता है, इस लिये स्वयं प्रकाशित होता है। **समाधान**—हम लोग भी ज्ञानको कर्म रूपसे स्वयं प्रकाशक नहीं मानते। जिस प्रकार आप लोग प्रदीपको प्रकाश रूपसे उत्पन्न होनेके कारण स्वयं प्रकाशित मानते हैं, वैसे ही हम भी ज्ञप्ति रूपसे उत्पन्न ज्ञानको ही स्वयं प्रकाशक मानते हैं। 'ज्ञान स्वयं प्रतिभासित होता है' आदि वाक्योंमें भी ज्ञान कर्म रहित ही है। तथा जिस प्रकार 'प्रदीप अपने आपको प्रकाशित करता है' इस वाक्यका प्रयोग होता है, वैसे ही 'ज्ञान अपने आपको जानता है' इस कर्म रूप वाक्यका व्यवहार हो सकता है।

यस्तु स्वात्मनि क्रियाविरोधो दोष उद्भावितः सोऽयुक्तः। अनुभवसिद्धेऽर्थे[1] विरोधासिद्धेः। घटमहं जानामीत्यादौ कर्तृकर्मवद् ज्ञप्तेरप्यवभासमानत्वात्। न चाप्रत्यक्षोपलम्भस्यार्थदृष्टिः प्रसिध्यति। न च ज्ञानान्तरात् तदुपलम्भसम्भावना, तस्याप्यनुपलब्धस्य प्रस्तुतोपलम्भप्रत्यक्षीकाराभावात्। उपलम्भान्तरसम्भावने चानवस्था। अर्थोपलम्भात् तस्योपलम्भे अन्योन्याश्रयदोषः॥

तथा ज्ञानको स्वप्रकाशक माननेमें जो आप लोगोंने दोष दिया, कि 'ज्ञानमें क्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञानमें कर्ता और कर्मका विरोध आता है,' यह भी ठीक नहीं। क्योंकि अनुभवसे सिद्ध पदार्थोंमें यह विरोध नहीं देखा जाता। जिस प्रकार 'मैं घटको जानता हूं' इत्यादि प्रयोगोंमें कर्ता और कर्मका ज्ञान होता है, उसी तरह 'मैं ज्ञानको जानता हूं' आदि वाक्योंमें कर्ता और कर्मका ज्ञान होता है। तथा ज्ञानको परोक्ष स्वीकार करनेपर ज्ञान पदार्थोंको नहीं जान सकता। क्योंकि एक ज्ञानका दूसरे ज्ञानसे प्रत्यक्ष माननेमें अनवस्था दोष आता है। **शंका**—पदार्थके प्राकट्य (ज्ञातता) से ज्ञानका स्वसंवेदन होता है, अर्थात् घटका ज्ञान होनेपर, 'मैंने घट जाना है' इस ज्ञानसे घटका प्राकट्य होता है। यह घटका प्राकट्य घटके ज्ञानसे पहले उत्पन्न नहीं था, घटके ज्ञान होनेपर ही उत्पन्न हुआ है, अतएव यह घट-प्राकट्य ज्ञानसे ही पैदा होता है। इस घट-प्राकट्यसे ज्ञानका स्वसंवेदन (ज्ञान) होता है। **समाधान**—इस ज्ञातता सिद्धांतके माननेसे अन्योन्याश्रय दोष आता

---

[1] न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति न्यायात्।

है। क्योंकि पदार्थोंका प्राकट्य और ज्ञानका ज्ञान दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, अर्थात् ज्ञानके होनेपर पदार्थोंका प्राकट्य और पदार्थोंका प्राकट्य होनेपर ज्ञानका ज्ञान होता है।

अथार्थप्राकट्यमन्यथा नोपपद्येत यदि ज्ञानं न स्यात्, इत्यर्थापत्त्या[1] तदुपलम्भ इति चेत्। न। तस्या अपि ज्ञापकत्वेनाज्ञाताया ज्ञापकत्वायोगात्। अर्थापत्त्यन्तरात् तज्ज्ञानेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषापत्तेः तदवस्थः परिभवः। तस्मादर्थोन्मुखतयेव स्वोन्मुखतयाऽपि ज्ञानस्य प्रतिभासात् स्वसंविदितत्वम्॥

भट्टमीमांसक—जिस तरह 'देवदत्त पुष्ट है, क्योंकि दिनमें नहीं खाता है' इस वाक्यमें पुष्टत्वकी अन्यथानुपपत्तिसे देवदत्तका रातको खाना सिद्ध होता है, उसी तरह 'घटके ज्ञानके विना घटका प्राकट्य नहीं होता है,' इस घटके प्राकट्यकी अन्यथानुपपत्तिसे घटका ज्ञान होता है। **जैन**—यह भी ठीक नहीं। हम पूछते हैं, कि जिस अर्थ-प्राकट्यसे आप लोग ज्ञानको सिद्ध करना चाहते हैं, वह अर्थ प्राकट्य स्वयं ज्ञात है, अथवा अज्ञात? यदि यह अर्थ-प्राकट्य अज्ञात है, तो अज्ञात अर्थ-प्राकट्य ज्ञानके जाननेमें सहायक नहीं हो सकता। यदि अर्थ-प्राकट्य ज्ञात हो कर ज्ञानका ज्ञान करता है, तो एक ज्ञाततामें दूसरी ज्ञातता, अथवा एक अर्थापत्ति सिद्ध करनेके लिये दूसरी अर्थापत्ति माननेसे अनवस्था, तथा ज्ञान और ज्ञातताके परस्पर सापेक्ष होनेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है। अतएव जिस प्रकार ज्ञान पदार्थोंका संवेदन करता है, वैसे ही उसे स्वसंवेदक भी मानना चाहिये।

नन्वनुभूतेरनुभाव्यत्वे घटादिवदननुभूतित्वप्रसङ्गः। प्रयोगस्तु ज्ञानमनुभवरूपमप्यनुभूतिर्न भवति, अनुभाव्यत्वाद्, घटवत्, अनुभाव्यं च भवद्भिरिष्यते ज्ञानं, स्वसंवेद्यत्वात्। नैवम्। ज्ञातुर्ज्ञातृत्वेनेवानुभूतेरनुभूतित्वेनैवानुभवात्। नचानुभूतेरनुभाव्यत्वं दोषः। अर्थापेक्षयानुभूतित्वात्[2] स्वापेक्षया चानुभाव्यत्वात्। स्वपितृपुत्रापेक्षयैकस्य पुत्रत्वपितृत्ववद् विरोधाभावात्॥

शंका—यदि अनुभूति (ज्ञानको) को अनुभाव्य (ज्ञेय) स्वीकार किया जाय, तो ज्ञय घट, पटके समान ज्ञानको भी अज्ञान रूप मानना चाहिये। अतएव, ज्ञान अनुभव रूप हो कर भी अनुभाव्य (ज्ञेय) होनेसे घटकी तरह अनुभूति (ज्ञान) नहीं हो सकता। आप लोग भी ज्ञानको अनुभाव्य मानते है, क्योंकि वह स्वसंवेदन रूप है। **समाधान**—जैसे ज्ञाताका ज्ञाता रूपसे अनुभव होता है, वैसे ही अनुभूति भी अनुभूति रूपसे ही अनुभवमें आती है। तथा, अनुभूतिको अनुभाव्य माननेमें भी दोष नहीं आता, क्योंकि अनुभूति पदार्थोंको

---

[1] 'पुष्टो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्ये पुष्टत्वान्यथानुपपत्त्या यथा रात्रिभोजनं कल्प्यते तथात्र घटज्ञानं विना घटप्राकट्यं नोपलभ्यत इति घटप्राकट्यान्यथानुपपत्त्या घटज्ञानं कल्प्यते।

[2] प्रदीपस्यार्थापेक्षया प्रकाशकत्वं स्वापेक्षया च प्रकाश्यप्रकाशकत्वम्।

जाननेकी अपेक्षा अनुभूति रूप है, परन्तु जब वही अनुभूति स्वसंवेदन करती है, तब वह अनुभाव्य कही जाती है। अतएव जिस प्रकार एक ही पुरुषको अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र और अपने पुत्रोंकी अपेक्षा पिता कहा जाता है, उसी प्रकार एक ही अनुभूति भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे अनुभूति और अनुभाव्य कही जाती है। इस लिये कोई दोष नहीं है।

अनुमानाच्च स्वसंवेदनसिद्धिः। तथाहि। ज्ञानं स्वयं प्रकाशमानमेवार्थं प्रकाशयति, प्रकाशकत्वात्, प्रदीपवत्। संवेदनस्य प्रकाश्यत्वात् प्रकाशकत्वमसिद्धमिति चेत्। न। अज्ञाननिरासादिद्वारेण प्रकाशकत्वोपपत्तेः।

तथा 'ज्ञान स्वयं प्रकाशित होता हुआ ही दूसरे पदार्थोंको जानता है, क्योंकि वह प्रकाशक है, दीपककी तरह'। इस अनुमानसे ज्ञानके स्वसंवेदनकी सिद्धि होती है। यदि कहो, कि ज्ञान प्रकाश्य है, इस लिये प्रकाशक नहीं हो सकता, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञान अज्ञानको नाश करता है, इस लिये वह प्रकाशक ही है।

ननु नेत्रादयः प्रकाशका अपि स्वं न प्रकाशयन्तीति प्रकाशकत्वहेतोरनैकान्तिकतेति चेत्, न नेत्रादिभिरनैकान्तिकता। तेषां लब्ध्युपयोगलक्षणभावेन्द्रियरूपाणामेव प्रकाशकत्वात्। भावेन्द्रियाणां च स्वसंवेदनरूपतैवेति न व्यभिचारः। तथा संवित् स्वप्रकाशा, अर्थप्रतीतित्वात्, यः स्वप्रकाशो न भवति नासावर्थप्रतीतिः, यथा घटः॥

शंका—नेत्र आदि प्रकाशक होनेपर भी अपने आपको प्रकाशित नहीं करते, इस लिये प्रकाशकत्व हेतु अनैकान्तिक है। **समाधान**—यह ठीक नहीं, क्योंकि नेत्र आदि लब्धि और उपयोग रूप भावेन्द्रियद्वारा अपने आपको भी जानते हैं। मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली विशुद्धि, अथवा विशुद्धिसे उत्पन्न होनेवाले उपयोगात्मक ज्ञानको भावेन्द्रिय कहते हैं। लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय कही जाती हैं। स्पर्शन, रसना आदि पांच इन्द्रियोंके आवरणके क्षयोपशम होनेपर पदार्थोंके जाननेकी शक्ति विशेषको लब्धि, तथा अपनी अपनी लब्धिके अनुसार आत्माके पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेको उपयोग कहते हैं। भावेन्द्रियां स्वसंवेदन रूप होती हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है। अतएव ज्ञान स्वप्रकाशक है, क्योंकि वह पदार्थोंको जानता है, जो स्वप्रकाशक नहीं होता, वह पदार्थोंको नहीं जानता, जैसे घट।

तदेवं सिद्धेऽपि प्रत्यक्षानुमानाभ्यां ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वे "संत्संप्रयोगे

---

१ जन्तोः श्रोत्रादिविषयस्तत्तदावरणस्य यः।
स्यात् क्षयोपशमो लब्धिरूपं भावेन्द्रियं हि तत्॥
स्वस्वलब्ध्यनुसारेण विषयेषु यः आत्मनः
व्यापार उपयोगाख्यं भवेद्भावेन्द्रियं च तत्॥ लोकप्रकाशे ३॥

२ जैमिनिसूत्रे १-१-४५ सूत्रार्थानुगुणमेतत्। घटादिविषये ज्ञाने जाते 'मया ज्ञातोऽयं घटः' इति घटस्य ज्ञातत्वं प्रतिसंधीयते। तेन, ज्ञाने जाते सति 'ज्ञातता नाम कश्चिद्धर्मो जातः' इत्यनुमीयते। सा च (ज्ञातता) ज्ञानात्पूर्वमजातत्वात्, ज्ञाने जाते च जातत्वाच्च, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां 'ज्ञानेन जन्यते' इत्यवधार्यते (तर्कभाषा पृ. २२)। ज्ञानस्य मितिः माता मेयम् तद्विषयकत्वात् त्रिपुटी तत्प्रत्यक्षता।

इन्द्रियबुद्धिजन्मलक्षणं ज्ञानं, ततोऽर्थप्राकट्यं, तस्मादर्थापत्तिः, तया प्रवर्तकज्ञानस्योपलम्भः" इत्येवंरूपा त्रिपुटीप्रत्यक्षकल्पना भट्टानां प्रयासफलैव ॥

इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमानसे ज्ञानके स्वयं संवेदक सिद्ध हो जानेपर भट्ट लोगोंकी त्रिपुटी प्रत्यक्षकी कल्पना करना भी बिलकुल व्यर्थ है। भट्ट लोगोंके अनुसार, (१) विद्यमान पदार्थोंके साथ इन्द्रिय और बुद्धिका संयोग होनेसे ज्ञान उत्पन्न होता है; (२) इस ज्ञानसे अर्थ-प्राकट्य, अर्थात् पदार्थका ज्ञान होता है, (३) पदार्थके ज्ञानसे होनेवाली अर्थापत्तिसे प्रकाशक ज्ञानका संवेदन होता है। इसे भट्ट लोगोंके मतमें त्रिपुटी प्रत्यक्ष कहा है।

यौगास्त्वाहुः। ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यम्, ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात्, घटवत्। समुत्पन्नं हि ज्ञानमेकात्मसमवेतानन्तरोद्भविष्णुमानसप्रत्यक्षेणैव लक्ष्यते, न पुनः स्वेन। न चैवमनवस्था। अर्थावसायिज्ञानोत्पादमात्रेणैवार्थसिद्धौ प्रमातुः कृतार्थत्वात्। अर्थज्ञानजिज्ञासायां तु तत्रापि ज्ञानमुत्पद्यत एवेति। तदयुक्तम्। पक्षस्य प्रत्यनुमानबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। तथाहि। विवादास्पदं ज्ञानं स्वसंविदितं, ज्ञानत्वात्, ईश्वरज्ञानवत्। न चायं बाध्यप्रतीतो दृष्टान्तः, पुरुषविशेषस्येश्वरतया जैनैरपि स्वीकृतत्वेन तज्ज्ञानस्य तेषां प्रसिद्धेः॥

न्यायवैशेषिक—ज्ञान दूसरेसे प्रकाशित होता है, क्योंकि वह ईश्वर-ज्ञानसे भिन्न हो कर प्रमेय है (ईश्वरीय ज्ञानके अतिरिक्त न्याय-वैशेषिकोंने सब ज्ञानोंको दूसरेसे प्रकाशित माना है), घटकी तरह। ज्ञान उत्पत्तिके बाद ही आत्माके मानस प्रत्यक्षका विषय होता है, अतएव ज्ञान स्वसंवेदक नहीं है। ज्ञानको दूसरेसे प्रकाशित माननेसे अनवस्था दोष नहीं आता। क्योंकि पदार्थको जानने मात्रसे ही प्रमाताका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। तथा जब प्रमाताको पदार्थोंको जाननेकी जिज्ञासा होती है, उस समय ज्ञान उत्पन्न होता है। **समाधान**—इस अनुमानका पक्ष 'ज्ञान स्वयं संवेदन रूप है, ज्ञान होनेसे, ईश्वर-ज्ञानकी तरह' इस प्रत्यनुमानसे बाधित है, इस लिये यह हेतु प्रकरणसम (कालात्ययापदिष्ट ?) हेत्वाभास है। यहां ईश्वर-ज्ञानका दृष्टांत जैनोंको भी मान्य है, क्योंकि वे लोग भी पुरुष विशेषको ईश्वर मानते हैं।

व्यर्थविशेष्यश्चात्र तव हेतुः समर्थविशेषणोपादानेनैव साध्यसिद्धेः। अग्निसिद्धौ धूमवत्त्वे सति द्रव्यत्वादितिवद्, ईश्वरज्ञानान्यत्वादित्येतावतैव गतत्वात्। न हीश्वरज्ञानादन्यत् स्वसंविदितमप्रमेयं वा ज्ञानमस्ति, यद्व्यवच्छेदाय प्रमेयत्वादिति क्रियेत। भवन्मते तदन्यज्ञानस्य सर्वस्य प्रमेयत्वात् ॥

इसके अतिरिक्त, आप लोगोका हेतु व्यर्थविशेष्य अथवा असमर्थविशेष्य दोषसे दूषित है। जैसे 'यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूमवान हो कर द्रव्य है,' इस अनुमानमें 'धूमवान' विशेषण देनेसे ही अग्निकी सिद्धि हो जाती है, अतएव धूमवान

हेतुका द्रव्यत्व रूप विशेष्य देना व्यर्थ है, उसी तरह '. ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यं ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात् घटवत् ' इस अनुमानमें ' ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति ' विशेषण देना ही पर्याप्त है, अतएव प्रमेयत्व हेतु व्यर्थ है। क्योंकि ईश्वरके ज्ञानको छोड़ कर कोई ज्ञान स्वयं संविदित और अप्रमेय नहीं है, जिसकी प्रमेयत्व हेतुसे व्यावृत्ति की जा सके।

अप्रयोजकश्चायं हेतुः । सोपाधित्वात् । साधनाव्यापकः साध्येन समव्याप्तिश्च खलु उपाधिरभिधीयते । तत्पुत्रत्वादिना श्यामत्वे साध्ये शाकाद्याहारपरिणामवत् । उपाधिश्चात्र जडत्वम् । तथाहि ईश्वरज्ञानान्यत्वे प्रमेयत्वे च सत्यपि यदेव जडं स्तम्भादि तदेव स्वस्मादन्येन प्रकाश्यते । स्वप्रकाशे परमुखप्रेक्षित्वं हि जडस्य लक्षणं । न च ज्ञानं जडस्वरूपम् । अतः साधनाव्यापकत्वं जडत्वस्य । साध्येन समव्याप्तिकत्वं चास्य स्पष्टमेव । जाड्यं विहाय स्वप्रकाशाभावस्य, तं च त्यक्त्वा जाड्यस्य क्वचिदप्यदर्शनात् इति ॥

तथा, उक्त हेतु साधनके साथ अव्यापक और साध्यके साथ व्यापक (सोपाधिक) होनेसे अप्रयोजक भी है। जैसे ' गर्भमें स्थित मैत्रका पुत्र श्याम वर्णका है, क्योंकि यह मैत्रका पुत्र है, मैत्रके अन्य पुत्रोंकी तरह ' (गर्भस्थः श्यामः मैत्रतनयत्त्वात् इतरतत्पुत्रवत्) यह अनुमान सोपाधिक होनेसे अप्रयोजक है, क्योंकि यहां मैत्रतनयत्व अप्रयोजक हेतु शाकपाकजत्व उपाधिके ऊपर अवलम्बित है। इस अनुमानमें मैत्रत्वनयत्व हेतु गर्भस्थ मैत्रके पुत्रको श्याम वर्णका सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि जो मैत्रके पुत्र नहीं हैं, वे भी श्याम देखे जाते हैं। इस लिये गर्भस्थ पुत्रके श्याम होनेमें माताके शाक आदिका भक्षण ही कारण हो सकता है। अतएव ' यत्र यत्र मैत्रतनयत्वं तत्र तत्र शाकपाकजत्वं ' यह न कह कर, हमें कहना चाहिये, ' यत्र यत्र श्यामत्वं तत्र तत्र शाकपाकजत्वम् ', इस लिये इस अनुमानमें ' शाकपाकजत्व ' उपाधि है। इसी प्रकार ' ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यं ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात् ' इस अनुमानमें ' जडत्व ' उपाधि है। क्योंकि केवल वही ज्ञान स्वान्यप्रकाश्य नहीं है, जो ईश्वरके ज्ञानके छोड़ कर प्रमेय हो, बल्कि वह ज्ञान स्वान्यप्रकाश्य है, जो ईश्वरके ज्ञानको छोड़ कर प्रमेय होता हुआ भी स्तंभ आदिकी तरह जड़ हो। अतएव स्वान्यप्रकाश्यके प्रयोजक होनेसे ' जडत्व ' उपाधि है। अतएव जिस प्रकार शाकपाकजत्व ' मैत्रतनयत्व ' साधनमें न रह कर ' श्यामत्व ' साध्यके साथ व्याप्त होनेसे उपाधि है, उसी तरह ' जडत्व ' ' ईश्वरज्ञानान्यत्वे सति प्रमेयत्वात् ' हेतुमें न रह कर ' स्वान्यप्रकाश्य ' साध्यके साथ रहता है, इस लिये उक्त अनुमानमें जड़त्वको उपाधि कहना चाहिए। क्योंकि जो अपने प्रकाशमें दूसरेका अवलंबन लेता है, उसे जड़ कहते हैं। ज्ञान जड़ रूप नहीं हो सकता। इस लिये

---

१ यत्र यत्र जाड्यं तत्र तत्र स्वप्रकाशाभावः । यत्र च स्वप्रकाशाभावस्तत्र तत्र जाड्यमिति सम्यग्हेतौ त्वेकविधैव व्याप्तिः । न हि भवति यत्र यत्राग्निस्तत्र तत्र धूम इति । अङ्गारावस्थायां धूमानुपलम्भनात् ।

जड़त्व ईश्वर ज्ञानसे भिन्न और प्रमेय ज्ञान रूप साधनमें नहीं रहता। स्वान्यप्रकाश साध्यके साथ जड़त्वकी व्याप्ति है, क्योंकि जड़त्वको छोड़ कर स्वान्यप्रकाशकत्व, और स्वान्यप्रकाशत्वको छोड़ कर जड़त्व नहीं रहता।

यच्चोक्तं समुत्पन्नं हि ज्ञानमेकात्मसमवेतम् इत्यादि । तदप्यसत्यम् । इत्थमर्थज्ञानतज्ज्ञानयोरुत्पद्यमानयोः क्रमानुपलक्षणत्वात्। आशूत्पादात्क्रमानुपलक्षणमुत्पलपत्रशतव्यतिभेदवद् इति चेत्। तन्न। जिज्ञासाव्यवहितस्यार्थज्ञानस्योत्पादप्रतिपादनात् । न च ज्ञानानां जिज्ञासासमुत्पाद्यत्वं घटते । अजिज्ञासितेष्वपि योग्यदेशेषु विषयेषु तदुत्पादप्रतीतेः । न चार्थज्ञानमयोग्यदेशम् । आत्मसमवेतस्यास्य समुत्पादात् । इति जिज्ञासामन्तरेणैवार्थज्ञाने ज्ञानोत्पादप्रसङ्गः। अथोत्पद्यतां नामेदं को दोषः इति चेत्, नन्वेवमेव तज्ज्ञानज्ञानेऽप्यपरज्ञानोत्पादप्रसङ्गः। तत्रापि चैवमेयम्। इत्यपरापरज्ञानोत्पादपरम्परायामेवात्मनो व्यापारात् न विषयान्तरसंचारः स्यादिति । तस्माद्यज्ज्ञानं तदात्मबोधं प्रत्यनपेक्षितज्ञानान्तरव्यापारम्, यथा गोचरान्तरग्राहिज्ञानात् प्राग्भाविगोचरान्तरग्राहि[1]धारावाहिज्ञानप्रबन्धस्यान्त्यज्ञानम्। ज्ञानं च विवादाध्यासितं रूपादिज्ञानम्, इति न ज्ञानस्य ज्ञानान्तरज्ञेयता युक्तिं सहते ॥ इति काव्यार्थः ॥ १२ ॥

तथा, आप लोगोंने जो कहा, कि ज्ञानके उत्पन्न होते ही ज्ञान मानस प्रत्यक्षका विषय होता है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले ज्ञान और ज्ञानके ज्ञानमें पदार्थका ज्ञान पहले होता है, और पदार्थके ज्ञानका ज्ञान पीछे होता है, ऐसा कोई क्रम नहीं देखा जाता। यदि आप कहें, कि पदार्थका ज्ञान और पदार्थके ज्ञानका ज्ञान दोनों क्रमसे ही होते हैं, परन्तु यह क्रम इतनी शीघ्रतासे होता है, कि उसे हम नहीं देख सकते। जैसे कमलके पत्तोंके ढेरको सूईसे वींधते समय हमें ऐसा प्रतीत होता है, कि हमने सभी पत्तोंका एक ही साथ वेधन किया है, परन्तु वास्तवमें इनके वींधनेमें सूक्ष्म क्रम रहता है, उसी तरह ज्ञान और ज्ञानके ज्ञानमें भी सूक्ष्म क्रम रहता है। यह ठीक नहीं। क्योंकि आप लोगोंने स्वयं पहले और दूसरे ज्ञानमें ज्ञानकी जिज्ञासाका होना स्वीकार किया है, इस लिये आप यह नहीं कह सकते, कि एक ज्ञानके बाद ही दूसरा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, और दोनोंमें क्रम नहीं देखा जाता। तथा, ज्ञान जिज्ञासासे उत्पन्न नहीं होता, बल्कि इन्द्रियोंके विषयोंके जानने योग्य स्थानमें होनेपर विना विषयोंकी जिज्ञासाके भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। तथा पदार्थोंका ज्ञान अयोग्य स्थानमें नहीं है, जिससे वह विना जिज्ञासाके ज्ञानका विषय न हो सके। क्योंकि यह पदार्थका ज्ञान आत्मामें ही उत्पन्न होता है, अतएव हमारी जिज्ञासाके विना ही पदार्थोंका ज्ञान होता है। यदि कहो, कि जिज्ञासाके विना ही अर्थज्ञानका

---

[1] एकस्मिन्नेव घटे 'घटोऽयम्' 'घटोऽयम्' इत्येवमुत्पद्यमानान्युत्तरोत्तरज्ञानानि धारावाहिकज्ञानानि ।

ज्ञान होता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि विना जिज्ञासाके ज्ञानकी उत्पत्ति होती हो, तो एक पदार्थके ज्ञानमें ज्ञानकी अनंत परंपरा माननी पड़ेगी, इस लिये इस ज्ञान परम्पराको जाननेमें लगे रहनेके कारण आत्मा पदार्थोंका ज्ञान ही न कर सकेगा। अतएव ज्ञानको स्वसंवेदनमें दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। जैसे घटका निश्चय न होनेके समय तक 'यह घट है,' 'यह घट है' इस प्रकारक धारावाहिकज्ञानके अंतिम ज्ञानमें दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती, उसी तरह ज्ञान भी स्वसंवेदनमें दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा नहीं रखता। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—जैनसिद्धांतके अनुसार ज्ञान अपने आपको जानता है (स्वाववोधक्षम), और दूसरे पदार्थोंको भी जानता है (अर्थावबोधक्षम)।

कुमारिलभट्ट—ज्ञान अपने आपको नहीं जानता। अनुमान भी है—'ज्ञान स्वसंविदित नहीं हैं, क्योंकि ज्ञानमें क्रिया नहीं हो सकती। जैसे चतुरसे चतुर नट भी अपने कंधेपर नहीं चढ़ सकता, तथा पैनीसे पैनी तलवारकी धार भी अपने आपको नहीं काट सकती, वैसे ही ज्ञानमें भी क्रिया नहीं हो सकती' (ज्ञानं स्वसंविदितं न भवति स्वात्मनि क्रिया-विरोधात्। न हि सुशिक्षितोऽपि नटबटुः स्वस्कंधमधिरोढुं क्षमः। न च सुतीक्ष्णाप्यसिधारा स्वं छेत्तुमाहितव्यापारा)। **जैन**—यह ठीक नहीं। जैसे दीपक अपने और दूसरेको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान भी निज और पर पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है। तथा एक ही पदार्थमें कर्त्ता और कर्मका ज्ञान होना अनुभवसे सिद्ध है, इस लिये 'स्वयं ज्ञानमें क्रिया नहीं होती' (स्वात्मनि क्रियाविरोधात्), यह हेतु भी दूषित है।

भट्ट—हम लोगोंके अनुसार (१) पदार्थोंसे इन्द्रिय और बुद्धिका संबंध होनेपर इन्द्रिय और बुद्धिसे ज्ञान पैदा होता है; इसके बाद (२) पदार्थोंका प्राकट्य होता है (अर्थप्राकट्य); उसके बाद (३) यह ज्ञान होता है, कि पदार्थोंका ज्ञान हुआ है। जैसे घटसे इन्द्रिय और बुद्धिका संबंध होनेसे घटका ज्ञान होनेपर यह ज्ञान होता है, कि मैंने घटको जाना है। बादमें घटका ज्ञान होनेपर घटका प्राकट्य (ज्ञातता) होता है। यह घट-प्राकट्य ज्ञानके पहले नहीं होता, ज्ञानके उत्पन्न होनेपर ही होता है, अतएव यह ज्ञानसे उत्पन्न हुआ कहा जाता है। यह अर्थका प्राकट्य ज्ञानसे उत्पन्न होता है, अतएव हम अर्थ-प्राकट्यकी अन्यथानुपपत्तिसे ज्ञानको जानते हैं (तस्माद्यार्थापत्तिस्तया प्रवर्तकज्ञानस्योपलंभः)। हम लोग इस त्रिपुटी प्रत्यक्षको मानते हैं, इस लिये ज्ञान स्वसंवेदक नहीं हो सकता। **जैन**—आप लोग अर्थ-प्राकट्यको स्वतः सिद्ध नहीं कह सकते, जिससे अर्थ-प्राकट्यकी अर्थापत्तिसे ज्ञानकी उपलब्धि स्वीकार की जा सके। ज्ञातता स्वतः सिद्ध है, और ज्ञान स्वतः सिद्ध नहीं, इसमें कोई हेतु नहीं है? वास्तवमें ज्ञातताकी अपेक्षा ज्ञानका स्वतः सिद्ध होना अधिक मान्य हो सकता है।

भट्ट—यदि आप लोग ज्ञानको स्वसंवेद्य कहते हैं, तो हम अनुमान बनाते हैं—'ज्ञान अनुभव रूप हो कर भी अनुभूति (ज्ञान) नहीं है, ज्ञेय होनेसे, घटकी तरह (ज्ञानं अनुभवरूपमपि अनुभूतिर्न भवति अनुभाव्यत्वात् घटवत्), इस लिये ज्ञान स्वसंवेद्य नहीं हो सकता। **जैन**—पदार्थोंको जाननेकी अपेक्षा ज्ञान अनुभूति रूप तथा स्वयंका संवेदन करनेकी अपेक्षा अनुभाव्य रूप है। अतएव ज्ञान अनुभूति और अनुभाव्य दोनों ही हो सकता है।

न्यायवैशेषिक—ज्ञान स्वसंविदित नहीं होता, क्योंकि वह अनुव्यवसायगम्य है। हमारे मतमें 'यह घट है' इस व्यवसाय रूप ज्ञानके पश्चात् यह मानस ज्ञान होता है, कि 'मैं इस घटको घट रूपसे जानता हूं,' इस अनुव्यवसाय रूप ज्ञानसे ही पदार्थोंका ज्ञान होता है, अतएव 'ज्ञान दूसरेसे प्रकाशित होता है, क्योंकि वह ईश्वर-ज्ञानसे भिन्न होकर प्रमेय है, घटकी तरह' (ज्ञानं स्वान्यप्रकाश्यं ईश्वरज्ञानान्यत्त्वे सति प्रमेयत्त्वात् घटवत्)। तथा ज्ञानको दूसरेसे प्रकाशित माननेमें अनवस्था दोष नहीं आता, क्योंकि पदार्थको जानने मात्रसे ही प्रमाताका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। **जैन**—(१) उक्त अनुमान 'विवादाध्यासितं ज्ञानं स्वसंविदितम् ज्ञानत्वात् ईश्वरज्ञानवत्' इस प्रत्यनुमानसे बाधित है। इस लिये ज्ञानको स्वसंवेदक ही मानना चाहिये। तथा (२) यह अनुमान व्यर्थविशेष्य भी है, क्योंकि यहां 'ईश्वरज्ञानान्यत्त्व' हेतुके विशेष्य प्रमेयत्त्व हेतुके कहनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। तथा (३) उक्त हेतु अप्रयोजक होनेसे सोपाधिक भी है। क्योंकि 'स्वान्यप्रकाश्यं ईश्वरज्ञानान्यत्त्वे सति प्रमेयत्त्वात्' यह तर्क ज्ञानके साथ व्याप्त न हो कर जड़ पदार्थोंके साथ व्याप्त है, क्योंकि ईश्वर-ज्ञानसे भिन्न हो कर प्रमेय होनेपर भी स्तंभ वगैरह जड़ पदार्थ ही अपनेको छोड़ कर दूसरेसे प्रकाशित होते हैं।

अथ ये ब्रह्माद्वैतवादिनोऽविद्याअपरपर्यायमायावशात् प्रतिभासमानत्वेन विश्वत्रयवर्तिवस्तुप्रपञ्चमपारमार्थिकं समर्थयन्ते, तन्मतमुपहसन्नाह—

अब समस्त पदार्थोंको मायारूपसे स्वीकार करनेवाले ब्रह्माद्वैत वादियोंका खंडन किया जाता है—

माया सती चेद् द्वयतत्त्वसिद्धिरथासती हन्त कुतः प्रपञ्चः।
मायैव चेदर्थसहा च तत्किं माता च वन्ध्या च भवत्परेषाम्॥ १३॥

श्लोकार्थ—यदि माया सत् रूप है; तो ब्रह्म और माया दो पदार्थोंका सद्भाव होनेसे अद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि माया असत् है, तो तीनों लोकोंके पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि कहो, कि माया माया भी हो कर अर्थक्रिया करती है, तो जैसे एक ही स्त्री माता और वंध्या दोनों नहीं हो सकती, वैसे ही मायामें भी एक साथ दो विरोधी गुण नहीं रह सकते।

तैर्वादिभिस्तात्त्विकात्मब्रह्मव्यतिरिक्ता या माया—अविद्या प्रपञ्चहेतुःपरिकल्पिता, सा सद्रूपा असद्रूपा वा द्वयी गतिः। सती-सद्रूपा चेत् तदा द्वयतत्त्वसिद्धिः—द्वाववयवौ यस्य तद् द्वयं, तथाविधं यत् तत्त्वं परमार्थः, तस्य सिद्धिः। अयमर्थः। एकं तावत् त्वदभिमतं तात्त्विकमात्मब्रह्म, द्वितीया च माया तत्त्वरूपा सद्रूपतयाङ्गीक्रियमाणत्वात्। तथा चाद्वैतवादस्य मूले निहितः कुठारः। अथेति पक्षान्तरद्योतने। यदि असती—गगनाम्भोजवदवस्तुरूपा सा माया ततः। हन्त इत्युपदर्शने आश्चर्ये वा। कुतः प्रपञ्चः। अयं त्रिभुवनोदरविवरवर्तिपदार्थसार्थरूपप्रपञ्चः कुतः। न कुतोऽपि संभवतीत्यर्थः। मायाया अवस्तुत्वेनाभ्युपगमात् अवस्तुनश्च तुरङ्गशृङ्गस्येव सर्वोपाख्याविरहितस्य साक्षात्क्रियमाणेदृशविवर्तजननेऽसमर्थत्वात्। किलेन्द्रजालादौ मृगतृष्णादौ वा मायोपदर्शितार्थानामर्थक्रियायामसामर्थ्यं दृष्टम् अत्र तु तदुपलम्भात् कथं मायाव्यपदेशः श्रद्धीयताम्। अथ मायापि भविष्यति, अर्थक्रियासमर्थपदार्थोपदर्शनक्षमा च भविष्यति इति चेत्, तर्हि स्ववचनविरोधः। न हि भवति माता च वन्ध्या चेति। एनमेवार्थं हृदि निधायोत्तरार्धमाह। मायैव चेदित्यादि। अत्रैवकारोऽप्यर्थः। अपि च समुच्चयार्थः। अग्रेतनचकारश्च तथा। उभयोश्च समुच्चयार्थयोर्यौगपद्यद्योतकत्वं प्रतीतमेव। यथा रघुवंशे "ते च[1] प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः"। इति। तदयं वाक्यार्थः माया च भविष्यति अर्थसहा च भविष्यति। अर्थसहा—अर्थक्रियासमर्थपदार्थोपदर्शनक्षमा। चेच्छब्दोऽत्र योज्यते इति चेत्, एवं परमाशङ्क्य तस्य स्ववचनविरोधमुद्भावयति। तत् किं भवत् परेषां माता च वन्ध्या च। किमिति—संभावने। संभाव्यत एतत् भवतो ये परे—प्रतिपक्षाः, तेषां भवत्परेषां भवद्व्यतिरिक्तानां, भवदाज्ञापृथग्भूतत्वेन तेषां वादिनां, यन्माता च भविष्यति, वन्ध्या च भविष्यतीत्युपहासः। माता हि प्रसवधर्मिणी वनितोच्यते। वन्ध्या च तद्विपरीता। ततश्च माता चेत्कथं वन्ध्या वन्ध्या चेत्कथं माता तदेवं। मायाया अवास्तव्या अप्यर्थसहत्वेऽङ्गीक्रियमाणे, प्रस्तुतवाक्यवत् स्पष्ट एव स्ववचनविरोधः। इति समासार्थः॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्माद्वैत वादियोंने जो तत्व रूप, आत्मब्रह्मसे भिन्न माया (अविद्या) को प्रपंचका कारण स्वीकार किया है, वह माया सत् रूप है, या असत् रूप? यदि माया सत् है, तो ब्रह्म और माया दो पदार्थोंके अस्तित्व होनेसे अद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि अद्वैत वादियोंने एक आत्मा (ब्रह्म) को ही सत् पदार्थ स्वीकार किया है, इस लिये यदि माया भी सत् हो, तो अद्वैतके मूलमें ही कुठाराघात होता है। यदि मायाको आकाशके फूल की तरह अवस्तु स्वीकार करो, तो संसारके किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि मायाके अवस्तु होनेसे आकाशके फूलकी तरह वह प्रत्यक्षसे दृष्टिगोचर

---

[1] अन्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्। इत्युत्तरार्धम्। रघुवंशे १०–६।

होनेवाले प्रपंचको उत्पन्न नहीं कर सकती । इन्द्रजाल तथा मृगतृष्णा आदिमें मायाद्वारा दिखाये जानेवाले पदार्थ अर्थक्रिया नहीं करते । परन्तु समस्त पदार्थोंमें अर्थक्रिया देखनेमें आती है, अतएव इन पदार्थोंमें मायाका व्यवहार नहीं हो सकता । यदि आप लोग कहें, कि माया माया भी है, और वह अर्थक्रिया भी करती है, यह ठीक नहीं । क्योंकि इसमें स्ववचन विरोध आता है । जिस प्रकार एक ही स्त्री माता और वंध्या दोनों नहीं हो सकती, वैसे ही माया भी माया (अवस्तु) हो कर अर्थक्रिया (वस्तु) नहीं कर सकती ।

व्यासार्थस्त्वयम् । ते वादिन इदं प्रणिगदन्ति । तात्त्विकमात्मब्रह्मैवास्ति—

"सर्वं[1] वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन" ॥

इति समयात् । अयं तु प्रपञ्चो मिथ्यारूपः, प्रतीयमानत्वात् । यदेवं तदेवम् । यथा शुक्तिशकले कलधौतम् । तथा चायं, तस्मात् तथा ॥

वेदान्ती—हमारे मतसें एक ब्रह्म ही सत् है । कहा भी है "यह सब ब्रह्मका ही स्वरूप है, इसमें नाना रूप नहीं हैं, ब्रह्मके प्रपंचको सब लोग देखते हैं, परन्तु ब्रह्मको कोई नहीं देखता ।" तथा, 'यह प्रपंच मिथ्या है, क्योंकि मिथ्या प्रतीत होता है । जो मिथ्या प्रतीत होता है, वह मिथ्या है, जैसे सीपके टुकडेमें चांदी मिथ्या प्रतीत होती है । उसी तरह यह दृश्यमान प्रपंच भी मिथ्या प्रतीत होता है, इस लिये यह मिथ्या है ।'

तदेतद्वार्तम् । तथाहि । मिथ्यारूपत्वं तैः कीदृग् विवक्षितम् । किमत्यन्तासत्त्वम्, उतान्यस्यान्याकारतया प्रतीतत्वम्, आहोस्विदनिर्वाच्यत्वम् ? प्रथमपक्षे असत्ख्याति[2]प्रसङ्गः । द्वितीये विपरीतख्यातिस्वीकृतिः । तृतीये तु किमिदमनिर्वाच्यत्वम् ? निःस्वभावत्वं चेत्, निसः प्रतिषेधार्थत्वे, स्वभावशब्दस्यापि भावाभावयोरन्यतरार्थत्वे, असत्ख्यातिसत्ख्यात्यभ्युपगमप्रसंगः । भावप्रतिषेधेअसत्ख्यातिः, अभावप्रतिषेधे सत्ख्यातिरिति । प्रतीत्यगोचरत्वं निःस्वभावत्वमिति चेत् । अत्र विरोधः । स प्रपञ्चो हि न प्रतीयते चेत् कथं धर्मितयोपात्तः । कथं च प्रतीयमानत्वं हेतुतयोपात्तम् । तथोपादाने वा कथं न प्रतीयते । यथा प्रतीयते न तथेति चेत्, तर्हि विपरीतख्यातिरियमभ्युपगता स्यात् ॥

जैन—आप लोगोंने जो दृश्यमान प्रपंचको मिथ्या कहा है, सो आपका मिथ्यात्वसे क्या अभिप्राय है ? (१) यदि वंध्याके पुत्रकी तरह अत्यंत असत्वको मिथ्यात्व कहते हो, तो असत्ख्याति दोष आता है । शून्यवादी बौद्धोंके अनुसार समस्त पदार्थोंका ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि समस्त पदार्थ असत् हैं । अतएव जब हमें सीपमें चांदीका ज्ञान होता है, उस

---

[1] छांदोग्य उ. ३–१४ । [2] आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा । तथानिर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम् ॥ षड्विधाः ख्यातिरित्यन्ये मन्यन्ते ।

समय असत् रूप चांदी सत् रूपमें प्रतिभासित होती है। अतएव विपरीत ज्ञानका विषय सर्वथा असत् है। क्योंकि असत् पदार्थोंको सत् रूप देखना ही विपरीत ज्ञान है। असत्-ख्याति वादियोंके मतमें पदार्थ और पदार्थका ज्ञान दोनों ही असत् हैं। परन्तु वेदान्ती लोग शून्यवादियोंकी असत्ख्यातिको स्वीकार नहीं करते। (२) यदि एक पदार्थके दूसरे रूपमें प्रतिभासित होनेको मिथ्या कहो, तो विपरीतख्याति दोष आता है। नैयायिक आदि मतके अनुसार जब सीपमें चांदीका मिथ्या ज्ञान होता है, उस समय सीप चांदीके रूपमें प्रतिभासित होती है, इस लिये एक पदार्थको दूसरे पदार्थके रूपमें जानना ही मिथ्या है, वास्तवमें सीप अथवा चांदीमें कोई मिथ्यापन नहीं। इस विपरीत अथवा अन्यथाख्यातिमें दो पदार्थोंके सद्भाव (द्वैत) होनेके कारण वेदान्ती लोग इसे भी स्वीकार नहीं करते। (३) यदि अनिर्वचनीयत्व अर्थात् निस्स्वभात्वको मिथ्यात्व कहो, तो 'निस्स्वभावत्व' शब्दमें स्वभावका अर्थ (क) 'भाव' करनेपर असत्ख्याति दोष आता है, परन्तु यह असत्ख्याति वेदान्तियोंको मान्य नहीं है। (ख) यदि स्वभावका अर्थ अभाव किया जाय, तो सत्ख्याति दोष आता है। रामानुजका सिद्धांत है, कि जब सीपमें चांदीका मिथ्या ज्ञान होता है, उस समय इस मिथ्या ज्ञानका विषय मिथ्या नहीं होता, क्योंकि सीपमें चांदीके परमाणु मिले रहते हैं, इसीलिये सीपमें चांदीका ज्ञान होता है। परन्तु यह सत्ख्याति भी वेदान्तियोंको मान्य नहीं है। (ग) यदि दृश्यमान प्रपंचके ज्ञानके विषय न होनेको निस्स्वभाव कहो, तो 'अर्थप्रपंचः मिथ्यारूपः प्रतीयमानत्वात्' इस अनुमानमें 'प्रपंच' को पक्ष नहीं बना सकते। तथा प्रपंचके ज्ञानका विषय न होनेसे 'प्रतीयमानत्व' हेतु भी नहीं बन सकता। तथा प्रतीयमानत्व हेतुके होनेसे अर्थ प्रपंचको प्रतीयमान होना चाहिये। (घ) यदि कहो, कि अर्थ प्रपंच जैसा है, वैसा प्रतिभासित नहीं होता, यही निस्स्वभावत्वका अर्थ है, तो इसे स्वीकार करनेमें फिर विपरीतख्याति माननी पड़ेगी, जिसे मायावादी स्वीकार नहीं करते।

किञ्च, इयमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षबाधिता। घटोऽयमित्याद्याकारं हि प्रत्यक्षं प्रपञ्चस्य सत्यतामेव व्यवस्यति। घटादिप्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदात्मनस्तस्योत्पादात्। इतरेतरविविक्तवस्तूनामेव च प्रपञ्चशब्दवाच्यत्वात्। अथ प्रत्यक्षस्य विधायकत्वात् कथं प्रतिषेधे सामर्थ्यम्। प्रत्यक्षं हि इदमिति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति, नान्यत्स्वरूपं प्रतिषेधति।

"आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः।
नैकत्व आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते"॥

इति वचनात्, इति चेत्। न। अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः। पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नीलं नीलमिति गृहीतं भवति, नान्यथा। केवलवस्तुस्वरूपप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्। मुण्डभूतलग्रहणे घटाभाव-

ग्रहणवत् । तस्माद् यथा प्रत्यक्षं विधायकं प्रतिपन्नं, यथा निषेधकमपि प्रतिपत्तव्यम् । अपि च, विधायकमेव प्रत्यक्षमित्यङ्गीकृते, यथा प्रत्यक्षेण विद्या विधीयते, तथा किं नाविद्यापीति । तथा च द्वैतापत्तिः । ततश्च सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः । तदमी वादिनोऽविद्याविवेकेन सन्मात्रं प्रत्यक्षात् प्रतियन्तोऽपि न निषेधकं तदिति ब्रुवाणाः कथं नोन्मत्ताः । इति सिद्धं प्रत्यक्षबाधितः पक्ष इति ॥

तथा, जगत की यह अनिर्वाच्यता (निस्स्वभावता) प्रत्यक्षसे बाधित है, क्योंकि जगतके होनेपर ही यह घट है, यह प्रत्यक्ष हो सकता है। क्योंकि घट आदिसे निश्चित पदार्थोंका ही प्रत्यक्षसे ज्ञान होता है। तथा, एक दूसरेसे भिन्न पदार्थोंको प्रपंच कहते हैं। अतएव प्रपंचको अनिर्वाच्य माननेसे प्रत्यक्षसे बाधा आती है। **शंका**—प्रत्यक्ष विधि रूप ही है, निषेध रूप नहीं, इस लिये प्रत्यक्ष वस्तुके स्वरूपको ग्रहण कर सकता है, वस्तुके स्वरूपका प्रतिषेध नहीं कर सकता। कहा भी है "प्रत्यक्ष विधि रूप है, निषेध रूप नहीं, अतएव वेदद्वारा प्रतिपादित एकत्व (अद्वैत) प्रत्यक्षसे बाध्य नहीं कहा जा सकता।" **समाधान**—विना किसी वस्तुका निषेध किये हुए विधि रूप ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे किसी पदार्थके पीलेपनका प्रतिषेध करके ही उसके नीलेपनका ज्ञान हो सकता है अथवा जिस प्रकार केवल पृथिवी कहनेसे पृथिवीपर रक्खे हुए घटका स्वयं ही प्रतिषेध हो जाता है, उसी तरह केवल वस्तुका स्वरूप जाननेके लिये अन्य वस्तुओंका प्रतिषेध स्वयं हो जाता है। अतएव प्रत्यक्ष केवल विधायक ही नहीं, वह विधि-प्रतिषेध दोनों ही रूप है। यदि प्रत्यक्षको केवल विधायक ही माना जाय, तो जिस प्रकार प्रत्यक्ष केवल विद्या (ब्रह्म) को विधि रूपसे जानता है, वैसे ही उसे अविद्याका भी विधायक मानना चाहिये। यदि प्रत्यक्षको अविद्याका भी विधायक माना जाय, तो विद्या और अविद्या, ब्रह्म और जगत दो पदार्थोंके होनेसे अद्वैत नहीं बन सकता। अतएव प्रत्यक्षको सन्मात्र ग्रहण करनेवाला माननेवाले अद्वैत वादियोंको प्रत्यक्षको निषेधात्मक भी मानना ही चाहिये। इस लिये आपका पक्ष प्रत्यक्षसे बाधित है।

अनुमानबाधितश्च । प्रपञ्चो मिथ्या न भवति, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत् । प्रतीयमानत्वं च हेतुर्ब्रह्मात्मना व्यभिचारी । स हि प्रतीयते, न च मिथ्या । अप्रतीयमानत्वे त्वस्य तद्विषयवचसामप्रवृत्तेर्मूकतैव तेषां श्रेयसी । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः । शुक्तिशकलकलधौतेऽपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन अनिर्वचनीयतायाः साध्यमानत्वात् । किञ्च, इदमनुमानं प्रपञ्चाद् भिन्नम् अभिन्नं वा ? यदि भिन्नं, तर्हि सत्यमसत्यं वा ? यदि सत्यं, तर्हि तद्वदेव प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वं स्यात् । अद्वैतवादप्राकारे खण्डिपातात् । अथासत्यम्, तर्हि न किञ्चित् तेन साधयितुं शक्यम्, अवस्तुत्वात् । अभिन्नं चेत्, प्रपञ्चस्वभावतया तस्यापि मिथ्यारूपत्वापत्तिः । मिथ्यारूपं च तत् कथं स्वसाध्यसा-

धनायालम् । एवं च प्रपञ्चस्यापि मिथ्यारूपत्वासिद्धेः कथं परमब्रह्मणस्तात्त्विकत्वं स्यात् यतो बाह्यार्थाभावो भवेदिति ॥

तथा, ‘ अर्थप्रपंचो मिथ्यारूपः प्रतीयमानत्वात् ’ यह अनुमान ‘ प्रपंचो मिथ्या न भवति असद्विलक्षणत्वात् आत्मवत् ’ इस प्रत्यनुमानसे बाधित है। यहां, प्रतीयमानत्व हेतु ब्रह्मके साथ व्यभिचारी है । क्योंकि ब्रह्म प्रतीयमान है, परन्तु मिथ्या नहीं है। यदि ब्रह्मको अप्रतीयमान मानो, तो ब्रह्मके विषयमें कोई भी चर्चा नहीं हो सकती, अतएव मौन रहना ही श्रेयस्कर होगा। तथा ‘ सीपमें चांदी ’ (शुक्तिशकले कलधौतं) का दृष्टान्त ‘ मिथ्यारूप ’ साध्यमें नहीं रहता, इस लिये हेतु साध्यविकल है । क्योंकि सीप और चांदी दोनों ही प्रपंचके अन्तर्भूत हैं, इस लिये इनमें भी अनिर्वचनीयत्व (मिथ्यात्व) साध्य ही है (इसे अनुपसंहारी हेत्वाभास भी कहते हैं) । तथा, आपका अनुमान प्रपंचसे भिन्न है, या अभिन्न ? यदि भिन्न है, तो सत्य है, या असत्य ? यदि अनुमान प्रपंचसे भिन्न हो कर सत्य है, तो प्रपंच भी सत्य होना चाहिये । तथा प्रपंचकी सत्यता स्वीकार करनेमें अद्वैत नहीं बनता । यदि अनुमान असत्य है, तो वह अवस्तु होनेसे साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता । यदि अनुमान प्रपंचसे अभिन्न है, तो प्रपंच रूप होनेसे अनुमान भी मिथ्या होना चाहिये, तथा मिथ्या अनुमान साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता । इस लिये जब प्रपंच मिथ्या रूप सिद्ध नहीं हो सकता, तो ब्रह्मकी तात्विकता भी सिद्ध नहीं हो सकती, जिससे बाह्य पदार्थोंका अभाव सिद्ध हो सके ।

अथवा प्रकारान्तरेण सन्मात्रलक्षणस्य परमब्रह्मणः साधनं दूषणं चोपन्यस्यते । ननु परमब्रह्मण एवैकस्य परमार्थसतो विधिरूपस्य विद्यमानत्वात् प्रमाणविषयत्वम् । अपरस्य द्वितीयस्य कस्यचिदप्यभावात् । तथाहि । प्रत्यक्षं तदावेदकमस्ति । प्रत्यक्षं द्विधा भिद्यते निर्विकल्पकसविकल्पकभेदात् । ततश्च निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सन्मात्रविषयात् तस्यैकस्यैव सिद्धिः । तथा चोक्तम्—

“ [1]अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ” ॥

न च विधिवत् परस्परव्यावृत्तिरप्यध्यक्षत एव प्रतीयते इति द्वैतसिद्धिः । तस्य निषेधाविषयत्वात् । “ आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ ” इत्यादिवचनात् । यच्च सविकल्पकप्रत्यक्षं घटपटादिभेदसाधकं, तदपि सत्तारूपेणान्वितानामेव तेषां प्रकाशकत्वात् सत्ताअद्वैतस्यैव साधकम् । सत्तायाश्च परब्रह्मरूपत्वात् । तदुक्तम्—“ यदद्वैतं तद् ब्रह्मणो रूपम् ” इति ॥

---

१ मीमांसाश्लोकवार्तिक ४ प्रत्यक्षसूत्रे ११२ ।

वेदान्ती—वास्तवमें विधि रूप एक ही परमार्थसत् ब्रह्म प्रमाणका विषय है। वह ब्रह्म प्रत्यक्षसे जाना जाता है। यह प्रत्यक्ष निर्विकल्पक और सविकल्पकके भेदसे दो प्रकारका है। सन्मात्रको जाननेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ब्रह्मकी सिद्धि होती है। कहा भी है “निर्विकल्पक ज्ञान बालक और गूंगे आदिके ज्ञानकी तरह वस्तु मात्रका जाननेवाला होता है, और यह ज्ञान सब ज्ञानोंके पहले होता है।” यदि कोई कहे, कि जैसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ब्रह्मका अस्तित्व सिद्ध करता है, वैसे ही यह ब्रह्मका अभाव भी सिद्ध करता है, इस लिये निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ब्रह्म और अब्रह्म दो पदार्थोंकी सिद्धि होनेसे द्वैतकी सिद्धि होती है, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि जैसा कि हमने ऊपर कहा है, प्रत्यक्ष प्रतिषेध रूप न हो कर विधायक ही होता है। तथा, घट, पट आदिके विकल्प (भेद) को ग्रहण करनेवाला सविकल्पक प्रत्यक्ष भी घट, पट आदिको भी सत्ता रूपसे ही जानता है, इस लिये सविकल्पक प्रत्यक्ष भी परब्रह्म रूप सत्ताका ही साधक है। क्योंकि सत्ता परब्रह्म रूप है। कहा भी है “अद्वैत ही ब्रह्मका स्वरूप है”

अनुमानादपि तत्सद्भावो विभाव्यत एव। तथाहि विधिरेव तत्त्वं, प्रमेयत्वात्। यतः प्रमाणविषयभूतोऽर्थः प्रमेयः। प्रमाणानां च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्तिसंज्ञकानां भावविषयत्वेनैव प्रवृत्तेः। तथा चोक्तम्—

“[1] प्रत्यक्षाद्यवतारः स्याद् भावांशो गृह्यते यदा।
व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते” ॥

यच्चाभावाख्यं प्रमाणं तस्य प्रामाण्याभावाद् न तत् प्रमाणम्। तद्विषयस्य कस्यचिदप्यभावात्। यस्तु प्रमाणपञ्चकाविषयः स विधिरेव। तेनैव च प्रमेयत्वस्य व्याप्तत्वात्। सिद्धं प्रमेयत्वेन विधिरेव तत्त्वम्, यत्तु न विधिरूपं, तद् न प्रमेयम्, यथा खरविषाणम्। प्रमेयं चेदं निखिलं वस्तुतत्त्वम्, तस्माद् विधिरूपमेव। अतो वा तत्सिद्धिः। ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात्, यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तः प्रविष्टम्, यथा प्रतिभासस्वरूपम्। प्रतिभासन्ते च ग्रामारामादयः पदार्थाः, तस्मात् प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः॥

‘विधि रूप ही तत्व है, प्रेमय होनेसे’ इस अनुमानसे भी परब्रह्मकी सिद्धि होती है। प्रमाणसे जानने योग्य पदार्थको प्रमेय कहते हैं, तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति प्रमाण विधि रूप ही हैं। कहा भी है “विधि रूप पदार्थोंके जाननेमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंकी प्रवृत्ति, और निषेध रूप पदार्थोंके जाननेमें प्रत्यक्ष आदिकी निवृत्ति होती है।” तथा, अभाव नामका कोई प्रमाण ही नहीं है, क्योंकि उसका कोई भी विषय नहीं। अतएव प्रत्यक्ष आदि पांचों प्रमाणोंका विषय विधि रूप ही है। यह विधि रूप ही प्रमेय है। अतएव

---

[1] मीमांसाश्लोकवार्तिक ५ अभावपरिच्छेदे १७।

विधि रूप ही तत्व है, प्रमेय होनेसे। जो विधि रूप नहीं है, वह प्रमेय भी नहीं है, जैसे गधेके सींग। सम्पूर्ण वस्तु तत्व प्रमेय है, इस लिये वह विधि रूप है। अथवा 'गांव, बगीचा आदि दृश्यमान जगत प्रतिभासमें गर्भित हो जाते हैं, प्रतिभासका विषय होनेसे। जो प्रतिभासका विषय है, वह प्रतिभासमें गर्भित हो जाता है। जैसे प्रतिभासका स्वरूप। गांव, बगीचे आदि प्रतिभासित होते हैं, इस लिये वे प्रतिभासके ही भीतर आ जाते हैं' इस अनुमानसे भी ब्रह्मकी सिद्धि होती है।

आगमोऽपि परमब्रह्मण एव प्रतिपादकः समुपलभ्यते "[1]पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।" "[2]यदेजति, यन्नैजति, यद्दूरे, यदन्तिके। यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य बाह्यतः" इत्यादिः। "[3]श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः अनुमन्तव्यः" इत्यादिवेदवाक्यैरपि तत्सिद्धेः। कृत्रिमेणापि आगमेन तस्यैव प्रतिपादनात्। उक्तं च–

"सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन" ॥

आगम भी ब्रह्मका प्रतिपादन करता है। जैसे "जो हुआ है, जो होगा; जो मोक्षका स्वामी है, आहारसे वृद्धिको प्राप्त होता है; गतिमान है, स्थिर है, दूर है, पास है, चेतन और अचेतन सबमें व्याप्त है और सबके बाह्य है, वह सब ब्रह्म ही है।" आदि। तथा, "अतएव ऐसे ब्रह्मको सुनना, मनन करना और निरन्तर स्मरण करना चाहिये।" आदि वेदके वाक्योंसे ब्रह्मकी सिद्धि होती है। स्मृति आदि पौरुषेय आगम भी ब्रह्मकी सिद्धि करते हैं। कहा भी है "यह सब ब्रह्मका ही स्वरूप है, ब्रह्मको छोड़ कर नाना रूप कुछ नहीं है, ब्रह्मकी पर्यायोंको सब देखते हैं, परन्तु ब्रह्म किसीको दिखाई नहीं देता।"

इति प्रमाणतस्तस्यैव सिद्धेः। परमपुरुष एक एव तत्त्वम्, सकलभेदानां तद्विवर्तत्वात्। तथाहि। सर्वे भावा ब्रह्मविवर्ताः सत्त्वैकरूपेणान्वितत्वात्। यद् यद्रूपेणान्वितं तत् तदात्मकमेव। यथा घटघटीशरावोदञ्चनादयो मृद्रूपेणैकेनान्विता मृद्विवर्ताः। सत्त्वैकरूपेणान्वितं च सकलं वस्तु। इति सिद्धं ब्रह्मविवर्तित्वं निखिलभेदानामिति ॥

इस प्रकार परब्रह्मके प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे सिद्ध होनेपर परब्रह्म ही एक तत्व सिद्ध होता है, दृश्यमान सम्पूर्ण भेद इस ब्रह्मकी ही पर्याय हैं। अतएव 'सम्पूर्ण पदार्थ

---

[1] ऋग्वेदपुरुषसूक्ते। [2] ईशावास्योपनिषदि। [3] बृहदारण्यक. उ। युक्तिभिरनुचिन्तनम् मननं। श्रुतस्यार्थस्य नैरन्तर्येण दीर्घकालमनुसंधानम् निदिध्यासनं।

ब्रह्मकी पर्याय हैं, क्योंकि संपूर्ण पदार्थ एक सत्ता रूपसे विद्यमान हैं। जो जिस रूपसे विद्यमान होता है, वह उसी रूप होता है। जैसे घट, घटी, शराव आदि मिट्टीके वर्तन मिट्टी रूपसे विद्यमान हैं, इस लिये सब मिट्टीकी पर्याय हैं। सम्पूर्ण पदार्थ एक सत्ता रूपसे, विद्यमान हैं; इस लिये सम्पूर्ण पदार्थ एक ब्रह्मकी ही पर्याय हैं'।

तदेतत् सर्वं मदिरारसास्वादगद्गदोद्गदितमिवाभासते, विचारासहत्वात्। सर्वं हि वस्तु प्रमाणसिद्धं, न तु वाङ्मात्रेण। अद्वैतमते च प्रमाणमेव नास्ति, तत्सद्भावे द्वैतप्रसङ्गात्। अद्वैतसाधकस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सद्भावात्। अथ मतम् लोकप्रत्यायनाय तदपेक्षया प्रमाणमप्यभ्युपगम्यते। तदसत्। तन्मते लोकस्यैवासम्भवात्, एकस्यैव नित्यनिरंशस्य परब्रह्मण एव सत्त्वात्॥

जैन—यह सब उन्मत्तों जैसा प्रलाप है। क्योंकि जब तक कोई वस्तु प्रमाणसे सिद्ध न की जाय, उस समय तक वह कथन मात्रसे प्रमाण नहीं मानी जा सकती। तथा अद्वैत वादियोंके कोई प्रमाण ही नहीं बन सकता। क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न किसी प्रमाणके माननेपर द्वैत मानना पड़ता है। यदि आप लोग कहें, कि व्यवहारिक दृष्टिसे ही हम लोग प्रमाण मानते हैं, वास्तवमें एक ब्रह्म ही सत्य है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि अद्वैत वादियोंके मतमें एक नित्य निरंश ब्रह्म ही सत्य है, इस लिये उनके व्यवहार ही नहीं बन सकता।

अथास्तु यथाकथञ्चित् प्रमाणमपि तत्किं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा तत्साधकं प्रमाणमुरीक्रियते। न तावत् प्रत्यक्षम्। तस्य समस्तवस्तुजातगतभेदस्यैव प्रकाशकत्वात्। आबालगोपालं तथैव प्रतिभासनात्। यच्च निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तदावेदकम् इत्युक्तम्। तदपि न सम्यक्। तस्य प्रामाण्यानभ्युपगमात्। सर्वस्यापि प्रमाणतत्त्वस्य व्यवसायात्मकस्यैवाविसंवादकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः। सविकल्पकेन तु प्रत्यक्षेण प्रमाणभूतेनैकस्यैव विधिरूपस्य परब्रह्मणः स्वप्नेऽप्यप्रतिभासनात्। यदप्युक्तं "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षम्" इत्यादि। तदपि न पेशलम्। प्रत्यक्षेण ह्यनुवृत्तव्यावृत्ताकारात्मकवस्तुन एव प्रकाशनात्। एतच्च प्रागेव क्षुण्णम्। न ह्यनुस्युतमेकमखण्डं सत्तामात्रं विशेषनिरपेक्षं सामान्यं प्रतिभासते। येन "यदद्वैतं तद्ब्रह्मणो रूपम्" इत्याद्युक्तं शोभेत। विशेषनिरपेक्षस्य सामान्यस्य खरविषाणवदप्रतिभासनात्। तदुक्तम्—

"निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि"[1]॥

यदि अद्वैतमें प्रमाणका सद्भाव मान भी लिया जाय, तो भी किसी प्रमाणसे ब्रह्म सिद्ध नहीं होता। प्रत्यक्षसे ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वह पदार्थोंके भेदोंको ही जानता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी ब्रह्मको सिद्ध नहीं करता, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

---

[1] मीमांसाश्लोकवार्तिक ५ आकृतिवादे १०।

प्रमाण ही नहीं हो सकता। कारण कि निश्चयात्मक और अविसंवादी ज्ञान ही प्रमाण होता है, निर्विकल्पक ज्ञान निश्चयात्मक नहीं है। इसी तरह सविकल्पक प्रत्यक्ष भी समस्त भेदोंसे रहित केवल विधि रूप परब्रह्मको नहीं जान सकता। तथा, प्रत्यक्षको केवल विधि रूप कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष सामान्य और विशेष रूप हो कर ही पदार्थोंको जानता है, यह पहले कहा जा चुका है। तथा, एक, शुद्ध, अखण्ड, केवल सत्ता रूप (ब्रह्म) सामान्य विशेषके विना कहीं नहीं रहता, जिससे यह कहा जा सके, कि "अद्वैत ही ब्रह्मका रूप है।" खरविषाणकी तरह विशेषके विना सामान्य कहीं भी संभव नहीं है। कहा भी है "जैसे विशेष रहित सामान्य खरविषाणकी तरह है, वैसे ही सामान्य रहित विशेष भी असंभव ह।" इस प्रकार प्रमाणसे जानने योग्य पदार्थोंके सामान्य-विशेष रूप सिद्ध होनेसे केवल सत्ता रूप ब्रह्म किसी भी प्रमाणका विषय नहीं हो सकता।

ततः सिद्धे सामान्यविशेषात्मन्यर्थे प्रमाणविषये कुत एवैकस्य परमब्रह्मणः प्रमाणविषयत्वम्। यच्च प्रमेयत्वादित्यनुमानमुक्तम्, तदप्येतेनैवापास्तं बोद्धव्यम्। पक्षस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। यच्च तत्सिद्धौ प्रतिभासमानत्वसाधनमुक्तम्, तदपि साधनाभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधनायालम्। प्रतिभासमानत्वं हि निखिलभावानां स्वतः परतो वा ? न तावत् स्वतः, घटपटमुकुटशकटादीनां स्वतः प्रतिभासमानत्वेनासिद्धेः। परतः प्रतिभासमानत्वं च परं विना नोपपद्यते इति। यच्च परमब्रह्मविवर्तवर्तित्वमखिलभेदानामित्युक्तम्। तदप्यन्वेत्रन्वीयमानद्वयाविनाभावित्वेन पुरुषाद्वैतं प्रतिबध्नात्येव। न च घटादीनां चैतन्यान्वयोऽप्यस्ति मृदाद्यन्वयस्यैव तत्र दर्शनात्। ततो न किञ्चिदेतदपि। अतोऽनुमानादपि न तत्सिद्धिः। किञ्च, पक्षहेतुदृष्टान्ता अनुमानोपायभूताः परस्परं भिन्नाः अभिन्ना वा ? भेदे द्वैतसिद्धिः। अभेदे त्वेकरूपतापत्तिः। तत् कथमेतेभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति। यदि च हेतुमन्तरेणापि साध्यसिद्धिः स्यात्, तर्हि द्वैतस्यापि वाङ्मात्रतः कथं न सिद्धिः। तदुक्तम्—

"हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद् विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्" ॥

तथा, 'विधिरेव तत्त्वं प्रमेयत्वात्' यह अनुमान भी इससे खंडित हो जाता है। क्योंकि प्रमेयत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधित) है, इस लिये 'विधिरेव तत्वं' यह प्रत्यक्षसे बाधित है, क्योंकि प्रत्यक्ष विधिकी तरह निषेध रूप भी है। तथा, ब्रह्मको सिद्ध करनेवाला 'प्रतिभासमानत्व' हेतु भी साधनाभास होनेसे साध्यकी सिद्धि नहीं करता। हम पूछते हैं, कि सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रतिभास स्वयं होता है, या दूसरेसे ? सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं प्रतिभासित नहीं

---

१ आप्तमीमांसा. २–२६।

हो सकते, क्योंकि घट, पट स्वतः प्रतिभासित होते हुए नहीं देखे जाते। पदार्थोंका दूसरेसे प्रतिभासित होना भी नहीं बन सकता, क्योंकि दूसरेसे प्रतिभासित होना दो पदार्थों (द्वैत) के विना संभव नहीं। तथा, 'सब पदार्थ एक ब्रह्मकी ही पर्याय हैं' (सर्वे भावाः ब्रह्मविवर्ताः) इस अनुमानमें भी अन्वेतृ (संबंध करनेवाले) और अन्वीयमान (जिसके साथ संबंध हो) दो संबंधोंके होनेसे अद्वैतकी सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि दो भिन्न भिन्न पदार्थोंका ही संबंध होता है। तथा घट आदिमें चैतन्य (ब्रह्म) का संबंध भी नहीं पाया जाता, क्योंकि घटका संबंध मिट्टीके साथ है। इस लिये अनुमानसे ब्रह्म सिद्ध नहीं होता। तथा, पक्ष, हेतु और दृष्टांतसे अनुमान बनता है। ये पक्ष, हेतु और दृष्टांत परस्पर भिन्न हैं, अथवा अभिन्न? भेद माननेसे द्वैत मानना चाहिये, और अभेद माननेसे पक्ष, हेतु और दृष्टांत एक हो जाते हैं, और पक्ष आदि तीनोंके एक होनेसे अनुमान नहीं बन सकता। यदि आप लोग अनुमानके विना साध्यकी सिद्धि मानें, तो वचन मात्रसे ही द्वैतकी सिद्धि मानना चाहिये। कहा भी है, "यदि हेतुसे अद्वैत सिद्ध किया जाय, तो हेतु और साध्यके होनेसे द्वैतकी सिद्धि होती है; यदि हेतुके विना ही अद्वैतकी सिद्धि मानो, तो वचन मात्रसे द्वैतकी सिद्धि भी माननी चाहिये।"

"पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादेः, "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादेश्चागमादपि न तत्सिद्धिः। तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेन अद्वैतं प्रति प्रामाण्यासम्भवात्। वाच्यवाचकभावलक्षणस्य द्वैतस्यैव तत्रापि दर्शनात्। तदुक्तम्—

"कर्मद्वैतं[1] फलद्वैतं लोकद्वैतं विरुध्यते।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा"॥

ततः कथमागमादपि तत्सिद्धिः। ततो न पुरुषाद्वैतलक्षणमेकमेव प्रमाणस्य विषयः। इति सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः॥ इति काव्यार्थः॥ १३॥

तथा, 'पुरुष एवेदं सर्वं', 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' आदि आगमसे भी ब्रह्म सिद्ध नहीं होता। क्योंकि आगममें वाच्य-वाचक संबंध होनेसे द्वैत ही सिद्ध होता है। कहा भी है "कर्म-फल, लोक-परलोक, विद्या-अविद्या, बंध-मोक्ष ये सब द्वैतको सिद्ध करते हैं।" अतएव आगमसे भी ब्रह्मकी सिद्धि नहीं होती। इस लिये केवल एक पुरुषाद्वैत किसी भी प्रमाणका विषय नहीं हो सकता। अतएव इस दृश्यमान प्रपंचको तात्विक ही मानना चाहिये। यह श्लोकका अर्थ है॥

भावार्थ—इस श्लोकमें अद्वैत वादियोंके मायावादकी समीक्षा की गई है। जैन लोगोंका कहना है, कि यदि माया भाव रूप है, तो ब्रह्म और माया दो वस्तुओंके होनेसे अद्वैत वादियोंका अद्वैत नही बनता; यदि माया अभाव रूप है, तो मायासे जगतकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि अद्वैत वादी मायाको मिथ्या रूप मान कर भी वस्तु (अर्थक्रियाकारी)

---

[1] आप्तमीमांसा २-२५।

स्वीकार करें, तो स्ववचन विरोध आता है, क्योंकि मिथ्या रूप और वस्तु दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

वेदान्ती—'यह प्रपंच मिथ्या है, क्योंकि मिथ्या प्रतीत होता है, जैसे सीपमें चांदीका ज्ञान मिथ्या प्रतीत होनेसे मिथ्या है' (अयं प्रपंचो मिथ्यारूपः प्रतीयमनात्वात्, यदेवं तदेवं यथा शुक्तिशकले कलधौतम्, तथा चायं तस्मात्तथा)। इस अनुमानसे जगत मिथ्या सिद्ध होता है। **जैन**—मिथ्या रूपसे आपका क्या अभिप्राय है? यदि (१) अत्यन्त असत्वको मिथ्या कहते हो, तो शून्यवादियोंकी असत्ख्याति, तथा (२) अन्य वस्तुके अन्य रूपमें प्रतिभासित होनेको मिथ्या कहते हो, तो नैयायिकोंकी विपरीतख्याति स्वीकार करनी चाहिए। यदि (३) मिथ्या रूपका अर्थ अनिर्वाच्य, अर्थात् निस्स्वभावत्व करते हो, तो 'निस्सभाव' में स्वभाव शब्दका अर्थ 'भाव' अथवा 'अभाव' करनेपर क्रमसे असत्ख्याति और सत्ख्याति स्वीकार करनी पड़ेगी। यदि कहो, कि ज्ञानके अगोचर होना ही निस्स्वभावत्व है, तो इस जगतके प्रपंचका ज्ञान नहीं होना चाहिये। तथा प्रपंचके ज्ञानका विषय न होनेसे प्रतीयमानत्व हेतु भी नहीं बन सकता। यदि अर्थप्रपंचके जैसेके तैसे प्रतिभासित होनेको निस्स्वभावत्व कहो, तो विपरीतख्याति माननी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त, यह अनुमान प्रत्यक्षसे भी बाधित है। **वेदान्ती**—हमारा अनुमान प्रत्यक्षसे बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण केवल सामान्य रूप ही है, वह विधि रूप ही वस्तुओंका ज्ञान करता है, निषेध रूप नहीं। **जैन**—प्रत्यक्ष केवल सामान्य रूप नहीं हो सकता, क्योंकि किसी वस्तुका निषेध किये विना उसका विधि रूप ज्ञान होना असंभव है, इस लिये प्रत्यक्षको सामान्यविशेषात्मक स्वीकार करके विधायक और निषेधक दोनों ही स्वीकार करना चाहिये। उक्त अनुमान 'प्रपंचो मिथ्या न भवति, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत्' इस प्रत्यनुमानसे बाधित भी है। तथा प्रतीयमानत्व हेतु ब्रह्मके साथ व्यभिचारी है।

वेदान्ती—निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ब्रह्मकी सिद्धि होती है, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सत्ता मात्रको जानता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे ब्रह्मका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष विधि रूप ही होता है, निषेध रूप नहीं। तथा पदार्थोंके भेदको ग्रहण करनेवाला सविकल्पक प्रत्यक्ष भी पदार्थोंको सत्ता रूपसे जानता है, इस लिये सविकल्पक प्रत्यक्ष भी ब्रह्मका साधक है। क्योंकि सत्ता परब्रह्म रूप है। 'विधिरेव तत्त्वं प्रमेयत्त्वात्' इस अनुमानसे भी ब्रह्मकी सिद्धि होती है। इसी तरह आगम आदि भी ब्रह्मके अस्तित्वके साधक हैं। **जैन**—निश्चयात्मक और विसंवादसे रहित ज्ञान ही प्रमाण होता है, इस लिये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कहा जा सकता। सविकल्पक प्रत्यक्ष भी समस्त भेदोंसे रहित केवल विधि रूप ब्रह्मको नहीं जान सकता। क्योंकि जिस प्रकार विशेष रहित सामान्य और सामान्य रहित विशेष वस्तुका ज्ञान असंभव

है, उसी तरह विधिके विना प्रतिषेध और प्रतिषेधके विना विधि रूप ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव प्रत्यक्ष भी सामान्य-विशेष रूप हो कर विधि और प्रतिषेध दोनों रूपसे ही पदार्थोंका ज्ञान करता है। ‘ विधिरेव तत्त्वं प्रमेयत्त्वात् ’ अनुमानमें भी प्रमेयत्त्व हेतु प्रत्यक्षसे बाधित है, क्योंकि प्रत्यक्ष विधि और निषेध दोनों तरहसे पदार्थोंका ज्ञान करता है, यह अनुभवगम्य है। तथा आगम प्रमाण माननेपर वाच्य-वाचक भाव माननेसे द्वैतकी ही सिद्धि होती है।

अथ स्वाभिमतसामान्यविशेषोभयात्मकवाच्यवाचकभावसमर्थनपुरःसरं तीर्थान्तरीयप्रकल्पिततदेकान्तगोचरवाच्यवाचकभावनिरासद्वारेण तेषां प्रतिभावैभवाभावमाह—

अब कथंचित् सामान्य और कथंचित् विशेषरूप वाच्य-वाचक भावका समर्थन करके प्रतिवादियोंद्वारा मान्य एकान्त सामान्य और एकान्त विशेष रूप वाच्य-वाचक भावका खंडन करते हैं—

अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम् ।
अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृप्तावतावकानां प्रतिभाप्रमादः ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार समस्त पदार्थ (वाच्य) अनेक हो कर भी एक हैं, उसी तरह उन पदार्थोंको कहनेवाले शब्द (वाचक) भी एक और अनेक हैं। आपके इस सिद्धांतको न माननेवाले प्रतिवादी लोग स्खलित होते हैं।

वाच्यम्—अभिधेयं, चेतनमचेतनं च वस्तु, एवकारस्याप्यर्थत्वात्। सामान्यरूपतया एकात्मकमपि व्यक्तिभेदेनानेकम्—अनेकरूपम्। अथवानेकरूपमपि एकात्मकम्। अन्योऽन्यं संवलितत्वादित्थमपि व्याख्याने न दोषः। तथा च वाचकम्—अभिधायकं, शब्दरूपम्। तदप्यवश्यम्—निश्चितं। द्वयात्मकं—सामान्यविशेषोभयात्मकत्वाद् एकानेकात्मकमित्यर्थः। उभयत्र वाच्यलिङ्गत्वेऽप्यव्यक्तत्वाद् नपुंसकत्वम्। अवश्यमिति पदं वाच्यवाचकयोरुभयोरप्येकानेकात्मकत्वं निश्चिन्वत् तदेकान्तं व्यवच्छिनत्ति। अतः—उपदर्शितप्रकारात्, अन्यथा—सामान्यविशेषैकान्तरूपेण प्रकारेण, वाचकवाच्यक्लृप्तौ वाच्यवाचकभावकल्पनायाम्, अतावकानाम्—अत्वदीयानाम्, अन्ययूथ्यानाम्। प्रतिभाप्रमादः—प्रज्ञास्खलितम्। इत्यक्षरार्थः। अत्र चाल्पस्वरत्वेन वाच्यपदस्य प्राग्निपाते प्राप्तेऽपि यदादौ वाचकग्रहणं, तत्प्रायोऽर्थप्रतिपादनस्य शब्दाधीनत्वेन वाचकस्यार्च्यत्वज्ञापनार्थम्। तथा च शाब्दिकाः—

“ न[1] सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ” ॥ इति ॥

---

[1] भर्तृहरिकृतवाक्यपदीये १–१२४।

व्याख्यार्थ—जैसे चेतन-अचेतन वस्तु (वाच्य) सामान्यसे एक हो कर भी व्यक्ति रूपसे अनेक, और विशेष रूपसे अनेक हो कर भी सामान्यसे एक है, वैसे ही चेतन और अचेतन वस्तुका वाचक भी सामान्य और विशेष होनेसे एक रूप और अनेक रूप है। वाच्य-वाचकको सामान्य-विशेष रूप न स्वीकार करनेवाले अन्यमवतालम्बी न्यायमार्गसे स्खलित होते हैं। वाच्य शब्दमें अल्प स्वर होनेसे वाच्यका वाचक शब्दसे पहले निपात होना चाहिये था, परन्तु अर्थका प्रतिपादन करना शब्दके आधीन है, यह बतानेके लिये वाचक शब्दको ही पहले रक्खा है। वैय्याकरणोंने कहा भी है " शब्दके संबंधके विना लोकमें कोई ज्ञान नहीं होता, सम्पूर्ण ज्ञान शब्दके साथ ही संबद्ध हैं। "

भावार्थस्त्वेवम्। एके तीर्थिकाः सामान्यरूपमेव वाच्यतयाभ्युपगच्छन्ति। ते च द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो मीमांसकभेदा अद्वैतवादिनः सांख्याश्च। केचिच्च विशेषरूपमेव वाच्यं निर्वचन्ति। ते च पर्यायास्तिकनयानुसारिणः सौगताः। अपरे च परस्परनिरपेक्षपदार्थपृथग्भूतसामान्यविशेषयुक्तं वस्तु वाच्यत्वेन निश्चिन्वते। ते च नैगमनयानुरोधिनः काणादाः, आक्षपादाश्च ॥

(१) केवल द्रव्यास्तिक नयको माननेवाले अद्वैतवादी, कोई मीसांसक और सांख्य सामान्यको ही सत् (वाच्य) स्वीकार करते हैं। (२) केवल पर्यायास्तिक नयको माननेवाले बौद्ध लोग विशेषको ही सत् मानते हैं। (३) केवल नैगम नयका अनुकरण करनेवाले न्यायवैशेषिक परस्पर भिन्न और निरपेक्ष सामान्य और विशेष दोनोंको स्वीकार करते हैं।

एतच्च पक्षत्रयमपि किञ्चित् चर्च्यते। तथाहि। संग्रहनयावलम्बिनो वादिनः प्रतिपादयन्ति। सामान्यमेव तत्त्वम्। ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात्। तथा सर्वमेकम्। अविशेषेण सदितिज्ञानाभिधानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताकत्वात्। तथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वम्। ततोऽर्थान्तरभूतानां धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामनुपलब्धेः। किञ्च, यैः सामान्यात् पृथग्भूता अन्योऽन्यव्यावृत्त्यात्मका विशेषाः कल्प्यन्ते, तेषु विशेषत्वं विद्यते न वा ? नो चेद् निःस्वभावताप्रसङ्गः। स्वरूपस्यैवाभावात्। अस्ति चेत् तर्हि तदेव सामान्यम्। यतः समानानां भावः सामान्यम्। विशेषरूपतया च सर्वेषां तेषामविशेषेण प्रतीतिः सिद्धैव ॥

(१) **अद्वैतवादी–मीमांसक–सांख्य**—सामान्य ही एक तत्व है, सामान्यसे भिन्न विशेष दृष्टिगोचर नहीं होते। सब पदार्थोंका सामान्य रीतिसे ज्ञान होता है, और सब पदार्थ ' सत् ' कहे जाते हैं, अतएव समस्त पदार्थ एक हैं। अतएव द्रव्यत्व ही एक तत्व है, क्योंकि द्रव्यत्वको छोड़ कर धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव नहीं पाये जाते। सामान्यसे भिन्न और एक दूसरेकी व्यावृत्ति रूप ' विशेष ' स्वीकार करनेवाले

वादियोंसे हम पूछते हैं, कि विशेषोंमें विशेषत्व रहता है, या नहीं ? यदि विशेषोंमें विशेषत्व नहीं रहता, तो इसका अर्थ यह हुआ, कि विशेष निस्वभाव हैं, क्योंकि विशेषोंमें विशेषत्व नहीं रहता। यदि विशेषोंमें विशेषत्व रहता है, तो इसी विशेषत्वको हम सामान्य कहते हैं। क्योंकि समानके भावको ही सामान्य कहा है, और इन सब समान भावों की सामान्य रूपसे प्रतीति होती है।

अपि च विशेषाणां व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्वं लक्षणम् । व्यावृत्तिप्रत्यय एव विचार्यमाणो न घटते। व्यावृत्तिर्हि विवक्षितपदार्थे इतरपदार्थप्रतिषेधः। विवक्षितपदार्थश्च स्वस्वरूपव्यवस्थापनमात्रपर्यवसायी, कथं पदार्थान्तरप्रतिषेधे प्रगल्भते। न च स्वरूपसत्त्वादन्यत् तत्र किमपि, येन तन्निषेधः प्रवर्तते। न च व्यावृत्तौ क्रियमाणायां स्वात्मव्यतिरिक्ता विश्वत्रयवर्तिनोऽतीतवर्तमानानागताः पदार्थास्तस्माद् व्यावर्तनीयाः। ते च नाज्ञातस्वरूपा व्यावर्तयितुं शक्याः। ततश्चैकस्यापि विशेषस्य परिज्ञाने प्रमातुः सर्वज्ञत्वं स्यात्। न चैतत्प्रातीतिकं यौक्तिकं वा। व्यावृत्तिस्तु निषेधः। स चाभावरूपत्वात् तुच्छः कथं प्रतीतिगोचरमञ्चति खपुष्पवत् ॥

तथा, विवक्षित पदार्थमें दूसरे पदार्थके निषेध करनेको व्यावृत्ति कहते हैं। इसी व्यावृत्ति प्रत्ययके हेतुको विशेष माना गया है, जैसे घटमें पटके निषेध करनेसे घटकी पटसे व्यावृत्ति होती है। परंतु यह विवक्षित पदार्थ (घट) अपने स्वरूपको ही सिद्ध कर सकता है, दूसरे पदार्थोंका निषेध नहीं कर सकता। यदि विवक्षित पदार्थ दूसरे पदार्थोंके निषेध करनेमें भी समर्थ हो, तो उसे तीनों लोकोंके भूत, भविष्य, वर्तमान पदार्थोंसे भी अपनी व्यावृत्ति करनी चाहिये। इस लिये जब तक तीनों लोकोंके भूत, भविष्य, और वर्तमान पदार्थोंका ज्ञान न हो, उस समय तक इन पदार्थोंकी व्यावृत्ति नहीं की जा सकती। इस लिये एक घटके ज्ञान करनेमें तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंसे घटकी व्यावृत्ति करनेके लिये प्रमाताको सर्वज्ञ होना पड़ेगा। यह न तो विश्वासके योग्य है, और न तर्कसे ही सिद्ध हो सकता है। तथा, निषेधको ही व्यावृत्ति कहा गया है, यह व्यावृत्ति अभाव रूप होनेसे तुच्छ है, इस लिये आकाश-कुसुमकी तरह अनुभवगम्य नहीं है।

तथा येभ्यो व्यावृत्तिः ते सद्रूपा असद्रूपा वा ? असद्रूपाश्चेत् तर्हि खरविषाणात् किं न व्यावृत्तिः। सद्रूपाश्चेत् सामान्यमेव । या चेयं व्यावृत्तिर्विशेषैः क्रियते सा सर्वासु विशेषव्यक्तिष्वेका अनेका वा ? अनेका चेत् तस्या अपि विशेषत्वापत्तिः, अनेकरूपत्वैकजीवितत्वाद् विशेषाणाम्। ततश्च तस्या अपि विशेषत्वान्यथानुपपत्तेर्व्यावृत्त्या भाव्यम्। व्यावृत्तेरपि च व्यावृतौ विशेषाणामभाव एव स्यात्। तत्स्वरूपभूताया व्यावृत्तेः प्रतिषिद्धत्वात्, अनवस्थापाताच्च। एका चेत् सामान्यमेव संज्ञान्तरेण प्रतिपन्नं स्यात्। अनुवृत्तिप्रत्ययलक्षणाव्यभिचारात्। किञ्च, अमी विशेषाः सामा-

न्याद् भिन्ना अभिन्ना वा? भिन्नाश्चेद् मण्डूकजटाभारानुकाराः। अभिन्नाश्चेत् तदेव तत्स्वरूपवत्। इति सामान्यैकान्तवादः॥

तथा, जिन पदार्थोंसे दूसरे पदार्थोंकी व्यावृत्ति की जाती है, वे पदार्थ सत् हैं, या असत्? यदि ये पदार्थ असत् हैं, तो असत् खरविषाणसे भी घटकी व्यावृत्ति की जानी चाहिये। यदि व्यावृत्त पदार्थोंको सत् मानो, तो उन पदार्थोंको सामान्य ही कहना चाहिये। तथा, विशेषोंके द्वारा की हुई व्यावृत्ति सब विशेषोंमें एक ही व्यावृत्ति होती है, अथवा सबमें अलग अलग व्यावृत्ति होती है। यदि व्यावृत्ति अनेक हैं, तो व्यावृत्तिको भी विशेष मानना चाहिये, क्योंकि अनेक रूपको ही विशेष कहते हैं। अतएव व्यावृत्तिके विशेष सिद्ध होनेपर व्यावृत्तिमें भी व्यावृत्ति होनी चाहिये, क्योंकि विशेष व्यावृत्तिके हेतु होते हैं। तथा, व्यावृत्तिमें व्यावृत्ति माननेपर, व्यावृत्ति व्यावृत्ति रूप सिद्ध नहीं हो सकती, अतएव विशेषोंका अभाव मानना चाहिये। तथा एक व्यावृत्तिमें अनेक व्यावृत्ति माननेसे अनवस्था दोष आता है। यदि सब विशेषोंमें एक ही व्यावृत्ति स्वीकार करो, तो उसे सामान्य ही मानना चाहिये। तथा, ये विशेष सामान्यसे भिन्न हैं, या अभिन्न? विशेषोंको सामान्यसे भिन्न मानना असंभव है। यदि विशेष सामान्यसे अभिन्न हैं, तो उन्हें सामान्य ही कहना चाहिये। इस लिये एक सामान्य ही तत्व है।

पर्यायनयान्वयिनस्तु भाषन्ते। विविक्ताः क्षणक्षयिणो विशेषा एव परमार्थः। ततो विष्वग्भूतस्य सामान्यस्याप्रतीयमानत्वात्। न हि गवादिव्यक्त्यनुभवकाले वर्णसंस्थानात्मकं व्यक्तिरूपमपहाय, अन्यत्किञ्चिदेकमनुयायि प्रत्यक्षे प्रतिभासते। तादृशस्यानुभवाभावात्। तथा च पठन्ति—

“ एतासु[1] पञ्चस्ववभासनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु।
साधारणं रूपमवेक्षते यः शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः ”

एकाकारपरामर्शप्रत्ययस्तु स्वहेतुदत्तशक्तिभ्यो व्यक्तिभ्य एवोत्पद्यते। इति न तेन सामान्यसाधनं न्याय्यम्॥

(२) **बौद्ध**—भिन्न और क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले विशेष ही तत्व हैं। विशेषको छोड़ कर सामान्य कोई अलग वस्तु नहीं है। गौको जानते समय हमें गौके वर्ण, आकार आदिके विशेष ज्ञानको छोड़ कर गौका केवल सामान्य ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि विशेष ज्ञानको छोड़ कर किसी पदार्थका सामान्य ज्ञान हमारे अनुभवके बाह्य है। कहा भी है“ जो पुरुष प्रत्यक्षसे स्पष्ट अलग अलग दिखाई देनेवाली पांच उंगलियोंमें केवल सामान्य रूपको देखता है, वह पुरुष अपने सिरपर सींग ही देखता है, अतएव पदार्थोंके विशेष ज्ञानको

---

[1] अशोकविरचितसामान्यदूषणदिक्ग्रन्थे।

छोड़ कर पदार्थोंका केवल सामान्य ज्ञान होना असंभव है।" तथा, एक रूप ज्ञान अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले व्यक्तियोंसे उत्पन्न होता है। अतएव सामान्य कोई वस्तु नहीं है।

किञ्च, यदिदं सामान्यं परिकल्प्यते तदेकमनेकं वा? एकमपि सर्वगतमसर्वगतं वा? सर्वगतं चेत्, किं न व्यक्त्यन्तरालेषूपलभ्यते। सर्वगतैकत्वाभ्युपगमे च तस्य यथा गोत्वसामान्यं गोव्यक्तीः क्रोडीकरोति, एवं किं न घटपटादिव्यक्तीरपि, अविशेषात्। असर्वगतं चेद् विशेषरूपापत्तिः अभ्युपगमबाधश्च ॥

तथा, सामान्य एक है, या अनेक? यदि सामान्य एक है, तो वह व्यापक है, या अव्यापक? यदि सामान्य व्यापक है, तो वह दो व्यक्तियों (गौओं) के व्यवधानमें क्यों नहीं रहता। तथा, सामान्यको एक माननेपर जैसे गोत्व सामान्य गौओंमें रहता है, वैसे ही वह घट, पट आदिमें भी रहना चाहिये, क्योंकि सामान्य एक है। यदि सामान्यको अव्यापक मानो, तो फिर इसे विशेष ही कहना चाहिये। तथा आप लोग सामान्यको अव्यापक नहीं मानते हैं।

अथानेकं गोत्वाश्वत्वघटत्वपटत्वादिभेदाभिन्नत्वात् तर्हि विशेषा एव स्वीकृताः। अन्योन्यव्यावृत्तिहेतुत्वात्। न हि यद्गोत्वं तदश्वत्वात्मकमिति। अर्थक्रियाकारित्वं च वस्तुनो लक्षणम्। तच्च विशेषेष्वेव स्फुटं प्रतीयते। न हि सामान्येन काचिदर्थक्रिया क्रियते। तस्य निष्क्रियत्वात्। वाहदोहादिकास्वर्थक्रियासु विशेषाणामेवोपयोगात्। तथेदं सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा? भिन्नं चेद् अवस्तु। विशेषविश्लेषेणार्थक्रियाकारित्वाभावात्। अभिन्नं चेद् विशेषा एव, तत्स्वरूपवत्। इति विशेषैकान्तवादः ॥

यदि कहो, कि सामान्य गोत्व, अश्वत्व, घटत्व, पटत्व आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है, तो इससे एक दूसरेकी व्यावृत्ति करनेवाला विशेष ही सिद्ध होता है। क्योंकि गोत्व और अश्वत्वके भिन्न भिन्न होनेसे गोत्वकी अश्वत्वसे व्यावृत्ति होती है। तथा, अर्थक्रिया करनेवालेको वस्तु कहते हैं। यह वस्तुका लक्षण विशेषमें ही ठीक घटता है। क्योंकि सामान्य निष्क्रिय होनेसे अर्थक्रिया नहीं कर सकता। तथा, वाहन (खेंचना) दोहन (दुहना) आदि क्रियाओंमें भी अश्वत्व, गोत्व आदि सामान्य उपयोगी नहीं होते, बल्कि खींचने, दुहने आदिके समय विशेष रूप अश्व और गोसे ही हमारा प्रयोजन सिद्ध होता है। तथा, यह सामान्य विशेषोंसे भिन्न है, या अभिन्न? यदि सामान्य विशेषोंसे भिन्न है, तो सामान्य कोई पदार्थ ही नहीं ठहरता, क्योंकि विशेषसे भिन्न हो कर इसमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती। यदि सामान्य विशेषसे अभिन्न है, तो उसे विशेष ही मानना चाहिये। अतएव विशेष ही तत्व है।

नैगमनयानुगामिनस्त्वाहुः । स्वतन्त्रौ सामान्यविशेषौ । तथैव प्रमाणेन प्रतीतत्वात् । तथाहि । सामान्यविशेषावत्यन्तभिन्नौ, विरुद्धधर्माध्यासितत्वात् । यावेवं तावेवं, यथा पाथःपावकौ, तथा चैतौ, तस्मात् तथा । सामान्यं हि गोत्वादि सर्वगतम् । तद्विपरीताश्च शबलशाबलेयादयो विशेषाः । ततः कथमेषामैक्यं युक्तम् ॥

(३) न्यायवैशेषिक—सामान्य और विशेष एक दूसरेसे निरपेक्ष हैं, क्योंकि प्रमाणसे ऐसा ही सिद्ध होता है। अतएव ‘ सामान्य और विशेष एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि वे एक दूसरेके विरोधी हैं, जो एक दूसरेके विरोधी होते हैं, वे एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न होते हैं, जैसे जल और अग्नि एक दूसरेसे विरोधी हैं, अतएव वे अत्यन्त भिन्न है। इसी तरह सामान्य और विशेष परस्पर विरोधी हैं। अतएव वे एक दूसरेस अत्यन्त भिन्न हैं । ’ सामान्य व्यापक है, और विशेष परिमित क्षेत्रमें रहता है, अतएव दोनोंका ऐक्य संभव नहीं है ।

न सामान्यात् पृथग्विशेषस्योपलम्भ इति चेत्, कथं तर्हि तस्योपलम्भ इति वाच्यम् । सामान्यव्याप्तस्येति चेद्, न तर्हि स विशेषोपलम्भः । सामान्यस्यापि तेन ग्रहणात् ततश्च तेन बोधेन विविक्तविशेषग्रहणाभावात् तद्वाचकं ध्वनिं तत्साध्यं च व्यवहारं न प्रवर्तयेत् प्रमाता । न चैतदस्ति । विशेषाभिधानव्यवहारयोः प्रवृत्तिदर्शनात् । तस्माद् विशेषमभिलषता तत्र च व्यवहारं प्रवर्तयता तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽभ्युपगन्तव्यः । एवं सामान्यस्थाने विशेषशब्दं, विशेषस्थाने च सामान्यशब्दं प्रयुञ्जानेन सामान्येऽपि तद्ग्राहको बोधो विवक्तोऽङ्गीकर्तव्यः । तस्मात् स्वस्वग्राहिणि ज्ञाने प्रथक्प्रतिभासमानत्वाद् द्वावपीतरेतरविशकलितौ । ततो न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटते । इति स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादः ॥

यदि कहो, कि सामान्यको छोड़ कर विशेष कोई भिन्न वस्तु नहीं है, तो हम पूछते हैं, कि विशेषका ज्ञान कैसे होता है ? यदि सामान्यके साथ ही विशेषका ज्ञान मानो, तो यह ज्ञान विशेषका नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे सामान्यका भी ज्ञान होता है । अतएव सामान्यसे भिन्न शुद्ध विशेषका ज्ञान न होनेसे विशेषकी ध्वनि और उसके व्यवहारमें प्रमाताकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु विशेषके वाचक शब्द और विशेषके ऊपर अवलम्बित व्यवहारमें प्रमाताकी प्रवृत्ति देखी जाती है। अतएव सामान्यसे भिन्न विशेष अवश्य स्वीकार करना चाहिये । अतएव सामान्य और विशेष अपने ज्ञानमें अलग अलग प्रतिभासित होते हैं, इस लिये सामान्य और विशेष एक दूसरेसे भिन्न हैं। इस लिये सामान्य और विशेषको निरपेक्ष ही कहना चाहिये ।

तदेतत् पक्षत्रयमपि न क्षमते क्षोदम् । प्रमाणबाधितत्वात् । सामान्यविशेषोभयात्मकस्यैव वस्तुनो निर्विगानमनुभूयमानत्वात् । वस्तुनो हि लक्षणम् अर्थक्रि-

याकारित्वम् । तच्चानेकान्तवादे एवाविकलं कलयन्ति परीक्षकाः । तथाहि । यथा गौरित्युक्ते खुरककुत्सास्नालाङ्गूलविषाणाद्यवयवसंपन्नं वस्तुरूपं सर्वव्यक्त्यनुयायि प्रतीयते, तथा महिष्यादिव्यावृत्तिरपि प्रतीयते ॥

जैन—(१) उक्त तीनों पक्ष प्रमाणसे बाधित होनेसे ठीक नहीं हैं । सम्पूर्ण पदार्थ सामान्य-विशेष रूप ही अनुभवमें आते हैं, अतएव अनेकान्तवादमें ही वस्तुका अर्थक्रिया-कारित्व लक्षण ठीक ठीक घटित हो सकता है । क्योंकि गौके देखनेपर जिस समय हमें खुर, पूंछ, सींग आदि अवयवोंवाली व्यक्ति रूप सब गौओंका सामान्य रूपसे ज्ञान होता है, उसी समय भैंस आदि की व्यावृत्ति रूप विशेष ज्ञान भी होता है, अतएव सांख्य, वेदान्ती आदिको केवल सामान्यको तत्व न मान कर पदार्थोंको सामान्य-विशेष रूप ही मानना चाहिये ।

यत्रापि च शवला गौरित्युच्यते, तत्रापि यथा विशेषप्रतिभासः तथा गोत्वप्रतिभासोऽपि स्फुट एव । शवलेति केवलविशेषोच्चारणेऽपि, अर्थात् प्रकरणाद् वा गोत्वमनुवर्तते । अपि च, शवलत्वमपि नानारूपम् । तथा दर्शनात् । ततो वक्त्रा शवलेत्युक्ते क्रोडीकृतसकलशवलसामान्यं विवक्षितगोव्यक्तिगतमेव शवलत्वं व्यवस्थाप्यते । तदेवमाबालगोपालं प्रतीतिप्रसिद्धेऽपि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वे तदुभयैकान्तवादः प्रलापमात्रम् । न हि क्वचित् कदाचित् केनचित् सामान्यं विशेषविनाकृतमनुभूयते, विशेषा वा तद्विनाकृताः । केवलं दुर्नयप्रभावितमतिव्यामोहवशादेकमपलप्यान्यतरद् व्यवस्थापयन्ति बालिशाः । सोऽयमन्धगज[1]न्यायः ॥

(२) तथा शवला (चितकवरी) गौका विशेष ज्ञान होनेपर भी गोत्व सामान्यका स्पष्ट रूपसे ज्ञान होता है । क्योंकि शवला कहनेपर गोत्व सामान्यका ज्ञान अवश्य होता है । तथा शवलत्व भी अनेक प्रकारका है । अतएव वक्ताके गौको शवला कहनेपर सम्पूर्ण गौओंमें शवलत्वका सामान्यसे ग्रहण होनेपर भी विवक्षित गौमें ही शवलत्वका ज्ञान होता है । अतएव सामान्य और विशेष परस्पर सापेक्ष हैं । विना सामान्यके विशेष, और विना विशेषके सामान्य कहीं भी कभी नहीं पाये जाते, अतएव विशेष निरपेक्ष सामान्यको, अथवा सामान्य निरपेक्ष विशेषको तत्व मानना केवल प्रलाप मात्र है । जिस प्रकार जन्मांध पुरुष हाथीके एक एक अवयवको स्पर्श करके हाथीका जुदा जुदा स्वरूप सिद्ध करते हैं, वैसे ही सर्वथा एकांतवादी वस्तुका स्वरूप एक एक अपेक्षाको ग्रहण करके भिन्न भिन्न सिद्ध करते हैं । अतएव केवल विशेषको तत्व न मान कर परस्पर सापेक्ष सामान्य-विशेषको ही अंगीकार करना चाहिये ।

---

[1] जन्मान्धैर्दशभिर्यथाक्रमं पदचतुष्टयश्रोत्रद्वयशुण्डादन्तपुच्छरूपा गजावयवाः स्पृष्टाः । ततः तेऽन्धाः स्वस्पृष्टरूपं स्तम्भाद्याकारकं पूर्णतया गजस्वरूपं प्रतिपद्यमानास्तथैव स्थापयन्ति तादितरन्निषेधयन्ति तद्वत् ।

येऽपि च तदेकान्तपक्षोपनिपातिनः प्रागुक्ता दोषास्तेऽप्यनेकान्तवादप्रचण्डमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वाद् नोच्छ्वसितुमपि क्षमाः । स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादिनस्त्वेवं प्रतिक्षेप्याः । सामान्यं प्रतिव्यक्ति कथञ्चिद्भिन्नं, कथंञ्चिदभिन्नं, कथञ्चित् तदात्मकत्वाद्, विसदृशपरिणामवत् । यथैव हि काचिद् व्यक्तिरुपलभ्यमानाद् व्यक्त्यन्तराद् विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते, तथा सदृशपरिणामात्मकसामान्यदर्शनात् समानेति । तेन समानो गौरयम्, सोऽनेन समान इति प्रतीतेः । न चास्य व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात् सामान्यरूपताव्याघातः । यतो रूपादीनामपि व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वमस्ति, न च तेषां गुणरूपताव्याघातः । कथञ्चिद् व्यतिरेकस्तु रूपादीनामिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव । पृथग्व्यपदेशादिभाक्त्वात् ॥

(३) क—सामान्य और विशेषको परस्पर भिन्न और निरपेक्ष कहनेवाले नैयायिक और वैशेषिकोंका मत भी दोषपूर्ण है । क्योंकि विसदृश परिणामकी तरह सामान्य व्यक्ति (विशेष) से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है । जैसे किसी व्यक्तिके अन्य व्यक्तियोंसे विशेष रूप प्रतिभासित होनेपर उसमें विसदृश परिणाम देखा जाता है, वैसे ही भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें सामान्य रूप देखे जानेसे सदृश परिणाम भी पाया जाता है । उदाहरणके लिये, गौ व्यक्तिके अश्व आदि व्यक्तियोंसे असमान होनेपर गौमें विसदृश परिणाम, तथा गौमें गोत्व सामान्यके रहनेसे सदृश परिणाम पाया जाता है । यदि कहो, कि सामान्य व्यक्तिसे कथंचित् अभिन्न है, इस लिये सामान्यका स्वरूप नष्ट हो जाता है, यह ठीक नहीं । क्योंकि रूप आदिके घट आदिसे अभिन्न होनेपर भी रूपादिका नाश नहीं देखा जाता । तथा सामान्य और विशेष कथंचित् भिन्न भी हैं, क्योंकि रूप आदिका घट आदिसे भिन्न व्यवहार होता है । अतएव सामान्य और विशेष परस्पर सापेक्ष हैं ।

विशेषा अपि नैकान्तेन सामान्यात् पृथग्भवितुमर्हन्ति । यतो यदि सामान्यं सर्वगतं सिद्धं भवेत् तदा तेषामसर्वगतत्वेन ततो विरुद्धधर्माध्यासः स्यात् । न च तस्य तत् सिद्धम् । प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् । सामान्यस्य विशेषाणां च कथञ्चित् परस्पराव्यतिरेकेणैकानेकरूपतया व्यवस्थितत्वात् । विशेषेभ्योऽव्यतिरिक्तत्वाद्धि सामान्यमप्यनेकमिष्यते । सामान्यात् तु विशेषाणामव्यतिरेकात्तेऽप्येकरूपा इति ।

ख—इसी प्रकार विशेष भी सामान्यसे एकांत भिन्न नहीं हैं । तथा, आप लोगोंने सामान्यको व्यापक और विशेषको अव्यापक कह कर दोनोंको एक दूसरेके विरुद्ध गुणोंवाला बता कर शीत और उष्णकी तरह सामान्य-विशेषको एक साथ रहना असंभव बताया है, वह भी ठीक नहीं । क्योंकि हम सामान्यको व्यापक नहीं मानते, यह हम पहले कह आये हैं ।

अतएव सामान्य और विशेष कथंचित् अभिन्न हैं, इस लिये वे एक और अनेक दोनों रूप हैं। सामान्यके विशेषसे अभिन्न होनेपर अनेक सामान्य, और विशेषके सामान्यसे अभिन्न होनेपर विशेष भी एक रूप होते हैं।

एकत्वं च सामान्यस्य संग्रहनयार्पणात् सर्वत्र विज्ञेयम्। प्रमाणार्पणात् तस्य कथञ्चिद्विरुद्धधर्माध्यासितत्वम्। सदृशपरिणामरूपस्य विसदृशपरिमाणवत् कथञ्चित् प्रतिव्यक्तिभेदात्। एवं चासिद्धं सामान्यविशेषयोः सर्वथाविरुद्धधर्माध्यासितत्वम्। कथञ्चिद्विरूद्धधर्माध्यासितत्वं चेद् विवक्षितम् तदास्मत्कक्षाप्रवेशः। कथञ्चिद्विरुद्धधर्माध्यासस्य कथञ्चिद्भेदाविनाभूतत्वात्। पाथःपावकदृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः। तयोरपि कथञ्चिदेव विरुद्धधर्माध्यासितत्वेन भिन्नत्वेन च स्वीकरणात्। पयस्त्वपावकत्वादिना हि तयोर्विरुद्धधर्माध्यासः, भेदश्च। द्रव्यवादिना पुनस्तद्वैपरीत्यमिति। तथा च कथं न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटते इति। ततः सुष्ठूक्तं वाच्यमेकमनेकरूपम् इति॥

सामान्यमें संग्रह नयकी अपेक्षासे एकत्व समझना चाहिये। प्रमाणकी अपेक्षासे एक ही पदार्थमें सामान्य और विशेष, एक और अनेक कथंचित् विरुद्ध कहे जा सकते हैं, क्योंकि जिस प्रकार किसी अपेक्षासे सामान्य सामान्य और विशेष दोनों है, वैसे ही विशेष भी विशेष और सामान्य दोनों रूप हैं। अतएव सामान्य और विशेषको सर्वथा विरुद्ध कहना असिद्ध है। यदि आप लोग सामान्य-विशेषको कथंचित् विरुद्ध स्वीकार करते हैं, तो यह हम भी मानते हैं। क्योंकि सामान्य-विशेषका कथंचित् विरोध सामान्य और विशेषके कथंचित् भेद माननेसे ही बन सकता है। तथा, आपका जल और अग्निका दृष्टांत भी सर्वथा भेद सिद्ध नहीं करता, क्योंकि जल और अग्निको भी हमने कथंचित् भिन्न मान कर ही कथंचित् विरुद्ध स्वीकार किया है। अतएव जल और अग्नि भिन्न होनेके कारण परस्पर विरुद्ध हैं, और द्रव्यत्वकी अपेक्षा अभिन्न होनेके कारण दोनों एक हैं। इस लिये वस्तुका स्वरूप सामान्य और विशेष दोनों रूप है। अतएव वाच्य एक और अनेक दोनों रूप है, यह हमारा कथन बिलकुल ठीक है।

एवं वाचकमपि शब्दाख्यं द्वयात्मकम् सामान्यविशेषात्मकम्। सर्वशब्दव्यक्तिष्वनुयायि शब्दत्वमेकम्। शाङ्खशार्ङ्गतीव्रमन्दोदात्तानुदात्तस्वरितादिविशेषभेदादनेकम्। शब्दस्य हि सामान्यविशेषात्मकत्वं पौद्गलिकत्वाद् व्यक्तमेव। तथाहि। पौद्गलिकः शब्दः, इन्द्रियार्थत्वात्, रूपादिवत्॥

इसी प्रकार शब्द (वाचक) भी सामान्य-विशेष दोनों हैं। शब्दत्व सब शब्दोंमें एक होनेके कारण एक है, और शंख, धनुष, तीव्र, मन्द, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदिके भेदसे अनेक है। तथा, शब्द पौद्गलिक है, क्योंकि रूप आदिकी तरह इन्द्रियका विषय है, इस लिये शब्द पौद्गलिक होनेसे सामान्य और विशेष दोनों रूप है।

यच्चास्य पौद्गलिकत्वनिषेधाय स्पर्शशून्याश्रयत्वात्, अतिनिविडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातात्, पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धेः, सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वाद्, गगनगुणत्वात् चेति पञ्चहेतवो यौगैरुपन्यस्ताः, ते हेत्वाभासाः। तथाहि। शब्दपर्यायस्याश्रयो भाषावर्गणा, न पुनराकाशम्। तत्र च स्पर्शो निर्णीयत एव। यथा शब्दाश्रयः स्पर्शवान्, अनुवातप्रतिवातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलभ्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रियार्थत्वात् तथाविधगन्धाधारद्रव्यपरमाणुवत्। इति असिद्धः प्रथमः। द्वितीयस्तु गन्धद्रव्येण व्यभिचारादनैकान्तिकः। वर्त्यमानजात्यकस्तूरिकादि गन्धद्रव्यं हि पिहितद्वारापवरकस्यान्तर्विशति बहिश्च निर्याति, न चापौद्गलिकम्। अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसंभवाद् नातिनिविडत्वम्, अतस्तत्र तत्प्रवेशनिष्क्रमौ। कथमन्यथोद्घाटितद्वारावस्थायामिव न तदेकार्णवत्वम्। सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे न तयोः संभवः इति चेत्, तर्हि शब्देऽप्येतत्समानम् इत्यसिद्धो हेतुः। तृतीयस्तु तडिल्लतोल्कादिभिरनैकान्तिकः। चतुर्थोऽपि तथैव। गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्व्यभिचारात्। न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नासायां निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्मश्रुप्रेरकं दृश्यते। पंचमः पुनः असिद्धः। तथाहि। न गगनगुणः शब्दः, अस्मदादिप्रत्यक्षत्वाद्, रूपादिवत्। इति सिद्धः पौद्गलिकत्वात् सामान्यविशेषात्मकः शब्द इति॥

शंका—शब्द पुद्गलकी पर्याय नहीं है, क्योंकि वह (१) स्पर्शसे रहित है; (२) अत्यन्त सघन प्रदेशमें प्रवेश करते और निकलते हुए नहीं रुकता है; (३) शब्दके पूर्व और पश्चात् उसके अवयव नहीं दिखाई देते; (४) वह सूक्ष्म मूर्त द्रव्योंका प्रेरक नहीं है; तथा (५) शब्द आकाशका गुण है। **समाधान**—(१) उक्त हेतुओंमें प्रथम हेतु असिद्ध है। क्योंकि शब्द पर्यायका आश्रय भाषावर्गणा है (सजातीय वस्तुओंके समुदायको वर्गणा कहते हैं, जिन पुद्गल वर्गणाओंसे शब्द बनते हैं, उन्हें भाषावर्गणा कहते हैं), आकाश नहीं। तथा शब्दका स्थान यह भाषावर्गणा स्पर्श गुणसे युक्त है, क्योंकि यह इन्द्रियका विषय है। जैसे गंधके आश्रित परमाणु वायुके अनुकूल होनेपर दूर खड़े हुये मनुष्यके पास पहुंच जाते हैं, और वायुके प्रतिकूल होनेपर पास बैठे हुए, मनुष्य तक भी नहीं पहुंचते, वैसे ही शब्दके परमाणु भी वायुके अनुकूल होनेपर दूर देशमें खड़े हुए श्रोताके पास तक पहुंचते हैं, और वायुके प्रतिकूल होनेसे समीपमें बैठे हुए श्रोताके पास तक भी नहीं पहुंचते। अतएव जैसे गंध इद्रियका विषय होनेसे पौद्गलिक है, वैसे ही शब्द भी इन्द्रियका विषय होनेसे पौद्गलिक है। इस लिये वैशेषिकोंका प्रथम हेतु असिद्ध है। (२) दूसरे हेतुमें गन्ध द्रव्यसे व्यभिचार आता है, इस लिए यह हेतु अनैकांतिक है। जैसे गंध द्रव्य अत्यंत सघन प्रदेशमें प्रवेश करते और निकलते हुए नहीं रुकने पर भी पौद्गलिक है, वैसे ही

शब्दको भी पौद्गलिक मानना चाहिये। यदि कहो, कि कस्तूरी आदि गंध द्रव्यको किसी सन्दूकमें बन्द करके रखनेपर गंधका आना जाना रुक जाता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यह आना जाना शब्दमें भी संभव है, अतएव दूसरा हेतु भी असिद्ध है। (३) तीसरा हेतु बिजली और उल्कापात आदिसे व्यभिचारी है। क्योंकि विद्युत् आदिके अवयव विद्युत्के पहले और पीछे नहीं पाये जाते, फिर भी विद्युत् आदि पौद्गलिक माने जाते हैं। इसी तरह गंध द्रव्य, सूक्ष्म रज व धूम आदिके अन्य द्रव्योंके प्रेरक न होने पर भी वे पौद्गलिक कहे जाते हैं, इस लिये चौथा हेतु भी व्यभिचारी है। तथा (५) शब्द आकाशका गुण नहीं है, क्योंकि वह रूपादि की तरह हमारे इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष है, अतएव पांचवा हेतु भी असिद्ध है। इस लिये शब्द पौद्गलिक है, और उसे सामान्य और विशेष रूप ही मानना चाहिये।

न च वाच्यम् आत्मन्यपौद्गलिकेऽपि कथं सामान्यविशेषात्मकत्वं निर्विवादमनुभूयत इति। यतः संसार्यात्मनः प्रतिप्रदेशमनन्तानन्तकर्मपरमाणुभिः सह वह्नितापितघनकुट्टितनिर्विभागपिण्डीभूतसूचीकलापवल्लोलीभावमापन्नस्य कथञ्चित् पौद्गलिकत्वाभ्यनुज्ञानादिति। यद्यपि स्याद्वादिनां पौद्गलिकमपौद्गलिकं च सर्वं वस्तु सामान्यविशेषात्मकं, तथाप्यपौद्गलिकेषु धर्माधर्माकाशकालेषु तदात्मत्वमर्वाग्दृशां न तथाप्रतीतिविषयमायाति। पौद्गलिकेषु पुनस्तत् साध्यमानं तेषां सुश्रद्धानम्। इत्यप्रस्तुतमपि शब्दस्य पौद्गलिकत्वमत्र सामान्यविशेषात्मकत्वसाधनायोपन्यस्तमिति॥

तथा, जैसे अग्निमें तपाने और घनसे कूटनेपर अनेक सूंइयोंका समूह एक पिण्ड रूप हो जाता है, वैसे ही अपौद्गलिक आत्मा भी संसारी आत्माके प्रदेशोंके साथ अनन्त कर्म परमाणुओंका ऐक्य होनेसे कथंचित् पौद्गलिक कहा जाता है। यद्यपि स्याद्वादको माननेवालोंके मतमें पौद्गलिक और अपौद्गलिक सभी वस्तु सामान्य-विशेष रूप हैं, परन्तु अल्पज्ञानी लोग धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन अपौद्गलिक पदार्थोंके सामान्य-विशेषत्वको भले प्रकार नहीं समझ सकते, शब्द आदि पौद्गलिक पदार्थोंमें सामान्य-विशेषत्वको अच्छी तरह समझ सकते हैं, अतएव यहां शब्दको सामान्य-विशेष रूप सिद्ध करनेके लिये शब्दको ही पुद्गलकी पर्याय सिद्ध किया गया है। वास्तवमें सभी पदार्थ सामान्य-विशेष रूप हैं।

अत्रापि नित्यशब्दवादिसंमतः शब्दैकत्वैकान्तः, अनित्यशब्दवाद्यभिमतः शब्दानेकत्वैकान्तश्च प्राग्दर्शितदिशा प्रतिक्षेप्यः। अथवा वाच्यस्य घटादेरर्थस्य

१–नायमेकान्तः अमूर्तिरेवात्मेति। कर्मबंधपर्यायापेक्षया तदावेशात्स्यान्मूर्तः। यद्येवं कर्मबंधावेशादस्यैकत्वे सत्यविवेकः प्राप्नोति। नैष दोषः। बंधं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादस्य नानात्वमवसीयते। उक्तं च—

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं। तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होइ जीवस्स॥
छाया–बंधं प्रत्येकत्वे लक्षणतः भवति तस्य नानात्वं। तस्मात् अमूर्तिभावः अनेकांतं भवति जीवस्य॥
सर्वार्थसिद्धौ पृ. ८८

सामान्यविशेषात्मकत्वे तद्वाचकस्य ध्वनेरपि तत्त्वम् । शब्दार्थयोः कथञ्चित् तादात्म्याभ्युपगमात् । यदाहुर्भद्रबाहुस्वामिपादाः—

"अभिहाणं अभिहेयाउ होइ भिण्णं अभिण्णं च ।
खुरअग्गिमोयगुच्चारणम्मि जम्हा उ वयणसवणाणं ॥ १ ॥
नवि छेओ नवि दाहो ण पूरणं तेण भिन्नं तु ।
जम्हा य मोयगुच्चारणम्मि तत्थेव पच्चओ होइ ॥ २ ॥
न य होइ स अन्नत्थे तेण अभिन्नं तदत्थाओ ।"

एतेन—"विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः
कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि" ॥

इति प्रत्युक्तम् । "अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्या नामधेया" इतिवचनात् । शब्दस्य ह्येतदेव तत्त्वं यदभिधेयं याथात्म्येनासौ प्रतिपादयति । स च तत् तथाप्रतिपादयन् वाच्यस्वरूपपरिणामपरिणत एव वक्तुं शक्यः, नान्यथा, अतिप्रसङ्गात् । घटाभिधानकाले पटाद्यभिधानस्यापि प्राप्तेरिति ॥

नित्य शब्दवादी मीमांसकोंके मतके अनुसार शब्द सर्वथा एक है, और अनित्य शब्दवादी बौद्धोंके अनुसार शब्द सर्वथा अनेक है, इन दोनों मतों हम ऊपर खंडन कर चुके हैं। अथवा, वाच्य घटादिके सामान्य-विशेष रूप सिद्ध होनेपर, वाचक शब्दोंको भी सामान्य-विशेष मानना चाहिये। क्योंकि शब्द (वाचक) और अर्थ (वाच्य) का कथंचित् तादात्म्य संबंध माना गया है। भद्रबाहु स्वामीने भी कहा है "वाचक वाच्यसे भिन्न भी है, और अभिन्न भी हैं । क्षुर (छुरा), अग्नि और मोदक शब्दोंका उच्चारण करते समय बोलनेवालोंके मुख और सुननेवालोंके कान 'क्षुर' शब्दसे नहीं छिदते, 'अग्नि' शब्दसे नहीं जलते, ओर 'मोदक' शब्दसे नहीं भर आते, अतएव वाचकसे वाच्य भिन्न है। तथा 'मोदक' शब्दसे मोदकका ही ज्ञान होता है, अग्निका नहीं, इस लिये वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) अभिन्न हैं।" इस कथनसे "विकल्पसे शब्द उत्पन्न होते हैं, और शब्दसे विकल्प उत्पन्न होते हैं, अतएव शब्द और विकल्प दोनोंमें कार्य-कारण संबंध हैं, परन्तु शब्द अपने अर्थसे भिन्न हैं। (अतएव दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं)" यह कथन भी खंडित हो जाता है। क्योंकि "अर्थ, अभिधान और प्रत्यय ये पर्यायवाची शब्द हैं।"

---

१ छाया—अभिधानमभिधेयाद् भवति भिन्नमभिन्नं च । क्षुराऽग्निमोदकोच्चारणे यस्मात् तु वदनश्रवणयोः ॥ नाऽपि च्छेदो नापि दाहो न पूरणम् तेन भिन्नं तु । यस्माच्च मोदकोच्चारेण तत्रैव प्रत्ययो भवति ॥ न च भवति अन्यार्थे तेनाऽभिन्नं तदर्थात् ।

२ बाह्यः पृथुबुध्नोदराकारोऽर्थोऽपि घट इति व्यपदिश्यते । तद्वाचकमभिधानं घट इति । तद्ज्ञानरूपः प्रत्ययोऽपि घट इति । तथा च लोके वक्तारो भवंति । किमिदं पुरो दृश्यते घटः । किमसौ वक्ति घटं । किमस्य चेतसि स्फुरति घटः ।

जिस समय वाचक (शब्द) से वाच्य (अर्थ) का ज्ञान होता है, उस समय वाचक वाच्यमें परिणत हो जाता है। उसी समय शब्दसे अर्थका ज्ञान होता है। अन्यथा घट शब्दसे पटका भी ज्ञान हो जाना चाहिये।

अथवा भङ्ग्यन्तरेण सकलं काव्यमिदं व्याख्यायते। वाच्यं वस्तु घटादिकम्। एकात्मकमेव एकस्वरूपमपि सत्, अनेकम् अनेकस्वरूपम्। अयमर्थः। प्रमाता तावत् प्रमेयस्वरूपं लक्षणेन निश्चिनोति। तच्च सजातीयविजातीयव्यवच्छेदादात्मलाभं लभते। यथा घटस्य सजातीया मृन्मयपदार्थाः, विजातीयाश्च पटादयाः। तेषां व्यवच्छेदस्तल्लक्षणम्। पृथुबुध्नोदराद्याकारः कम्बुग्रीवो जलधारणाहरणादिक्रियासमर्थः पदार्थविशेषो घट इत्युच्यते। तेषां च सजातीयविजातीयानां स्वरूपं तत्र बुद्ध्या आरोप्य व्यवच्छिद्यते। अन्यथा प्रतिनियततत्स्वरूपपरिच्छेदानुपपत्तेः। सर्वभावानां हि भावाभावात्मकं स्वरूपम्। एकान्तभावात्मकत्वे वस्तुनो वैश्वरूप्यं स्यात्। एकान्ताभावात्मकत्वे च निःस्वभावता स्यात्। तस्मात् स्वरूपेण सत्त्वात् पररूपेण चासत्त्वाद् भावाभावात्मकं वस्तु। यदाह--

"सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः॥"

ततश्चैकस्मिन् घटे सर्वेषां घटव्यतिरिक्तपदार्थानामभावरूपेण वृत्तेरनेकात्मकत्वं घटस्य सूपपादम्। एवं चैकस्मिन्नर्थे ज्ञाते सर्वेषामर्थानां ज्ञानम्। सर्वपदार्थपरिच्छेदमन्तरेण तन्निषेधात्मन एकस्य वस्तुनो विविक्ततया परिच्छेदासंभवात्। आगमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः—

"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ॥"

तथा—"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः।
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः॥
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः।
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥"

अथवा, दूसरी तरहसे श्लोकका अर्थ किया जा सकता है। वाच्य घट आदि एक हो कर भी अनेक रूप हैं। भाव यह है, कि प्रत्येक पदार्थ अपने लक्षणसे ही जाना जाता है। ज्ञाता घटके सजातीय मिट्टीसे बने हुए पदार्थोंसे, और घटके विजातीय पट आदि पदार्थोंसे सजातीय और विजातीय व्यावृत्तिसे घटका ज्ञान करता है। क्योंकि सजातीय और विजातीय पदार्थोंकी व्यावृत्ति हो जानेपर ही वड़े, मोटे, उदरवाले, और जलके रखने भरने आदिके काममें आनेवाले घट पदार्थका ज्ञान होता है। यदि घटका ज्ञान करते समय सजातीय और

विजातीय पदार्थोंकी व्यावृत्ति न की जाय, तो घटके निश्चित रूपका ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव समस्त पदार्थ भाव और अभाव रूप हैं। यदि वस्तुको सर्वथा भाव रूप माना जाय, तो कोई वस्तु ही अपने स्वभाव रूप नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अभाव रूप होनेसे और व्यावृत्ति रूप होनेसे ही अपने स्वरूप वाली कही जाती है। इसी तरह यदि वस्तुको सर्वथा अभाव रूप माना जाय, तो वस्तुको अपने स्वभावसे रहित मानना चाहिये। अतएव प्रत्येक पदार्थ स्वरूपसे सत्, और पररूपसे असत् होनेके कारण भाव और अभाव रूप है। कहा भी है "प्रत्येक वस्तु स्वरूपसे विद्यमान है, पररूपसे विद्यमान नहीं है। यदि वस्तुको सर्वथा भाव रूप स्वीकार किया जाय, तो एक वस्तुके सद्भावमें सम्पूर्ण वस्तुओंका सद्भाव मानना चाहिये, और यदि वस्तुको सर्वथा अभाव रूप माना जाय, तो वस्तुको सर्वथा स्वभाव रहित मानना चाहिये।" अतएव घटमें घटको छोड़ कर अन्य सब पदार्थोंका अभाव होनेसे घट अनेक रूप है। इस लिये एक पदार्थके जाननेसे सब पदार्थोंका ज्ञान होता है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंके विना जाने हम एक पदार्थका ज्ञान करते समय उस पदार्थसे सम्पूर्ण पदार्थोंकी व्यावृत्ति नहीं कर सकते। आगममें भी कहा है "जो एकको जानता है, वह सबको जानता है, जो सबको जानता है, वह एकको जानता है।" तथा, "जिसने एक पदार्थको सम्पूर्ण रीतिसे जान लिया है, उसने सब पदार्थोंको सब तरहसे जान लिया है। जिसने सब पदार्थोंको सब तरहसे जान लिया है, उसने एक पदार्थको सब प्रकारसे जान लिया है।"

ये तु सौगताः परासत्त्वं नाङ्गीकुर्वते, तेषां घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः। तथाहि। यथा घटस्य स्वरूपादिना सत्त्वं, तथा यदि पररूपादिनापि स्यात्, तथा च सति स्वरूपादिसत्त्ववत् पररूपादिसत्त्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत्। परासत्त्वेन तु प्रतिनियतोऽसौ सिद्ध्यति। अथ न नाम नास्ति परासत्त्वं, किन्तु स्वसत्त्वमेव तदिति चेद्, अहो वैदग्धी। न खलु यदेव सत्त्वं तदेवासत्त्वं भवितुमर्हति। विधिप्रतिषेधरूपतया विरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायोगात्। अथ युष्मत्पक्षेऽप्येवं विरोधस्तदवस्थ एवेति चेद्, अहो वाचाटता देवानांप्रियस्य। न हि वयं येनैव प्रकारेण सत्त्वं, तेनैवासत्त्वं, येनैव चासत्त्वं, तेनैव सत्त्वमभ्युपेमः। किन्तु स्वरूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सत्त्वं, पररूपद्रव्यक्षेत्रकालभावैस्त्वसत्त्वम्। तदा क्व विरोधावकाशः॥

बौद्ध लोग वस्तुको पररूपसे असत् नहीं मानते, अतएव उन्हें घटको सर्वात्मक मानना चाहिए। क्योंकि जिस तरह घट स्वरूपसे सत् है, यदि उसी तरह पररूपसे भी सत् हो, तो घटके किसी भी रूपसे असत् न होनेसे घटको सर्वात्मक होना चाहिये। अतएव पररूपसे असत् माननेसे ही पदार्थके निश्चित स्वरूपका ज्ञान हो सकता है। यदि स्व-सत्को ही पर-असत् अंगीकार करो, तो जो सत् है, वह असत् नहीं हो सकता। क्योंकि जहां विधि और प्रतिषेध दो विरोधी धर्म हों, वहां ऐक्य नहीं हो सकता। यदि

कहो, कि जैन लोग भी एक ही जगह विधि और प्रतिषेध मानते हैं, तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि हम लोग (जैन) जिस स्वभावसे सत् मानते हैं, उसी स्वभावसे असत् नहीं मानते, तथा जिस रूपसे असत् मानते हैं, उसी रूपसे सत् नहीं मानते। किन्तु हमारी मान्यता है, कि प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा सत् है, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत् है, अतएव हमारे मतमें विरोधके लिये कोई स्थान नहीं है।

यौगास्तु प्रगल्भन्ते सर्वथा पृथग्भूतपरस्पराभावाभ्युपगममात्रेणैव पदार्थप्रतिनियमसिद्धेः, किं तेषामसत्त्वात्मकत्वकल्पनया इति। तदसत्। यदा हि पटाद्यभावरूपो घटो न भवति, तदा घटः पटादिरेव स्यात्। यथा च घटाभावाद् भिन्नत्वाद् घटस्य घटरूपता, तथा पटादेरपि स्यात्, घटाभावाद् भिन्नत्वादेव। इत्यलं विस्तरेण॥

वैशेषिक—पदार्थका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये पदार्थसे भिन्न अन्योन्याभाव माननेसे काम चल जाता है, इस लिये पदार्थोंको अभावात्मक माननेकी आवश्यकता नहीं है। **जैन**—यह ठीक नहीं। क्योंकि यदि पदार्थोंको पररूपसे अभावात्मक नहीं मानें, तो पट आदिके अभावको घट नहीं कह सकते, अतएव घटको पट रूप मानना चाहिये। क्योंकि जैसे घटाभावसे भिन्न होनेके कारण घटको घट कहते हैं, वैसे ही पटके घटाभावसे भिन्न होनेके कारण पटको भी घट मानना चाहिये। भाव यह है, कि वैशेषिक लोग अन्योन्याभावको पदार्थकी स्थितिमें कारण मानते हैं। यह अन्योन्याभाव स्वयं पदार्थसे जुदा होता है। वैशेषिकोंके अनुसार जहां घटका अभाव नहीं होता, वहीं घटका निश्चय होता है। परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं, क्योंकि वस्त्र आदिमी घटके अभाव रूप नहीं हैं, इस लिये वस्त्र आदिके घटके अभावसे भिन्न होनेपर वस्त्र आदिमें भी घटका ज्ञान हाना चाहिये। जैनसिद्धांतके अनुसार घटको घटके अतिरिक्त सभी पदार्थोंके अभाव रूप स्वीकार किया है, इस लिये घटको वस्त्र आदिके भी अभाव स्वरूप होनेसे घटमें वस्त्रका ज्ञान नहीं हो सकता।

एवं वाचकमपि शब्दरूपं द्वयात्मकम्। एकात्मकमपि सऽनेकमित्यर्थः। अर्थोक्तन्यायेन शब्दस्यापि भावाभात्मकत्वात्। अथवा एकविषयस्यापि वाचकस्यानेकविषयत्वोपपत्तेः। यथा किल घटशब्दः संकेतवशात् पृथुबुध्नं दराद्याकारवति पदार्थे प्रवर्तते वाचकतया, तथा देशकालाद्यपेक्षया तद्वशादेव पदार्थान्तरेष्वपि तथा वर्तमानः केन वार्यते। भवन्ति हि वक्तारो योगिनः शरीरं प्रति घट इति। संकेतानां पुरुषेच्छाधीनतयाऽनियतत्वात। यथा चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढोऽपि दाक्षिणात्यानामोदने प्रसिद्धः। यथा च कुमारशब्दः पूर्वदेशे आश्विनमासे रूढः। एवं कर्कटीशब्दादयोऽपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेयाः। कालापेक्षया पुनर्यथा जैनानां प्रायश्चित्तविधौ

धृतिश्रद्धासंहनन[1]नादिमति प्राचीनकाले षड्गुरुशब्देन शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म, सांप्रतकाले तु तद्विपरीते तेनैव षड्गुरुशब्देन उपवासत्रयमेव सङ्केत्यते, जीतक[2]ल्पव्यवहारानुसारात्। शास्त्रापेक्षया तु यथा पुराणेषु द्वादशीशब्देनैकादशी। त्रिपु[3]रार्णवे च अलिशब्देन मदिराभिषक्तम् च मैथुनशब्देन मधुसर्पिषोर्ग्रहणम् इत्यादि ॥

वाच्यकी तरह वाचक भी एक हो कर भी अनेक है। जैसे अर्थ भाव और अभाव रूप है, वैसे ही शब्द भी भाव और अभाव दोनों रूप है। अथवा, एक विषयका वाचक शब्द अनेक विषयोंका वाचक हो सकता है, इस लिये भी शब्द भाव और अभाव रूप है। जैसे बडे, मोटे और उदरवाले पदार्थमें घट शब्दका व्यवहार होता है, परन्तु योगी लोग शरीरको ही घट कहते हैं; चौर शब्दका साधारण अर्थ चोर होता है, परन्तु दक्षिण देशमें चौर शब्दका अर्थ चावल होता है; कुमार शब्दका सामान्यसे युवराज अर्थ होनेपर भी पूर्व देशमें इसका अर्थ आश्विन मास किया जाता है; कर्कटी शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ककड़ी होनेपर भी कहीं कहीं इसका अर्थ योनि किया जाता है। तथा, 'जीतकल्पव्यवहारके' अनुसार प्रायश्चित विधिमें प्राचीन समयमें षड्गुरु शब्दका अर्थ एकसौ अस्सी उपवास किया जाता था, परन्तु आज कल षड्गुरुका अर्थ केवल तीन उपवास किया जाता है; पुराणोंमें उपवासके नियमोंका वर्णन करते समय द्वादशीका अर्थ एकादशी किया जाता है; शाक्तलोगोंके ग्रन्थोंमें अलि शब्द मदिरा, और मधु शब्द शहद और घी के अर्थमें प्रयुक्त होते हैं।

न चैवं सङ्केतस्यैवार्थप्रत्यायने प्राधान्यं। स्वाभाविकसामर्थ्यसाचिव्यादेव तत्र तस्य प्रवृत्तेः। सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात्। यत्र च देशकालादौ यदर्थप्रतिपादनशक्तिसहकारी संकेतस्तत्र तमर्थं प्रतिपादयति। तथा च निर्जितदुर्जयपरप्रवादाः श्रीदेवसूरिपादाः–"[4]स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः।" अत्र शक्तिपदार्थसमर्थनं ग्र[5]न्थान्तरादवसेयम्। अतोऽन्यथेत्यादि उत्तरार्द्धं पूर्ववत्। प्रतिभाप्रमादस्तु तेषां सदसदेकान्ते वाच्यस्य प्रतिनियतार्थविषयत्वे च वाचकस्य उक्तयुक्त्या दोषसद्भावाद् व्यवहारानुपपत्तेः। तदयं समुदायार्थः। सामान्यविशेषात्मकस्य, भावाभावात्मकस्य च वस्तुनः सामान्यविशेषात्मको,

---

[1] दृढीक्रियन्ते शरीरपुद्गला येन तत्संहननं तच्चास्थिनिचयः। तत्संहननं षट्प्रकारैर्भवति। वज्रऋषभनाराचं, ऋषभनाराचं, नाराचं, अर्धनाराचं, कीलिका, सेवार्तं (छेदस्पृष्टम्)। वज्रऋषभनाराचं, वज्रनाराचं अर्धनाराचं, कीलिका (कीलितं), असंप्राप्तासृपाटि। इति षट्संहननानि दिगम्बरग्रन्थेषु।

[2] जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणकृतो गाथाग्रन्थो जीतकल्पाख्यः। जीतमाचारतं तस्य कल्पो वर्णना प्ररूपणा जीतकल्पः। [3] शाक्तमार्गीयो ग्रन्थः। [4] प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे ४-११। [5] स्याद्वादरत्नाकरे। २-१ इत्यादयः।

भावाभावात्मकश्च ध्वनिर्वाचक इति । अन्यथा प्रकारान्तरैः पुनर्वाच्यवाचकभावव्यवस्थामातिष्ठमानानां वादिनां प्रतिभैव प्रमाद्यति, न तु तद्भणितयो युक्तिस्पर्शमात्रमपि सहन्ते ॥

केवल संकेत मात्रसे अर्थका ज्ञान नहीं होता। क्योंकि शब्दोंमें ही सब अर्थोंको जनानेकी शक्ति होती है। संकेत केवल देश और काल आदिकी अपेक्षासे शब्दके ही अर्थको जाननेमें सहकारी होता है। परवादियोंको जीतनेवाले श्रीदेवसूरि आचार्यने कहा भी है " स्वाभाविक शक्ति तथा संकेतसे अर्थके ज्ञान करनेको शब्द कहते हैं। " शब्दकी शक्तिके विषयमें विशेष जाननेके लिये स्याद्वादरत्नाकर (२-२) आदि ग्रन्थ देखने चाहिए। अतएव सामान्य-विशेष रूप और भावाभाव रूप वाचक (शब्द) से ही सामान्य-विशेष और भावाभाव रूप वाच्य (अर्थ) का ज्ञान हो सकता है।

कानि तानि वाच्यवाचकभावप्रकारान्तराणि परवादिनामिति चेत्, एते ब्रूमः। अपोह[1] एव शब्दार्थ इत्येके। " अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते[2] " इति वचनात्। अपरे सामान्यमात्रमेव शब्दानां गोचरः। तस्य क्वचित् प्रतिपन्नस्य, एकरूपतया सर्वत्र संकेतविषयतोपपत्तेः। न पुनर्विशेषाः। तेषामानन्त्यतः कार्त्स्न्येनोपलब्धुमशक्यतया तद्विषयतानुपपत्तेः। विधिवादिनस्तु विधिरेव[3] वाक्यार्थः, अप्रवृत्तप्रवर्तनस्वभावत्वात् तस्येत्याचक्षते । विधिरपि तत्तद्वादिविप्रतिपत्त्यानेक[4]प्रकारः। तथाहि। वाक्यरूप[5]ः शब्द एव प्रवर्तकत्वाद् विधिरित्येके। तद्व्यापारो भाव[6]नापरपर्यायो विधिरित्यन्ये। नियोग[7] इत्यपरे । प्रैषाद्य[8] इत्येके । तिरस्कृततदुपाधिप्रवर्तनामात्रमित्यन्ये। एवं फलतदभिलाषकर्मादयोऽपि वाच्याः। एतेषां निराकरणं सपूर्वोत्तरपक्षं न्यायकुमुदचन्द्रा[9]दवसेयम् ॥ इति काव्यार्थः ॥ १४ ॥

(१) बौद्ध लोग अपोह (इतरव्यावृत्ति—परस्परपरिहार) को ही शब्दार्थ मानते हैं। कहा भी है। " शब्द और लिंगसे अपोह कहा जाता है, वस्तुकी प्रेरणासे नहीं। "

---

१ अतद्व्यावृत्तिः। यथा विज्ञानवादिबौद्धमते नीलत्वादिधर्मोऽनीलव्यावृत्तिरूपः। २ दिङ्नागः। ३ विधिप्रेरणाप्रवर्तनादिशब्दाभिधेयः प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारः। ४ सामान्यतोऽयं विधिर्द्विविधः लौकिकः वैदिकश्च। प्रकारान्तरेण विधिः त्रिविधः अपूर्वविधिः नियमविधिः संख्याविधिश्च। ५ यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः यथा ' अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः '। ६ भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः। यथा यजेतेत्यादौ लिङाद्याख्यातार्थो भावना। भाट्टमते शाब्दीभावना आर्थीभावना चेति द्विविधा भावना। ' यजेत स्वर्गकामः ' इत्यादिवैदिकवाक्ये पुरुषाभावात् शब्दनिष्ठत्वादेव शब्दभावना इत्युच्यते। अर्थभावना तु प्रवृत्त्यादिव्यापाररूपा। ७ नियुक्तोऽहमनेनाग्निष्टोमादिवाक्येनेति निरवशेषो योगः। एकादशधा नियोगः विद्यानन्दिकृतअष्टसहस्र्यां व्याख्यातः पृ. ६। ८ न्यक्कारपूर्विका प्रेरणा प्रैषः। ९ भट्टाकलङ्कदेवकृतलघीयस्त्रयग्रन्थटीकात्मकः प्रभाचन्द्रेण प्रणीतः।

(२) कुछ लोग सामान्य (जाति) को ही शब्दका अर्थ मानते हैं। क्योंकि सामान्यके किसी भी स्थानमें रहनेपर वह सब जगह संकेतसे जाना जा सकता है। विशेष अनंत हैं, इस लिये उनकी एक साथ शब्दसे प्रतीति नहीं हो सकती, अतएव सामान्य ही शब्दका विषय है। (३) विधि वादियों के अनुसार विधि ही शब्दका अर्थ है, क्योंकि उससे प्रवृत्ति न करनेवाले मनुष्योंकी प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्तिके अनुकूल व्यापारको विधि कहते हैं। विधि, प्रेरणा, प्रवर्तना आदि शब्द एक ही अर्थके द्योतक हैं। विधि अनेक प्रकारकी है। सामान्यसे लौकिक और वैदिक विधिके दो भेद हैं। अपूर्व, नियम और परिसंख्याके भेदसे विधि तीन प्रकारकी बतायी गई है। उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग और अधिकार ये अपूर्व विधिके चार भेद हैं। कोई विधि वादी वाक्य रूप शब्दको विधि कहते हैं। जैसे 'स्वर्गकी इच्छा रखनेवालेको अग्निहोत्र करना चाहिये। कोई वाक्यसे उत्पन्न व्यापार (भावना) को विधि कहते हैं। पुरुषकी प्रवृत्तिके अनुकूल प्रवर्तन करनेको व्यापार अथवा भावना कहते हैं। यह भावना शब्द-भावना और अर्थ-भावनाके भेदसे दो प्रकारकी है। 'स्वर्गकी इच्छा रखनेवालेको यज्ञ करना चाहिये' (यजेत स्वर्गकामः) आदि वाक्योंमें, ईश्वरके स्वीकार न करनेसे लिङ् (विधि) रूप शब्दके व्यापारको शब्द-भावना कहते हैं। शब्दके व्यापारसे यज्ञ करनेवाले पुरुषकी प्रवृत्तिको अर्थ-भावना कहते हैं। भट्टमीमांसक लोग भावनाको मानते हैं। कोई नियोगको ही विधि मानते हैं। जिसके द्वारा यज्ञमें नियुक्त हो, उसे नियोग कहते हैं। यह नियोग ग्यारह प्रकारका बताया गया है। प्रभाकर लोग नियोगवादी हैं। भट्टमीमांसक नियोगवादका खंडन करते हैं। कोई प्रेरणा आदिको, और कोई तिरस्कार पूर्वक प्रेरणा करनेको ही विधि मानते हैं। इसी तरह विधिके फल, अभिलाषा और कर्म आदि भी विधि वादियोंने भिन्न भिन्न स्वीकार किये हैं। इन सब मतोंका निरूपण और उनका खंडन प्रभाचन्द्रकृत न्यायकुमुदचन्द्रोदय नामक ग्रंथमें देखना चाहिये। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें प्रत्येक वस्तुको सामान्य-विशेष और एक-अनेक प्रतिपादन करते हुए सामान्य एकान्तवादी, विशेष एकान्तवादी, तथा परस्पर भिन्न निरपेक्ष सामान्य-विशेष वादियोंकी समीक्षा की गई है। (१) अद्वैतवेदांती, मीमांसक और सांख्योंका मत है, कि वस्तु सर्वथा सामान्य है, क्योंकि विशेष सामान्यसे भिन्न प्रतिभासित नहीं होते। (२) क्षणिक वादी बौद्धोंकी मान्यता है, कि प्रत्येक वस्तु सर्वथा विशेष रूप है, क्योंकि विशेषको छोड़ कर सामान्य कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता, और वस्तुका अर्थक्रियाकारित्व लक्षण भी विशेषमें ही घटित होता है। (३) न्यायवैशेषिकोंका कथन है, कि सामान्य-वशेष परस्पर भिन्न और निरपेक्ष हैं, अतएव सामान्य और विशेषको एक न मान कर परस्पर भिन्न स्वीकार करना चाहिये।

जैनसिद्धांत के अनुसार उक्त तीनों सिद्धांत कथंचित् सत्य हैं। वस्तुको सर्वथा-सामान्य माननेवाले वादी द्रव्यास्तिकनयकी अपेक्षासे, सर्वथा-विशेष माननेवाले वादी पर्यायास्तिकनयकी अपेक्षासे, तथा सामान्य-विशेषको परस्पर भिन्न और निरपेक्ष माननेवाले वादी नैगमनयकी अपेक्षासे सच्चे हैं। इस लिये सामान्य-विशेषको कथंचित् भिन्न-अभिन्न ही स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि पदार्थोंका ज्ञान करते समय सामान्य और विशेष दोनोंका ही एक साथ ज्ञान होता है, विना सामान्यके विशेष, और विना विशेषके सामान्यका कहीं भी ज्ञान नहीं होता। जैसे गौके देखनेपर हमें अनुवृत्ति रूप गौका ज्ञान होता है, वैसे ही भैंस आदिकी व्यावृत्ति रूप विशेषका भी ज्ञान होता है। इसी तरह शबला गौ कहनेपर जैसे विशेष रूप शबलत्वका ज्ञान होता है, वैसे ही गोत्व रूप सामान्यका भी ज्ञान होता है। अतएव सामान्य-विशेष कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होनेसे सामान्य और विशेष दोनों रूप ही हैं।

इसी प्रकार वाच्य (अर्थ) की तरह वाचक (शब्द) भी सामान्य–विशेष रूप है। (यहां मल्लिषेणने शब्दको पौद्गलिक सिद्ध करके उसे भी सामान्य-विशेष रूप सिद्ध किया है)। तथा, प्रत्येक वस्तुको भाव और अभाव रूप मानना चाहिये, क्योंकि यदि वस्तु सर्वथा अभाव रूप हो, तो उसे सर्वात्मक माननी चाहिये, और यदि वस्तु सर्वथा अभाव रूप हो, तो उसका कोई भी स्वभाव नहीं मानना चाहिये। अतएव प्रत्येक वस्तुको अपने स्वरूपसे सत, और पररूपसे असत् मानना चाहिये। अतएव प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है, इस लिये वाच्य और वाचक दोनों सामान्य-विशेष और एक-अनेक रूप हैं।

इदानीं सांख्याभिमतप्रकृतिपुरुषादितत्त्वानां विरोधावरुद्धत्वं ख्यापयन्, तद्बालिशताविलसितानामपरिमितत्वं दर्शयति–

अब सांख्योंके प्रकृति, पुरुष आदि तत्वोंका विरोध दिखलाते हुए उन लोगोंके मतका खंडन करते हैं—

चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि।
न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति कियज्जडैर्न ग्रथितं विरोधि॥ १५॥

श्लोकार्थ—स्वयं चेतना पदार्थोंको नहीं जानती; बुद्धि जड़ रूप है; शब्दसे आकाश, गंधसे पृथिवी, रससे जल, रूपसे अग्नि, स्पर्शसे वायु उत्पन्न होता है; पुरुषके न बंध होता है और न मोक्ष–ये सब सांख्य लोगोंकी विरुद्ध कल्पनायें हैं।

चित्–चैतन्यशक्तिः, आत्मस्वरूपभूता। **अर्थशून्या**–विषयपरिच्छेदविरहिता। अर्थाध्यवसायस्य बुद्धिव्यापारत्वाद् इत्येका कल्पना। **बुद्धिश्च** महत्तत्त्वाख्या। **जडा** अनवबोधस्वरूपा इति द्वितीया। **अम्बरादि**-व्योमप्रभृतिभूतपञ्चकं **शब्दादितन्मा**-

त्रजम्–शब्दादीनि यानि पञ्चतन्मात्राणि सूक्ष्मसंज्ञानि, तेभ्यो जातमुत्पन्नं, शब्दादितन्मात्रजम् इति तृतीया । अत्र चशब्दो गम्यः । पुरुषस्य च प्रकृतिविकृत्यनात्मकस्यात्मनो न बन्धमोक्षौ, किन्तु प्रकृतेरेव । तथा च कापिलाः—

> " तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
> संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः " ॥

तत्र बन्धः–प्राकृतिकादिः । मोक्षः–पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानपूर्वकोऽपवर्गः इति चतुर्थी । इतिशब्दस्य प्रकारार्थत्वाद्–एवंप्रकारमन्यदपि विरोधीति विरुद्धं, पूर्वापरविरोधादिदोषाघ्रातम् । जडैः–मूर्खैः, तत्त्वावबोधविधुरधीभिः कापिलैः । कियन्न ग्रथितं–कियद् न स्वशास्त्रेषूपनिबद्धम् । कियदित्यसूयागर्भम् । तत्प्ररूपितविरुद्धार्थानामानन्त्येनयत्तानवधारणात् । इति संक्षेपार्थः ॥

व्याख्यार्थ—पूर्वपक्ष (१) चेतनशक्ति पदार्थोंका ज्ञान नहीं करती, बुद्धिसे ही पदार्थोंका ज्ञान होता है । (२) बुद्धि (महत्व) अज्ञान रूप है । (३) आकाश आदि शब्द आदि पांच तन्मात्राओंसे उत्पन्न होते हैं । (४) प्रकृति और विकृतिसे भिन्न पुरुषके बंध और मोक्ष नहीं होता, प्रकृतिके ही बंध और मोक्ष होता है । कहा भी है " न कोई बंधता है, न मुक्त होता है, और न कोई संसारमें परिभ्रमण करता है; बंध, मोक्ष और परिभ्रमण नाना आश्रयवाली प्रकृतिके ही होते हैं । " (५) बंध प्रकृतिमें होता है, और पच्चीस तत्वोंके ज्ञानसे मोक्ष मिलता है ।

व्यासार्थस्त्वयम् । साङ्ख्यमते किल दुःखत्रयाभिहतस्य पुरुषस्य तदपघातहेतुतत्त्वजिज्ञासा उत्पद्यते । आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति दुःखत्रयम् । तत्राध्यात्मिकं द्विविधम् शारीरं मानसं च । शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम् । मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम् । सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम् । बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा आधिभौतिकमाधिदैविकं चेति । तत्राधिभौतिकं मानुषपशुपक्षिमृगसरीसृपस्थावरनिमित्तम् । आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकम् । अनेन दुःखत्रयेण रजःपरिणामभेदेन बुद्धिवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलतया अभिसंबन्धो अभिघातः ॥

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुखोंसे पीडित पुरुष दुखोंके नष्ट करनेके कारणोंको जानना चाहता है । आध्यात्मिक दुख शारीर और मानसके भेदसे दो प्रकारका है । वात, पित्त, और कफकी विषमतासे उत्पन्न होनेवाले दुखोंको शारीर, तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और विषयोंके प्राप्त न होनेसे उत्पन्न होनेवाले दुखोंको मानस दुख कहते हैं । शारीर और मानस दुख, दुखके अन्तरंग कारण मनसे उत्पन्न होते हैं, इस लिए इन्हें आध्या-

---

१ ईश्वरकृष्णविरचितसांख्यकारिका ६२ ।

त्मिक दुख कहा है। आधिभौतिक और आधिदैविक दुख बाह्य कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प और स्थावर आदिसे उत्पन्न होनेवाले दुखको आधिभौतिक, तथा यक्ष, राक्षस, ग्रह आदिसे पैदा होनेवाले दुखको आधिदैविक दुख कहते हैं। तीनों प्रकारके दुख रजोधर्मसे बुद्धिमें उत्पन्न होते हैं। जब इन दुखोंका चेतनाशक्तिके साथ विपरीत संबंध होता है, उस समय चेतनाशक्तिका अभिघात होता है।

तत्त्वानि पञ्चविंशतिः। तद्यथा अव्यक्तम् एकम्। महदहङ्कारपंचतन्मात्रैकादशेन्द्रियपंचमहाभूतभेदात् त्रयोविंशतिविधं व्यक्तम्। पुरुषश्चिद्रूप इति। तथा च ईश्वरकृष्णः—

“मूल[1]प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः”॥

तत्व पचीस होते हैं—१ अव्यक्त, २ महत् (बुद्धि), ३ अहंकार, ४–८ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध (पांच तन्मात्रा), ९–१९ घ्राण, रसना, चक्षु, स्पर्श और श्रोत्र (पांच बुद्धीन्द्रिय), और वाक् (वचन), पाणि (हाथ), पाद (पांव), पायु (गुदा), उपस्थ (लिंग) (पांच कर्मेन्द्रिय), तथा मन, २०–२४ आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी (पांच महाभूत), २५ प्रकृति और विकृति रहित पुरुष (चित्)। ईश्वरकृष्णने कहा भी है। “पचीस तत्वोंका मूल कारण प्रकृति (प्रधान-अव्यक्त) है, यह स्वयं किसीका विकार नहीं है (अविकृति)। महत्, अहंकार और पांच तन्मात्रायें ये प्रकृति और विकृति दोनों हैं (महत्व अहंकारकी प्रकृति, और मूल प्रकृतिकी विकृति है। अहंकार पांच तन्मात्रा और इन्द्रियोंकी प्रकृति, और महानकी विकृति है। पांच तन्मात्रायें पंचभूतोंकी प्रकृति और अहंकारकी विकृति है)। तथा ग्यारह इन्द्रियां और पांच महाभूत ये सोलह तत्व विकृति रूप ही हैं। पुरुष प्रकृति और विकृति दोनोंसे रहित है।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकानां लाघवोपष्टम्भगौरवधर्माणां परस्परोपकारिणां त्रयाणां गुणानां सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रधानमव्यक्तमित्यनर्थान्तरम्। तच्च अनादिमध्यान्तमनवयवं साधारणमशब्दमस्पर्शमरूपमगन्धमव्ययम्। प्रधानाद् बुद्धिर्महदित्यपरपर्यायोत्पद्यते। योऽयमध्यवसायो गवादिषु प्रतिपत्तिः एवमेतद् नान्यथा, गौरेवायं नाश्वः, स्थाणुरेष नायं पुरुष इत्येषा बुद्धिः। तस्यास्त्वष्टौ रूपाणि धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि। अधर्मादीनि तु तत्प्रतिपक्षभूतानि चत्वारि तामसानि॥

एक दूसरेका उपकार करनेवाले प्रीति और लाघव रूप सत्व, अप्रीति और उपष्टंभ रूप रज; और विषाद और गौरव रूप तम गुणोंकी साम्य अवस्थाको प्रकृति, प्रधान

---

[1] सांख्यकारिका ३।

अथवा अव्यक्त कहते हैं। यह प्रधान आदि, मध्य, अन्त और अवयव रहित है, साधारण है, शब्द, स्पर्श, रूप और गंधसे रहित, तथा अविनाशी है। प्रधानसे बुद्धि अथवा महान उत्पन्न होता है। यह गौ ही है, घोड़ा नहीं, पुरुष ही है, ठूंठ नहीं, इस प्रकार किसी वस्तुके निश्चय रूप ज्ञानको बुद्धि कहते हैं। बुद्धिके धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, (सात्विक) और अधर्म अज्ञान, अवैराग्य, और अनैश्वर्य (तामसिक) ये आठ गुण हैं।

बुद्धेः अहङ्कारः। स च अभिमानात्मकः। अहं शब्देऽहं स्पर्शेऽहं रूपेऽहं गन्धेऽहं रसेऽहं स्वामी अहमीश्वरः असौ मया हतः ससत्वोऽहममुं हनिष्यामीत्यादिप्रत्ययरूपः। तस्मात् पञ्चतन्मात्राणि शब्दतन्मात्रादीनि अविशेषरूपाणि सूक्ष्मपर्यायवाच्यानि। शब्दतन्मात्राद् हि शब्द एवोपलभ्यते, न पुनरुदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितषड्जादिभेदाः। षड्जादयः शब्दविशेषादुपलभ्यन्ते। एवं स्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेष्वपि योजनीयमिति। तत एव चाहङ्कारात् एकादशेन्द्रियाणि च। तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं त्वगिति पंचबुद्धीन्द्रियाणि। वाक्पाणिपादपायूपस्थाः पञ्चकर्मेन्द्रियाणि। एकादशं मन इति॥

बुद्धिसे अहंकार होता है। यह अहंकार 'मैं सुनता हूं, मैं स्पर्श करता हूं, मैं देखता हूं, मैं सूंघता हूं, मैं चखता हूं, मैं स्वामी हूं, मैं ईश्वर हूं, यह मैंने मारा हैं, मैं बलवान हूं, मैं इसे मारूँगा' आदि अभिमान रूप होता है। अहंकारसे पांच तन्मात्रायें होती हैं। ये शब्द आदि पांच तन्मात्रायें सामान्य रूप और सूक्ष्म पर्याय रूप हैं। शब्द तन्मात्रासे केवल शब्दका ही ज्ञान होता है, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कंपित और षड्ज आदि शब्दके विशेष रूपोंका नहीं, क्योंकि षड्ज आदिका ज्ञान विशेष शब्दसे ही होता है। इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि तन्मात्राओंसे सामान्य रूपसे स्पर्श, रूप, रस गंध, आदिका ज्ञान होता है, विशेष स्पर्श आदिका ज्ञान नहीं होता। अहंकारसे चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्श (बुद्धीन्द्रिय), वाक् पाणि, पाद, गुदा, लिंग (कर्मेंद्रिय) और मन ये ग्यारह इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं।

पञ्चतन्मात्रेभ्यश्च पञ्चमहाभूतान्युत्पद्यन्ते। तद्यथा शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्। शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः शब्दस्पर्शगुणः। शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद् रूपतन्मात्रात् तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणं। शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद् रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायत इति॥

पांच तन्मात्राओंसे पांच महाभूत पैदा होते हैं। शब्द तन्मात्रासे आकाश पैदा होता है। शब्द और स्पर्श तन्मात्राओंसे शब्द और स्पर्शके गुणसे युक्त वायु; शब्द, स्पर्श और

---

१ षड्जऋषभगान्धारा मध्यमः पंचमस्तथा। धैवतो निषधः सप्त तन्त्रीकण्ठोद्भवाः स्वराः॥ अभिधानचिन्तामणौ ६–३७।

रूप तन्मात्राओंसे शब्द, स्पर्श और रूप गुणोंसे युक्त अग्नि; शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्राओंसे शब्द, स्पर्श, रूप, और रससे युक्त जल; तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध तन्मात्राओंसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंधसे युक्त पृथिवी उत्पन्न होती है।

पुरुषस्तु—

" अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने "॥

इति। अन्धपङ्गुवत् प्रकृतिपुरुषयोः संयोगः। चिच्छक्तिश्च विषयपरिच्छेदशून्या। यत इन्द्रियद्वारेण सुखदुःखादयो बुद्धौ प्रतिसंक्रामन्ति बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा। ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते। ततः सुख्यहं दुःख्यहमित्युपचारः। आत्मा हि स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते। आह च पतञ्जलिः–" शुद्धो[1]ऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन् अतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते " इति। मुख्यतस्तु बुद्धेरेव विषयपरिच्छेदः। तथा च वाचस्पतिः–" सर्वो[2] व्यवहर्ता आलोच्य नन्वहमत्राधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मया इत्यध्यवस्यति। ततश्च प्रवर्तते इति लोकतः सिद्धम्। तत्र कर्तव्यमिति योऽयं निश्चयश्चितिसन्निधानापन्नचैतन्याया बुद्धेः सोऽध्यवसायो बुद्धेरसाधारणो व्यापारः " इति। चिच्छक्तिसन्निधानाच्चाचेतनापि बुद्धिश्चेतनावतीवाभासते। वादमहार्णवो[3]ऽप्याह। " बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति। तदेव भोक्तृत्वमस्य न त्वात्मनो विकारापत्तिः। " इति। तथा[4] चासुरिः—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि "॥

विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे।

" पुरुषोऽविकृतात्मव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा "॥

पुरुष " अमूर्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वव्यापी, क्रिया रहित, अकर्ता, निर्गुण और सूक्ष्म " है। अंधे और लंगड़े पुरुषकी तरह प्रकृति और पुरुषका संबंध होता है। चित्शक्ति (पुरुष) स्वयं पदार्थोंका ज्ञान नहीं कर सकती, क्योंकि सुख-दुख इन्द्रियोंद्वारा ही बुद्धिमें प्रतिभासित होते हैं। बुद्धि दोनों तरफसे दर्पणकी तरह है, इसमें एक ओर चेतनाशक्ति ओर दूसरी और बाह्य जगत झलकता है। बुद्धिमें चेतनाशक्तिके प्रतिबिम्ब पड़नेसे आत्मा (पुरुष) अपनेको बुद्धिसे अभिन्न समझता है, और इस लिये आत्मामें मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं, ऐसा ज्ञान होता है। पतंजलिने भी कहा है " यद्यपि पुरुष स्वयं

---

[1] व्यासभाष्ये। [2] सांख्यतत्त्वकौमुद्यां। [3] सांख्यग्रंन्थविशेषः। जैनाचार्यः अभयदेवसूरिरपि वादमहार्णवनामग्रन्थं कृतवान्। [4] अयं सांख्याचार्यः ईश्वरकृष्णगुरुपरम्परायामुपलभ्यते।

शुद्ध है, परन्तु वह बुद्धि संबंधी अध्यवसायको देख कर, बुद्धिसे भिन्न हो कर भी अपने आपको बुद्धिसे अभिन्न समझता है। " वास्तवमें वह ज्ञान बुद्धिका ही होता है। वाचस्पतिने भी कहा है " लोकके कार्योंमें प्रवृत्ति करने वाले सभी लोग यह मानते हैं, कि इसमें हमारा अधिकार है, और यह हमारा कर्तव्य है, ऐसा समझ कर निश्चय करते हैं। निश्चय करनेके पश्चात् कार्यमें प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार लोगोंमें परिपाटी चलती है। यहां बुद्धिमें चेतनाशक्तिका प्रतिबिंब पड़नेसे ही कर्तव्य-बुद्धिका निश्चय होता है, यह निश्चय बुद्धिका असाधारण व्यापार है। " बुद्धिमें चेतनाशक्तिका प्रतिबिम्ब पड़नेसे अचेतन बुद्धि चेतनकी तरह प्रतिभासित होने लगती है। वादमहार्णवमें भी कहा है "दर्पणके समान बुद्धिमें पड़नेवाला पदार्थोंका प्रतिबिम्ब पुरुष रूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित होता है। बुद्धिके प्रतिबिंबका पुरुषमें झलकना ही पुरुषका भोग है, इसीसे पुरुषको भोक्ता कहते हैं। इससे आत्मामें कोई विकार नहीं आता।" आसुरिने भी कहा है "जिस प्रकार निर्मल जलमें पड़नेवाला चन्द्रमाका प्रतिबिंब जलका ही विकार है, चन्द्रमाका नहीं, उसी तरह आत्मामें बुद्धिका प्रतिबिम्ब पड़नेपर आत्मामें जो भोक्तृत्व है, वह केवल बुद्धिका विकार है, वास्तवमें पुरुष निर्लेप है। " भोगके विषयमें विंध्यवासीने कहा है " जैसे भिन्न भिन्न रंगोंके संयोगसे निर्मल स्फटिक मणि काले, पीले आदि रूपका होता है, वैसे ही अविकारी चेतन पुरुष अचेतन मनको अपने समान चेतन बना लेता है। वास्तवमें विकारी होनेसे मन चेतन नहीं कहा जा सकता। "

न च वक्तव्यम् पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी कथमस्य मोक्षः। मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात् सवासनक्लेशकर्माशयानां च बन्धनसमाम्नातानां पुरुषेऽपरिणामिन्यसम्भवात्। अत एव नास्य प्रेत्यभावापरनामा संसारोऽस्ति, निष्क्रियत्वादिति। यतः प्रकृतिरेव नानापुरुषाश्रया सती बध्यते संसरति मुच्यते च न पुरुष इति बन्धमोक्षसंसाराः पुरुषे उपचर्यन्ते। यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते, तत्फलस्य कोशलाभादेः स्वामिनि संबन्धात्, तथा भोगापवर्गयोः प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात् पुरुषे संबन्ध इति ॥

प्रतिवादी—यदि पुरुष निर्गुण और अपरिणामी है, तो उसे मोक्ष नहीं हो सकता। मुच् धातुका अर्थ बंधनसे छुटना है। अपरिणामी आत्मामें वासना और क्लेश रूप कर्मोंके संबंधसे बंधनका उत्पन्न होना संभव नहीं, अतएव आत्माके निष्क्रिय होनेसे उसके परलोक (संसार) भी नहीं हो सकता। **सांख्य**—नाना पुरुषोंके आश्रित प्रकृतिके ही बंध होता है, वही संसारमें भ्रमण करती है, और प्रकृति ही को मोक्ष होता है। अतएव पुरुषके बंध, मोक्ष और संसारका व्यवहार उपचारसे होता है। जिस प्रकार किसी सेनाकी जय, पराजय होनेपर वह जय, पराजय सेनाके स्वामीकी समझी जाती है, क्योंकि जय, पराजयसे होनेवाले लाभ और हानिका फल स्वामीको ही मिलता है. उसी तरह वास्तवमें

संसार और मोक्ष दोनों प्रकृतिके होते हैं, परंतु पुरुषके विवेकख्याति होनेसे, पुरुषके ही संसार और मोक्ष माना जाता है।

तदेतदखिलमालजालम्। चिच्छक्तिश्च विषयपरिच्छेदशून्या चेति परस्परविरुद्धं वचः। चिती संज्ञाने। चेतनं चित्यते वानयेति चित्। सा चेत् स्वपरपरिच्छेदात्मिका नेष्यते तदा चिच्छक्तिरेव सा न स्यात्, घटवत्। न चामूर्तायाश्चिच्छक्तेर्बुद्धौ प्रतिविम्बोदयो युक्तः। तस्य मूर्तधर्मत्वात्। न च तथा परिणाममन्तरणे प्रतिसंक्रमोऽपि युक्तः। कथञ्चित् सक्रियात्मकताव्यतिरेकेण प्रकृत्युपधानेऽप्यन्यथात्वानुपपत्तेः। अप्रच्युतप्राचीनरूपस्य च सुखदुःखादिभोगव्यपदेशानर्हत्वात्। तत्प्रच्यवे च प्राक्तनरूपत्यागेनोत्तररूपाध्यासिततया सक्रियत्वापत्तिः। स्फटिकादावपि तथा परिणामैनैव प्रतिविम्बोदयसमर्थनात्। अन्यथा कथमन्धोपलादौ न प्रतिबिम्बः। तथा परिणामाभ्युपगमे च बलादायातं चिच्छक्तेः कर्तृत्वं साक्षाद्भोक्तृत्वं च॥

उत्तरपक्ष—(१) क—चेतनाशक्तिको पदार्थोंके ज्ञानसे शून्य कहना परस्पर विरुद्ध है। चित् धातु ज्ञानके अर्थमें प्रयुक्त होती है। जानने मात्र अथवा जिसके द्वारा जाना जाय, उसे चित् (चेतनं, चित्यते वा अनयेति चित्) कहते हैं। यदि चेतनाशक्ति निज और परका ज्ञान नहीं कर सकती, तो उसे घटकी तरह चेतनाशक्ति (चित्शक्ति) नहीं कह सकते। ख—अमूर्त चेतनाशक्तिका बुद्धिमें प्रतिविम्ब भी नहीं पड़ सकता, क्योंकि मूर्त पदार्थका ही प्रतिविम्ब पड़ता है। तथा अमूर्त चित्शक्तिका परिणामके विना बुद्धिमें परिवर्तन भी संभव नहीं। पुरुषको किसी न किसी रूपमें कर्ता माने विना प्रकृतिमें भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। तथा अपरिणामी और नित्य पुरुष अपने पूर्व रूपको छोड़े विना सुख-दुखका उपभोग नहीं कर सकता। यदि पुरुषके पूर्व रूपका त्याग और उत्तर रूपकी प्राप्ति स्वीकार की जाय, तो पुरुषको सक्रिय मानना चाहिये, परन्तु पुरुषकी सक्रियता सांख्य लोगोंको अभीष्ट नहीं है। तथा स्वयं क्रिया रहित होते हुए लाल पुष्पके संबंधसे लाल होनेवाले स्फटिक मणिका उदाहरण भी ठीक नहीं। क्योंकि स्फटिकमें थोडी बहुत क्रिया होनेसे ही उसमें लाल पुष्प आदिका प्रतिविम्ब पड़ता है। यदि स्फटिक मणि विना किसी प्रकारकी क्रियाके लाल पुष्पके संबंधसे प्रतिबिम्बित हो, तो अंध पाषाणमें भी लाल पुष्पका प्रतिविम्ब पड़ना चाहिये। यदि पुरुषमें यह परिणाम माना जाय, तो चेतनाशक्तिके बुद्धिमें प्रतिबिम्बित विना माने ही पुरुषको कर्त्ता और भोक्ता स्वीकार करना पड़ेगा।

अथ “[१]अपरिणामिनी भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुभवति” इति पतञ्जलिवचनादौपचारिक एवायं प्रतिसंक्रम इति चेत्, तर्हि “उपचारस्तत्त्वचिन्तायामनुपयोगी” इति प्रेक्षावतामनुपादेय एवायम्। तथा च प्रति-

---

[१] पातञ्जलयोगसूत्रोपरि व्यासभाष्ये ४–२२।

प्राणिप्रतीतं सुखदुःखादिसंवेदनं निराश्रयमेव स्यात्। न चेदं बुद्धेरुपपन्नम्। तस्या जडत्वेनाभ्युपगमात्।

शंका—“वास्तवमें भोक्तृत्व शक्तिमें परिणाम और क्रिया नहीं होती, परन्तु जब पुरुषका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस समय पुरुषमें परिणाम और क्रिया होते हैं,” पतंजलिके इस वचनसे पुरुषमें क्रिया केवल उपचारसे ही मानी जाती है। **समाधान**—यदि आप लोग बुद्धिमें चेतना शक्तिकी क्रियाको औपचारिक मानते हैं, तो “तत्वोंको निर्णय करनेमें उपचार अनुपयोगी होता है” इस लिये यह औपचारिक व्यवहार बुद्धिमानोंको मान्य नहीं हो सकता। अतएव प्रत्येक आत्मामें सुख-दुखका ज्ञान भी निराधार ही होना चाहिये, क्योंकि वास्तवमें सुख-दुखका आत्माके साथ संबंध नहीं है। यदि कहो, कि सुख-दुखका ज्ञान बुद्धि-जन्य है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि सांख्यमतमें बुद्धि जड़ मानी गई है।

अतएव जडा च बुद्धिः इत्यपि विरुद्धम्। न हि जडस्वरूपायां बुद्धौ विषयाध्यवसायः साध्यमानः साधीयस्तां दधाति। ननूक्तमचेतनापि बुद्धिश्चिच्छक्तिसान्निध्याच्चेतनावतीवावभासत इति। सत्यमुक्तम् अयुक्तं तूक्तम्। न हि चैतन्यवति पुरुषादौ प्रतिसंक्रान्ते दर्पणस्य चैतन्यापत्तिः। चैतन्याचैतन्ययोरपरावर्तिस्वभावत्वेन शक्रेणाप्यन्यथाकर्तुमशक्यत्वात्। किञ्च, अचेतनापि चेतनावतीव प्रतिभासत इति इवशब्देनारोपो ध्वन्यते। न चारोपोऽर्थक्रियासमर्थः। न खल्वतिकोपनत्वादिना समारोपिताग्नित्वो माणवकः कदाचिदपि मुख्याग्निसाध्यां दाहपाकाद्यर्थक्रियां कर्तुमीश्वरः। इति चिच्छक्तेरेव विषयाध्यवसायो घटते न जडरूपाया बुद्धेरिति। अत एव धर्माद्यष्टरूपतापि तस्या वाङ्मात्रमेव। धर्मादीनामात्मधर्मत्वात्। अत एव चाहङ्कारोऽपि न बुद्धिजन्यो युज्यते। तस्याभिमानात्मकत्वेनात्मधर्मस्याचेतनादुत्पादायोगात्॥

(२) बुद्धिको जड़ मानना भी विरुद्ध है। क्योंकि यदि बुद्धिको जड़ माना जाय, तो बुद्धिसे पदार्थोंका निश्चय नहीं हो सकता। **शंका**—बुद्धि अचेतन हो कर भी चेतनाशक्तिके संबंधसे चेतन जैसी प्रतिभासित होती है। **समाधान**—जैसे चेतन पुरुषके अचेतन दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़नेसे दर्पण चेतन नहीं हो सकता, वैसे ही अचेतन बुद्धिमें चेतन पुरुषका प्रतिबिम्ब पड़नेसे बुद्धिमें चेतनता नहीं आ सकती। चेतन और अचेतनका स्वभाव अविनाशी है, उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। तथा, ‘अचेतन बुद्धि चेतनकी तरह प्रतिभासित होती है’ यहां ‘इव’ (तरह) शब्दसे अचेतन बुद्धिमें चेतनताका आरोप किया गया है। परन्तु आरोपसे अर्थक्रिया की सिद्धि नहीं होती। जैसे यदि किसी बालकका अत्यंत क्रोधी स्वभाव देख कर उसका अग्नि नाम रख दिया जाय, परन्तु वह अग्निकी जलाने, पकाने आदि क्रियाओंको नहीं कर सकता, ऐसे ही विषयोंका ज्ञान चेतना-

शक्तिसे ही हो सकता है, अचेतन बुद्धिमें चेतनताका आरोप करने पर भी बुद्धिसे पदार्थोंका ज्ञान संभव नहीं। अतएव आप लोगोंने जो बुद्धिके धर्म आदि आठ गुण माने हैं, वे भी केवल वचन मात्र हैं, क्योंकि धर्म आदि आत्माके ही गुण हो सकते हैं, अचेतन बुद्धिके नहीं। इस लिये अहंकारको भी बुद्धि-जन्य नहीं मानना चाहिये। क्योंकि अहंकार अभिमान रूप है, इस लिये वह आत्मासे ही उत्पन्न होता है, वह अचेतन बुद्धिसे उत्पन्न नहीं हो सकता।

अम्बरादीनां च शब्दादितन्मात्रजत्वं प्रतीतिपराहतत्वेनैव विहितोत्तरम्। अपि च, सर्ववादिभिस्तावदविगानेन गगनस्य नित्यत्वमङ्गीक्रियते। अयं च शब्दतन्मात्रात् तस्याप्याविर्भावमुद्भावयन्नित्यैकान्तवादिनां च धुरि आसनं न्यासयन्नसंगतप्रलापीव प्रतिभाति। न च परिणामिकारणं स्वकार्यस्य गुणो भवितुमर्हतीति “[1]शब्दगुणमाकाशम्” इत्यादि वाङ्मात्रम्। वागादीनां चेन्द्रियत्वमेव न युज्यते। इतरासाध्यकार्यकारित्वाभावात्। परप्रतिपादनग्रहणविहरणमलोत्सर्गादिकार्याणामितरावयवैरपि साध्यत्वोपलब्धेः। तथापि तत्त्वकल्पने इन्द्रियसंख्या न व्यवतिष्ठते, अन्याङ्गोपाङ्गानामपीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्॥

(३) आकाश आदिका शब्द आदि पांच तन्मात्राओंसे उत्पन्न होना अनुभवके सर्वथा विरुद्ध है। तथा, सब लोगोंने आकाशको नित्य स्वीकार किया है, नित्य एकान्तवादको मानकर भी केवल सांख्य लोग ही उसकी शब्द तन्मात्रासे उत्पत्ति मान कर असंगत प्रलाप करते हैं। तथा, जो वस्तु परिणाममें कारण है, वह अपने कार्यका गुण नहीं हो सकती। इस लिये “आकाशको शब्दका गुण मानना” भी कथन मात्र है। तथा वाक्, पाणि आदि इन्द्रियां नहीं कही जा सकती, क्योंकि दूसरोंको समझाना, किसी वस्तुको उठाना, चलना, मल त्याग करना, आदि वाक्, पाणि, पाद, पायु आदि कर्मेन्द्रियोंसे होने वाले कार्य शरीरके अन्य अवयवोंसे भी किये जा सकते हैं। जैसे उंगलियोंद्वारा भी दूसरोंको समझाया जा सकता है। अतएव वाक् आदि शरीरकें अवयव हैं, इन्हें इन्द्रियां नहीं कह सकते। यदि फिर भी वाक् आदिको इन्द्रिय माना जाय, तो इन्द्रियोंकी ग्यारह संख्या नहीं बन सकती, क्योंकि शरीरके अन्य अंग-उपांगोंको भी हम इन्द्रिय कह सकते हैं।

यच्चोक्तं ‘नानाश्रयायाः प्रकृतेरेव वन्धमोक्षौ संसारश्च न पुरुषस्य’ इति। तदप्यसारम्। अनादिभवपरम्परानुवद्धया प्रकृत्या सह यः पुरुषस्य विवेकाग्रहणलक्षणोऽविष्वग्भावः स एव चेन्न वन्धः, तदा को नामान्यो वन्धः स्यात्। प्रकृतिः सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तम् इति च प्रतिपद्यमानेनायुष्मता संज्ञान्तरेण कर्मैव प्रतिपन्नं। तस्यैवंस्वरूपत्वात् अचेतनत्वाच्च॥

---

[1] वैशेषिकसूत्रे।

(४) तथा अनेक पुरुषोंके आश्रय रहने वाली प्रकृतिके ही बंधमोक्ष-और संसार होते हैं, पुरुषके नहीं, यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि आप लोगोंके मतमें अनादि कालसे प्रकृति और पुरुषके विवेकको न समझ कर यह पुरुष प्रकृतिसे बंध रहा है, यदि आप लोग पुरुषके प्रकृतिके साथ इस अनादि कालसे चले आये हुए बंधनको बंध नहीं कहते, तो फिर आपके मतमें बंधका क्या लक्षण है? अतएव पुरुषके ही बंध स्वीकार करना योग्य है। प्रकृति सबको उत्पन्न करने वाली है, प्रकृतिको कर्म भी कह सकते हैं। प्रकृति अचेतन है, अतएव बंध पुरुषके ही मानना चाहिये, प्रकृतिके नहीं।

यस्तु प्राकृतिकवैकारिकदाक्षिणभेदात् त्रिविधो बन्धः। तद्यथा प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः। ये विकारानेत्र भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धीः पुरुषबुद्ध्योपासते तेषां वैकारिकः। इष्टापूर्ते दाक्षिणः। पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना वध्यत इति।

“ इष्टापूर्तं[1] मन्यमाना वरिष्ठं।
नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा।
इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ”॥

इति वचनात्। स त्रिविधोऽपि कल्पनामात्रं कथञ्चिद् मिथ्या[2]दर्शनाविरातिप्रमादकषाययोगेभ्योऽभिन्नस्वरूपत्वेन कर्मबन्धहेतुष्वेवान्तर्भावात्। बन्धसिद्धौ च सिद्धस्तस्यैव निर्बाधः संसारः। बन्धमोक्षयोश्चैकाधिकरणत्वाद् य एव बद्धः स एव मुच्यत इति पुरुषस्यैव मोक्षः आबालगोपालं तथाप्रतीतेः॥

सांख्य—प्राकृतिक, वैकारिक, और दाक्षिणके भेदसे बंध तीन प्रकारका होता है। प्रकृतिको आत्मा समझ कर प्रकृतिकी उपासना करना प्राकृतिक बंध है। पांच भूत, इन्द्रिय, अहंकार, और बुद्धि रूप विकारोंको पुरुष मान कर उपासना करना वैकारिक बंध है। यज्ञ और दान आदिको दाक्षिण बंध कहते है। आत्माको न जान कर, सांसारिक इच्छाओंसे यज्ञ, दान आदि कर्म करनेसे दाक्षिण बंध होता है। कहा भी है “जो मूढ़ पुरुष यज्ञ दान आदिको ही सबसे श्रेष्ठ मानते हैं, यज्ञ दान आदिके अतिरिक्त किसी भी शुभ कर्मकी प्रशंसा नहीं करते, वे लोग पहले स्वर्गमें उत्पन्न होते है, और अन्तमें फिर मनुष्य लोकमें अथवा इससे भी हीन लोकमें जन्म लेते हैं।” **जैन**—उक्त तीनों

---

[1] मुंडक उ १-२-१०। [2] मिथ्या विपरीतं दर्शनं मिथ्यादर्शनम्। सावद्ययोगेभ्यो निवृत्त्यभावः अविरतिः। प्रकर्षेण माद्यत्यनेनेति प्रमादः। विषयक्रीडाभिष्वङ्गः। कलुषयन्ति शुद्धस्वभावं सन्तं कर्ममलिनं कुर्वन्ति जीवमिति कषायाः। कायवाङ्मनसां कर्म योगः।

प्रकारका बंध मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगमें गर्भित हो जाता है, अतएव उसे पृथक् स्वीकार करना ठीक नहीं। अतएव जीवके बन्ध सिद्ध होनेपर, जीवके ही संसारकी भी सिद्धि होती है। तथा, जो बंधता है, वह कभी मुक्त भी होता है, अतएव बंध और मोक्षका एक ही अधिकरण होनेसे पुरुषके मोक्ष भी सिद्ध होता है, अतएव 'पुरुषके न बंध होता है, न मोक्ष' यह कहना अयुक्तियुक्त है।

प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनात् प्रवृत्तेरुपरतायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्ष इति चेत्। न। प्रवृत्तिस्वभावायाः प्रकृतेरौदासीन्यायोगात्। अथ पुरुषार्थनिबन्धना तस्याः प्रवृत्तिः। विवेकख्यातिश्च पुरुषार्थः। तस्यां जातायां निवर्तते, कृतकार्यत्वात्।

"[1]रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥"

इति वचनादिति चेत्। नैवम्। तस्या अचेतनाया विमृश्यकारित्वाभावात्। यथेयं कृतेऽपि शब्दाद्युपलम्भे पुनस्तदर्थं प्रवर्तते, तथा विवेकख्यातौ कृतायामपि पुनस्तदर्थं प्रवर्तिष्यते। प्रवृत्तिलक्षणस्य स्वभावस्यानपेतत्वात्। नर्तकीदृष्टान्तस्तु स्वेष्टविघातकारी। यथा हि नर्तकी नृत्यं पारिषदेभ्यो दर्शयित्वा निवृत्तापि पुनस्तत्कुतूहलात् प्रवर्तते, तथा प्रकृतिरपि पुरुषायात्मानं दर्शयित्वा निवृत्तापि पुनः कथं न प्रवर्ततामिति। तस्मात् कृत्स्नकर्मक्षये पुरुषस्यैव मोक्ष इति प्रतिपत्तव्यम् ॥

शंका—जिस समय प्रकृति और पुरुषमें विवेकख्याति उत्पन्न होती है, प्रकृति प्रवृत्तिसे मुंह मोड़ लेती है, उस समय पुरुष अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है, इसे ही मोक्ष कहते हैं। **समाधान**—प्रकृतिका स्वभाव प्रवृत्ति करना ही है, अतएव वह प्रकृति प्रवृत्तिसे उदासीन नहीं हो सकती। **शंका**—प्रकृतिकी प्रवृत्ति केवल पुरुषार्थके लिये उत्पन्न होती है, और पुरुष और प्रकृतिमें भेद-दृष्टि होना ही पुरुषार्थ है। इस भेद-दृष्टिके उत्पन्न होनेपर प्रकृति कृतकृत्य हो कर विश्राम लेती है। कहा भी है "जिस प्रकार रंगभूमिमें अपना नृत्य दिखा कर नटी निवृत्त होती है उसी तरह प्रकृति पुरुषको अपना रूप दिखा कर निवृत्त होती है।" **समाधान**—प्रकृति अचेतन है, अतएव वह विचारपूर्वक प्रवृत्ति नहीं कर सकती। तथा जिस प्रकार विषयका एक बार उपभोग करनपर भी फिरसे उसी विषयके लिये प्रकृतिकी प्रवृत्ति होती है (क्योंकि प्रकृति प्रवृत्ति-शील है), वैसे ही विवेकख्याति होनेपर भी फिरसे पुरुषमें प्रकृतिकी प्रवृत्ति होना चाहिये, क्योंकि प्रकृतिका स्वभाव प्रवृत्ति करनेका है। तथा, नटीका दृष्टांत उलटा आप लोगोंके सिद्धांत का घातक है। क्योंकि दर्शकोंको एक बार नृत्य दिखा कर चले जानेपर

---

[1] सांख्यकारिका ५९।

भी अच्छा नृत्य होनेसे दर्शक लोगोंके आग्रहसे नर्तकी फिरसे अपना नाच दिखाने लगती है, वैसे ही पुरुषको अपना स्वरूप दिखा कर प्रकृतिके निवृत्त हो जानेपर भी प्रकृतिको फिरसे प्रवृत्ति करना चाहिये। अतएव सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय होना ही मोक्षका स्वरूप मानना ठीक है।

एवमन्यासामपि तत्कल्पनानां तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रभेदात् पञ्चधा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशरूपो विपर्ययः। ब्राह्मप्राजापत्यसौम्येन्द्रगान्धर्वयक्षराक्षसपैशाचभेदादष्टविधो दैवः सर्गः। पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरभेदात् पञ्चविधस्तैर्यग्योनः। ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरभेदाविवक्षया चैकविधो मानुषः। इति चतुर्दशधा भूतसर्गः। बाधिर्यकुंठतान्धत्वजडताऽजिघ्रतामूकताकौण्यपङ्गुत्वक्लैब्योदावर्तमत्तता-रूपैकादशेन्द्रियवधतुष्टिनवकविपर्ययसिद्ध्यष्टकविपर्ययलक्षणसप्तदशबुद्धिवधभेदादष्टाविंशतिधा अशक्तिः। प्रकृत्युपादानकालभोगाख्या अम्भःसलिलौघवृष्ट्यपरपर्यायवाच्याश्चतस्र आध्यात्मिक्यः। शब्दादिविषयोपरतयश्चार्जनरक्षणक्षयभोगहिंसादोषदर्शनहेतुजन्मानः पञ्चबाह्यास्तुष्टयः। ताश्च पारसुपारपारापारानुत्तमाम्भउत्तमाम्भःशब्दव्यपदेश्याः। इति नवधा तुष्टिः। त्रयो दुःखविघाता इति मुख्यास्तिस्रः सिद्धयः प्रमोदमुदितमोदमानाख्याः। तथाध्ययनं शब्द ऊहः सुहृत्प्राप्तिर्दानमिति दुःखविघातोपायतया गौण्यः पञ्चतारसुतारतारतारम्यकसदामुदिताख्याः। इत्येवमष्टधा सिद्धिः। धतिश्रद्धासुखविविदिषाविज्ञप्तिभेदात् पञ्चकर्मयोनयः। इत्यादीनां संवरप्रतिसंवरादीनां च तत्त्वकौमुदीगौडपादभाष्यादिप्रसिद्धानां विरुद्धत्वमुद्भावनीयम्॥ इति काव्यार्थः॥ १५॥

इसके अतिरिक्त, सांख्य लोगोंकी निम्न कल्पनायें भी विरुद्ध हैं। (क) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश रूप तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र, यह पांच प्रकारका विपर्यय है। तम और मोहके आठ, महामोहके दस, तामिस्र और अंधतामिस्रके अठारह भेद होनेसे यह विपर्यय कुल ६२ प्रकारका होता है। (ख) ब्राह्म, प्राजापत्य, सौम्य,

---

१ सांख्यतत्त्वकौमुदी कारिका ४७। २ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। सुखानुशयी रागः। दुःखानुशयी द्वेषः। स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। पातंजलयोगसूत्रे २-५, ६, ७, ८, ९। ३ घटादयस्त्वशरीरत्वेऽपि स्थावरा एव। इति वाचस्पतिमिश्रः।

४ मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाद्धि तद्भेदाः चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ जिनसेनकृतआदिपुराणे ३२-४६

५ सांख्यकारिकागौडपादभाष्ये सांख्यतत्त्वकौमुद्यां च कारिका ५३। ६ सांख्यकारिकागौडपादभाष्ये सांख्यतत्त्वकौमुद्यां च कारिका ४९,,५०, ५१। ७ 'संचारप्रतिसंचारादीनाम्' इति पाठान्तरं।

गांधर्व, यक्ष, राक्षस, पैशाच ये आठ प्रकारके देव; पशु, मृग, पक्षी, सर्प, स्थावर ये पांच प्रकारके तिर्यंच (अचेतन घट आदि भी स्थावरमें ही गर्भित होते हैं); तथा ब्राह्मण आदिके भेदोंकी अपेक्षा न करके एक प्रकारका मनुष्य, यह चौदह प्रकारका भौतिक सर्ग कहा जाता है। भौतिक सर्ग ऊर्ध्व, अधो और मध्य लोकके भेदसे तीन प्रकारका है। आकाशसे लेकर सत्यलोक पर्यंत ऊर्ध्व लोकमें सत्व, पशुसे लेकर स्थावर पर्यंत अधो लोकमें तम, और ब्रह्मसे लेकर वृक्ष पर्यंत मध्य लोकमें रजकी बहुलता है। सात द्वीप और समुद्रोंका मध्य लोकमें अंतर्भाव होता है। (ग) ग्यारह प्रकारके इन्द्रिय-वध और सतरह प्रकारके बुद्धि-वधको मिला कर २८ प्रकारकी अशक्ति होती है। बधिरता (श्रोत्र), कुंठता (वचन), अंधापन (चक्षु), जड़ता (स्पर्श), गंधका अभाव (घ्राण), गूंगापन (जिह्वा), लूलापन (हाथ), लंगड़ापन (पैर), नपुंसकता (लिंग), गुदग्रह (पायु), तथा उन्मत्तता (मन), यह ग्यारह इन्द्रियोंका वध है। नौ तुष्टि और आठ सिद्धिको उलटा करनेसे सतरह प्रकारका बुद्धि-वध होता है। प्रकृति (अंभ), उपादान (सलिल), काल (ओघ), भोग (वृष्टि) इन चार आध्यात्मिक तुष्टि, और पांच इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्ति रूप उपार्जन, रक्षण, क्षय, भोग और हिंसासे उत्पन्न होनेवाली पार, सुपार, पारापार, अनुत्तमांभ और उत्तमांभ नामक पांच बाह्य तुष्टियोंको मिला कर नौ तुष्टि होती हैं। तीन प्रकारके दुःखोंके नाशसे उत्पन्न होनेवाली प्रमोद, मुदित-मोद और मान नामक तीन मुख्य सिद्धि; अध्ययन, शब्द, तर्क, सच्चे मित्रोंकी प्राप्ति, और दानसे होनेवाली तार, सुतार, तारतार, रम्यक और सदामुदित नामक पांच गौण सिद्धियोंको मिला कर आठ सिद्धियां होती हैं। (घ) धृति, श्रद्धा, सुख, वाद करनेकी इच्छा तथा ज्ञान ये पांच कर्मयोनि हैं। इसी प्रकार संवर, प्रतिसंवर आदिकी विरुद्ध कल्पनायें सांख्यतत्वकौमुदी गौड़पादभाष्य आदि ग्रंथोंमें की गई हैं। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—सांख्य (१) चित्शक्ति (पुरुष अथवा चेतनशक्ति) से पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। अचेतन बुद्धिसे ही पदार्थ जाने जाते हैं। यह बुद्धि पुरुषका धर्म नहीं है, केवल प्रकृतिका विकार है। इस अचेतन बुद्धिमें चित्शक्तिका प्रतिबिम्ब पड़नेसे चित्शक्ति अपने आपको बुद्धिसे अभिन्न समझती है, इस लिये पुरुषमें 'मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं' ऐसा ज्ञान होता है। चित्शक्तिके प्रतिबिम्ब पड़नेसे यह अचेतन बुद्धि चेतनकी तरह प्रतिभासित होने लगती है। इस बुद्धिके प्रतिबिम्बका पुरुषमें झलकना ही पुरुषका भोग है। वास्तवमें बंध और मोक्ष प्रकृतिके ही होता है, पुरुष और प्रकृतिका अभेद होनेसे पुरुषके संसार और मोक्षका सद्भाव माना जाता है। वास्तवमें पुरुष निष्क्रिय और निर्लेप है।

जैन—(क) चेतनशक्तिको ज्ञानसे शून्य कहना परस्पर विरुद्ध है। यदि चेतनशक्ति स्व और परका ज्ञान करनेमें असमर्थ है, तो उसे चेतनशक्ति नहीं कह सकते। तथा, अमूर्त चेतनशक्तिका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। क्योंकि मूर्त पदार्थका ही प्रतिबिंब पड़ता है। चेतनशक्तिको परिणमनशील और कर्ता माने विना चेतनशक्तिका बुद्धिमें परिवर्तन होना भी संभव नहीं है। पूर्व रूपके त्याग और उत्तर रूपके ग्रहण किये विना पुरुष सुख-दुखका भोक्ता नहीं कहला सकता। इस पूर्वाकारके त्याग और उत्तराकारके ग्रहण माननेसे पुरुषको निष्क्रिय नहीं कह सकते। तथा, यह पुरुष अनादि कालसे अविवेकके कारण प्रकृतिसे बंध रहा है। परन्तु प्रकृति अचेतन है, इस लिये बंध पुरुषके ही मानना चाहिये। तथा, प्रकृतिका स्वभाव सदा प्रवृत्ति करना है, अतएव प्रकृति अपने स्वभावसे कभी निवृत्त नहीं हो सकती, इस लिये पुरुषको कभी मोक्ष नहीं हो सकता। (ख) बुद्धिको जड़ मानना भी विरुद्ध है, क्योंकि बुद्धिको जड़ माननेसे उससे पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। जिस प्रकार दर्पणमें पुरुषका प्रतिबिंब पड़नेसे अचेतन दर्पण चेतन नहीं हो सकता, उसी तरह अचेतन बुद्धि चेतन पुरुषके प्रतिबिंबसे चेतन नहीं कही जा सकती। अतएव धर्म आदि बुद्धिके आठ गुण मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि बुद्धि अचेतन है। इसी तरह अहंकारको भी आत्माका ही गुण मानना चाहिये, बुद्धिका नहीं।

सांख्य (२) (क) आकाश आदि पांच तन्मात्राओंसे उत्पन्न होते हैं। (ख) ग्यारह इन्द्रियां होती हैं। **जैन** (क) आकाश आदिकी पांच तन्मात्राओंसे उत्पत्ति मानना अनुभवके विरुद्ध है। सत्कार्यवाद (नित्यैकान्तवाद) के माननेवाले सांख्य लोग भी आकाशको नित्य मानते हैं, यह आश्चर्य है। आकाशको सभी वादियोंने नित्य माना है। (ख) वाक्, पाणि आदिको अलग इंद्रिय नहीं कह सकते। क्योंकि वाक्, पाणि आदि कर्म-इंद्रियोंसे होनेवाले कार्य शरीरके अन्य अवयवोंसे भी किये जा सकते हैं। अतएव वाक् आदिको अलग इंद्रिय मानना ठीक नहीं। यदि इन्हें इन्द्रिय माना जाय, तो शरीरके अन्य अंगोपांगोंको भी इन्द्रिय कहना चाहिये।

इदानीं ये प्रमाणादेकान्तेनाभिन्नं प्रमाणफलमाहुः ये च बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण ज्ञानाद्वैतमेवास्तीति ब्रुवते तन्मतस्य विचार्यमाणत्वे विशरारुतामाह—

अब, प्रमाणसे प्रमाणके फल (प्रमिति) को सर्वथा भिन्न माननेवाले, तथा बाह्य पदार्थोंका निषेध करके ज्ञानाद्वैतको स्वीकार करनेवाले बौद्धोंका खंडन करते हैं—

न तुल्यकालः फलहेतुभावो हेतौ विलीने न फलस्य भावः ।
न संविदद्वैतपथेऽर्थसंविद् विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—हेतु और हेतुका फल साथ साथ नहीं रह सकते, और हेतुके नाश हो जानेपर फलकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि जगतको विज्ञान रूप माना जाय, तो पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव बुद्धका इन्द्रजाल विशीर्ण हो जाता है।

बौद्धाः किल प्रमाणात् तत्फलमेकान्तेनाभिन्नं मन्यन्ते । तथा च तात्सिद्धान्तः— " उभयत्र[1] तदेव ज्ञानं प्रमाणफलमधिगमरूपत्वात् " । " उभयत्रेति[2] प्रत्यक्षेऽनुमाने च तदेव ज्ञानं प्रत्यक्षानुमानलक्षणं फलं कार्यम् । कुतः । अधिगमरूपत्वादिति परिच्छेदरूपत्वात् । तथाहि । परिच्छेदरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यते । न च परिच्छेदादृतेऽन्यद् ज्ञानफलम्, भिन्नाधिकरणत्वात्[3] । इति सर्वथा न प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नं फलमस्तीति " ॥

व्याख्यार्थ—(१) **पूर्वपक्ष**—प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों एक ही हैं। कहा भी है " (प्रत्यक्ष और अनुमान) दोनों प्रमाणोंमें ज्ञान ही प्रमाण और प्रमाणका फल है, क्योंकि ज्ञान अधिगम रूप है । " "प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञानमें ज्ञान ही फल (कार्य) है, क्योंकि वह अधिगम रूप है । ज्ञान ज्ञान रूप ही उत्पन्न होता है । पदार्थोंको जाननेके अतिरिक्त ज्ञानका कोई दूसरा फल नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानसे भिन्न हेय और उपादेय रूप ज्ञानका फल वास्तवमें प्रमाताका फल है, ज्ञानका नहीं । क्योंकि ज्ञानसे जाने हुए पदार्थोंमें पुरुषोंकी ही हित और अहित रूप प्रवृत्ति देखी जाती है । अतएव हेय और उपादेय रूप प्रवृत्तिके भिन्न अधिकरण होनेसे उसे ज्ञानका फल नहीं मानना चाहिए । अतएव प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञानका फल प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञानसे भिन्न नहीं है " ।

एतच्च न समीचीनम् । यतो यद्यस्मादेकान्तेनाभिन्नं, तत्तेन सहैवोत्पद्यते । यथा घटेन घटत्वम् । तैश्च प्रमाणफलयोः कार्यकारणभावोऽभ्युपगम्यते । प्रमाणं कारणं फलं कार्यमिति । स चैकान्ताभेदे न घटते । न हि युगपदुत्पद्यमानयोस्तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव कार्यकारणभावो युक्तः । नियतप्राक्कालभावित्वात् कारणस्य । नियतोत्तरकालभावित्वात् कार्यस्य । एतदेवाह न तुल्यकालः फलहेतुभाव इति । फलं कार्यं हेतुः कारणम् तयोर्भावः स्वरूपम्, कार्यकारणभावः । स तुल्यकालः समानकालो न युज्यत इत्यर्थः ॥

---

१ दिङ्नागविरचितन्यायप्रवेशे पृ. ७ । २ हरिभद्रसूरिकृता न्यायप्रवेशवृत्तिः पृ. ३६। ३ पार्श्वदेवकृतन्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिकायां—भिन्नमधिकरणमाश्रयो यस्य फलस्य तत्तथा...अयमर्थः । ज्ञानाद्व्यतिरिक्तं यदुच्यते फलं हानोपानादिकं तदा तत्फलं प्रमातुरेव स्यान्न ज्ञानस्य । तथाहि ज्ञानेन प्रदर्शितेऽर्थे हानादिकं तद्विषये पुरुषस्यैवोपजायते अतो हानादिकस्य भिन्नाश्रयत्वान्न फलत्वं मन्तव्यं ।

उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं है। क्योंकि जो पदार्थ जिस पदार्थसे सर्वथा अभिन्न होता है, वह उसी पदार्थके साथ उत्पन्न होता है। जैसे घट घटत्वसे सर्वथा भिन्न है, इस लिये घट और घटत्व दोनों साथ उत्पन्न होते हैं। तथा, बौद्ध लोग प्रमाण और प्रमाणके फलमें कार्य-कारण संबंध मान कर प्रमाणको कारण, और प्रमाणके फलको उसका कार्य कहते हैं। यह कार्य-कारण भाव प्रमाण और उसके फलको सर्वथा अभिन्न माननेमें नहीं बनता। कारण कि प्रमाण और प्रमाणका फल बौद्ध लोगोंके मतमें गायके बांये और दाहिने सींगोंकी तरह एक साथ उत्पन्न होते हैं, इस लिये उनमें कार्य-कारण संबंध नहीं हो सकता। क्योंकि कारण कार्यके पहले, और कार्य कारणके बाद होता है। अतएव प्रमाण और प्रमाणका फल सर्वथा अभिन्न नहीं हो सकते।

अथ क्षणान्तरितत्वात् तयोः क्रमभावित्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह। **हेतौ विलीने न फलस्य भाव इति।** हेतौ कारणे प्रमाणलक्षणे विलीने क्षणिकत्वादुत्पत्त्यनन्तरमेव निरन्वयं विनष्टे फलस्य प्रमाणकार्यस्य न भावः सत्ता, निर्मूलत्वात्। विद्यमाने हि फलहेतावस्येदं फलमिति प्रतीयते नान्यथा, अतिप्रसङ्गात्। किञ्च, हेतुफलभावः सम्बंधः स च द्विष्ठ एव स्यात्। न चानयोः क्षणक्षयैकदीक्षितो भवान् सम्बन्धं क्षमते। ततः कथम् 'अयं हेतुरिदं फलम्' इति प्रतिनियता प्रतीतिः। एकस्य ग्रहणेऽप्यन्यस्याग्रहणे तदसंभवात्।

"द्विष्ठसंबन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्।
द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति संबन्धवेदनम्" ॥

इति वचनात् ॥

शंका—प्रमाण और प्रमाणके फलमें क्षण मात्रका अंतर पड़ता है, अतएव प्रमाण और प्रमाणका फल क्रमसे होते हैं। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि बौद्ध लोगोंके क्षणिकवादमें प्रत्येक वस्तु एक क्षणके लिये ठहर कर दूसरे क्षणमें नष्ट हो जाती है, अतएव प्रमाणके क्षणिक होनेके कारण प्रमाण (कारण) के उत्पन्न होते ही सर्वथा नष्ट हो जानेसे प्रमाणके फल (कार्य) की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कारण रूप प्रमाणका सर्वथा (निरन्वय) विनाश हो जाता है। कार्यकी उत्पत्ति कारणके रहने पर ही होती है, अन्यथा नहीं। यदि कारणके विना कार्य उत्पन्न होने लगे, तो बीजके विना वृक्षकी उत्पत्ति माननी चाहिये। अतएव प्रमाण और प्रमाणके फलमें कार्य-कारण संबंध नहीं हो सकता। तथा, प्रमाण और उसके फलका संबंध दो पदार्थोंमें ही रहता है। किन्तु क्षण क्षणमें नाश होनेवाले प्रमाण और प्रमाणके फलमें कोई संबंध नहीं हो सकता। अतएव 'यह हेतु है, और यह उसका फल है' यह निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों क्षणिक होनेसे एक साथ नहीं रहते। इस लिये प्रमाणके

होनेसे फल, और फलके होनेसे प्रमाणका ज्ञान नहीं हो सकता। कहा भी है “ दो वस्तुओंमें रहनेवाले संबंधका ज्ञान दोनों वस्तुओंके ज्ञान होनेपर ही हो सकता है। यदि दोनों वस्तुओंमेंसे एक वस्तु रहे, तो उस संबंधका ज्ञान नहीं होता। ”

यदपि धर्मोत्तरेण “ [1]अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेः ” इति न्यायबिन्दुसूत्रं विवृण्वता भणितम् “ [2]नीलनिर्भासं हि विज्ञानं, यतस्तस्माद् नलिस्य प्रतीतिरवसीयते। येभ्यो हि चक्षुरादिभ्यो ज्ञानमुत्पद्यते, न तद्वशात् तज्ज्ञानं नलिस्य संवेदनं शक्यतेऽवस्थापयितुं नीलसदृशं त्वनुभूयभानं नीलस्य संवेदनमवस्थाप्यते। न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावः। येनैकस्मिन् वस्तुनि विरोधः स्यात्। अपि तु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन तत एकस्य वस्तुनः किञ्चिद्रूपं प्रमाणं किञ्चित् प्रमाणफलं न विरुध्यते। व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्यं तस्य ज्ञानस्य व्यवस्थाप्यं च नीलसंवेदनरूपम् ” इत्यादि ॥

आचार्य धर्मोत्तर (बौद्ध)—“ किसी पदार्थका ज्ञान करते समय, ज्ञानके पदार्थके आकारका होनेसे ही (अर्थसारूप्य) ज्ञानकी प्रमाणता कही जाती है, इसीसे पदार्थका ज्ञान होता है। ” “ जिस समय ज्ञान नील घटको जाननेपर नील घटके आकारका होता है, उस समय नील घटका ज्ञान होता है। चक्षु आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानसे नीलका ज्ञान नहीं होता, किन्तु जिस समय ज्ञानमें नील घटके सदृश आकारका अनुभव होता है, उस समय नील घटका ज्ञान होता है। हम प्रमाण और प्रमाणके फलमें जन्य-जनक (कार्य-कारण) संबंध न मान कर व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक संबंध मानते हैं। इस लिये प्रमाणसे प्रमाणका फल उत्पन्न नहीं होता, किन्तु प्रमाणसे प्रमाणके फलकी व्यवस्था होती है। अतएव हमारे मतमें प्रमाण और प्रमाणके फलमें कार्य-कारण संबंध न माननेसे विरोध नहीं आता। इस लिये एक ही वस्तु प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों रूप होती है। नील घटको जानते समय घटका सारूप्य (सदृश आकार) व्यवस्थापक है, और नील ज्ञान व्यवस्थाप्य है। ” **स्पष्टार्थ**—बौद्ध लोग प्रमाण और प्रमितिको अभिन्न मानते हैं। उनके मतमें जिस ज्ञानसे (प्रत्यक्ष, अनुमान) पदार्थ जाने जाते हैं, वही ज्ञान प्रमाण और प्रमिति दोनों रूप होता है। बौद्ध लोगोंने पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेवाले संशय और विपर्यय रहित प्रापक ज्ञानको प्रमाण माना है। जिस प्रापण शक्तिसे ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होनेपर भी प्रापक होता है, वही प्रमाणका फल है। अतएव जिस ज्ञानसे अर्थकी प्रतीति होती है, उसी ज्ञानसे अर्थका दर्शन होता है, इस लिये ज्ञान प्रमाण और प्रमिति दोनों रूप है (तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात्)। **शंका**—यदि ज्ञान प्रमिति रूप होनेसे प्रमाणका फल है, तो प्रमाण किसे कहते

---

[1] न्यायबिन्दौ १-१९, २०। [2] न्यायबिन्दौ १-२० स्वोपज्ञटीकायां।

हैं। उत्तर—ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है, और पदार्थोंके आकार रूप हो कर पदार्थोंको जानता है, इस लिये ज्ञान प्रमाण है। बौद्ध मतके अनुसार ज्ञान इंद्रिय आदिकी सहायतासे पदार्थोंको नहीं जानता। किंतु नील घटको जानते समय नील घटसे उत्पन्न ज्ञान नील घटके आकार रूप होता है। नील घटके सदृश आकारको धारण करना ही ज्ञानका प्रामाण्य है (अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं)। शंका—यदि ज्ञान सादृश्य (नील सादृश्य) से अभिन्न है, तो उसी ज्ञानको प्रमाण और प्रमिति दोनों रूप कहना चाहिये। एक ही वस्तुमें साध्य और साधन दोनों नहीं रह सकते। अतएव ज्ञान (प्रमाण) पदार्थोंके सदृश नहीं हो सकता। उत्तर—सारूप्य (सदृश्य आकार) से ही पदार्थोंकी प्रतीति होती है। क्योंकि पदार्थोंको जाननेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान नील घटके आकारका हो कर ही नील घटका ज्ञान करता है। चक्षु आदिकी सहायतासे नील घटका ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव बौद्ध लोग प्रमाण और प्रमितिमें कार्य-कारण संबंध न स्वीकार करके व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक संबंध मानते हैं। सारूप्य व्यवस्थापक है, और नील ज्ञान व्यवस्थाप्य है। अतएव प्रमाण और प्रमितिको अभिन्न माननेसे कोई विरोध नहीं आता।

तदप्यसारम्। एकस्य निरंशस्य ज्ञानक्षणस्य व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकत्वलक्षणस्वभावद्वयायोगात्। व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावस्यापि च संबन्धत्वेन द्विष्ठत्वादेकस्मिन्नसंभवात्। किञ्च, अर्थसारूप्यमर्थाकारता। तच्च निश्चयरूपम्, अनिश्चयरूपं वा? निश्चयरूपं चेत्, तदेव व्यवस्थापकमस्तु, किमुभयकल्पनया। अनिश्चितं चेत्, स्वयमव्यवस्थितं कथं नीलादिसंवेदनव्यवस्थापने समर्थम्। अपि च, केयमर्थाकारता। किमर्थग्रहणपरिणामः, आहोस्विदर्थाकारधारित्वम्? नाद्यः। सिद्धसाधनात्। द्वितीयस्तु ज्ञानस्य प्रमेयाकारानुकरणाज्जडत्वापत्त्यादिदोषाघ्रातः। तन्न प्रमाणादेकान्तेन फलस्याभेदः साधीयान्। सर्वथातादात्म्ये हि प्रमाणफलयोर्न व्यवस्था, तद्भावविरोधात्। न हि सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः फलमिति सर्वथातादात्म्ये सिद्ध्यति। अतिप्रसङ्गात्॥

जैन—यह ठीक नहीं। क्योंकि निरंश क्षणिक ज्ञान (बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, इस लिये वे लोग घटको घट न कह कर घट-क्षण कहते हैं। इसी प्रकार यहां भी ज्ञान-क्षणसे क्षणिक ज्ञान समझना चाहिये) में व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक दे स्वभाव नहीं बन सकते। क्योंकि व्यवस्थाप्य—व्यवस्थापक संबंध दो पदार्थोंमें ही रह सकता है, निरंश क्षणिक ज्ञानमें नहीं। तथा पदार्थके आकार रूप होनेको अर्थसारूप्य (अर्थाकारता) कहते हैं। यह अर्थसारूप्य निश्चय रूप है, या अनिश्चय रूप? यदि यह अर्थसारूप्य निश्चित है, तो इस निश्चित अर्थसारूप्यको ही व्यवस्थापक मानना चाहिये, व्यवस्थापक और व्यवस्थाप्यको अलग अलग माननेकी आवश्यकता नहीं। यदि

अर्थसारूप्य अनिश्चित है, तो स्वयं अनिश्चित अर्थसारूप्यसे नील आदिका ज्ञान नहीं हो सकता। तथा, ज्ञानकी अर्थाकारतासे आपका क्या अभिप्राय है? आप लोग ज्ञानके पदार्थोंको जाननेके स्वभावको अर्थाकारता कहते हैं, अथवा ज्ञानके पदार्थोंके आकार रूप होनेको अर्थाकारता कहते हैं? प्रथम पक्ष माननेमें सिद्धसाधन है, क्योंकि हम भी ज्ञानका स्वभाव पदार्थोंको जानना मानते हैं। यदि आप लोग ज्ञानके पदार्थोंके आकार रूप होनेको अर्थाकारता कहते हैं, तो ज्ञानको जड़ प्रमेयके आकार माननेमें ज्ञानको भी जड़ मानना पड़ेगा। अतएव प्रमाण और प्रमितिका सर्वथा अभेद नहीं बन सकता। क्योंकि प्रमाण और प्रमितिका सर्वथा तादात्म्य संबंध माननेसे प्रमाण और प्रमाणके फलकी व्यवस्था नहीं बनती। यदि प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों एक होते, तो आप लोग सारूप्यको प्रमाण, और अधिगति (ज्ञानसंवेदन) को प्रमाणका फल मान कर प्रमाण और उसके फलको अलग नहीं मानते।

ननु प्रमाणस्यासारूप्यव्यावृत्तिः सारूप्यम्, अनधिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति व्यावृत्तिभेदादेकस्यापि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेत्। नैवम्। स्वभावभेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदस्यानुपपत्तेः। कथं च प्रमाणस्य फलस्य चाप्रमाणाफलव्यावृत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थावत् प्रमाणान्तरफलान्तरव्यावृत्त्याप्यप्रमाणत्वस्याफलत्वस्य च व्यवस्था न स्यात्। विजातीयादिव सजातीयादपि व्यावृत्तत्वाद् वस्तुनः। तस्मात् प्रमाणात् फलं कथञ्चिद्भिन्नमेवैष्टव्यं। साध्यसाधनभावेन प्रतीयमानत्वात्। ये हि साध्यसाधनभावेन प्रतीयेते ते परस्परं भिद्येते यथा कुठारच्छिदिक्रिये इति॥

शंका—वास्तवमें सारूप्य और अधिगति एक ही प्रमाणके दो अलग अलग रूप हैं। क्योंकि हम असारूप्यव्यावृत्ति (असारूप्यका निषेध) को सारूप्य, और अनधिगतिव्यावृत्ति (अनधिगतिका निषेध) को अधिगति कहते हैं। इस लिये सारूप्य और अधिगतिके निषेध रूप होनेसे एक निरंश ज्ञानमें भी प्रमाण और उसके फलकी व्यवस्था बन सकती है। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि दो स्वभाव माने विना असारूप्यव्यावृत्ति और अनधिगतिव्यावृत्ति रूप व्यावृत्ति नहीं बन सकती। तथा, जिस प्रकार आप लोग अप्रमाणव्यावृत्तिको प्रमाण और अफलव्यावृत्तिको फल मानते हैं, वैसे ही प्रमाणान्तरव्यावृत्तिको अप्रमाण और फलान्तरव्यावृत्तिको अफल मानना चाहिये। इस लिये जैसे आप लोग विजातीयसे व्यावृत्ति मानते हैं, वैसे ही सजातीयोंमें भी एक दूसरेसे व्यावृत्ति माननी चाहिये। अतएव प्रमाण और उसका फल कथंचित् भिन्न हैं, क्योंकि दोनों साध्य-साधन रूपमें मालूम होते हैं। जो साध्य-साधन होते हैं, वे परस्पर भिन्न हैं, जैसे कुठार और छेदन क्रिया (काटना)।

एवं यौगाभिप्रेतः प्रमाणात् फलस्यैकान्तभेदोऽपि निराकर्तव्यः। तस्यैकप्रमातृतादात्म्येन प्रमाणात् कथञ्चिद्भेदव्यवस्थितेः। प्रमाणतया परिणतस्यैवात्मनः फलतया परिणतिप्रतीतेः। यः प्रमिमीते स एवोपादत्ते परित्यजति उपेक्षते चेति सर्वव्यवहारिभिरस्खलितमनुभवात्। इतरथा स्वपरयोः प्रमाणफलव्यवस्थाविप्लवः प्रसज्यत इत्यलम् ॥

इससे प्रमाण और प्रमाणके फलका एकान्त भेद माननेवाले नैयायिकोंका भी निराकरण हो जाता है। क्योंकि प्रमाण और उसका फल अलग अलग नहीं है; कारण कि एक ही प्रमाता प्रमाण और उसके फल रूप हो कर पदार्थोंको जानता है। इस लिये प्रमाण प्रमाणके फलसे कथंचित् अभिन्न है। क्योंकि प्रमाण रूप परिणत आत्मा ही फल रूप कही जाती है। आत्माको छोड़ कर दूसरी जगह फलका ज्ञान नहीं होता। क्योंकि आत्मा ही पदार्थोंको ग्रहण करती है, छोडती है और उनकी उपेक्षा करती है, यह अनुभवसे सिद्ध है। यदि प्रमाण और उसके फलमें अभेद न माना जाय, तो एक मनुष्यके प्रमाणका फल दूसरे मनुष्यको मिलना चाहिये, और इस तरह प्रमाण और उसके फलकी कोई भी व्यवस्था नहीं रह सकती।

अथवा पूर्वार्द्धमिदमन्यथा व्याख्येयं। सौगताः किलेत्थं प्रमाणयन्ति। सर्वं सत् क्षणिकम्। यतः सर्वं तावद् घटादिकं वस्तु मुद्गरादिसंनिधौ नाशं गच्छद् दृश्यते। तत्र येन स्वरूपेणान्त्यावस्थायां घटादिकं विनश्यति तच्चैतत्स्वरूपमुत्पन्नमात्रस्य विद्यते तदानीमुत्पादानन्तरमेव तेन विनष्टव्यम्, इति व्यक्तमस्य क्षणिकत्वम् ॥

(२) **पूर्वपक्ष**—'सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं' (सर्वं सत् क्षणिकं)। क्योंकि घट आदि सम्पूर्ण पदार्थ मुद्गर आदिका संयोग होनेपर नाश हो जाते हैं। जिस स्वरूपसे अन्त अवस्थामें घट आदिका नाश हाता है, वही स्वरूप घट आदि सम्पूर्ण पदार्थोंके उत्पन्न होनेके समय होता है। अतएव जिस समय मुद्गरसे घड़ा नष्ट हो जाता है, उस समय मुद्गर घड़ेमें कोई नया स्वरूप उत्पन्न नहीं करता। क्योंकि घड़ेका स्वरूप अन्त और आरम्भ दोनों अवस्थामें एकसा होता है। अतएव घड़ा उत्पत्तिके बाद ही नष्ट हो जाता है, इस लिये सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं। **स्पष्टार्थ**—बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक पदार्थ नाशमान है, क्योंकि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव है। यदि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव न हो, तो पदार्थ दूसरी वस्तुके संयोगसे भी नष्ट नहीं हो सकते। पदार्थोंका यह नाशमान स्वभाव पदार्थोंकी आरंभ और अंत दोनों अवस्थाओंमें समान है। यदि पदार्थोंको उत्पन्न होनेके बाद नाशमान न माना जाय, तो पदार्थोंका किसी भी कारणसे नाश नहीं हो सकता। इस लिये प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमें नष्ट होता है। **शंका**—यदि क्षण क्षणमें नाश होनेवाले परमाणु ही वास्तविक हैं,

तो घट, पट आदि स्थूल पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। उत्तर—वास्तवमें स्थूल पदार्थोंका ज्ञान स्वप्न-ज्ञान अथवा आकाशमें केश-ज्ञानकी तरह निर्विषय है। अनादि कालकी वासनाके कारण ही स्थूल पदार्थोंका प्रतिभास होता है। शंका—यदि सम्पूर्ण पदार्थ क्षण क्षणमें नाश होनेवाले हैं, तो पदार्थोंका प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। उत्तर—जिस प्रकार दीपककी लौमें परस्पर समानता रखनेवाले पहले और दूसरे क्षणोंमें पहले क्षणके नष्ट होनेके समय ही पहले क्षणके समान दूसरे क्षणके उत्पन्न होनेसे यह वही दीपक है, यह ज्ञान होता है, उसी प्रकार समान आकारकी ज्ञान-परंपरासे पूर्व क्षणोंके अत्यंत नष्ट हो जानेपर भी पदार्थोंमें प्रत्यभिज्ञान होता है।

अथेदृश एव स्वभावस्तस्य हेतुतो जातो यत्कियन्तमपि कालं स्थित्वा विनश्यति। एवं तर्हि मुद्गरादिसंनिधानेऽपि एष एव तस्य स्वभावः इति पुनरप्येतेन तावन्तमेव कालं स्थातव्यम् इति नैव विनश्येदिति। सोऽयं “अदित्सोर्वणिजः प्रतिदिनं पत्रलिखितश्वस्तनदिनभणनन्यायः[1]”। तस्मात् क्षणद्वयस्थायित्वेनाप्युत्पत्तौ प्रथमक्षणवद् द्वितीयेऽपि क्षणे क्षणद्वयस्थायित्वात् पुनरपरक्षणद्वयमवतिष्ठेत। एवं तृतीयेऽपि क्षणे तत्स्वभावत्वान्नैव विनश्येदिति॥

प्रतिवादी—अपनी उत्पत्तिके कारणभूत सहायकोंसे कुछ समय तक ठहर कर बादमें नष्ट हो जाना, यह प्रत्येक पदार्थका स्वभाव है। बौद्ध—यदि पदार्थका स्वभाव क्षण क्षणमें नाशमान न माना जाय, तो घड़ेके साथ मुद्गरका संयोग होनेपर भी घड़ा नष्ट नहीं होना चाहिये, क्योंकि मुद्गरका संयोग होनेपर भी घड़ेका नाश नहीं होनेका स्वभाव मौजूद है। अतएव जिस प्रकार कोई कर्ज़दार साहुकारके कर्ज़को न चुकानेकी इच्छासे कर्ज़ चुका देनेका प्रतिदिन वायदा करनेपर भी कभी अपने कर्ज़को नहीं चुका पाता, उसी तरह मुद्गरका संयोग होनेपर भी प्रत्येक क्षणमें नष्ट होनेवाला घट दूसरे, तीसरे आदि क्षणमें नष्ट न हो कर सर्वदा नित्य ही रहना चाहिये। अतएव पदार्थोंका स्वभाव क्षण क्षणमें नाश होनेका है।

स्यादेतत्। स्थावरमेव तत् स्वहेतोर्जातम्, परं बलेन विरोधकेन मुद्गरादिना विनाश्यत इति। तदसत्। कथं पुनरेतद्घटिष्यते। न च तद् विनश्यति स्थावरत्वात्, विनाशश्च तस्य विरोधिना बलेन क्रियते इति। न ह्येतत्सम्भवति जीवति देवदत्तो मरणं चास्य भवतीति। अथ विनश्यति तर्हि कथमविनश्वरं तद् वस्तु स्वहेतोर्जातमिति। न हि म्रियते च अमरणधर्मा चेति युज्यते वक्तुम्। तस्मादविनश्वरत्वे कदाचिदपि नाशायोगात् दृष्टत्वाच्च नाशस्य नश्वरमेव तद्वस्तु स्वहेतोरुपजातमङ्गीकर्तव्यम्। तस्मादुत्पन्नमात्रमेव विनश्यति। तथा च क्षणक्षयित्वं सिद्धं भवति॥

---

[1] कश्चिद् वणिक् द्रव्यमदित्सुः पत्रद्वारा प्रत्यहमुत्तमर्णाय श्वस्तनदिनं दास्य इति बोधयति तद्वत्।

प्रतिवादी—प्रत्येक पदार्थ अपने उत्पत्तिके कारणोंसे स्थिर रहनेके लिये ही उत्पन्न होता है, बादमें अपने बलवान विरोधी मुद्गर आदिसे नष्ट हो जाता है। **बौद्ध**—यह ठीक नहीं। क्योंकि यदि पदार्थका स्वभाव नष्ट नहीं होनेका है, तो यह नहीं कहा जा सकता, कि पदार्थ अपने बलवान विरोधीसे नष्ट हो जाता है। क्योंकि जिस पदार्थका स्वभाव नाश होना नहीं है, वह पदार्थ नाश नहीं हो सकता। अतएव जिस प्रकार देवदत्तके जीते हुए उसको मरा हुआ नहीं कह सकते, वैसे ही यदि पदार्थ नष्ट हो जाता है, तो यह नहीं कहा जा सकता, कि यह पदार्थ अपने उत्पत्तिके कारणोंसे स्थिर रहनेके लिये उत्पन्न हुआ था। अतएव जैसे नाशमान देवदत्तको अनाशमान नहीं कहा जा सकता, वैसे ही नष्ट होनेवाले पदार्थको अविनश्वर नहीं कह सकते। तथा, पदार्थ नाशमान देखे जाते हैं, अतएव अपनी उत्पत्तिके कारणोंद्वारा उत्पन्न वस्तुको नश्वर ही मानना चाहिये। अतएव प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होनेके दूसरे क्षणमें ही नष्ट हो जाता है, इस लिये प्रत्येक पदार्थ क्षणविध्वंसी है।

प्रयोगस्त्वेवम्। यद्विनश्वरस्वरूपं तदुत्पत्तेरनन्तरानवस्थायि, यथान्त्यक्षणवर्तिघटस्य स्वरूपम्। विनश्वरस्वरूपं च रूपादिकमुदयकाले, इति स्वभावहेतुः। यदि क्षणक्षयिणो भावाः कथं तर्हि स एवायमिति प्रत्यभिज्ञा स्यात्। उच्यते। निरन्तरसदृशापरापरोत्पादात्, अविद्यानुबन्धाच्च पूर्वक्षणविनाशकाल एव तत्सदृशं क्षणान्तरमुदयते। तेनाकारविलक्षणत्वाभावादव्यवधानाच्चात्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमित्यभेदाध्यवसायी प्रत्ययः प्रसूयते। अत्यन्तभिन्नेष्वपि [2]लूनपुनरुत्पन्नकुशकाशकेशादिषु दृष्ट एवायं स एवायम् इति प्रत्ययः, तथेहापि किं न संभाव्यते। तस्मात् सर्वं सत् क्षणिकमिति सिद्धम्। अत्र च पूर्वक्षण उपादानकारणम् उत्तरक्षण उपादेयम् इति पराभिप्रायमङ्गीकृत्याह न तुल्यकालः इत्यादि॥

‘जिस पदार्थका स्वभाव नाशमान है, वह अंत क्षणमें नष्ट होते हुए घटकी तरह अपनी उत्पत्तिके बाद भी नहीं रह सकता। रूप आदि अपनी उत्पत्तिके समय नष्ट हो जाते हैं, अतएव रूप आदि अपनी उत्पत्तिके बाद अवस्थित नहीं रह सकते’। यह स्वभाव हेतु अनुमान है। बौद्ध लोगोंने स्वभाव हेतु, कार्य हेतु और अनुपलब्धि हेतुके भेदसे हेतुके तीन भेद माने हैं। जैसे ‘यह वृक्ष है, शिंशिपा (सीसम) होनेसे’ यहां वृक्षत्व और शिंशिपात्वका कार्य-कारण संबंध न हो कर स्वभाव संबंध है, अतएव यह स्वभाव हेतु अनुमान है। ‘यहां अग्नि है, धूम होनेसे’

---

[1] त्रीण्येव च लिङ्गानि। अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति। तत्रानुपलब्धिर्यथा न प्रदेशविशेषे क्वचिद् घटोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति। स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः। यथा वृक्षोऽयं शिंशिपात्वादिति। कार्यं यथाग्निरत्र धूमादिति।

[2] पूर्वं लूनाश्छिन्नाः कुशादयः पुनरुत्पद्यन्ते।

यहांपर कार्य-कारण संबंध है, इस लिये यह कार्य हेतु अनुमान है। पदार्थके न मिलनेको अनुपलब्धि कहते हैं। जैसे 'देवदत्त घरमें नहीं है, क्योंकि वह वहां अनुलब्ध है'। स्वभाव हेतुमें एक स्वभावसे दूसरे स्वभावका, और कार्य हेतुमें कार्यसे कारण अनुमान होता है। स्वभाव और कार्य हेतु वस्तुकी उपस्थितिको, और अनुपलब्धि हेतु वस्तुकी अनुपस्थितिको सिद्ध करते हैं। **शंका**—यदि पदार्थ क्षण क्षणमें नाश होनेवाले हैं, तो प्रत्येक क्षणमें नाश होनेवाले घटकी उत्पत्तिके प्रथम क्षणसे लगा कर अंतिम समय तक घटकी एकताका प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। **बौद्ध**—वास्तवमें प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमें नाश होने वाले हैं। जो घट हमें स्थायी (एक) रूपसे दिखाई देता है, वह भी प्रतिक्षण नाश हो रहा है। घटका प्रत्येक पूर्व घट (क्षण) प्रत्येक उत्तर घट (क्षण) को उत्पन्न करता है। ये सब पूर्व और उत्तर क्षण परस्पर इतने समान हैं, कि एक क्षणसे दूसरे क्षणकी उत्पत्ति होनेके समय अंतर होनेपर भी घटकी एकताके ज्ञानमें अंतर नहीं पड़ता। घटके पूर्व क्षणके नष्ट होते ही उसके समान दूसरा क्षण उत्पन्न हो जाता है, अतएव पूर्व आकारका नाश न दीखनेसे पूर्व क्षणके नाश और उत्तर क्षणकी उत्पत्तिमें व्यवधान नहीं मालूम होता। इस लिये घटके पूर्व क्षणका सर्वथा नाश हेनेपर भी अविद्याके कारण यह वही घट है, ऐसी प्रतीति होती है। जिस प्रकार पहले काटे हुए और फिरसे उत्पन्न होनेवाले कुश (घास) और केश आदिकी पूर्व और उत्तर क्षणोंमें अत्यन्त भेद होनेपर भी यह वही घास है, यह वही केश है, ऐसा ज्ञान होता है, वैसे ही क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले प्रत्येक पदार्थोंके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें सर्वथा भेद होनेपर भी उनमें एकताका प्रत्यभिज्ञान होता है। यहां पूर्व क्षण उपादान, और उत्तर क्षण उपादेय है। अतएव सम्पूर्ण पदार्थोंको क्षणिक मानना चाहिये।

ते विश[1]कलितमुक्तावलीकल्पा निरन्वयविनाशिनः पूर्वक्षणा उत्तरक्षणान् जनयन्तः किं स्वोत्पत्तिकाले एव जनयन्ति, उत क्षणान्तरे ? न तावदाद्यः। समकालभाविनोर्युवतिकुचयोरिवोपादानोपादेयभावाभावात्। अतः साधूक्तम् न तुल्यकालः फलहेतुभाव इति। न च द्वितीयः। तदानीं निरन्वयविनाशेन पूर्वक्षणस्य नष्टत्वादुत्तरक्षणजनने कुतः संभावनापि। न चानुपादानस्योत्पत्तिर्दृष्टा, अतिप्रसङ्गात्। इति सुष्ठु व्याहृतं हेतौ विलीने न फलस्य भाव इति। पदार्थस्त्वनयोः पादयोः प्रागेवोक्तः। केवलमत्र फलमुपादेयं हेतुरुपादानं तद्भाव उपादानोपादेयभाव इत्यर्थः॥

उत्तरपक्ष—आपके मतमें स्खलित मोतियोंकी मालाके समान, सर्वथा नाश होनेवाले पूर्व क्षण उत्तर क्षणोंको उत्पन्न करते समय अपनी उत्पत्तिके क्षणमें ही उत्तर क्षणोंको उत्पन्न करते हैं, अथवा दूसरे क्षणमें उत्पन्न करते हैं, अर्थात् पूर्व और उत्तर क्षण एक साथ उत्पन्न होते हैं, या क्रमसे ? पूर्व क्षण और उत्तर क्षण एक साथ उत्पन्न नहीं हो सकते। क्योंकि जैसे

---

[1] सूत्रविगलितमौक्तिकमालासदृशाः।

एक हाथसे दूसरा हाथ पैदा नहीं होता, वैसे ही पूर्व क्षण उत्तर क्षणको उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि एक ही कालमें होनेवाले दो पदार्थोंमें उपादान-उपादेय भाव नहीं बन सकता। इस लिये कहा है, 'हेतु और उसका फल दोनों एक साथ नहीं हो सकते' (न तुल्यकालः फलहेतुभावः)। यदि कहो, कि पूर्व क्षण उत्तर क्षणको दूसरे क्षणमें उत्पन्न करता है, तो यह भी नहीं बन सकता। क्योंकि पूर्व क्षण सर्वथा विनाशी है, उसका सर्वथा नाश हो जानेसे उससे उत्तर क्षण उत्पन्न नहीं हो सकता। अतएव दूसरे क्षणमें उपादान कारण रूप पूर्व क्षणका सर्वथा नाश होनेसे पूर्व क्षणसे उत्तर क्षणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि उपादानके विना भी उपादेयकी उत्पत्ति होने लगे, तो प्रत्येक पदार्थसे प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्ति माननी चाहिये। अतएव 'हेतुके नष्ट हो जानेपर फलका भी अभाव हो जाता है' (हेतौ विलीने न फलस्य भावः), यह हमने ठीक कहा है।

यच्च क्षणिकत्वस्थापनाय मोक्षाकरगुप्तेनानन्तरमेव प्रलपितं तत् स्याद्वादवादे निरवकाशमेव। निरन्वयनाशवर्जं कथंचित्सिद्धसाधनात्। प्रतिक्षणं पर्यायनाशस्यानेकान्तवादिभिरभ्युपगमात्। यदप्यभिहितम् 'न ह्येतत् संभवति जीवति च देवदत्तो मरणं चास्य भवतीति,' तदपि संभवादेव न स्याद्वादिनां क्षतिमावहति। यतो जीवनं प्राणधारणं, मरणं चायुर्दलिकक्षयः। ततो जीवतोऽपि देवदत्तस्य प्रतिसमयमायुर्दलिकानामुदीर्णानां क्षयादुपपन्नमेव मरणम्। न च वाच्यमन्त्यावस्थायामेव कृत्स्नायुर्दलिकक्षयात् तत्रैव मरणव्यपदेशो युक्त इति। तस्यामप्यवस्थायां न्यक्षेण तत्क्षयाभावात्। तत्रापि ह्यवशिष्टानामेव तेषां क्षयो न पुनस्तत्क्षण एव युगपत्सर्वेषाम्। इति सिद्धं गर्भादारभ्य प्रतिक्षणं मरणम्। इत्यलं प्रसङ्गेन॥

तथा क्षणिकत्व सिद्ध करनेके लिये जो मोक्षाकरगुप्त नामक बौद्धाचार्यने नित्यत्वका खंडन किया है, उसे स्याद्वादमें अवकाश नहीं है। क्योंकि स्याद्वादी लोग 'निरन्वय विनाश' को छोड़ कर बौद्ध मतका ही समर्थन करते हैं। क्योंकि अनेकान्त वादियोंने भी पर्यायोंकी अपेक्षा प्रतिक्षण नाश स्वीकार किया है। तथा आपने जो कहा, कि 'जीते हुए देवदत्तको मरा हुआ नहीं कह सकते' उससे भी स्याद्वादियोंको कोई क्षति नहीं होती। क्योंकि स्याद्वादियोंके अनुसार, प्राणोंके धारण करनेको जीवन, और आयुके अंशोंके नाश होनेको मरण कहते हैं। अतएव देवदत्तके जीवित दशामें भी प्रत्येक समय उदय आनेवाले आयुके निषेकोंका क्षय होनेसे मरण होता रहता है। यदि आप लोग कहें, कि अन्त अवस्थामें सम्पूर्ण आयुके नाश हो जानेको ही मरण कहते हैं, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि अंत अवस्थामें भी आयुके अवशिष्ट अंशोंका ही नाश होता है, एक ही क्षणमें आयुके सम्पूर्ण भागोंका नाश नहीं होता। अतएव गर्भके धारण करनेसे लेकर मृत्यु पर्यंत मनुष्यका मरण होता रहता है, यह निर्विवाद है।

अथवापरथा व्याख्या । सौगतानां किलार्थेन ज्ञानं जन्यते । तच्च ज्ञानं तमेव स्वोत्पादकमर्थं गृह्णातीति । "नाकारणं विषयः" इति वचनात् । ततश्चार्थः कारणं ज्ञानं च कार्यमिति ॥

(३) पूर्वपक्ष—ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न हो कर उसी पदार्थ को जानता है। कहा भी है "जो पदार्थका कारण नहीं होता, वह ज्ञानका विषय भी नहीं होता।" अतएव पदार्थ कारण है, और ज्ञान कार्य है।

एतच्च न चारु यतो यस्मिन् क्षणेऽर्थस्य स्वरूपसत्ता तस्मिन्नद्यापि ज्ञानं नोत्पद्यते । तस्य तदा स्वोत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात् । यत्र च क्षणे ज्ञानं समुत्पन्नं तत्रार्थोऽतीतः । पूर्वापरकालभावनियतश्च कार्यकारणभावः । क्षणातिरिक्तं चावस्थानं नास्ति । ततः कथं ज्ञानस्योत्पत्तिः, कारणस्य विलीनत्वात् । तद्विलये च ज्ञानस्य निर्विषयतानुषज्यते । कारणस्यैव युष्मन्मते तद्विषयत्वात् । निर्विषयं च ज्ञानमप्रमाणमेवाकाशकेशज्ञानवत् । ज्ञानसहभाविनश्चार्थक्षणस्य न ग्राह्यत्वम्, तस्याकारणत्वात् । अत आह न तुल्यकाल इत्यादि । ज्ञानार्थयोः फलहेतुभावः कार्यकारणभावस्तुल्यकालो न घटते । ज्ञानसहभाविनोऽर्थक्षणस्य ज्ञानानुत्पादकत्वात् । युगपद्भाविनोः कार्यकारणभावायोगात् । अथ प्राचोऽर्थक्षणस्य ज्ञानोत्पादकत्वं भविष्यति । तन्न । यत आह हेतौ इत्यादि । हेतावर्थरूपे ज्ञानकारणे विलीने क्षणिकत्वान्निरन्वयं विनष्टे न फलस्य ज्ञानलक्षणकार्यस्य भाव आत्मलाभः स्यात् । जनकस्यार्थक्षणस्यातीतत्वाद् निर्मूलमेव ज्ञानोत्थानं स्यात् ॥

उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं। क्योंकि जिस क्षणमें पदार्थ स्वरूपसे विद्यमान रहता है, उस क्षणमें ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि बौद्धोंके क्षणिकवादके अनुसार जब तक एक पदार्थ बन कर पूर्ण न हो जाय, उस समय तक वह ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं कर सकता। तथा जिस क्षणमें ज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय पदार्थ नष्ट हो जाता है (क्योंकि प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाला है)। तथा क्रमसे पूर्व और उत्तर कालमें होनेवाले पदार्थोंमें ही कार्य-कारण भाव होता है। परंतु बौद्ध मतमें कोई भी वस्तु क्षण मात्रसे अधिक नहीं ठहरती। अतएव ज्ञानकी उत्पत्तिके क्षणमें ज्ञानके कारण पदार्थके नाश हो जानेसे ज्ञानकी उत्पत्ति होनेके पहले ही ज्ञानका कारण पदार्थ नष्ट हो जाता है, परन्तु आप लोगोंके मतमें कारणको ही विषय माना है, इस लिये ज्ञानको निर्विषय मानना चाहिये। यह निर्विषय ज्ञान आकाशमें केश-ज्ञानकी तरह प्रमाण नहीं हो सकता। तथा यदि ज्ञान और पदार्थ को सहभावी माना जाय, तो पदार्थ ज्ञानका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं है, कारण कि कारण कार्यसे पहले उत्पन्न होता है, कारण कार्यका सहभावी नहीं होता। अतएव आपके सिद्धांतके अनुसार पदार्थ ज्ञानका विषय (कारण) नहीं

हो सकता। इस लिये हमने कहा है 'ज्ञान और पदार्थमें एक समयमें कार्य और कारण भाव नहीं बन सकता' (न तुल्यकालः फलहेतुभावो)। इस लिये ज्ञानके साथ उत्पन्न होनेवाला पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकता। कारण कि, एक साथ उत्पन्न होनेवाली दो वस्तुओंमें कार्य-कारण संबंध नहीं होता। यदि कहो, कि ज्ञानके पहले उत्पन्न होनेवाला पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न करता है, यह ठीक नहीं। क्योंकि हमने पहले कहा है, 'क्षणिक होनेसे पदार्थका निरन्वय विनाश होनेके कारण, नष्ट हुए पदार्थसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती' (हेतौ विलीने न फलस्य भावः)। क्योंकि ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले पदार्थके नष्ट होनेपर ज्ञान निर्विषय रह जाता है।

जनकस्यैव च ग्राह्यत्वे इन्द्रियाणामपि ग्राह्यत्वापत्तिः। तेषामपि ज्ञानजनकत्वात्। न चान्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थस्य ज्ञानहेतुत्वं दृष्टं। मृगतृष्णादौ जलाभावेऽपि जलज्ञानोत्पादात्। अन्यथा तत्प्रवृत्तेरसंभवात्। भ्रान्तं तज्ज्ञानमिति चेत्, ननु भ्रान्ताभ्रान्तविचारः स्थिरीभूय क्रियतां त्वया। सांप्रतं प्रतिपद्यस्व तावदनर्थजमपि ज्ञानम्। अन्वयेनार्थस्य ज्ञानहेतुत्वं दृष्टमेवेति चेत्। न। न हि तद्भावे भावलक्षणोऽन्वय एव हेतुफलभावनिश्चयनिमित्तम् अपि तु तदभावेऽभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि। स चोक्तयुक्त्या नास्त्येव। योगिनां चातीतानागतार्थग्रहणे किमर्थस्य निमित्तत्वम्, तयोरसत्त्वात्।

"णं णिहाणगया भग्गा पुंजो णत्थि अणागए।
णिव्वुया णेव चिट्ठंति आरग्गे सरिसवोवमा" ॥

इति वचनात्। निमित्तत्त्वे चार्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वादतीतानागतत्वक्षतिः॥

तथा, ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण भूत पदार्थको ज्ञानका विषय माननेसे इंद्रियोंको भी ज्ञानका विषय स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि इन्द्रियां भी ज्ञानको उत्पन्न करती हैं। परन्तु आप लोगोंने पदार्थकी तरह इन्द्रियोंको ज्ञानका विषय नहीं माना है। शंका—पदार्थ ज्ञानका विषय (कारण) है, क्योंकि पदार्थका ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेक संबंध है। जैसे अग्नि धूमका कारण है, क्योंकि 'जहां जहां धूम होता है, वहां वहां अग्नि होती है,' और 'जहां अग्नि नहीं होती, वहां धूम नहीं होता,' वैसे ही 'जहां ज्ञान होता है, वहां पदार्थ होता है,' और 'जहां पदार्थ नहीं होता, वहां ज्ञान भी नहीं होता' इस लिये ज्ञान और पदार्थमें अन्वय-व्यतिरेक संबंध होनेसे पदार्थ ज्ञानका कारण है। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार धूमका होना अग्निके ऊपर अवलम्बित है, उस प्रकार ज्ञानका होना पदार्थके ऊपर अवलम्बित नहीं। कारण कि मृगतृष्णामें जल (अर्थ) के अभाव होनेपर भी जलको पानेके लिये मनुष्यकी प्रवृत्ति देखी जाती है। **शंका**—मृगतृष्णामें जलका ज्ञान होना भ्रमपूर्ण है, अतएव यहां पदार्थके विना भी ज्ञान हो जाता

---

१ छाया—न निधानगता भग्नाः पुंजो नास्त्यनागते। निर्वृत्ता नैव तिष्ठन्ति आराग्रे सर्षपोपमाः॥

है। **समाधान**—यहां ज्ञानके क्रम रूप या अक्रम रूप होनेका प्रश्न नहीं है, प्रश्न इतना ही है, कि ज्ञान पदार्थके विना भी उत्पन्न होता है। यदि कहो, कि जहां ज्ञान होता है, वहीं पदार्थ होता है, इस लिये पदार्थ ज्ञानका कारण है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जब तक पदार्थोंमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों संबंध न रहें, तब तक उनमें कार्य-कारण संबंध नहीं बन सकता। अतएव जब तक पदार्थ और ज्ञानमें 'जहां पदार्थ न हो, वहां ज्ञान भी न हो' इस प्रकारका व्यतिरेक संबंध न बने, तब तक पदार्थको ज्ञानका हेतु नहीं कह सकते। यह व्यतिरेक संबंध पदार्थ और ज्ञानमें नहीं है, क्योंकि मृगतृष्णामें जलका अभाव होनेपर भी जलका ज्ञान होता है। तथा, अतीत और अनागत पदार्थोंको जाननेवाले योगियोंके ज्ञानमें पदार्थ कारण नहीं हो सकता। क्योंकि अतीत और अनागत पदार्थोंको जानते समय अतीत और अनागत पदार्थोंका अभाव रहता है। अतएव भूत, भविष्यत पदार्थ ज्ञानमें कारण नहीं हो सकते। कहा भी है, "जो पदार्थ नष्ट हो गये हैं, वे किसी खज़ानेमें जमा नहीं हैं, तथा जो पदार्थ आनेवाले हैं, उनका कहीं ढ़ेर नहीं लगा है। जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सूईकी नोकपर रक्खी हुई सरसोंके समान स्थायी नहीं हैं।" यदि अतीत और अनागत पदार्थोंको भी ज्ञानमें कारण माना जाय, तो अर्थक्रियाकारी होनेसे अतीत, अनागत पदार्थोंका भी अस्तित्व स्वीकार करना चाहिये। अतएव पदार्थको ज्ञानमें कारण माननेसे भूत, भविष्यत पदार्थोंका अभाव मानना चाहिये।

न च प्रकाश्यादात्मलाभ एव प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वं। प्रदीपादेर्घटादिभ्योऽनुत्पन्नस्यापि तत्प्रकाशकत्वात्। जनकस्यैव च ग्राह्यत्वाभ्युपगमे स्मृत्यादेः प्रमाणस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः, तस्यार्थाजन्यत्वात्। न च स्मृतिर्न प्रमाणम्। अनुमानप्रमाणप्राणभूतत्वात् साध्यसाधनसम्बन्धस्मरणपूर्वकत्वात् तस्य। जनकमेव च चेद् ग्राह्यम्, तदा स्वसंवेदनस्य कथं ग्राहकत्वम्। तस्य हि ग्राह्यं स्वरूपमेव। न च तेन तज्जन्यते, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। तस्मात् स्वसामग्रीप्रभवयोर्घटप्रदीपयोरिवार्थज्ञानयोः प्रकाश्यप्रकाशकभावसंभवाद् न ज्ञाननिमित्तत्वमर्थस्य॥

शंका—प्रकाश्य (अर्थ) से उत्पन्न हो कर पदार्थोंको प्रकाशित करना ही प्रकाशक (ज्ञान) का प्रकाशकपना है। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि घटसे उत्पन्न न हो कर भी दीपक घटको प्रकाशित करता है। अतएव प्रकाश्य (अर्थ) और प्रकाशक (ज्ञान) में कार्य-कारण संबंध नहीं हो सकता। तथा, यदि ज्ञानको पदार्थसे उत्पन्न हुआ मान कर, ज्ञानको उसी पदार्थका जाननेवाला स्वीकार किया जाय, तो स्मृति प्रमाण नहीं कही जा सकती। क्योंकि स्मृति किसी पदार्थसे उत्पन्न नहीं होती। परन्तु स्मृतिको प्रमाण अवश्य मानना चाहिये, क्योंकि स्मृति प्रमाणको विना माने साध्य-साधनके संबंध (व्याप्ति)

का स्मरण नहीं हो सकता, इस लिये अनुमान प्रमाण भी नहीं बन सकता। तथा, यदि कारण (हेतु—जनक) को ज्ञानका विषय (ग्राह्य) माना जाय, तो स्वसंवेदन ज्ञानका क्या विषय होगा? क्योंकि स्वसंवेदन ज्ञानका विषय स्वयं अपना स्वरूप ही है, स्वसंवेदनसे स्वसंवेदन ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि स्वसंवेदन ज्ञानमें क्रिया नहीं होती, अतएव उसमें कार्य-करण संबंध नहीं बन सकता। अतएव जैसे घटसे उत्पन्न न हो कर भी दीपक घटको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न न हो कर भी पदार्थको जानता है। इस लिये पदार्थ और ज्ञानमें प्रकाश्य-प्रकाशक संबंध है, कार्य-कारण संबंध नहीं।

नन्वर्थाजन्यत्वे ज्ञानस्य कथं प्रतिनियतकर्मव्यवस्था। तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां हि सोपपद्यते। तस्मादनुत्पन्नस्यातदाकारस्य च ज्ञानस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशेषात् सर्वग्रहणं प्रसज्येत। नैवम्। तदुत्पत्तिमन्तरेणाप्यावरणक्षयोपशमलक्षणया योग्यतयैव प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वोपपत्तेः। तदुत्पत्तावपि च योग्यतावश्यमेष्टव्या। अन्यथाऽशेषार्थसान्निध्ये तत्तदर्थासांनिध्येऽपि कुतश्चिदेवार्थात् कस्यचिदेव ज्ञानस्य जन्मेति कौतस्कुतोऽयं विभागः॥

बौद्ध—यदि ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न नहीं होता, तो घड़ेका ज्ञान घड़ेको ही जानता है, अन्य पदार्थोंको नहीं, यह व्यवस्था नहीं बन सकती। यह व्यवस्था ज्ञानको पदार्थोंसे उत्पन्न हो कर, और पदार्थोंके आकार रूप हो कर पदार्थोंको जाननेवाला माननेसे ही बन सकती है। अन्यथा एक पदार्थको जानते समय ज्ञानको प्रत्येक पदार्थको जानना चाहिये। जैन—यह ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञान पदार्थोंसे उत्पन्न न हो कर भी पदार्थोंको जानता है। कारण कि ज्ञानमें अविद्याके कारणोंकी क्षय और उपशम रूप योग्यता विद्यमान है, इसीसे ज्ञान प्रतिनियत पदार्थोंको जानता है। इस लिये जिस समय जिस पदार्थके ज्ञानको आवरण करनेवाला कर्म हट जाता है, उस समय उसी पदार्थका ज्ञान होता है। अतएव ज्ञानकी पदार्थोंसे उत्पत्ति मान कर भी ज्ञानमें योग्यता अवश्य माननी चाहिये। यदि इस योग्यताको न माना जाय, तो अमुक पदार्थसे ही अमुक ज्ञान की उत्पत्ति होती है, यह व्यवस्था नहीं बन सकती।

तदाकारता त्वर्थाकारसंक्रान्त्या तावदनुपपन्ना। अर्थस्य निराकारत्वप्रसङ्गात् ज्ञानस्य साकारत्वप्रसङ्गाच्च। अर्थेन च मूर्तेनामूर्तस्य ज्ञानस्य कीदृशं सादृश्यम्। इत्यर्थविशेषग्रहणपरिणाम एव साभ्युपेया। ततः—

" अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्।
तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता "॥

इति यत्किञ्चिदेतत्॥

ज्ञानको पदार्थके आकारका मानना भी संगत नहीं है, अन्यथा पदार्थको ज्ञानके आकारका होनेसे पदार्थको निराकार, और ज्ञानको पदार्थके आकारका होनेसे ज्ञानको

साकार मानना चाहिये। परन्तु मूर्त पदार्थोंके साथ अमूर्त ज्ञानकी समानता नहीं हो सकती। अतएव ज्ञानकी अर्थाकारताका कार्य प्रतिनियत पदार्थोंको जानना ही मानना चाहिये। इस लिये "ज्ञान की अर्थाकारताको छोड़ कर पदार्थ और ज्ञानका कोई संबंध नहीं होता, अतएव ज्ञानका पदार्थोंके आकार होना ही ज्ञानकी प्रमाणता है," यह आप लोगोंका कथन खंडित हो जाता है।

अपि च, व्यस्ते समस्ते वैते ग्रहणकारणं स्याताम्। यदि व्यस्ते, तदा कपालाद्यक्षणो घटान्त्यक्षणस्य, जलचन्द्रो वा नभश्चन्द्रस्य ग्राहकः प्राप्नोति। यथासंख्यं तदुत्पत्तेः तदाकारत्वाच्च। अथ समस्ते, तर्हि घटोत्तरक्षणः पूर्वघटक्षणस्य ग्राहकः प्रसजति। तयोरुभयोरपि सद्भावात्। ज्ञानरूपत्वे सत्येते ग्रहणकारणमिति चेत्, तर्हि समानजातीयज्ञानस्य समनन्तरज्ञानग्राहकत्वं प्रसज्येत, तयोर्जन्यजनकभावसद्भावात्। तन्न योग्यतामन्तरेणान्यद् ग्रहणकारणं पश्याम इति॥

तथा, आप लोगोंका जो कहना है, कि ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है (तदुत्पत्ति), और पदार्थोंके आकार हो कर पदार्थका ज्ञान करता है (तदाकार), सो यह ज्ञानकी तदुत्पत्ति और तदाकारता पदार्थोंके ज्ञानमें अलग अलग रूपसे कारण हैं, अथवा मिल कर? यदि कहो, कि कहीं तदुत्पत्ति और कहीं तदाकारता, पदार्थोंके ज्ञानमें अलग अलग कारण हैं, तो कपालके प्रथम क्षणसे घटके अंतिम क्षणका ज्ञान मानना चाहिये, क्योंकि कपालके प्रथम क्षणसे घटका अंतिम क्षण उत्पन्न होता है (तदुत्पत्ति); तथा चन्द्रमाके जलमें पड़नेवाले प्रतिबिम्बसे आकाशके चन्द्रमाका ज्ञान मानना चाहिये, क्योंकि जल-चन्द्र आकाश-चन्द्रके आकारको धारण करता है (तदाकार)। परन्तु घटके अंतिम क्षणके कपालके प्रथम क्षणसे उत्पन्न होनेपर भी कपालके प्रथम क्षणसे घटके अंतिम क्षणका ज्ञान नहीं होता; तथा जलमें पड़नेवाले चन्द्रमाके प्रतिबिम्बके आकाशके चन्द्रमाके आकारका होनेपर भी जल-चन्द्रसे आकाश-चन्द्रका ज्ञान नहीं होता। अतएव तदुत्पत्ति और तदाकारता अलग अलग पदार्थके ज्ञानमें कारण नहीं हैं। यदि कहो, कि तदुत्पत्ति और तदाकारता दोनों मिल कर पदार्थोंके ज्ञानमें कारण हैं, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि घटका उत्तर क्षण घटके पूर्व क्षणसे उत्पन्न भी होता है (तदुत्पत्ति), और तदाकार भी है (तदाकारता), परन्तु घटके उत्तर क्षणसे पूर्व क्षणका ज्ञान नहीं होता। **शंका**—जो ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न हुआ है, और जिस पदार्थके आकारको धारण करता है, वह ज्ञान उसी पदार्थको जानता है, इस लिये यह नियम नहीं है, कि जो कोई वस्तु जिस किसी वस्तुसे उत्पन्न होती हो, और जिस वस्तुका आकार रखती हो, वह उस वस्तुको जाने (ज्ञानरूपत्वे सति तदुत्पत्ति तदाकारता)। **समाधान**—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि पीछेसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान (समनन्तर ज्ञान) पहले सदृश ज्ञान (समान-

जातीय ज्ञान) से उत्पन्न हुआ है, उसके आकार रूप है, तथा स्वयं ज्ञान रूप भी है, फिर भी समनन्तर ज्ञान समानजातीय ज्ञानको नहीं जानता। अतएव प्रत्येक ज्ञानके प्रतिनियत पदार्थोंको जाननेमें कर्मोंके आवरणकी क्षयोपशम रूप योग्यताको ही कारण मानना चाहिये।

अथोत्तरार्द्धं व्याख्यातुमुपक्रम्यते । तत्र च बाह्यार्थनिरपेक्षं ज्ञानाद्वैतमेव ये बौद्धविशेषा मन्वते तेषां प्रतिक्षेपः । तन्मतं चेदम् । ग्राह्यग्राहकादिकलङ्कानङ्कितं निष्प्रपञ्चं ज्ञानमात्रं परमार्थसत् । बाह्यार्थस्तु विचारमेव न क्षमते । तथाहि । कोऽयं बाह्योऽर्थः । किं परमाणुरूपः स्थूलावयविरूपो वा ? न तावत् परमाणुरूपः, प्रमाणाभावात् । प्रमाणं हि प्रत्यक्षमनुमानं वा ? न तावत्प्रत्यक्षं तत्साधनबद्धकक्षम् । तद्धि योगिनां[1] स्यात् अस्मदादीनां वा ? नाद्यम् । अत्यन्तविप्रकृष्टतया श्रद्धामात्रगम्यत्वात् । न द्वितीयम् । अनुभवबाधितत्वात् । न हि वयमयं परमाणुरयं परमाणुरिति स्वप्नेऽपि प्रतीमः । स्तम्भोऽयं कुम्भोऽयमित्येवमेव नः सदैव संवेदनोदयात् । नाप्यनुमानेन तत्सिद्धिः । अणूनामतीन्द्रियत्वेन तैः सहाविनाभावस्य क्वापि लिङ्गे ग्रहीतुमशक्यत्वात् ॥

(४) ज्ञानाद्वैतवादी (पूर्वपक्ष)—ग्राह्य, ग्राहक, आदिसे रहित ज्ञान मात्र ही परमार्थसत् है, क्योंकि बाह्य पदार्थोंका अभाव है। हम पूछते हैं, कि परमाणुओंके समूहको बाह्य पदार्थ कहते हैं, अथवा स्थूल अवयवी रूप एक पिंडको ? यदि परमाणुओंके समूहको बाह्य अर्थ कहते हैं, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणसे परमाणु रूप बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। योगी प्रत्यक्ष अत्यंत परोक्ष है, और वह केवल श्रद्धाका ही विषय है, इस लिये योगी प्रत्यक्षसे परमाणु रूप बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। इन्द्रिय प्रत्यक्षसे भी बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्षसे परमाणु रूप सूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता, उससे केवल स्तंभ (खंभा) और कुंभ (घड़ा) रूप स्थूल पदार्थोंका ही ज्ञान हो सकता है। अनुमानसे भी परमाणु रूप बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, इस लिये परमाणु रूप साध्यका प्रत्यक्षसे ज्ञान न होनेके कारण, साध्यके अविनाभावी हेतुका भी ज्ञान नहीं हो सकता।

किञ्च, अमी नित्या अनित्या वा स्युः । नित्याश्चेत्, क्रमेणार्थक्रियाकारिणो युगपद्वा ? न क्रमेण । स्वभावभेदेनानित्यत्वापत्तेः । न युगपत् । एकक्षण एव कृत्स्नार्थक्रियाकरणात् क्षणान्तरे तदभावादसत्त्वापत्तिः । अनित्याश्चेत्, क्षणिकाः कालान्तरस्थायिनो वा ? क्षणिकाश्चेत्, सहेतुका निर्हेतुका वा ? निर्हेतुकाश्चेत्, नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यात् । निरपेक्षत्वात् । अपेक्षातो हि कादाचित्कत्वम् । सहेतुकाश्चेत्, किं तेषां

---

[1] भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति । न्यायबिन्दौ १-११

स्थूलं किंचित् कारणं परमाणवो वा ? न स्थूलं । परमाणुरूपस्यैव बाह्यार्थस्याङ्गीकृतत्वात् । न च परमाणवः ते हि सन्तोऽसन्तः सदसन्तो वा स्वकार्याणि कुर्युः । सन्तश्चेत्, किमुत्पत्तिक्षण एव क्षणान्तरे वा ? नोत्पत्तिक्षणे, तदानीमुत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात् तेषाम् । अथ " भूतिर्येषां क्रिया सैव कारणं सैव चोच्यते " इति वचनाद् भवनमेव तेषामपरोत्पत्तौ कारणमिति चेत्, एवं तर्हि रूपाणवो रसाणूनाम्, ते च तेषामुपादानं स्युः, उभयत्रभवनाविशेषात् । न च क्षणान्तरे, विनष्टत्वात् । अथासन्तस्ते तदुत्पादकाः, तर्हि एकं स्वसत्ताक्षणमपहाय सदा तदुत्पत्तिप्रसङ्गः, तदसत्त्वस्य सर्वदाऽविशेषात् । सदसत्पक्षस्तु " प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः" इति वचनाद्विरोधाघ्रात एव । तन्नाणवः क्षणिकाः ॥

तथा, परमाणु नित्य हैं, या अनित्य ? यदि नित्य हैं, तो क्रमसे अर्थक्रिया करते हैं, अथवा एक साथ ? यदि परमाणु नित्य हो कर क्रमसे अर्थक्रिया करते हैं, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि परमाणुओंमें क्रमसे अर्थक्रिया माननेमें परमाणुओंमें स्वभावका भेद मानना पड़ेगा । तथा परमाणुओंमें स्वभाव-भेद माननेसे परमाणुओंको नित्य नहीं कह सकते । परमाणु एक साथ भी अर्थक्रिया नहीं कर सकते । क्योंकि यदि परमाणु एक साथ समस्त अर्थक्रिया करने लगें, तो विश्वमें जो क्रम क्रमसे परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, वह नहीं होना चाहिये । तथा समस्त अर्थक्रियाके एक ही समयमें समाप्त हो जानेसे दूसरे क्षणमें अर्थक्रियाका अभाव होगा, इस लिये परमाणुओंका अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा । यदि परमाणु अनित्य हैं, तो वे क्षणिक हैं, अथवा एक क्षणके बाद भी रहते हैं ? यदि परमाणु क्षणिक हैं, तो वे सहेतुक हैं, अथवा निर्हेतुक ? यदि परमाणु निर्हेतुक हैं, तो या तो परमाणुओंको सदा सत् मानना चाहिये, अथवा सदा असत्, क्योंकि निर्हेतुक वस्तु सदा एकसी रहती है । यदि परमाणु सहेतुक हैं, तो कोई स्थूल कारण परमाणुओंका हेतु है, अथवा स्वयं परमाणु ही परमाणुओंमें हेतु हैं ? यदि स्थूल पदार्थको परमाणुओंका कारण माना जाय, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि आप स्थूल बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, कारण कि आप लोगोंने बाह्य पदार्थोंको परमाणु रूप ही माना है । तथा स्वयं परमाणु भी परमाणुओंमें कारण नहीं हैं । क्योंकि हम पूछते हैं, कि ये परमाणु सत्, असत्, अथवा सत्-असत् हो कर अपने कार्यको करते हैं ? यदि परमाणु सत् रूप हो कर अपने कार्यको करें, तो परमाणु उत्पत्तिके समय ही अपना कार्य करते हैं, अथवा उत्पत्तिके दूसरे क्षणमें ? परमाणु उत्पत्तिके समय अपना कार्य नहीं करते, क्योंकि उस समय परमाणु अपनी उत्पत्तिमें ही व्यग्र रहते हैं । यदि कहो, कि "उत्पन्न होना ही क्रिया है, और क्रिया ही कारण है" इस लिये परमाणुओंकी उत्पत्ति होना ही दूसरोंकी उत्पत्ति होनेमें कारण है, यह भी ठीक नहीं । क्योंकि यदि उत्पन्न होना ही उत्पत्तिमें कारण मान लिया जाय, तो रूपके परमाणुओंको रसके परमाणुओंकी उत्पत्तिमें कारण मानना चाहिये, इस लिये रूपके

परमाणुओंको रस-परमाणुओंका उपादान कारण कहना चाहिये। क्योंकि जैसे एक परमाणु स्वयं उत्पन्न हो कर दूसरे परमाणुओंकी उत्पत्ति कर सकता है, वैसे ही रूप और रसके परमाणु भी साथ उत्पन्न होते हुए एक दूसरेकी उत्पत्तिमें सहायक हो सकते हैं। अतएव रूप-परमाणु और रस-परमाणुओंको अपनी अपनी उत्पत्तिमें पृथक् कारण न मान कर रूपके परमाणुओंकी रसके परमाणुओंसे उत्पत्ति माननी चाहिये। यदि कहो, कि परमाणु सत् रूप हो कर दूसरे क्षणमें अपना कार्य करते हैं, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि परमाणु उत्पत्तिके बाद ही नष्ट हो जाते हैं। यदि कहो, कि परमाणु असत् रूप हो कर अपना कार्य करते हैं, (दूसरा पक्ष) तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि अपनी उत्पत्तिके समयको छोड़ कर सदा ही इन परमाणुओंको अपना कार्य करते रहना चाहिये। कारण कि असत् परमाणु सदा एकसे रहते हैं। तथा सत्-असत् रूप हो कर भी परमाणु कार्य नहीं करते (तीसरा पक्ष)। क्योंकि "जो दोष सत् और असत् एक एक स्वभावके अलग अलग माननेमें कहे गये हैं, वे सब दोष सत्-असत् दोनों स्वभावोंको एक साथ माननेमें भी आते हैं।" इस लिये परमाणु सत् और असत् रूप हो कर भी अर्थ क्रिया नहीं कर सकते। अतएव परमाणु क्षणिक नहीं हैं।

नापि कालान्तरस्थायिनः । क्षणिकपक्षसदृक्षयोगक्षेमत्वात् । किञ्च, अमी कियत्कालस्थायिनोऽपि किमर्थक्रियापराङ्मुखाः तत्कारिणो वा ? आद्ये खपुष्पवदसत्त्वापत्तिः । उदग्विकल्पे किमसद्रूपं सद्रूपमुभयरूपं वा ते कार्यं कुर्युः ? असद्रूपं चेत्, शशविषाणादेरपि किं न करणम् । सद्रूपं चेत्, सतोऽपि करणेऽनवस्था । तृतीयभेदस्तु प्राग्वद्विरोधदुर्गन्धः । तन्नाणुरूपोऽर्थः सर्वथा घटते ॥

तथा, अनित्य परमाणु एक क्षणके बाद दूसरे क्षणमें स्थित रह कर भी (एक क्षणसे अधिक, परन्तु परिमित समय तक रहनेवाले) अर्थ क्रिया नहीं कर सकते। क्योंकि परमाणुओंको क्षणिक मान कर अर्थक्रियाकारी माननेमें जो दोष आते हैं, वे यहां भी आते हैं। तथा, एक क्षणके बाद रहनेवाले परमाणु अर्थक्रिया करते हैं, अथवा नहीं ? यदि ये परमाणु अर्थक्रिया नहीं करते, तो आकाशके फूलकी तरह इन परमाणुओंका अभाव मानना चाहिये। क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तुका लक्षण है। यदि एक क्षणके बाद रहनेवाले परमाणु अर्थक्रिया करते हैं, तो वह अर्थक्रिया सत् रूप है, असत् रूप, अथवा उभय रूप ? यदि परमाणुओंका कार्य असत् रूप है, तो परमाणुओंको असत् रूप गधेके सींगोंकी उत्पत्तिमें भी कारण होना चाहिये। यदि यह कार्य सत् रूप है, तो इसका यह अर्थ हुआ, कि जो कार्य पहलेसे मौजूद था, उस कार्यको ही परमाणुओंने किया है। अतएव इस मान्यतामें अनवस्था दोष आता है। अतएव सत् और असत् रूप कार्यके न बननेसे सत्-असत् रूप कार्य भी नहीं बन सकता। अतएव परमाणु बाह्य पदार्थ नहीं हो सकते।

नापि स्थूलावयविरूपः । एकपरमाण्वासिद्धौ कथमनेकतात्सिद्धिः । तदभावे च तत्प्रचयरूपः स्थूलावयवी वाङ्मात्रम् । किञ्च, अयमनेकावयवाधार इष्यते । ते चावयवा यदि विरोधिनः, तर्हि नैकः स्थूलावयवी, विरुद्धधर्माध्यासात् । अविरोधिनश्चेत् , प्रतीतिबाधः । एकस्मिन्नेव स्थूलावयविनि चलाचलरक्तारक्तवृतानावृतादिविरुद्धावयवानामुपलब्धेः । अपि च, असौ तेषु वर्तमानः कात्स्न्र्येन एकदेशेन वा वर्तते ? कात्स्न्र्येन वृत्तावेकस्मिन्नेवावयवे परिसमाप्तत्वादनेकावयववृत्तित्वं न स्यात् । प्रत्यवयवं कात्स्न्र्येन वृत्तौ चावयविबहुत्वापत्तेः । एकदेशेन वृत्तौ च तस्य निरंशत्वाभ्युपगमविरोधः । सांशत्वे वा तेंऽशास्ततो भिन्नाः अभिन्ना वा ? भिन्नत्वे पुनरप्यनेकांशवृत्तेरेकस्य कात्स्न्र्यैकदेशविकल्पानतिक्रमादनवस्था । अभिन्नत्वे न केचिदंशाः स्युः ॥

बाह्य पदार्थोंको स्थूल अवयवी रूप भी स्वीकार नहीं कर सकते । क्योंकि जब एक परमाणु रूप बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होती, तो अनेक परमाणु रूप बाह्य पदार्थोंकी कैसे सिद्धि हो सकती है ? अतएव परमाणु रहित बाह्य पदार्थोंको परमाणुओंके समूह रूप कहना केवल कथन मात्र है । तथा, अनेक परमाणु रूप बाह्य पदार्थ परस्पर विरोधी हैं, या अविरोधी ? यदि ये परमाणु परस्पर विरोधी हैं, तो इन विरुद्ध धर्मोंवाले परमाणुओंसे एक स्थूल अवयवी पदार्थ नहीं बन सकता । यदि इन परमाणुओंको परस्पर अविरोधी मानो, तो यह अनुभवके विरुद्ध है, क्योंकि हमें प्रत्यक्षसे एक ही स्थूल अवयवीमें चल, अचल, रक्त, अरक्त, आवृत, अनावृत आदि विरुद्ध धर्म देखनेमें आते है । तथा अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहता है, अथवा एक देशसे ? यदि अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहते हैं, तो सम्पूर्ण अवयवीके एक अवयवमें समाप्त हो जानेसे अवयवी अनेक अवयवोंमें नहीं रह सकता । यदि अवयवी अनेक अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहे भी, तो अनेक अवयवी मानने पड़ेंगे । यदि अवयवी अवयवोंमें एक देशसे रहे, तो अवयवमें अंशोंकी कल्पना होनेसे उसे निरंश एक अवयवी नहीं कह सकते, परन्तु अवयवी निरंश होता है । यदि कहो, कि अवयवी अंश सहित हो कर अवयवोंमें रहता है, तो ये अंश अवयवोंसे भिन्न हैं, या अभिन्न ? यदि अंश अवयवसे भिन्न हैं, तो फिर प्रश्न होगा, कि अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहते हैं, अथवा एक देशसे, इस तरह अनवस्था माननी पड़ेगी । यदि अंश अवयवसे अभिन्न हैं, तो अवयवोंको छोड़ कर अवयवीके अंशोंका पृथक् अस्तित्व नहीं मान सकते ।

इति नास्ति बाह्योऽर्थः कश्चित् । किन्तु ज्ञानमेवेदं सर्वं नीलाद्याकारेण प्रतिभाति । बाह्यार्थस्य जडत्वेन प्रतिभासायोगात् । यथोक्तम् “ स्वाकारबुद्धिजनका दृश्या नेन्द्रियगोचराः” । अलङ्कारकारेणाप्युक्तम्—

---

१ प्रज्ञाकरगुप्तकृतः प्रमाणवार्तिकालङ्काराख्यो बौद्धग्रन्थः ।

" यदि संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते ।
न चेत् संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते ॥ "

यदि बाह्योऽर्थो नास्ति, किंविषयस्तर्ह्ययं घटपटादिप्रतिभासः इति चेत्, ननु निरालम्बन एवायमनादिवितथवासनाप्रवर्तितः, निर्विषयत्वात्, आकाशकेशज्ञानवत्, स्वप्नज्ञानवद् वेति । अत एवोक्तम्—

" नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥
बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते ।
वासनालुठितं चित्तमर्थाभासे प्रवर्तते " ॥ इति ॥

अतएव बाह्य पदार्थोंको स्थूल अवयवी रूप अथवा परमाणु रूप नहीं कह सकते । किन्तु जो कुछ नील, पीत आदि रूप दृष्टिगोचर होता है, वह सब ज्ञान रूप ही है । बाह्य पदार्थोंका प्रतिभास नहीं हो सकता, क्योंकि बाह्य पदार्थ जड़ हैं । कहा भी है, " ज्ञानके गोचर दृश्य पदार्थ बुद्धिको पदार्थाकार उत्पन्न करते हैं । " प्रमाणवार्तिकालंकारके कर्ता प्रज्ञाकरगुप्तने भी कहा है, " यदि नीलका प्रतिभास होता है, तो उसे बाह्य पदार्थ कैसे कह सकते हैं ? यदि नीलका प्रतिभास नहीं होता, तो उसे बाह्य पदार्थ नहीं कह सकते ? " अर्थात् यदि नीलका प्रतिभास होता है, तो उसे ज्ञान रूप ही मानना चाहिये, और यदि उसका प्रतिभास नहीं होता, तो उसे बाह्य पदार्थ नहीं कह सकते । **शंका**—यदि बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं हैं, तो घट, पट आदिका ज्ञान कैसे होता है ? **समाधान**—जिस प्रकार बाह्य आलंबनके विना आकाशमें केशका ज्ञान होता है, अथवा स्वप्नावस्थामें स्वप्न-ज्ञान होता है, वैसे ही अनादि कालकी अविद्या-वासनाके कारण बाह्य पदार्थोंके आलम्बनके विना ही घट, पट आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है । इसीलिये कहा है, " बुद्धिमें प्रतिभासित होनेवाला पदार्थ (अनुभाव्य) बुद्धिके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, इसी तरह अनुभव भी बुद्धिके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है । ग्राह्य (अनुभाव्य) और ग्राहक (अनुभव) के अभिन्न होनेसे स्वयं बुद्धि ही ग्राह्य-ग्राहक रूपसे प्रतिभासित होती है । मूर्ख लोगोंद्वारा कल्पित बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं है । अनादि कालकी अविद्याकी वासनाके कारण ही चित्त (बुद्धि) नाना रूप प्रतिभासित होता है । "

तदेतत्सर्वमवद्यम् । ज्ञानमिति हि क्रियाशब्दः ततो ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं, ज्ञप्तिर्वा ज्ञानमिति । अस्य च कर्मणा भाव्यं निर्विषयाया ज्ञप्तेरघटनात् । न चाकाशकेशादौ निर्विषयमपि दृष्टं ज्ञानमिति वाच्यम् । तस्याप्येकान्तेन निर्विषयत्वाभावात् । न हि सर्वथागृहीतसत्यकेशज्ञानस्य तत्प्रतीतिः । स्वप्नज्ञानमप्यनुभूतदृष्टाद्यर्थविषयत्वान्न निरालम्बनम् । तथा च महाभाष्यकारः—

" अणुहूयदिट्ठचिंतिय सुयपयइवियारदेवयाणूवा ।
सुमिणस्य निमित्ताइं पुण्णं पावं च णाभावो "

यश्च ज्ञानविषयः स बाह्योऽर्थः । भ्रान्तिरियमिति चेत् चिरं जीव । भ्रान्तिर्हि मुख्येऽर्थे क्वचिद् दृष्टे सति करणापाटवादिनान्यत्र विपर्यस्तग्रहणे प्रसिद्धा । यथा शुक्तौ रजतभ्रान्तिः । अर्थक्रियासमर्थेऽपि वस्तुनि यदि भ्रान्तिरुच्यते तर्हि प्रलीना भ्रान्ताभ्रान्तव्यवस्था । तथा च सत्यमेतद्वचः—

" आशामोदकतृप्ता ये ये चास्वादितमोदकाः ।
रसवीर्यविपाकादि तुल्यं तेषां प्रसज्यते " ॥

उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं है । ज्ञान शब्द क्रियाका द्योतक है । जिसके द्वारा जाना जाय, अथवा जानने मात्रको ज्ञान कहते हैं । ज्ञान (क्रिया) के कोई कर्म अवश्य होना चाहिये, क्योंकि ज्ञान निर्विषय नहीं होता । यदि आकाशमें निर्विषय केश-ज्ञानकी तरह मिथ्या ज्ञानको ही ज्ञानका विषय मानो, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि आकाशमें केश-ज्ञान भी एकान्त रूपसे निर्विषय नहीं है । कारण कि जिसने कभी वास्तविक केशोंका ज्ञान नहीं किया है, उसे आकाशमें मिथ्या केश-ज्ञान नहीं हो सकता । इसी प्रकार स्वप्नमें भी जाग्रत् दशामें अनुभूत पदार्थोंका ही ज्ञान होता है, इस लिये स्वप्न-ज्ञान भी सर्वथा निर्विषय नहीं है । महाभाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने भी कहा है, " अनुभव किये हुए, देखे हुए, विचारे हुए, सुने हुए पदार्थ, वात, पित्त आदि प्रकृतिके विकार, दैविक और जल-प्रधान देश स्वप्नमें कारण होते हैं । सुख-निद्रा आनेसे पुण्य रूप, और सुख-निद्रा न आनेसे पाप रूप स्वप्न दिखाई देते हैं । वास्तवमें स्वप्न सर्वथा अवस्तु रूप नहीं हैं । " तथा, ज्ञानका विषय ही बाह्य अर्थ है । यदि कहो, कि ज्ञानमें प्रतिभासित होनेवाले पदार्थ भ्रम रूप हैं, तो यह बहुत ठीक है, क्योंकि यथार्थ पदार्थको देखनेपर इन्द्रियोंमें रोग आदि हो जानेके कारण ही चांदीमें सीपके ज्ञानकी तरह, पदार्थोंमें भ्रम रूप ज्ञान होता है । यदि अर्थक्रिया करनेवाले पदार्थोंमें भी भ्रांति स्वीकार की जाय, तो भ्रांत और अभ्रान्त ज्ञानकी व्यवस्था नहीं बन सकती । इस लिये " मनके लड्डु खानेवालोंको और यथार्थ लड्डुओंका स्वाद चखनेवालोंको लड्डुओंके रस, वीर्य, विपाक आदिका समान फल मिलना चाहिये । "

न चामून्यर्थदूषणानि स्याद्वादिनां बाधां विदधते । परमाणुरूपस्य स्थूलावयविरूपस्य चार्थस्याङ्गीकृतत्वात् । यच्च परमाणुपक्षखण्डनेऽभिहितं प्रमाणाभावादिति । तदसत् । तत्कार्याणां घटादीनां प्रत्यक्षत्वे तेषामपि कथञ्चित् प्रत्यक्षत्वं योगिप्रत्यक्षेण च साक्षात्प्रत्यक्षत्वमवसेयम् । अनुपलब्धिस्तु सौक्ष्म्यात् । अनुमानादपि

---

१ छाया–अनुभूतदृष्टचिन्तितश्रुतप्रकृतिविकारदैविकानूपाः वा । स्वप्नस्य निमित्तानि पुण्यं पापं च नाभावः ॥ जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः विशेषावश्यकभाष्ये १७०३ ।

तत्सिद्धिः। यथा सन्ति परमाणवः, स्थूलावयविनिष्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः, इत्यन्तर्व्याप्तिः। न चाणुभ्यः स्थूलोत्पाद इत्येकान्तः। स्थूलादपि सूत्रपटलादेः स्थूलस्य पटादेः प्रादुर्भावविभावनात्। आत्माकाशादेरपुद्गलत्वकक्षीकाराच्च । यत्र पुनरणुभ्यस्तदुत्पत्तिस्तत्र तत्कालादिसामग्रीसव्यपेक्षक्रियावशात् प्रादुर्भूतं संयोगातिशयमपेक्ष्येयमवितथैव॥

तथा, आप लोगोंने ज्ञानाद्वैतका प्रतिपादन करते हुए जो परमाणु रूप और स्थूल अवयवी रूप बाह्य पदार्थोंका खण्डन किया, उससे स्याद्वादियोंके सिद्धांतमें कोई बाधा नहीं आती। क्योंकि जैन लोगोंने परमाणु और स्थूल अवयवी दोनों रूप बाह्य पदार्थोंको स्वीकार किया है । तथा, परमाणुओंके अस्तित्वमें प्रमाणका अभाव बताना भी ठीक नहीं। क्योंकि परमाणुओंके कार्य घट आदिका प्रत्यक्ष होनेसे घट आदिके कारण रूप परमाणुओंका भी कथंचित् प्रत्यक्ष मानना चाहिये । क्योंकि योगी प्रत्यक्षसे परमाणुओंका साक्षात् प्रत्यक्ष भी होता है । हम लोगोंको परमाणुओंके सूक्ष्म होनेसे ही उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। तथा 'परमाणुओंके अस्तित्वके विना घट आदि स्थूल अवयवीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती' (सन्ति परमाणवः स्थूलावयविनिष्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः) इस अनुमानसे परमाणुकी सिद्धि होती है। स्थूल पदार्थोंकी परमाणुओंसे ही उत्पत्ति होती है, यह कोई एकान्त नियम हम लोग नहीं मानते। क्योंकि स्थूल तन्तु आदिसे भी स्थूल पट आदिकी उत्पत्ति देखी जाती है, तथा आत्मा और आकाश आदि भी पुद्गल-परमाणुओंसे उत्पन्न नहीं होते। अतएव 'स्थूल पदार्थोंकी उत्पत्ति परमाणुओंसे होती है' इसका यही अभिप्राय है, कि परमाणुओंका काल आदि क्रियाके साथ संबंध होनेसे परमाणुओंसे स्थूल अवयवी उत्पन्न होते हैं।

यदपि किञ्चायमनेकावयवाधार इत्यादि न्यगादि, तत्रापि कथञ्चिद्विरोध्यनेकावयवाविष्वग्भूतवृत्तिरवयव्यभिधीयते। तत्र च यद्विरोध्यनेकावयवाधारतायां विरुद्धधर्माध्यासनमभिहितं तत्कथञ्चिदुपेयत एव तावत्। अवयवात्मकस्य तस्यापि कथञ्चिदनेकरूपत्वात्। यच्चोपन्यस्तम्, अपि च असौ तेषु वर्तमानः कार्त्स्न्येनैकदेशेन वा वर्ततेत्यादि। तत्रापि विकल्पद्वयानभ्युपगम एवोत्तरम्। अविष्वग्भावेनावयविनोऽवयवेषु वृत्तेः स्वीकारात्॥

तथा, आप लोगोंने जो कहा, कि 'अवयवी अनेक अवयवोंके आश्रयसे हैं, अथवा एक अवयवके' सो हम लोगोंके अनुसार प्रत्येक अवयवी अनेक अवयवोंमें अभेद रूपसे रहता है, इस लिये अवयवी और अवयवोंका सर्वथा विरोध न मान कर कथंचित् विरोध ही मानना चाहिये। अतएव अवयवीको कथंचित् एक, और कथंचित् अनेक मानना चाहिये। तथा आप लोगोंने जो प्रश्न किया था, 'कि अवयवी अवयवोंमें सम्पूर्ण रूपसे रहता है, अथवा

एक देशसे,' सो हम दोनों विकल्पोंको नहीं मानते। हमारे मतके अनुसार अवयवी अवयवोंमें अभेद रूपसे रहता है।

किञ्च, यदि बाह्योऽर्थो नास्ति, किमिदानीं नियताकारं प्रतीयते। नीलमेतत् इति विज्ञानाकारोऽयमिति चेत्। न। ज्ञानाद् बहिर्भूतस्य संवेदनात्। ज्ञानाकारत्वे तु अहं नीलम् इति प्रतीतिः स्यान्न तु इदं नीलम् इति। ज्ञानानां प्रत्येकमाकारभेदात् कस्यचित् 'अहम्' इति प्रतिभासः, कस्यचित् 'नीलमेतत्' इति चेत्। न। नीलाद्याकारवदहमित्याकारस्य व्यवस्थितत्वाभावात्। तथा च यदेकेनाहमिति प्रतीयते तदेवापरेण त्वमिति प्रतीयते। नीलाद्याकारस्तु व्यवस्थितः, सर्वैरप्येकरूपतया ग्रहणात्। भक्षितहृत्पूरादिभिस्तु[1] यद्यपि नीलादिकं पीतादितया गृह्यते, तथापि तेन न व्यभिचारः, तस्य भ्रान्तत्वात्। स्वयं स्वस्य संवेदनेऽहमिति प्रतिभास इति चेत्, ननु किं परस्यापि संवेदनमस्ति। कथमन्यथा स्वशब्दस्य प्रयोगः। प्रतियोगिशब्दो ह्ययं परमपेक्षमाण एव प्रवर्तते। स्वरूपस्यापि भ्रान्त्या भेदप्रतीतिरिति चेत्, हन्त प्रत्यक्षेण प्रतीतो भेदः कथं न वास्तवः॥

तथा, यदि 'बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं हैं' तो वास्तविक नील पदार्थके विना हमें नीलका निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। यदि कहो, कि नील आदि सम्पूर्ण बाह्य पदार्थ ज्ञानके आकार ही प्रतिभासित होते हैं, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि हमें ज्ञानसे बाह्य पदार्थोंका ज्ञान होता है। यदि पदार्थोंका ज्ञानके आकार ही ज्ञान हो, तो 'यह पदार्थ नील है' ऐसा ज्ञान न हो कर 'मैं नील हूं' यह ज्ञान होना चाहिये। **शंका**—प्रत्येक ज्ञानका आकार भिन्न भिन्न होता है, इस लिये कहीं 'मैं नील हूं' ऐसा ज्ञान होता है, और कहीं, 'यह पदार्थ नील है' ऐसा ज्ञान होता है। अतएव बाह्य और अंतरंग दोनों पदार्थ ज्ञानाकार होते हैं। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रकार नील आकार व्यवस्थित है, वैसे 'अहम्' आकार व्यवस्थित नहीं है। कारण कि जो मेरे लिये 'अहं' है, वह दूसरेके लिये 'त्वं' है। परन्तु नील आकार व्यवस्थित है, क्योंकि वह सब लोगोंके अनुभवमें एक रूपसे ही आता है। यदि कहो, कि पित्त उत्पन्न करनेवाले धतूरेको खा लेनेसे नील पदार्थ भी पीत रूप प्रतिभासित होता है, इस लिये नील आकार सब लोगोंके अनुभवमें एकसा नहीं आता। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि नीलका पीत रूप प्रतिभासित होना भ्रान्त है। रोग रहित मनुष्योंको नील सदा नील रूप ही प्रतिभासित होता है। स्वयंको अपने आपका ज्ञान होनेसे 'अहं' का प्रतिभास होता है, यह आपका कथन तभी सत्य माना जा सकता है, जब आप अपने अतिरिक्त दूसरेका भी संवेदन मानते हों। 'स्व' शब्द प्रतियोगी शब्द है।

---

[1] हृत्पूरः पित्तरोगकरः फलविशेषस्तद्भक्षणेन पित्तपीतिम्ना सर्वे पदार्थाः पीता इव भासन्ते।

अतएव स्व शब्दसे पर शब्दका भी ज्ञान होता है। यदि कहो, कि स्व शब्दमें पर रूप भेदका ज्ञान होता है, वास्तवमें स्व और परमें कोई भेद नहीं है, तो खेद है, कि आप लोग प्रत्यक्षसे दिखाई देनेवाले स्व और पर, अंतर और बाह्यके भेदको भी वास्तविक नहीं मानना चाहते।

भ्रान्तं प्रत्यक्षमिति चेत्, ननु कुत एतत्। अनुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्धेरिति चेत्, किं तदनुमानमिति पृच्छामः। यद्येन सह नियमेनोपलभ्यते तत् ततो न भिद्यते, यथा सच्चन्द्रादसच्चन्द्रः। नियमेनोपलभ्यते च ज्ञानेन सहार्थ इति व्यापकानुपलब्धिः। प्रतिषेध्यस्य ज्ञानार्थयोर्भेदस्य व्यापकः सहोपलम्भानियमस्तस्यानुपलब्धिः। भिन्नयोर्नीलपीतयोर्युगपदुपलम्भनियमाभावात्। इत्यनुमानेन तयोरभेदसिद्धिरिति चेत् ॥

बौद्ध—स्व और परके भेदको बतानेवाला प्रत्यक्ष भ्रान्त है। क्योंकि अनुमानसे ज्ञान और पदार्थका अभेद सिद्ध होता है। 'जो जिसके साथ उपलब्ध होता है, वह उससे भिन्न नहीं होता। जैसे यथार्थ चन्द्रमा भ्रान्त चन्द्रमाके साथ उपलब्ध होता है, अतएव भ्रान्त चन्द्रमा यथार्थ चन्द्रमासे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान और पदार्थ एक साथ पाये जाते हैं, अतएव ज्ञान पदार्थसे भिन्न नहीं हैं' इस व्यापकानुपलब्धि अनुमानसे ज्ञान और पदार्थका अभेद सिद्ध होता है। प्रतिषेध्य (साध्यसे विपरीत) व्यापककी अनुपलब्धिको व्यापकानुलब्धि कहते हैं। यहां पर ज्ञान और पदार्थके भेद रूप (नील और पीत परस्पर भिन्न हैं, इस लिये एक साथ उपलब्ध (सहोपलब्ध) नहीं होते) प्रतिषेध्यका सहोपलंभ अनियम व्यापक है। यह सहोपलंभ अनियम ज्ञान और पदार्थके साथ न पाये जानेको सिद्ध नहीं करता। इस लिये ज्ञान और पदार्थके सहोपलंभ अनियम व्यापकके न पाये जानेसे ज्ञान और पदार्थका भेद रूप व्याप्य भी सिद्ध नहीं होता। इस लिये ज्ञान और पदार्थ परस्पर अभिन्न हैं।

न। संदिग्धानैकान्तिकत्वेनास्यानुमानाभासत्वात्। ज्ञानं हि स्वपरसंवेदनम्। तत्परसंवेदनतामात्रेणैव नीलं गृह्णाति, स्वसंवेदनतामात्रेणैव च नीलबुद्धिम्। तदेवमनयोर्युगपद् ग्रहणात्सहोपलम्भनियमोऽस्ति अभेदश्च नास्ति। इति सहोपलम्भनियमरूपस्य हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तेः संदिग्धत्वात् संदिग्धानैकान्तिकत्वम्। असिद्धश्च सहोपलम्भनियमः। नीलमेतत् इति बहिर्मुखतयाऽर्थेनुभूयमाने तदानीमेवान्तरस्य नीलानुभवस्याननुभवात्, इति कथं प्रत्यक्षस्यानुमानेन ज्ञानार्थयोरभेदसिद्ध्या भ्रान्तत्वम्। अपि च, प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वेनाबाधितविषयत्वादनुमानस्यात्मलाभः, लब्धात्मके चानुमाने प्रत्यक्षस्य भ्रान्तत्वम्, इत्यन्योन्याश्रयदोषोऽपि

दुर्निवारः। अर्थाभावे च नियतदेशाधिकरणा प्रतीतिः कुतः। न हि तत्र विवक्षितदेशेऽयमारोपयितव्यो नान्यत्रेत्यस्ति नियमहेतुः॥

जैन—यह ठीक नहीं है। (क) क्योंकि यह अनुमान संदिग्धानैकांतिक हेत्वाभास है (जिस हेतुका साध्यसे विरुद्ध धर्मके साथ रहना संभव हो)। क्योंकि जहां सहोपलंभ है, वहां अभेदकी सिद्धि नही होती। ज्ञान अपने आपको और पर पदार्थोंको जानते समय नीलको और नील-ज्ञानको जानता है। नील और नील-ज्ञान दोनोंका एक साथ ज्ञान होनेसे उनमें सहोपलंभ नियम है, परन्तु नील और नील-ज्ञानमें सहोपलंभ नियम होनेपर भी अभेद नहीं पाया जाता। क्योंकि नील और नील ज्ञान अभिन्न नहीं हैं। अतएव सहोपलंभ नियम और अभेदकी व्याप्ति नहीं बनती। इस लिये ज्ञान और पदार्थमें अभेद बतानेके लिये बौद्ध लोगोंने जो सहोपलंभ नियम हेतु दिया था, वह अभेद रूप साध्यसे विपरीत भेदमें रहनेसे संदेहात्मक होनेके कारण संदिग्धानैकांतिक हेत्वाभास है। (ख) सहोपलंभ नियम हेतु असिद्ध हेत्वाभास भी है, क्योंकि हेतु पक्षमें नहीं पाया जाता। कारण कि ज्ञान और पदार्थमें ही अभेदकी सिद्धि नहीं होती। 'यह नील है' इस प्रकार पदार्थका बाह्य रूप ज्ञान होनेपर उसी समय अंतरंग नील-ज्ञानका अनुभव नहीं होता। क्योंकि दोनों ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें समयका अंतर पड़ता है। अतएव ज्ञान और पदार्थके भेदको सिद्ध करनेवाले प्रत्यक्षको अनुमान द्वारा भ्रान्त नहीं ठहराया जा सकता। (ग) यदि प्रत्यक्षका भ्रान्तपना सिद्ध हो, तो अनुमानका विषय अबाधित सिद्ध हो, तथा अनुमानका विषय अबाधित सिद्ध हो, तो प्रत्यक्षका भ्रान्तपना सिद्ध हो, इस प्रकार अनुमान और प्रत्यक्षके परस्पर अन्योन्याश्रित होनेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है। इस लिये प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे भी ज्ञान और पदार्थमें अभेद सिद्ध नहीं होता। तथा, यदि बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं है, तो पदार्थोंके निश्चित स्थानकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए। इस लिये यह वस्तु इसी स्थानपर है, अन्यत्र नहीं, यह नियम नहीं बन सकता।

वासनानियमात्तदारोपनियम इति चेत्। न। तस्या अपि तद्देशनियमकारणाभावात्। सति ह्यर्थसद्भावे यद्देशोऽर्थस्तद्देशोऽनुभवः तद्देशा च तत्पूर्विका वासना। बाह्यार्थाभावे तु तस्याः किंकृतो देशनियमः॥

विज्ञानवादी बौद्ध—हम लोग वासनासे प्रतिनियत स्थानमें रहनेवाले पदार्थोंका ज्ञान करते हैं। घटके प्रतिनियत स्थानमें रहनेसे उस स्थानका स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, परन्तु हम वासनाके द्वारा अमुक पदार्थके अमुक स्थानमें स्थित रहनेका ज्ञान करते हैं। अतएव बाह्य पदार्थोंका ज्ञान हमारी वासनाके कारण होता है, वास्तवमें बाह्य पदार्थ स्वतंत्र वस्तु नहीं हैं। जैन—यह ठीक नहीं। क्योंकि हम वासनासे प्रतिनियत स्थानका ज्ञान नहीं कर सकते। बाह्य पदार्थोंके होनेपर ही जिस स्थानमें पदार्थोंका अस्तित्व होता है, उसी जगह

पदार्थोंका अनुभव होता है, और इस अनुभवसे वासना उत्पन्न होती है। अतएव यदि बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं है, तो प्रतिनियत स्थानका कोई नियम नहीं बन सकता।

अथास्ति तावदारोपनियमः। न च कारणविशेषमन्तरेण कार्यविशेषो घटते। बाह्यश्चार्थो नास्ति। तेन वासनानामेव वैचित्र्यं तत्र हेतुरिति चेत्, तद्वासनावैचित्र्यं बोधाकारादन्यत्, अनन्यद्वा। अनन्यच्चेत्। बोधाकारस्यैकत्वात्कस्तासां परस्परतो विशेषः। अन्यच्चेत्। अर्थे कः प्रद्वेषः, येन सर्वलोकप्रतीतिरपह्नूयते। तदेवं सिद्धो ज्ञानार्थयोर्भेदः॥

विज्ञानवादी—वास्तवमें बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं है। पदार्थोंके नाना रूप ज्ञान करनेमें वासना-वैचित्र्य ही कारण है। जैन—हम पूछते हैं, कि यह वासना-वैचित्र्य ज्ञानसे भिन्न है, अथवा अभिन्न? यदि वासना-वैचित्र्य ज्ञानसे अभिन्न है, तो वासनामें वैचित्र्य नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान एक है, इस लिये उसमें वैचित्र्य संभव नहीं। यदि वासना-वैचित्र्य ज्ञानसे भिन्न है, तो अन्य बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व माननेमें ही क्या दोष है, तथा ज्ञान और वासनाको अलग अलग माननेसे आप लोगोंके ज्ञानाद्वैतकी सिद्धि नहीं होती। इस लिये वासना-वैचित्र्यको न मान कर आप लोगोंको अर्थ-वैचित्र्य स्वीकार करना चाहिये। अतएव ज्ञान और पदार्थ परस्पर भिन्न हैं।

तथा च प्रयोगः। विवादाध्यासितं नीलादि ज्ञानाद्व्यतिरिक्तं, विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात्। विरुद्धधर्माध्यासश्च ज्ञानस्य शरीरान्तः, अर्थस्य च बहिः। ज्ञानस्यापरकाले, अर्थस्य च पूर्वकाले वृत्तिमत्त्वात्। ज्ञानस्यात्मनः सकाशात्, अर्थस्य च स्वकारणेभ्य उत्पत्तेः। ज्ञानस्य प्रकाशरूपत्वात्, अर्थस्य च जडरूपत्वादिति। अतो न ज्ञानाद्वैतेऽभ्युपगम्यमाने बहिरनुभूयमानार्थप्रतीतिः कथमपि सङ्गतिमङ्गति। न च दृष्टमपह्नोतुं शक्यमिति॥

अतएव नील, पीत आदि ज्ञानसे भिन्न हैं। क्योंकि नील, पीत आदिमें और ज्ञानमें परस्पर विरोधी गुण पाये जाते हैं। ज्ञान अंतरंग है, ज्ञेय बाह्य है; ज्ञान ज्ञेयके पश्चात् उत्पन्न होता है, ज्ञेय ज्ञानके पहले भी रहता है; ज्ञान आत्मासे उत्पन्न होता है, ज्ञेय अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न होते हैं; ज्ञान प्रकाश रूप है, ज्ञेय पदार्थ जड़ रूप हैं, अतएव ज्ञान और ज्ञेय परस्पर विरोधी हैं। इस लिये ज्ञानाद्वैतके स्वीकार करनेपर बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। परंतु बाह्य पदार्थोंका निषेध नहीं किया जा सकता।

अत एवाह स्तुतिकारः न संविदद्वैतपथेऽर्थसंवित् इति। सम्यगवैपरीत्येन विद्यतेऽवगम्यते वस्तुस्वरूपमनयेति संवित्। स्वसंवेदनपक्षे तु संवेदनं संवित् ज्ञानम्, तस्या अद्वैतम् द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतं, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकेऽणि[1]। न

---

[1] प्रज्ञादिभ्योऽण्। हैमसूत्रे ७-२-१६५।

द्वैतमद्वैतम् , बाह्यार्थप्रतिक्षेपादेकत्वं । संविदद्वैतं ज्ञानमेवैकं तात्त्विकं न बाह्योऽर्थ इत्यभ्युपगम्यत इत्यर्थः । तस्य पन्थाः मार्गः संविदद्वैतपथस्तस्मिन् ज्ञानाद्वैतवादपक्ष इति यावत् । किमित्याह । नार्थसंवित् । येयं बहिर्मुखतयार्थप्रतीतिः साक्षादनुभूयते सा न घटते इत्युपस्कारः । एतच्चानन्तरमेव भावितम् ॥

अतएव हेमचंद्र आचार्यने कहा है, कि 'ज्ञानाद्वैतके स्वीकार करनेपर पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता ' (न संविदद्वैतपथेऽर्थसंवित्) जिससे यथार्थ रीतिसे वस्तुका ज्ञान हो, उसे ज्ञान (संवित्) कहते हैं । बाह्य पदार्थोंका निषेध करके केवल एक ज्ञानका अस्तित्व स्वीकार करना ज्ञानाद्वैत है । इस ज्ञानाद्वैतके माननेपर पदार्थोंकी बाह्य रूपसे प्रतीति नहीं हो सकती ।

एवं च स्थिते सति किमित्याह । विलूनशीर्णं सुगतेन्द्रजालम् इति । सुगतो मायापुत्रस्तस्य सम्बन्धि तेन परिकल्पितं क्षणक्षयादि वस्तुजातम् । इन्द्रजालमिवेन्द्रजालं । मतिव्यामोहविधातृत्वात् । सुगतेन्द्रजालं सर्वमिदं विलूनशीर्णम् । पूर्वं विलूनं पश्चात् शीर्णं विलूनशीर्णम् । यथा किञ्चित् तृणस्तम्बादि विलूनमेव शीर्यते विनश्यति, एवं तत्कल्पितमिदमिन्द्रजालं तृणप्रायं धारा[1]लयुक्तिशस्त्रिकया छिन्नं सद्विशीर्यत इति । अथवा यथा निपुणेन्द्रजालिककल्पितमिन्द्रजालमवास्तवतत्तद्वस्त्वद्भुततोपदर्शनेन तथाविधं बुद्धिदुर्विदग्धं जनं विप्रतार्य पश्चादिन्द्रधनुरिव निरवयवं विलूनशीर्णतां कलयति, तथा सुगतपरिकल्पितं तत्तत्प्रमाणतत्तत्फलाभेदक्षणक्षयज्ञानार्थहेतुकत्वज्ञानाद्वैताभ्युपगमादि सर्वं प्रमाणानभिज्ञं लोकं व्यामोहयमानमपि युक्त्या विचार्यमाणं विशरा[2]रुतामेव सेवत इति । अत्र च सुगतशब्द उपहासार्थः । सौगता हि शोभनं गतं ज्ञानमस्येति सुगतं इत्युशन्ति । ततश्चाहो तस्य शोभनज्ञानता, येनेत्थमयुक्तियुक्तमुक्तम् ॥ इति काव्यार्थः ॥ १६ ॥

अतएव 'सम्पूर्ण पदार्थ क्षणस्थायी हैं,' 'ज्ञान और पदार्थ परस्पर अभिन्न हैं' आदि मायाके पुत्र बुद्धके सिद्धांत बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करनेवाले होनेके कारण इन्द्रजालकी तरह विशीर्ण हो जाते हैं । जिस प्रकार बाजीगरका इन्द्रजाल मिथ्या होनेसे थोड़े समयके लिये अद्भुत अद्भुत वस्तुओंका प्रदर्शन करके भोले लोगोंको ठग कर इन्द्रधनुषकी तरह विलीन हो जाता है, उसी प्रकार 'प्रमाण और फल अभिन्न हैं,' 'सब पदार्थ क्षणिक हैं,' 'ज्ञान और पदार्थमें परस्पर अभेद है' आदि सिद्धान्तोंसे भोले प्राणियोंको व्यामोहित करनेवाले बुद्धके सिद्धांत युक्तियोंसे जर्जरित हो जाते हैं । यह श्लोकका अर्थ है ।

---

[1] तीक्ष्णधारायुक्तशस्त्रिका । [2] विशीर्णशीलता ।

भावार्थ—इस कारिकामें बौद्धोंके चार सिद्धान्तोंपर विचार किया गया है। **बौद्ध**—(१) प्रमाण और प्रमिति अभिन्न हैं। क्योंकि ज्ञान ही प्रमाण और प्रमाणका फल है, कारण कि वह अधिगम रूप है। ज्ञानसे पदार्थ जाने जाते हैं, इस लिये ज्ञान प्रमाण है। तथा पदार्थोंको जाननेके अतिरिक्त ज्ञानका दूसरा कोई फल नहीं हो सकता, इस लिये ज्ञान ही प्रमाणका फल है। प्रमाण और प्रमितिमें प्रमाण कारण है, और प्रमाणका फल प्रमाणका कार्य है। **जैन**—(क) यदि प्रमाण और प्रमिति अभिन्न हैं, तो वे दोनों एक साथ उत्पन्न होने चाहिये। इस लिये प्रमाण और प्रमितिमें कार्य-कारण संबंध नहीं बन सकता। क्योंकि कारण सदा कार्यके पहले ही उत्पन्न होता है। (ख) प्रमाण और प्रमितिको क्रम-भावी मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि बौद्धोंके मतमें प्रत्येक वस्तु क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाली है। अतएव प्रमाणका निरन्वय विनाश होनेसे प्रमाणसे प्रमितिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। (ग) प्रमाण और प्रमितिमें कोई संबंध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण और प्रमिति दोनों क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं। तथा प्रमाण और प्रमितिमें रहनेवाले कार्य-कारण संबंधका ज्ञान दो वस्तुओंके ज्ञान होनेपर ही हो सकता है।

सौत्रान्तिक बौद्ध—हम प्रमाण और प्रमितिमें व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक संबंध मानते हैं, कार्य-कारण संबंध नहीं। ज्ञान पदार्थको जानते समय पदार्थके आकारको धारण करके पदार्थका ज्ञान करता है। वास्तवमें चक्षु आदि इन्द्रियोंसे पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता। जिस समय ज्ञानमें अमुक पदार्थके आकारका अनुभव होता है, उस समय उस पदार्थका ज्ञान होता है। इस लिये प्रमाण प्रमितिको उत्पन्न नहीं करता, किन्तु वह प्रमितिकी व्यवस्था करता है। जिस समय ज्ञान नील घटके आकार हो कर नील घटको जानता है, उस समय ज्ञानमें नील घटका सारूप्य व्यवस्थापक है, और घटका नील रूप ज्ञान व्यवस्थाप्य है। पदार्थोंका जाननेवाला ज्ञान नील घटके आकारको धारण करके ही नील घटको जानता है। अतएव प्रमाण और प्रमितिमें व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक संबंध स्वीकार करनेसे एक ही वस्तुमें प्रमाण और प्रमितिके माननेसे विरोध नहीं आता। **जैन**—(क) निरंश क्षणिक विज्ञानमें व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक संबंध नहीं बन सकता। क्योंकि व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक संबंध दो पदार्थोंमें ही रह सकता है। (ख) ज्ञानको अर्थाकार माननेमें ज्ञानको जड़ प्रमेयके आकार माननेसे ज्ञानको भी जड़ मानना चाहिये। तथा ज्ञानको पदार्थाकार माननेमें 'यह नील पदार्थ है' ऐसा ज्ञान न हो कर 'मैं नील हूं' इस प्रकारका ज्ञान होना चाहिये। तथा जल-चन्द्रके आकाश-चन्द्रके आकारका होनेपर भी जल-चन्द्रसे आकाश-चन्द्रका ज्ञान नहीं होता। (ग) यदि प्रमाण और प्रमिति सर्वथा अभिन्न होते, तो आप लोग सारूप्यको प्रमाण और ज्ञानसंवेदनको प्रमिति मान कर प्रमाण और उसके फलको अलग अलग नहीं मानते। अतएव प्रमाण और प्रमितिको सर्वथा अभिन्न न मान कर उन्हें कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना चाहिये।

बौद्ध—(२) सम्पूर्ण विद्यमान पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव है। पदार्थोंका नश्वर स्वभाव दूसरेके ऊपर अवलम्बित नहीं है। यदि नाश होना पदार्थोंका स्वभाव न हो, तो दूसरी वस्तुओंके संयोग होनेपर भी पदार्थ नष्ट न होने चाहिये। पदार्थोंका यह नाशमान स्वभाव पदार्थोंकी आरंभ और अंत दोनों अवस्थाओंमें समान है। इसीलिये प्रत्येक पदार्थ क्षणस्थायी है। अतएव जो घट हमें नित्य दिखाई देता है, वह भी प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है। घटका प्रत्येक पूर्व क्षण उत्तर क्षणको उत्पन्न करता है। ये समस्त क्षण परस्पर इतने सदृश हैं, कि घटके क्षण क्षणमें नष्ट होनेपर भी घट एक रूप ही दिखाई देता है। अतएव क्षणोंकी पारस्परिक सादृशताके कारण ही हमें अविद्याके कारण घटमें एकत्वका ज्ञान होता है। **जैन**—पूर्व और उत्तर क्षणोंका एक साथ अथवा क्रमसे उत्पन्न होना नहीं बन सकता, अतएव पदार्थोंको क्षणिक मानना ठीक नहीं है। तथा क्षणिकवादी निरन्वय विनाश मानते हैं, अतएव क्षणिकवादका सिद्धांत एकान्त रूप होनेसे सत्य नहीं कहा जा सकता। इस लिये पदार्थोंको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप ही स्वीकार करना चाहिये। यही सत् का लक्षण है। जिस समय मनुष्य गर्भमें आता है, उस समय जीवका उत्पाद होता है, और उसी समयसे उसकी आयुके अंशोंकी हानि होना प्रारंभ हो जाती है, इस लिये उसका व्यय होता है, तथा जीवत्व दशाके सदा ध्रुव रहनेसे जीवमें ध्रौव्य पाया जाता है। अतएव पर्यायोंकी अपेक्षासे ही पदार्थोंको क्षणिक मानना चाहिये। द्रव्यकी दृष्टिसे पदार्थ नित्य ही हैं।

वैभाषिक बौद्ध—(३) ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न होता है उसी पदार्थको जानता है। अतएव पदार्थ कारण हैं, और ज्ञान कार्य है। जैसे अग्निका धूम कारण है, क्योंकि अग्नि और धूमका अन्वय-व्यतिरेक संबंध है। इसी तरह पदार्थका भी ज्ञानका कारण है, क्योंकि पदार्थ ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेकसे संबद्ध है। यदि ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न न हो, तो घड़ेके ज्ञानसे घड़ेका ही ज्ञान होना चाहिये, अन्य पदार्थोंको नहीं, यह व्यवस्था नहीं बन सकती। **जैन**—(क) बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं। अतएव जब तक एक पदार्थ बन कर पूर्ण न हो जाय, उस समय तक वह ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं कर सकता। तथा जिस क्षणमें ज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय पदार्थ नष्ट हो जाता है। अतएव पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं कहा जा सकता। (ख) क्रमसे होनेवाले पदार्थोंमें ही कार्य-कारण भाव हो सकता है, परन्तु बौद्धमतमें कोई भी वस्तु क्षण मात्रसे अधिक नहीं ठहरती। अतएव ज्ञानकी उत्पत्तिके क्षणमें ज्ञानके कारण पदार्थका नाश हो जानेसे पदार्थसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होनेके पहले ही पदार्थ नष्ट हो जाता है। (ग) पदार्थको ज्ञानका सहभावी माननेसे भी पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं हो सकता। क्योंकि एक साथ उत्पन्न होनेवाली दो वस्तुओंमें कार्य-कारण

संबंध नहीं बन सकता। (घ) यदि पदार्थको ज्ञानमें कारण माना जाय, तो इन्द्रियोंको भी ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण मानना चाहिये, क्योंकि इन्द्रियां भी ज्ञानको पैदा करती हैं। (च) ज्ञानकी उत्पत्ति पदार्थके ऊपर अवलम्बित नहीं है, कारण कि मृगतृष्णामें जल रूप पदार्थके अभाव होनेपर भी जलका ज्ञान होता है। अतएव जब तक पदार्थ और ज्ञानमें 'जहां पदार्थ न हो, वहां ज्ञान न हो' इस प्रकारका व्यतिरेक संबंध सिद्ध न हो, तब तक पदार्थको ज्ञानका हेतु नहीं कह सकते। (छ) योगियोंके अतीत और अनागत पदार्थोंको जानते समय अतीत, अनागत पदार्थोंका अभाव रहता है। अतएव अतीत, अनागत पदार्थ ज्ञानमें कारण नहीं हो सकते। (ज) प्रकाश्य रूप अर्थसे प्रकाशक रूप ज्ञानकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि घट दीपकसे उत्पन्न नहीं होता, फिर भी दीपक घटको प्रकाशित करता है। (झ) ज्ञानकी पदार्थसे उत्पत्ति मान कर ज्ञानको पदार्थका ज्ञाता माननेसे स्मृति भी प्रमाण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्मृति किसी पदार्थसे उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार एक स्वसंवेदन ज्ञानमें क्रियाका अभाव होनेसे कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता। क्योंकि स्वसंवेदनसे स्वसंवेदनकी उत्पत्ति नहीं होती। (ट) कपालके प्रथम क्षणसे घटका अंतिम क्षण उत्पन्न होता है, परन्तु कपालके प्रथम क्षणसे घटके अंतिम क्षगका ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार समानजातीय ज्ञानसे समनन्तर ज्ञानके उत्पन्न होनेपर समानजातीयसे समनंतर ज्ञानका ज्ञान नहीं होता। (ठ) अतएव जिस समय ज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मका क्षयोपशम हो जानेसे आत्मामें क्षय और उपशम रूप योग्यता होती है, उसी समय प्रतिनियत पदार्थोंका ज्ञान स्वीकार करना चाहिये।

योगाचार (बौद्ध)—(४) ज्ञान मात्र ही परमार्थसत् है, क्योंकि ज्ञानका कारण कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। बाह्यार्थवादी परमाणुओंके समूहको बाह्य पदार्थ कहते हैं, अथवा स्थूल अवयवी रूप पिंडको? प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे परमाणु रूप बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होती, अतएव वाह्य पदार्थ परमाणु रूप नहीं हो सकते। तथा बाह्य पदार्थोंकी परमाणु रूप सिद्धि न होनेसे उन्हें स्थूल अवयवी भी नहीं कह सकते। क्योंकि परमाणुओंके समूहको ही अवयवी कहते हैं। अतएव जो नील, पीत आदि पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, वे सब ज्ञान रूप ही हैं। जिस प्रकार बाह्य आलम्बनके विना आकाशमें केशका ज्ञान होता है, उसी तरह अनादि कालकी अविद्याकी वासनासे बाह्य पदार्थोंके अवलम्बनके विना ही घट, पट आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है। वास्तवमें स्वयं ज्ञान ही ग्राह्य और ग्राहक रूप प्रतिभासित होता है।

जैन—(क) यदि बाह्य पदार्थोंको ज्ञानका विषय नहीं माना जाय, तो ज्ञानको निर्विषय माननेसे ज्ञानको अप्रमाण मानना पड़ेगा। वास्तविक बाह्य पदार्थोंके विना हमें ज्ञान मात्रसे ही पदार्थोंका प्रतिभास नहीं हो सकता। ज्ञानसे बाह्य पदार्थोंका ज्ञान होना अनुभवसे

सिद्ध है। (ख) परमाणु रूप बाह्य पदार्थकी प्रत्यक्ष और अनुमानसे सिद्धि होती है। क्योंकि हम परमाणुओंके कार्य घट आदिके प्रत्यक्षसे परमाणुओंका कथंचित् प्रत्यक्ष करते हैं। इसीलिये परमाणुओंकी अनुमानसे भी सिद्धि होती है, क्योंकि परमाणुओंके अस्तित्वके विना घट आदि स्थूल अवयवीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अवयव (परमाणु) और अवयवीका हम लोग कथंचित् भेदाभेद स्वीकार करते हैं, अतएव बाह्य पदार्थोंको परमाणु और स्थूल अवयवी दोनों रूप मानना चाहिये। (ग) वासना-वैचित्र्यसे भी पदार्थोंका नाना रूप प्रतिभासित मानना ठीक नहीं। क्योंकि बाह्य पदार्थोंके अनुभव होनेपर ही वासना उत्पन्न होती है। तथा ज्ञान और वासनाको अलग अलग माननेसे ज्ञानाद्वैत नहीं बन सकता।

योगाचार—'जो जिसके साथ उपलब्ध नहीं होता है, वह उससे अभिन्न है। जैसे आकाश-चन्द्रमा जल-चन्द्रमाके साथ उपलब्ध होता है, इस लिये दोनों परस्पर अभिन्न हैं। इसी तरह ज्ञान और पदार्थ एक साथ उपलब्ध होते हैं। अतएव ज्ञान और पदार्थ एक दूसरेसे अभिन्न हैं' इस अनुमानसे ज्ञान और पदार्थकी अभिन्नता सिद्ध होती है। **जैन**—यह अनुमान संदिग्धानैकांतिक हेत्वाभास है। क्योंकि ज्ञानसे जाने हुए नील और नील ज्ञानमें सहोपलंभ नियम होनेपर भी उनमें अभिन्नता नहीं पायी जाती। तथा सहोपलंभ नियम पक्षमें नहीं रहनेके कारण असिद्ध भी है। क्योंकि ज्ञान और पदार्थमें अभेद सिद्ध नहीं होता। तथा बाह्य पदार्थोंका अभाव माननेसे, यह वस्तु इसी स्थानपर है, दूसरे स्थानपर नहीं, यह नियम नहीं बन सकता। अतएव नील, पीत आदि ज्ञानसे भिन्न हैं, क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय परस्पर विरोधी हैं। ज्ञान अंतरंग है, ज्ञेय बाह्य; ज्ञान ज्ञेयके पश्चात् उत्पन्न होता है, ज्ञेय ज्ञानके पूर्व; ज्ञान आत्मामें उत्पन्न होता है, ज्ञान अपने भिन्न कारणोंसे; तथा ज्ञान प्रकाशक है, और ज्ञेय जड़ है। अतएव विज्ञानाद्वैतको न मान कर ज्ञान और बाह्य पदार्थोंका परस्पर भेद मानना चाहिये।

अथ तत्त्वव्यवस्थापकप्रमाणादिचतुष्टयव्यवहारापलापिनः शून्यवादिनः सौगतजातीयांस्तत्कक्षीकृतपक्षसाधकस्य प्रमाणस्याङ्गीकारानङ्गीकारलक्षणपक्षद्वयेऽपि तदभिमतार्थासिद्धिप्रदर्शनपूर्वकमुपहसन्नाह—

इसके बाद तत्त्वोंके व्यवस्थापक प्रमाण, प्रमिति, प्रमेय और प्रमाताके व्यवहारका लोप करनेवाले शून्यवादी बौद्धोंके पक्षका खंडन करते हुए उपहास करते हैं—

विना प्रमाणं परवन्न शून्यः स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत।
कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमाणमहो सुदृष्टं त्वदसूयिदृष्टम्॥ १७॥

श्लोकार्थ—दूसरे वादी प्रमाणोंको मानते हैं, इस लिये उनके मतकी सिद्धि हो सकती है। परन्तु शून्यवादी प्रमाणके विना अपने पक्षकी सिद्धि नहीं कर सकते। यदि

शून्यवादी किसी प्रमाणको मानें, तो शून्यता रूपी यमके कुपित होनेसे शून्यवादकी सिद्धि नहीं हो सकती। हे भगवन्, आपके मतसे ईर्ष्या रखनेवाले लोगोंने जो कुछ कुमति ज्ञान रूपी नेत्रोंसे जाना है, वह मिथ्या होनेके कारण उपहासके योग्य है।

शून्यः शून्यवादी प्रमाणं प्रत्यक्षादिकं विना अन्तरेण स्वपक्षसिद्धेः स्वाभ्युपगतशून्यवादनिष्पत्तेः पदं प्रतिष्ठां नाश्नुवीत न प्राप्नुयात्। किंवत् परवत् इतरप्रामाणिकवत्। वैधर्म्येणायं दृष्टान्तः। यथा इतरे प्रामाणिकाः प्रमाणेन साधकतमेन स्वपक्षसिद्धिमश्नुवते एवं नायम्। अस्य मते प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारस्यापारमार्थिकत्वात्। "सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन न बहिःसदसत्त्वमपेक्षते" इत्यादिवचनात्। अप्रमाणकश्च शून्यवादाभ्युपगमः कथमिव प्रेक्षावतामुपादेयो भविष्यति। प्रेक्षावत्त्वव्याहतिप्रसंगात्॥

व्याख्यार्थ—दूसरे वादी प्रमाणोंके द्वारा अपने पक्षकी सिद्धि करते हैं, परन्तु शून्यवादी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको विना माने हीं अपने सिद्धांतको स्थापित करना चाहते हैं, इस लिये शून्यवादकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि शून्यवादियोंके मतमें प्रमाण, प्रमिति, प्रमेय और प्रमाताका व्यवहार वास्तविक नहीं माना गया है। कहा भी है "बुद्धिमें धर्म और धर्मीकी कल्पनासे ही अनुमान और अनुमेयका व्यवहार होता है। वास्तवमें बुद्धिके बाहर सत् और असत् कोई पदार्थ नहीं है।" अतएव शून्यवादकी किसी भी प्रमाणसे सिद्धि नहीं होती, इस लिये शून्यवाद बुद्धिमानोंको आदरणीय नहीं हो सकता।

अथ चेत् स्वपक्षसंसिद्धये किमपि प्रमाणमयमङ्गीकुरुते, तत्रायमुपालम्भः कुप्येदित्यादि। प्रमाणं प्रत्यक्षाद्यन्यतमत् स्पृशते आश्रयमाणाय, प्रकरणादस्मै शून्यवादिने, कृतान्तस्तत्सिद्धान्तः कुप्येत्कोपं कुर्यात् सिद्धान्तबाधः स्यादित्यर्थः। यथा किल सेवकस्य विरुद्धवृत्त्या कुपितो नृपतिः सर्वस्वमपहरति, एवं तत्सिद्धान्तोऽपि शून्यवादविरुद्धं प्रमाणव्यवहारमङ्गीकुर्वाणस्य तस्य सर्वस्वभूतं सम्यग्वादित्वमपहरति॥

यदि शून्यवादी अपने सिद्धांतको सिद्ध करनेके लिये कोई प्रमाण दें, तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणका आश्रय लेनेके कारण शून्यवादियोंका सिद्धांत बाधित होता है। जिस प्रकार कोई राजा अपने सेवकके अवांछनीय आचरणसे कुपित हो कर सेवकका सर्वस्व हरण कर लेता है, वैसे ही शून्यवादका सिद्धांत शून्यवादके विरुद्ध प्रमाण आदि व्यवहारको स्वीकार करनेवाले शून्यवादीका सर्वस्व हरण करता है। अतएव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणसे शून्यवादकी सिद्धि नहीं हो सकती।

किञ्च, स्वागमोपदेशेनैव तेन वादिना शून्यवादः प्ररूप्यते, इति स्वीकृतमागमस्य प्रामाण्यमिति कुतस्तस्य स्वपक्षसिद्धिः, प्रमाणाङ्गीकरणात्। किञ्च, प्रमाणं

प्रमेयं विना न भवतीति प्रमाणानङ्गीकरणे प्रमेयमपि विशीर्णम् । ततश्चास्य मूकतैव युक्ता, न पुनः शून्यवादोपन्यासाय तुण्डताण्डवाडम्बरं। शून्यवादस्यापि प्रमेयत्वात् । अत्र च स्पृशिधातुं कृतान्तशब्दं च प्रयुञ्जानस्य सूरेरयमभिप्रायः । यद्यसौ शून्यवादी दूरे प्रमाणस्य सर्वथाङ्गीकारो यावत् प्रमाणस्पर्शमात्रमपि विधत्ते, तदा तस्मै कृतान्तो यमराजः कुप्येत् । तत्कोपो हि मरणफलः । ततश्च स्वसिद्धान्तविरुद्धमसौ प्रमाणयन् निग्रहस्थानापन्नत्वाद् मृत एवेति ॥

तथा, शून्यवादी लोग अपने आगमके अनुकूल ही शून्यवादका प्ररूपण करते हैं। अतएव आगम माननेसे शून्यवादियोंके सिद्धांतकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि आगम प्रमाण माननेसे सर्वथा शून्यपना नहीं बनता। तथा प्रमाण प्रमेयके विना नहीं हो सकता, अतएव कोई प्रमाण न माननेसे प्रमेय भी नहीं बन सकता, अतएव शून्यवादियोंको शून्यवादकी स्थापना करनेका आडम्बर न रचते हुए मौन रहना ही ठीक है, क्योंकि शून्यवाद भी प्रमेयमें ही गर्भित होता है। तथा शून्यवादियोंके मतमें प्रमेय कोई वस्तु नहीं है। यहांपर स्तुतिकारका स्पृश् धातु और कृतान्त शब्दके प्रयोग करनेसे यही अभिप्राय है, कि शून्यवादी लोग शून्यवादकी सिद्धि करनेके लिये प्रमाणका स्पर्श भी करें, तो कृतान्त (यमराज तथा सिद्धांत) कुपित होता है। अतएव जिस प्रकार यमराजके कुपित होनेसे जीवकी मृत्यु होती है, उसी प्रकार प्रमाणोंका आश्रय लेनेसे शून्यवादी निग्रहस्थानमें पड़ अपने सिद्धांतकी स्थापना नहीं कर सकता।

एवं सति अहो इत्युपहासप्रशंसायाम् । तुभ्यमसूयन्ति गुणेषु दोषानाविष्कुर्वन्तीत्येवं शीलास्त्वदसूयिनस्तंत्रान्तरीयास्तैर्दृष्टं मत्यज्ञानचक्षुषा निरीक्षितमहो । सुदृष्टं साधु दृष्टम् । विपरीतलक्षणयोपहासान्न सम्यग्दृष्टमित्यर्थः । अत्रासूयधातोस्ताच्छीलिकणक्प्राप्तावपि बाहुलकाण्णिन् । असूयास्त्येषामित्यसूयिनस्त्वय्यसूयिनः त्वदसूयिन इति मत्वर्थीयान्तं वा। त्वदसूयुदृष्टमिति पाठेऽपि न किञ्चिदचारु। असूयुशब्दस्योदन्तस्योदयनाद्यैर्न्यायतात्पर्यपरिशुद्ध्यादौ मत्सरिणि प्रयोगादिति ॥

'अहो' शब्द उपहास और प्रशंसा अर्थमें प्रयुक्त होता है। अतएव हे भगवन्, तुम्हारे गुणोंमें ईर्षा रखनेवाले अन्यमतावलम्बियोंने जो कुमति ज्ञान रूपी नेत्रोंसे जाना है, वह मिथ्या होनेके कारण उपहासके योग्य है। यहां असूय् धातुमें 'णक्' प्रत्यय होनेसे 'असूयक' शब्द बनना चाहिये था, परन्तु बहुलतासे असूय् धातुमें 'णिन्' प्रत्यय होनेपर 'असूयि' शब्द बना है। अथवा, जिनके 'असूया' हो वे असूयी हैं। यहां असूया शब्दसे मत्वर्थमें 'इन्' प्रत्यय करनेसे 'असूयी' शब्द बनता है। अथवा, 'असुयु' शब्द भी अशुद्ध नहीं है। उदयन आदि आचार्योंने न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि आदि ग्रंथोंमें 'असूयु' शब्दका ही प्रयोग किया है।

इह शून्यवादिनामयमभिसंधिः । प्रमाता प्रमेयं प्रमाणं प्रमितिरिति तत्त्वचतुष्टयं परपरिकल्पितमवस्त्वेव, विचारासहत्वात्, तुरङ्गशृङ्गवत् । तत्र प्रमाता तावदात्मा तस्य च प्रमाणग्राह्यत्वाभावादभावः । तथाहि । न प्रत्यक्षेण तत्सिद्धिरिन्द्रियगोचरातिक्रान्तत्वात् । यत्तु अहङ्कारप्रत्ययेन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वसाधनम् तदप्यनैकान्तिकम् । तस्याहं गौरः श्यामो वेत्यादौ शरीराश्रयतयाप्युपपत्तेः । किञ्च, यद्ययमहङ्कारप्रत्यय आत्मगोचरः स्यात् तदा न कादाचित्कः स्यात् । आत्मनः सदा सन्निहितत्वात् । कादाचित्कं हि ज्ञानं, कादाचित्ककारणपूर्वकं दृष्टम् । यथा सौदामिनीज्ञानमिति । नाप्यनुमानेन, अव्यभिचारिलिङ्गाग्रहणात् । आगमानां च परस्परविरुद्धार्थवादिनां नास्त्येव प्रामाण्यम् । तथाहि । एकेन कथमपि कश्चिदर्थो व्यवस्थापितः, अभियुक्ततरेणापरेण स एवान्यथा व्यवस्थाप्यते । स्वयमव्यवस्थितप्रामाण्यानां च तेषां कथमन्यव्यवस्थापने सामर्थ्यम् । इति नास्ति प्रमाता ॥

पूर्वपक्ष—शून्यवादी—प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति ये चारों अवस्तु हैं, क्योंकि इनका विचार करनेपर खरत्रिषाणकी तरह प्रमाण आदिकी व्यवस्था नहीं बनती। (क) प्रमाता आत्मा है। आत्मा किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती, अतएव आत्माका अभाव है। आत्मा इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इस लिये इन्द्रिय-प्रत्यक्षसे आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कहो, कि 'अहं प्रत्यय'से मानस प्रत्यक्षद्वारा आत्माकी सिद्धि होती है, यह मानना भी अनैकांतिक है। क्योंकि 'मैं गोरा हूं,' 'मैं काला हूं' इस प्रकारका ज्ञान शरीरमें भी होता है। तथा, यदि 'अहं प्रत्यय' से आत्माका ज्ञान होता है, तो यह 'अहं प्रत्यय' आत्मामें सदा होना चाहिये, कभी कभी नहीं। क्योंकि आत्मा सदा विद्यमान रहता है। ज्ञान सदा विद्यमान नहीं रहता, इस लिये वह कभी कभी उत्पन्न होता है, क्योंकि बिजलीके ज्ञानकी तरह ज्ञान अनित्य कारणोंसे ही उत्पन्न होता है, अतएव आत्मामें सदा ही 'अहं प्रत्यय' होना चाहिये। अनुमानसे भी आत्मा सिद्ध नहीं होती। क्योंकि आत्माको ग्रहण करनेवाला कोई निर्दोष हेतु नहीं है। तथा, आगम परस्पर विरुद्ध अर्थके प्रतिपादन करनेवाले हैं, इस लिये आगमसे भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। जिस पदार्थको एक शास्त्र अमुक प्रकारसे प्रतिपादन करता है, उसी पदार्थको दूसरा दूसरी तरहसे कहता है। अतएव आगमके स्वयं अव्यस्थित होनेके कारण आगमसे दूसरे तत्त्वोंकी व्यवस्था नहीं बन सकती। अतएव प्रमाता आत्माका अस्तित्व मानना ठीक नहीं है।

प्रमेयं च बाह्योऽर्थः, स चानन्तरमेव बाह्यार्थप्रतिक्षेपक्षणे निर्लोठितः । प्रमाणं च स्वपरावभासि ज्ञानम् । तच्च प्रमेयाभावे कस्य ग्राहकमस्तु, निर्विषयत्वात् । किंच, एतत् अर्थसमकालम्, तद्भिन्नकालं वा तद्ग्राहकं कल्प्येत ? आद्यपक्षे, त्रिभुवनवर्तिनोऽपि पदार्थास्तत्रावभासेरन् । समकालत्वाविशेषात् । द्वितीये तु, निराकारम्

साकारम् वा तत्स्यात् ? प्रथमे, प्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदानुपपत्तिः। द्वितीये तु, किमयमाकारो व्यतिरिक्तो अव्यतिरिक्तो वा ज्ञानात् ? अव्यतिरेके, ज्ञानमेवायम् तथा च निराकारपक्षदोषः । व्यतिरेके, यद्ययं चिद्रूपस्तदानीमाकारोऽपि वेदकः स्यात् । तथा चायमपि निराकारः साकारो वा तद्वेदको भवेत् । इत्यावर्त्तनेनानवस्था । अथ अचिद्रूपः, किमज्ञातः ज्ञातो वा तज्ज्ञापकः स्यात् । प्राचीनविकल्पे, चैत्रस्येव मैत्रस्यापि तज्ज्ञापकोऽसौ स्यात् । तदुत्तरे तु, निराकारेण साकारेण वा ज्ञानेन, तस्यापि ज्ञानं स्यात् । इत्याद्यावृत्तावनवस्थैवेति ॥

(ख) बाह्य पदार्थोंको प्रमेय कहते हैं। प्रमेयका प्रतिषेध विज्ञानाद्वैतकी सिद्धिमें किया जा चुका है) (ग) स्व और परको जाननेको प्रमाण कहते हैं। प्रमेयके अभाव होनेपर प्रमाणकी सिद्धि नहीं हो सकती, अन्यथा प्रमाणको निर्विषय मानना पड़ेगा। तथा, प्रमाण पदार्थको पदार्थकी उत्पत्तिके समय जानता है, अथवा भिन्न समयमें ? यदि प्रमाण पदार्थको पदार्थकी उत्पत्तिके समय ही जानता है, तो तीनों लोकोंके पदार्थ ज्ञानमें प्रतिभासित होने चाहिये, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ ज्ञानके समकालीन हैं। यदि कहो, कि ज्ञान पदार्थोंको उत्पन्न होनेके समयसे भिन्न समयमें पदार्थोंको जानता है, तो वह ज्ञान निराकार है, अथवा साकार ? यदि ज्ञान निराकार हो कर पदार्थोंको जानता है, तो उस ज्ञानसे प्रतिनियत पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता । यदि ज्ञान साकार है, तो ज्ञानका आकार ज्ञानसे भिन्न है, अथवा अभिन्न ? यदि आकार ज्ञानसे अभिन्न है, तो इसे ज्ञान ही कहना चाहिये। तथा इस पक्षमें प्रतिनियत पदार्थोंके ज्ञानका अभाव होनेसे जो निराकार पक्षमें दूषण दिया था, वह दूषण यहां भी मानना पड़ेगा। यदि ज्ञानका आकार ज्ञानसे भिन्न है, तो यह आकार चेतन है, या जड़ ? यदि आकार चेतन रूप है, तो ज्ञानकी तरह ज्ञानके आकारको भी वेदक मानना चाहिये। यदि ज्ञानकी तरह आकार भी वेदक है, तो यह आकार स्वयं साकार है, अथवा निराकार? यदि निराकार है, तो पदार्थोंका निश्चय नहीं हो सकता। यदि साकार है, तो वह चेतन है, या जड ? यदि चेतन रूप है, तो फिर निराकार है, या साकार ? इस प्रकार अनवस्था दोष मानना पड़ता है । यदि आकार जड़ स्वरूप है, तो वह आकार स्वयं अज्ञात हो कर पदार्थोंको जानता है, अथवा ज्ञात हो कर? यदि आकार अज्ञात है, तो एक प्राणीको जो एक पदार्थका ज्ञान होता है, वह ज्ञान दूसरेको भी होना चाहिये। यदि कहो, कि ज्ञानका आकार स्वयं ज्ञात हो कर पदार्थोंको जानता है, तो वह जड़ स्वरूप आकारका ज्ञान निराकार ज्ञानसे होता है, अथवा साकार ज्ञानसे ? इस प्रकार फिर अनवस्था दोष मानना पड़ेगा।

इत्थं प्रमाणाभावे तत्फलरूपा प्रमितिः कुतस्तनी । इति सर्वशून्यतैव परं तत्त्वमिति । तथा च पठन्ति—

“[1]यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ।
यदेतद् स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ”

इति पूर्वपक्षः । विस्तरतस्तु प्रमाणखण्डनं तत्त्वोपप्लवसिंहादवलोकनीयम् ॥

(घ) प्रमाणकी सिद्धि न होनेपर प्रमाणका फल प्रमिति भी सिद्ध नहीं होती । अतएव सर्वथा शून्य मानना ही वास्तविक तत्व है । कहा भी है “ जैसे जैसे तत्वोंका विचार करते हैं, वैसे वैसे तत्व विशिर्ण होते हैं । वास्तवमें पदार्थोंका स्वरूप ही इस तरहका है, इसमें हमारा दोष नहीं ।” प्रमाणका विस्तृत खंडन [2]तत्त्वोपप्लवसिंह नामक ग्रंथमें देखना चाहिये ।

अत्र प्रतिविधीयते । ननु यदिदं शून्यवादव्यवस्थापनाय देवानांप्रियेण वचनमुपन्यस्तम् तत् शून्यम् अशून्यम् वा ? । शून्यं चेत्, सर्वोपाख्याविरहितत्वात् खपुष्पेणेव नानेन किञ्चित्साध्यते निषिध्यते वा । ततश्च निष्प्रतिपक्षा प्रमाणादितत्त्वचतुष्टयीव्यवस्था । अशून्यं चेत्, प्रलीनस्तपस्वी शून्यवादः । भवद्वचनेनैव सर्वशून्यताया व्यभिचारात् । तत्रापि निष्कण्टकैव सा भगवती । तथापि प्रामाणिकसमयपरिपालनार्थं किञ्चित् तत्साधनं दूष्यते ॥

उत्तरपक्ष—जैन —बौद्ध लोगोंने शून्यवादकी स्थापना करनेके लिये जो वाक्य कहे हैं, वे स्वयं शून्य हैं, या अशून्य ? यदि ये वाक्य शून्य रूप हैं, तो खरविषाणकी तरह निष्प्रयोजन होनेसे इन वाक्योंसे न शून्यवादकी सिद्धि हो सकती है, और न शून्यवादका निषेध किया जा सकता है । अतएव प्रमाण, प्रमेय आदिको अवश्य स्वीकार करना चाहिये । यदि कहो, कि उक्त वाक्य अशून्य हैं, तो शून्यवाद ही नष्ट हो जाता है ।

---

[1] बुद्ध्यां विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते ।
अतो निरभिलप्यास्ते निस्स्वभावाश्च कीर्तिताः
इदं वस्तु बलायतं यद्वदातं विपश्चितः ।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ॥
लंकावतारसूत्रे

[2] यह ग्रंथ पाटणके एक जैन भंडारसे मिला है । इसके कर्ता जयराशि भट्ट हैं । पं. बेचरदास जीवराज दोशीका अनुमान है, कि ये जयराशि भट्ट ही तत्त्वोपप्लववादी अथवा तत्त्वोपप्लवसिंह नामसे कहे जाते थे । तत्त्वोपप्लवके अंतिम दो श्लोक——

“ ये याता न हि गोचरं सुरगुरोर्बुद्धेर्विकल्पा दृढाः
प्राप्यन्ते ननु तेऽपि यत्र विमले पाषण्डदर्पच्छिदि ।
भट्टश्रीजयराशिदेवगुरुभिः सृष्टो महार्थोदय-
स्तत्त्वोपप्लवसिंह एव इति यः ख्यातिं परां यास्यति ॥
पाखण्डखण्डनाभिज्ञा ज्ञानोदधिविवर्धिताः ।
जयराशेर्जयन्तीह विकल्पा वादिजिष्णवः ॥

पहले श्लोकसे स्पष्ट मालूम होता है, कि यही ग्रंथ तत्त्वोपप्लवसिंहके नामसे प्रसिद्ध था । ”
देखो ‘ पुरातत्व ’ ५-४ पृ. २६१ ।

क्योंकि शून्यवादियों के वचनोंको अशून्य माननेसे सर्वशून्यता नहीं बन सकती। अतएव प्रमाण आदिकी व्यवस्था अवश्य स्वीकार करनी चाहिये।

तत्र यत्तावदुक्तम् प्रमातुः प्रत्यक्षेण न सिद्धिः, इन्द्रियगोचरातिक्रान्तत्वादिति, तत्सिद्धसाधनम्। यत्पुनः अहंप्रत्ययेन तस्य मानसप्रत्यक्षत्वमनैकान्तिकमित्युक्तम् तदसिद्धम्। अहं सुखी अहं दुःखी इति अन्तर्मुखस्य प्रत्ययस्य आत्मालम्बनतयैवोपपत्तेः। तथा चाहुः[1]—

"सुखादि चेत्यमानं हि स्वतन्त्रं नानुभूयते।
मतुवर्थानुवेधात्तु सिद्धं ग्रहणमात्मनः॥
इदं सुखमिति ज्ञानं दृश्यते न घटादिवत्।
अहं सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका॥"

यत्पुनः अहं गौरः अहं श्यामः इत्यादिबहिर्मुखः प्रत्ययः स खल्वात्मोपकारकत्वेन लक्षणया शरीरे प्रयुज्यते। यथा प्रियभृत्येऽहमितिव्यपदेशः॥

(क)—आप लोगोंने जो कहा, कि 'प्रमाता इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इस लिये प्रमाता प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होता' सो हम भी आत्माको प्रत्यक्षका विषय नहीं मानते, अतएव उक्त कथन हमारे लिये सिद्धसाधन है। (ख) 'अहं प्रत्यय' से मानस प्रत्यक्षद्वारा आत्माका अस्तित्व स्वीकार करनेमें अनैकांतिक दोष' नहीं आता, क्योंकि 'मैं सुखी हूं,' 'मैं दुखी हूं' इस प्रकारका अंतरंग ज्ञान आत्मा ही के आधारसे होता है। कहा भी है "'मैं सुखी हूं' यह सुखी होनेका ज्ञान सर्वथा स्वतंत्र नहीं होता। अतएव सुख आदिके ज्ञानद्वारा सुखकी आधारभूत आत्माका ज्ञान होता है। जिस प्रकार 'यह घट है,' यह ज्ञान सर्वथा स्वतंत्र है, उसी प्रकार 'यह सुख है' यह ज्ञान सर्वथा विना किसी आधारके नहीं होता, इस लिये 'मैं सुखी हूं,' इस ज्ञानसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है।" तथा 'मैं गोरा हूं, मैं काला हूं' यहां अहं प्रत्यय शरीर मात्रका ही सूचक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार अपने प्रिय नौकरमें अहं बुद्धि होती है, उसी प्रकार यहां भी अहं प्रत्ययका प्रयोग आत्माके उपकार करनेवाले शरीरमें उपचारसे किया गया है।

यच्च, अहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम् तत्रेयं वासना। आत्मा तावदुपयोग[2]लक्षणः। स च साकारानाकारोपयोगरन्यतरस्मिन्नियमेनोपयुक्त एव भवति। अहंप्रत्ययोऽपि चोपयोगविशेष एव, तस्य च कर्मक्षयोपशमवैचित्र्यात् इन्द्रियानिन्द्रियालोकविषयादिनिमित्तसव्यपेक्षतया प्रवर्तमानस्य कादाचित्कत्वमुपपन्नमेव। यथा बीजं सत्यामप्यङ्कुरोपजननशक्तौ पृथिव्युदकादिसहकारिकारणकलापसमवहितमेवाङ्कुरं जनयति, नान्यथा। न चैतावता तस्याङ्कुरोत्पादने कादाचित्केऽपि

---

[1] न्यायमंजर्याम्। [2] बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणामः उपयोगः। राजवर्तिके पृ. ८२।

तदुत्पादनशक्तिरपि कादाचित्की । तस्याः कथंचिन्नित्यत्वात् । एवमात्मनः सदा सन्निहितत्वेऽप्यहंप्रत्ययस्य कादाचित्कत्वम् ॥

(ग) तथा 'आत्मा सदा विद्यमान रहती है, इस लिये आत्मामें अहं प्रत्ययको भी सदा होते रहना चाहिये' यह भी ठीक नहीं। क्योंकि आत्माका लक्षण उपयोग (चेतना) है। यह उपयोग ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका है। अहं प्रत्यय भी एक प्रकारका उपयोग है। कर्मोंके क्षय और उपशमकी विचित्रतासे इन्द्रिय, मन, आलोक आदिकी सहायता मिलनेपर उपयोग रूप अहं प्रत्यय उत्पन्न होता है, इस लिये यह अहं प्रत्यय आत्माके सदा विद्यमान रहते हुए भी आत्मामें सदा नहीं हो कर कभी कभी होता है। जिस प्रकार बीजमें अंकुरके उत्पन्न करनेकी शक्तिके सदा विद्यमान रहते हुए भी पृथिवी, जल आदिके सहकार मिलनेपर ही बीज अंकुरको उत्पन्न करता है, परन्तु अंकुरकी उत्पत्तिकी अनित्यताको देख कर अंकुर उत्पादन करनेकी शक्तिको कादाचित्क नहीं कह सकते, इसी तरह आत्माके सदा विद्यमान रहनेपर भी कर्मोंके क्षय और उपशमकी विचित्रतासे इन्द्रिय, मन आदिके सहकार मिलनेपर ही अहं प्रत्यय होता है, इस लिये अहं प्रत्यय (आत्माका उपयोग) के अनित्य होनेसे अहम् (आत्मा) को कादाचित्क (अनित्य) नहीं कह सकते।

यदप्युक्तम् तस्याव्यभिचारि लिङ्गं किमपि नोपलभ्यत इति। तदप्यसारं। साध्याविनाभाविनोऽनेकस्य लिङ्गस्य तत्रोपलब्धेः। तथाहि। रूपाद्युपलब्धिः सकर्तृका, क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत्। यश्चास्याः कर्ता स आत्मा। न चात्र चक्षुरादीनां कर्तृत्वम्। तेषां कुठारादिवत् करणत्वेनास्वतंत्रत्वात्। करणत्वं चैषां पौद्गलिकत्वेनाचेतनत्वात्, परप्रेर्यत्वात्, प्रयोक्तृव्यापारनिरपेक्षप्रवृत्त्यभावात्। यदि हि इन्द्रियाणामेव कर्तृत्वं स्यात्, तदा तेषु विनष्टेषु पूर्वानुभूतार्थस्मृतेः मया दृष्टम् स्पृष्टम् घ्रातम् आस्वादितम् श्रुतम् इति प्रत्ययानामेककर्तृकत्वप्रतिपत्तेश्च कुतः संभवः। किञ्च, इन्द्रियाणां स्वस्वविषयनियतत्वेन रूपरसयोः साहचर्यप्रतीतौ न सामर्थ्यम्। अस्ति च तथाविधफलादे रूपग्रहणानन्तरं तत्सहचरितरसानुस्मरणम्। दन्तोदकसंप्लवान्यथानुपपत्तेः। तस्मादुभयोर्गवाक्षयोरन्तर्गतः प्रेक्षक इव द्वाभ्यामिन्द्रियाभ्यां रूपरसयोर्दर्शी कश्चिदेकोऽनुमीयते। तस्मात्करणान्येतानि यश्चैषां व्यापारयिता स आत्मा॥

(घ) आत्माको सिद्ध करनेवाले 'अव्यभिचारी हेतुका अभाव' बताना भी ठीक नहीं है। क्योंकि आत्माके अविनाभावी अनेक लिंग हैं। (१) नेत्र आदिसे प्रत्यक्ष होनेवाले रूपादि गुणोंका कोई कर्त्ता होना चाहिये, क्रिया होनेसे। जैसे काटने रूप क्रियाका कोई काटनेवाला देखा जाता है, उसी तरह देखने, जानने आदि रूप क्रियाका कोई कर्ता

होना चाहिये । इन देखने और जानने रूप क्रियाओंका आत्मा ही कर्ता है । यदि कहो, कि चक्षु आदि इन्द्रियां ही देखने, जानने आदि क्रियाके कर्ता हैं, इस लिये आत्माके माननेकी आवश्यकता नहीं, यह ठीक नहीं । क्योकि जिस प्रकार कुठार आदि करण होनेसे किसी दूसरे कर्ताके आधीन रहते हैं, उसी तरह इन्द्रियां भी करण हैं, इस लिये वे भी परतंत्र हैं । तथा इन्द्रियां पौद्गलिक हो कर अचेतन हैं, इस लिये इन्द्रियां करण हैं, क्योंकि वे स्वयं जड़ होनेके कारण दूसरेकी प्रेरणासे कार्य करती हैं, क्योंकि प्रेरक चेतनके अभावमें इन्द्रियोंमें प्रवृत्ति नहीं होती । यदि स्वयं इन्द्रियां ही कर्ता हों, तो इन्द्रियोंके नष्ट होनेपर इन्द्रियोंसे अनुभूत पदार्थोंका स्मरण नहीं होना चाहिये । तथा, ' मैंने देखा, मैंने छुआ मैंने सूंघा, मैंने चाखा, मैंने सुना ' इस प्रकार विविध इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान एक कर्ताके साथ संबद्ध नहीं हो सकता । तथा इन्द्रियोंको कर्ता माननेसे विविध इन्द्रियोंके विविध विविध विषयोंका एक साथ ज्ञान नहीं होना चाहिये । क्योंकि प्रत्येक इन्द्रियका विषय अलग अलग है । इस लिये यदि आत्माको कर्ता न मान कर इन्द्रियोंको ही कर्ता माना जाय, तो रूप और रसका एक साथ ज्ञान न हो कर नेत्र इन्द्रियसे रूप और रसना इंद्रियसे रसका अलग अलग ज्ञान होना चाहिये । परन्तु हम देखते हैं, कि आम वगैरह फलके देखते ही मुंहमें पानी आ जानेसे साथ ही साथ आमके रसका भी अनुभव होता है । यदि इन्द्रियां ही कर्ता हों, तो आमके रूपको देखते ही उसके रसका अनुभव न होना चाहिये । अतएव भिन्न भिन्न खिड़कियोंमेंसे देखनेवाले प्रेक्षककी तरह भिन्न इंद्रियोंके रूप, रस आदिके विषयोंको अनुभव करनेवाले एक आत्माको ही कर्ता मानना चाहिये । इस लिये इंद्रियां करण हैं, और इंद्रियोंका प्रेरक आत्मा कर्ता है ।

तथा, साधनोपादानपरिवर्जनद्वारेण हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्था चेष्टा प्रयत्नपूर्विका, विशिष्टक्रियात्वात्, रथक्रियावत् । शरीरं च प्रयत्नवदधिष्ठितम्, विशिष्टक्रियाश्रयत्वात्, रथवत् । यश्चास्याधिष्ठाता स आत्मा, सारथिवत् । तथात्रैव पक्षे, इच्छापूर्वकविकृतवाय्वाश्रयत्वाद् भस्त्रावत् । वायुश्च प्राणापानादिः । यश्चास्याधिष्ठाता स आत्मा, भस्त्राध्मापयितृवत् । तथात्रैव पक्षे, इच्छाधीननिमेषोन्मेषवदवयवयोगित्वाद्, दारुयन्त्रवत् । तथा शरीरस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणं च प्रयत्नवत्कृतम्, वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणत्वाद्, गृहवृद्धिक्षतभग्नसंरोहणवत् । वृक्षादिगतेन वृद्ध्यादिना व्यभिचार इति चेत् । न । तेषामपि एकेन्द्रियजन्तुत्वेन सात्मकत्वात् । यश्चैषां कर्ता स आत्मा गृहपतिवत् । वृक्षादीनां च सात्मकत्वमाचाराङ्गादे[1]रवसेयम् । किंचिद्वक्ष्यते च ॥

(२) हित रूप साधनोंका ग्रहण और अहित रूप साधनोंका त्याग प्रयत्नपूर्वक ही होता है, क्योंकि यह क्रिया है । जितनी क्रिया होती हैं, वे सब

---

१ आचाराङ्गसूत्रश्रुतस्कंधे १–१–५

प्रयत्नपूर्वक होती हैं। जैसे रथकी चलनेकी क्रिया सारथिके प्रयत्नसे होती है, वैसे ही शरीरको नियत दिशामें लेजानेवाली चेष्टा आत्माके प्रयत्नसे होती है। यही आत्मा रथको चलानेवाले सारथिकी तरह कर्ता है। (३) जिस प्रकार वायुकी सहायतासे कोई पुरुष धोंकनीको फूंकता है, वैसे ही श्वासोच्छ्वास रूप वायुसे शरीर रूपी धोंकनीको फूंकनेवाला शरीरका अधिष्ठाता आत्मा है। (४) जिस प्रकार मशीनके खिलौनोंकी आखोंका खुलना और बंद होना किसी कर्ताके आधीन रहता है, उसी प्रकार शरीर रूपी यंत्रका कर्ता किसी आत्माको स्वीकार करना चाहिये। (५) जैसे घरका बनाना, फोड़ना और टूटे हुएकी मरम्मत करना आदि कार्य किसी कर्ताद्वारा किये जाते हैं, उसी प्रकार शरीरकी वृद्धि, हानि, घावका भर जाना आदि कार्य आत्माके स्वीकार करनेसे ही बन सकते हैं। यदि कहो, कि वृक्ष आदिमें जो वृद्धि, हानि होती है, उसका कोई अधिष्ठाता नहीं देखा जाता, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि वृक्ष आदि एकेन्द्रिय जीव हैं, इस लिये उनमें भी आत्मा है। वृक्ष आदिमें आत्माकी सिद्धि आचारांग (१–१–५) से जाननी चाहिये। इसका वर्णन आगे भी किया जायगा (देखो श्लोक २९ की व्याख्या)।

तथा प्रेर्यं मनः अभिमतविषयसम्बन्धनिमित्तक्रियाश्रयत्वाद्, दारकहस्तगतगोलकवत्। यश्चास्य प्रेरकः स आत्मा इति। तथा, आत्मचेतनक्षेत्रज्ञजीवपुद्गलादयः पर्याया न निर्विषयाः, पर्यायत्वाद्, घटकुटकलशादिपर्यायवत्। व्यतिरेके षष्ठभूतादि। यश्चैषां विषयः स आत्मा। तथा, अस्त्यात्मा, असमस्तपर्यायवाच्यत्वात्। यो योऽसाङ्केतिकशुद्धपर्यायवाच्यः, स सोऽस्तित्वं न व्यभिचरति, यथा घटादिः। व्यतिरेके खरविषाणनभोऽम्भोरुहादयः। तथा सुखादीनि द्रव्याश्रितानि, गुणत्वाद्, रूपवत्। योऽसौ गुणी स आत्मा। इत्यादिलिङ्गानि। तस्मादनुमानतोऽप्यात्मा सिद्धः॥

(६) जिस प्रकार बालकके हाथका पत्थरका गोला बालककी प्रेरणासे ही नियत स्थानपर पहुँच सकता है, उसी तरह नियत पदार्थोंकी ओर दौड़नेवाला मन आत्माकी प्रेरणासे ही पदार्थोंकी ओर जाता है। अतएव मनके प्रेरक आत्माको स्वतंत्र द्रव्य स्वीकार करना चाहिये (७) जिस प्रकार घड़ा, कलश आदि पर्याय मिट्टी द्रव्यके द्योतक हैं, उसी तरह आत्मा, चेतन, क्षेत्रज्ञ, जीव, पुद्गल (बौद्ध लोग जीवको पुद्गल कहते हैं। जैन ग्रंथोंमें भी कहीं कहीं जीवको पुद्गल कहा गया है) आदि पर्याय किसी द्रव्यके द्योतक हैं। जिनका कोई द्रव्य नहीं होता, उनकी पर्याय भी नहीं होती, जैसे छठा भूत। क्योंकि भूत पांच होते हैं, छठा भूत नहीं होता। अतएव आत्मा, चेतन आदि पर्यायोंका द्रव्य आत्मा ही है। (८) आत्मा शुद्ध निर्विकार पर्यायका वाचक है, इस लिये उसका अस्तित्व अवश्य होना चाहिये। जो शब्द विना संकेतके शुद्ध पर्यायके वाचक होते हैं, उनका अस्तित्व अवश्य होता है, जैसे घट आदि। जिनका अस्तित्व नहीं होता, उनके वाचक शब्द भी नहीं होते, जैसे गधेके सींग,

---

१ देखो दशवैकालिक निर्युक्ति १–७६

आकाशके पुष्प आदि। (९) सुख, दुख आदि किसी द्रव्यके आश्रित हैं, क्योंकि वे गुण हैं। जो गुण होते हैं, वे द्रव्यके आश्रित रहते हैं, जैसे रूप। जो सुख, दुख आदि गुणोंसे युक्त है, वह आत्मा है। इत्यादि अनेक साधनोंसे अनुमानद्वारा आत्माकी सिद्धि होती है।

आगमानां च येषां पूर्वापरविरुद्धार्थत्वम् तेषामप्रामाण्यमेव। यस्त्वाप्तप्रणीत आगमः स प्रमाणमेव। कषच्छेदतापलक्षणोपाधित्रयविशुद्धत्वात्। कषादीनां च स्वरूपं पुरस्ताद्वक्ष्यामः। न च वाच्यमाप्तः क्षीणसर्वदोषः तथाविधं चाप्तत्वं कस्यापि नास्तीति। यतः रागादयः कस्यचिदत्यन्तमुच्छिद्यन्ते, अस्मदादिषु तदुच्छेदप्रकर्षापकर्षोपलम्भात्, सूर्याद्यावरकजलदपटलवत्। तथा चाहुः—

" देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिलनश्वराः।
मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत् एवं रागादयो मताः " ॥

इति। यस्य च निरवयवतयैते विलीनाः स एवाप्तो भगवान् सर्वज्ञः ॥

तथा, आप लोगोंने जो ' आगमोंका परस्पर विरोध ' दिखलाया, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि हम आप्तके द्वारा प्रणीत आगमको ही प्रमाण मानते हैं, परस्पर विरुद्ध अर्थके प्रतिपादन करनेवाले आगमको नहीं। आप्तकथित आगममें कष, छेद और ताप रूप उपाधियोंका निषेध किया गया है, इस लिये वह आगम प्रमाण है। (कष आदिका स्वरूप बत्तीसवें श्लोककी व्याख्यामें बताया गया है)। **शंका**—जिसके सम्पूर्ण दोष क्षय हो गये हों, उसे आप्त कहते हैं, ऐसा आप्त होना संभव नहीं है। **समाधान**—राग आदि दोष किसी जीवमें सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि हम लोगोंमें राग आदि दोषोंकी हीनाधिकता देखी जाती है। जिसकी हीनाधिकता देखी जाती है, उसका सर्वथा नाश होना संभव है। जिस प्रकार सूर्यको आच्छादित करनेवाले बादलोंमें हीनाधिकता पायी जाती है, इस लिये कहींपर बादलोंका सर्वथा नाश भी संभव है, इसी तरह राग आदि दोषोंमें हीनाधिकता रहनेके कारण कहींपर राग आदिका सर्वथा विनाश भी संभव है। कहा भी है, " जो पदार्थ एक देशसे नाश होते हैं, उनका सर्वथा नाश भी होता है। जिस प्रकार मेघोंके पटलोंका आंशिक नाश होनेसे उनका सर्वथा नाश भी होता है, इसी प्रकार राग आदिका आंशिक नाश होनेसे उनका भी सर्वथा नाश होता है। " जिस पुरुष विशेषमें राग आदिका सम्पूर्ण रीतिसे नाश हो जाता है, वही पुरुष विशेष आप्त भगवान सर्वज्ञ है।

अथ अनादित्वाद् रागादीनां कथं प्रक्षयः इति चेत्। न। उपायतस्तद्भावात्। अनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिना विलयोपलम्भात्। तद्वदेवानादीनामपि रागादिदोषाणां प्रतिपक्षभूतरत्नत्रयाभ्यासेन विलयोपपत्तेः। क्षीणदोषस्य च केवलज्ञानाव्यभिचारात् सर्वज्ञत्वम् ॥

शंका—राग आदि दोष अनादि हैं, इस लिये उनका क्षय नहीं हो सकता। **समाधान**—जिस प्रकार अनादि सुवर्णके मैलका खार, मिट्टीके पुटपाक आदिसे नाश हो जाता है, उसी तरह अनादि राग आदि दोषोंका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयकी भावनासे नाश हो जाता है। जिस पुरुषके सम्पूर्ण दोष नष्ट हो जाते हैं, उसके केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है, अतएव वीतराग भगवान सर्वज्ञ हैं।

तत्सिद्धिस्तु ज्ञानतारतम्यं क्वचिद् विश्रान्तम् तारतम्यत्वात्, आकाशे परिणामतारतम्यत् । तथा सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, क्षितिधरकन्धराधिकरणधूमध्वजवत् । एवं चन्द्रसूर्योपरागोदिसूचकज्योतिर्ज्ञानाविसंवादान्यथानुपपत्तिप्रभृतयोऽपि हेतवो वाच्याः । तदेवमाप्तेन सर्वविदा प्रणीत आगमः प्रमाणमेव । तदप्रामाण्यं हि प्रणायकदोषनिबन्धनम् ।

“ रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् ।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ” ॥

इति वचनात् । प्रणेतुश्च निर्दोषत्वमुपपादितमेवेति सिद्ध आगमादप्यात्मा “ एगे आया ” इत्यादि वचनात् । तदेवं प्रत्यक्षानुमानागमैः सिद्धः प्रमाता ॥

सर्वज्ञसिद्धि–(क) ज्ञानकी हानि और वृद्धि किसी जीव में सर्वोत्कृष्ट रूपमें पायी जाती है, हानि, वृद्धि होनेसे । जैसे आकाशमें परिणामकी सर्वोत्कृष्टता पायी जाती है, वैसे ही ज्ञानकी सर्वोत्कृष्टता सर्वज्ञमें पायी जाती है । (ख) स्वभावसे दूर परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, देशसे दूर सुमेरु पर्वत आदि, तथा कालसे दूर राम, रावण आदि किसीके प्रत्यक्ष होते हैं, अनुमेय होनेसे । जो अनुमेय होते हैं, वे किसीके प्रत्यक्ष होते हैं । जिस प्रकार पर्वतकी गुफाकी अग्नि अनुमानका विषय होनेसे किसी न किसीके प्रत्यक्ष होती है, इसी प्रकार हमारे प्रत्यक्ष ज्ञानके बाह्य परमाणु आदि अनुमेय होनेसे किसी न किसीके प्रत्यक्ष अवश्य होने चाहिये । इसी प्रकार चन्द्र और सूर्यके ग्रहणको बतानेवाले ज्योतिषशास्त्रकी सत्यता आदिसे भी सर्वज्ञकी सिद्धि होती है । इस लिये सर्वज्ञ आप्तका बनाया हुआ आगम ही प्रमाण है । जिस आगमका बनानेवाला सदोष होता है, वही आगम अप्रमाण होता है । कहा भी है “ राग द्वेष और मोहके कारण असत्य वाक्य बोले जाते हैं । जिस पुरुषके राग, द्वेष और मोहका अभाव है, वह पुरुष असत्य वचन नहीं कह सकता । ” अतएव आगमोंके प्रणेताके निर्दोष सिद्ध होनेपर आगमसे भी “ आत्मा एक है ” इत्यादि वचनोंसे आत्माकी सिद्धि होती है । इस लिये प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम आत्माको सिद्ध करते हैं ।

---

१ उपरागो ग्रहो राहुग्रस्ते त्विन्दौ च पूर्णि च । इत्यमरः । २ स्थानाङ्गसूत्रे १–१ । प्रदेशार्थतया असंख्यातप्रदेशोऽपि जीवो द्रव्यार्थतया एकः । इति अभयदेवसूरिटीकायां ।

प्रमेयं चानन्तरमेव बाह्यार्थसाधने साधितम् । तत्सिद्धौ च प्रमाणं ज्ञानम् तच्च प्रमेयाभावे कस्य ग्राहकमस्तु निर्विषयत्वात् इति प्रलापमात्रम् । करणमन्तरेण क्रियासिद्धेरयोगाद् । लवनादिषु तथादर्शनात् । यच्च, अर्थसमकालमित्याद्युक्तम्, तत्र विकल्पद्वयमपि स्वीक्रियत एव । अस्मदादिप्रत्यक्षं हि समकालार्थाकलनकुशलम् । स्मरणमतीतार्थस्य ग्राहकम् । शब्दानुमाने च त्रैकालिकस्याप्यर्थस्य परिच्छेदके । निराकारं चैतद् द्वयमपि । न चातिप्रसङ्गः । स्वज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषवशादेवास्य नैयत्येन प्रवृत्तेः । शेषविकल्पानामस्वीकार एव तिरस्कारः ॥

(२) बाह्य पदार्थोंके अस्तित्व सिद्ध करनेके प्रसंगमें पिछली कारिकामें प्रमेयकी सिद्धि गई है । (३) प्रमेयके सिद्ध होनेपर 'प्रमेयके अभावमें निर्विषय ज्ञान प्रमेयका ग्रहण नहीं कर सकता' यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि विना कारणके किसी भी क्रियाका होना संभव नहीं है । जैसे काटनेकी क्रिया कुठारसे ही संभव है, उसी प्रकार जानना रूप क्रियाका भी कोई करण होना चाहिये । तथा, आप लोगोंने जो कहा, 'प्रमाण पदार्थोंको जानते समय पदार्थोंके साथ उत्पन्न होता है, अथवा भिन्न समयमें' यह भी ठीक नहीं । क्योंकि हम लोग दोनों विकल्पोंको स्वीकार करते हैं । हम लोगोंके मतमें प्रत्यक्ष प्रमाण समकालमें रहनेवाले (विद्यमान) पदार्थोंका, स्मरण अतीत पदार्थोंका, तथा शब्द और अनुमान तीनों कालके पदार्थोंका ज्ञान करते हैं । इन दोनों ज्ञानोंके निराकार होनेपर भी ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशम होनेपर ही उनकी निश्चित पदार्थोंमें प्रवृत्ति होती है । शून्यवादका स्थापन करनेमें जो दूसरे विकल्प प्रतिपादित किये गये हैं, उनको न मानना ही शून्यवादका तिरस्कार करना है ।

प्रमितिस्तु प्रमाणस्य फलं स्वसंवेदनसिद्धैव । न ह्यनुभवेऽप्युपदेशापेक्षा । फलं च द्विधा आनन्तर्यपारम्पर्यभेदात् । तत्रानन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम् । पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत् फलमौदासीन्यम् । शेषप्रमाणानां तु हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः । इति सुव्यवस्थितं प्रमात्रादिचतुष्टयम् । ततश्च—

"नासन्न सन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः" ॥

इत्युन्मत्तभाषितम् ॥

(४) प्रमाणके फल प्रमितिकी स्वयं अनुभवसे सिद्धि होती है । अतएव प्रमितिको सिद्ध करनेके लिये प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है । प्रमाणका फल साक्षात् और परम्पराके भेदसे

---

१ न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥
माध्यमिककारिकायां

दो प्रकारका होता है। पदार्थको जानते समय पदार्थ संबंधी अज्ञानका नाश हो जाना ही सब प्रमाणोंका साक्षात् फल है। केवलज्ञानका परम्परा फल संसारसे उदासीन होना है, केवलज्ञानके अतिरिक्त शेष प्रमाणोंका परम्परा फल इष्टानिष्ट पदार्थोंको छोड़ना, ग्रहण करना तथा उपेक्षा करना है। अतएव प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति ये चारों पदार्थ सिद्ध होते हैं। इस लिये "जो न असत् हो, न सत् हो, न सत्-असत् हो, और न सत्-असत्के अभाव रूप हो, इस प्रकार माध्यमिक (शून्यवादी) लोगोंका चारों कोटियोंसे रहित तत्वको स्वीकार करना" केवल उन्मत्त पुरुषके प्रलापकी तरह है।

किञ्च, इदं प्रमात्रादीनामवास्तवत्वं शून्यवादिना वस्तुवृत्त्या तावदेष्टव्यम्। तच्चासौ प्रमाणात् अभिमन्यते अप्रमाणाद्वा ? न तावदप्रमाणात्, तस्याकिञ्चित्करत्वात्। अथ प्रमाणात्। तन्न। अवास्तवत्वग्राहकं प्रमाणं सांवृतमसांवृतम् वा स्यात् ? यदि सांवृतम्, कथं तस्मादवास्तवाद् वास्तवस्य शून्यवादस्य सिद्धिः। तथा तदसिद्धौ च वास्तव एव समस्तोऽपि प्रमात्रादिव्यवहारः प्राप्तः। अथ तद्ग्राहकं प्रमाणं स्वयमसांवृतम्, तर्हि क्षीणा प्रमात्रादिव्यवहारावास्तवत्वप्रतिज्ञा। तेनैव व्यभिचारात्। तदेवं पक्षद्वयेऽपि "इतो व्याघ्र इतस्तटी" इति न्यायेन व्यक्त एव परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोधः॥ इति काव्यार्थः ॥ १७ ॥

तथा, शून्यवादी लोग प्रमाता, प्रमेय आदिकी अवास्तविकता प्रमाणसे सिद्ध करते हैं, अथवा अप्रमाणसे ? अप्रमाणसे प्रमाण आदिकी असत्यता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि अप्रमाण अकिंचित्कर है। दूसरे पक्षमें, प्रमाण आदिको असत्य सिद्ध करनेवाला प्रमाण स्वयं असत्य है, या सत्य ? यदि प्रमाण असत्य है, तो असत्य प्रमाणसे सत्य शून्यवादकी स्थापना नहीं की जा सकती। यदि प्रमाण आदिको अवास्तविक सिद्ध करनेवाला प्रमाण वास्तविक है, तो प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमितिके व्यवहारको वास्तविक ही मानना चाहिये। यदि शून्यवादको सिद्ध करनेवाले प्रमाणको सत्य मानो, तो आप लोग जो प्रमाता आदिके व्यवहारको असत्य कहते हैं, वह नहीं बन सकता। अतएव प्रमाण अथवा प्रमाणके विना किसी भी प्रकार शून्यवादकी सिद्धि नहीं होती। इस लिये 'एक तरफ व्याघ्र है, दूसरी ओर नदी बहती है' इस न्यायसे प्रमाण और अप्रमाण दोनों पक्षोंके स्वीकार करनेमें शून्यवादियोंको प्रमाता आदिका व्यवहार सत्य ही मानना चाहिये। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—शून्यवादी—सब पदार्थ शून्य हैं, क्योंकि प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति अवस्तु हैं। (क) प्रमाता (आत्मा) इन्द्रियोंका विषय नहीं हो सकता, अतएव

---

[1] संवृतेर्लक्षणम्—

अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते।
अविद्या जायमानेव कामलातंकवृत्तिवत्
बोधिचर्यावतारपञ्जिकायाम् ३५२

प्रत्यक्षसे आत्माकी सिद्धि नहीं होती। अनुमान भी आत्माको सिद्ध नहीं करता, क्योंकि किसी भी हेतुसे आत्माकी सिद्धि नहीं होती। आगम परस्पर विरोधी हैं, इस लिये आगम भी आत्माको सिद्ध नहीं कर सकता। (ख) प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे वाह्य पदार्थोंकी सिद्धि नहीं हो सकती। अविद्याकी वासनासे ही बाह्य पदार्थोंके अभावमें घट, पट आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है। अतएव प्रमेय भी कोई पदार्थ नहीं है। (ग) प्रमेयके अभाव होनेपर प्रमाण भी नहीं बन सकता। (घ) प्रमाणके अभावमें प्रमिति भी नहीं सिद्ध हो सकती। अतएव सर्वथा शून्य मानना ही वास्तविक तत्व है। क्योंकि अनुमान और अनुमेयका व्यवहार बुद्धि-जन्य है। वास्तवमें बुद्धिके वाहर सत् और असत् कोई वस्तु नहीं। अतएव न सत्, न असत, न सत्-असत्, और न सत्-असत्के अभाव रूप, ही वास्तवमें परमार्थ है।

जैन—प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे सिद्ध होते हैं। (क) 'मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं' आदि अहं प्रत्यय से प्रमाता सिद्ध होता है। (ख) वाह्य पदार्थोंका ज्ञान अनुभवसे सिद्ध है। तथा वाह्य पदार्थोंके अनुभव होनेपर ही वासना बन सकती है। अतएव प्रमेय भी स्वीकार करना चाहिये (ग) प्रमेयके सिद्ध होनेपर प्रमाण भी अवश्य मानना चाहिये। जैसे कुठारसे काटनेकी क्रिया हो सकती है, वैसे जानने रूप क्रियाका भी कोई करण होना चाहिये। (घ) पदार्थको जानते समय पदार्थ संवंधी अज्ञानका नाश होना ही प्रमाणका साक्षात् फल है, अतएव प्रमिति भी मानना चाहिये। तथा, शून्यवादी लोग प्रमाता आदिको प्रमाण अथवा अप्रमाण किसीसे भी सिद्ध नहीं कर सकते। अप्रमाण अकिंचित्कर है, इस लिये अप्रमाणसे प्रमाता आदि सिद्ध नहीं हो सकते। इसी तरह प्रमाणसे भी प्रमाता आदि सिद्ध नहीं होते, क्योंकि शून्यवादियोंके मतमें स्वयं प्रमाण ही अवस्तु है। तथा जिस प्रमाणसे शून्यवादी लोग अपने पक्षकी सिद्धि करते हैं, वह प्रमाण विना प्रमेयके नहीं बन सकता, क्योंकि प्रमाण निर्विषय नहीं होता, अतएव शून्यवादियोंको मौन रहना ही श्रेयस्कर है।

अधुना क्षणिकवादिन ऐहिकामुष्मिकव्यवहारानुपपन्नार्थसमर्थनमविमृश्यकारितं दर्शयन्नाह—

क्षणिक वादियों के मतमें इस लोक और परलोककी व्यवस्था नहीं बन सकती। अतएव उनके मतको अविचारपूर्ण सिद्ध करते हैं—

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षगभङ्गमिच्छन्नहो महासाहसिकः परस्ते ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—आपके प्रतिपक्षी क्षणिकवादी बौद्ध क्षणिकवादको स्वीकार करके, किये हुए कर्मोंके फलको न भोगना, अकृत कर्मोंके फलको भोगनेके लिये बाध्य होना, परलोकका नाश, मुक्तिका नाश, तथा स्मरण शक्तिका अभाव, इन दोषोंकी उपेक्षा करके अपने सिद्धांतको स्थापित करनेका महान साहस करते हैं।

कृतप्रणाशदोषम् अकृतकर्मभोगदोषम् भवभङ्गदोषम् प्रमोक्षभङ्गदोषम् स्मृतिभङ्गदोषमित्येतान् दोषान् । साक्षादित्यनुभवसिद्धान् । उपेक्ष्यानादृत्य । साक्षात् कुर्वन्नपि गजनिमीलिकामवलम्बमानः[1] । सर्वभावानां क्षणभङ्गम् उदयानन्तरविनाशरूपां क्षणक्षयिताम् । इच्छन् प्रतिपद्यमानः । ते तव । परः प्रतिपक्षी वैनाशिकः सौगत इत्यर्थः । अहो महासाहसिकः सहसा अविमर्शात्मकेन बलेन वर्तते साहसिकः । भाविनमनर्थमविभाव्य यः प्रवर्तते स एवमुच्यते । महांश्चासौ साहसिकश्च महासाहसिकोऽत्यन्तमविमृश्य प्रवृत्तिकारी । इति मुकुलितार्थः ।।

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार हाथी आखोंको बन्द करके जलपान करता है, वैसे ही संसार, मोक्ष आदिका अनुभव करते हुए भी सम्पूर्ण पदार्थोंको क्षणस्थायी माननेवाले प्रतिपक्षी बौद्ध (१) किये हुए कर्मोंका नाश, (२) नहीं किये हुए कर्मोंका भोग, (३) संसारका क्षय, (४) मोक्षका नाश और (५) स्मृतिका अभाव, इन दोषोंकी उपेक्षा करते हुए क्षणवादके सिद्धान्तको प्रतिपादन करनेका महान साहस करते हैं।

विवृतार्थस्त्वयम् । बौद्धा बुद्धिक्षणपरम्परामात्रमेवात्मानमामनन्ति[2] न पुनर्मौक्तिककणनिकरानुस्यूतैकसूत्रवत् तदन्वयिनमेकम् । तन्मते येन ज्ञानक्षणेन सदनुष्ठानमसदनुष्ठानं वा कृतम् तस्य निरन्वयविनाशान्न तत्फलोपभोगः, यस्य च फलोपभोगः, तेन तत् कर्म न कृतम् । इति प्राच्यज्ञानक्षणस्य चाकृतकर्मभोगः, स्वयमकृतस्य परकृतस्य कर्मणः फलोपभोगादिति । अत्र च कर्मशब्द उभयत्रापि योज्यः, तेन कृतप्रणाश इत्यस्य कृतकर्मप्रणाश इत्यर्थो दृश्यः । बन्धानुलोम्याच्चेत्थमुपन्यासः ।।

(१) बौद्ध लोग विचारके क्षणोंकी परम्पराको आत्मा मानते हैं। जिस प्रकार एक सूतका डोरा बहुतसे मोतियोंमें प्रविष्ट हो कर सब मोतियोंकी एक माला बनाता है, उस तरह बौद्धोंके मतमें विचारके सम्पूर्ण क्षणोंके साथ संबंध रखनेवाली किसी एक वस्तुको आत्मा स्वीकार नहीं किया गया है। अतएव बौद्ध मतमें जिस विचारके क्षणसे अच्छे या बुरे कर्म

---

[1] गजो नेत्रे निमील्य जलपानादि करोति नेत्रनिमीलनेन न किंचित्करोमीति भावयति च तद्वदयं वादी कृतप्रणाशादीन् दोषान् साक्षादनुभवन् सर्वभावानां क्षणभङ्गुरतां प्रतिपद्यते ।

[2] संतानस्यैकमाश्रित्य कर्ता भोक्तेति देशितं ॥
यथैव कदलीस्तंभो न कश्चिद्भागशः कृतः । तथाहमप्यसद्भूतो मृग्यमाणो विचारतः ॥
बोधिचर्यावतारे ९-७३, ७५ ।

किये जाते है, उस विचार क्षणके सर्वथा नष्ट हो जानेसे अच्छे या बुरे कर्म करनेवाले मनुष्यको उन अच्छे, बुरे कर्मोंका फल न मिलना चाहिये। क्योंकि फल भोगनेवाले मनुष्यने उन कर्मोंको नहीं किया है। कारण कि जिस पूर्व विचारके क्षणसे कर्म किया गया था, वह क्षण सर्वथा नष्ट हो चुका है। अतएव मनुष्यको अपने कर्मोंके फलका उपभोग नहीं करना चाहिये। (२) तथा क्षणिकवादमें जिस विचार क्षणने कर्मोंको नहीं किया, उस विचार क्षणको कर्मोंके फलको भोगनेके लिये बाध्य होनेके कारण स्वयं नहीं किये हुए दूसरोंके कर्मोंको भोगनेसे अकृतकर्म भोग नामका दोष आता है। यहां जिस प्रकार श्लोककी प्रथम पंक्तिमें ' अकृतकर्मभोग 'में कर्म शब्दका संबंध है, उसी तरह ' कृतप्रणाश 'में भी कर्म शब्द जोड़ कर ' कृतकर्मप्रणाश ' अर्थ करना चाहिये।

तथा भवभङ्गदोषः। भव आर्जवीभावलक्षणः संसारः, तस्य भङ्गो विलोपः स एव दोषः क्षणिकवादे प्रसज्यते। परलोकाभावप्रसङ्ग इत्यर्थः। परलोकिनः कस्यचिदभावात्। परलोको हि पूर्वजन्मकृतकर्मानुसारेण भवति। तच्च प्राचीनज्ञानक्षणानां निरन्वयं नाशात् केन नामोपभुज्यतां जन्मांतरे ॥

(३) क्षणिकवादमें संसार भी नहीं बन सकता। क्योंकि पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मोंके अनुसार ही परलोक मिलता है। क्षणिक वादियोंके मतमें विचारके पहले क्षणोंका सर्वथा विनाश हो जाता है, अतएव पूर्व क्षणोंका उत्तर क्षणोंके साथ कोई भी संबंध नहीं रहता। इस लिये पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मोंका दूसरे जन्ममें फल नहीं मिल सकता। इस कारण बौद्ध मतमें परलोकी (आत्मा) के अभाव होनेसे परलोककी भी सिद्धि नहीं होती।

यच्च मोक्षाकरगुप्तेन " यच्चित्तं तच्चित्तान्तरं प्रतिसन्धत्ते यथेदानीन्तनं चित्तं, चित्तं च मरणकालभावि " इति भवपरम्परासिद्धये प्रमाणमुक्तम्, तद्व्यर्थम्। चित्तक्षणानां निरवशेषनाशिनां चित्तान्तरप्रतिसंधानायोगात्। द्वयोरवस्थितयोर्हि प्रतिसंधानमुभयानुगामिना केनचित् क्रियते। यश्चानयोः प्रतिसंधाता, स तेन नाभ्युपगम्यते स ह्यात्मान्वयी ॥

मोक्षाकरगुप्त (बौद्ध)—" वर्तमान विचार (ज्ञान–बुद्धि–चित्त) की तरह एक विचार दूसरे विचारसे संबद्ध होता है। अतएव मरणके समयमें रहनेवाला विचार भी दूसरे विचारसे संबद्ध होता है " (यच्चित्तं तच्चित्तान्तरं प्रतिसंधत्ते यथेदानींतनं चित्तं चित्तं, च मरणकालभावि), अतएव संसारकी परम्परा सिद्ध होती है। **जैन**—यह ठीक नहीं। क्योंकि बौद्धोंके मतमें विचार क्षणोंका सर्वथा नाश माना गया है, अतएव एक विचार दूसरे विचारसे

---

[१] काचिन्नियतमर्यादाऽवस्थैव परिकीर्त्यते।
तस्याश्चानाद्यनन्तायाः परः पूर्व इहेति च ॥
तत्त्वसंग्रहे १८७३।

संवद्ध नहीं हो सकता। पूर्व और अपर चित्त क्षणोंमें कोई संबंध करानेवाला होना चाहिये, अन्यथा दोनों क्षणोंका संवंध नहीं हो सकता। इन दोनों क्षणोंका संबंध करनेवाला आत्मा ही हो सकता है।

न च प्रतिसंधत्ते इत्यस्य जनयतीत्यर्थः। कार्यहेतुप्रसङ्गात्। तेन वादिनास्य हेतोः स्वभावहेतुत्वेनोक्तत्वात्। स्वभावहेतुश्च तादात्म्ये सति भवति। भिन्नकालभाविनोश्च चित्तचित्तान्तरयोः कुतस्तादात्म्यम्। युगपद्भाविनोश्च प्रतिसन्धेयप्रतिसन्धायकत्वाभावापत्तिः, युगपद्भावित्वेऽविशिष्टेऽपि किमत्र नियामकम्, यदेकः प्रतिसन्धायकोऽपरश्च प्रतिसन्धेय इति। अस्तु वा प्रतिसन्धानस्य जननमर्थः। सोऽप्यनुपपन्नः। तुल्यकालत्वे हेतुफलभावस्याभावात्। भिन्नकालत्वे च पूर्वचित्तक्षणस्य विनष्टत्वात् उत्तरचित्तक्षणः कथमुपादानमन्तरेणोत्पद्यताम्। इति यत्किञ्चिदेतत्॥

शंका—'यच्चितं तच्चित्तान्तरं प्रतिसंधत्ते' यहां प्रतिसंधानका अर्थ उत्पन्न करना है, अतएव हमारे मतमें पूर्व चित्त उत्तर चित्तसे संवद्ध नहीं होता, बल्कि पूर्व चित्त उत्तर चित्तको उत्पन्न करता है। समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि पूर्व और अपर चित्त क्षणोंमें कार्य-कारण संबंध माननेसे कार्य हेतु मानना चाहिये। परन्तु बौद्धोंने पूर्व और अपर चित्त क्षणोंमें स्वभाव हेतु माना है। तथा, स्वभाव हेतु तादात्म्य संबंध होनेपर ही होता है। जैसे यह वृक्ष है, सीसम होनेसे, यहां वृक्ष और सीसमका तादात्म्य होनेसे स्वभाव हेतु अनुमान है। इस लिये भिन्न भिन्न समयमें होनेवाले पूर्व और अपर चित्त क्षणोंमें स्वभाव हेतु भी नही बन सकता। क्योंकि यदि पूर्व और अपर चित्त क्षणोंको एक ही समयमें होनेवाला माना जाय, तो उनमें प्रतिसन्धेय और प्रतिसंधायकका विभाग नहीं बन सकता। तथा प्रतिसंधानका अर्थ उत्पन्न करना भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि पूर्व और उत्तर क्षणोंको एक समयवर्ती माना जाय, तो उनमें कार्थ-कारण संबंध नहीं बन सकता। यदि पूर्व और उत्तर क्षणोंको भिन्न समयवर्ती मानो, तो पूर्व चित्त क्षणके सर्वथा नाश हो जानेपर उपादान कारणके विना उत्तर क्षणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

तथा प्रमोक्षभङ्गदोषः। प्रकर्षेणापुनर्भावेन कर्मबन्धनाद् मोक्षो मुक्तिः प्रमोक्षस्तस्यापि भङ्गः प्राप्नोति। तन्मते तावदात्मैव नास्ति। कः प्रेत्य सुखीभवनार्थं यतिष्यते। ज्ञानक्षणोऽपि संसारी कथमपरज्ञानक्षणसुखीभवनाय घटिष्यते। न हि दुःखी देवदत्तो यज्ञदत्तसुखाय चेष्टमानो दृष्टः। क्षणस्य तु दुःखं स्वरसनाशित्वात् तेनैव सार्धं दध्वंसे। सन्तानस्तु न वास्तवः कश्चित्। वास्तवत्वे तु आत्माभ्युपगमप्रसङ्गः॥

(४) कर्मोंके बंध नहीं होनेको मोक्ष कहते हैं। बौद्धोंके मतमें मोक्षका सद्भाव भी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि बौद्ध मतमें आत्मा नहीं है, इस लिये सुखी होनेके लिये कौन प्रयत्न करेगा। जब तक संसार है, तभी तक ज्ञान क्षण रूप पर्याय मौजूद है, इस लिये

पूर्व ज्ञान क्षणोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर अपर ज्ञान क्षणोंके सुखी होनेके लिये कोई भी प्रयत्न नहीं कर सकता। क्योंकि पूर्व और अपर ज्ञान क्षणोंमें कोई संबंध नहीं रह सकता। जैसे दुखी देवदत्त यज्ञदत्तके सुखके लिये प्रयत्न करता हुआ नहीं देखा जाता। तथा प्रत्येक ज्ञान क्षणका दुख भी उसी क्षणके साथ नष्ट हो जाता है। यदि सब ज्ञान क्षणोंमें सुख-दुख पहुंचानेवाली संतान स्वीकार की जाय, तो यदि वह संतान ज्ञान क्षणोंके अतिरिक्त कोई पृथक् वस्तु है, तो उसे आत्मा ही कहना चाहिये। यदि संतान अवस्तु है, तो वह संतान अकार्यकारी है।

अपि च बौद्धाः "निखिलवासनोच्छेदे विगतविषयाकारोपप्लवविशुद्धज्ञानोत्पादो मोक्षः" इत्याहुस्तच्च न घटते। कारणाभावादेव तदनुपपत्तेः। भावनाप्रचयो हि तस्य कारणमिष्यते। स च स्थिरैकाश्रयाभावाद् विशेषानाधायकः प्रतिक्षणमपूर्ववद् उपजायमानो निरन्वयविनाशी, गगनलङ्घनाभ्यासवत् अनासादितप्रकर्षो न स्फुटाभिज्ञानजननाय प्रभवति, इत्यनुपपत्तिरेव तस्य। समलचित्तक्षणानां स्वाभाविक्याः सदृशारम्भणशक्तेरसदृशारम्भम् प्रत्यशक्तेश्च अकस्मादनुच्छेदात्। किंच, समलचित्तक्षणाः पूर्वे स्वरसपरिनिर्वाणा अयमपूर्वो जातः सन्तानश्चैको न विद्यते बन्धमोक्षौ चैकाधिकरणौ न विषयभेदेन वर्तेते। तत् कस्येयं मुक्तिर्य एतदर्थं प्रयतते। अयं हि मोक्षशब्दो बन्धनविच्छेदपर्यायः। मोक्षश्च तस्यैव घटते यो बद्धः। क्षणक्षयवादे त्वन्यः क्षणो बद्धः क्षणान्तरस्य च मुक्तिरिति प्राप्नोति मोक्षाभावः॥

तथा बौद्ध लोग "सम्पूर्ण वासनाओंके नष्ट हो जानेपर विविध प्रकारके ग्राह्य-ग्राहक संबंधसे रहित विशुद्ध ज्ञानके उत्पन्न होनेको मोक्ष कहते हैं," परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि क्षणिक वादियोंके मतमें कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता। बौद्धोंके मतमें 'सब पदार्थ क्षणिक हैं, सब दुख रूप है, सामान्य रूपसे ज्ञात न हो कर अपने असाधारण रूपसे ज्ञात होते हैं, अतएव स्वलक्षण हैं, तथा सब पदार्थ निस्वभाव होनेसे शून्य हैं' इस प्रकार भावना चतुष्टयकी उत्कटतासे सम्पूर्ण वासनाओंका नाश हो जाना मोक्ष है। परन्तु बौद्धोंने इन भावनाओंका कोई नित्य आश्रय नहीं माना है। तथा, प्रत्येक क्षणमें नवीन नवीन उत्पन्न हो कर दूसरे क्षणमें सर्वथा नष्ट होनेवाली अनन्त अशुद्ध ज्ञानकी संतान अशुद्ध ज्ञानको ही उत्पन्न कर सकती है, शुद्ध ज्ञानको नहीं। अतएव अशुद्ध ज्ञानसे शुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जिस तरह बीज अपने सजातीय फलको उत्पन्न कर सकता है, विजातीय फलको नहीं, उसी तरह अशुद्ध ज्ञान क्षणोंसे केवल अशुद्ध ज्ञान क्षणोंकी उत्पत्ति हो सकती है, शुद्ध ज्ञान क्षणोंकी नहीं, अतएव अशुद्ध ज्ञान क्षणोंका सर्वथा नाश नहीं हो सकता। तथा, बौद्धोंके मतमें प्रत्येक वस्तुके क्षणस्थायी होनेके कारण अशुद्ध ज्ञान क्षणोंके अपने स्वरूपसे सर्वथा नष्ट हो जानेपर शुद्ध

---

१ सर्वं क्षणिकं सर्वं क्षणिकम्, दुःखं दुःखं, स्वलक्षणम् स्वलक्षणं, शून्यं शून्यमिति भावनाचतुष्टयं।

ज्ञान क्षणकी उत्पत्ति नहीं बन सकती। अतएव पूर्व और अपर ज्ञान क्षणोंमें कोई संतान संभव नहीं। तथा, जिस पुरुषके बंध हो, उसे ही मोक्षकी तैय्यारी करनी चाहिये, और जिन कर्मोंसे संसारी अवस्थामें बंध होता है, उन्हीं कर्मोंका मोक्ष अवस्थामें क्षय होना चाहिये। परन्तु क्षणिक वादियोंके मतमें जिस क्षणमें पुरुषके बंध होता है, वह क्षण मोक्ष होनेके क्षणसे भिन्न है, अतएव बौद्धोंके मतमें जिस पुरुषके बंध होता है, उसी पुरुषके मोक्ष नहीं हो सकता, इस लिये मोक्षका अभाव हो जाता है।

तथा स्मृतिभङ्गदोषः। तथाहि। पूर्वबुद्ध्यानुभूतेऽर्थे नोत्तरबुद्धीनां स्मृतिः संभवति। ततोऽन्यत्वात्, सन्तानान्तरबुद्धिवत्। न ह्यन्यदृष्टोऽर्थोऽन्येन स्मर्यते अन्यथा एकेन दृष्टोऽर्थः सर्वैः स्मर्येत। स्मरणाभावे च कौतस्कुती प्रत्यभिज्ञाप्रसूतिः। तस्याः स्मरणानुभवोभयसंभवत्वात्। पदार्थप्रेक्षणप्रबुद्धप्राक्तनसंस्कारस्य हि प्रमातुः स एवायमित्याकारेण इयमुत्पद्यते।

(५) बौद्धोंके मतमें स्मृति ज्ञान भी नहीं बन सकता। जिस प्रकार एक बुद्धिसे अनुभूत पदार्थका दूसरी बुद्धिसे स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि एक बुद्धि दूसरी बुद्धिसे भिन्न है. उसी तरह बुद्धिका प्रथम क्षण दूसरे क्षणको नहीं जान सकता। अतएव एक मनुष्यके देखे हुए पदार्थको दूसरा मनुष्य स्मरण नहीं कर सकता, अन्यथा एक पदार्थका एक पुरुषके द्वारा ज्ञान होनेपर उस पदार्थका सब पुरुषोंको स्मरण हो जाना चाहिये। स्मरणके अभाव होनेपर प्रत्यभिज्ञान भी नहीं बन सकता। कारण कि पहले देखी हुई वस्तुके स्मरणपूर्वक ' यह वही है,' इस प्रकारके अनुभवको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

अथ स्यादयं दोषः, यद्यविशेषेणान्यदृष्टमन्यः स्मरतीत्युच्यते। किन्तु अन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावाद् एव च स्मृतिः। भिन्नसंतानबुद्धीनां तु कार्यकारणभावो नास्ति तेन संतानान्तराणां स्मृतिर्न भवति। न चैकसान्तानिकीनामपि बुद्धीनां कार्यकारणभावो नास्ति, येन पूर्वबुद्ध्यनुभूतेऽर्थे तदुत्तरबुद्धीनां स्मृतिर्न स्यात्। तदप्यनवदातम्। एवमपि अन्यत्वस्य तदवस्थत्वात्। न हि कार्यकारणभावाभिधानेऽपि तदपगतं। क्षणिकत्वेन सर्वासां भिन्नत्वात्। न हि कार्यकारणभावात् स्मृतिरित्यत्रोभयप्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्तः॥

शंका—अपने अनुभूत किये हुए पदार्थोंका हम स्वयं ही स्मरण कर सकते हैं। इस लिये एक मनुष्यके द्वारा अनुभूत पदार्थोंका दूसरे मनुष्यद्वारा स्मरण किया जाना संभव नहीं। क्योंकि बुद्धिका एक ही संतानके अनुभव और स्मरणमें कार्य-कारण संबंध होता है, एक संतानका दूसरी संतानके साथ कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता। अतएव एक पुरुषके अनुभव करनेपर दूसरे पुरुषको स्मरण नहीं होता। संतानी (ज्ञान क्षण) और

---

१ कार्यकारणभावप्रतिनियमादेव स्मृत्यभावोऽपि निरस्तः। न स्मर्ता कश्चिदिह विद्यते। किं तर्हि स्मरणमेव केवलमारोपवशात्। अनुभूते हि वस्तुनि विज्ञानसंताने स्मृतिबीजाधानात्कालान्तरेण संततिपरिपाकहेतोः स्मरणं नाम कार्यमुत्पद्यते। बोधिचर्यावतारपञ्जिकायां पृ. ४१५।

संतानमें परस्पर कार्य-कारण संबंध रहता है, इस लिये एक ज्ञानसे किसी पदार्थका अनुभव होनेपर उसी ज्ञानसे उस पदार्थका स्मरण होता है। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि संतानमें कार्य-कारण भाव माननेपर भी संतानके क्षणोंकी परस्पर भिन्नता नहीं मिट सकती, क्योंकि बौद्ध मतमें सम्पूर्ण क्षण परस्पर भिन्न हैं। तथा परस्पर भेद होनेपर भी कार्य-कारण संबंध वाला कोई दृष्टांत वादी और प्रतिवादीको मान्य नहीं है।

अथ— " यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव संधत्ते कर्पासे रक्तता यथा " ॥

इति। कर्पासे रक्ततादृष्टान्तोऽस्तीति चेत्। तदसाधीयः। साधनदूषणयोरसम्भवात्। तथाहि। अन्वयाद्यसम्भवान्न साधनम्। न हि कार्यकारणभावो यत्र तत्र स्मृतिः कर्पासे रक्ततावदित्यन्वयः सम्भवति। नापि यत्र न स्मृतिस्तत्र न कार्यकारणभाव इति व्यतिरेकोऽपि। असिद्धत्वाद्यनुद्भावनाच्च न दूषणम्। न हि ततोऽन्यत्वात् इत्यस्य हेतोः कर्पासे रक्ततावत् इत्यनेन कश्चिद्दोषः प्रतिपाद्यते॥

शंका—" जिस प्रकार कपासके बीजमें लाल रंग लगानेसे बीजका फल भी लाल रंगका होता है, उसी तरह जिस संतानमें कर्म वासना रहती है, उसी वासनामें कर्म वासनाका फल रहता है। " अतएव जिस पदार्थको एक पुरुष अनुभव करता है, वही पुरुष उस पदार्थका स्मरण करता है। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि कपासमें रक्तताका दृष्टांत न साधक है, और न बाधक। क्योंकि इस दृष्टांतसे ' जहां कार्य-कारण भाव होता है, वहां स्मृति होती है, जैसे कपासमें रक्तता, ' तथा ' जहां स्मृति नहीं होती, वहां कार्य-कारण भाव भी नहीं होता ' इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक संबंध नहीं बनते। अन्वय-व्यतिरेक न बननेसे कार्य-कारण भाव भी सिद्ध नहीं होता। अतएव बुद्धिकी संतानमें कार्य-कारण संबंध नहीं बनता। तथा ' कपासमें रक्तता ' के दृष्टांतसे ' एक ज्ञानसे अनुभूत पदार्थका दूसरे ज्ञानसे स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि पहला और दूसरा दोनों ज्ञान भिन्न हैं, अन्य संतानकी तरह ' हमारे इस अनुमानमें असिद्ध आदि दोष नहीं आते। क्योंकि ' जहां जहां भिन्नत्व होता है, वहां वहां स्मृति नहीं होती ' यह अनुमान ' कपासमें रक्तता ' के दृष्टांतसे असिद्ध नहीं कहा जा सकता, कारण कि यह दृष्टांत स्मृति अथवा अनन्यत्व किसीके लिये भी लागू नहीं होता। क्योंकि क्षणिक वादियोंके मतमें कपासमें भी क्षण क्षणमें परिवर्तन होता है, इस लिये कपासके दो क्षणोंमें एकसी न रहनेसे कपासमें भी अन्यत्व है।

किञ्च, यद्यन्वयत्वेऽपि कार्यकारणभावेन स्मृतेरुत्पत्तिरिष्यते, तदा शिष्याचार्यादिबुद्धीनामपि कार्यकारणभावसद्भावेन स्मृत्यादिः स्यात्। अथ नायं प्रसङ्गः, एकसंतानत्वे सतीतिविशेषणादिति चेत्। तदप्ययुक्तं। भेदाभेदपक्षाभ्यां तस्योपक्षीणत्वात्। क्षणपरम्परातस्तस्याभेदे हि क्षणपरम्परैव सा। तथा च संतान इति न किञ्चिदतिरिक्तमुक्तं स्यात्। भेदे तु पारमार्थिकः अपारमार्थिको वासौ स्यात्? अपा-

रमार्थिकत्वेऽस्य दूषणं, अकिंचित्करत्वात् । पारमार्थिकत्वे स्थिरो वा स्यात् क्षणिको वा ? क्षणिकत्वे संतानानिर्विशेष एवायम्, इति किमनेन स्तेनभीतस्य स्तेनान्तरशरणस्वीकरणानुकरणिना। स्थिरश्चेत् आत्मैव संज्ञाभेदतिरोहितः प्रतिपन्नः। इति न स्मृतिर्घटते क्षणक्षयवादिनाम् ॥

तथा, यदि अनुभव और स्मरणके पीछे कोई नित्य पदार्थ स्वीकार न करके, भिन्न भिन्न संतानोंमें कार्य-कारण भाव मान कर स्मृति स्वीकार की जाय, तो शिष्य और आचार्यकी बुद्धिमें भी कार्य-कारण मानना चाहिये। क्योंकि गुरु शिष्यको पढ़ाता है, अतएव गुरुकी बुद्धि कारण, और शिष्यकी बुद्धि कार्य कही जा सकती है। यदि कहो, कि हम एक संतानके होनेपर ही (एकसंतानत्वे सति) कार्य-कारण संबंध मानते हैं, अतएव गुरु-शिष्यकी बुद्धिमें कार्य-कारण संबंध नहीं बन सकता, क्योंकि यहां दो भिन्न संतान मौजूद हैं। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि आप लोग अनुभवको स्मृतिके साथ जोड़नेके लिये बुद्धि क्षणों (संतानी) की एक संतान स्वीकार करते हैं, तो हम पूछते हैं, कि संतान संतानी (बुद्धिक्षण परंपरा) से भिन्न है, या अभिन्न ? यदि संतान क्षण परम्परासे अभिन्न है, तो उसे क्षण परंपरा (संतानी) ही कहना चाहिये, संतान नहीं। यदि संतान और क्षण परम्पराको भिन्न मानो, तो यह संतान और क्षण परम्पराका भेद वास्तविक है, या कल्पित ? यदि यह भेद कल्पित है, तो वह अकार्यकारी है। यदि संतान और क्षण परम्पराका भेद वास्तविक है, तो वह स्थिर है, या क्षणिक ? यदि संतान क्षणिक है, तो क्षण परम्पराको छोड़ कर संतानका आश्रय लेना एक चोरके भयसे दूसरे चोरके आश्रय लेनेके समान है। यदि संतानको स्थिर मानो, तो फिर आत्मा स्वीकार करनेमें ही क्या दोष है ? अतएव क्षणिक वादियोंके मतमें स्मृति भी नहीं बनती।

तदभावे च अनुमानस्यानुत्थानमित्युक्तम् प्रागेव । अपि च, स्मृतेरभावे निहितप्रत्युन्मार्गणप्रत्यर्पणादिव्यवहारा विशीर्येरन् ।

“ इत्येकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥ ”

इति वचनस्य का गतिः । एवमुत्पत्तिरुत्पादयति, स्थितिः स्थापयति, जरा जर्जरयति, विनाशो नाशयतीति चतुःक्षणिकं वस्तु प्रतिजानाना अपि प्रतिक्षेप्याः । क्षणचतुष्कानन्तरमपि निहितप्रत्युन्मार्गणादि व्यवहाराणां दर्शनात् । तदेवमनेकदोषापातेऽपि यः क्षणभङ्गमभिप्रैति तस्य महत् साहसम् ॥ इति काव्यार्थः ॥ १८ ॥

स्मृतिके अभाव होनेपर अनुमान भी नहीं बन सकता । तथा स्मृतिके अभावमें धरोहर रख कर भूल जाना, धरोहरको लौटानेकी याद न रहना आदि व्यवहारका भी लोप हो जायगा । तथा, “ अबसे इक्यानवेवें भवमें मैंने एक पुरुषको बलात्कारसे मार ड़ाला, उस

---

१ लक्षणानि तथा जातिर्जरास्थितिरनित्यता ।
जाति जात्यादयस्तेषां तेऽष्टधर्मैकवृत्तयः ।
वसुबन्धुविरचिताभिधर्मकोशे २–४५,४६ ।

कर्मके खोटे फलसे मेरा पैर छिद गया है ” आदि वचन भी नहीं कहे जा सकते। अतएव उत्पत्ति, स्थिति, जरा और विनाश इन चार क्षण पर्यंत जो वस्तुकी स्थिति मानी है (क्षणिकवादका परिवर्तित रूप), वह भी नहीं बन सकती। क्योंकि चार क्षणोंके बाद भी वस्तुकी स्थिति देखी जाती है। इस लिये अनेक दोषोंके आनेपर भी क्षणभंगको मानना बौद्धोंका महान् सहास है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें बौद्धोंके ‘क्षणभंग’ वादपर विचार किया गया है। जैन लोगोंका कहना है, कि प्रत्येक वस्तु क्षणस्थायी माननेपर बौद्धोंके मतमें आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नहीं बन सकता। तथा आत्माके न माननेपर (१) संसार नहीं बनता, क्योंकि क्षणिक वादियोंके मतमें पूर्व और अपर क्षणोंमें कोई संबंध न हो सकनेसे पूर्व जन्मके कर्मोंका जन्मांतरमें फल नहीं मिल सकता। बौद्ध लोग संतानको वस्तु मानते हैं। उनके मतानुसार संतानका एक क्षण दूसरे क्षणसे संबद्ध होता है, मरणके समय रहनेवाला ज्ञान क्षण भी दूसरे विचारसे संबद्ध होता है, इसीलिये संसारकी परम्परा सिद्ध होती है। परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि संतान क्षणोंका परस्पर संबंध करानेवाला कोई पदार्थ नहीं है, जिससे दोनों क्षणोंका परस्पर संबंध हो सके। (२) आत्माके न माननेपर मोक्ष भी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि संसारी आत्माका अभाव होनेसे मोक्ष किसको मिलेगा। बौद्ध लोग सम्पूर्ण वासनाओंके नष्ट होजाने पर भावना चतुष्टयसे होनेवाले विशुद्ध ज्ञानको मोक्ष कहते हैं। परन्तु क्षणिक वादियोंके मतमें कार्य-कारण भाव नहीं सिद्ध होता। तथा अशुद्ध ज्ञानसे अशुद्ध ज्ञान ही उत्पन्न हो सकता है, विशुद्ध ज्ञान नहीं। तथा, जिस पुरुषके बंध हो, उसे ही मोक्ष मिलना चाहिये। परन्तु क्षणिक वादियोंके मतमें बंधके क्षणसे मोक्षका क्षण दूसरा है, अतएव बद्ध पुरुषको मोक्ष नहीं हो सकता। (३) अनात्मवादी बौद्धोंके मतमें स्मृति ज्ञान भी नहीं बन सकता। क्योंकि एक बुद्धिसे अनुभव किये हुए पदार्थोंका दूसरी बुद्धिसे स्मरण नहीं हो सकता। स्मृतिके स्थानमें संतानको एक अलग पदार्थ मान कर एक संतानका दूसरी संतानके साथ कार्य-कारण भाव माननेपर भी संतान क्षणोंकी परस्पर भिन्नता नहीं मिट सकती। क्योंकि बौद्ध मतमें सम्पूर्ण क्षण परस्पर भिन्न हैं।

अथ ताथागताः क्षणक्षयपक्षे सर्वव्यवहारानुपपत्तिं परैरुद्भावितामाकर्ण्य इत्थं प्रतिपादयन्ति। यत् सर्वपदार्थानां क्षणिकत्वेऽपि वासनावललब्धजन्मना ऐक्याध्यवसायेन ऐहिकामुष्मिकव्यवहारप्रवृत्तेः[1] कृतप्रणाशादिदोषा निरवकाशा एव

---

[1] यथा बीजादिष्वात्मानमन्तरेणापि प्रतिनियमेन कार्यं तदुत्पत्तिश्च क्रमेण भवति। तथा प्रकृतेऽपि परलोकगामिनमेकं विनापि कार्यकारणभावस्य नियामकत्वात्प्रातीनियतमेव फलं। क्लेशकर्माभिसंस्कृतस्य संतानस्याविच्छेदेन प्रवर्तनात् परलोके फलप्रतिलंभोऽभिधीयते। इति नाकृताभ्यागमो न कृतविप्रणाशो बाधकं। बोधिचर्यावतारपंजिका पृ. ४७३। अत्र शान्तरक्षितकृततत्त्वसंग्रहे कर्मफलसंबंधपरीक्षानामप्रकरणम् अवलोकयितव्यम्।

इति। तदाकूतं परिहर्तुकामस्तत्कल्पितवासनायाः क्षणपरम्परातो भेदाभेदानुभयलक्षणे पक्षत्रयेऽप्यघटमानत्वं दर्शयन् स्वाभिप्रेतभेदाभेदस्याद्वादमकामयमानानपि तानङ्गीकारयितुमाह——

बौद्ध—पदार्थोंके क्षणिक होनेपर भी वासनासे उत्पन्न होनेवाले अभेद ज्ञानसे इस लोक और परलोक संबंधी व्यवहार चल सकता है, अतएव 'कृतकर्मप्रणाश' आदि दोष हमारे सिद्धांतमें नहीं आ सकते। जैन—आप लोग जिस वासनाको स्वीकार करते हैं, वह वासना क्षण परम्परासे भिन्न, अभिन्न, अथवा न भिन्न और न अभिन्न (अनुभय) किसी भी तरह सिद्ध नहीं होती। अतएव स्याद्वादके भेदाभेदको ही स्वीकार करना चाहिये——

सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च नाभेदभेदानुभयैर्घटेते।
ततस्तटादर्शिशकुन्तपोतन्यायात्त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ॥१९॥

श्लोकार्थ—वासना और क्षणसंतति परस्पर भिन्न, अभिन्न, और अनुभय तीनों प्रकारसे किसी भी तरह सिद्ध नहीं होती। अतएव जिस प्रकार समुद्रमें जहाजसे उडा हुआ पक्षी समुद्रका किनारा न देख कर पीछे जहाजपर ही लौट आता है, उसी तरह उपायान्तर न होनेसे बौद्ध लोग आपके ही सिद्धान्तोंका आश्रय लेते हैं।

सा शाक्यपरिकल्पिता त्रुटितमुक्तावलीकल्पानां परस्परविशकलितानां क्षणानामन्योन्यानुस्यूतप्रत्ययजनिका एकसूत्रस्थानीया सन्तानापरपर्याया वासना। वासनेति पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहुः। सा च क्षणसन्ततिस्तद्दर्शनप्रसिद्धा। प्रदीपकलिकावत् नवनवोत्पद्यमानापरापरसदृशक्षणपरम्परा। एते द्वे अपि अभेदभेदानुभयैर्न घटेते॥

व्याख्यार्थ—टूटे हुए मोतियोंकी मालाकी तरह परस्पर भिन्न क्षणोंको जोड़नेवाली वासना मानी गई है। यह वासना मोतियोंकी मालामें डोरेकी तरह सम्पूर्ण ज्ञान क्षणोंमें प्रविष्ट रहती है। वासनाका दूसरा नाम सन्तान भी है। पूर्व ज्ञान क्षणसे उत्तर ज्ञान क्षणमें उत्पन्नकी हुई शक्तिको वासना कहते हैं। दीपककी लौके समान नये नये उत्पन्न होनेवाले एकसे पूर्व और उत्तर क्षणोंकी परम्पराको क्षणसंतति कहते हैं। जिस प्रकार दीपककी लौके प्रत्येक क्षणमें बदलते रहनेपर भी लौके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें परस्पर सदृश ज्ञान होनेके कारण, यह वही लौ है, ऐसा ज्ञान होता है, उसी तरह पदार्थोंके प्रत्येक क्षणमें बदलते रहनेपर भी पदार्थोंके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें सदृश ज्ञान होनेके कारण यह वही पदार्थ है, ऐसा ज्ञान होता है। इसे ही बौद्ध मतमें क्षणसंतति कहा है। यह वासना और क्षणसंतति परस्पर भिन्न, अभिन्न, अथवा अनुभय रूपसे किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

न तावदभेदेन तादात्म्येन ते घटेते। तयोर्हि अभेदे वासना वा स्यात् क्षणपरम्परा वा। न द्वयम्। यद्धि यस्मादभिन्नं न तत् ततः पृथगुपलभ्यते, यथा घटाद्

घटस्वरूपम् । केवलायां वासनायामन्वयिस्वीकारः । वास्याभावे च किं तया वासनीयमस्तु । इति तस्या अपि न स्वरूपमवतिष्ठते । क्षणपरम्परामात्राङ्गीकरणे च प्राग्व एव दोषाः ॥

(१) वासना (संतति) और क्षणसंततिको परस्पर अभिन्न मानना ठीक नहीं । क्योंकि वासना और क्षणसंततिके अभिन्न होनेसे वासना और क्षणसंतति दोनोंमें से किसी एकको ही मानना चाहिए । जो पदार्थ जिससे अभिन्न होता है, वह उससे अलग नहीं पाया जाता । जैसे घट स्वरूप घटसे अभिन्न है, इस लिये घट स्वरूप घटसे अलग नहीं पाया जाता । अतएव केवल वासनाको स्वीकार करना नित्य पदार्थको स्वीकार करनेके समान है । तथा, वास्य (क्षणसंतति) को स्वीकार न करके केवल वासनाको स्वीकार करना निष्प्रयोजन है । यदि केवल क्षण परम्परा स्वीकार करो, तो पूर्वोक्त दोष आते हैं ।

न च भेदेन ते युज्येते । सा हि भिन्ना वासना क्षणिका वा स्यात् अक्षणिका वा? क्षणिका चेत्, तर्हि क्षणेभ्यस्तस्याः पृथक्कल्पनं व्यर्थम् । अक्षणिका चेत्, अन्वयिपदार्थाभ्युपगमेनागमबाधः । तथा च पदार्थान्तराणां क्षणिकत्वकल्पनाप्रयासो व्यसनमात्रम् ॥

(२) यदि वासना और क्षणसंततिको परस्पर भिन्न मानो, तो वासना क्षणिक है, अथवा अक्षणिक ? यदि वासना क्षणिक है, तो वासनाको क्षणोंसे भिन्न मानना निरर्थक है । यदि वासना अक्षणिक है, तो वासनाको नित्य माननेसे आपके आगमसे विरोध आता है, इस लिये पदार्थोंका क्षणिकत्व सिद्ध नहीं हो सकता ।

अनुभयपक्षेणापि न घटेते । स हि कदाचित् एवं ब्रूयात्, नाहं वासनायाः क्षणश्रेणितोऽभेदं प्रतिपद्ये, न च भेदं किंत्वनुभयमिति । तदप्यनुचितम् । भेदाभेदयोर्विधिनिषेधरूपयोरेकतरप्रतिषेधेऽन्यतरस्यावश्यं विधिभावात् अन्यतरपक्षाभ्युपगमः । तत्र च प्रागुक्त एव दोषः । अथवानुभयरूपत्वेऽवस्तुत्वप्रसङ्गः। भेदाभेदलक्षणपक्षद्वयव्यतिरिक्तस्य मार्गान्तरस्य नास्तित्वात् । अनार्हतानां हि वस्तुना भिन्नेन वा भाव्यम् अभिन्नेन वा ? तदुभयातीतस्य वन्ध्यास्तनन्धयप्रायत्वात् । एवं विकल्पत्रयेऽपि क्षणपरम्परावासनयोरनुपपत्तौ पारिशेष्याद् भेदाभेदपक्ष एव कक्षीकरणीयः । न च "प्रत्येकं यो भवेद् दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः । " इति वचनादत्रापि दोषतादवस्थ्यमिति वाच्यम् । कुक्कुटसर्पनरसिंहादिवद् जात्यन्तरत्वादनेकान्तपक्षस्य ॥

(३) वासना और क्षणसंततिमें भेद और अभेदसे विलक्षण भेदाभेदका अभाव (अनुभय) भी नहीं बन सकता । क्योंकि भेद विधि रूप है, और अभेद निषेध रूप, इस

---

१ यथा नरसिंहे नरत्वसिंहत्वोभयजातिव्यतिरिक्तं नरसिंहत्वाख्यं जात्यन्तरम् । तद्वदित्यर्थः । कुक्कुटसर्पोऽपि कश्चन कुक्कुटत्वसर्पत्वेत्युभयजातिव्यातिरिक्तः कुक्कुटसर्पत्वजातिमान् प्राणिविशेषः स्यात् ।

लिये एकके निषेध करनेपर दूसरेको स्वीकार करना पड़ता है । अतएव भेद न माननेसे, अभेद, और अभेद न माननेसे, भेद मानना पड़ता है । अलग अलग भेद और अभेद पक्ष स्वीकार करनेमें दोष दिये जा चुके हैं । यदि कहो, कि वासना और क्षणसंततिका संबन्ध परस्पर भेदाभेदके अभाव रूप है, तो इस संबंधको कल्पित (अवस्तु) ही कहना चाहिये । क्योंकि बौद्धोंके मतमें भेद और अभेदसे विलक्षण तीसरा पक्ष नहीं बन सकता । क्योंकि अनेकांत वादियों छोड़ कर अन्य वादियोंके मतमें पदार्थोंके परस्पर भेद और अभेदसे विलक्षण तीसरा पक्ष संभव नहीं है । अतएव भेद, अभेद और अनुभय तीनों विकल्पोंसे वासना और क्षण परम्परा सिद्ध नहीं हो सकती । इस लिये वासना और क्षण परम्परामें भेदाभेद ही स्वीकार करना चाहिये । यदि कहो, कि " भेद और अभेद पक्ष स्वीकार करनेमें जो दोष आते हैं, वे सब दोष भेदाभेद माननेमें भी आते हैं, " यह ठीक नहीं । क्योंकि जैसे कुक्कुटसर्पमें कुक्कुट और सर्प दोनोंसे विलक्षण, और नरसिंहमें नर और सिंह दोनोंसे विलक्षण तीसरा रूप पाया जाता है, उसी तरह अनेकांत पक्षमें भेद और अभेद दोनोंसे भिन्न तीसरा पक्ष स्वीकार किया गया है ।

ननु आर्हतानां वासनाक्षणपरम्परयोरङ्गीकार एव नास्ति तत्कथं तदाश्रयभेदाभेदचिन्ता चरितार्था इति चेत् । नैवम् । स्याद्वादवादिनामपि हि प्रतिक्षणं नवनवपर्यायपरम्परोत्पत्तिरभिमतैव । तथा च क्षणिकत्वम् । अतीतानागतवर्तमानपर्यायपरम्परानुसंधायकं चान्वयिद्रव्यम् । तच्च वासनेति संज्ञान्तरभागप्यभिमतमेव । न खलु नामभेदाद् वादः कोपि कोविदानाम् । सा च प्रतिक्षणोत्पादिष्णुपर्यायपरम्परा अन्वयिद्रव्यात् कथंचिद् भिन्ना कथंचिदभिन्ना । तथा तदपि तस्याः स्याद् भिन्नं स्यादभिन्नम् । इति पृथक्प्रत्ययव्यपदेशविषयत्वाद् भेदः । द्रव्यस्यैव च तथा तथा परिणमनादभेदः । एतच्च सकलादेशविकलादेशव्याख्याने पुरस्तात् प्रपञ्चयिष्यामः ॥

शंका—जैन लोगोंने वासना और क्षण परम्पराको स्वीकार ही नहीं किया, फिर वासना और क्षण परम्परामें भेद, अभेद आदिके विकल्प करना असंगत है । **समाधान**—यह ठीक नहीं । क्योंकि स्याद्वादी लोगोंने प्रत्येक द्रव्यमें क्षण क्षणमें नयी नयी पर्यायोंकी परम्पराकी उत्पत्ति स्वीकार की है । इसीको जैन लोग क्षण परम्परा कहते हैं । इसी प्रकार अतीत, अनागत, और वर्तमान पर्यायोंका संबंध करानेवाला नित्य द्रव्य भी जैन लोगोंने माना है । इस नित्य द्रव्यको वासना भी कह सकते हैं । अतएव पर्याय परम्परा और क्षण परम्परा, तथा द्रव्य और वासनामें नाम मात्रका अन्तर है । प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली पर्याय परम्परा नित्य द्रव्यसे कथंचित् भिन्न है, और कथंचित् अभिन्न है । पर्याय द्रव्यसे भिन्न हैं, क्योंकि प्रत्येक पर्यायका भिन्न भिन्न ज्ञान होता है, तथा द्रव्य और पर्याय

अभिन्न हैं, क्योंकि एक ही द्रव्य भिन्न भिन्न रूप पर्यायोंको धारण करता है । अतएव वासना और क्षणसंततिको भी भिन्नाभिन्न ही स्वीकार करना चाहिये । द्रव्य और पर्यायके कथंचित् भेदाभेद का खुलासा सकलादेश और विकलादेशका स्वरूप वर्णन करनेके अवसरपर (२३ वें श्लोकमें) किया गया है ।

अपि च, बौद्धमते वासनापि तावन्न घटते, इति निर्विषया तत्र भेदादिविकल्पचिन्ता । तल्लक्षणं हि पूर्वक्षणेनोत्तरक्षणस्य वास्यता । न चास्थिराणां भिन्नकालतयान्योन्यासंबद्धानां च तेषां वास्यवासकभावो युज्यते । स्थिरस्य संबद्धस्य च वस्त्रादेर्मृगमदादिना वास्यत्वं दृष्टमिति ॥

बौद्धोंके मतमें ‘ वासना ’ ही सिद्ध नहीं होती, अतएव वासना और क्षण परम्परामें भेद आदिकी कल्पना निरर्थक है । बौद्ध लोग पूर्व क्षणमें उत्तर क्षणसे उत्पन्न होनेवाले ‘चित्त’ को वासना कहते हैं । परन्तु बौद्धोंके मतमें क्षण स्वयं अस्थिर हैं । इस लिये परस्पर भिन्न और असंबद्ध क्षणोंमें वास्य-वासक संबंध नहीं बन सकता । क्योंकि नित्य और कस्तूरीसे संबद्ध नित्य वस्त्रमें ही कस्तूरीसे वासना उत्पन्न हो सकती है ।

अथ पूर्वचित्तसहजात् चेतनाविशेषात् पूर्वशक्तिविशिष्टं चित्तमुत्पद्यते, सोऽस्य शक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासना । तथाहि । पूर्वचित्तं रूपादिविषयं प्रवृत्तिविज्ञानं[1] यत्तत् षड्विधं । पञ्च रूपादिविज्ञानान्यविकल्पकानि षष्ठं च विकल्पविज्ञानम् । तेन सह जातः समानकालश्चेतनाविशेषोऽहङ्कारास्पदमालयविज्ञानम् । तस्मात् पूर्वशक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासनेति ॥

शंका—पूर्व चित्तसे उत्पन्न चेतनाकी शक्तिसे युक्त दूसरा चित्त उत्पन्न होता है । इस चेतना शक्ति विशिष्ट चित्तका उत्पन्न होना वासना है । इस वासनासे वासक (पूर्व क्षण) और वास्य (उत्तर क्षण) में संबंध होता है । आलयविज्ञान भी इसी वासनाका नाम है । जिस प्रकार पवनके द्वारा समुद्रमें लहरें उठती हैं, उसी तरह अहंकार संयुक्त चेतना (आलयविज्ञान) में आलम्बन, समनन्तर, सहकारी और अधिपति प्रत्ययोंद्वारा[2] प्रवृत्ति विज्ञान रूप धर्म उत्पन्न होता है । शब्द आदि ग्रहण करनेवाले पूर्व चित्तको प्रवृत्ति विज्ञान कहते हैं । यह प्रवृत्ति विज्ञान शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और विकल्प विज्ञानके भेदसे छह प्रकारका है । शब्द, स्पर्श आदिको ग्रहण करनेवाले पांच विज्ञानोंको निर्विकल्पक (जिस ज्ञानमें विशेषाकार रूप नाना प्रकारके भिन्न भिन्न पदार्थ प्रतिभासित हों), और विकल्प विज्ञानको सविकल्पक (जिस ज्ञानमें सब पदार्थ विज्ञान रूप प्रतिभासित हों) कहा गया है । इन्हीं ज्ञानोंको बौद्ध लोग

---

[1] तत्रालयविज्ञानं नामाहमास्पदं विज्ञानं । नीलाद्युल्लेखि च विज्ञानं प्रवृत्तिविज्ञानम् ।

[2] तरंगा ह्युदधेर्यद्वत् पवनः प्रत्ययेरिताः । नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते विच्छेदश्च न विद्यते ॥
आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः । चित्रैस्तरंगाविज्ञानैः नृत्यमानः प्रवर्तते ॥
लंकावतारसूत्रे ११-९९, १०० ।

चित्त कहते हैं। सौत्रान्तिक बौद्धोंके मतमें प्रत्येक वस्तुके बाह्य और आन्तर दो भेद हैं। बाह्य भूत और भौतिकके भेदसे दो प्रकारका है। पृथ्वी आदि चार परमाणु भूत हैं, और रूप आदि और चक्षु आदि भौतिक हैं। आन्तर चित्त और चैत्तिकके भेदसे दो प्रकारका है। विज्ञानको चित्त अथवा चैत्तिक, और बाकीके रूप, वेदना, संज्ञा और संस्कार स्कन्धोंको चैत्त कहते हैं। प्रवृत्ति विज्ञानके साथ एक कालमें उत्पन्न होनेवाले अहंकारसे युक्त चेतनाको आलयविज्ञान कहते हैं। इस आलयविज्ञानसे पूर्व क्षणसे उत्पन्न चेतनाकी शक्ति विशिष्ट उत्तर चित्त उत्पन्न होता है। इसी आलयविज्ञानको वासना कहा है।

तदपि न। अस्थिरत्वाद्वासकेनासंबन्धाच्च। यश्चासौ चेतनाविशेषः पूर्वचित्तसहभावी, स न वर्तमाने चेतस्युपकारं करोति। वर्तमानस्याशक्यापनेयोपनेयत्वेनाविकार्यत्वात्। तद्धि यथाभूतं जायते तथाभूतं विनश्यतीति। नाप्यनागते उपकारं करोति। तेन सहासंबद्धत्वात्। असंबद्धं च न भावयतीत्युक्तम्। तस्मात् सौगतमते वासनापि न घटते। अत्र च स्तुतिकारेणाभ्युपेत्यापि ताम् अन्वयिद्रव्यस्थापनाय भेदाभेदादिचर्चा विरचितेति भावनीयम्॥

समाधान—यह ठीक नहीं। क्योंकि पूर्व और उत्तर चित्तों (प्रवृत्ति ज्ञान) का संबंध करानेवाला बौद्धोंका आलयविज्ञान (वासना) स्वयं क्षणिक है। अतएव क्षणिक आलयविज्ञानसे पूर्व और उत्तर क्षणोंमें संबंध नहीं बन सकता। तथा पूर्व चित्तके साथ उत्पन्न होनेवाली चेतना (आलयविज्ञान) वर्तमान चित्तको उत्पन्न नहीं कर सकती। क्योंकि बौद्धोंके मतमें वर्तमान चित्त क्षणिक होनेसे उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, अतएव पूर्व चित्तसे वर्तमान चित्त उत्पन्न नहीं हो सकता। इस चेतनासे भविष्यमें भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि चेतना भविष्यके साथ संबद्ध नहीं हो सकती। अतएव भविष्यसे असंबद्ध रहनेके कारण यह चेतना भविष्यमें किसी प्रकारकी वासना उत्पन्न नहीं कर सकती। इस लिये बौद्ध मतमें वासना नहीं बनती। यहां हेमचंद्र आचार्यने वासनाके असंभव होनेपर भी नित्य द्रव्यकी सिद्धि करनेके लिये भेद, अभेद आदिकी चर्चा उठाई है।

अथोत्तरार्द्धव्याख्या। तत इति पक्षत्रयेऽपि दोषसद्भावात् त्वदुक्तानि भवद्वचनानि भेदाभेदस्याद्वादसंवादपूतानि, परे कुतीर्थ्याः प्रकरणात् मायातनयाः श्रयन्तु आद्रियन्ताम्। अत्रोपमानमाह तटादर्शीत्यादि। तटं न पश्यतीति तटादर्शी। यः शकुन्तपोतः पक्षिशावकः तस्य न्यायं उदाहरणम् तस्मात्। यथा किल कथमप्यपारपारावारान्तःपतितः काकादिशकुनिशावको बहिर्निर्जिगमिषया प्रवहणकूपस्तम्भादेस्तटप्राप्तये मुग्धतयोड्डीनः, समन्ताज्जलैकार्णवमेवावलोकयंस्तटमदृष्ट्वैव निर्वेदाद् व्यावृत्य तदेव कूपस्तम्भादिस्थानमाश्रयते। गत्यन्तराभावात्। एवं तेऽपि कुतीर्थ्याः प्रागुक्तपक्षत्रयेऽपि वस्तुसिद्धिमनासादयन्तस्त्वदुक्तमेव चतुर्थं भेदाभेदपक्षमनिच्छयापि कक्षीकुर्वाणास्त्व-

च्छासनमेव प्रतिपद्यन्ताम्। न हि स्वस्य बलविकलतामाकलय्य बलीयसः प्रभोः शरणाश्रयणं दोषपोषाय नीतिशालिनाम्। त्वदुक्तानीति बहुवचनं सर्वेषामपि तन्त्रान्तरीयाणां पदे पदेऽनेकान्तवादप्रतिपत्तिरेव यथावस्थितपदार्थप्रतिपादनौपयिकं नान्यदिति ज्ञापनार्थम्। अनन्तधर्मात्मकस्य सर्वस्य वस्तुनः सर्वनयात्मकेन स्याद्वादेन विना यथावद् ग्रहीतुमशक्यत्वात्। इतरथान्धगजन्यायेन पल्लवग्राहिताप्रसङ्गात् ॥

अतएव भेद, अभेद और अनुभय तीनों पक्षोंके सदोष होनेसे कुतीर्थिक बौद्ध मतावलम्बियोंको आपके कहे हुए भेदाभेद रूप स्याद्वादका आश्रय लेना पड़ता है। जिस प्रकार किसी पक्षीका बच्चा अथाह और विशाल समुद्रके बीचमें पहुंच जानेपर अपनी मूर्खताके कारण जहाजके मस्तूल परसे उड़ कर समुद्रके किनारेपर वापिस आनेकी इच्छा करता है, परन्तु वह चारों तरफ जल ही जल देखता है और कहीं भी किनारेका कोई निशान न पा कर उपायान्तर न होनेसे फिरसे मस्तूलपर वापिस लौट जाता है, इसी प्रकार कुतीर्थिक बौद्ध लोगोंका सिद्धांत पूर्वोक्त तीनों पक्षोंसे सिद्ध न होनेपर बौद्ध लोगोंको भेदाभेद नामक चौथे पक्षको स्वीकार करनेकी अनिच्छा होनेपर भी अंतमें आपके ही मतका अवलम्बन लेना पड़ता है। अपने पक्षकी निर्बलता देख कर बलवान स्वामीका आश्रय लेनेसे नीतिज्ञ पुरुषोंका दोष नहीं समझा जाता। सम्पूर्ण वादी पद पदपर अनेकांत वादका आश्रय लेकर ही पदार्थोंका प्रतिपादन कर सकते हैं, यह बतानेके लिये श्लोकमें 'त्वदुक्तानि' पद दिया गया है। क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें अनन्त स्वभाव हैं, अतएव सम्पूर्ण नय स्वरूप स्याद्वादके विना किसी भी वस्तुका ठीक ठीक प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। अन्यथा जिस प्रकार जन्मके अंधे मनुष्य हाथीका स्वरूप जाननेकी इच्छासे हाथीके भिन्न भिन्न अवयवोंको टटोल कर हाथीके केवल कान, सूंड, पैर आदिको ही हाथी समझ बैठते हैं, उसी प्रकार एकान्ती लोग वस्तुके केवल एक अंशको जान कर उस वस्तुके एक अंश रूप ज्ञानको ही वस्तुका सर्वांशात्मक ज्ञान समझने लग जाते हैं।

श्रयन्तीति वर्तमानान्तं केचित्पठन्ति, तत्राप्यदोषः। अत्र च समुद्रस्थानीयः संसारः, पोतसमानं त्वच्छासनम्, कूपस्तम्भसंनिभः स्याद्वादः। पक्षिपोतोपमा वादिनः। ते च स्वाभिमतपक्षप्ररूपणोड्डयनेन मुक्तिलक्षणतटप्राप्तये कृतप्रयत्ना अपि तस्माद् इष्टार्थसिद्धिमपश्यन्तो व्यावृत्त्य स्याद्वादरूपकूपस्तम्भालङ्कृततावकीनशासनप्रवहणोपसर्पणमेव यदि शरणीकुर्वते, तदा तेषां भवार्णवाद् बहिर्निष्क्रमणमनोरथः सफलतां कलयति नापरथा ॥ इति काव्यार्थः ॥ १९ ॥

कुछ लोग 'श्रयन्तु' के स्थानपर 'श्रयन्ति' पढ़ते हैं। परन्तु दोनों पाठ ठीक हैं। समुद्रके मस्तूलपरसे उड़नेवाले पक्षीकी तरह वादी लोग अपने सिद्धांतको पुष्ट करके मोक्ष

प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु वे लोग अभीष्ट पदार्थोंकी सिद्धि न होते देख वापिस आ कर स्याद्वादसे शोभित आपके शासनका आश्रय लेते हैं। क्योंकि स्याद्वाद का सहारा लेकर ही वादी लोग संसार-समुद्रसे छुटकारा पा सकते हैं, अन्यथा नहीं। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें बौद्धोंकी 'वासना' पर विचार किया गया है। **बौद्ध**—प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमें नष्ट होता है, कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। जिस प्रकार दीपककी लौके प्रत्येक क्षणमें बदलते रहते हुए भी लौके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें एकसा ज्ञान होनेके कारण यह वही लौ है, यह ज्ञान होता है, वैसे ही पदार्थोंके प्रत्येक क्षणमें बदलते रहनेपर भी पदार्थोंके पूर्व और उत्तर क्षणोंमें एकसा ज्ञान होनेसे पदार्थकी एकताका ज्ञान होता है। पदार्थोंके प्रत्येक क्षणमें नष्ट होते हुए भी परस्पर भिन्न क्षणोंको जोड़नेवाली शक्तिको वासना, अथवा संतान कहते हैं। यह नाना क्षणोंकी परम्परा ही वासना है। इसी वासनाकी उत्तरोत्तर अनेक क्षण परंपराके कार्य-कारण संबंधसे कर्ता, भोक्ता आदिका व्यवहार होता है, वास्तवमें कर्ता और भोक्ता कोई नित्य पदार्थ नहीं है। **जैन**—वासना और क्षणसंतति परस्पर अभिन्न हैं, भिन्न हैं, अथवा अनुभय? (क) यदि वासना और क्षणसंतति अभिन्न हैं, तो दोंमेंसे एकको ही मानना चाहिये। (ख) यदि वासना और क्षणसंततिको भिन्न मानों, तो दोनोंमें कोई संबंध नहीं बन सकता। (ग) भिन्न और अभिन्न दोनों विकल्प स्वीकार न करके यदि वासना और क्षणसंतति भिन्न-अभिन्नके अभाव रूप मानो, तो अनेकांत मतको छोड़ कर दूसरे वादियोंके मतमें भेद और अभेदसे विलक्षण कोई तीसरा पक्ष नहीं बन सकता।

विज्ञानवादी बौद्ध—हम लोग आलयविज्ञानको वासना कहते हैं। अहंकार-संयुक्त चेतनाको आलयविज्ञान कहते हैं। आलयविज्ञानमें प्रवृत्ति विज्ञान रूप सम्पूर्ण धर्म कार्य रूपसे उत्पन्न होते हैं, इस आलयविज्ञानसे पूर्व क्षणसे उत्पन्न चेतनाकी शक्तिसे युक्त उत्तर क्षण उत्पन्न होता है। इसी आलयविज्ञान (वासना) से परस्पर भिन्न पूर्व और उत्तर क्षणोंमें संबंध होता है। **जैन**—क्षणिकवादी बौद्धोंके मतमें स्वयं आलयविज्ञान भी नित्य नहीं कहा जा सकता। अतएव क्षणिक आलयविज्ञान परस्पर असंबद्ध पूर्व और उत्तर क्षणोंको नहीं जोड़ सकता। इस लिये आलयविज्ञानसे पूर्व क्षणसे उत्तर क्षणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव बौद्धोंको पदार्थोंको सर्वथा अनित्य न मान कर कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य ही मानना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक क्षणमें नयी नयी उत्पन्न होनेकी अपेक्षा अनित्य है। तथा वस्तुकी क्षण क्षणमें पलटनेवाली भूत, भविष्य और वर्तमान पर्याय किसी नित्य द्रव्य (वासना) से परस्पर संबद्ध होती हैं, इस लिये प्रत्येक वस्तु अनित्य है।

एवं क्रियावादिनां[1] प्रावादुकानां कतिपयकुग्रहनिग्रहं विधाय सांप्रतमक्रियावादिनां लौकायतिकानां[2] मतं सर्वाधमत्वादन्ते उपन्यस्यन् तन्मतमूलस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यानुमानादिप्रमाणान्तरानङ्गीकारेऽकिंचित्करत्वप्रदर्शनेन तेषां प्रज्ञायाः प्रमादमादर्शयति—

इस प्रकार क्रियावादियों (आत्मवादी) के सिद्धांतोंका खंडन करके, आक्रियावादी (अनात्मवादी) चार्वाक लोगोंके मतका खंडन करते हुए, अनुमान आदि प्रमाणोंके विना प्रत्यक्ष प्रमाणकी असिद्धि बता कर चार्वाक लोगोंके ज्ञानकी मन्दता दिखाते हैं—

विनानुमानेन पराभिसन्धिमसंविदानस्य तु नास्तिकस्य
न साम्प्रतं वक्तुमपि क्व चेष्टा क्व दृष्टमात्रं च हहा प्रमादः ॥ २० ॥

श्लोकार्थ—अनुमानके विना चार्वाक लोग दूसरेका अभिप्राय नहीं समझ सकते। अतएव चार्वाक लोगोंको बोलनेकी चेष्टा भी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि चेष्टा और प्रत्यक्ष दोनों में बहुत अन्तर है।

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति मन्यते चार्वाकः। तन्न सन्नह्यते। अनु पश्चाद् लिङ्गसंबन्धग्रहणस्मरणानन्तरम् मीयते परिच्छिद्यते देशकालस्वभावविप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेण इत्यनुमानं। प्रस्तावात् स्वार्थानुमानम्[3]। तेनानुमानेन लैङ्गिकप्रमाणेन विना पराभिसंधिं पराभिप्रायम्, असंविदानस्य सम्यग् अजानानस्य। तुशब्दः पूर्ववादिभ्यो भेदद्योतनार्थः। पूर्वेषां वादिनामास्तिकतया विप्रतिपत्तिस्थानेषु क्षोदः कृतः। नास्तिकस्य तु वक्तुमपि नौचिती कुत एव तेन सह क्षोद इति तुशब्दार्थः। नास्ति परलोकः पुण्यम् पापम् इति वा मतिरस्य। "नास्तिकास्तिकदैष्टिकम्[4]" इति निपातनात् नास्तिकः। तस्य नास्तिकस्य लौकायतिकस्य। वक्तुमपि न सांप्रतं वचनमप्युच्चारयितुं नोचितम्। ततस्तूष्णींभाव एवास्य श्रेयान्। दूरे प्रामाणिकपरिषदि प्रविश्य प्रमाणोपन्यासगोष्ठी ॥

व्याख्यार्थ—चार्वाक—केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। इस लिये पांच इंद्रियोंके विषयके बाह्य कोई वस्तु नहीं है। जैन—जिसके द्वारा अविनाभाव संबंधके स्मरणपूर्वक देश, काल और स्वभाव संबंधी दूर पदार्थोंका ज्ञान हो, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं (अनु पश्चात् मीयते

---

[1] क्रियावादिनो नाम येषामात्मनोऽस्तित्वं प्रत्यविप्रतिपत्तिः। येत्वक्रियावादिनस्तेऽस्तीति क्रियाविशिष्टमात्मानं नेच्छन्त्येव, अस्तित्वे वा शरीरेण सहैकत्वान्यत्वाभ्यामवक्तव्यत्वमिच्छान्ति। उत्तराध्ययनसूत्रे २३, शीलांकटीकायां। [2] लोकाः निर्विचाराः सामान्यलोकास्तद्वदाचरन्ति स्मेति लोकायता लोकायतिका इत्यपि। बृहस्पतिप्रणीतमतत्वेन बार्हस्पत्याश्चेति। षड्दर्शनसमुच्चयोपरि गुणरत्नटीकायां पृ. १२२। [3] अनुमानं द्विविधं स्वार्थे परार्थे च। तत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारकं साध्यविधानं स्वार्थम्। पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्। प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे ३-१०, २३। [4] हैमसूत्रे ६-४-६६।

परिच्छिद्यते)। स्वार्थानुमान परोपदेशके विना होता है, और परार्थानुमानमें दूसरोंको समझानेके लिये पक्ष और हेतुका प्रयोग किया जाता है। अनुमान प्रमाणके विना दूसरोंका अभिप्राय समझमें नहीं आ सकता। अब तकके श्लोकोंमें आस्तिक मतका खंडन किया गया है। परलोक, पुण्य और पापको न माननेवाले नास्तिक चार्वाक लोग वचनोंका उच्चारण भी नहीं कर सकते, अतएव नास्तिकोंके लिये प्रामाणिक पुरुषोंकी सभासे दूर रह कर मौन रहना ही श्रेयस्कर है। "नास्तिकास्तिकदैष्टिकम्" इस निपात सूत्रसे नास्तिक शब्द बनता है।

वचनं हि परप्रत्यायनाय प्रतिपाद्यते। परेण चाप्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् नासौ सतामवधेयवचनो भवति, उन्मत्तवत्। ननु कथमिव तूष्णीकतैवास्य श्रेयसी यावता चेष्टाविशेषादिना प्रतिपाद्यस्याभिप्रायमनुमाय सुकरमेवानेन वचनोच्चारणम् इत्याशङ्क्याह। क्व चेष्टा क्व दृष्टमात्रं च इति। क्वेति बृहदन्तरे। चेष्टा इङ्गितम्। पराभिप्रायस्यानुमेयस्य लिङ्गम्। क्व च दृष्टमात्रम्। दर्शनं दृष्टं। भावे क्तः। दृष्टमेव दृष्टमात्रम् प्रत्यक्षमात्रम्। तस्य लिङ्गनिरपेक्षप्रवृत्तित्वात्। अत एव दूरमन्तरमेतयोः। न हि प्रत्यक्षेणातीन्द्रियाः परचेतोवृत्तयः परिज्ञातुं शक्याः, तस्यैन्द्रियकत्वात्। मुखप्रसादादिचेष्टया तु लिङ्गभूतया पराभिप्रायस्य निश्चये अनुमानप्रमाणमनिच्छतोऽपि तस्य बलादापतितम्। तथाहि। मद्वचनश्रवणाभिप्रायवानयं पुरुषः, तादृग् मुखप्रसादादिचेष्टान्यथानुपपत्तेरिति। अतश्च हहा प्रमादः। हहा इति खेदे। अहो तस्य प्रमादः प्रमत्तता, यदनुभूयमानमप्यनुमानं प्रत्यक्षमात्राङ्गीकारेणापह्नुते॥

दूसरोंको समझानेके लिये ही वचनोंका प्रयोग किया जाता है। दूसरेके अभिप्रायको न समझ कर अन्य अर्थको प्रतिपादन करनेवाले उन्मत्तकी तरह नास्तिकोंके वचन आदरणीय नहीं हो सकते। **शंका**—हम लोग अनुमान प्रमाणको माने विना ही दूसरोंकी चेष्टासे दूसरोंके अभिप्रायको समझ लेते हैं, इस लिये हमारे मतमें प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। **समाधान**—यह बात नहीं। क्योंकि दूसरेके अभिप्रायको बतानेवाली चेष्टामें और प्रत्यक्षसे किसी पदार्थको जाननेमें बहुत अन्तर है। क्योंकि चेष्टा दूसरेके अभिप्रायको जाननेमें लिंग है, और प्रत्यक्ष लिंगके विना ही उत्पन्न होता है। प्रत्यक्षसे इन्द्रियोंके बाह्य दूसरेके मनका अभिप्राय नहीं जाना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्षसे केवल इन्द्रिय-जन्य ज्ञान ही उत्पन्न होता है। अतएव मुख आदिकी चेष्टासे दूसरेके अभिप्रायको जाननेके लिये प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनुमान प्रमाणको अवश्य मानना चाहिये। कारण कि 'यह पुरुष मेरे वचनोंको सुनना चाहता है, क्योंकि इसके मुखपर अमुक प्रकारकी चेष्टा है,' इस प्रकारका ज्ञान अनुमानके विना नहीं होता। खेद है, कि चार्वाक लोग इस प्रकार अनुमान प्रमाणका अनुभव करते हुए भी अनुमानको उड़ा कर केवल प्रत्यक्षको ही स्वीकार करना चाहते हैं।

अत्र संपूर्वस्य वेत्तेरकर्मकत्वे एवात्मनेपदम्, अत्र तु कर्मास्ति तत्कथमत्रानश्। अत्रोच्यते। अत्र संवेदितुं शक्तः संविदान इति कार्यम्। "वयः शक्तिशीले" इति शक्तौ शानविधानात्। ततश्चायमर्थः। अनुमानेन विना पराभिसंहितं सम्यग् वेदितुमशक्तस्येति। एवं परबुद्धिज्ञानान्यथानुपपत्त्यायमनुमानं हठाद् अङ्गीकारितः॥

शंका—सं-विद् धातु अकर्मक होनेपर आत्मनेपदमें ही प्रयुक्त होती है, इस लिये यहां 'पराभिसन्धिम्' कर्मके होते हुए सं-विद् धातुमें 'आनश्' प्रत्यय हो कर 'संविदानस्य' शब्द नहीं बन सकता। समाधान जो जाननेके लिये समर्थ हो, उसे 'संविदान' कहते है [illegible] "वयःशक्तिशीले" सूत्रसे सामर्थ्यके अर्थमें 'शान' प्रत्यय होनेसे 'संविदान' शब्द बना है। इस लिये यहां यह अर्थ होता है, कि नास्तिक लोग दूसरे लोगोंके अभिप्रायको समझनेमें असमर्थ (असंविदानस्य) ह, अतएव दूसरेके अभिप्रायको जाननेके लिये अनुमान प्रमाण अवश्य मानना चाहिये।

तथा प्रकारान्तरेणाप्ययमङ्गीकारयितव्यः। तथाहि। चार्वाकः काश्चित् ज्ञानव्यक्तीः संवादित्वेनाव्यभिचारिणीरुपलभ्य, अन्याश्च विसंवादित्वेन व्यभिचारिणीः। पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञानव्यक्तीनामवश्यं प्रमाणतेतरते व्यवस्थापयेत्। न च संनिहितार्थबलेनोत्पद्यमानं पूर्वापरपरामर्शशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालभाविनीनां ज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं निमित्तमुपलक्षयितुं क्षमते। न चायं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां परं प्रति प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति। तस्माद् यथादृष्टज्ञानव्यक्तिसाधर्म्यद्वारेणेदानीन्तनज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकम् परप्रतिपादकं च प्रमाणान्तरमनुमानरूपमुपासीत। परलोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यः कर्तुम्। संनिहितमात्रविषयत्वात् तस्य। परलोकादिकं चाप्रतिषिध्य नायं सुखमास्ते, प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति डिम्भहेवाकः॥

(क) ज्ञानको सत्य होनेके कारण प्रमाण, और असत्य होनेके कारण अप्रमाण मान कर चार्वाक लोग केवल प्रत्यक्षके द्वारा कालान्तरमें सत्य और असत्य ज्ञानोंके प्रमाण और अप्रमाणका निश्चय नहीं कर सकते। क्योंकि प्रत्यक्ष केवल इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है, वह पूर्व और उत्तर अवस्थाओंका विचार नहीं कर सकता, अतएव प्रत्यक्षसे पूर्व और उत्तर कालमें होनेवाले ज्ञानोंके प्रामाण्य और अप्रामाण्यका निश्चय नहीं हो सकता। (ख) चार्वाक लोग केवल प्रत्यक्षसे दूसरोंके प्रति ज्ञानको प्रमाण अथवा अप्रमाण नहीं ठहरा सकते। अतएव पूर्व कालमें जाने हुए ज्ञानकी समानता देख कर वर्तमान कालके ज्ञानको प्रमाण अथवा अप्रमाण ठहराने के लिये प्रत्यक्षके अतिरिक्त कोई दूसरा प्रमाण अवश्य मानना चाहिये।

---

१ हैमसूत्रे ५-२-२४

प्रत्यक्षके अतिरिक्त दूसरा प्रमाण अनुमान ही हो सकता है। (ग) प्रत्यक्ष प्रमाणसे परलोक आदिका निषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष पासके पदार्थोंको ही जान सकता है। परलोकका अभाव माने विना चार्वाक लोगोंको शांति नहीं मिलती, और साथ ही वे लोग प्रत्यक्षके अतिरिक्त अन्य प्रमाण न मानने की भी हठ करते हैं, यह कैसी बाल चेष्टा है।

किञ्च, प्रत्यक्षस्याप्यर्थाव्यभिचारादेव प्रामाण्यम्। कथमितरथा स्नानपानावगाहनाद्यर्थक्रियाऽसमर्थे मरुमरीचिकानिचयचुम्बिनि जलज्ञाने न प्रामाण्यम्। तच्च अर्थप्रतिबद्धलिङ्गशब्दद्वारा समुन्मज्जतोरनुमानागमयोरप्यर्थाव्यभिचारादेव किं नेष्यते। व्यभिचारिणोरप्यनयोर्दर्शनाद् अप्रामाण्यमिति चेत्, प्रत्यक्षस्यापि तिमिरादिदोषाद् निशीथिनीनाथयुगलावलम्बिनोऽप्रमाणस्य दर्शनात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसङ्गः। प्रत्यक्षाभासं तदिति चेत्, इतरत्रापि तुल्यमेतत् अन्यत्र पक्षपातात्। एवं च प्रत्यक्षमात्रेण वस्तुव्यवस्थानुपपत्तेः। तन्मूला जीवपुण्यापुण्यपरलोकनिषेधादिवादा अप्रमाणमेव॥

तथा, प्रत्यक्षकी सत्यता अनुमान प्रमाणसे ही जानी जाती है। क्योंकि मृगतृष्णामें जलका प्रत्यक्ष होनेपर भी उस जलसे स्नान, पान आदि क्रियायें नहीं हो सकतीं, अतएव मृगतृष्णाका ज्ञान प्रमाण नहीं कहा जा सकता। इससे मालूम होता है, कि पदार्थोंका निर्दोष ज्ञान करनेके कारण ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। अतएव यदि प्रत्यक्षसे देखा हुआ जल स्नान, पान आदि अर्थक्रियाओंको कर सके, तभी प्रत्यक्षको प्रमाण कह सकते हैं। यदि मृगतृष्णाकी तरह प्रत्यक्षसे देखा हुआ जल अर्थक्रिया नहीं कर सकता, तो उस प्रत्यक्षको प्रमाण नहीं कह सकते। अतएव यदि पदार्थोंका निर्दोष ज्ञान करनेके कारण चार्वाक लोग प्रत्यक्ष ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, तो प्रत्यक्षकी तरह उन्हें पदार्थोंका निर्दोष ज्ञान करनेवाले अनुमान और आगमको भी प्रमाण मानना चाहिये। क्योंकि अनुमान और आगम ज्ञानमें भी प्रत्यक्षकी तरह पदार्थोंका निश्चित ज्ञान होता है। यदि कहो, कि अनुमान और आगम सदा निर्दोष नहीं होते, इस लिये उन्हें प्रमाण नहीं माना जा सकता, तो इस प्रकार प्रत्यक्षमें भी नेत्र रोगके कारण एक चन्द्रमाका दो चन्द्रमा रूप ज्ञान होता है, इस लिये प्रत्यक्षको भी प्रमाण नहीं मानना चाहिये। यदि कहो, कि नेत्र रोगके कारण एक चन्द्रमाके स्थानपर दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं, इस लिये एक चन्द्रमामें दो चन्द्रका ज्ञान प्रत्यक्षाभास है, तो इसी तरह हम सदोष अनुमानको अनुमानाभास, और सदोष आगमको आगमाभास कहते हैं। अतएव केवल प्रत्यक्ष प्रमाणसे पदार्थोंका निश्चित स्वरूप नहीं जाना सकता, इस लिये प्रत्यक्ष प्रमाणका अवलम्बन लेकर जीव, पुण्य, पाप, परलोक आदिका निषेध नहीं किया जा सकता।

एवं नास्तिकाभिमतो भूतचिद्वादोऽपि निराकार्यः। तथा च द्रव्यालङ्कारकारौ उपयोगवर्णने—"न चायं भूतधर्मः सत्त्वकठिनत्वादिवद् मद्याङ्गेषु भ्रम्यादिमदशक्ति-

वद् वा प्रत्येकमनुपलम्भात् । अनभिव्यक्तावात्मसिद्धिः । कायाकारपरिणतेभ्यस्तेभ्यः स उत्पद्यते इति चेत्, कायपरिणामोऽपि तन्मात्रभावी न कादाचित्कः । अन्यस्त्वात्मैव स्यात् । अहेतुत्वे न देशादिनियमः । मृतादपि च स्यात् । शोणिताद्युपाधिः सुप्तादावप्यस्ति । न च सतस्तस्योत्पत्तिः । भूयोभूयः प्रसङ्गात् । अलब्धात्मनश्च प्रसिद्धमर्थक्रियाकारित्वं विरुध्यते । असतः सकलशक्तिविकलस्य कथमुत्पत्तौ कर्तृत्वम् । अन्यस्यापि प्रसङ्गात् । तन्न भूतकार्यमुपयोगः ॥

नास्तिक लोगोंका भौतिकवाद भी नहीं बनता है । द्रव्यालंकारके कर्ता उपयोगका वर्णन करते समय कहते हैं, " पृथिवी आदिके अस्तित्व और कठिनत्व आदि धर्मोंकी तरह चैतन्य पांच भूतों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) का विकार नहीं है । यदि चैतन्य पंचभूतोंका विकार होता, तो जिस प्रकार मादक शक्ति प्रत्येक मादक पदार्थोंमें पायी जाती है, उसी प्रकार चेतन शक्तिको भी प्रत्येक पदार्थमें उपलब्ध होना चाहिये था । अतएव आत्मा कोई अलग पदार्थ है । **चार्वाक**—जिस समय पृथिवी आदि शरीर रूपमें परिणत होते हैं, उस समय उनमें चैतन्य उत्पन्न हो जाता है । **जैन**—यह ठीक नहीं । क्योंकि यदि आप लोग पृथिवी आदिके मिलनेसे ही शरीरका परिणमन मानते हैं, तो वह सदा रहना चाहिये, और यदि पृथिवी आदिके अतिरिक्त चैतन्य कोई भिन्न वस्तु है, तो उसे आत्मा कहना चाहिये । यदि कहो, कि शरीर रूपमें परिणमन होनेसे पृथिवी आदिमें चैतन्यकी उत्पत्ति होती है, तो मृतक पुरुषमें भी चैतन्य पाया जाना चाहिये, क्योंकि वहां भी पृथिवी आदिका काय रूप परिणमन मौजूद है, इस लिये मृतक पुरुषमें भी ज्ञान होना चाहिये । यदि कहो, मृतक पुरुषमें रक्तका संचार नहीं होता, अतएव मुर्देमें चेतन शक्तिका अभाव है, तो सोते हुए मनुष्यमें रक्तका संचार होनेपर भी उसे ज्ञान क्यों नहीं होता? तथा, आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होती, अतएव यदि आप लोग पंचभूतोंसे आत्माकी उत्पत्ति मानें तो, आत्माके अस्तित्व होते हुए भी आत्माकी बारबार उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि अस्तित्वके रहते हुए उत्पत्तिका कोई विरोध नहीं है । यदि कहो, कि पहले आत्माका अस्तित्व नहीं था, पंचभूतोंके संयोगसे ही आत्माकी उत्पत्ति होती है, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि जिस पदार्थका सर्वथा अभाव है, और जो सर्व शक्तिसे रहित है, वह उत्पन्न नहीं हो सकता, अतएव चैतन्यको भौतिक नहीं मानना चाहिये ।

कुतस्तर्हि सुप्तोत्थितस्य तदुदयः । असंवेदनेन चैतन्यस्याभावात् । न । जाग्रदवस्थानुभूतस्य स्मरणात् । असंवेदनं तु निद्रोपघातात् । कथं तर्हि कायविकृतौ चैतन्यविकृतिः । नैकान्तः । श्वित्रादिना कश्मलवपुषोऽपि बुद्धिशुद्धेः । अविकारे च भावनाविशेषतः प्रीत्यादिभेददर्शनात् । शोकादिना बुद्धिविकृतौ कायविकारादर्शनाच्च । परिणामिनो विना च न कार्योत्पत्तिः । न च भूतान्येव तथा परिण-

मन्ति। विजातीयत्वात्। काठिन्यादेरनुपलम्भात्। अणव एवेन्द्रियग्राह्यत्वरूपां स्थूलतां प्रतिपद्यन्ते तज्जात्यादि चोपलभ्यते। तन्न भूतानां धर्मः फलं वा उपयोगः। तथा भवांश्च यदाक्षिपति तदस्य लक्षणम्। स चात्मा स्वसंविदितः। भूतानां तथाभावे बहिर्मुखं स्याद्। गौरोऽहमित्यादि तु नान्तर्मुखं। बाह्यकरणजन्यत्वात्। अनभ्युपगतानुमानप्रामाण्यस्य चात्मनिषेधोऽपि दुर्लभः।

धर्मः फलं च भूतानाम् उपयोगो भवेद् यदि।
प्रत्येकमुपलम्भः स्यादुत्पादो वा विलक्षणात्॥"

इति काव्यार्थः॥ २०॥

शंका—यदि पृथिवी आदि पांच भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं होती, तो सो कर उठनेवाले पुरुषमें चेतन शक्ति कहांसे आती है, क्योंकि सोनेके समय पूर्व चेतन शक्ति नष्ट हो जाती है। **समाधान**—सो कर उठनेके पश्चात् हमें जाग्रत अवस्थामें अनुभूत पदार्थोंका ही स्मरण होता है। सोते समय चेतन शक्ति नष्ट नहीं होती, किन्तु उस शक्तिका निद्राके उदयसे आच्छादन हो जाता है। **शंका**—यदि शरीर और चैतन्यका कोई संबंध नहीं है, तो शरीरमें विकार उत्पन्न होनेसे चेतनामें विकार क्यों होता है? **समाधान**—यह एकांत नियम नहीं है। क्योंकि बहुतसे कोढ़ी पुरुष भी बुद्धिमान होते हैं, और शरीरमें किसी प्रकारका विकार न होनेपर भी बुद्धिमें राग, द्वेष आदिका विकार पाया जाता है, इसी तरह शोक आदिसे बुद्धिमें विकार होनेपर भी शरीरमें विकार नहीं देखा जाता। अतएव बुद्धिमें परिणमन करनेवाला कोई परिणामी अवश्य मानना चाहिये। तथा, पृथिवी आदि पंचभूतोंका चैतन्य रूप परिणमन मानना ठीक नहीं, क्योंकि पृथिवी आदि चैतन्यके विजातीय हैं, कारण कि पृथिवी आदिकी तरह चैतन्यमें काठिन्य आदि गुण नहीं पाये जाते। परमाणु इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञात होनेपर स्थूल पर्यायको धारण करते हैं, अतएव स्थूल पर्यायको प्राप्त करनेपर भी परमाणुओंकी जातिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। अतएव चैतन्य पृथिवी आदि पांच भूतोंका धर्म अथवा फल नहीं कहा जा सकता। तथा, आप लोग जिसके ऊपर आक्षेप करते हैं, हम उसे ही आत्मा कहते हैं। आत्मा अनुभवका विषय है। यदि आत्मा भूतोंसे उत्पन्न हो, तो 'मैं गोरा हूं' यह अंतर्मुख ज्ञान न हो कर 'यह गोरा है' इस प्रकारका बहिर्मुख ज्ञान होना चाहिये। तथा, विना अनुमानके आत्माका निषेध नहीं किया जा सकता। अतएव यदि चैतन्य (उपयोग) पृथिवी आदि भूतोंका धर्म या कार्य हो, तो प्रत्येक पदार्थमें चैतन्यका अनुभव होना चाहिये, और विजातीय पदार्थोंसे सजातीय पदार्थोंकी उत्पत्ति होनी चाहिये"। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—चार्वाक (१) प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। अतएव पांच इन्द्रियोंके बाह्य कोई वस्तु नहीं है। इस लिये स्वर्ग, नरक और मोक्षका सद्भाव नहीं मानना चाहिये।

वास्तवमें कण्टक आदिसे उत्पन्न होनेवाले दुखको नरक कहते हैं, प्रजाके नियन्ता राजाको ईश्वर कहते हैं, और देहको छोड़नेको मोक्ष कहते हैं। अतएव मनुष्य जीवनको खूब आनन्दसे बिताना चाहिये, कारण कि मरनेके बाद फिर संसारमें जन्म नहीं होता। **जैन**—अनुमान प्रमाणके विना दूसरेके मनका अभिप्राय माळूम नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्यक्षसे इन्द्रियोंके बाह्य दूसरोंका अभिप्राय नहीं जाना जा सकता। 'यह पुरुष मेरे वचनोंको सुनना चाहता है, क्योंकि इसके मुँहपर अमुक प्रकारकी चेष्टा दिखाई देती है' इस प्रकारका ज्ञान अनुमानके विना नहीं हो सकता। तथा, विना अनुमान प्रमाणके ज्ञानके प्रामाण्य और अप्रामाण्यका भी निश्चय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, प्रत्यक्षकी सत्यता भी अनुमानसे ही जानी जाती है। इस लिये अनुमान अवश्य मानना चाहिये।

चार्वाक—(२) जिस प्रकार मादक पदार्थोंसे मद शक्ति पैदा होती है, वैसे ही पृथिवी आदि भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है। पांच भूतोंके नाश होनेसे चैतन्यका भी नाश हो जाता है, इस लिये आत्मा कोई वस्तु नहीं है। आत्माके अभाव होनेसे धर्म, अधर्म, और पुण्य, पाप भी कोई वस्तु नहीं ठहरते। **जैन**—यदि मादक शक्तिकी तरह चैतन्यको पांच भूतोंका विकार माना जाय, तो जिस तरह मद शक्ति प्रत्येक मादक पदार्थमें पायी जाती है, वैसे ही चेतन शक्तिको भी प्रत्येक पदार्थमें उपलब्ध होना चाहिये। तथा, यदि पृथिवी आदिसे चेतन शक्ति उत्पन्न होती हो, तो मृतक पुरुषमें भी चेतना माननी चाहिये। इसके अतिरिक्त, पृथिवी आदि चैतन्यके विजातीय हैं, क्योंकि चैतन्यमें पृथिवीके काठिन्य आदि गुण नहीं पाये जाते। अतएव चेतना शक्तिको भौतिक विकार नहीं मान कर आत्माको स्वतंत्र पदार्थ मानना चाहिये।

एवमुक्तयुक्तिभिरेकान्तवादप्रतिक्षेपमाख्याय साम्प्रतमनाद्यविद्यावासनाप्रवासिततसन्मतयः प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणमप्यनेकान्तवादं येऽवमन्यन्ते तेषामुन्मत्ततामाविर्भावयन्नाह—

इस प्रकार एकान्तवादका खंडन करके, अनादि विद्याकी वासनासे मलिन बुद्धिवाले जो लोग अनेकांतको प्रत्यक्षसे देखते हुए भी उसकी अवमानना करते हैं, उनकी उन्मत्तताका प्रदर्शन करते हैं—

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगिस्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः।
जिन त्वदाज्ञामवमन्यते यः स वातकी नाथ पिशाचकी वा ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ—हे नाथ, प्रत्येक क्षणमें उत्पन्न और नाश होनेवाले पदार्थोंको प्रत्यक्षसे स्थिर देख कर भी, वातरोग अथवा पिशाचसे ग्रस्त लोगोंकी तरह मूर्ख लोग आपकी आज्ञाकी अवहेलना करते हैं।

प्रतिक्षणं प्रतिसमयम् । उत्पादेनोत्तराकारस्वीकाररूपेण विनाशेन च पूर्वाकारपरिहारलक्षणेन युज्यत इत्येवंशीलं प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि । किं तत् । स्थिरैकं कर्मतापन्नं । स्थिरमुत्पादविनाशयोरनुयायित्वात् त्रिकालवर्ति यदेकं द्रव्यं स्थिरैकम् । एकशब्दोऽत्र साधारणवाची । उत्पादे विनाशे च तत्साधारणम् अन्वयिद्रव्यत्वात् । यथा चैत्रमैत्रयोरेका जननी साधारणेत्यर्थः । इत्थमेव हि तयोरेकाधिकरणता । पर्यायाणां कथञ्चिदनेकत्वेऽपि तस्य कथञ्चिदेकत्वात् । एवं त्रयात्मकं वस्तु अध्यक्षमपीक्षमाणः प्रत्यक्षमवलोकयन् अपि । हे जिन रागादिजैत्र । त्वदाज्ञाम् आ सामस्त्येनानन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुद्धचन्ते जीवाजीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा आगमः शासनं, तवाज्ञा त्वदाज्ञा तां त्वदाज्ञां भवत्प्रणीतस्याद्वादमुद्राम् । यः कश्चिदविवेकी अवमन्यतेऽवजानाति । जात्यपेक्षमेकवचनमवज्ञया वा । स पुरुषपशुर्वातकी पिशाचकी वा । वातो रोगविशेषोऽस्यास्तीति वातकी वातकीव वातकी वातूल इत्यर्थः । एवं पिशाचकीव पिशाचकी भूताविष्ट इत्यर्थः ॥

व्याख्यार्थ—प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण उत्तर पर्यायोंके होनेसे उत्पन्न (उत्पाद) और पूर्व पर्यायोंके नाश होनेसे नष्ट (व्यय) हो कर भी स्थिर रहता है। जिस प्रकार चैत्र और मैत्र दोनों भाईयोंका अधिकरण एक माता है, उसी तरह उत्पाद और विनाश दोनोंका अधिकरण एक ही द्रव्य है, इस लिये उत्पाद और विनाशके रहते हुए भी द्रव्य सदा स्थिर रहता है। क्योंकि उत्पाद और व्यय रूप पर्यायोंके कथंचित् अनेक होनेपर भी द्रव्य कथंचित् एक माना गया है। इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप पदार्थोंको प्रत्यक्षसे देख कर भी वात रोग अथवा पिशाचसे ग्रस्त लोगोंकी तरह मूर्ख लोग आपकी अनेकान्त रूप आज्ञाका उल्लंघन करते हैं।

अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थः उपमानार्थो वा। स पुरुषापसदो वातकिपिशाचकिभ्यामधिरोहति तुलामित्यर्थः। “ वातातीसारपिशाचात्कश्चान्तः ” इत्यनेन मत्वर्थीयः कश्चान्तः। एवं पिशाचकीत्यपि। यथा किल वातेन पिशाचेन वाक्रान्तवपुर्वस्तुतत्त्वं साक्षात्कुर्वन्नपि तदावेशवशात् अन्यथा प्रतिपद्यते एवमयमप्येकान्तवादापस्मारपरवश इति। अत्र च जिनेति साभिप्रायम्। रागादिजेतृत्वाद् हि जिनः। ततश्च यः किल विगलितदोषकालुष्यतयावधेयवचनस्यापि तत्रभवतः शासनमवमन्यते तस्य कथं नोन्मत्ततेति भावः। नाथ हे स्वामिन्। अलब्धस्य सम्यग्दर्शनादेर्लम्भकतया लब्धस्य च तस्यैव निरतिचारपरिपालनोपदेशदायितया च योगक्षेमकरत्वोपपत्तेर्नाथः। तस्यामन्त्रणम् ॥

---

१ हैमसूत्रे ७-२-६१। २ अपस्मर्यते पूर्ववृत्तं विस्मर्यतेऽनेन। रोगविशेषः।

तमःप्रवेशो संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतेः।
अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः॥

शब्दकल्पद्रुमे।

यहां 'वा' शब्द समुच्चय अथवा उपमान अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इस लिये यह अर्थ होता है, कि आपकी आज्ञाको उल्लंघन करनेवाले अधम पुरुष वातकी (वात रोगसे ग्रस्त) अथवा पिशाचकी (पिशाचसे ग्रस्त) की तरह हैं। यहां "वातातीसारपिशाचात्कश्चान्तः" सूत्रसे वात और पिशाच शब्दसे मत्वर्थमें इन् प्रत्यय हो कर अन्तमें 'क' लग जाता है। जिस प्रकार वात और पिशाचसे ग्रस्त पुरुष पदार्थोंको देखते हुए भी उन्हें वात और पिशाचके आवेशमें अन्यथा रूपसे प्रतिपादन करता है, वैसे ही एकान्तवाद रूपी अपस्मार (मृगी) से पीड़ित मनुष्य प्रत्येक पदार्थमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अवस्थायें देख कर भी उन्हें अन्यथा रूपसे प्रतिपादन करता है। श्लोकमें 'जिन' शब्दका प्रयोग विशेष अर्थ बतानेके लिये किया गया है। जिसने राग, द्वेष आदि दोषोंको जीत लिया है, उसे जिन कहते हैं। अतएव आपके वचनोंके निर्दोष होनेपर भी जो लोग उनकी अवज्ञा करते हैं, उन्हें उन्मत्त ही कहना चाहिये। हे स्वामिन्, आप सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेवाले और उसे निरतिचार पालन करनेका उपदेश देनेवाले होनेके कारण सुख और शांतिके दाता हैं, इस लिये आप नाथ हैं।

वस्तुतत्त्वं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्। तथाहि। सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते विपद्यते वा। परिस्फुटमन्वयदर्शनात्। लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्। प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात्। न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः। सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात्।

"सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात्" ॥

इति वचनात् ॥

प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है। क्योंकि द्रव्यकी अपेक्षासे कोई वस्तु न उत्पन्न होती है, और न नाश होती है। कारण कि द्रव्यमें भिन्न भिन्न पर्यायोंके उत्पन्न और नाश होनेपर भी द्रव्य एकसा दिखाई देता है। **शंका**—नख आदि काटे जानेपर फिरसे बढ़ जानेसे पहिले जैसे दिखाई देते हैं, परन्तु वास्तवमें बढ़े हुए नख पहले नखोंसे भिन्न हैं। इसी तरह सम्पूर्ण पर्याय नयी नयी उत्पन्न होती हैं। इस लिये पर्यायोंको द्रव्यकी अपेक्षा एक मानना ठीक नहीं है। **समाधान**—यह ठीक नहीं। कारण कि फिरसे पैदा हुए नख पहले नखोंसे भिन्न हैं, इस लिये नख आदिके दृष्टांतमें प्रत्यक्षसे विरोध आता है। परन्तु उत्पाद और नाशके होते हुए द्रव्यका एकसा अवस्थित रहना प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे सिद्ध है। कहा भी है "प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमें बदलते रहते हैं, फिर भी उनमें सर्वथा भिन्नपना नहीं होता। पदार्थोंमें आकृति और जातिसे ही अनित्यपना और नित्यपना होता है।"

ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः। पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते च। अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात्। न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः। तस्य स्खलद्रूपत्वात्। न खलु सोऽस्खलद्रूपो येन पूर्वाकारविनाशाजहद्धृतोत्तराकारोत्पादाविनाभावी भवेत्। न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरम्परानुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद् बाधकस्याभावात्॥

अतएव द्रव्यकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तु स्थिर है, केवल पर्यायकी दृष्टिसे पदार्थोंमें उत्पत्ति और नाश होता है। हमें पर्यायोंके उत्पाद और व्ययका अनुभव होता है - शंका—नेत्र रोगके कारण सफेद शंख पीत वर्णका दिखाई पड़ता है, इस लिये यह नहीं कहा जा सकता, कि पर्यायोंके उत्पाद और नाशका अनुभव सच्चा है। **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि सफेद शंखमें पीलेपनका ज्ञान मिथ्या ज्ञान है, कारण कि नेत्र रोगके दूर होनेपर वह ज्ञान हमें असत्य मालूम होता है। शंखमें पीलेपनका ज्ञान कभी कभी होता है, इस लिये इस ज्ञानको उत्पत्ति और विनाशका आधार नहीं कह सकते। जीव आदि पदार्थोंमें हर्ष, क्रोध, उदासीनता आदि पर्यायोंकी परम्परा मिथ्या नहीं कही जा सकती, क्योंकि हमें उन पर्यायोंके मिथ्या होनेका अनुभव नहीं होता।

ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते न वा ? यदि भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तु त्रयात्मकम्। न भिद्यन्ते चेत् तथापि कथमेकं त्रयात्मकम्। तथा च—

“ यद्युत्पादादयो भिन्नाः कथमेकं त्रयात्मकम्।
अथोत्पादादयोऽभिन्नाः कथमेकं त्रयात्मकम् ”॥

इति चेत्। तदयुक्तं। कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात्। तथाहि। उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद् भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपादिवदिति। न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम्। असत आत्मलाभः सतः सत्तावियोगः द्रव्यरूपतयानुवर्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परमसंकीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव॥

शंका—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्न हैं, या अभिन्न ? यदि उत्पाद आदि परस्पर भिन्न हैं, तों वस्तुका स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप नहीं कहा जा सकता। यदि वे परस्पर अभिन्न हैं, तो उत्पाद आदिमेंसे किसी एकको ही स्वीकार करना चाहिये। कहा भी है, “ यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्न हैं, तो वे तीन रूप नहीं कहे जा सकते। यदि उत्पाद आदि अभिन्न हैं, तो उन्हें तीन रूप न मान कर एक ही मानना चाहिये ” **समाधान**—यह ठीक नहीं। क्योंकि हम लोग उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यमें कथंचित् भेद मानते हैं। अतएव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका लक्षण भिन्न भिन्न है, इस लिये रूप आदिकी तरह उत्पाद आदि कथंचित् भिन्न हैं। उत्पाद आदिका भिन्न

लक्षणपना असिद्ध नहीं है। क्योंकि असत्की उत्पत्तिको उत्पाद, सत्के विनाशको व्यय, तथा द्रव्यके एकसे रहनेको ध्रौव्य कहते हैं।

न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षाः खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः। तथाहि। उत्पादः केवलो नास्ति। स्थितिविगमरहितत्वात् कूर्मरोमवत्। तथा विनाशः केवलो नास्ति। स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात् तद्वत्। एवं स्थितिः केवला नास्ति। विनाशोत्पादशून्यत्वात् तद्वदेव। इत्यन्योऽन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम्। तथा चोक्तम्—

"घंटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥ १ ॥
पयोव्रतो न दध्यात्ति न पयोऽत्ति दाधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ॥ २ ॥"

इति काव्यार्थः ॥ २१ ॥

उत्पाद आदि परस्पर भिन्न हो कर भी एक दूसरेसे निरपेक्ष नहीं हैं। यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको एक दूसरेसे निरपेक्ष मानें, तो उनका आकाश-पुष्पकी तरह अभाव मानना पड़े। अतएव जैसे कछुवेकी पीठपर बालोंके नाश और स्थितिके विना, बालोंका केवल उत्पाद होना संभव नहीं है, उसी तरह व्यय और ध्रौव्यसे रहित केवल उत्पादका होना नहीं बन सकता। इसी प्रकार कछुवेके बालोंकी तरह उत्पाद और ध्रौव्यसे रहित केवल व्यय, तथा उत्पाद और नाशसे रहित केवल स्थिति भी संभव नहीं है। अतएव एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप वस्तुका लक्षण स्वीकार करना चाहिये। समंतभद्र आचार्यने कहा भी है, " घडे, मुकुट और सोनेके चाहनेवाले पुरुष घड़ेके नाश, मुकुटके उत्पाद, और सोनेकी स्थितिमें क्रमसे शोक, हर्ष और माध्यस्थ भाव रखते हैं। तथा दूधका व्रत रखनेवाला पुरुष दही नहीं खाता, दहीका नियम लेनेवाला पुरुष दूध नहीं पीता, और गोरसका व्रत लेनेवाला पुरुष दूध और दही दोनों नहीं खाता, इस लिये प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है।" यहां उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको दृष्टांतसे समझाया गया है। एक राजाके एक पुत्र और एक पुत्री थी। राजाकी पुत्रीके पास एक सोनेका घड़ा था, राजाके पुत्रने उस घड़ेको तुड़वा कर उसका मुकुट बनवा लिया। घड़ेके नष्ट होनेपर (व्यय) राजाकी पुत्रीको शोक हुआ, मुकुटकी उत्पत्ति होनेसे (उत्पाद) राजाके पुत्रको हर्ष हुआ, तथा राजा दोनों अवस्थाओंमें मध्यस्थ था (ध्रौव्य), इस लिये राजाको शोक और हर्ष दोनों नहीं हुए। इससे मालूम होता है, कि प्रत्येक वस्तुमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों अवस्थायें मौजूद रहती हैं। इसी प्रकार दूधका व्रती दही, और दहीका व्रती दूध, और गोरसका व्रती दही और दूध दोनों नहीं खाता है। इस लिये प्रत्येक वस्तु तीनों रूप है। यह श्लोकका अर्थ है।

---

१ आप्तमीमांसायां ५९, ६०।

भावार्थ—जैन दर्शनके अनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही वस्तुका लक्षण है (उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्) । वेदान्ती लोगोंके अनुसार वस्तु तत्व सर्वथा नित्य, और बौद्धोंके अनुसार प्रत्येक वस्तु सर्वथा क्षणिक है। परन्तु जैन लोगोंका मत है, कि प्रत्येक वस्तुमें उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं, इस लिये पर्यायकी अपेक्षा वस्तु अनित्य है, तथा उत्पत्ति और नाश होते हुए भी हमें वस्तुकी स्थिरताका भान होता है, अतएव द्रव्यकी अपेक्षा वस्तु नित्य है। अतएव जैन दर्शनमें प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य, और कथंचित् अनित्य स्वीकार की गई है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर कथंचित् भिन्न हो कर भी सापेक्ष हैं। जिस प्रकार नाश और स्थितिके विना केवल उत्पाद संभव नहीं है, तथा उत्पाद और स्थितिके विना नाश संभव नहीं है, उसी तरह उत्पाद और नाशके विना स्थिति भी संभव नहीं। अतएव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको ही वस्तुका लक्षण मानना चाहिये।

अथान्ययोगव्यवच्छेदस्य प्रस्तुतत्वात् आस्तां तावत्साक्षाद् भवान्, भवदीयप्रवचनावयवा अपि परतीर्थिकतिरस्कारबद्धकक्षा इत्याशयवान् स्तुतिकारः स्याद्वादव्यवस्थापनाय प्रयोगमुपन्यस्यन् स्तुतिमाह—

साक्षात् भगवानकी बात तो दूर रही, भगवानके उपदेशके कुछ अंश ही कुवादियोंको पराजित करनेमें समर्थ हैं, इस लिये स्तुतिकार हेमचन्द्र आचार्य स्याद्वादका प्रतिपादन करते हैं—

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम्।
इति प्रमाणान्यपि ते कुवादिकुरङ्गसंत्रासनसिंहनादाः॥ २२॥

श्लोकार्थ—प्रत्येक पदार्थम अनन्त धर्म मौजूद हैं, पदार्थोंमें अनन्त धर्म माने विना वस्तुकी सिद्धि नहीं होती। अतएव आपके प्रमाण वाक्य कुवादी रूप मृगोंको डरानेके लिये सिंहकी गर्जनाके समान हैं।

तत्त्वं परमार्थभूतं वस्तु जीवाजीवलक्षणम् अनन्तधर्मात्मकमेव। अनन्तास्त्रिकालविषयत्वाद् अपरिमिता ये धर्माः सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्यायाः। त एवात्मा स्वरूपं यस्य तदनन्तधर्मात्मकम्। एवकारः प्रकारान्तरव्यवच्छेदार्थः। अत एवाह अतोऽन्यथा इत्यादि। अतोऽन्यथा उक्तप्रकारवैपरीत्येन। सत्त्वं वस्तुतत्त्वम्। असूपपादं सुखेनोपपाद्यते घटनाकोटिसंटङ्कमारोप्यते इति सूपपादं। न तथा असूपपादं दुर्घटमित्यर्थः। अनेन साधनं दर्शितम्। तथाहि। तत्त्वमिति धर्मि। अनन्तधर्मात्मकत्वं साध्यो धर्मः। सत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणत्वाद्धेतोः। [1]अन्तर्व्याप्त्यैव

---

[1] अन्तःपक्षमध्ये व्याप्तिः साधनस्य साध्याक्रान्तत्वमन्तर्व्याप्तिः। तयैव साध्यस्य गम्यस्य सिद्धेः प्रतीतेः। अयमर्थः। अन्तर्व्याप्तेः साध्यसंसिद्धिशक्तौ बाह्यव्याप्तेर्वर्णनं वन्ध्यमेव। साध्यसंसिद्ध्यशक्तौ बाह्यव्याप्तेर्वर्णनं व्यर्थमेव।

साध्यस्य सिद्धत्वाद् दृष्टान्तादिभिर्न प्रयोजनम्। यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तत् सदपि न भवति, यथा वियदिन्दीवरम् इति केवलव्यतिरेकी हेतुः। साधर्म्यदृष्टान्तानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वयायोगात् ॥

व्याख्यार्थ—जीव और अजीव प्रत्येक वस्तुमें भूत, भविष्यत् और वर्तमानके अनंत धर्म मौजूद हैं। अनन्त धर्म रूप ही वस्तुका स्वरूप है। पदार्थोंमें अनन्त धर्म माने विना पदार्थोंकी सिद्धि नहीं होती। अतएव 'वस्तु तत्व (पक्ष) अनन्त धर्मात्मक (साध्य) है, क्योंकि दूसरे प्रकारसे वस्तु तत्वकी सिद्धि नहीं होती (हेतु)'। यहां अन्तर्व्याप्तिसे साध्यकी सिद्धि होती है, इस लिये उक्त हेतुमें दृष्टांतकी आवश्यकता नहीं है। जहां दृष्टांतके विना साध्य और हेतुमें व्याप्तिका ज्ञान हो जाता है, उसे अन्तर्व्याप्ति कहते हैं। जिस समय प्रतिवादीको व्याप्ति संबंधका ज्ञान करते समय व्याप्ति संबंधका स्मरण होता है, उस समय प्रतिवादीको हेतुके सर्वत्र साध्य युक्त होनेका ज्ञान होता है, और साथ ही अन्तर्व्याप्ति ज्ञानसे प्रतिवादीको यह भी ज्ञान होता है, कि प्रस्तुत पक्षमें वर्तमान हेतु भी साध्यसे युक्त है। दृष्टांतके विना पक्षके भीतर ही हेतुसे साध्यकी सिद्धि हो जाती है, इस लिये यहां पक्षके बाहर दृष्टांतके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। 'जो अनन्त धर्मात्मक नहीं होता, वह सत् भी नहीं होता, जैसे आकाशका फूल'। आकाशके फूलमें अनन्त धर्म नहीं रहते, इस लिये वह सत् भी नहीं है। यह हेतु केवलव्यतिरेकी है। जहां जहां साध्य नहीं रहता, वहां वहां साधन नहीं रहता। क्योंकि 'जहां जहां सत् है, वहां वहां अनन्त धर्म पाये जाते हैं' इस अन्वयव्याप्तिमें दिया जानेवाला प्रत्येक दृष्टांत पक्षमें ही गर्भित हो जाता है। अतएव यहां अन्वयव्याप्ति न बता कर केवल व्यतिरेकव्याप्ति बताई गई है।

अनन्तधर्मात्मकत्वं च आत्मनि[1] तावद् साकारानाकारोपयोगिता कर्तृत्वं भोक्तृत्वं प्रदेशाष्टकनिश्चलता[2] अमूर्तत्वम् असंख्यातप्रदेशात्मकता जीवत्वमित्यादयः

---

[1] जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥
छाया—जीवः उपयोगमयः अमूर्ति कर्त्ता स्वदेहपरिमाणः।
भोक्ता संसारस्थः सिद्धः स विस्रसा ऊर्ध्वगतिः ॥ द्रव्यसंग्रहे २

जीवसिद्धिः चार्वाकं प्रति; ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं नैयायिकं प्रति; अमूर्तजीवस्थापनं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति; कर्मकर्तृत्वस्थापनं सांख्यं प्रति; स्वदेहप्रमितिस्थापनं नैयायिकमीमांसकसांख्यत्रयं प्रति; कर्मभोक्तृत्वव्याख्यानं बाद्धं प्रति; संसारस्य व्याख्यानं सदाशिवं प्रति; सिद्धत्वव्याख्यानं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति; ऊर्ध्वगतिस्वभावकथनं माण्डलिकग्रन्थकारं प्रति, इति मतार्थो ज्ञातव्यः। द्रव्यसंग्रहवृत्तौ।

[2] तत्र सर्वकालं जीवाष्टमध्यमप्रदेशाः निरपवादाः सर्वजीवानां स्थिता एव। केवलिनामपि अयोगिनां सिद्धानां च सर्वे प्रदेशा स्थिता एव। व्यायामदुःखपरितापोद्रेकपरिणतानां जीवानां यथोक्ताष्टमध्यप्रदेशवर्जितानां इतरे प्रदेशा अवस्थिता एव। शेषाणां प्राणिनां स्थिताश्चास्थिताश्चेति। तत्त्वार्थराजवार्तिके पृ० २०३

सहभाविनो धर्माः। हर्षविषादशोकसुखदुःखदेवनरनारकातिर्यक्त्वादयस्तु क्रमभाविनः। धर्मास्तिकायादिष्वपि असंख्येयप्रदेशात्मकत्वम् गत्याद्युपग्रहकारित्वम् मत्यादिज्ञानविषयत्वम् तत्तदवच्छेदकावच्छेद्यत्वम् अवस्थितत्वम् अरूपित्वम् एकद्रव्यत्वम् निष्क्रियत्वमित्यादयः । घटे पुनरामत्वम् पाकजरूपादिमत्त्वम् पृथुबुध्नोदरत्वम् कम्बुग्रीवत्वम् जलादिधारणाहरणसामर्थ्यम् मत्यादिज्ञानज्ञेयत्वम् नवत्वम् पुराणत्वमित्यादयः । एवं सर्वपदार्थेष्वपि नानानयमताभिज्ञेन शाब्दानार्थांश्च पर्यायान् प्रतीत्य वाच्यम् ॥

ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आठ मध्य प्रदेशोंकी स्थिरता, अमूर्तत्व, असंख्यात प्रदेशीपना और जीवत्व ये आत्माके सहभावी धर्म हैं। जो धर्म सदा द्रव्यके साथ रहते हैं, उन्हें सहभावी धर्म कहते हैं। सहभावी धर्म गुण भी कहे जाते हैं। (१) व्यवहार नयकी अपेक्षा साकार ज्ञानोपयोग और निराकार दर्शनोपयोग जीवका लक्षण है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग जीवसे कभी अलग नहीं होते । चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शनके भेदसे दर्शनोपयोग चार, और मति, श्रुति अवधि, मनपर्यय, केवल, कुमति, कुश्रुति, और कुवधि ज्ञानके भेदसे ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है। निश्चय नयसे शुद्ध अखंड केवलदर्शन और केवलज्ञान ही जीवका लक्षण है। नैयायिक लोग ज्ञान और दर्शनको आत्माका स्वभाव न मान कर उन्हें आत्माके साथ समवाय संबंधसे संबद्ध मानते हैं, इस लिये जीवको उपयोग रूप बताया है। (२) जीव कर्ता है। जीव सांख्योंके पुरुषकी तरह कर्मोंसे निर्लिप्त हो कर केवल द्रष्टाकी तरह नहीं रहता, किन्तु ज्ञानावरण आदि कर्मोंका स्वयं करनेवाला है। यहां सांख्य मतके निराकरणके लिये जीवको कर्ता बताया गया है। (३) यह जीव सुख-दुख रूप कर्मोंके फलका भोग करता है। क्षणिक वादी बौद्धोंके मतमें जो कर्ता है, वह भोक्ता नहीं हो सकता, इस लिये जीवको भोक्ता कहा गया है। (४) जीवके आठ मध्य प्रदेश सदा एकसे अवस्थित रहते हैं । अयोगकेवली और सिद्धोंके सम्पूर्ण प्रदेश स्थिर रहते हैं। व्यायाम, दुख, परिताप आदिसे युक्त जीवोंके आठ प्रदेशोंके अतिरिक्त बाकीके प्रदेश प्रवृत्ति शील होते हैं। शेष जीवोंके प्रवृति और अप्रवृत्ति दोनों रूप प्रदेश होते हैं। (५) यह जीव स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्णसे रहित है; इस लिये निश्चय नयसे अमूर्त है। (६) जीव लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशोंका धारक है। वास्तवमें जैन दर्शनके अनुसार नैयायिक, मीमांसक आदि दर्शनोंकी तरह जीवको प्रदेशोंकी अपेक्षा व्यापक नहीं माना, किन्तु जैन दर्शनमें ज्ञानकी अपेक्षा व्यवहार नयसे व्यापक

---

१ नित्यावस्थितान्यरूपाणि । आ आकाशादेकद्रव्याणि । निष्क्रियाणि च । असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मयोः । गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः । तत्त्वार्थाधिगमभाष्ये पंचमाध्याये सूत्राणि ।

कहा है। (७) जीवमें जीवत्व जीवका पारिमाणिक (स्वाभाविक) भाव है। व्यवहार नयसे दस प्राण, और निश्चय नयसे चेतना जीवका जीवत्व है। हर्ष विषाद, शोक, सुख, दुख, देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच आदि अवस्था जीवके क्रमभावी अर्थात् क्रमसे उत्पन्न और नष्ट होनेवाले धर्म हैं। क्रमभावी धर्मोंका दूसरा नाम पर्याय भी है। (१) धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय प्रत्येक द्रव्यमें असंख्यात प्रदेश (अविभाज्य अंश) होते हैं। (२) जिस प्रकार जल मछलीके चलनेमें सहायता करता है, और वृक्षकी छाया पथिकके ठहरानेमें निमित्त होती है, उसी तरह धर्म गतिशील पदार्थोंकी गतिमें, और अधर्म ठहरनेवाले पदार्थोंकी स्थितिमें निमित्त कारण होते हैं। (३) धर्म और अधर्म मति, श्रुति आदि ज्ञानोंसे निश्चित किये जाते हैं। (४) धर्म और अधर्म अपने स्वरूपको छोड़ कर पर रूप नहीं होते, इस लिये परस्पर मिश्रण न होनेसे अवस्थित हैं। (५) धर्म और अधर्म स्पर्श आदिसे रहित होनेसे अरूपी हैं; (६) एक व्यक्ति रूप होनेसे एक हैं, तथा (७) क्रिया रहित होनेसे निष्क्रिय हैं। इसी प्रकार घड़ेमें कच्चापन पक्कापन, मोटापना, चौड़ापन, कम्बुग्रीवापन (शंख जैसी गर्दन) जल धारण, ज्ञेयपन, नयापन, पुरानापन आदि अनन्त धर्म रहते हैं। अतएव नाना नयोंकी दृष्टिसे शब्द और अर्थकी अपेक्षा प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म विद्यमान हैं।

अत्र चात्मशब्देनानन्तेष्वपि धर्मेष्वनुवृत्तिरूपमन्वयिद्रव्यं ध्वनितम्। ततश्च "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इति व्यवस्थितम्। एवं तावदर्थेषु। शब्देष्वपि उदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसंवृतघोषवदघोषताल्पप्राणमहाप्राणतादयः तत्तदर्थप्रत्यायनशक्त्यादयश्चावसेयाः। अस्य हेतोरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वादिकण्टकोद्धारः स्वयमभ्यूह्यः। इत्येवमुल्लेखशेखराणि ते तव प्रमाणान्यपि न्यायोपपन्नसाधनवाक्यान्यपि। आस्तां तावद् साक्षात्कृतद्रव्यपर्यायनिकायो भवान्। यावदेतान्यपि कुवादिकुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादाः कुवादिनः कुत्सितवादिनः। एकांशग्राहकनयानुयायिनोऽन्यतीर्थिकास्त एव संसारवनगहनवसनव्यसनितया कुरङ्गा मृगास्तेषां सम्यक्त्रासने सिंहनादा इव सिंहनादाः। यथा सिंहस्य नादमात्रमप्याकर्ण्य कुरङ्गास्त्रासमासूत्रयन्ति, तथा भवत्प्रणीतैवंप्रकारप्रमाणवचनान्यपि श्रुत्वा कुवादिनस्त्रस्नुतामश्नुवते प्रतिवचनप्रदानकातरतां बिभ्रतीति यावत्। एकैकं त्वदुपज्ञं प्रमाणमन्ययोगव्यवच्छेदकमित्यर्थः ॥

'अनन्त धर्मात्मक' शब्दमें आत्मा शब्दसे अनंत पर्यायोंमें रहनेवाले नित्य द्रव्यका सूचन होता है। अतएव "उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही 'सत्' का लक्षण है।" पदार्थोंकी तरह शब्दोंमें भी उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, विवृत, संवृत, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, आदि तथा पदार्थोंके ज्ञान करानेकी शक्ति आदि अनन्त धर्म पाये जाते हैं।

---

१ देखो द्रव्यसंग्रहवृत्ति गा. १०।

'तत्त्वं अनंतधर्मात्मकं सत्त्वान्यथानुपपत्तेः' इस अनुमानमें असिद्ध, विरुद्ध आदि दोष नहीं आते हैं। हे भगवन्, आपकी बात तो दूर रही, आपके न्याय युक्त वचन ही कुवादी रूपी हरिणोंको संत्रस्त करनेके लिये सिंहकी गर्जनाके समान हैं। जिस प्रकार सिंहकी गर्जनाको सुन कर जंगलके हरिण भयभीत होते हैं, उसी प्रकार आपके स्याद्वादका निरूपण करनेवाले वचनोंको सुन कर वस्तुके केवल अंश मात्रको ग्रहण करनेवाले, संसार रूपी गहन वनमें फिरनेवाले कुवादी लोग संत्रस्त होते हैं।

अत्र प्रमाणानि इति बहुवचनमेवंजातीयानां प्रमाणानां भगवच्छासने आनन्त्यज्ञापनार्थम्। एकैकस्य सूत्रस्य सर्वोदधिसलिलसर्वसरिद्वालुकानन्तगुणार्थत्वात्। तेषां च सर्वेषामपि सर्वविन्मूलतया प्रमाणत्वात्। अथवा "इत्यादिबहुवचनान्ता गणस्य संसूचका भवन्ति" इति न्यायाद् इतिशब्देन प्रमाणबाहुल्यसूचनात् पूर्वार्द्धे एकस्मिन् अपि प्रमाणे उपन्यस्ते उचितमेव बहुवचनम्॥ इति काव्यार्थः॥ २२॥

एक एक विषयको खंडन करनेवाले बहुतसे प्रमाणोंका सूचन करनेके लिये श्लोकमें 'प्रमाणानि' बहु वचन दिया है। क्योंकि भगवानके प्रत्येक सूत्र सम्पूर्ण समुद्रोंके जलसे और सम्पूर्ण नदियोंकी वालुकासे भी अनंत गुणे हैं। ये सम्पूर्ण सूत्र सर्वज्ञ भगवानके कहे हुए हैं, इस लिये प्रमाण हैं। अथवा "इति, आदि बहु वचनवाले शब्द समूहके सूचक होते हैं" इस न्यायसे 'इति' शब्दसे बहुतसे प्रमाणोंका सूचन होता है, अतएव श्लोकके पूर्वार्धमें एक प्रमाणका उल्लेख करनेपर भी बहु वचन समझना चाहिये। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें प्रत्येक वस्तुको अनंत धर्मवाली सिद्ध किया गया है। जैन सिद्धांतके अनुसार यदि पदार्थोंमें अनंत धर्म स्वीकार न किये जाय, तो वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती, अतएव 'प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, क्योंकि वस्तुमें अनंत धर्म माने विना वस्तुमें वस्तुत्व सिद्ध नहीं हो सकता। जो अनन्त धर्मात्मक नहीं होता, वह सत् भी नहीं होता। जैसे आकाश,' अतएव जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल सम्पूर्ण द्रव्योंमें अनन्त धर्म स्वीकार करने चाहिये।

अनन्तरमनन्तधर्मात्मकत्वं वस्तुनि साध्यं मुकुलितमुक्तम्। तदेव सप्तभङ्गीप्ररूपणद्वारेण प्रपञ्चयन् भगवतो निरतिशयं वचनातिशयं च स्तुवन्नाह—

वस्तुमें अनन्त धर्म होते हैं, इसीको सात भंगोंसे कहते हैं—

अपर्ययं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम्।
आदेशभेदोदितसप्तभङ्गमदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम्॥ २३॥

श्लोकार्थ—यदि वस्तुका सामान्यसे कथन किया जाय, तो प्रत्येक वस्तु पर्याय रहित है। यदि वस्तुका विस्तारसे प्ररूपण किया जाय, तो प्रत्येक वस्तु द्रव्य रहित है। इस प्रकार सकल और विकल आदेशके भेदसे विज्ञ पंडित लोगोंसे समझने योग्य आपने सात भंगोंकी प्ररूपणा की है।

समस्यमानं संक्षेपेणोच्यमानं वस्तु अपर्ययम् अविवक्षितपर्यायम्। वसन्ति गुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु धर्माधर्माकाशपुद्गलकालजीवलक्षणं द्रव्यषट्कम्। अयमभिप्रायः। यदैकमेव वस्तु आत्मघटादिकं चेतनाचेतनं सतामपि पर्यायाणामविवक्षया द्रव्यरूपमेव वस्तु वक्तुमिष्यते। तदा संक्षेपेणाभ्यन्तरीकृतसकलपर्यायनिकायत्वलक्षणेनाभिधीयमानत्वात् अपर्ययमित्युपदिश्यते। केवलद्रव्यरूपमेव इत्यर्थः। यथात्मायं घटोऽयमित्यादि। पर्यायाणां द्रव्यानतिरेकात्। अत एव द्रव्यास्तिकनयाः शुद्धसंग्रहादयो द्रव्यमात्रमेवेच्छन्ति पर्यायाणां तदविष्वग्भूतत्वात्। पर्ययः पर्यवः पर्याय इत्यनर्थान्तरम्। अद्रव्यमित्यादि। चः पुनरर्थे। स च पूर्वस्माद् विशेषद्योतने भिन्नक्रमश्च। विविच्यमानं चेति विवेकेन पृथग्रूपतयोच्यमानं। पुनरेतद् वस्तु अद्रव्यमेव। अविवक्षितान्वयिद्रव्यं केवलपर्यायरूपमित्यर्थः॥

व्याख्यार्थ—यदि पर्यायोंका कथन न करके वस्तुका सामान्य रूपसे कथन किया जाय, तो संसारके समस्त पदार्थोंका जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंमें विभाग किया जा सकता है (कोई कोई श्वेताम्बर आचार्य काल द्रव्यको अलग नहीं मानते। उनके मतमें पांच ही द्रव्य हैं)। अतएव शुद्ध संग्रहनयकी अपेक्षासे द्रव्यास्तिक नय समस्त पदार्थोंको केवल द्रव्य रूप जानता है, क्योंकि द्रव्य और पर्याय सर्वथा भिन्न नहीं हैं, जैसे आत्मा, घट आदि। तथा यदि द्रव्यका कथन न करके वस्तुका विस्तारसे वर्णन किया जाय, तो वस्तु केवल पर्याय रूप है।

यदा ह्यात्मा ज्ञानदर्शनादीन् पर्यायानधिकृत्य प्रतिपर्यायं विचार्यते, तदा पर्याया एव प्रतिभासन्ते, न पुनरात्माख्यं किमपि द्रव्यम्। एवं घटोऽपि कुण्डलौष्ठपृथुबुध्नोदरपूर्वापरादिभागाद्यवयवापेक्षया विविच्यमानः पर्याया एव, न पुनर्घटाख्यं तदतिरिक्तं वस्तु। अतएव पर्यायास्तिकनयानुपातिनः पठन्ति—

---

[1] केषांचिदाचार्याणां मते पंचास्तिकाया एव। कालो द्रव्यं पृथग् नास्ति। जीवादिवस्त्वपि कदाचित् कालशब्देन उच्यते। तथा चागमः। "किमयं भंते, कालेत्ति पवुच्चइ, गोयमा, जीवा चेव अजीवा चेवत्ति"। अन्ये तु आचार्याः संगिरन्ते। अस्ति धर्मास्तिकायादिद्रव्यपंचकव्यतिरिक्तम् अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्ति षष्ठं कालद्रव्यं, यन्निबंधा एते ह्यः श्व इत्यादयः प्रत्ययाः शब्दाश्च प्रादुर्भवन्ति। आगमश्च। "कइणं भंते, दव्वा पण्णता, गोयमा, छ दव्वा पण्णत्ता। तंजहा—धम्मत्थिकाये अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए जीवत्थिकाए अद्धासमये य" हरिभद्रकृतधर्मसंग्रहिण्यां मलयगिरिटीकायां गा. ३२

" भागा एव हि भासन्ते संनिविष्टास्तथा तथा ।
तद्वान्नैव पुनः कश्चिन्निर्भागः संप्रतीयते " ॥

इति । ततश्च द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वेऽपि वस्तुनो द्रव्यनयार्पणया पर्यायनयानर्पणया च द्रव्यरूपता, पर्यायनयार्पणया द्रव्यनयानर्पणया च पर्यायरूपता, उभयनयार्पणया च तदुभयरूपता । अत एवाह वाचकमुख्यः " अर्पितानर्पितासिद्धेः " इति । एवंविधं द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु त्वमेवादीदृशस्त्वमेव दर्शितवान् । नान्य इति काक्कावधारणावगतिः ॥

जिस समय आत्माकी ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायोंकी मुख्यतासे आत्माका विचार किया जाता है, उस समय केवल ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायोंका ही ज्ञान होता है, आत्मा कोई भिन्न पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता । इसी प्रकार जब हम घटके मोटेपन, गोलपन, पूर्व भाग, अपर भाग आदि अवयवोंको देखते हैं, उस समय हमें घट द्रव्यका अलग ज्ञान न हो कर घटकी पर्यायोंका ही ज्ञान होता है । अतएव पर्यायास्तिक नयको माननेवाले कहते हैं, " सम्पूर्ण वस्तुओंमें भिन्न भिन्न अंश ही दृष्टिगोचर होते हैं, इन अंशोंके अतिरिक्त कोई निरंश द्रव्य दिखाई नहीं देता । " अतएव प्रत्येक वस्तुके द्रव्य और पर्याय दोनों रूप होनेपर भी द्रव्य नयकी मुख्यतासे और पर्याय नयकी गौणतासे वस्तुका ज्ञान द्रव्य रूप, पर्याय नयकी मुख्यता और द्रव्य नयकी गौणतासे वस्तुका ज्ञान पर्याय रूप, और द्रव्य और पर्याय दोनोंकी प्रधानतासे वस्तुका ज्ञान उभय रूप होता है । वाचकमुख्य उमास्वातिने कहा भी है, " द्रव्य और पर्यायकी मुख्यता और गौणतासे वस्तुकी सिद्धि होती है । " वस्तुका यह द्रव्य और पर्याय रूप स्वरूप आपने (जिन भगवान) ही प्ररूपण किया है, दूसरे किसीने नहीं ।

नन्वन्याभिधानप्रत्यययोग्यं द्रव्यम्, अन्याभिधानप्रत्ययविषयाश्च पर्यायाः । तत्कथमेकमेव वस्तूभयात्मकम् इत्याशङ्क्य विशेषणद्वारेण परिहरति आदेशभेदेत्यादि । आदेशभेदेन सकलादेशविकलादेशलक्षणेन आदेशद्वयेन उदिताः प्रतिपादिताः सप्तसंख्या भङ्गा वचनप्रकारा यस्मिन् वस्तुनि तत्तथा । ननु यदि भगवता त्रिभुवनबन्धुना निर्विशेषतया सर्वेभ्य एवंविधं वस्तुतत्त्वमुपदर्शितम्, तर्हि किमर्थं तीर्थान्तरीयाः तत्र विप्रतिपद्यन्ते इत्याह बुधरूपवेद्यम् इति । बुध्यन्ते यथावस्थितं वस्तुतत्त्वं सारेतरविषयविभागविचारणया इति बुधाः । प्रकृष्टा बुधाः बुधरूपाः नैसर्गिकाधिगमिकान्यतरसम्यग्दर्शनविशदीकृतज्ञानशालिनः प्राणिनः । तैरेव वेदितुं शक्यं वेद्यं परिच्छेद्यम् । न पुनः स्वस्वशास्त्रतत्त्वाभ्यासपरिपाकशाणानिशातबुद्धिभिरप्यन्यैः । तेषामनादिमिथ्यादर्शनवासनादूषितमतितया यथावस्थितवस्तुतत्त्वानवबोधेन बुधरूपत्वाभावात् । तथा चागमः—

---

१ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे ५-३२ ।

“ सद[1]सदविसेसणाउ भवहेउजहिच्छिओवलंभाउ ।
णाणफलाभावाउ मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं ” ॥

शंका—द्रव्य और पर्याय दोनों शब्द अलग अलग हैं, इस लिये द्रव्य और पर्यायका ज्ञान भी भिन्न भिन्न होता है, अतएव एक वस्तुको द्रव्य और पर्याय दोनों रूप नहीं कह सकते। समाधान—हम लोग सकल और विकल आदेशके भेदसे द्रव्य और पर्याय रूप वस्तुको मानते हैं। इसी सकलादेश और विकलादेशके ऊपर सप्तभंगी नय अवलम्बित है। शंका—यदि तीनों लोकोंके बन्धु जिन भगवानने प्रत्येक वस्तुका सामान्य रूपसे सब लोगोंके लिये सप्तभंगीद्वारा विवेचन किया है, तो अन्य वादी लोग सप्तभंगीके सिद्धांतको क्यों नहीं मानते। समाधान—सप्तभंगी नयके सूक्ष्म तत्वको निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध उत्कृष्ट विद्वान ही समझ सकते हैं। केवल अपने अपने शास्त्रोंके अभ्यास करनेसे कुण्ठित बुद्धिवाले पुरुष इस गहन तत्वको नहीं समझ सकते, क्योंकि इन लोगोंकी बुद्धि अनादि कालकी अविद्या वासनासे दूषित रहती है, इस लिये ये लोग पदार्थोंका ठीक ठीक ज्ञान नहीं कर सकते। आगममें कहा भी है, “ सत् और असत्का विवेक न होनेसे, कर्मोंके सद्भावसे और ज्ञानके फलका अभाव होनेसे मिथ्यादृष्टिके अज्ञान उत्पन्न होता है। ”

अत एव तत्परिगृहीतं द्वादशाङ्गमपि मिथ्याश्रुतमामनन्ति । तेषामुपपत्तिनिरपेक्षं यदृच्छया वस्तुतत्त्वोपलम्भसंरम्भात् । सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं तु मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुततया परिणमति सम्यग्दृशां । सर्वविदुपदेशानुसारिप्रवृत्तितया मिथ्याश्रुतोक्तस्याप्यर्थस्य यथावस्थितविधिनिषेधविषयतयोन्नयनात् । तथाहि किल वेदे “ अजैर्यष्टव्यम् ” इत्यादिवाक्येषु मिथ्यादृशोऽजशब्दं पशुवाचकतया व्याचक्षते, सम्यग्दृशस्तु जन्माभायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि पञ्चवार्षिकं तिलमसूरादि सप्तवार्षिकं कङ्गुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसाययन्ति । अत एव च भगवता श्रीवर्धमानस्वामिना “ विज्ञानघन[2] एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति” इत्यादिऋचः श्रीमदिन्द्रभूत्यादीनां द्रव्यगणधर[3]देवानां जीवादिनिषेधं[4]-

---

[1] छाया—सदसदविशेषणतः भवहेतुयथास्थितोपलम्भात् । ज्ञानफलाभावान्मिथ्यादृष्टेरज्ञानम् ॥ विशेषावश्यके ११५ । [2] बृहदारण्यके २–४–१२ । [3] इंद्रभूतिरग्निभूतिर्वायुभूतिः सहोद्भवाः । व्यक्तः सुधर्मा मण्डितमौर्यपुत्रौ सहोदरौ ॥ अकम्पितोऽचलभ्राता मेतार्यश्च प्रभासकः । इत्येकादश गणधराः । [4] विज्ञानमेव घनानन्दादिरूपत्वात् विज्ञानघनः स एव एतेभ्योऽध्यक्षतः परिच्छिद्यमानस्वरूपेभ्यः पृथिव्यादिलक्षणेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय उत्पद्य पुनस्तान्येवानुविश्यति तान्येव भूतानि अनुसृत्य विनश्यति तत्रैवाव्यक्तरूपतया संलीनो भवतीति भावः । न प्रेत्य संज्ञास्ति मृत्वा पुनर्जन्म प्रेत्येत्युच्यते तत्संज्ञास्ति न परलोकसंज्ञास्तीति भावः ।

कतया प्रतिभासमाना अपि तद्व्यवस्थापकतया व्याख्याताः । तथा स्मार्ता अपि—

"[2]न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला" ॥

इति श्लोकं पठन्ति । अस्य च यथाश्रुतार्थव्याख्यानेऽसम्बद्धप्रलाप एव । यस्मिन् हि अनुष्ठीयमाने दोषो नास्त्येव तस्मान्निवृत्तिः कथमिव महाफला भविष्यति । इज्याध्ययनदानादेरपि निवृत्तिप्रसङ्गात् । तस्माद् अन्यद् ऐदंपर्यमस्य श्लोकस्य । तथाहि । न मांसभक्षणे कृतेऽदोषः अपि तु दोष एव । एवं मद्यमैथुनयोरपि । कथं नादोष इत्याह । यतः प्रवृत्तिरेषा भूतानाम् । प्रवर्तन्त उत्पद्यन्तेऽस्यामिति प्रवृत्तिरुत्पत्तिस्थानम् । भूतानां जीवानाम् तत्तज्जीवसंसक्तिहेतुरित्यर्थः ॥

अतएव मिथ्यादृष्टि वारह अंगोंको पढ़ कर भी उन्हें मिथ्या श्रुत समझता है, क्योंकि वह शास्त्रोंको समझे विना उनका अपनी इच्छाके अनुसार अर्थ करता है । परन्तु सम्यग्दृष्टि मिथ्या शास्त्रोंको पढ़ कर उन्हें सम्यक् श्रुत समझता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि सर्वज्ञ भगवानके उपदेशके अनुसार चलता है, इस लिये वह मिथ्या आगमोंका भी यथोचित विधि-निषेध रूप अर्थ करता है । (क) उदाहरणके लिये "अजैर्यष्टव्यम्" इस वेद वाक्यमें मिथ्यादृष्टि लोग 'अज' शब्दका अर्थ पशु, और सम्यग्दृष्टि लोग उत्पन्न न होने योग्य तीन बरसके पुराने जौ, धान आदि, पांच बरसके पुराने तिल, मसूर आदि, तथा सात बरसके पुराने कांगनी, सरसों आदि धान्य अर्थ करते हैं । (ख) इसी तरह "यह विज्ञान मय चैतन्य भूतोंसे उत्पन्न होकर भूतोंमें विलीन हो जाता है, अतएव परलोक नहीं है" (विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति) आदि उपनिषद्के वाक्योंसे महावीर स्वामीके गणधर बननेसे पहले इन्द्रभूति आदि वैदिक विद्वान जीव तत्वका निषेध करते थे, परन्तु महावीर भगवानने "ज्ञान पांच भूतोंके निमित्तसे कथंचित् उत्पन्न होता है, और पांच भूतोंमें परिवर्तन होनेसे ज्ञानमें परिवर्तन होता है, अतएव ज्ञानकी पूर्व संज्ञा नहीं रहती" इस वाक्यका यह अर्थ करके जीव तत्वकी पुष्टि की है । (ग) स्मार्त लोगोंका कहना है "न मांस खानेमें दोष है, न मद्य और मैथुन सेवन करनेमें पाप है, क्योंकि यह प्रणियोंका स्वभाव है ।

---

[1] ननूच्छेदाभिधानमेतत् 'एतेभ्यो भूतेभ्यो समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति' (बृह० २-४-१२) इति, कथमेतदभेदाभिधानम् । नैष दोषः । विशेषविज्ञानविनाशाभिप्रायमेतद्विनाशाभिधानं नात्मोच्छेदाभिप्रायम् । 'अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति पर्यनुयुज्य स्वयमेव श्रुत्यार्थान्तरस्य दर्शितत्वात्—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' इति । एतदुक्तं भवति । कूटस्थनित्य एवायं विज्ञानघन आत्मा नास्योच्छेदप्रसंगोऽस्ति । मात्राभिस्त्वस्य भूतेन्द्रियलक्षणाभिरविद्याकृताभिरसंसर्गो विद्यया भवति । संसर्गाभावे च तत्कृतस्य विशेषविज्ञानस्याभावान्न प्रेत्य संज्ञास्तीत्युक्तमिति । ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्ये १-४-२२ । अत्र हेमचन्द्रकृतात्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरितम् (१०-५-७७, ७८) हरिभद्रीयावश्यकवृत्तिश्च विलोकनीया ।

[2] मनुस्मृतौ ५-५६ ।

हां, यदि मांस आदिसे निवृत्ति हो सके, तो इससे महान फल होता है" (न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला), परन्तु ये वाक्य केवल प्रलाप मात्र हैं । कारण कि यदि मांस आदिके भक्षणमें दोष नहीं है, तो उनसे निवृत्त होना महान फल नहीं कहा जा सकता । यदि मांस आदिके सेवन करनेपर भी दोष न मान कर उनसे निवृत्त होनेको महान फल माना जाय, तो पूजा, अध्ययन, दान आदिके अनुष्ठानसे निवृत्त होनेको भी महान फल कहना चाहिये । अतएव "मांसके भक्षण करनेमें पुण्य (अदोष) नहीं है (न मांसभक्षणेऽदोषो), तथा मद्य और मैथुन सेवन करनेमें भी दोष है, क्योंकि मांस, मद्य और मैथुन जीवोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं (प्रवृत्तिः—उत्पत्तिस्थानं एषा भूतानाम्) । अतएव इनसे निवृत्त होना चाहिये" यह श्लोकका अर्थ करना चाहिये ।

प्रसिद्धं च मांसमद्यमैथुनानां जीवसंसक्तिमूलकारणत्वमागमे—

"आमासु य पक्कासु य विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।
आयंतिअमुववाओ भणिओ उ णिगोअजीवाणं ॥ १ ॥
मज्जे महुम्मि मंसम्मि णवणीयम्मि चउत्थए ।
उप्पज्जंति अणंता तव्वण्णा तत्थ जंतूणो ॥ २ ॥
मेहुणसण्णारूढो णवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं ।
केवलिणा पण्णत्ता सद्दहिअव्वा सया कालं ॥ ३ ॥"

तथाहि—

"इत्थीजोणीए संभवंति बेइंदिया उ जे जीवा ।
इक्को व दो व तिण्णि व लक्खपुहुत्तं उ उक्कोसं ॥ ४ ॥
पुरिसेण सह गयाए तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं ।
वेणुगदिट्ठंतेणं तत्तायसलागणाएणं ॥ ५ ॥"

संसक्तायां योनौ द्वींद्रिया एते । शुक्रशोणितसंभवास्तु गर्भजपञ्चेन्द्रिया इमे ।

"पंचिंदिया मणुस्सा एगणरभुत्तणारिगब्भम्मि ।
उक्कोसं णवलक्खा जायंति एगवेलाए ॥ ६ ॥

---

१ रत्नशेखरसूरिकृतसम्बोधसप्ततिकायां ६६, ६५, ६३ ।

२ छाया–आमासु च पक्वासु च विपच्यमानासु मांसपेशीषु । आत्यन्तिकमुपपादो भणितस्तु निगोदजीवानाम् ॥
मद्ये मधुनि मांसे नवनीते चतुर्थके । उत्पद्यन्तेऽनन्ताः तद्वर्णास्तत्र जंतवः ॥
मैथुनसंज्ञारूढो नवलक्षं हन्ति सूक्ष्मजीवानाम् । केवलिना प्रज्ञप्ताः श्रद्धातव्याः सदाकालम् ॥
स्त्रीयोनौ सम्भवन्ति द्वीन्द्रियास्तु ये जीवाः । एको वा द्वौ वा त्रयो वा लक्षपृथुत्वं चोत्कृष्टम् ॥
पुरुषेण सह गतायां तेषां जीवानां भवति उद्द्रवणम् । वेणुकदृष्टान्तेन तप्तायसशलाकाज्ञातेन ॥
पंचेन्द्रिया मनुष्या एकनरभुक्तनारीगर्भे । उत्कृष्टं नवलक्षा जायन्ते एकवेलायाम् ॥
नवलक्षाणां मध्ये जायते एकस्य द्वयोर्वा समाप्तिः । शेषाः पुनरेवमेव च विलयं व्रजन्ति तत्रैव ॥

णवलक्खाणं मज्झे जायइ इक्कस्स दोण्ह व समत्ती ।
सेसा पुण एमेव य विलयं वच्चंति तत्थेव ॥ ७ ॥ ”

तदेवं जीवोपमर्दहेतुत्वाद् न मांसभक्षणादिकमदुष्टमिति प्रयोगः ॥

आगममें भी मांस, मद्य और मैथुनको जीवोंकी उत्पत्तिका स्थान बताया है—“ कच्चे, पक्के और अग्निमें पकाये हुए मांसकी प्रत्येक अवस्थाओंमें अनन्त निगोद जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है। मद्य, मधु, मांस और मक्खनमें मद्य, मधु, मांस और मक्खनके रंगके अनंत जीवोंकी उत्पत्ति होती है। केवली भगवानने मैथुनके सेवन करनेमें नौ लाख जीवोंका घात बताया है, इसमें सदा विश्वास करना चाहिये।” तथा “स्त्रियोंकी योनिमें दो इन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। इन जीवोंकी संख्या एक, दो, तीनसे लगा कर लाखों तक पहुंच जाती है। जिस समय पुरुष स्त्रीके साथ संभोग करता है, उस समय जैसे अग्निसे तपाई हुई लोहेकी सलाईको बांसकी नलीमें डालनेसे नलीमें रक्खे हुए तिल भस्म हो जाते हैं, वैसे ही पुरुषके संयोगसे योनिमें रहनेवाले सम्पूर्ण जीवोंका नाश हो जाता है।” अब रज और वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले गर्भज पंचेन्द्रिय जीवोंकी संख्या कहते हैं—“ पुरुष और स्त्रीके एक बार संयोग करनेपर स्त्रीके गर्भमें अधिकसे अधिक नौ लाख पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। इन नौ लाख जीवोंमें एक या दो जीव जीते हैं, बाकी सब जीव नष्ट हो जाते हैं।” इस प्रकार मांस, मैथुन आदिके सेवन करनेसे अनन्त जीवोंका नाश होता है, अतएव इनका सेवन करना दोष पूर्ण है।

अथवा भूतानां पिशाचप्रायाणामेषा प्रवृत्तिः । त एवात्र मांसभक्षणादौ प्रवर्तन्ते न पुनर्विवेकिन इति भावः । तदेवं मांसभक्षणादेर्दुष्टतां स्पष्टीकृत्य यदुपदेष्टव्यं तदाह । “ निवृत्तिस्तु महाफला ” । तुरेवकारार्थः । “ तुः स्याद् भेदेऽवधारणे ” इति वचनात् । ततश्चैतेभ्यो मांसभक्षणादिभ्यो निवृत्तिरेव महाफला स्वर्गापवर्गफलप्रदा । न पुनः प्रवृत्तिरपीत्यर्थः । अत एव स्थानान्तरे पठितम्—

“ वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद् यस्तयोस्तुल्यं भवेत् फलम् ॥ १ ॥
एकरात्रोषितस्यापि या गतिर्ब्रह्मचारिणः ।
न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर ” ॥ २ ॥

मद्यपाने तु कृतं सूत्रानुवादैः । तस्य सर्वविगर्हितत्वात् । तानेवं प्रकारानर्थान् कथमिव बुधाभासास्तीर्थिका वेदितुमर्हन्तीति कृतं प्रसङ्गेन ॥

अथवा, मांस-भक्षण आदिमें भूत, पिशाचोंकी ही प्रवृत्ति होती है। भूत, पिशाच ही मांस खानेमें प्रवृत्त होते हैं, विवेकी लोग नहीं। अतएव मांस आदिसे निवृत्त होना ही महान

---

१ अमरकोशे ३-२३९ । २ मनुस्मृतौ ५-५३ ।

फल है। " 'तु' शब्दका प्रयोग निश्चय अर्थमें होता है"। इस लिये मांस आदिके त्याग करनेसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है। कहा भी है "प्रत्येक वर्ष सौ बार यज्ञ करनेवाले और मांस भक्षण न करनेवाले दोनों पुरुषोंको बराबर फल मिलता है। हे युधिष्ठिर, एक रात ब्रह्मचर्यसे रहनेवाले पुरुषको जो उत्तम गति मिलती है, वह गति हज़ारों यज्ञ करनेसे भी नहीं होती।" मद्यपानके विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह सब जगह लोकमें निंदनीय है। इस प्रकारके अर्थोंको अपनेको पंडित समझनेवाले कुवादी लोग नहीं समझ सकते।

अथ केऽमी सप्तभङ्गाः, कश्चायमादेशभेद इति । उच्यते । एकत्र जीवादौ वस्तुनि एकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्नवशाद् अविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गीति गीयते। तद्यथा। १ स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः। २ स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः। ३ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः। ४ स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः। ५ स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः। ६ स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः। ७ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद्विधिनिषेधकल्पनया च सप्तमः॥

सप्तभंगी—जीव आदि पदार्थोंमें अस्तित्व आदि धर्मोंके विषयमें प्रश्न उठनेपर, विरोध रहित प्रत्यक्ष आदिसे अविरुद्ध, अलग अलग अथवा सम्मिलित विधि और निषेध धर्मोंके विचार पूर्वक 'स्यात्' शब्दसे युक्त सात प्रकारकी वचन रचनाको सप्तभंगी कहते हैं। १ प्रत्येक वस्तु विधि धर्मसे कथंचित् अस्तित्व रूप ही है (स्यादस्ति); २ प्रत्येक वस्तु निषेध धर्मसे कथंचित् नास्तित्व रूप ही है (स्यान्नास्ति); ३ प्रत्येक वस्तु क्रमसे विधि, निषेध दोनों धर्मोंसे कथंचित् अस्तित्व और नास्तित्व दोनों रूप ही है (स्यादस्तिनास्ति); ४ प्रत्येक वस्तु एक साथ विधि, निषेध दोनों धर्मोंसे कथंचित् अवक्तव्य ही है (स्यादवक्तव्य); ५ प्रत्येक वस्तु विधि तथा एक साथ विधि-निषेध धर्मोंसे कथंचित् नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है (स्यादस्ति अवक्तव्य); ६ प्रत्येक वस्तु निषेध तथा एक साथ विधि-निषेध धर्मोंसे कथंचित् नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है (स्यान्नास्ति अवक्तव्य); ७ प्रत्येक वस्तु क्रमसे विधि, निषेध तथा एक साथ विधि-निषेध धर्मोंसे कथंचित् अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य रूप ही है।

तत्र स्यात्कथंचित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणास्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण। तथाहि। कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनास्ति। नाप्यादिरूप-

त्वेन । क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन । न कान्यकुब्जादित्वेन । कालतः शैशिरत्वेन । न वासन्तिकादित्वेन । भावतः श्यामत्वेन । न रक्तादित्वेन । अन्यथेतररूपापत्त्या स्वरूपहानिप्रसङ्ग इति । अवधारणं चात्र भङ्गेऽनभिमतार्थव्यावृत्त्यर्थमुपात्तम् इतरथानभिहिततुल्यतैवास्य वाक्यस्य प्रसज्येत । प्रतिनियतस्वार्थानभिधानात् । तदुक्तम्—

> “ [1]वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये ।
> कर्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात् तस्य कुत्रचित् ” ॥

तथाप्यस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने कुम्भस्य स्तम्भाद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारेणास्तित्वप्राप्तेः प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्तिः स्यात् । तत्प्रतिपत्तये स्याद् इति शब्दः प्रयुज्यते । स्यात् कथंचिद् स्वद्रव्यादिभिरपीत्यर्थः । यत्रापि चासौ न प्रयुज्यते तत्रापि व्यवच्छेदफलैवकारवद् बुद्धिमद्भिः प्रतीयत एव । यदुक्तम्—

> “ सोऽ[2]प्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात्प्रतीयते ।
> यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः” ॥

इति प्रथमो भङ्गः ॥

(१) प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और, भावकी अपेक्षा कथंचित् अस्तित्व रूप ही है, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा कथंचित् नास्तित्व रूप ही है । जैसे, घड़ा द्रव्यकी अपेक्षा पार्थिव रूपसे विद्यमान है, जल रूपसे नहीं; क्षेत्र (स्थान) की अपेक्षा पटना नगरकी अपेक्षा मौजूद है, कन्नौजकी अपेक्षासे नहीं; काल (समय) की अपेक्षा शीत ऋतुकी दृष्टिसे है, वसन्त ऋतुकी दृष्टिसे नहीं; तथा भाव (स्वभाव) की अपेक्षा काले रूपसे मौजूद है, लाल रूपसे नहीं । यदि पदार्थोंका अस्तित्व स्व चतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) की अपेक्षाके विना ही स्वीकार किया जाय, तो पदार्थोंका स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता । क्योंकि जब तक वस्तुके एक स्वरूपकी दूसरे स्वरूपसे व्यावृत्ति न की जाय, उस समय तक वस्तुका स्वरूप नहीं बन सकता । इसीलिये यहां अनिष्ट पदार्थोंका निराकरण करनेके लिये ‘ एव ’ (अवधारण) का प्रयोग किया है । यदि ‘ एव ’ का प्रयोग न किया जाय, तो अनिच्छित वस्तुका प्रसंग मानना पड़े । कहा भी है “ किसी वाक्यमें ‘ एव ’ का प्रयोग अनिष्ट अभिप्रायके निराकरण करनेके लिये किया जाता है, अन्यथा अविवक्षित अर्थ स्वीकार करना पड़े । ” शंका— ‘ घट अस्तित्व रूप ही है ’ (अस्त्येव कुंभः) यह कहनेसे प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, फिर ‘ स्यात् ’ शब्दकी कोई आवश्यकता नहीं है । समाधान —‘ घट अस्तित्व रूप ही है ’ यह कहनेसे घटके सर्वथा अस्तित्वका ज्ञान होता है । किन्तु ‘ स्यात् ’ शब्दके लगानेसे मालूम होता

---

[1] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके १–६–५३ । [2] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके १–६–५६ ।

है, कि घट पर रूप स्तंभ आदिकी अपेक्षासे सर्वथा अस्तित्व रूप न हो कर केवल अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा विद्यमान है, पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा वह सदा नास्ति रूप ही है। अतएव प्रत्येक वस्तु स्व चतुष्टयकी अपेक्षा ही कथंचित् अस्ति रूप है, पर चतुष्टयकी अपेक्षा नहीं, इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये 'स्यात्' (कथंचित्) शब्दका प्रयोग किया गया है। प्रत्येक वाक्यमें 'स्यात्' अथवा 'कथंचित्' शब्दके न रहनेपर भी बुद्धिमान लोग उसका अभिप्राय जान लेते हैं। कहा भी है, "जिस प्रकार अयोगव्यवच्छेदक 'एव' शब्दके प्रयोग किये विना बुद्धिमान प्रकरणसे अर्थ समझ लेते हैं, उसी तरह 'स्यात्' शब्दके प्रयोगके विना भी बुद्धिमान अभिप्राय जान लेते हैं।" यह प्रथम भंग है।

स्यात्कथंचिद् नास्त्येव कुम्भादिः स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ हि प्रतिनियतस्वरूपाभावाद् वस्तुप्रतिनियतिर्न स्यात्। न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्तित्वमसिद्धमिति वक्तव्यम्। कथंचित् तस्य वस्तुनि युक्तिसिद्धत्वात्, साधनवत्। न हि क्वचिद् अनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादिसाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नम्। तस्य साधनत्वाभावप्रसङ्गात्। तस्माद् वस्तुनोऽस्तित्वं नास्तित्वेनाविनाभूतम्, नास्तित्वं च तेनेति। विवक्षावशाच्चानयोः प्रधानोपसर्जनभावः। एवमुत्तरभङ्गेष्वपि ज्ञेयम्। "अर्पितानर्पितसिद्धेः" इति वाचकवचनात्। इति द्वितीयः ॥

(२) घट आदि प्रत्येक वस्तु कथंचित् नास्ति रूप ही है। यदि पदार्थको स्व चतुष्टयकी तरह पर चतुष्टयसे भी अस्ति रूप माना जाय, तो पदार्थका कोई भी निश्चित स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता, अतएव एक वस्तुके दूसरे रूप हो जानेसे, वस्तुका कोई निश्चित स्वरूप नहीं कहा जा सकेगा। सर्वथा अस्तित्ववाद माननेवाले भी वस्तुमें नास्तित्व धर्मका प्रतिषेध नहीं करते। क्योंकि जिस प्रकार एक ही साधनमें किसी अपेक्षासे अस्तित्व और किसी अपेक्षासे नास्तित्व सिद्ध होता है, उसी प्रकार अस्ति रूप वस्तुमें कथंचित् नास्ति रूप भी युक्तिसे सिद्ध होता है। अनित्यत्व सिद्ध करनेके लिये सत्व साधनका अस्तित्व विपक्षमें नास्तित्व सिद्ध किये विना (जहां अनित्य नहीं वहां सत्व नहीं) नहीं सिद्ध किया जा सकता। अन्यथा सत्व साधन अनित्यत्व साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकता। क्योंकि जब तक विपक्षमें हेतुका अभाव सिद्ध न किया जाय, उस समय तक हेतुसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। अतएव अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंको सापेक्ष मानने चाहिये, क्योंकि अस्तित्व और नास्तित्व एक दूसरेके विना नहीं रहते। जिस समय अस्तित्व धर्मकी प्रधानता हो, उस समय वस्तुको अस्ति, और जब नास्ति धर्मकी प्रधानता हो, उस समय वस्तुको नास्ति कहना चाहिये। यही प्रधान और

गौणका भेद अन्य भंगोंमें भी समझना चाहिये। उमास्वाति वाचकने कहा भी है "प्रधान और गौणकी अपेक्षासे पदार्थोंकी विवेचना होती है।" यह दूसरा भंग है।

तृतीयः स्पष्ट एव। द्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वधर्माभ्यां युगपत्प्रधानतयार्पिताभ्याम् एकस्य वस्तुनोऽभिधित्सायां तादृशस्य शब्दस्यासम्भवाद् अवक्तव्यं जीवादिवस्तु। तथाहि। सदसत्त्वगुणद्वयं युगपद् एकत्र सदित्यनेन वक्तुमशक्यम्। तस्यासत्त्वप्रतिपादनासमर्थत्वात्। तथाऽसदित्यनेनापि। तस्य सत्त्वप्रत्यायनसामर्थ्याभावात्। न च पुष्पदन्तादिवत् साङ्केतिकमेकं पदं तद्वक्तुं समर्थम्, तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः। शतृशानयोः संकेतितसच्छब्दवत्। अतएव द्वन्द्वकर्मधारयवृत्त्योर्वाक्यस्य च न तद्वाचकत्वम्। इति सकलवाचकरहितत्वाद् अवक्तव्यं वस्तु युगपत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते। न च सर्वथाऽवक्तव्यम्। अवक्तव्यशब्देनाप्यनभिधेयत्वप्रसङ्गात्। इति चतुर्थः। शेषास्त्रयः सुगमाभिप्रायाः॥

(३–७) जब हम क्रमसे वस्तुको स्वरूपकी अपेक्षा अस्ति, और पर रूपकी अपेक्षासे नास्ति कहते हैं, उस समय वस्तुका अस्तिनास्तिरूपसे ज्ञान होता है। यह स्यादस्तिनास्ति नामका तीसरा भंग है। (४) हम वस्तुके अस्ति और नास्ति धर्मको एक साथ नहीं कह सकते। जिस समय जीवको सत् कहते हैं, उस समय असत्, और जिस समय असत् कहते हैं, उस समय सत् नहीं कह सकते। क्योंकि अस्ति और नास्ति दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। **शंका**—जिस प्रकार चन्द्र और सूर्य दोनों वस्तुओंका ज्ञान 'पुष्पदंत' शब्दसे हो जाता है, उसी तरह अस्ति और नास्ति दोनोंका एक साथ ज्ञान किसी एक सांकेतिक शब्दसे मानना चाहिये। **समाधान**—पहले तो कोई ऐसा शब्द नहीं, जिससे अस्ति और नास्ति दोनों धर्मोंका एक साथ ज्ञान किया जा सके। यदि दोनों धर्मोंको कहनेवाला कोई एक शब्द मान भी लिया जाय, तो अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंका क्रमसे ही ज्ञान हो सकता है। व्याकरणमें 'सत्' शब्दसे शतृ और शान दोनोंका क्रम पूर्वक ज्ञान होता है, एक साथ नहीं। अतएव द्वन्द्व, कर्मधारय अथवा किसी एक वाक्यसे सत्व और असत्व दोनों धर्मोंका एक साथ ज्ञान नहीं हो सकता। इस लिये परस्पर विरुद्ध अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंका ज्ञान किसी एक शब्दसे नहीं होता, अतएव प्रत्येक वस्तु एक साथ अस्ति और नास्ति भावकी प्रधानता होनेसे कथंचित् अवक्तव्य है। यदि हम पदार्थको सर्वथा अवक्तव्य मानें, तो हम पदार्थको अवक्तव्य शब्दसे भी नहीं कह सकते, अतएव प्रत्येक पदार्थको कथंचित् अवक्तव्य ही मानना चाहिये। यह स्यादवक्तव्य नामका चौथा भंग है। (५) जब हम वस्तुको स्वरूपकी अपेक्षा सत् कह कर उसकी एक साथ अस्ति-नास्ति रूप अवक्तव्य रूपसे विवेचना करना चाहते हैं, उस समय वस्तु स्यादस्ति अवक्तव्य नामसे कही

जाती है। (६) जब हम वस्तुकी नास्तित्व धर्मकी विवक्षासे एक साथ अस्ति-नास्ति रूप अवक्तव्य रूपसे विवेचना करना चाहते हैं, उस समय वस्तु स्यान्नास्ति अवक्तव्य कही जाती है। (७) प्रत्येक वस्तु क्रमसे स्व और पर रूपकी अपेक्षा अस्ति-नास्ति होनेपर भी एक साथ अस्ति-नास्ति रूप अवक्तव्य होनेके कारण स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य रूप है।

न च वाच्यमेकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्माभ्युपगमेनानन्तभङ्गीप्रसङ्गाद् असङ्गतैव सप्तभङ्गीति। विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुनि अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामेव संभवात्। यथा हि सदसत्त्वाभ्याम्, एवं सामान्यविशेषाभ्यामपि सप्तभङ्ग्येव स्यात्। तथाहि। स्यात्सामान्यम्, स्याद् विशेषः, स्यादुभयम्, स्यादवक्तव्यम्, स्यात्सामान्यावक्तव्यम्, स्याद् विशेषावक्तव्यम्, स्यात्सामान्यविशेषावक्तव्यमिति। न चात्र विधिनिषेधप्रकारौ न स्त इति वाच्यम्। सामान्यस्य विधिरूपत्वाद् विशेषस्य च व्यावृत्तिरूपतया निषेधात्मकत्वात्। अथवा प्रतिपक्षशब्दत्वाद् यदा सामान्यस्य प्राधान्यं तदा तस्य विधिरूपता विशेषस्य च निषेधरूपता। यदा विशेषस्य पुरस्कारस्तदा तस्य विधिरूपता इतरस्य च निषेधरूपता। एवं सर्वत्र योज्यम्। अतः सुष्ठूक्तं अनन्ता अपि सप्तभङ्ग्य एव संभवेयुरिति। प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव संभवात्। तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात्। तस्या अपि सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्संदेहसमुत्पादात्। तस्यापि सप्तविधत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेरिति ॥

शंका—यदि आप लोग प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म मानते हैं, तो अनंत भंगोंकी कल्पना न करके वस्तुमें केवल सात ही-भंगोंकी कल्पना क्यों करते हैं। **समाधान**—प्रत्येक वस्तुमें अनंत धर्म होनेके कारण वस्तुमें अनंत भंग होते हैं। परन्तु ये अनंत भंग विधि और निषेधकी अपेक्षासे सात ही हो सकते हैं। अतएव जिस प्रकार सत् और असत्की दृष्टिसे सात भंग होते है, उसी तरह सामान्य और विशेषकी अपेक्षासे भी स्यात् सामान्य, स्यात् विशेष, स्यात् उभय, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् सामान्य अवक्तव्य, स्यात् विशेष अवक्तव्य, और स्यात् सामान्य-विशेष अवक्तव्य ये सात भंग होते हैं। **शंका**—आपने ऊपर विधि और निषेध धर्मोंके विचार पूर्वक 'स्यात्' शब्दसे युक्त सात प्रकारकी वचन रचनाको सप्तभंगी कहा था। यह विधि और निषेध धर्मोंकी कल्पना सामान्य-विशेषकी सप्तभंगीमें कैसे बन सकती है। **समाधान**—सामान्य-विशेषकी सप्तभंगीमें भी विधि और निषेध धर्मोंकी कल्पना की जा सकती है। क्योंकि सामान्य विधि रूप है, और विशेष व्यवच्छेदक होनेसे निषेध रूप है। अथवा, सामान्य और विशेष दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतएव जब सामान्यकी प्रधानता होती है, उस समय सामान्यके विधि रूप होनेसे विशेष निषेध रूप कहा जाता है, और जब विशेषकी प्रधानता होती है, उस समय विशेषके

विधि रूप होनेसे सामान्य निषेध रूप कहा जाता है। इस अपेक्षासे सामान्य और विशेषमें विधि और निषेध धर्मोंकी कल्पना की जा सकती है। इसी प्रकार अन्य धर्मोंमें भी सात भंग बन सकते है। अतएव अनंत भंगोंमें सात भंगोंकी ही कल्पना सिद्ध होती है। प्रत्येक पर्यायकी अपेक्षा सात प्रकारके ही प्रश्न किये जा सकते है, अतएव सात ही भंग होते हैं। प्रत्येक पर्यायकी अपेक्षा सात प्रकारकी ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है, इस लिये सात प्रकारके ही प्रश्न होते हैं। संदेहके सात ही प्रकार हो सकते हैं, इस लिये सात ही प्रकारकी जिज्ञासा हो सकती है। तथा प्रत्येक वस्तुमें सात ही धर्मोंका होना संभव है, अतएव संदेह भी सात प्रकारके ही होते हैं।

इयं च सप्तभङ्गी प्रतिभङ्गं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च। तत्र सकलादेशः प्रमाणवाक्यम्। तल्लक्षणं चेदम्। प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्याद् अभेदोपचाराद् वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः। अस्यार्थः कालादिभिरष्टाभिः कृत्वा यदभेदवृत्तेर्धर्मधर्मिणोरपृथग्भावस्य प्राधान्यं तस्मात् कालादिभिर्भिन्नात्मनामपि धर्मधर्मिणामभेदाध्यारोपाद् वा समकालमभिधायकं वाक्यं सकलादेशः। तद्विपरीतस्तु विकलादेशो नयवाक्यमित्यर्थः। अयमाशयः। यौगपद्येनाशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदप्राधान्यवृत्त्याऽभेदोपचारेण वा प्रतिपादयति सकलादेशः। तस्य प्रमाणाधीनत्वात्। विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचाराद् भेदप्राधान्याद्वा तदभिधत्ते। तस्य नयात्मकत्वात्॥

यह सप्तभंगी प्रत्येक भंगमें सकल और विकल आदेश रूप होती है। प्रमाण वाक्यको सकल आदेश कहते हैं। प्रमाणसे जानी हुई अनन्त धर्म स्वभाववाली वस्तुको काल, आत्म रूप, अर्थ, संबंध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्दकी अपेक्षासे अभेद वृत्ति अथवा अभेदोपचारकी प्रधानतासे सम्पूर्ण धर्मोंको एक साथ प्रतिपादन करनेवाले वाक्यको सकलादेश कहते हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनंत धर्म मौजूद हैं। इन धर्मोंका एक साथ और क्रम क्रमसे शब्दोंद्वारा प्रतिपादन किया जाता है। जिस समय वस्तुमें काल आदिकी अपेक्षा अभिन्न रूपसे रहनेवाले सम्पूर्ण धर्म और धर्मियोंमें अभेद भावकी प्रधानता रख कर, अथवा काल आदिसे भिन्न धर्म और धर्मीमें अभेदका उपचार मान कर सम्पूर्ण धर्भ और धर्मियोंका एक साथ कथन किया जाता है, उस समय सकलादेश होता हैं। सकलादेशसे काल आदिकी अभेद दृष्टि अथवा अभेदोपचारकी अपेक्षा वस्तुके सम्पूर्ण धर्मोंका एक साथ ज्ञान होता है। जैसे अनेक गुणोंके समुदायको द्रव्य कहते हैं, इस लिये गुणोंको छोड़ कर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। अतएव द्रव्यका निरूपण गुण वाचक शब्दके विना नहीं हो सकता। अतएव अस्तित्व आदि अनेक गुणोंके समुदाय रूप एक जीवका निरंश रूप समस्तपनेसे अभेदवृत्ति (द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सम्पूर्ण धर्म अभिन्न हैं) और अभेदोपचार (पर्यायार्थिक नयसे समस्त धर्मोंके परस्पर भिन्न होनेपर भी

उनमें एकताका आरोप है) से एक गुणके द्वारा प्रतिपादन होता है। इस लिये एक गुणके द्वारा अभिन्न स्वरूपके प्रतिपादन करनेको सकलादेश कहते हैं। यह सकलादेश प्रमाणके आधीन होता है। जिस समय काल आदिसे अस्तित्व आदि धर्मोंका भेद प्राधान्य अथवा भेदोपचार होता है, उस समय एक शब्दसे अनेक धर्मोंका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, इस लिये पदार्थोंका निरूपण क्रमसे होता है। इसे विकलादेश कहते हैं। विकलादेशमें भेदवृत्ति अथवा भेदोपचारकी प्रधानता रहती है। विकलादेश नयके आधीन होता है।

कः पुनः क्रमः किं च यौगपद्यम्। यदास्तित्वादिधर्माणां कालादिभिर्भेदविवक्षा, तदैकशब्दस्यानेकार्थप्रत्यायने शक्त्यभावात् क्रमः। यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिरभेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषधर्मरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद् यौगपद्यम् ॥

जिस समय अस्तित्व आदि धर्मोंका काल आदिसे भेद सिद्ध करना होता है, उस समय एक शब्दसे अनेक धर्मोंका ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव सम्पूर्ण धर्मोंका एक एक करके ही कथन किया जा सकता है, इसे क्रम कहते हैं। इसी क्रमसे विकलादेशसे ज्ञान होता है। तथा जिस समय वस्तुके अनेक धर्मोंका काल आदिसे अभेद सिद्ध करना होता है, उस समय एक शब्दसे यद्यपि वस्तुके एक धर्मका ज्ञान होता है, परन्तु एक शब्दसे ज्ञात इस एक धर्मके द्वारा ही पदार्थोंके अनेक धर्मोंका ज्ञान होता है। इसे वस्तुओंका एक साथ (युगपत्) ज्ञान होना कहते हैं, यह ज्ञान सकलादेशसे होता है।

के पुनः कालादयः। कालः आत्मरूपम् अर्थः संबन्धः उपकारः गुणिदेशः संसर्गः शब्दः। १ तत्र स्याद् जीवादिवस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषानन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाभेदवृत्तिः। २ यदेव चास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेव अन्यानन्तगुणानामपीति आत्मरूपेणाभेदवृत्तिः। ३ य एव चाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः। ४ य एव चाविष्वग्भावः कथंचित् तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एव शेषविशेषाणामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः ५ य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्तिः। ६ य एव गुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्यगुणानामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः। ७ य एव चैकवस्त्वात्मनास्तित्वस्य संसर्गः स एव शेषधर्माणामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः। अविष्वग्भावेऽभेदः प्रधानम् भेदो गौणः, संसर्गे तु भेदः प्रधानम् अभेदो गौण इति विशेषः। ८ य एव चास्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव शेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः। पर्यायार्थिकनयगुणभावे द्रव्यार्थिकनयप्राधान्याद् उपपद्यते ॥

(१) **काल**—'जीव आदि पदार्थ कथंचित् अस्ति रूप ही हैं' यह कहनेपर जिस समय जीवमें अस्तित्व आदि धर्म मौजूद रहते हैं, उस समय जीवमें और भी अनन्त धर्म पाये जाते है, अतएव कालकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म एक हैं। (२) **आत्मरूप** (स्वभाव)—जिस प्रकार जीवका अस्तित्व स्वभाव है, उसी प्रकार और धर्म भी जीवके स्वभाव हैं। इस लिये स्वभावकी अपेक्षा अस्तित्व आदि अभिन्न हैं। (३) **अर्थ** (आधार)—जिस प्रकार द्रव्य अस्तित्वका आधार है, वैसे ही और धर्म भी द्रव्यके आधार हैं। अतएव आधारकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न हैं। (४) **संबंध**—जिस प्रकार कथंचित् तादात्म्य संबंध अस्तित्वमें रहता है, उसी तरह उक्त संबंध अन्य धर्मोंमें भी रहता है, इस लिये संबंधकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न हैं। (५) **उपकार**—जो उपकार अस्तित्वके द्वारा अपने स्वरूपमें अनुराग उत्पन्न करता है, वही उपकार अन्य धर्मोंके द्वारा भी अनुरागको पैदा करता है, अतएव उपकारकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्मोंमें अभेद है। (६) **गुणिदेश** (द्रव्यका आधार)—जो क्षेत्र द्रव्यसे संबंध रखनेवाले अस्तित्वका है, वही क्षेत्र अन्य धर्मोंका है, अतएव अस्तित्व आदि धर्मोंमें अभेद भाव है। (७) **संसर्ग**—एक वस्तुकी अपेक्षासे जो संसर्ग अस्तित्वका है, वही संसर्ग अन्य धर्मोंका भी है, इस लिये संसर्गकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्मोंमें अभेद है। संबंधमें अभेदकी प्रधानता और भेदकी गौणता, तथा संसर्गमें भेदकी प्रधानता और अभेदकी गौणता होती है। (८) **शब्द**—जिस 'अस्ति' शब्दसे अस्तित्व धर्मका ज्ञान होता है, उसी 'अस्ति' शब्दसे अन्य धर्म भी जाने जाते हैं, अतएव शब्दकी अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म परस्पर अभिन्न हैं। जिस समय पर्यायार्थिक नयकी गौणता और द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता होती है, उस समय पदार्थोंके धर्मोंमें अभेद भावका ज्ञान होनेसे अभेदवृत्ति होती है।

द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्ये तु न गुणानामभेदवृत्तिः सम्भवति। समकालमेकत्र नानागुणानामसम्भवात्। सम्भवे वा तदाश्रयस्य तावद्धा भेदप्रसङ्गात्। नानागुणानां सम्बन्धिन आत्मरूपस्य च भिन्नत्वात् आत्मरूपाभेदे तेषां भेदस्य विरोधात्। स्वाश्रयस्यार्थस्यापि नानात्वाद्, अन्यथा नानागुणाश्रयत्वस्य विरोधात्। सम्बंधस्य च सम्बन्धिभेदेन भेददर्शनाद् नानासम्बन्धिभिरेकत्रसम्बन्धाघटनात्। तैः क्रियमाणस्योपकारस्य च प्रतिनियतरूपस्यानेकत्वात् अनेकैरुपकारिभिः क्रियमाणस्योपकारस्य विरोधात्। गुणिदेशस्य प्रतिगुणं भेदात् तदभेदे भिन्नार्थगुणानामपि गुणिदेशाभेदप्रसङ्गात्। संसर्गस्य च प्रतिसंसर्गिभेदात् तदभेदे संसर्गिभेदविरोधात्। शब्दस्य प्रतिविषयं नानात्वात् सर्वगुणानामेकशब्दवाच्यतायां सर्वार्थानामेकशब्दवाच्यतापत्तेः शब्दान्तरवैकल्यापत्तेः॥

द्रव्यार्थिक नयकी गौणता और पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता होनेपर काल आदिकी अपेक्षा अभेद भाव नहीं होता। (१) नाना गुण एक समयमें एक स्थान पर नहीं रह सकते। यदि अनेक गुण एक समयमें एक वस्तुमें रहें, तो गुणोंके आश्रित द्रव्योंमें भी उतने ही भेद मानने चाहिये। (२) अनेक गुणोंका स्वरूप (आत्म स्वरूप) परस्पर भिन्न है, क्योंकि वह एक दूसरे स्वरूपमें नहीं रहता, इस लिये गुणोंमें अभेद नहीं है। यदि गुणोंमें परस्पर भेद न हो, तो गुणोंको भिन्न भिन्न नहीं मानना चाहिये। (३) गुणोंके आश्रित आधार (अर्थ) भी नाना हैं, यदि गुणोंके आधार अनेक न हों, तो वे नाना गुणोंके आश्रित नहीं कहे जा सकते। (४) संबंधकी अपेक्षा भी गुणोंमें अभिन्नता संभव नहीं, क्योंकि एक संबंधसे अनेक संबंधियोंके साथ संबंध नहीं बन सकता। (५) उपकारकी अपेक्षा भी गुण परस्पर अभिन्न नहीं हैं। क्योंकि प्रत्येक गुणका उपकार जुदा जुदा है, कारण कि अनेक गुणोंका उपकार अनेक रूप होता है। (६) गुणिदेशकी अपेक्षासे भी गुण अभिन्न नहीं हैं। क्योंकि यदि गुण और गुणीदेश एक हों, तो सम्पूर्ण गुणोंको एक मानना चाहिये। (७) इसी प्रकार संसर्गकी अपेक्षा भी गुण भिन्न हैं। यदि गुण संसर्गकी अपेक्षा अभिन्न हों तो सम्पूर्ण गुणोंको एक मानना चाहिये। (८) तथा शब्दकी अपेक्षासे भी गुण भिन्न हैं। यदि एक शब्दसे सब गुणोंका ज्ञान होने लगे, तो एक शब्दसे सम्पूर्ण गुणोंका ज्ञान हो जाना चाहिये और दूसरे शब्दोंको निष्फल मानना चाहिये।

तत्त्वतोऽस्तित्वादीनामेकत्र वस्तुन्येवमभेदवृत्तेरसंभवे कालादिभिर्भिन्नात्मनामभेदोपचारः क्रियते। तदेताभ्यामभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्यां कृत्वा प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः समसमयं यदभिधायकं वाक्यं स सकलादेशः प्रमाणवाक्यापरपर्यायः। नयविषयीकृतस्य वस्तुधर्मस्य भेदवृत्तिप्राधान्याद् भेदोपचाराद् वा क्रमेण यदभिधायकं वाक्यं स विकलादेशो नयवाक्यापरपर्यायः। इति स्थितम्। ततः साधूक्तम् आदेशभेदोदितसप्तभङ्गम् ॥ इति काव्यार्थः॥ २३॥

अतएव पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अस्तित्व आदि समस्त गुणोंकी अभेदवृत्ति (युगपत् भाव) एक वस्तुमें असंभव है, इस लिये काल, आत्म स्वरूप आदिके भेदसे अस्तित्व आदि भिन्न हैं। इन अस्तित्व आदि गुणोंके भिन्न होनेपर भी इनमें अभेद भावकी कल्पना की जाती है। इस लिये द्रव्यार्थिक नयकी मुख्यतासे अभेदवृत्ति और पर्यायार्थिक नयकी मुख्यतासे अभेदोपचारके द्वारा अनन्त धर्मवाले पदार्थोंको एक साथ कहनेवाले वाक्यको सकलादेश, अथवा प्रमाण वाक्य कहते हैं। तथा एक देशसे जानी हुई वस्तुको भेदवृत्ति अथवा भेदोपचारसे क्रमसे कहनेवाले वाक्यको विकलादेश, अथवा नय वाक्य कहते हैं। इसी सकलादेश और विकलादेशके भेदसे प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी ये सप्तभंगीके दो भेद होते हैं। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—इस श्लोकमें जैन दर्शनके सात भंगोंका प्ररूपण किया गया है। 'सप्तभंगी' अनेकान्तवादका ही विकसित रूप है। जैन सिद्धांतके अनुसार प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्म विद्यमान हैं। इन अनन्त धर्मोंका कथन एक समयमें किसी एक शब्दसे नहीं किया जा सकता। इस लिये जैन विद्वानोंने प्रमाण वाक्य और नय वाक्यकी खोज की है। इसी प्रमाण वाक्य और नय वाक्यको क्रमसे सकलादेश और विकलादेश कहते हैं। पदार्थके धर्मोंका काल, आत्मरूप, अर्थ, संबंध, उपकार, गुणिदेश, संसर्ग और शब्दकी अपेक्षा अभेद रूपसे एक साथ कथन करनेवाले वाक्यको सकलादेश, अथवा प्रमाण वाक्य कहते हैं। तथा काल, आत्मरूप आदिकी भेद विवक्षासे पदार्थोंके धर्मोंको क्रमसे कहनेवाले वाक्यको विकलदेश, अथवा नय वाक्य कहते हैं। सकलादेश और विकलादेश प्रमाणसप्तभंगी और नय सप्तभंगीके भेदसे सात सात भेदोंमें विभक्त हैं।

(१) **स्यादस्ति जीवः**—किसी अपेक्षासे जीव अस्ति रूप ही है। इस भंगमें द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता, और पर्यायार्थिक नयकी गौणता है। इस लिये जब हम कहते हैं, कि 'स्यादस्त्येव जीवः,' तो इसका अर्थ होता है, कि किसी अपेक्षासे जीवके अस्तित्व धर्मकी प्रधानता, और नास्तित्व धर्मकी गौणता है। दूसरे शब्दोंमें हम कह सकते हैं, कि जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा विद्यमान है, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा नहीं। यदि जीव अपने द्रव्य आदिकी अपेक्षा अस्ति रूप, और दूसरे द्रव्य आदिकी अपेक्षा नास्ति रूप न हो, तो जीवका स्वरूप नहीं बन सकता। (२) **स्यान्नास्ति जीवः**—किसी अपेक्षासे जीव नास्ति रूप ही है। इस भंगमें पर्यायार्थिक नयकी मुख्यता, और द्रव्यार्थिक नयकी गौणता है। जीव पर सत्ताके अभावकी अपेक्षाको मुख्य करके नास्ति रूप है, तथा स्व सत्ताके भावकी अपेक्षाको गौण करके अस्ति रूप है। यदि पदार्थोंमें पर सत्ताका अभाव न माना जाय, तो समस्त पदार्थ एक रूप हो जाय। यह पर सत्ताका अभाव अस्तित्व रूपकी तरह स्व सत्ताके भावकी अपेक्षा रखता है। इस लिये जिस प्रकार अस्तित्व रूपसे है, और नास्तित्व रूपसे नहीं, उसी तरह पर सत्ताका अभाव भी स्व सत्ताके भावकी अपेक्षा रखता है। कोई भी वस्तु सर्वथा भाव अथवा अभाव रूप नहीं हो सकती, इस लिये भाव और अभावको सापेक्ष ही मानना चाहिये। (३) **स्यादस्ति च नास्ति च जीवः**—जीव कथंचित् अस्ति और नास्ति स्वरूप है। इस नयमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी प्रधानता है। जिस समय बोलनेवालेके अस्ति और नास्ति दोनों धर्मोंके कथन करनेकी विवक्षा होती है, उस समय इस भंगका व्यवहार होता है। यह नय भी कथंचित् रूप है। यदि वस्तुके स्वरूपको सर्वथा वक्तव्य मान कर किसी अपेक्षासे भी अवक्तव्य न मानें, तो एकान्त पक्षमें अनेक दूषण आते हैं।

(४) **स्यादवक्तव्य जीवः**—जीव कथंचित् अवक्तव्य ही है। इस भंगमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी अप्रधानता है। ऊपर कहा चुका है, कि जिस समय वस्तुका स्वरूप एक नयकी अपेक्षा कहा जाता है, उस समय दूसरा नय सर्वथा निरपेक्ष नहीं रहता। किन्तु जिस नयकी जहां विवक्षा होती है, वह नय वहां प्रधान होता है, और जिस नयकी जहां विवक्षा नहीं होती, वह नय वहां गौण होता है। प्रथम भंगमें जीवके अस्तित्वकी मुख्यता है, दूसरे भंगमें नास्तित्व धर्मकी मुख्यता है। अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंकी मुख्यतासे जीवका एक साथ कथन करना संभव नहीं है, क्योंकि एक शब्दसे अनेक गुणोंका निरूपण नहीं हो सकता। इस लिये एक साथ अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंकी अपेक्षासे जीव कथंचित् अवक्तव्य ही है। (५) **स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च जीवः**—जीव कथंचित् अस्ति रूप और अवक्तव्य रूप है। इस नयमें द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता, और द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिककी अप्रधानता है। किंचित् द्रव्यार्थ अथवा पर्यायार्थ विशेषके आश्रयसे जीव अस्ति स्वरूप है, तथा द्रव्य सामान्य और पर्याय सामान्य अथवा द्रव्य विशेष और पर्यायविशेषकी एक साथ अभिन्न विवक्षासे जीव अवक्तव्य स्वरूप है। जैसे जीवत्व अथवा मनुष्यत्वकी अपेक्षासे आत्मा अस्तित्व स्वरूप है, तथा द्रव्य सामान्य और पर्याय सामान्यकी अपेक्षा वस्तुके भाव और अवस्तुके अभावके एक साथ अभेदकी अपेक्षा आत्मा अवक्तव्य है। (६) **स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च जीवः**—जीव कथंचित् नास्ति और अवक्तव्य रूप है। इस भंगमें पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता, और द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनोंकी अप्रधानता है। जीव पर्यायकी अपेक्षासे नास्ति रूप है, तथा अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंकी एक साथ अभेद विवक्षासे अवक्तव्य स्वरूप है। (७) **स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च जीवः**—जीव कथंचित् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य रूप है। जीव द्रव्यकी अपेक्षा अस्ति, पर्यायकी अपेक्षा नास्ति और द्रव्य-पर्याय दोनोंकी एक साथ अपेक्षासे अवक्तव्य रूप है। इस भंगमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनोंकी प्रधानता और अप्रधानता है।

अनन्तरं भगवद्दर्शितस्यानेकान्तात्मनो वस्तुनो बुधरूपवेद्यत्वमुक्तम्। अनेकान्तात्मकत्वं च सप्तभङ्गीप्ररूपणेन सुखोन्नेयं स्यादिति सापि निरूपिता। तस्यां च विरुद्धधर्माध्यासितं वस्तु पश्यन्त एकान्तवादिनोऽबुधरूपा विरोधमुद्भावयन्ति तेषां प्रमाणमार्गात् च्यवनमाह—

जिन भगवानके प्रतिपादित किये हुए अनेकान्तवादको विज्ञ पंडित लोग ही समझ सकते हैं, यह कहा चुका है। यह अनेकान्तवाद सप्तभंगी रूप है। परन्तु एकान्तवादी सप्तभंगीवादमें अस्ति, नास्ति विरुद्ध धर्मोंको देख कर दोष दिखाते हैं। ये एकान्तवादी सन्मार्गसे च्युत होते हैं—

उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ—प्रत्येक पदार्थमें अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य रूप परस्पर विरुद्ध धर्मोंको किसी अपेक्षा (उपाधि) से ही प्रतिपादित किया गया है । विरोधसे भयभीत हुए एकान्तवादी मूर्ख लोग इस सिद्धांतको न समझ कर न्याय मार्गसे च्युत होते हैं ।

अर्थेषु पदार्थेषु चेतनाचेतनेषु, असत्त्वं नास्तित्वं न विरुद्धं न विरोधावरुद्धम् । अस्तित्वेन सह विरोधं नानुभवतीत्यर्थः । न केवलमसत्त्वं न विरुद्धम् किंतु सदवाच्यते च । सच्चावाच्यं च सदवाच्ये, तयोर्भावौ सदवाच्यते । अस्तित्वावक्तव्यत्वे इत्यर्थः । ते अपि न विरुद्धे । तथाहि । आस्तित्वं नास्तित्वेन सह न विरुध्यते । अवक्तव्यत्वमपि विधिनिषेधात्मकमन्योन्यं न विरुध्यते । अथवा अवक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वेन साकं न विरोधमुद्वहति । अनेन च नास्तित्वास्तित्वावक्तव्यत्वलक्षणभङ्गत्रयेण सकलसप्तभङ्ग्या निर्विरोधता उपलक्षिता । अमीषामेव त्रयाणां मुख्यत्वाच्छेषभङ्गानां च संयोगजत्वेनामीष्वेवान्तर्भावादिति ॥

व्याख्यार्थ—जिस तरह चेतन और अचेतन पदार्थोंमें अस्तित्व और नास्तित्वमें परस्पर कोई विरोध नहीं, उसी तरह विधि और निषेध रूप अवक्तव्यका भी अस्तित्व और नास्तित्वसे विरोध नहीं है । अथवा, अवक्तव्यका वक्तव्यके साथ कोई विरोध नहीं, इस लिये अवक्तव्यका अस्तित्व और नास्तित्वसे भी विरोध नहीं है । अतएव अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य इन तीन मूल भंगोंमें परस्पर विरोध न होनेसे सम्पूर्ण सप्तभंगीमें भी कोई विरोध नहीं आता । क्योंकि आदिके तीन भंग ही मुख्य भंग हैं, शेष भंग इन्हीं तीनोंके संयोगसे बनते हैं, अतएव उनका इन्हींमें अंतर्भाव हो जाता है ।

नन्वेते धर्माः परस्परं विरुद्धाः तत्कथमेकत्र वस्तुन्येषां समावेशः संभवति इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह उपाधिभेदोपहितम् इति । उपाधयोऽवच्छेदका अंशप्रकाराः तेषां भेदो नानात्वम्, तेनोपहितमर्पितम् । असत्त्वस्य विशेषणमेतत् । उपाधिभेदोपहितं सदर्थेष्वसत्त्वं न विरुद्धम् । सदवाच्यतयोश्च वचनभेदं कृत्वा योजनीयम् । उपाधिभेदोपहिते सती सदवाच्यते अपि न विरुद्धे ॥

शंका—अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य परस्पर विरुद्ध हैं, अतएव ये किसी वस्तुमें एक साथ नहीं रह सकते । **समाधान**—वास्तवमें अस्तित्व आदिमें विरोध नहीं है, क्योंकि अस्तित्व आदि किसी अपेक्षासे स्वीकार किये गये हैं । पदार्थोंमें अस्तित्व, नास्तित्व आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं । जिस समय हम पदार्थोंमें अस्तित्व धर्म सिद्ध करते हैं, उस समय अस्तित्व धर्मकी प्रधानता और अन्य धर्मोंकी गौणता रहती है । अतएव अस्तित्व और

नास्तित्व धर्ममें परस्पर विरोध नहीं है। इसी तरह अस्तित्व और अवक्तव्य भी अपेक्षाके भेदसे माने गये हैं। इस लिये इनमें विरोध नहीं आता।

अयमभिप्रायः। परस्परपरिहारेण ये वर्तेते तयोः शीतोष्णवत् सहानवस्थानलक्षणो विरोधः। न चात्रैवम्। सत्त्वासत्त्वयोरितरेतरमविष्वग्भावेन वर्तनात्। न हि घटादौ सत्त्वमसत्त्वं परिहृत्य वर्तते। पररूपेणापि सत्त्वप्रसङ्गात्। तथा च तद्व्यतिरिक्तार्थान्तराणां नैरर्थक्यम्। तेनैव त्रिभुवनार्थसाध्यार्थक्रियाणां सिद्धेः। न चासत्त्वं सत्त्वं परिहृत्य वर्तते। स्वरूपेणाप्यसत्त्वप्राप्तेः। तथा च निरुपाख्यत्वात् सर्वशून्यतेति। तदा हि विरोधः स्याद् यद्येकोपाधिकं सत्त्वमसत्त्वं च स्यात्। न चैवम्। यतो न हि येनैवांशेन सत्त्वं तेनैवासत्त्वमपि। किं त्वन्योपाधिकं सत्त्वम्, अन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम्। स्वरूपेण हि सत्त्वं पररूपेण चासत्त्वम्॥

जिस प्रकार शीत और उष्ण एक दूसरेके विरोधी होनेसे एक साथ नहीं रहते, उस प्रकार सत्व और असत्व में परस्पर विरोध नहीं देखा जाता। सत्व और असत्व एक साथ अभेद भावसे रहते हैं। घट आदि पदार्थोंमें सत्व असत्वको हटा कर नहीं रहता। यदि सत्व असत्वको हटा कर रहे, तो पटकी अपेक्षा भी घटको घट मानना चाहिये। अतएव घटके अतिरिक्त दूसरे पदार्थोंको स्वीकार करना विलकुल निरर्थक होगा, क्योंकि एक घटको तीनों लोकोंके संपूर्ण पदार्थ स्वरूप मान कर उसीसे सम्पूर्ण प्रयोजन सिद्ध हो जाया करेगा। इसी तरह असत्व भी सत्वको छोड़ कर नहीं रह सकता। यदि सत्वके विना असत्व रहे, तो असत्व भी अपने स्वरूपसे सत्व नहीं कहा जा सकता। अतएव सम्पूर्ण वस्तुओंके स्वभाव नष्ट होनेसे सब पदार्थोंको शून्य मानना पड़ेगा। तथा यदि हम लोग जिस अपेक्षासे सत्व मानते हैं, उसी अपेक्षासे असत्व मानें, तो सप्तभंगीवादमें विरोध आ सकता है। परन्तु हम लोग जिस अपेक्षासे सत्व मानते हैं, उसी अपेक्षासे असत्व नहीं मानते। किन्तु प्रत्येक वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा सत्व, और पर रूपकी अपेक्षा असत्व है।

दृष्टं ह्येकस्मिन्नेव चित्रपटावयविनि अन्योपाधिकं तु नीलत्वम्, अन्योपाधिकाश्चेतरे वर्णाः। नीलत्वं हि नीलीरागाद्युपाधिकम्, वर्णान्तराणि च तत्तद्रञ्जनद्रव्योपाधिकानि। एवं [1]मेचकरत्नेऽपि तत्तद्वर्णपुद्गलोपाधिकं वैचित्र्यमवसेयम्। न चैभिर्दृष्टान्तैः सत्त्वासत्त्वयोर्भिन्नदेशत्वप्राप्तिः। चित्रपटाद्यवयविन एकत्वात्। तत्रापि भिन्नदेशत्वासिद्धेः। कथंचित्पक्षस्तु दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च स्याद्वादिनां न दुर्लभः। एवमप्यपरितोषश्चेद् आयुष्मतः, तर्ह्येकस्यैव पुंसस्तत्तदुपाधिभेदात् पितृत्वपुत्रत्वमातुलत्वभागिनेयत्वपितृव्यत्वभ्रातृव्यत्वादिधर्माणां परस्परविरुद्धानामपि प्रसिद्धिदर्शनात् किं वाच्यम्। एवमवक्तव्यत्वादयोऽपि वाच्या इति॥

---

[1] पञ्चवर्णं रत्नं।

इसी प्रकार एक चित्रपट (अनेक रंगोसे रंगा हुआ वस्त्र) में जो नीला रंग दीख पड़ता है, वह दूसरी वस्तुके संबंधसे होता है, और दूसरे रंग अपनी जुदी जुदी सामग्रियोंसे होते हैं। मेचक रत्नमें भी इसी प्रकार भिन्न भिन्न वर्णके पुद्गलोंकी अपेक्षा विचित्रता पायी जाती है। यदि कहो, कि चित्रपट और मेचकके दृष्टांतसे सत्व और असत्वका भिन्न भिन्न स्थानोंमें रहना सिद्ध होता है, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि चित्रपट और मेचक रत्न अनेक रंगोंके आश्रित हो कर भी स्वयं अखंड हैं, अतएव भिन्न भिन्न रंगोंका एक ही आधार माना जाता है। अतएव जिस प्रकार स्याद्वादियोंके मतमें भिन्न भिन्न रंग और उनके आधार भूत वस्त्र परस्पर कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं, उसी प्रकार सत्व और असत्वके आश्रित पदार्थ भी परस्पर कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं। अतएव जिस प्रकार एक ही पुरुषमें भिन्न भिन्न अपेक्षाओंसे पिता, पुत्र, मामा, भानजा, चाचा, भतीजा आदि परस्पर विरुद्ध धर्म मौजूद रहते हैं, उसी तरह एक ही वस्तुमें अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य धर्म विद्यमान हैं।

उक्तप्रकारेण उपाधिभेदेन वास्तवं विरोधाभावमप्रबुध्यैवाज्ञात्वैव। एवकारोऽवधारणे। स च तेषां सम्यग्ज्ञानस्याभाव एव न पुनर्लेशतोऽपि भाव इति व्यनक्ति। ततस्ते विरोधभीताः सत्त्वासत्त्वादिधर्माणां बहिर्मुखशेमुष्या संभावितो वा विरोधः सहानवस्थानादिः, तस्माद् भीतास्त्रस्तमानसाः। अत एव जडाः तात्त्विकभयहेतोरभावेऽपि तथाविधपशुवद् भीरुत्वान्मूर्खाः परवादिनः। तदेकान्तहताः तेषां सत्त्वादिधर्माणां य एकान्त इतरधर्मनिषेधेन स्वाभिप्रेतधर्मव्यवस्थापननिश्चयस्तेन हता इव हताः पतन्ति स्खलन्ति पतिताश्च सन्तस्ते न्यायमार्गाक्रमणे न समर्थाः, न्यायमार्गाध्वनीनानां च सर्वेषामप्याक्रमणीयतां यान्तीति भावः। यद्वा पतन्तीति प्रमाणमार्गतः च्यवन्ते। लोके हि सन्मार्गच्युतः पतित इति परिभाष्यते। अथवा यथा वज्रादिप्रहारेण हतः पतितो मूर्च्छामतुच्छामासाद्य निरुद्धवाक्प्रसरो भवति, एवं तेऽपि वादिनः स्वाभिमतैकान्तवादेन युक्तिसरणीमननुसरता वज्राशनिप्रायेण निहताः सन्तः स्याद्वादिनां पुरतोऽकिञ्चित्करा वाङ्मात्रमपि नोच्चारयितुमीशत इति ॥

इस प्रकार सप्तभंगीवादमें नाना अपेक्षाकृत विरोधाभावको न समझ कर, अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंमें स्थूल रूपसे दिखाई देनेवाले विरोधसे भयभीत हो कर, अस्तित्व आदि धर्मोंमें नास्तित्व आदि धर्मोंका निषेध करके अपने मतको स्थापित करनेके लिये एकान्त पक्षका अवलम्बन लेनेवाले युक्ति मार्गका अनुसरण करनेमें असमर्थ मूर्ख एकान्तवादी एकान्तवादके वज्रप्रहारसे स्याद्वादियोंके समक्ष निस्तेज हो कर न्याय-मार्गसे च्युत हो कर अवाक् हो जाते हैं।

अत्र च विरोधस्योपलक्षणत्वात् वैयधिकरण्यम् अनवस्था संकरः व्यतिकरः संशयः अप्रतिपत्तिः विषयव्यवस्थाहानिरित्येतेऽपि परोद्भाविता दोषा अभ्यूह्याः। तथाहि। सामान्यविशेषात्मकं वस्तु इत्युपन्यस्ते परे उपालब्धारो भवन्ति। यथा सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूपयोर्विरुद्धधर्मयोरेकत्राभिन्ने वस्तुनि असंभवात् शीतोष्णवदिति विरोधः। न हि यदेव विधेरधिकरणं तदेव प्रतिषेधस्याधिकरणं भवितुमर्हति, एकरूपतापत्तेः, ततो वैयधिकरण्यमपि[1] भवति। अपरं च येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं येन च विशेषस्य तावप्यात्मानौ एकेनैव स्वभावेनाधिकरोति द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्याम्? एकेनैव चेत् तत्र पूर्ववद् विरोधः। द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्यां सामान्यविशेषाख्यं स्वभावद्वयमधिकरोति तदानवस्था[2], तावपि स्वभावान्तराभ्याम् तावपि स्वभावान्तराभ्यामिति। येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं तेन सामान्यस्य विशेषस्य च, येन च विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति सङ्करदोषः[3]। येन स्वभावेन सामान्यं तेन विशेषः, येन विशेषस्तेन सामान्यमिति व्यतिकरः[4]। ततश्च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः। ततश्चाप्रतिपत्तिः। ततश्च प्रमाणविषयव्यवस्थाहानिरिति॥

शंका—सप्तभंगीवादमें विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और विषयव्यवस्थाहानि ये आठ दोष आते हैं। (१) जिस प्रकार शीत और उष्णमें विरोध है, उसी प्रकार अस्तित्व और नास्तित्वमें परस्पर विरोध है। इस लिये जहां पदार्थका अस्तित्व गुण है, वहां उस पदार्थका नास्तित्व गुण नहीं रह सकता, और जहां पदार्थका नास्तित्व है, वहां उसका अस्तित्व नहीं रह सकता। अतएव अस्तित्व और नास्तित्वको एक ही पदार्थमें स्वीकार करनेसे सप्तभंगीमें विरोध आता है। (२) अस्तित्व और नास्तित्वके परस्पर विरुद्ध होनेसे अस्तित्वका अधिकरण नास्तित्वका, और नास्तित्वका अधिकरण अस्तित्वका अधिकरण नहीं कहा जा सकता! अतएव अस्तित्व और नास्तित्वका अलग अलग अधिकरण होनेसे सप्तभंगीमें वैयधिकरण्य दोष आता है। (३) जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थमें अस्तित्व और नास्तित्व धर्म रहते हैं, उसी तरह 'अस्तित्व' और 'नास्तित्व' में भी अस्तित्व और नास्तित्व मानने चाहिये। इस लिये अस्तित्व और नास्तित्वमें अनेक अस्तित्व और नास्तित्व माननेसे सप्तभंगीमें अनवस्था दोष आता है। (४) स्याद्वादियोंके मतमें अस्तित्व और

---

[1] विभिन्नाधिकरणवृत्तित्वम्। [2] अप्रामाणिकपदार्थपरम्परापरिकल्पनाविश्रान्त्यभावश्चानवस्था।

[3] येन रूपेण सत्त्वं तेन रूपेणासत्त्वस्यापि प्रसंगः। येन रूपेण चासत्त्वं तेन रूपेण सत्त्वस्यापि प्रसंग इति संकरः। "सर्वेषां युगपत्प्राप्तिस्संकरः" इत्यभिधानात्। [4] येन रूपेण सत्त्वं तेन रूपेणासत्त्वमेव स्यान्न तु सत्त्वं। येन रूपेण चासत्त्वं तेन सत्त्वमेव स्यान्नत्वसत्त्वम् इति व्यतिकरः। "परस्परविषयगमनं व्यतिकरः" इति वचनात्। सप्तभंगीतरंगिण्यां पृ.. ८२।

नास्तित्व एक जगह रहते हैं। इस लिये अस्तित्वके अधिकरणमें अस्तित्व और नास्तित्वके रहनेसे, और नास्तित्वके अधिकरणमें नास्तित्व और अस्तित्वके रहनेसे स्याद्वादमें संकर दोष आता है। (५) अस्तित्व और नास्तित्वके एक साथ रहनेसे अस्तित्व रूपसे नास्तित्व, और नास्तित्व रूपसे अस्तित्व माननेसे स्याद्वादमें व्यतिकर दोष आता है। (६) वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंमें किसी धर्मका ठीक निश्चय न होनेसे स्याद्वादमें संशय दोष आता है। जिस प्रकार एक वस्तुमें सीप और चांदीका निश्चय रूप ज्ञान न होनेसे संशय उत्पन्न होता है, उसी तरह स्याद्वादमें अस्तित्व, नास्तित्व आदि विरोधी धर्मोंका निश्चय न होनेसे संशय उत्पन्न होता है। (७) संशय होनेसे वस्तुका ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव स्याद्वादमें अप्रतिपत्ति दोष आता है। (८) तथा वस्तुका यथार्थ ज्ञान न होनेसे वस्तुकी व्यवस्था नहीं बनती, अतएव स्याद्वादमें विषयव्यवस्थाहानि (अभाव) दोष आता है।

एते च दोषाः स्याद्वादस्य जात्यन्तरत्वाद् निरवकाशा एव। अतः स्याद्वादमर्मवेदिभिरुद्धरणीयास्तत्तदुपपत्तिभिरिति। स्वतन्त्रतया निरपेक्षयोरेव सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूपयोस्तेषामवकाशात्। अथवा विरोधशब्दोऽत्र दोषवाची। यथा विरुद्धमाचरतीति दुष्टमित्यर्थः। ततश्च विरोधेभ्यो विरोधवैयधिकरण्यादिदोषेभ्यो भीता इति व्याख्येयम्। एवं च सामान्यशब्देन सर्वा अपि दोषव्यक्तयः संगृहीता भवन्ति॥ इति काव्यार्थः॥ २४॥

समाधान–(१) स्याद्वादियोंके मतमें एक वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्वका कथन अपेक्षा विशेषको ले कर किया गया है, इस लिये शीत और उष्ण स्पर्शकी तरह अस्तित्व और नास्तित्वमें विरोध नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक पदार्थमें अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा अस्तित्व, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा नास्तित्व माना गया है, अतएव अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंको एक जगह एक ही समयमें नहीं माननेसे स्याद्वादमें विरोध नामक दोष नहीं आ सकता। बध्यघातक, सहानवस्थान और प्रतिबंध्य-प्रतिबंधकके भेदसे विरोध तीन प्रकारका होता है। सर्प और नकुलमें, जल और अग्निमें बध्यघातक विरोध है, क्योंकि यह विरोध एक कालमें बध्य और घातक दो पदार्थोंके संयोगसे होता है। भिन्न भिन्न समयमें होनेवाले दो पदार्थोंमें सहानवस्थान विरोध होता है। जैसे आमके हरेपन और पीलेपनमें सहानस्थान विरोध है, क्योंकि आमका हरापन और पीलापन भिन्न भिन्न समयमें होता है। जिस समय आममें हरापन रहता है, उस समय पीलापन, और जिस समय पीलापन रहता है उस समय हरापन नहीं रहता है। चन्द्रकान्त मणि और दाहमें परस्पर प्रतिबंध्य-प्रतिबन्धक विरोध है। क्योंकि दाहके प्रतिबन्ध करनेवाले चन्द्रकान्त मणिके रहते हुए अग्निसे दाह उत्पन्न नहीं होती। स्याद्वादियोंके मतमें ये तीनों विरोध नहीं आते। स्याद्वादी लोग अस्तित्व और नास्तित्वकी एक समयके लिये भी एक पदार्थमें स्थिति स्वीकार नहीं करते,

इस लिये स्याद्वादमें शीत और उष्णकी तरह बध्यघातक विरोध नहीं कहा जा सकता। आमके हरेपन और पीलेपनकी तरह अस्तित्व और नास्तित्व पूर्व और उत्तर कालमें नहीं रहते, इस लिये यहां सहानवस्थान विरोधका लक्षण भी नहीं घटता। तथा दाह और चन्द्रकान्त मणिकी तरह अस्तित्व और नास्तित्वमें प्रतिबंध्य-प्रतिबंधक विरोध भी नहीं है। क्योंकि जिस समय जीवमें अस्तित्व धर्म है, उसी समय जीवमें पर द्रव्य आदिकी अपेक्षा नास्तित्व धर्म भी मौजूद है। इसी तरह जिस समय जीवमें पर द्रव्य आदिकी अपेक्षा नास्तित्व धर्म है, उसी समय द्रव्य आदिकी अपेक्षा अस्तित्व धर्म मौजूद है। अतएव स्याद्वादमें विरोध नहीं आ सकता। इस लिये जैसे एक वृक्षमें चंचलता और स्थिरता, एक घटमें लाल और कालापन आदि विरोधी धर्मोंके रहते हुए भी विरोध नहीं कहा जाता, उसी तरह एक वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्वके रहनेसे विरोध नहीं कह सकते। (२) अस्तित्व और नास्तित्वमें विरोध न रहनेसे अस्तित्व और नास्तित्वका अधिकरण भी जुदा जुदा नहीं रहता, इस लिये स्याद्वादमें वैयधिकरण्य दोष भी नहीं आता। (३) प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म प्रमाणसे सिद्ध होते हैं। जैसे माता पिताकी परम्परा प्रमाणसे सिद्ध है, उसी तरह सप्तभंग भी प्रमाणसे सिद्ध हैं। अतएव केवल कल्पनाके अनन्त होनेसे स्याद्वादमें अनवस्था दोष नहीं आ सकता। तथा जिस प्रकार घटत्व धर्ममें घटत्वत्व धर्मकी कल्पना नहीं की जा सकती, उसी तरह अस्तित्व आदिमें भी दूसरे अस्तित्व आदिकी कल्पना नहीं कर सकते। (४–५) अस्तित्व और नास्तित्वके अविरोधी सिद्ध होनेपर अस्ति रूपको नास्ति नहीं कह सकते, इस लिये संकर; तथा अस्तिको नास्ति, और नास्तिको अस्ति नहीं कह सकते, इस लिये व्यतिकर दोष नहीं आते। क्योंकि वस्तु स्व चतुष्टयसे अस्ति रूप, और पर चतुष्टयसे नास्ति रूप है। (६) अनेक धर्मोंके अनिश्चित ज्ञानको संशय कहते हैं। यह अस्ति है, या नास्ति, यह संशय है। परन्तु वस्तुमें अपेक्षा भेदसे अस्तित्व और नास्तित्वके प्रतिपादन करनेमें संशय नहीं कहा जा सकता। स्याद्वादमें वस्तु अस्ति है, और नास्ति भी है, इस लिये स्याद्वादमें दोनों धर्मोंका निश्चय होता है। (७–८) संशय नहीं होनेसे निश्चित ज्ञानका अभाव न होनेके कारण अप्रतिपत्ति, और अप्रतिपत्ति (निश्चित ज्ञानका अभाव) न होनेसे स्याद्वादमें वस्तु व्यवस्थाका अभाव भी नहीं कहा जा सकता। अतएव 'साधर्म्यकी तरह अस्तित्व धर्मका नास्तित्व धर्मके साथ अविनाभाव संबंध है, विशेषण होनेसे।' जैसे साधर्म्य वैधर्म्यका अविनाभावी है, वैसे ही अस्तित्व नास्तित्वका अविनाभावी है। इसी तरह 'वैधर्म्यकी तरह नास्तित्व धर्म अस्तित्वके विना नहीं रह सकता'। अतएव अस्तित्व और नास्तित्वके अविनाभावी होनेसे स्याद्वादियोंके मतमें उक्त विरोध आदि दोष नहीं आ सकते। जो एकान्तवादी लोग अस्तित्व, नास्तित्व और सामान्य, विशेषको परस्पर निरपेक्ष मानते हैं, उन्हींके मतमें ये दूषण दिये जा सकते हैं। श्लोकमें 'विरोध' शब्दका अर्थ दोष करना चाहिये। इस लिये 'विरोध' शब्दसे वैयधिकरण्य, अनवस्था आदि सम्पूर्ण दोषोंका ग्रहण हो जाता है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—प्रत्येक वस्तुमें अनंत धर्म मौजूद हैं। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा सत् रूप, और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत् रूप है। वस्तुके अस्तित्व और नास्तित्व धर्मोंका एक साथ कथन नहीं किया जा सकता, इस लिये प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षासे अवक्तव्य भी है। किसी वस्तुमें अविरोध भावसे अस्तित्व और नास्तित्वकी कल्पना करनेको सप्तभंगी कहते हैं (प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी)। वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी कल्पना किसी अपेक्षाको ले कर ही की जाती है। अतएव स्व द्रव्य आदिकी अपेक्षा वस्तु कथंचित् अस्ति है, और पर द्रव्य आदिकी अपेक्षा वस्तु कथंचित् नास्ति है। इसीलिये सप्तभंगीवादमें विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और अभाव नामक दोषोंके लिये कोई अवकाश नहीं है। विरोध आदि दोषोंके निराकरण करनेसे शांकरभाष्य और सर्वदर्शन संग्रहमें शंकर और माधव आचार्योंद्वारा प्रतिपादित विरोध, संशय आदि दोषोंका भी परिहार हो जाता है। क्योंकि वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्व धर्म भिन्न भिन्न अपेक्षाओंको ले कर ही माने गये हैं। कारण कि जिस अपेक्षासे वस्तु अस्ति है, उसी अपेक्षासे स्याद्वादियोंने वस्तुको नास्ति स्वीकार नहीं किया है।

अथानेकान्तवादस्य सर्वद्रव्यपर्यायव्यापित्वेऽपि मूलभेदापेक्षया चातुर्विध्याभिधानद्वारेण भगवतस्तत्त्वामृतरसास्वादसौहित्यमुपवर्णयन्नाह—

अनेकान्तवाद सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंमें रहता है, परन्तु मुख्य भेदोंकी अपेक्षा स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य; स्यात् सामान्य, स्यात् विशेष; स्यात् वाच्य, स्यात् अवाच्य; स्यात् सत्, स्यात् असत्के भेदसे अनेकांतके चार भेद बताये गये हैं—

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव।
विपश्चितां नाथ निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ—हे विद्वानों के शिरोमणि, आपने अनेकान्त रूपी अमृतको पीकर प्रत्येक वस्तुको कथंचित् अनित्य, कथंचित् नित्य; कथंचित् सामान्य, कथंचित् विशेष; कथंचित् वाच्य, कथंचित् अवाच्य; कथंचित् सत् और कथंचित् असत् प्रतिपादन किया है।

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमष्टास्वपि पदेषु योज्यम्। तदेव अधिकृतमेवैकं वस्तु स्यात् कथञ्चिद् नाशि विनश्वनशीलमनित्यमित्यर्थः। स्यान्नित्यम् अविनाशिधर्मीत्यर्थः। एतावता नित्यानित्यलक्षणमेकं विधानम्। तथा स्यात् सदृशमनुवृत्तिहेतुसामान्यरूपम्। स्याद् विरूपं विविधरूपम् विसदृशपरिणामात्मकं व्यावृत्तिहेतुविशेषरूपमित्यर्थः। अनेन सामान्यविशेषरूपो द्वितीयः प्रकारः। तथा स्याद् वाच्यं वक्तव्यम्। स्याद् न

---

१ तत्वार्थराजवार्तिक पृ. २४

वाच्यमवक्तव्यमित्यर्थः। अत्र च समासेऽवाच्यमिति युक्तम्, तथाप्यवाच्यपदं योन्यादौ रूढमित्यसभ्यतापरिहारार्थं न वाच्यमित्यसमस्तं चकार स्तुतिकारः। एतेनाभिलाप्यानभिलाप्यस्वरूपस्तृतीयो भेदः। तथा स्यात्सद् विद्यमानमस्तिरूपमित्यर्थः। स्याद् असत् तद्विलक्षणमिति। अनेन सदसदाख्या चतुर्थीं विधा॥

व्याख्यार्थ—'स्यात्' शब्द अनेकांतका सूचक है। उसे नित्य, अनित्य आदि आठों वचनोंके साथ लगाना चाहिये। (१) प्रत्येक वस्तु विनाशी होनेके कारण कथंचित् अनित्य, और अविनाशी होनेके कारण कथंचित् नित्य है। (२) प्रत्येक वस्तु सामान्य रूप होनेसे कथंचित् सामान्य, और विशेष रूप होनेसे कथंचित् विशेष है। (३) प्रत्येक पदार्थ वक्तव्य होनेसे कथंचित् वाच्य, और अवक्तव्य होनेसे कथंचित् अवाच्य है। लोकमें अवाच्य शब्द योनि आदिके अर्थमें प्रयुक्त होता है, अतएव स्तुतिकार हेमचन्द्र आचार्यने श्लोकमें 'अवाच्य' शब्द न कह कर 'न वाच्यं' पद प्रयोग किया है। (४) तथा प्रत्येक पदार्थ आस्ति रूप है, इस लिये कथंचित् 'सत्', और नास्ति रूप है, इस लिये कथंचित् असत् है।

हे विपश्चितां नाथ संख्यावतां मुख्य इयमनन्तरोक्ता निपीततत्त्वसुधोद्गारपरम्परा। तवेति प्रकरणात् सामर्थ्याद्वा गम्यते। तत्त्वं यथावस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदः तदेव जरामरणापहारित्वाद् विबुधोपभोग्यत्वाद् मिथ्यात्वविषोर्मिनिराकरिष्णुत्वाद् आन्तराह्लादकारित्वाच्च सुधा पीयूषं तत्त्वसुधा। नितरामनन्यसामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वसुधा तस्या उद्गता प्रादुर्भूता तत्कारणिका उद्गारपरम्परा उद्गारश्रेणिरित्यर्थः। यथा हि कश्चिदाकण्ठं पीयूषरसमापीय तदनुविधायिनीमुद्गारपरम्परां मुञ्चति, तथा भगवानपि जरामरणापहारि तत्त्वामृतं स्वैरमास्वाद्य तद्रसानुविधायिनीं प्रस्तुतानेकान्तवादभेदचतुष्टयीलक्षणामुद्गारपरम्परां देशनामुखेनोद्गीर्णवानित्याशयः॥

हे विद्वानोंके शिरोमणि, जिस प्रकार कोई मनुष्य अमृतका खूब अधिक पान करके पीछे से बार बार डकार लेता है, उसी प्रकार आपने जन्म और मरणके नाश करनेवाली, विद्वानोंके उपभोग्य, मिथ्यात्व-विषको निर्विष करनेवाली, और आल्हाद उत्पन्न करनेवाली तत्व-सुधाको असाधारण रूपसे पान करके अनेकान्तवादके चार मुख्य भेदोंकी उद्गार परम्पराको उपदेशके द्वारा प्रगट किया है।

अथवा यैरेकान्तवादिभिर्मिथ्यात्वगरलभोजनमातृप्ति भक्षितं तेषां तत्तद्वचनरूपा उद्गारप्रकाराः प्राक् प्रदर्शिताः। यैस्तु पचेलिमप्राचीनपुण्यप्राग्भारानुग्रहीतैर्जगद्गुरुवदनेन्दुनिःस्यन्दि तत्त्वामृतं मनोहत्य पीतम्, तेषां विपश्चितां यथार्थवादविदुषां हे नाथ इयं पूर्वदलदर्शितोल्लेखशेखरा उद्गारपरम्परेति व्याख्येयम्। एते च चत्वारोऽपि

वादास्तेषु तेषु स्थानेषु प्रागेव चर्चिताः । तथाहि । 'आदीपमाव्योम समस्वभावम्' इति वृत्ते नित्यानित्यवादः प्रदर्शितः । 'अनेकमेकात्मकमेव वाच्यम्' इति काव्ये सामान्यविशेषवादः संसूचितः । सप्तभङ्ग्यामभिलाप्यानभिलाप्यवादः सदसद्वादश्च चर्चितः । इति न भूयः प्रयासः ॥ इति काव्यार्थः ॥ २५ ॥

अथवा, जिन एकान्तवादियोंने मिथ्यात्व रूपी विष-भोजनको खूब तृप्त हो कर भक्षण किया है, उनके वचन रूपी उद्गारोंका वर्णन कर चुके हैं । जिन पुण्यात्मा लोगोंने संसारके स्वामी आपके मुख-चन्द्रसे झरते हुए अमृतका पान किया है, उन यथार्थवक्ता विद्वानोंके मुखसे अनेकांतवादके चार मुख्य भेदोंकी उद्गार-परम्परा प्रगट हुई है । इन चार वादोंमें 'आदीपमाव्योम समस्वभावं' श्लोकमें नित्यानित्यवाद, 'अनेकमेकात्मकमेव वाच्यम्' श्लोकमें सामान्य-विशेषवाद, तथा सप्तभंगीवादमें वाच्य-अवाच्य और सत्-असत् वादका वर्णन किया गया है । यह श्लोकका अर्थ है ।

भावार्थ—स्याद्वादियोंके मतमें प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षासे नित्य-अनित्य, किसी अपेक्षासे वाच्य-अवाच्य, और किसी अपेक्षासे सत्-असत् है । इन चारों वादोंका स्याद्वादमें समावेश हो जाता है । अतएव प्रत्येक पदार्थको द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य, सामान्य, अवाच्य और सत्, तथा पर्यायार्थिक नयसे अनित्य, विशेष, वाच्य और असत् मानना ही न्याय संगत है । वस्तुमें एकान्त रूपसे नित्य, अनित्य आदि धर्मोंके माननेसे विरोध आता है । अतएव प्रत्येक वस्तुको अनेकांतात्मक मानना चाहिये ।

इदानीं नित्यानित्यपक्षयोः परस्परदूषणप्रकाशनबद्धलक्षतया वैरायमाणयोरितरेतरोदीरितविविधहेतुहेतिसंनिपातसंजातविनिपातयोरयत्नासिद्धप्रतिपक्षप्रतिक्षेपस्य सर्वोत्कर्षमाह—

एकान्त नित्य और एकांत अनित्यवादके माननेवाले एक दूसरेके दोष दिखा कर परस्पर लड़ते हैं, और एक दूसरेके सिद्धांतोंका खंडन करनेके लिये नाना प्रकारके हेतु रूपी शस्त्रोंके प्रहारसे गिर पड़ते हैं, अतएव प्रयत्नके विना ही भगवानके शासनकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध होती है—

य एव दोषाः किल नित्यवादे विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु जयत्यधृष्यं जिनशासनं ते ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार वस्तुको सर्वथा नित्य माननेमें दोष आते हैं, वैसे ही वस्तुको सर्वथा अनित्य माननेमें भी दोष आते हैं । जैसे एक कण्टक दूसरे कण्टकको नाश करता है, वैसे ही नित्यवादी और अनित्यवादी परस्पर दूषणोंको दिखा कर एक दूसरेका निराकरण करते हैं, अतएव जिनेन्द्र भगवानका शासन विना परिश्रमके ही विजयी होता है।

किलेति निश्चये। य एव नित्यवादे नित्यैकान्तवादे दोषा अनित्यैकान्तवादिभिः प्रसञ्जिताः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियानुपपत्त्यादयः, त एव विनाशवादेऽपि क्षणिकैकान्तवादेऽपि समाः तुल्याः, नित्यैकान्तवादिभिः प्रसज्यमाना अन्यूनाधिकाः॥

व्याख्यार्थ—यहां 'किल' शब्द निश्चय अर्थमें है। 'नित्यवादियोंके मतमें क्रमसे अथवा एक साथ अर्थक्रिया नहीं हो सकती' इस प्रकार जो अनित्यवादियोंने एकान्त नित्य पक्षमें दूषण दिये थे, वे सब दोष अनित्यवादियोंके पक्षमें भी आते हैं।

तथाहि। नित्यवादी प्रमाणयति। सर्वं नित्यं सत्त्वात्। क्षणिके सदसत्कालयोरर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणं सत्त्वं नावस्थां बध्नातीति ततो निवर्तमानमनन्यशरणतया नित्यत्वेऽवतिष्ठते। तथाहि। क्षणिकोऽर्थः सन्वा कार्यं कुर्याद् असन्वा, गत्यन्तराभावात्। न तावदाद्यः पक्षः, समसमयवर्तिनि व्यापारायोगात्। सकलभावानां परस्परं कार्यकारणभावप्राप्त्यातिप्रसङ्गाच्च। नापि द्वितीयः पक्षः क्षोदं क्षमते। असतः कार्यकारणशक्तिविकलत्वात्। अन्यथा शशविषाणादयोऽपि कार्यकरणायोत्सहेरन्, विशेषाभावात् इति॥

नित्यवादी—'सम्पूर्ण पदार्थ नित्य हैं, सत् होनेसे।' क्षणिक पदार्थोंकी विद्यमान अथवा अविद्यमान अवस्थामें कोई अर्थक्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि पदार्थोंको क्षणिक माननेसे उनमें स्थिरता नहीं रह सकती। अतएव क्षणिक पदार्थोंका अस्तित्व नहीं बन सकता। हम पूछते हैं, कि क्षणिक पदार्थ विद्यमान अवस्थामें अर्थक्रिया करते हैं, अथवा अविद्यमान अवस्थामें अर्थक्रिया करते हैं? क्षणिक पदार्थोंमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती। क्योंकि क्षणिक पदार्थ अपने समकालवर्ती क्षणोंको उत्पन्न नहीं कर सकता। कारण कि समकालीन पदार्थोंमें कार्य-कारण संबंध नहीं रह सकता। क्षणिक पदार्थके अविद्यमान होनेपर भी उसमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि असत् पदार्थोंमें कार्य-कारण संबंध नहीं हो सकता, अन्यथा शशविषाण (खरगोशके सींग) आदि असत् पदार्थोंसे भी कार्यकी उत्पत्ति होनी चाहिये। अतएव पदार्थोंको क्षणिक न मान कर नित्य ही स्वीकार करना चाहिये।

अनित्यवादी नित्यवादिनं प्रति पुनरेवं प्रमाणयति। सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्। अक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाद् अर्थक्रियाकारित्वस्य च भावलक्षणत्वात्, ततोऽर्थक्रिया व्यावर्तमाना स्वक्रोडीकृतां सत्तां व्यावर्त्तयेदिति क्षणिकसिद्धिः। न हि नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां क्रमेण प्रवर्तयितुमुत्सहते। पूर्वार्थक्रियाकरणस्वभावोमपर्दद्वारेणोत्तरक्रियायां क्रमेण प्रवृत्तेः। अन्यथा पूर्वक्रियाकरणाविरामप्रसङ्गात्। तत्स्वभावप्रच्यवे च नित्यता प्रयाति। अतादवस्थ्यस्यानित्यतालक्षणत्वात्। अथ नित्यो

पि क्रमवर्तिनं सहकारिकारणमर्थमुदीक्षमाणस्तावदासीत्, पश्चात् तमासाद्य क्रमेण कार्यं कुर्यादिति चेत्। न। सहकारिकारणस्य नित्येऽकिञ्चित्करस्यापि प्रतीक्षणेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। नापि यौगपद्येन नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां कुरुते अध्यक्षविरोधात्। न ह्येककालं सकलाः क्रियाः प्रारभमाणः कश्चिदुपलभ्यते। करोतु वा। तथाप्याद्यक्षण एव सकलक्रियापरिसमाप्तेर्द्वितीयादिक्षणेषु अकुर्वाणस्यानित्यता वलाद् आढौकते। करणाकरणयोरेकस्मिन् विरोधाद् इति ॥

अनित्यवादी—'सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं, सत् होनेसे।' अर्थक्रियाकारित्व (प्रयोजनभूतता) ही सत्का लक्षण है। पदार्थोंको नित्य माननेमें उनमें क्रमसे अथवा एक साथ अर्थक्रिया नहीं हो सकती। अतएव नित्य पदार्थोंमें अर्थक्रिया न होनेसे उन्हें सत् नहीं कह सकते। हम पूछते हैं, कि नित्य पदार्थोंमें क्रमसे अर्थक्रिया होती है, अथवा एक साथ? नित्य पदार्थ क्रमसे अर्थक्रिया नहीं कर सकते। क्योंकि एक स्वभाव छोड़ कर दूसरे स्वभावको प्राप्त करनेवाले पदार्थोंमें ही कोई क्रिया हो सकती है। परन्तु नित्य पदार्थ अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकते, क्योंकि अपने स्वभावका नहीं छोड़ना ही नित्यत्व है, अतएव नित्य पदार्थोंमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती। यदि कहो, वास्तवमें पदार्थ नित्य ही हैं। जब नित्य पदार्थोंको क्रमसे होनेवाले सहकारी कारण मिल जाते हैं, उस समय नित्य पदार्थ क्रमसे कार्योंको करने लगते हैं, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि सहकारी कारणोंके मिलनेपर भी नित्य पदार्थोंमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, अतएव सहकारी कारण अकिंचित्कर हैं। यदि कहो, कि एक सहकारी कारणको दूसरे सहकारी कारणकी सहायता मिलनेपर नित्य पदार्थमें परिवर्तन होता है, तो इस तरह एक सहकारी कारणमें दूसरे, तीसरे आदि अनेक सहकारी माननेसे अनवस्था दोष मानना पड़ेगा। नित्य पदार्थ एक साथ (युगपत्) भी अर्थक्रिया नहीं कर सकते, क्योंकि यह माननेमें प्रत्यक्षसे विरोध आता है। कारण कि अर्थक्रिया सदा क्रमसे होती है। इस लिये सम्पूर्ण अर्थक्रिया कभी एक समयमें होती हुई नहीं देखी जाती। यदि सम्पूर्ण अर्थक्रियाओंका एक क्षणमें होना स्वीकार करो, तो सम्पूर्ण क्रियाओंके प्रथम क्षणमें समाप्त हो जानेसे दूसरे क्षणमें करनेको कुछ भी काम बाकी न रहेगा, इस लिये पदार्थोंके निष्क्रिय हो जानेसे अनित्यता ही माननी पड़ेगी। क्योंकि एक पदार्थमें क्रिया और अक्रिया दोनों नहीं रह सकती। इस लिये पदार्थोंको क्षणिक ही मानना चाहिये।

तदेवमेकान्तद्वयेऽपि ये हेतवस्ते युक्तिसाम्याद् विरुद्धं न व्यभिचरन्तीत्यविचारितरमणीयतया मुग्धजनस्य ध्यान्ध्यं[१] चोत्पादयन्तीति विरुद्धा व्यभिचारिणोऽ

---

[१] धियः मान्द्यम्।

नैकान्तिका इति। अत्र च नित्यानित्यैकान्तपक्षप्रतिक्षेप एवोक्तः। उपलक्षणत्वाच्च सामान्यविशेषाद्येकान्तवादा अपि मिथस्तुल्यदोषतया विरुद्धा व्यभिचारिण एव हेतून्नुपस्पृशन्तीति परिभावनीयम् ॥

उक्त दोनों पक्षोंमें नित्य और अनित्यवादको सिद्ध करनेके लिये जो ' सत्त्व ' हेतु दिया गया है, वह विरुद्ध हेतु है। इस प्रकारके हेतु, जब तक विचार नहीं किया जाता, तभी तक सुन्दर मालूम होते हैं, इस लिये ये हेतु भोले लोगोंकी बुद्धिमें जड़ता पैदा करनेवाले होनेसे अनैकान्तिक हेतु हैं। यहां नित्य और अनित्य पक्षका ही खण्डन किया गया है। सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य और सत्-असत् वादी भी परस्पर एकसे दोष देते हैं, इस लिये इन एकान्तवादोंको भी विरुद्ध समझना चाहिये।

अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते। परस्परेत्यादि। एवं च कण्टकेषु क्षुद्रशत्रुष्वेकान्तवादिषु परस्परध्वंसिषु सत्सु परस्परस्मात् ध्वंसन्ते विनाशमुपयान्तीत्येवंशीलाः सुन्दो[1]पसुन्दवदिति परस्परध्वंसिनः। तेषु हे जिन ते तव शासनं स्याद्वादप्ररूपणनिपुणं द्वादशाङ्गीरूपं प्रवचनं पराभिभावुकानां कण्टकानां स्वयमुच्छिन्नत्वेनैवाभावाद् अधृष्यमपराभवनीयम्। " शक्तार्हे कृत्याश्च[2] " इति कृत्यविधानाद् धर्षितुमशक्यम् धर्षितुमनर्हं वा। जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। यथा कश्चिन्महाराजः पीवरपुण्यपरीपाकः परस्परं विगृह्य स्वयमेव क्षयमुपेयिवत्सु द्विषत्सु अयत्नसिद्धनिष्कण्टकत्वं समृद्धं राज्यमुपभुञ्जानः सर्वोत्कृष्टो भवति एवं त्वच्छासनमपि ॥ इति काव्यार्थः ॥ २६ ॥

एक दूसरेका नाश करनेवाले सुन्द और उपसुन्द नामके दो राक्षस भाईयोंके समान क्षुद्र शत्रु एकान्तवादी रूप कण्टकोंका परस्पर नाश हो जानेपर स्याद्वादका प्ररूपण करनेवाला आपका द्वादशांग प्रवचन किसीके द्वारा भी पराभूत नहीं किया जा सकता। सुन्द और उपसुन्द नामके दो राक्षस भाई थे। उनको ब्रह्माका वरदान था, कि उनकी मृत्यु एक दूसरेके द्वारा होगी। इस वरदानसे मस्त हो कर दोनों भाईयोंने प्रजाको पीड़ा देना आरम्भ कर दिया। यह देख कर देवोंने स्वर्गसे तिलोत्तमाको भेजा। तिलोत्तमाको देख कर दोनों भाई अपनी सुध भूल कर उसे अपनी स्त्री बनानेकी चेष्टा करने लगे। दोनोंमें परस्पर लड़ाई हुई, और अन्तमें दोनों भाई एक दूसरेके हाथसे मारे गये। यहां " शक्तार्हे कृत्याश्च " सूत्रसे क्यप् प्रत्यय होनेपर ' अधृष्य ' का अर्थ होता है, कि जिसका किसीसे पराभव न किया जा सके। जिस प्रकार कोई पुण्यशाली महाराजा अपने शत्रुओंके परस्पर लड़ कर मर

---

[1] सुन्दोपसुन्दनामानौ राक्षसौ द्वौ भ्रातरौ ब्रह्मणः सकाशात् वरं लब्धवन्तौ यत् आवयोर्मृत्युः परस्परादस्तु नान्यस्मात्। तथेत्युक्ते ब्रह्मणा मत्तौ तौ त्रिलोकीं पीडयामासतुः। अथ देवप्रेषितां तिलोत्तमामुपलभ्य तदर्थं मिथो युध्यमानावम्रियेताम्। एवमेकान्तवादिनः स्वतत्त्वसिद्ध्यर्थं परस्परं विवदमाना विनश्यन्ति। ततश्चानेकान्तवादो जयति। [2] हैमसूत्रे ५-४-३५।

जानेपर विना प्रयत्नके ही निष्कंटक राज्यका उपभोग करता है, उसी प्रकार आपका शासन एकान्तवादियोंके परस्पर लड़ कर नष्ट हो जानेपर विजयी होता है। यह श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई पुण्यशाली राजा अपने शत्रुओंके आपसमें लड़ कर नष्ट हो जानेपर अखण्ड राज्यका उपभोग करता है, उसी तरह एकान्तवादी लोग एक दूसरेके सिद्धांतोंमें दोष देकर एक दूसरेके मतोंका खण्डन कर देते हैं, इस लिये मिथ्यादर्शन रूप समस्त एकान्तवादोंका समन्वय करने वाला जैन शासन ही सर्वमान्य हो सकता है।

अनन्तरकाव्ये नित्यानित्याद्येकान्तवादे दोषसामान्यमभिहितम्। इदानीं कतिपयतद्विशेषान् नामग्राहं दर्शयंस्तत्प्ररूपकाणामसद्भूतोद्भावकतयोद्वृत्ततथाविधरिपुजनजनितोपद्रवमिव परित्रातुर्धरित्रीपतेस्त्रिजगत्पतेः पुरतो भुवनत्रयं प्रत्युपकारकारितामाविष्करोति—

ऊपरके श्लोकोंमें सामान्य रूपसे नित्य, अनित्य आदि एकान्तवादोंमें दोष दिखाये गये हैं। अब एकान्तवादियोंके कुछ विशेष दोषोंका दिग्दर्शन कराते हैं। जिस प्रकार प्रजाको पीड़ित करनेवाले शत्रुओंसे प्रजाकी रक्षा करनेवाला राजा महान उपकारक कहा जाता है, उसी प्रकार एकान्तवादियोंके उपद्रवसे तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाले जिनेन्द्र भगवान संसारके महान उपकारक हैं—

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ—एकान्तवादमें सुख-दुखका उपभोग, पुण्य-पाप, और बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकती। अतएव एकान्तवादी लोग दुर्नयवादमें आसक्ति रूप खड्गसे सम्पूर्ण जगतका नाश करते हैं।

एकान्तवादे नित्यानित्यैकान्तपक्षाभ्युपगमे न सुखदुःखभोगौ घटेते। न च पुण्यपापे घटेते। न च बन्धमोक्षौ घटेते। पुनः पुनर्नञः प्रयोगोऽत्यन्ताघटमानतादर्शनार्थः। तथाहि। एकान्तनित्ये आत्मनि तावत् सुखदुःखभोगौ नोपपद्येते। नित्यस्य हि लक्षणम् अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपत्वम्। ततो यदा आत्मा सुखमनुभूय स्वकारणकलापसामग्रीवशाद् दुःखमुपभुङ्क्ते, तदा स्वभावभेदाद् अनित्यत्वापत्त्या स्थिरैकरूपताहानिप्रसङ्गः। एवं दुःखमनुभूय सुखमुपभुञ्जानस्यापि वक्तव्यम्। अथ अवस्थाभेदाद् अयं व्यवहारः। न चावस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेदः। सर्पस्येव कुण्डलार्जवाद्यवस्थासु इति चेत्। न। तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा? व्यतिरेके,

तास्तस्येति संबन्धाभावः, अतिप्रसङ्गात् । अव्यतिरेके तु, तद्वानेवेति तदवस्थितैव स्थिरैकरूपताहानिः । कथं च तदेकान्तैकरूपत्वेऽवस्थाभेदोऽपि भवेदिति ॥

व्याख्यार्थ—(१) वस्तुको एकान्त नित्य माननेसे आत्मामें सुख और दुखकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर और एक रूपको नित्य कहते हैं। अतएव यदि आत्मा अपनी कारण सामग्रीसे सुखको भोग कर दुखका उपभोग करने लगे, अथवा दुखका उपभोग करके सुखको भोगने लगे, तो अपने नित्य और एक स्वभावको छोड़नेके कारण आत्मामें स्वभाव भेद होनेसे आत्माको अनित्य मानना पड़ेगा । **शंका**–वास्तवमें आत्माकी अवस्थाओंमें भेद होता है, स्वयं आत्मामें भेद नहीं होता । जिस प्रकार सर्पकी सरल अथवा कुण्डलाकार अवस्थाओंमें भेद होनेसे सर्पमें भेद होना कहा जाता है, उसी प्रकार सुख और दुख रूप आत्माकी अवस्थाओंमें भेद होनेसे यह भेद आत्माका कहा जाता है । **समाधान**–यह ठीक नहीं । आप लोग आत्माकी अवस्थाओंको आत्मासे भिन्न मानते हैं, या अभिन्न ? यदि सुख-दुख अवस्थायें आत्मासे भिन्न हैं, तो इन अवस्थाओं और आत्मामें कोई संबंध नहीं हो सकता । यदि इन अवस्थाओंको आत्मासे अभिन्न मानो, तो सुख-दुख अवस्थाओंको ही आत्मा मानना चाहिये । अतएव सुख-दुखका भोग करते समय अपने नित्य स्वभावको छोड़नेके कारण आत्माको अनित्य मानना पड़ेगा । अतएव एकान्तवादमें आत्माका अवस्था-भेद भी नहीं बन सकता ।

किंच, सुखदुःखभोगौ पुण्यपापनिर्वर्त्यौ, तन्निर्वर्तनं चार्थक्रिया, सा च कूटस्थनित्यस्य क्रमेण अक्रमेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्रायम् । अत एवोक्तं न पुण्यपापे इति। पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म, पापं हिंसादिक्रियासाध्यमशुभं कर्म ते अपि न घटेते । प्रागुक्तनीतेः ॥

(२) पुण्य-पापसे होनेवाले सुख-दुख भी नित्य एकान्तवादमें नहीं बन सकते । क्योंकि सुख-दुखका अनुभव पुण्य-पापसे ही होता है । यह पुण्य-पापसे होनेवाली क्रिया कूटस्थ नित्य आत्मामें नहीं हो सकती । पदार्थोंके नित्य माननेमें उनमें क्रम क्रमसे अथवा एक साथ अर्थक्रिया नहीं हो सकती, यह पहले कहा जा चुका है । इसीलिये कहा है, कि दान आदिसे होनेवाले शुभ कर्म रूप पुण्य, और हिंसा आदिसे होनेवाले अशुभ कर्म रूप पाप दोनों एकान्त नित्य पक्षमें नहीं बन सकते ।

तथा न बन्धमोक्षौ । बन्धः कर्मपुद्गलैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो वह्न्ययःपिण्डवद् अन्योऽन्यसंश्लेषः । मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयः । तावप्येकान्तनित्ये न स्याताम् । बन्धो हि संयोगविशेषः । स च “ अप्राप्तानां प्राप्तिः ” इतिलक्षणः । प्राक्कालभाविनी अप्राप्तिरन्यावस्था, उत्तरकालभाविनी प्राप्तिश्चान्या । तदनयोरप्यवस्थाभेददोषो दुस्तरः । कथं चैकरूपत्वे सति तस्याकस्मिको बन्धनसंयोगः । बन्धनसंयोगाच्च प्राक् किं नायं

मुक्तोऽभवत् । किंच तेन बन्धनेनासौ विकृतिमनुभवति न वा ? अनुभवति चेत्, चर्मादिवदनित्यः । नानुभवति चेत्, निर्विकारत्वे सता असता वा तेन गगनस्येव न कोऽप्यस्य विशेष इति बन्धवैफल्याद् नित्यमुक्त एव स्यात् । ततश्च विशीर्णा जगति बन्धमोक्षव्यवस्था । तथा च पठन्ति—

"वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः" ॥

बन्धानुपपत्तौ मोक्षस्याप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्यायत्वाद् मुक्तिशब्दस्येति ॥

(३) अग्नि और लोहेकी तरह आत्माके प्रदेशोंके कर्म पुद्गलोंके साथ परस्पर सम्मिश्रण हो जानेको बंध, और सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय हो जानेको मोक्ष कहते हैं । यह बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था भी एकान्त नित्यवादमें नहीं बन सकती । क्योंकि "अप्राप्त पदार्थोंकी प्राप्तिको" संयोग कहते है । यह संयोग एक अवस्थाको छोड़ कर दूसरी अवस्थाको प्राप्त करनेमें ही संभव हो सकता है । अतएव नित्य आत्मामें अवस्था भेद होनेसे बंध और मोक्ष नहीं बन सकते । तथा, आत्माको एकान्त नित्य माननेपर विना कारण आत्माके साथ बंध नहीं हो सकता । अतएव बंधनके पहले आत्माको मुक्त मानना चाहिये । तथा बंध होनेसे आत्मामें कोई विकार होता है, या नहीं ? यदि बंध होनेसे आत्मामें कोई विकार होता है, तो आत्माको चमड़ेकी तरह अनित्य मानना चाहिये । यदि बंध होनेपर भी आत्मा अविकृत रहती है, तो निर्विकार आकाशकी तरह बंधके होने अथवा न होनेसे आत्मामें कोई भी विकार नहीं आ सकता, अतएव बंधके निष्फल होनेके कारण आत्माको सदा मुक्त मानना चाहिये । अतएव सर्वथा एकान्तवादमें बंध और मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकती । कहा भी है "वर्षा और गरमीके कारण चमड़ेमें ही परिवर्तन होता है, आकाशमें कोई परिवर्तन नहीं देखा जाता । अतएव यदि आत्मा चमड़ेके समान है, तो उसे अनित्य मानना चाहिये, यदि आत्मा आकाशकी तरह है, तो उसमें बंध नहीं मानना चाहिये ।" आत्माके बन्ध न होनेसे आत्माके मोक्ष भी नहीं हो सकता । क्योंकि बंधनके नष्ट होनेको ही मोक्ष कहते हैं ।

एवमनित्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखाद्यनुपपत्तिः । अनित्यं हि अत्यन्तोच्छेदधर्मकम् । तथाभूते चात्मनि पुण्योपादानक्रियाकारिणो निरन्वयं विनष्टत्वात् कस्य नाम तत् फलभूतसुखानुभवः । एवं पापोपादानक्रियाकारिणोऽपि निरवयवनाशे कस्य दुःखसंवेदनमस्तु । एवं चान्यः क्रियाकारी अन्यश्च तत्फलभोक्ता इति असमञ्जसमापद्यते ।

अथ— "यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना ।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कर्पासे रक्तता यथा" ॥

इति वचनाद् नासमञ्जसमित्यपि वाङ्मात्रम् । सन्तानवासनयोरवास्तवत्वेन प्रागेव निर्लोठितत्वात् ॥

(१) एकान्त अनित्यवाद माननेसे भी सुख-दुख नहीं बन सकते । सर्वथा रूपसे नष्ट होनेको अनित्य कहते हैं । अनित्य आत्मामें पुण्योपार्जन क्रिया करनेवालेका निरन्वय नाश होनेसे फल रूप सुखका अनुभव, तथा पापोपार्जन क्रिया करनेवालेका निरन्वय विनाश होनेसे दुखका अनुभव नहीं हो सकता । तथा पदार्थोंका निरन्वय विनाश माननेसे एकको कर्ता और दूसरेको भोक्ता मानना पड़ेगा । **शंका**—"जिस प्रकार कपासके बीजमें लाल रंग लगानेसे बीजका फल भी लाल रंगका होता है, उसी तरह जिस संतानमें कर्म वासना रहती है, उसी संतानमें कर्म वासनाका फल रहता है," अतएव संतानके प्रवाह माननेसे काम चल जाता है, इस तरह आत्माके माननेकी आवश्यकता नहीं रहती । **समाधान**—यह ठीक नहीं । सन्तान और वासना अवास्तविक हैं, यह हम १८ वें श्लोककी व्याख्यामें प्रतिपादन कर चुके हैं ।

तथा पुण्यपापे अपि न घटेते । तयोर्हि अर्थक्रिया सुखदुःखोपभोगः, तदनुपपत्तिश्चानन्तरमेवोक्ता । ततोऽर्थक्रियाकारित्वाभावात् तयोरप्यघटमानत्वम् । किंचानित्यः क्षणमात्रस्थायी, तस्मिंश्च क्षणे उत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात् तस्य कुतः पुण्यपापोपादानक्रियार्जनम् । द्वितीयादिक्षणेषु चावस्थातुमेव न लभते । पुण्यपापोपादानक्रियाभावे च पुण्यपापे कुतः निर्मूलत्वात् । तदसत्त्वे च कुतस्तनः सुखदुःखभोगः । आस्तां वा कथंचिदेतत् । तथापि पूर्वक्षणसदृशेनोत्तरक्षणेन भवितव्यम् । उपादानानुरूपत्वाद् उपादेयस्य । ततः पूर्वक्षणाद् दुःखिताद् उत्तरक्षणः कथं सुखित उत्पद्येत । कथं च सुखितात् ततः स दुःखितः स्यात्, विसदृशभागतापत्तेः । एवं पुण्यपापादावपि । तस्माद्यत्किञ्चिदेतत् ॥

(२) एकान्त अनित्यवादमें पुण्य-पाप भी नहीं बन सकते । सुख और दुखके भोगनेको क्रमसे पुण्य और पाप कहते हैं । यह पुण्य-पापकी अर्थक्रिया एकान्त क्षणिक पक्षमें नहीं बन सकती, यह हम पहले कह आये हैं । अतएव क्षणिकवादमें अर्थक्रियाके अभावमें पुण्य-पाप भी सिद्ध नहीं होते । तथा, क्षणिकवादियोंके मतमें प्रत्येक पदार्थ केवल एक क्षणके लिये ठहरता है । इस क्षणमें पदार्थ अपनी उत्पत्तिमें लगे रहते हैं, इस लिये पुण्य और पापको उपार्जन नहीं कर सकते । यदि दूसरे, तीसरे, आदि क्षणमें पुण्य और पापका उपार्जन स्वीकार करो, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि क्षणिकवादियोंके मतमें प्रथम क्षणके बाद पदार्थोंका स्थित रहना ही संभव नहीं अतएव, पुण्य और पापके उपार्जन करनेकी क्रियाके अभावमें पुण्य-पाप भी नहीं हो सकते । पुण्य और पापके न होनेपर सुख-दुख भी नहीं हो सकते । यदि किसी प्रकार क्षणिकवादियोंके मतमें सुख-दुखका

सद्भाव मान भी लिया जाय, तो उपादान उपादेयके अनुरूप होता है, इस लिये आत्माके पूर्व क्षणको आत्माके उत्तर क्षणके अनुरूप ही मानना चाहिये। अतएव पूर्व क्षणमें दुखी आत्माको उत्तर क्षणमें भी दुखी, और पूर्व क्षणमें सुखी आत्माको उत्तर क्षणमें भी सुखी होना चाहिये। क्योंकि सदृश क्षणोंसे विसदृश क्षणोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव कभी पुण्यात्माको पापका संचय, और पापात्माको पुण्यका संचय नहीं करना चाहिये।

एवं बन्धमोक्षयोरप्यसंभवः। लोकेऽपि हि य एव बद्धः स एव मुच्यते। निरन्वयनाशाभ्युपगमे चैकाधिकरणत्वाभावात् सन्तानस्य चावास्तवत्वात् कुतस्तयोः संभावनामात्रमपि ॥

(३) क्षणिकवादमें बंध और मोक्ष भी नहीं बन सकते। क्योंकि लोकमें भी जो पुरुष बंधता है, वही मुक्त होता हुआ देखा जाता है। अतएव निरन्वय विनाश स्वीकार करनेपर बद्ध और मुक्त जीवका एक आश्रय नहीं कहा जा सकता। संतानसे भी बद्ध और मुक्त जीवका संबंध नहीं बन सकता, क्योंकि सन्तान कोई वस्तु नहीं है।

परिणामिनि चात्मनि स्वीक्रियमाणे सर्वं निर्बाधमुपपद्यते।

“ परिणामोऽवस्थान्तरगमनं न च सर्वथा ह्यवस्थानम्।
न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः॥ ”

इति वचनात्। पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह–“[1]अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः” इति। एवं सामान्यविशेषसदसदभिलाप्यानभिलाप्यैकान्तवादेष्वपि सुखदुःखाद्यभावः स्वयमभियुक्तैरभ्यूह्यः ॥

अतएव आत्माको परिणामी मानना चाहिये। आत्माको परिणामी माननेसे कोई भी बाधा नहीं आती। कहा भी है “एक अवस्थाको छोड़ कर दूसरी अवस्था प्राप्त करनेको परिणाम कहते हैं। कोई द्रव्य न सर्वथा नित्य है, और न सर्वथा विनाशी है। इस लिये विद्वान लोग प्रत्येक पदार्थका परिणाम ही स्वीकार करते हैं।” पातंजल टीकाकार व्यासने भी कहा है “अवस्थित द्रव्यमें पहले धर्मके नाश होनेपर दूसरे धर्मकी उत्पत्तिको परिणाम कहते हैं।” इसी प्रकार एकान्त सामान्य-विशेष, एकान्त सत्-असत्, और एकान्त वाच्य-अवाच्य वादोंमें भी सुख-दुखका अभाव आदि दोष स्वयं जान लेने चाहिये।

अथोत्तरार्द्धव्याख्या। एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदुःखभोगादिव्यहारे परैः परतीर्थिकैरथ च परमार्थतः शत्रुभिः। परशब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति। दुर्नीतिवादव्यसनासिना। नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो नयाः। दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयाः। तेषां वदनं परेभ्यः प्रतिपादनं दुर्नीतिवादः। तत्र

---

[1] पातञ्जलयोगसूत्रे ३-१३ व्यासः।

यद् व्यसनम् अत्यासक्तिः औचित्यनिरपेक्षा प्रवृत्तिरिति यावत् दुर्नीतिवादव्यसनम् । तदेव सद्बोधशरीरोच्छेदनशक्तियुक्तत्वाद् असिरिव असिः कृपाणो दुर्नीतिवादव्यसनासिः । तेन दुर्नीतिवादव्यसनासिना करणभूतेन दुर्नयप्ररूपणहेवाकखड्गेन । एवमित्यनुभवसिद्धं प्रकारमाह । अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वाद् अशेषमपि जगद् निखिलमपि त्रैलोक्यम् । "तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः" इति त्रैलोक्यगतजन्तुजातम् । विलुप्तं सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपणेन व्यापादितम् । तत् त्रायस्व इत्याशयः । सम्यग्ज्ञाना[1]दयो हि भावप्राणाः प्रावचनिकैर्गीयन्ते । अत एव सिद्धेष्वपि जीवव्यपदेशः । अन्यथा हि जीव[2]धातुः प्राणधारणार्थेऽभिधीयते । तेषां च दशविधप्राणधारणाभावाद् अजीवत्वप्राप्तिः । सा च विरुद्धा । तस्मात् संसारिणो दशविध[3]द्रव्यप्राणधारणाद् जीवाः सिद्धाश्च ज्ञानादिभावप्राणधारणाद् इति सिद्धम् । दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्ये व्याख्यास्यामः ॥ इति काव्यार्थः ॥ २७ ॥

इस प्रकार एकान्तवादियोंके मतमें सुख, दुखके भोग आदिका व्यवहार सिद्ध न होनेपर भी परवादी-शत्रुओंने दुर्नयवादमें आसक्ति रूप खड्गसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप भाव प्राणोंका विच्छेद करके सम्पूर्ण जगतका नाश कर रक्खा है । जिस प्रकार शत्रु लोग खड्गके द्वारा समस्त संसारका संहार करते हैं, उसी प्रकार परवादियोंने दुर्नयवादका प्ररूपण करके सत् ज्ञानका नाश कर दिया है । इस लिये हे भगवन्, आप परवादी-शत्रुओंसे संसारकी रक्षा करो । वस्तुके एकदेश जाननेको नय, और खोटे नयोंको दुर्नय कहते हैं । श्लोकमें 'अपि' शब्दको 'अशेष' के साथ लगाना चाहिये । जिस प्रकार 'मंच रोते हैं' (मंचाः क्रोशन्ति) इस वाक्यका अर्थ होता है, कि मंचपर बैठे हुए पुरुष रोते हैं, उसी तरह यहां 'सम्पूर्ण लोक' (अशेषमपि त्रैलोक्यम्) का अर्थ सम्पूर्ण लोकके प्राणी समझना चाहिये । पूर्व आचार्योंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रको भाव प्राण कहा है । अतएव सिद्धोंमें भी जीवका व्यपदेश होता है । जीव् धातु प्राण धारण करनेके अर्थमें प्रयुक्त होती है । यदि दस द्रव्य प्राणोंको धारण करना ही जीवका लक्षण किया जाय, तो सिद्धोंको अजीव कहना चाहिये, क्योंकि सिद्धोंके द्रव्य प्राण नहीं होते । अतएव संसारी जीव द्रव्य प्राणोंकी अपेक्षासे, और सिद्ध जीव भाव प्राणोंकी अपेक्षासे जीव कहे जाते हैं । दुर्नयका स्वरूप आगेके श्लोकमें कहा जायगा । यह श्लोकका अर्थ है ।

भावार्थ—पदार्थोंको सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य माननेसे एकान्तवादियोंके मतमें सुख-दुख, पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष आदिकी नहीं व्यवस्था नहीं बन सकती ।

---

[1] सम्यग्ज्ञानसम्यग्दर्शनसम्यक्चारित्रेत्यादयो ये जीवस्य गुणास्ते भावप्राणाः । इदं प्रज्ञापनासूत्रे प्रथमपदे । [2] जीव् प्राणधारणे हैमधातुपारायणे भ्वादिगणे धा. ४६५ । [3] पञ्चेन्द्रियाणि श्वासोच्छ्वास-आयुष्यमनोबलवचनबलशरीरबलानीति दश द्रव्यप्राणाः ।

अतएव प्रत्येक वस्तुको कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानना ही युक्तियुक्त है। भाव-अभाव, द्वैत-अद्वैत, नित्य-अनित्य आदि एकान्तवादोंमें दोषोंका दिग्दर्शन समंतभद्रने अपने आप्तमीमांसा नामक ग्रंथमें विस्तारसे किया है।

साम्प्रतं दुर्नयनयप्रमाणप्ररूपणद्वारेण " प्रमाणनयैरधिगमः[१] " इति वचनाद् जीवाजीवादितत्त्वाधिगमनिबन्धनानां प्रमाणनयानां प्रतिपादयितुः स्वामिनः स्याद्वादविरोधिदुर्नयमार्गनिराकरिष्णुमनन्यसामान्यं वचनातिशयं स्तुवन्नाह—

अब दुर्नय, नय और प्रमाणका लक्षण कहते हुए " प्रमाणनयैरधिगमः " सूत्रसे जीव अजीव आदि तत्वोंको जाननेमें कारण प्रमाण और नयका प्रतिपादन करनेवाले और स्याद्वादके विरोधी दुर्नयोंका निराकरण करनेवाले भगवानके वचनोंकी असाधारणता बताते हैं—

सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाणपथेन दुर्नीतिपथं त्वमास्थः ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ—पदार्थ 'सर्वथा सत् हैं,' 'सत् हैं,' और 'कथंचित् सत् हैं' इस प्रकार क्रमसे दुर्नय, नय और प्रमाणसे पदार्थोंका ज्ञान होता है। यथार्थ मार्गको देखनेवाले आपने ही नय और प्रमाण मार्गके द्वारा दुर्नयवादका निराकरण किया है।

अर्यते परिच्छिद्यत इत्यर्थः पदार्थः। त्रिधा: त्रिभिः प्रकारैः। मीयेत परिच्छिद्येत। विधौ सप्तमी। कैस्त्रिभिः प्रकारैः इत्याह दुर्नीतिनयप्रमाणैः। नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थ आभिरिति नीतयो नयाः। दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नया इत्यर्थः। नया नैगमादयः। प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽर्थोऽनेकान्तविशिष्टोऽनेन इति प्रमाणम् स्याद्वादात्मकं प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणम्। दुर्नीतयश्च नयाश्च प्रमाणे च दुर्नीतिनयप्रमाणानि तैः ॥

व्याख्यार्थ—जिसका निश्चय किया जाय, उसे पदार्थ कहते हैं। पदार्थोंका दुर्नय, नय और प्रमाणसे निश्चय किया जाता है। जिसके द्वारा पदार्थोंके एक अंशका ज्ञान हो, उसे नय कहते हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये नयके सात भेद हैं। खोटे नयोंको दुर्नय कहते हैं। जिसके द्वारा वस्तुमें अनेक धर्मोंका ज्ञान हो, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण स्याद्वाद रूप होता है। इसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद हैं।

केनोल्लेखेन मीयेत इत्याह सदेव सत् स्यात्सद् इति। सदिति अव्यक्तत्वाद् नपुंसकत्वम् यथा किं तस्या गर्भे जातमिति। सदेवेति दुर्नयः। सदिति नयः।

---

१ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रे २-३

स्यात्सदिति प्रमाणम्। तथाहि। दुर्नयस्तावत्सदेव इति ब्रवीति। 'अस्त्येव घटः' इति। अयं वस्तुनि एकान्तास्तित्वमेव अभ्युपगच्छन् इतरधर्माणां तिरस्कारेण स्वाभिप्रेतमेव धर्मं व्यवस्थापयति। दुर्नयत्वं चास्य मिथ्यारूपत्वात्। मिथ्यारूपत्वं च तत्र धर्मान्तराणां सतामपि निह्नवात्। तथा सदिति उल्लेखनात् नयः। स हि 'अस्ति घटः' इति घटे स्वाभिमतमस्तित्वधर्मं प्रसाधयन् शेषधर्मेषु गजनिमिलिकामालम्बते। न चास्य दुर्नयत्वं। धर्मान्तरातिरस्कारात्। न च प्रमाणत्वं। स्याच्छब्देन अलाञ्छितत्वात्। स्यात्सदिति 'स्यात्कथञ्चित् सद् वस्तु' इति प्रमाणम्। प्रमाणत्वं चास्य दृष्टेष्टा-बाधितत्वाद् विपक्षे बाधकसद्भावाच्च। सर्वं हि वस्तु स्वरूपेण सत् पररूपेण चासद् इति असकृदुक्तम्। सदिति दिङ्मात्रदर्शनार्थम्। अनया दिशा असत्त्वनित्यत्वानित्यत्ववक्तव्यत्वावक्तव्यत्वसामान्यविशेषादि अपि बोद्धव्यम्॥

यहां 'सत्' शब्द अव्यक्त है, इस लिये वह नपुंसक लिंगमें प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार गर्भस्थ बच्चेके लिंगका ठीक ज्ञान न होनेसे 'किं तस्या गर्भे जातम्' इस वाक्यमें नपुंसक लिंगका प्रयोग हुआ है, उसी तरह 'सत्' शब्द भी नपुंसक लिंगमें प्रयुक्त हुआ है। (१) किसी वस्तुमें अन्य धर्मोंका निषेध करके अपने अभीष्ट एकान्त अस्तित्वको सिद्ध करनेको दुर्नय कहते हैं, जैसे यह घट ही है (अस्त्येव घटः)। वस्तुमें अभीष्ट धर्मकी प्रधानतासे अन्य धर्मोंका निषेध करनेके कारण दुर्नयको मिथ्या कहा गया है। (२) किसी वस्तुमें अपने इष्ट धर्मको सिद्ध करते हुए अन्य धर्मोंमें उदासीन हो कर वस्तुके विवेचन करनेको नय कहते हैं। जैसे यह घट है (अस्ति घटः)। नयमें दुर्नयकी तरह एक धर्मके अतिरिक्त अन्य धर्मोंका निषेध नहीं किया जाता, इस लिये नयको दुर्नय नहीं कहा जा सकता। तथा नयमें 'स्यात्' शब्दका प्रयोग न होनेसे इसे प्रमाण भी नहीं कह सकते। (३) वस्तुके नाना दृष्टियोंकी अपेक्षा कथंचित् सत् रूप विवेचन करनेको प्रमाण कहते हैं, जैसे घट कथंचित् सत् है (स्यात्कथंचित् घटः)। प्रत्यक्ष और अनुमानसे अबाधित होनेसे और विपक्षका बाधक होनेसे इसे प्रमाण कहते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावसे सत्, और दूसरे स्वभावसे असत् है, यह पहले कई बार कहा चुका है। यहां वस्तुके एक 'सत्' धर्मको कहा गया है, इसी प्रकार असत्, नित्य, अनित्य, वक्तव्य, अवक्तव्य, सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्म समझने चाहिये।

इत्थं वस्तुस्वरूपमाख्याय स्तुतिमाह यथार्थदर्शी इत्यादि। दुर्नीतिपथं दुर्नयमार्गम्। तुशब्दस्य अवधारणार्थस्य भिन्नक्रमत्वात् त्वमेव आस्थः त्वमेव निराकृतवान्। न तीर्थान्तरदैवतानि। केन कृत्वा। नयप्रमाणपथेन। नयप्रमाणे उक्तस्वरूपे। तयोर्मार्गेण प्रचारेण। यतस्त्वं यथार्थदर्शी। यथार्थोऽस्ति तथैव पश्यतीत्येवंशीलो यथार्थदर्शी। विमलकेवलज्योतिषा यथावस्थितवस्तुदर्शी। तीर्थान्तरशास्तारस्तु रागादिदोषकालुष्यकल-

ङ्कितत्वेन तथाविधज्ञानाभावाद् न यथार्थदर्शिनः। ततः कथं नाम दुर्नयपथमथने प्रगल्भन्ते ते तपस्विनः । न हि स्वयमनयप्रवृत्तः परेषामनयं निषेद्धुमुद्धुरतां धत्ते। इदमुक्तं भवति । यथा कश्चित् सन्मार्गवेदी परोपकारदुर्ललितः पुरुषश्चौरश्वापदकण्टकाद्याकीर्णे मार्गं परित्याज्य पथिकानां गुणदोषोभयविकलं दोषास्पृष्टं गुणयुक्तं च मार्गमुपदर्शयति, एवं जगन्नाथोऽपि दुर्नयतिरस्करणेन भव्येभ्यो नयप्रमाणमार्गं प्ररूपयतीति । आस्थः इति अस्यतेरद्यतन्यां " शास्त्यंसूवक्तिख्यातेरङ् " इत्यङि " श्वयत्यंसूवचपतः श्वास्थवोचपप्तम् " इति अस्थादेशे " स्वरादेस्तासु " इति वृद्धौ रूपम् ॥

श्लोकमें ' तु ' शब्द निश्चय अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । ' तु ' शब्दका ' त्वं ' के साथ संबंध लगाना चाहिये । इस लिये केवलज्ञानसे समस्त पदार्थोंको यथार्थ रीतिसे जानने वाले आपने ही नय और प्रमाणके द्वारा दुर्नयवादका निराकरण किया है । अन्य तैर्थिक लोग राग, द्वेष आदि दोषोंसे युक्त होनेके कारण यथार्थदर्शी नहीं हैं, इस लिये दुर्नयोंका निराकरण नहीं कर सकते । क्योंकि जो लोग स्वयं अनीतिके मार्गमें पड़े हुए हैं, वे दूसरोंको अनीतिसे नहीं निकाल सकते । अतएव जिस प्रकार यथार्थ मार्गका जाननेवाला कोई परोपकारी पुरुष पथिकोंको कुमार्गसे बचानेकी इच्छासे चोर, व्याघ्र, कण्टक आदिके मार्गसे छुड़ा कर उन्हें निर्दोष ठीक ठीक मार्गका प्रदर्शन करता है, इसी प्रकार त्रिलोकके स्वामी अरहंत भगवान भी भव्योंके लिये नय और प्रमाणका उपदेश देते हैं । श्लोकमें ' आस्थः ' पद निराकरण करनेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । अस् धातुसे अद्यतन (लुङ् लकार) में " शास्त्यसूवक्तिख्यातेरङ् " सूत्रसे अङ् प्रत्यय हो कर " श्वयत्यसूवचपतः श्वास्थवोचपप्तम् " सूत्रसे अस्के स्थानमें अस्थ आदेश हो कर " स्वरादेस्तासु " सूत्रसे अ के स्थानमें वृद्धि होकर ' आस्थः ' रूप बनता है ।

मुख्यवृत्त्या च प्रमाणस्यैव प्रामाण्यम् । यच्च अत्र नयानां प्रमाणतुल्यकक्षताख्यापनं तत् तेषामनुयोगद्वारभूततया प्रज्ञापनाङ्गत्वज्ञापनार्थम् । चत्वारि हि प्रवचनानुयोगमहानगरस्य द्वाराणि उपक्रमः निक्षेपः अनुगमः नयश्चेति । एतेषां च स्वरूपमावश्यकभाष्यादेर्निरूपणीयम् । इह तु नोच्यते ग्रन्थगौरवभयात् । अत्र चैकत्र कृतसमासान्तः पथिन्शब्दः । अन्यत्र चाव्युत्पन्नः पथशब्दोऽदन्त इति पथशब्दस्य द्विःप्रयोगो न दुष्यति ॥

वास्तवमें केवल प्रमाणको ही सत्य कहा जा सकता है । नयोंसे वस्तुके सम्पूर्ण अंशोंका ज्ञान नहीं होता, इस लिये नयको सत्य नहीं कह सकते । ' अनुयोगद्वार'से

---

१ हैमसूत्रे ३-४-६० । २ हैमसूत्रे ४-३-१०३ । ३ हैमसूत्रे ४-४-३१ । ४ अणुगोद्दाराइं महापुरस्सेव तस्स चत्तारि । ५ विशेषावश्यकभाष्ये ९११, ९१२, ९१३, ९१४, १५०५ तः परम् ।

‘प्रज्ञापना’ तक पहुंचनेके लिये नय अनुयोगके द्वार हैं, इस लिये नयोंको प्रमाणके समान कहा गया है। उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार अनुयोग-महानगरमें पहुंचनेके दरवाजे हैं। इनका स्वरूप विशेषावश्यकभाष्य (गाथा ९११–४; १५०५ के आगे) आदि ग्रन्थोंसे जानना चाहिये। यहां ग्रन्थके वढ़ जानेके भयसे सवका स्वरूप नहीं लिखा जाता। एक जगह श्लोकमें ‘पथिन्’ शव्द समासान्त है, और दूसरी जगह अव्युत्पन्न अकारांत है, इस लिये ‘पथ’ शव्दका दो वार प्रयोग करनेमें दोष नहीं है।

अथ दुर्नयनयप्रमाणस्वरूपं किञ्चिन्निरूप्यते। तत्रापि प्रथमं नयस्वरूपं। तदनधिगमे दुर्नयस्वरूपस्य दुष्परिज्ञानत्वात्। अत्र च आचार्येण प्रथमं दुर्नयनिर्देशो यथोत्तरं प्राधान्याववोधनार्थः कृतः। तत्र प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शो नयः। अनन्तधर्माध्यासितं वस्तु स्वाभिप्रेतैकधर्मविशिष्टं नयति प्रापयति संवेदनकोटिमारोहयति इति नयः। प्रमाणप्रवृत्तेरुत्तरकालभावी परामर्श इत्यर्थः। नयाश्चानन्ताः। अनन्तधर्मत्वात् वस्तुनः तदेकधर्मपर्यवसितानां वक्तुरभिप्रायाणां च नयत्वात्। तथा च वृद्धाः—“जावइआ वयणपहा तावइआ चेव हुंति नयवाया” इति। तथापि चिरन्तनाचार्यैः सर्वसंग्राहिसप्ताभिप्रायपरिकल्पनाद्वारेण सप्त नयाः प्रतिपादिताः। तद्यथा। नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता इति। कथमेषां सर्वसंग्राहकत्वमिति चेत्। उच्यते। अभिप्रायस्तावद् अर्थद्वारेण शब्दद्वारेण वा प्रवर्तते, गत्यन्तराभावात्। तत्र ये केचनार्थनिरूपणप्रवणाः प्रमात्राभिप्रायास्ते सर्वेऽपि आद्ये नयचतुष्टयेऽन्तर्भवन्ति। ये च शब्दविचारचतुरास्ते शब्दादिनयत्रये इति॥

पहले नयका स्वरूप कहा जाता है। क्योंकि नयको विना जाने दुर्नयका ज्ञान नहीं हो सकता। प्रमाणसे निश्चित किये हुए पदार्थोंके एक अंश ज्ञान करनेको नय कहते हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म पाये जाते हैं, इन अनन्त धर्मोंमें अपने इष्ट धर्मको जाननेको नय कहते हैं। वस्तुका प्रमाणद्वारा निश्चय होनेपर उसका नयसे ज्ञान होता है। वस्तुओंमें अनन्त धर्म होते हैं, अतएव नय भी अनन्त होते हैं। वस्तुके अनन्त धर्मोंमेंसे वक्ताके अभिप्रायके अनुसार एक धर्मके कथन करनेको नय कहते हैं। वृद्ध आचार्योंने कहा भी है “जितने जितने प्रकारसे वचन वोले जा सकते हैं, उतने ही नय होते हैं।” फिर भी पूर्व आचार्योंने सवका संग्रह करनेवाले सात वचनोंकी कल्पना करके नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शव्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इन सात नयोंका ही प्रतिपादन किया है। अर्थ अथवा शव्दसे अपने अभिप्राय प्रगट किये जा सकते हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार अर्थका निरूपण करते हैं, इस लिये अर्थनय कहे जाते हैं,

---

१ छाया–यावन्तो वचनपथास्तावन्त एव भवन्ति नयवादाः। सन्मतितर्कप्रकरणे ३–४७।

तथा शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय शब्दका प्ररूपण करते हैं, इस लिये शब्दनय कहे जाते हैं, अतएव ये सात नय सर्वसंग्राहक हैं।

तत्र नैगमः सत्तालक्षणं महासामान्यम्, अवान्तरसामान्यानि च द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादीनि, तथान्त्यान् विशेषान् सकलासाधारणरूपलक्षणान्, अवान्तरविशेषांश्चापेक्षया पररूपव्यावर्त्तनक्षमान् सामान्यान् अत्यन्तविनिर्लुठितस्वरूपानभिप्रैति। इदं च स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादे क्षुण्णमिति न पृथक्प्रयत्नः। प्रवचनप्रसिद्धनिलयनप्रस्थदृष्टान्तद्वयगम्यश्चायम्। संग्रहस्तु अशेषविशेषतिरोधानद्वारेण सामान्यरूपतया विश्वमुपादत्ते। एतच्च सामान्यैकान्तवादे प्राक् प्रपञ्चितम्॥

(१) नैगम नय सत्ता रूप सामान्यको; द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व रूप अवान्तर सामान्यको; असाधारण रूप विशेषको; तथा पर रूपसे व्यावृत्त और सामान्यसे भिन्न अवान्तर विशेषोंको जानता है। यह नय सामान्य-विशेषको ग्रहण करता है। नैगम नयका स्वरूप चौदहवें श्लोकमें सामान्य-विशेषका निरूपण करते समय बताया गया है, अतएव यहां अलग नहीं लिखा जाता। निलयन और प्रस्थ ये नैगम नयके दृष्टांत शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं। निलयन शब्दका अर्थ निवास स्थान होता है। जैसे किसीने किसीसे पूछा, 'आप कहां रहते हैं,' उसने जबाब दिया, कि मैं लोकमें रहता हूं। लोकमें भी जम्बूद्वीप—भरतक्षेत्र—मध्यखण्ड—अमुक देश—अमुक नगर—अमुक घरमें रहता हूं। नैगम नय इन सब विकल्पोंको जानता है। दूसरा दृष्टांत प्रस्थका है। धान्यको मापनेके पांच सेरके परिमाणको प्रस्थ कहते हैं। किसीने किसी आदमीको कुठार ले कर जंगलमें जाते हुए देख कर पूछा, 'आप कहां जाते हैं,' उस आदमीने जबाब दिया, कि मैं प्रस्थ लेने जाता हूं। ये दोनों नैगम नयके उदाहरण हैं। (२) विशेषोंकी अपेक्षा न करके वस्तुको सामान्यसे जाननेको संग्रह नय कहते हैं। इसका निरूपण चौथे, पांचवे श्लोकमें सामान्य एकांतका प्ररूपण करते समय किया जा चुका है।

व्यवहारस्त्वेवमाह। यथा लोकग्राहमेव वस्तु अस्तु, किमनया अदृष्टाव्यवह्रियमाणवस्तुपरिकल्पनकष्टपिष्टिकया। यदेव च लोकव्यवहारपथमवतरति तस्यैवानुग्राहकं प्रमाणमुपलभ्यते नेतरस्य। न हि सामान्यमनादिनिधनमेकं संग्रहाभिमतं प्रमाणभूमिः, तथानुभवाभावात्। सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसङ्गाच्च। नापि विशेषाः परमाणुलक्षणाः क्षणक्ष-

---

१ तत्र निलयनं वसनमित्यनर्थान्तरम्। तद्दृष्टान्तो यथा-कश्चित् केनाचित् पृष्टः क्व वसति भवान्? स प्राह-लोके। तत्रापि जम्बूद्वीपे, तत्रापि भरतक्षेत्रे, तत्रापि मध्यखण्डे, तत्राप्येकस्मिन् जनपदे नगरे गृहे इत्यादीन् सर्वानपि विकल्पान् नैगम इच्छति॥ प्रस्थको धान्यमानविशेषः। तद्दृष्टान्तो यथा-सद्योग्यं काष्ठं वृक्षावस्थायामपि तदनुकीर्तिकं स्कन्धे कृतं गृहमानीतमित्यादिसर्वास्वप्यवस्थासु नैगमः प्रस्थकमिच्छति। हरिभद्रीयावश्यकटिप्पणे नयाधिकारः।

यिणः प्रमाणगोचराः, तथा प्रवृत्तेरभावात् । तस्माद् इदमेव निखिललोकाबाधितं प्रमाणप्रसिद्धं कियत्कालभाविस्थूलतामाबिभ्राणमुदकाद्याहरणाद्यर्थक्रियानिर्वर्तनक्षमं घटादिकं वस्तुरूपं पारमार्थिकम् । पूर्वोत्तरकालभावितत्पर्यायपर्यालोचना पुनरज्यायसी । तत्र प्रमाणप्रसराभावात् । प्रमाणमन्तरेण विचारस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अवस्तुत्वाच्च तेषां किं तद्गोचरपर्यालोचनेन । तथाहि । पूर्वोत्तरकालभाविनो द्रव्यविवर्ताः क्षणक्षयिपरमाणुलक्षणा वा विशेषा न कथंचन लोकव्यवहारमुपरचयन्ति । तन्न ते वस्तुरूपाः । लोकव्यवहारोपयोगिनामेव वस्तुत्वात् । अत एव पन्था गच्छति, कुण्डिका स्रवति, गिरिर्दह्यते, मञ्चाः क्रोशन्ति इत्यादिव्यवहाराणां प्रामाण्यम् । तथा च वाचकमुख्यः—"लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः" इति ॥

(३) जितनी वस्तु लोकमें प्रसिद्ध हैं, अथवा लोक व्यवहारमें आती हैं, उन्हींको मानना, और अदृष्ट और अव्यवहार्य वस्तुओंकी कल्पना न करनेको व्यवहार नय कहते हैं । संग्रह नयसे जाना हुआ अनादि निधन रूप सामान्य व्यवहार नयका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि इस सामान्यका सर्व साधारणको अनुभव नहीं होता । यदि इस सामान्यका सब लोगोंको अनुभव होने लगे, तो सब लोग सर्वज्ञ हो जांय । इसी प्रकार क्षण क्षणमें बदलनेवाले परमाणु रूप विशेष भी व्यवहार नयके विषय नहीं हो सकते, क्योंकि परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ हमारे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणके बाह्य होनेसे हमारी प्रवृत्तिके विषय नहीं हैं । अतएव व्यवहार नयकी अपेक्षा कुछ समयके तक रहनेवाली स्थूल पर्यायको धारण करनेवाला और जल धारण आदि क्रियाओंके करनेमें समर्थ घट आदि वस्तु ही पारमार्थिक और प्रमाणसे सिद्ध हैं, क्योंकि इनके माननेमें कोई लोक विरोध नहीं आता । इस लिये घटका ज्ञान करते समय घटकी पूर्व और उत्तर कालकी पर्यायोंका विचार करना व्यर्थ है, क्योंकि सूक्ष्म पर्याय प्रमाणसे नहीं जानी जाती, अतएव ये पूर्वोत्तर पर्याय अवस्तु हैं । पूर्व और उत्तर कालमें होनेवाली द्रव्यकी पर्याय अथवा क्षण क्षणमें नाश होनेवाले विशेष रूप परमाणु लोक व्यवहारमें उपयोगी न होनेसे अवस्तु हैं । क्योंकि जो लोक व्यवहारमें उपयोगी होता है, उसे ही वस्तु कहते हैं । अतएव 'रास्ता जाता है, कुंड बहता है, पहाड़ जलता है, मंच रोते हैं' आदि व्यवहार भी लोकोपयोगी होनेसे प्रमाण हैं । वाचकमुख्यने कहा भी है "लोक व्यवहारके अनुसार उपचरित अर्थको बतानेवाले विस्तृत अर्थको व्यवहार कहते हैं ।"

ऋजुसूत्रः पुनरिदं मन्यते । वर्तमानक्षणविवर्त्येव वस्तुरूपम् । नातीतमनागतं च । अतीतस्य विनष्टत्वाद् अनागतस्यालब्धात्मलाभत्वात् खरविषाणादिभ्योऽविशिष्यमाणतया सकलशक्तिविरहरूपत्वात् नार्थक्रियानिर्वर्तनक्षमत्वम् तदभावाच्च न वस्तुत्वं । "यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्" इति वचनात् । वर्तमानक्षणालिङ्गितं पुनर्व-

---

१ तत्त्वार्थाधिगमभाष्ये १-३५ ।

स्तुरूपं समस्तार्थक्रियासु व्याप्रियत इति तदेव पारमार्थिकम् । तदपि च निरंशमभ्युपगंतव्यम् । अंशव्याप्तेर्युक्तिरिक्तत्वात् । एकस्य अनेकस्वभावतामन्तरेण अनेकस्यावयवव्यापनायोगात् । अनेकस्वभावता एवास्तु इति चेत् । न । विरोधव्याघ्राघ्रातत्वात् । तथाहि । यदि एकः स्वभावः कथमनेकः अनेकश्चेत्कथमेकः एकानेकयोः परस्परपरिहारेणावस्थानात् । तस्मात् स्वरूपनिमग्नाः परमाणव एव परस्परोपसर्पणद्वारेण कथंचिन्निचयरूपतामापन्ना निखिलकार्येषु व्यापारभाज इति त एव स्वलक्षणं न स्थूलतां धारयत् पारमार्थिकमिति । एवमस्याभिप्रायेण यदेव स्वकीयं तदेव वस्तु न परकीयम्, अनुपयोगित्वादिति ॥

(४) वस्तुकी अतीत और अनागत पर्यायोंको छोड़ कर वर्तमान क्षणकी पर्यायोंको जानना ऋजुसूत्र नयका विषय है । वस्तुकी अतीत पर्याय नष्ट हो जाती है, और अनागत पर्याय उत्पन्न नहीं होती, इस लिये अतीत और अनागत पर्याय खरविषाणकी तरह सम्पूर्ण सामर्थ्यसे रहित हो कर कोई अर्थक्रिया नहीं कर सकती, इस लिये अवस्तु हैं । क्योंकि " अर्थक्रिया करनेवाला ही वास्तवमें सत् कहा जाता है "। वर्तमान क्षणमें विद्यमान वस्तुसे ही समस्त अर्थक्रिया हो सकती है, इस लिये यथार्थमें वही सत् है । अतएव वस्तुका स्वरूप निरंश मानना चाहिये, क्योंकि वस्तुको अंश सहित मानना युक्तिसे सिद्ध नहीं होता । शंका—एक वस्तुके अनेक स्वभाव माने विना वह अनेक अवयवोंमें नहीं रह सकती, इस लिये वस्तुमें अनेक स्वभाव मानने चाहिये । **समाधान**—यह ठीक नहीं । क्योंकि यह माननेमें विरोध आता है । कारण कि एक और अनेकमें परस्पर विरोध होनेसे एक स्वभाववाली वस्तुमें अनेक स्वभाव, और अनेक स्वभाववाली वस्तुमें एक स्वभाव नहीं बन सकते । अतएव अपने स्वरूपमें स्थित परमाणु ही परस्परके संयोगसे कथंचित् समूह रूप हो कर सम्पूर्ण कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं । इस लिये ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा स्थूल रूपको धारण न करनेवाले स्वरूपमें स्थित परमाणु ही यथार्थमें सत् कहे जा सकते हैं । अतएव ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा निज स्वरूप ही वस्तु है, पर स्वरूपको अनुपयोगी होनेके कारण वस्तु नहीं कह सकते ।

शब्दस्तु रूढितो यावन्तो ध्वनयः कस्मिंश्चिदर्थे प्रवर्तन्ते, यथा इन्द्रशक्रपुरन्दरादयः सुरपतौ तेषां सर्वेषामप्येकमर्थमभिप्रैति किल, प्रतीतिवशाद् । यथा शब्दाव्यतिरेकोऽर्थस्य प्रतिपाद्यते तथैव तस्यैकत्वमनेकत्वं वा प्रतिपादनीयम् । न च इन्द्रशक्रपुरन्दरादयः पर्यायशब्दा विभिन्नार्थवाचितया कदाचन प्रतीयन्ते । तेभ्यः सर्वदा एकाकारपरामर्शोत्पत्तेरस्खलितवृत्तितया तथैव व्यवहारदर्शनात् । तस्माद् एक एव पर्यायशब्दानामर्थ इति । शब्द्यते आहूयतेऽनेनाभिप्रायेणार्थः इति निरुक्तात् एकार्थप्रतिपादनाभिप्रायेणैव पर्यायध्वनीनां प्रयोगात् । यथा चायं पर्यायशब्दानामे-

कमर्थमभिप्रैति तथा तटस्तटी तटम् इति विरुद्धलिङ्गलक्षणधर्माभिसम्बन्धाद् वस्तुनो भेदं चाभिधत्ते। न हि विरुद्धधर्मकृतं भेदमनुभवतो वस्तुनो विरुद्धधर्मायोगो युक्तः। एवं सङ्ख्याकालकारकपुरुषादिभेदाद् अपि भेदोऽभ्युपगन्तव्यः। तत्र सङ्ख्या एकत्वादिः कालोऽतीतादिः कारकं कर्त्रादि पुरुषः प्रथमपुरुषादिः ॥

(५) रूढ़िसे सम्पूर्ण शब्दोंके एक अर्थमें प्रयुक्त होनेको शब्द नय कहते हैं। जैसे शक्र, पुरन्दर आदि सब शब्द एक अर्थके द्योतक हैं। जैसे शब्द अर्थसे अभिन्न है, वैसे ही उसे एक और अनेक भी मानना चाहिये। इन्द्र, शक्र और पुरन्दर आदि पर्यायवाची शब्द कभी भिन्न अर्थका प्रतिपादन नहीं करते, क्योंकि उनसे एक ही अर्थका ज्ञान होता है। अतएव इन्द्र आदि पर्यायवाची शब्दोंका एक ही अर्थ है। जिस अभिप्रायसे अर्थ कहा जाय, उसे शब्द कहते हैं। अतएव सम्पूर्ण पर्यायवाची शब्दोंसे एक ही अर्थका ज्ञान होता है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर परस्पर पर्यायवाची शब्द एक अर्थको द्योतित करते हैं, वैसे ही 'तट, तटी, तटम्' परस्पर विरुद्ध लिंगवाले शब्दोंसे पदार्थोंके भेदका ज्ञान होता है। इसी प्रकार संख्या—एकत्व आदि, काल—अतीत आदि, कारक—कर्ता आदि, और पुरुष—प्रथम पुरुष आदिके भेदसे शब्द और अर्थमें भेद समझना चाहिये।

समभिरूढस्तु पर्यायशब्दानां प्रविभक्तमेवार्थमभिमन्यते। तद्यथा इन्दनात् इन्द्रः। परमैश्वर्यम् इन्द्रशब्दवाच्यं परमार्थतस्तद्वत्यर्थे। अतद्वत्यर्थे पुनरुपचारतो वर्तते। न वा कश्चित् तद्वान्। सर्वशब्दानां परस्परविभक्तार्थप्रतिपादितया आश्रयाश्रयिभावेन प्रवृत्त्यसिद्धेः। एवं शकनात् शक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिभिन्नार्थत्वं सर्वशब्दानां दर्शयति। प्रमाणयति च। पर्यायशब्दा अपि भिन्नार्थाः। प्रविभक्तव्युत्पत्तिनिमित्तकत्वात्। इह ये ये प्रविभक्तव्युत्पत्तिनिमित्तकास्ते ते भिन्नार्थकाः, यथा इन्द्रपशुपुरुषशब्दाः। विभिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तकाश्च पर्यायशब्दा अपि। अतो भिन्नार्था इति ॥

(६) समभिरूढ़ नय पर्यायवाची शब्दोंमें भिन्न अर्थको द्योतित करता है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्दोंके पर्यायवाची होनेपर भी इन्द्रसे परम ऐश्वर्यवान (इन्दनात् इन्द्रः), शक्रसे सामर्थ्यवान (शकनात् शक्रः) और पुरन्दरसे नगरोंको विदारण करनेवाले (पूर्दारणात् पुरन्दरः) भिन्न भिन्न अर्थोंका ज्ञान होता है। वास्तवमें इन्द्र शब्दके कहनेसे इन्द्र शब्दका वाच्य परम ऐश्वर्यपना इन्द्र (परम ऐश्वर्यवाले) में ही मिल सकता है। जिसमें परम ऐश्वर्य नहीं है, उसे केवल उपचारसे ही इन्द्र कहा जा सकता है। इस लिये वास्तवमें जो परम ऐश्वर्यसे रहित है, उसे इन्द्र नहीं कह सकते। अतएव परस्पर भिन्न अर्थको प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंमें आश्रय और आश्रयी संबंध नहीं बन सकता। इसी तरह शक्र और पुरन्दर शब्द भी भिन्न अर्थको द्योतित करते हैं। अतएव भिन्न व्युत्पत्ति होनेसे पर्यायवाची शब्द भिन्न भिन्न अर्थोंके द्योतक हैं। जिन शब्दोंकी व्युत्पत्ति भिन्न भिन्न होती है, वे

शब्द भिन्न भिन्न अर्थोंके द्योतक होते हैं, जैसे इन्द्र, पशु और पुरुष शब्द। पर्यायवाची शब्द भी भिन्न व्युत्पत्ति होनेके कारण भिन्न अर्थको सूचित करते हैं।

एवंभूतः पुनरेवं भाषते। यस्मिन् अर्थे शब्दो व्युत्पाद्यते स व्युत्पत्तिनिमित्तमर्थो यदैव प्रवर्तते तदैव तं शब्दं प्रवर्तमानमभिप्रैति, न सामान्येन। यथा उदकाद्याहरणवेलायां योषिदादिमस्तकारूढो विशिष्टचेष्टावान् एव घटोऽभिधीयते न शेषः। घटशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तशून्यत्वात्, पटादिवद् इति। अतीतां भाविनीं वा चेष्टामङ्गीकृत्य सामान्येनैवोच्यत इति चेत्। न। तयोर्विनष्टानुत्पन्नतया शशविषाणकल्पत्वात्। तथापि तद्द्वारेण शब्दप्रवर्तने सर्वत्र प्रवर्तयितव्यः, विशेषाभावात्। किंच यदि अतीतवर्त्स्यच्चेष्टापेक्षया घटशब्दोऽचेष्टावत्यपि प्रयुज्येत तदा कपालमृत्पिण्डादावपि तत्प्रवर्तनं दुर्निवारं स्याद्, विशेषाभावात्। तस्माद् यत्र क्षणे व्युत्पत्तिनिमित्तमविकलमस्ति तस्मिन् एव सोऽर्थस्तच्छब्दवाच्य इति॥

(७) अर्थमें शब्दकी व्युत्पत्ति होती है। जिस समय व्युत्पत्तिके निमित्त रूप अर्थका व्यवहार होता है, उसी समय अर्थमें शब्दका व्यवहार होता है। जैसे जल लानेके समय स्त्रियोंके सिरपर रक्खे हुए घड़ेको ही 'घट' कह सकते हैं, दूसरी अवस्थामें घड़ेको 'घट' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जिस तरह पटको घट नहीं कहा जा सकता, उसी तरह घड़ेको भी जल लाने आदिकी क्रिया रहित अवस्थामें घट नहीं कहा जा सकता। शशविषाणकी अतीत और अनागत अवस्थाओंकी तरह नष्ट और अनुत्पन्न होनेके कारण अतीत और अनागत अवस्थाओंको ले कर सामान्यसे शब्दोंका प्रयोग नहीं किया जा सकता। यदि अतीत और अनागत पर्यायोंकी अपेक्षा शब्दके वाच्य रूप पर्यायका अभाव होनेपर भी घड़ेको घट कहा जाय, तो कपाल और मिट्टीके पिंडमें भी घट शब्दका व्यवहार होना चाहिये। अतएव जिस क्षणमें किसी शब्दकी व्युत्पत्तिका निमित्त कारण सम्पूर्ण रूपसे विद्यमान हो, उसी समय उस शब्दका प्रयोग करना उचित है। यह एवंभूत नय है।

अत्र संग्रहश्लोकाः—

"अन्यदेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम्।
विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते नैगमो नयः॥ १॥
सद्रूपतानतिक्रान्तं स्वस्वभावमिदं जगत्।
सत्तारूपतया सर्वं संगृह्णन् संग्रहो मतः॥ २॥"
व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तु व्यवस्थिताम्।
तथैव दृश्यमानत्वाद् व्यापारयति देहिनः॥ ३॥
तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्याद् शुद्धपर्यायसंश्रिता।
नश्वरस्यैव भावस्य भावात् स्थितिवियोगतः॥४॥

विरोधलिङ्गसंख्यादिभेदाद् भिन्नस्वभावताम् ।
तस्यैव मन्यमानोऽयं शब्दः प्रत्यवतिष्ठते ॥ ५ ॥
तथाविधस्य तस्यापि वस्तुनः क्षणवर्तिनः ।
ब्रूते समभिरूढस्तु संज्ञाभेदेन भिन्नताम् ॥ ६ ॥
एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते ।
क्रियाभेदेन भिन्नत्वाद् एवंभूतोऽभिमन्यते " ॥ ७ ॥

एत एव च परामर्शा अभिप्रेतधर्मावधारणात्मकतया शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्तमाना दुर्नयसंज्ञामश्नुवते । तद्बलप्रभावितसत्ताका हि खल्वेते परप्रवादाः । तथाहि । नैगमनयदर्शनानुसारिणौ नैयायिकवैशेषिकौ । संग्रहाभिप्रायप्रवृत्ताः सर्वेऽप्यद्वैतवादाः सांख्यदर्शनं च । व्यवहारनयानुपातिप्रायश्चार्वाकदर्शनम् । ऋजुसूत्राकूतप्रवृत्तबुद्धयस्ताथागताः । शब्दादिनयावलम्बिनो वैयाकरणादयः ॥

" (१) नैगम नयके अनुसार अभिन्न ज्ञानका कारण सामान्य धर्म विशेष धर्मसे भिन्न है । (२) अस्तित्व धर्मको न छोड़ कर सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने स्वभावमें अवस्थित हैं । इस लिये सम्पूर्ण पदार्थोंकि सामान्य रूपसे ज्ञान करनेको संग्रह नय कहते हैं । (३) संग्रह नयसे जानी हुई सत्ताको प्रत्येक पदार्थमें भिन्न भिन्न रूपसे मान कर व्यवहार करनेको व्यवहार नय कहते हैं । (४) शुद्ध पर्यायके आश्रयसे प्रत्येक पदार्थ स्थितिके नाश होनेसे नष्ट होता है, इस लिये प्रत्येक वस्तुको नश्वर मानना ऋजुसूत्र नय है । (५) परस्पर विरोधी लिंग, संख्या आदिके भेदसे वस्तुमें भेद माननेको शब्द नय कहते हैं । (६) क्षणस्थायी वस्तुको भिन्न भिन्न संज्ञाओंके भेदसे भिन्न मानना समभिरूढ़ नय है । (७) वस्तु अमुक क्रिया करनेके समय ही अमुक नामसे कही जा सकती है, वह सदा एक शब्दका वाच्य नहीं हो सकती, इसे एवंभूत नय कहते हैं । " जिस समय ये नय अन्य धर्मोंका निषेध करके केवल अपने एक अभीष्ट धर्मका ही प्रतिपादन करते हैं, उस समय दुर्नय कहे जाते हैं । एकान्तवादी लोग वस्तुके एक धर्मको सत्य मान कर अन्य धर्मोंका निषेध करते हैं, इस लिये वे लोग दुर्नयवादी कहे जाते हैं । न्याय वैशेषिक लोग नैगम नयका अनुकरण करते हैं, वेदान्ती और सांख्य संग्रह नयको मानते हैं । चार्वाक लोग व्यवहार नयवादी हैं, बौद्ध लोग केवल ऋजुसूत्र नयको मानते हैं, तथा वैयाकरणी लोग शब्द आदि नयका ही अनुकरण करते हैं ।

उक्तं च सोदाहरणं नयदुर्नयस्वरूपं श्रीदेवसूरिपादैः । तथा च तद्ग्रन्थः[1]—
" नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्य अर्थस्य अंशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः इति । स्वाभिप्रेताद् अंशाद् इतरांशापलापी पुनर्न-

---

[1] प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे सप्तमपरिच्छेदे १–५३ ।

याभासः। स व्याससमासाभ्यां द्विप्रकारः। व्यासतोऽनेकविकल्पः। समासतस्तु द्विभेदो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रेधा। धर्मयोर्धर्मिणो-र्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः। सत् चैतन्य-मात्मनीति धर्मयोः। वस्तुपर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणोः। क्षणमेकं सुखी विषया-सक्तजीव इति धर्मधर्मिणोः। धर्मद्वयादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाभासः। यथा आत्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते इत्यादिः। सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः। अयमुभयविकल्पः परोऽपरश्च। अशेषविशेषेषु औदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभिमन्यमानः परसंग्रहः। विश्वमेकं सदविशेषादिति यथा। सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान् निराचक्षाणस्तदाभासः। यथा सत्तैव तत्त्वम् ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात्। द्रव्यत्वादीनि अवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः। धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीव-द्रव्याणामैक्यं द्रव्यत्वाभेदात् इत्यादिर्यथा। तद्द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्विशेषा-न्निह्नुवानस्तदाभासः। यथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वम् ततोऽर्थान्तरभूतानां द्रव्याणामनुप-लब्धेरित्यादिः। संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः। यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वेत्यादिः। यः पुनरपारमार्थि-कद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः। यथा चार्वाकदर्शनम्॥

देवसूरि आचार्यने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारमें नय और दुनयका स्वरूप उदाहरण सहित प्रतिपादित किया है—"श्रुतज्ञान प्रमाणसे जाने हुए पदार्थोंका एक अंश जान कर अन्य अंशोंके प्रति उदासीन रहते हुए वक्ताके अभिप्रायको नय कहते हैं। अपने अभीष्ट धर्मके अतिरिक्त वस्तुके अन्य धर्मोंके निषेध करनेको नयाभास (दुर्नय) कहते हैं। संक्षेप और विस्तारके भेदसे नय दो प्रकारका है। विस्तारसे नयके अनेक भेद हैं। संक्षेपसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये नयके दो भेद हैं। द्रव्यार्थिक नयके नैगम, संग्रह और व्यवहार तीन भेद हैं। (१) दो धर्म अथवा दो धर्मी अथवा एक धर्म और एक धर्मीमें प्रधान और गौणताकी विवक्षाको नैकगम अथवा नैगम नय कहते हैं। (क) जैसे सत् और चैतन्य दोनों आत्माके धर्म हैं। यहां सत् और चैतन्य दोनों धर्मोंमें चैतन्य विशेष्य होनेसे प्रधान धर्म है, और सत् विशेषण होनेसे गौण धर्म है। (ख) पर्यायवान द्रव्यको वस्तु कहते हैं। यहां द्रव्य और वस्तु दो धर्मियोंमें द्रव्य मुख्य

---

१ अनन्तांशात्मके वस्तुन्येकैकांशपर्यवसायिनो यावन्तः प्रतिपत्तृणामभिप्रायास्तावन्तो नयाः। ते च नियतसंख्यया संख्यातुं न शक्यन्त इति व्यासतो नयस्यानेकप्रकारत्वमुक्तम्। २ द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यं तदेवार्थः। सोऽस्ति यस्य विषयत्वेन स द्रव्यार्थिकः। पर्येत्युत्पादविनाशौ प्राप्नोतीति पर्यायः स एवार्थः। सोऽस्ति यस्यासौ पर्यायार्थिकः।

और वस्तु गौण है । अथवा पर्यायवान वस्तुको द्रव्य कहते हैं । यहां वस्तु मुख्य और द्रव्य गौण है । (ग) विषयासक्त जीव क्षणभरके लिये सुखी हो जाता है यहां विषयासक्त जीव रूप धर्मी मुख्य, और क्षणभरके लिये सुखी होना रूप धर्म गौण है । दो धर्म, दो धर्मी अथवा एक धर्म और धर्मीमें सर्वथा भिन्नता दिखानेको नैगमाभास कहते हैं। जैसे (क) आत्मामें सत् और चैतन्य परस्पर भिन्न हैं (ख) पर्यायवान वस्तु और द्रव्य सर्वथा भिन्न हैं । (ग) सुख और जीव परस्पर भिन्न हैं । (२) विशेष रहितं सामान्य मात्र जाननेवालेको संग्रह नय कहते हैं । पर और अपर सामान्यके भेदसे संग्रहके दो भेद हैं । सम्पूर्ण विशेषोंमें उदासीन भाव रख कर शुद्ध सत् मात्रको जानना पर संग्रह है । जैसे सामान्यसे एक विश्व ही सत् है । सत्ता द्वैतको मान कर सम्पूर्ण विशेषोंका निषेध करना संग्रहाभास है । जैसे सत्ता ही एक तत्व है, क्योंकि सत्तासे भिन्न विशेष पदार्थोंकी उपलब्धि नहीं होती । द्रव्यत्व, पर्यायत्व आदि अवान्तर सामान्योंको मान कर उनके भेदोंमें मध्यस्थ भाव रखना अपर संग्रह नय है । जैसे द्रव्यत्वकी अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल पुद्गल और जीव एक हैं । (इसी प्रकार पर्यायत्वकी अपेक्षा चेतन और अचेतन पर्याय एक हैं) । धर्म, अधर्म आदिको केवल द्रव्यत्व रूपसे स्वीकार करके उनके विशेषोंके निषेध करनेको अपर संग्रहाभास कहते हैं । जैसे द्रव्यत्व ही तत्व है, क्योंकि द्रव्यत्वसे भिन्न द्रव्योंका ज्ञान नहीं होता । (३) संग्रह नयसे जाने हुए पदार्थोंमें योग्य रीतिसे विभाग करनेको व्यवहार नय कहते हैं । जैसे जो सत् है, वह द्रव्य या पर्याय है । (यद्यपि संग्रह नयकी अपेक्षा द्रव्य और पर्याय सत्से अभिन्न हैं, परन्तु व्यवहार नयकी दृष्टिसे द्रव्य और पर्यायको सत्से भिन्न माना गया है) । द्रव्य और पर्यायके एकान्त भेद प्रतिपादन करनेको व्यवहाराभास कहते हैं । जैसे चार्वाकदर्शन । चार्वाक लोग जीव द्रव्यके पर्याय आदि न मान कर केवल भूत चतुष्टयको मानते हैं, अतएव उनको व्यवहाराभास कहा गया है ।

पर्यायार्थिकश्चतुर्धा ऋजुसूत्रः शब्दः समभिरूढः एवंभूतश्च । ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्रायः ऋजुसूत्रः । यथा सुखविवर्तः सम्प्रति अस्तीत्यादिः । सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः । यथा तथागतमतम् । कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः । यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः । तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः । यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेव अर्थमभिदधति भिन्नकालशब्दत्वात् तादृक्सिद्धान्यशब्दवद् इत्यादिः । पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः । इन्दनाद् इन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात् पुरन्दर इत्यादिषु यथा । पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः । यथेन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव भिन्नसब्दत्वात् करिकुरङ्गतुरङ्गशब्दवद् इत्यादिः ।

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविशिष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन् एवंभूतः। यथेन्दनमनुभवन् इन्द्रः शकनक्रियापरिणतः शक्रः पूर्दारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यते। क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः। यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यम् घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात् पटवद् इत्यादिः ॥

ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये चार पर्यायार्थिक नयके भेद हैं। (१) वर्तमान क्षणकी पर्याय मात्रकी प्रधानतासे वस्तुका कथन करना ऋजुसूत्र है। जैसे इस समय मैं सुखकी पर्याय भोगता हूं। द्रव्यके सर्वथा निषेध करनेको ऋजुसूत्र नयाभास कहते हैं, जैसे बौद्ध लोग। बौद्ध लोग क्षण क्षणमें नाश होनेवाली पर्यायोंको ही वास्तविक मान कर पर्यायोंके आश्रित द्रव्यका निषेध करते हैं, इस लिये उनका मत ऋजुसूत्र नयाभास है। (२) काल, कारक, लिंग, संख्या, वचन और उपसर्गके भेदसे शब्दके अर्थमें भेद माननेको शब्द नय कहते हैं। जैसे बभूव, भवति, भविष्यति (काल); करोति, क्रियते (कारक); तटः, तटी, तटं, (लिंग); दारा, कलत्रम् (संख्या); एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता (पुरुष); सन्तिष्ठते, अवतिष्ठते (उपसर्ग)। काल आदिके भेदसे शब्द और अर्थको सर्वथा अलग माननेको शब्दाभास कहते हैं। जैसे सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु होगा, आदि भिन्न भिन्न कालके शब्द भिन्न कालके शब्द होनेसे भिन्न भिन्न अर्थोंका ही प्रतिपादन करते हैं, जैसे अन्य भिन्न कालके शब्द। (३) पर्याय शब्दोंमें निरुक्तिके भेदसे भिन्न अर्थको कहना समभिरूढ़ नय है। जैसे ऐश्वर्यवान होनेसे इन्द्र, समर्थ होनेसे शक्र और नगरोंका नाश करनेवाला होनेसे पुरन्दर कहना। पर्यायवाची शब्दोंको सर्वथा भिन्न मानना समभिरूढ़ नयाभास है। जैसे करि (हाथी) कुरंग (हरिण) और तुरंग शब्द परस्पर भिन्न हैं, वैसे ही इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्दोंको सर्वथा भिन्न मानना। (४) जिस समय पदार्थोंमें जो क्रिया होती हो, उस समय उस क्रियाके अनुरूप शब्दोंसे अर्थके प्रतिपादन करनेको एवंभूत नय कहते हैं। जैसे परम ऐश्वर्यका अनुभव करते समय इन्द्र, समर्थ होनेके समय शक्र, और नगरोंका नाश करनेके समय पुरंदर कहना। पदार्थमें अमुक क्रिया होनेके समयको छोड़ कर दूसरे समय उस पदार्थको उसी शब्दसे नहीं कहना, एवंभूत नयाभास है। जैसे, जिस प्रकार जल लाने आदिकी क्रियाका अभाव होनेसे पटको घट नहीं कहा जा सकता, वैसे ही जल लाने आदि क्रियाके अतिरिक्त समय घड़ेको घट नहीं कहना।

एतेषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वाद् अर्थनयाः। शेषास्तु त्रयः शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनयाः। पूर्वः पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः परः परस्तु परिमितविषयः। सन्मात्रगोचरात् संग्रहात् नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः। सद्विशे-

षप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वाद् वहुविषयः । वर्तमानविषयाद् ऋजुसूत्राद् व्यवहारस्त्रिकालविषयावलम्बित्वाद् अनल्पार्थः । कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दादृजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वाद् महार्थः । प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढात् शब्दस्तद्विपर्ययानुयायित्वात् प्रभूतविषयः । प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानाद् एवंभूतात् समभिरूढस्तदन्यथार्थस्थापकत्वाद् महागोचरः । नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गीमनुव्रजति । " इति । विशेषार्थिना नयानां नामान्वर्थविशेषलक्षणाक्षेपपरिहारादिचर्चस्तु भाष्यमहोदधिगन्धहस्तिटीकान्यायावतारादिग्रन्थेभ्यो निरीक्षणीयः ॥

सात नयोंमें नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजूसूत्र ये चार नय अर्थका प्रतिपादन करनेके कारण अर्थनय कहे जाते हैं । बाकीके शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय शब्दका प्रतिपादन करनेसे शब्द नय कहे जाते हैं । इन नयोंमें पहले पहले नय अधिक विषयवाले हैं, और आगे आगेके नय परिमित विषयवाले हैं । संग्रह नय सत् मात्रको जानता है, और नैगम नय सामान्य और विशेष दोनोंको जानता है, इस लिये संग्रह नयकी अपेक्षा नैगम नयका अधिक विषय है । व्यवहार नय संग्रहसे जाने हुए पदार्थोंको विशेष रूपसे जानता है, और संग्रह समस्त सामान्य पदार्थोंको जानता है, इस लिये संग्रह नयका विषय व्यवहार नयसे अधिक है । व्यवहार नय तीनों कालोंके पदार्थोंको जानता है, और ऋजुसुत्रसे केवल वर्तमान पदार्थोंका ज्ञान होता है, अतएव व्यवहार नयका विषय ऋजुसूत्रसे अधिक है । शब्द नय काल आदिके भेदसे वर्तमान पर्यायको जानता है, ऋजुसूत्रमें काल आदिका कोई भेद नहीं, इस लिये शब्द नयसे ऋजुसूत्र नयका विषय अधिक है, समभिरूढ़ नय इन्द्र, शक्र आदि पर्यायवाची शब्दोंको भी व्युत्पत्तिकी अपेक्षा भिन्न रूपसे जानता है, परन्तु शब्द नयमें यह सूक्ष्मता नहीं रहती, अतएव समभिरूढ़से शब्द नयका विषय अधिक है । समभिरूढ़से जाने हुए पदार्थोंमे क्रियाके भेदसे वस्तुमें भेद मानना एवंभूत है, जैसे समभिरूढ़की अपेक्षा पुरन्दर और शचीपतिमें भेद होनेपर भी नगरोंका नाश करनेकी क्रिया न करनेके समय भी पुरन्दर शब्द इन्द्रके अर्थमें प्रयुक्त होता है, परन्तु एवंभूतकी अपेक्षा नगरोंका नाश करते समय ही इन्द्रको पुरन्दर नामसे कहा जा सकता है । अतएव एवंभूतसे समभिरूढ़ नयका विषय अधिक है । प्रमाणके सात भंगोंकी तरह अपने विषयमें विधि और प्रतिषेधकी अपेक्षा नयके भी सात भंग होते हैं । " नयोंका विशेष लक्षण और नयोंके ऊपर होनेवाले आक्षेपोंके परिहार आदिकी चर्चा तत्त्वार्थाधिगमभाष्य वृहद्वृत्ति (गंधहस्ति टीका), न्यायावतार आदि ग्रंथोंसे जाननी चाहिये ।

---

१ सिद्धसेनगणिविरचिततत्त्वार्थाधिगमभाष्यवृत्तिः । तदेव गन्धहस्तिटीका ।

प्रमाणं तु सम्यगर्थनिर्णयलक्षणं सर्वनयात्मकम् । स्याच्छब्दलाञ्छितानां नयानामेव प्रमाणव्यपदेशभाक्त्वात् । तथा च श्रीविमलनाथस्तवे श्रीसमन्तभद्रः—

“ नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ।। ”

इति “ तच्च[2] द्विविधम् प्रत्यक्षं परोक्षं च । तत्र प्रत्यक्षं द्विधा सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च । सांव्यवहारिकं द्विविधम् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तभेदात् । तद् द्वितयम् अवग्रहेहावायधारणाभेदाद् एकैकशश्चतुर्विकल्पम् । अवग्रहादीनां स्वरूपं सुप्रतीतत्वाद् न प्रतन्यते । पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तौ आत्ममात्रापेक्षम् ” । तद्द्विविधम् । क्षायोपशमिकं[3] क्षायिकं च । आद्यम् अवधिमनःपर्यायभेदाद् द्विधा । क्षायिकं तु केवलज्ञानमिति ।।

सम्यक् प्रकारसे अर्थके निर्णय करनेको प्रमाण कहते हैं। प्रमाण सर्व नय रूप होता है । नय वाक्योंमें स्यात् शब्द लगा कर बोलनेको प्रमाण कहते हैं। समन्तभद्र स्वामीने स्वयंभूस्तोत्रमें विमलनाथका स्तवन करते हुए कहा है “ जिस प्रकार रसोंके संयोगसे लोहा अभीष्ट फलका देनेवाला बन जाता है, इसी तरह नयोंमें ‘ स्यात् ’ शब्द लगानेसे भगवानके द्वारा प्रतिपादित नय इष्ट फलको देते हैं, इसीलिये अपना हित चाहने वाले लोग भगवानको नमस्कार करते हैं। ” “ यह प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है । सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ये प्रत्यक्षके दो भेद हैं । सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनसे पैदा होता है । इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा चार चार भेद हैं। अवग्रह आदिका स्वरूप सरल होनेसे यहां नहीं लिखा जाता। पारमार्थिक प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें केवल आत्माकी सहायता रहती है। ” यह क्षायोपशमिक और क्षायिकके भेदसे दो प्रकारका है । अवधि ज्ञान और मनपर्याय ज्ञान क्षायोपशमिकके भेद हैं। केवलज्ञान क्षायिकका भेद है ।

परोक्षं च स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमभेदात् पञ्चप्रकारम् । “ तत्र[4] संस्कारप्रबोधसम्भूतमनुभूतार्थविषयं तदित्याकारं वेदनं स्मृतिः । तत् तीर्थकरबिम्बमिति यथा । अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् । यथा तज्जातीय एवायं गोपिण्डः गोसदृशो गवयः स एवायं जिनदत्त इत्यादिः । उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहस्तर्कापरपर्यायः । यथा यावान् कश्चिद् धूमः

---

[1] बृहत्स्वयंभुस्तोत्रावल्यां विमलनाथस्तवे ६५ । [2] प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारे २–१, ४, ५, ६, १८ । [3] क्षयेणोदयप्राप्तकर्मणो विनाशेन सहोपशमे विष्कम्भितोदयत्वं क्षयोपशमः ।
[4] प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारे ३—३-२३

स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसति असौ न भवत्येवेति वा। अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च। तत्रान्यथानुपपत्त्येकलक्षणहेतुग्रहणसंबन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्। पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्"। "[1]आप्तवचनाद् आविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। उपचाराद् आप्तवचनं च" इति। स्मृत्यादीनां च विशेषस्वरूपं स्याद्वादरत्नाकरात् साक्षेपपरिहारं ज्ञेयमिति। प्रमाणान्तराणां पुनरर्थापत्त्युपमानसंभवप्रातिभैतिह्यादीनामत्रैव अन्तर्भावः। [2]संनिकर्षादीनां तु जडत्वाद् एव न प्रामाण्यमिति। तदेवंविधेन नयप्रमाणोपन्यासेन दुर्नयमार्गस्त्वया खिलीकृतः॥ इति काव्यार्थः॥ २८॥

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊहा, अनुमान और आगम परोक्षके पांच भेद हैं। "संस्कारसे उत्पन्न अनुभव किये हुए पदार्थमें 'वह है' इस प्रकारके स्मरण होनेको स्मृति कहते हैं, जैसे वह तीर्थंकरका प्रतिविम्ब है। वर्तमानमें किसी वस्तुके अनुभव करनेपर और भूतकालमें देखे हुए पदार्थका स्मरण होनेपर तिर्यकू सामान्य (वर्तमान कालवर्ती एक जातिके पदार्थोंमें रहनेवाला सामान्य) और ऊर्ध्वता सामान्य (एक ही पदार्थके क्रमवर्ती सम्पूर्ण पर्यायोंमें रहनेवाला सामान्य) आदिको जाननेवाले जोड़ रूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह गोपिंड उसी जातिका है, यह गवय गौके समान है, यह वही जिनदत्त है, आदि। उपलंभ और अनुपलंभसे उत्पन्न तीन कालमें होनेवाले साध्य-साधनके संबंध आदिसे होनेवाले, इसके होनेपर यह होता है, इस प्रकारके ज्ञानको ऊह अथवा तर्क कहते हैं। जैसे अग्निके होनेपर ही धूम होता है, अग्निके न होनेपर धूम नहीं होता। अनुमानके स्वार्थ और पदार्थ दो भेद हैं। अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु-ग्रहण करनेके संबंधके स्मरण पूर्वक साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते हैं। पक्ष और हेतु कह कर दूसरेको साध्यके ज्ञान करानेको परार्थानुमान कहते हैं। परार्थानुमानको उपचारसे अनुमान कहा गया है। आप्तके वचनसे पदार्थोंके ज्ञान करनेको आगम कहते हैं। आप्तके वचनोंको उपचारसे प्रमाण माना गया है।" स्मृति आदिका विशेष स्वरूप स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रन्थोंसे जानना चाहिये। अर्थापत्ति, उपमान, संभव, प्रातिभ, ऐतिह्य आदि प्रमाणोंका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंमें हो जाता है। सन्निकर्ष आदिको जड़ होनेके कारण प्रमाण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार आपने नय और प्रमाण का उपदेश देकर दुर्नयवादके मार्गका निराकरण किया है। यह श्लोक का अर्थ है।

भावार्थ—(१) किसी वस्तुके सापेक्ष निरूपण करनेको नय कहते हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म विद्यमान हैं। इन अनन्त धर्मोंमें किसी एक धर्मकी अपेक्षासे अन्य

---

[1] प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारे ४—१, २। [2] प्रत्यक्षजनकः संबंधः। यथा चाक्षुषप्रत्यक्षे चक्षुर्विषययोः संसर्गः।

धर्मोंका निषेध न करके पदार्थोंका ज्ञान करना नय है। प्रमाणसे जाने हुए पदार्थोंमें ही नयसे वस्तुके एक अंशका ज्ञान होता है। **शंका**—नयसे पदार्थोंका निश्चय होता है, इस लिये नयको प्रमाण ही कहना चाहिये, नय और प्रमाणको अलग अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं। **समाधान**—नयसे सम्पूर्ण वस्तुका नहीं, किन्तु वस्तुके एक देशका ज्ञान होता है। इस लिये जिस प्रकार समुद्रकी एक बूंदको सम्पूर्ण समुद्र नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यदि समुद्रकी एक बूंदको समुद्र कहा जाय, तो शेष समुद्रके पानीको असमुद्र कहना चाहिये, अथवा समुद्रके पानीकी अन्य बूंदोंको भी समुद्र कह कर बहुतसे समुद्र मानने चाहिये । तथा समुद्रकी एक बूंदको असमुद्र भी नहीं कहा जा सकता। यदि समुद्रकी एक बूंदको असमुद्र कहा जाय, तो समुद्रके शेष अंशको भी समुद्र नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार पदार्थोंके एक अंशके ज्ञान करनेको वस्तु नहीं कह सकते, अन्यथा वस्तुके एक अंशके अतिरिक्त वस्तुके अन्य धर्मोंको अवस्तु मानना चाहिये, अथवा वस्तुके प्रत्येक अंशको अवस्तु मानना चाहिये। तथा पदार्थोंके एक अंशके ज्ञान करनेको अवस्तु भी नहीं कह सकते, अन्यथा वस्तुके शेष अंशोंको भी अवस्तु मानना पड़ेगा। अतएव जिस प्रकार समुद्रकी एक बूंदको समुद्र अथवा असमुद्र नहीं कहा जा सकता, उसी तरह वस्तुके एक अंशके जाननेको प्रमाण अथवा अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। इस लिये नयको प्रमाण और अप्रमाण दोनोंसे अलग मानना चाहिये।

(२) जितने तरहके वचन हैं, उतने ही नय हो सकते हैं। इस लिये नयके उत्कृष्ट भेद असंख्यात हो सकते हैं। इस लिये विस्तारसे नयोंका प्ररूपण नहीं किया जा सकता। एकसे ले कर नयोंके असंख्यात भेद किये गये हैं। (क) सामान्यसे शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा नयका एक भेद[2] है (ख) सामान्य और विशेषकी अपेक्षा द्रव्यार्थिक (द्रव्यास्तिक) और पर्यायार्थिक (पर्यायास्तिक) ये नयके दो भेद हैं। सामान्य और विशेषको छोड़ कर नयका कोई दूसरा विषय नहीं होता। अतएव सम्पूर्ण नैगम आदि नयोंका

---

१ नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि ॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।
समुद्रबहुता वा स्यात् तत्त्वे क्वास्तु समुद्रवित ॥
तत्त्वार्थश्लोकवर्तिक १–६–५,६।

२ सामान्यादेशतस्तावेदक एव नयः स्थितः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजनात्मकः ॥ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १–३३–२।
यदि वा शुद्धत्वनयान्नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम्।
गुणश्च पर्यय इति वा न स्याच्च केवलं सदिति ॥ राजमल्ल-पंचाध्यायी १–२१६।

इन्हीं दो नयोंमें अंतर्भाव हो जाता है। (ग) संग्रह, व्यवहार, ऋजुसुत्र इन तीन अर्थ नयोंमें एक शब्द नयको मिला कर नयके चार भेद होते हैं (घ) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द नयके भेदसे नय पांच प्रकारके होते हैं। यहां भाष्यकारने सांप्रत, समभिरूढ़ और एवंभूतको शब्द नयके भेद स्वीकार किये[3] हैं। (च) जिस समय नैगम नय सामान्यको विषय करता है, उस समय वह संग्रह नयमें गर्भित होता है, और जिस समय विशेषको विषय करता है, उस समय व्यवहारमें गर्भित होता है। अतएव नैगम नयका संग्रह और व्यवहार नयमें अन्तर्भाव करके सिद्धसेन दिवाकरने छह नयोंको माना है[4] (छ) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, और एवंभूतके भेदसे नयके सात भेद होते हैं। यह मान्यता श्वेताम्बर आगम परंपरामें और दिगम्बर ग्रन्थों में पायी जाती है[5]। (ज) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र तथा सांप्रत, समभिरूढ और एवंभूत ये शब्दके तीन विभाग करनेसे नयोंके आठ भेद होते[6] हैं। (झ) नैगम, संग्रह आदि सात प्रसिद्ध नयोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय मिला देनेसे नयोंकी संख्या नौ हो जाती है। इन नयोंके माननेवाले आचार्योंका खंडन द्रव्यानुयोग तर्कणामें मिलता है। (ट) नैगमके नौ भेद करके संग्रह आदि छह नयोंको मिलानेसे नयोंके १५ भेद होते[8] हैं। (ठ)

---

[१] दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं।
(द्रव्यास्तिकश्च पर्यायनयश्च शेषा विकल्पास्तयोः) सन्मतितर्क १-३।
परस्परविविक्तसामान्यविशेषविषयत्वात् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकावेव नयौ, न च तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति यद्विषयोऽन्यस्ताभ्यां व्यतिरिक्तो नयः स्यात्। अभयदेव टीका।
संक्षेपाद् द्वौ विशेषेण द्रव्यपर्यायगोचरौ। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-३३-३।

[२] नैगमनयो द्विविधः सामान्यग्राही विशेषग्राही च। तत्र यः सामान्यग्राही स संग्रहेऽन्तर्भूतः, विशेषग्राही तु व्यवहारे। तदेवं संग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दादित्रयं चैक इति चत्वारो नयाः। समवायांग टीका।

[३] नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः। तत्त्वार्थाधिगम भाष्य १-३४।

[४] जो सामन्नगाही स नेगमो संगहं गओ अहवा।
इयदो ववहारमिओ जो तेण समाणनिद्देसो॥ विशेषावश्यक भाष्य ३९।
सिद्धसेनीयाः पुनः षडेव नयानभ्युपगतवन्तः। नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावविवक्षणात्। विशेषावश्यक भाष्य ४५।

[५] से किं तं णए? सत्तमूलणया पणत्ता। तं जहा–णेगमे संगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरूढे एवंभुए। अनुयोगद्वारसूत्र। तथा स्थानांग सू. ५५२; भगवती सू. ४६९।

[६] तत्त्वार्थाधिगम भाष्य १–३४,३५।

[७] यदि पर्यायद्रव्यार्थनयौ भिन्नौ विलोकितौ।
अर्पितानर्पिताभ्यां तु स्युर्नैकादश तत्कथम्॥ द्रव्यानुयोगतर्कणा ८–११।

[८] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-३३-४८।

निश्चय नयके २८ और व्यवहार नयके ८ भेद मिला कर नयोंके ३६ भेद होते[1] हैं। (ङ) प्रत्येक नयके सौ सौ भेद करनेपर नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पांच नयोंके माननेसे नयोंके पांच सौ, और सात नय माननेसे नयोंके सात सौ भेद होते[2] हैं। (ढ) जितने प्रकारके वचन होते हैं, उतने ही नय हो सकते हैं। इस लिये नयके असंख्यात भेद हैं।

(३)—(१) (क) सामान्य और विशेष पदार्थोंको ग्रहण करना नैगम नय है। यह लक्षण मल्लिषेण, सिद्धर्षि, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण अभयदेव आदि श्वेताम्बर आचार्योंके ग्रन्थोंमें मिलता[3] है। (ख) दो धर्म, अथवा दो धर्मी अथवा एक धर्म और एक धर्मीमें प्रधान और गौणताकी विवक्षा करनेको नैगम कहते हैं। नैगम नयका यह लक्षण देवसूरि, विद्यानन्दि, यशोविजय आदिके ग्रन्थोंमें पाया जाता[4] है। (ग) जिसके द्वारा लौकिक अर्थका ज्ञान हो, उसे नैगम कहते हैं। यह लक्षण जिनभद्रगणि, सिद्धसेनगणि, आदि आचार्योंके[5] ग्रंथोंमें मिलता है। (घ) संकल्प मात्रके ग्रहण करनेको नैगम कहते हैं[6]। जैसे किसी पुरुषको प्रस्थ (पांच सेरका परिणाम) बनानेके लिये जंगलमें लकडी लेने जाते हुए देख कर किसीने पूछा, तुम कहां जा रहे हो? उस आदमीने उत्तर दिया, कि वह प्रस्थ लेने जा रहा है। पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानंदि आदि दिगम्बर आचार्योंको यही लक्षण मान्य है। (प्रस्थका उदाहरण नैगम नयके वर्णनमें हरिभद्रके आवश्यकटिप्पण में भी दिया गया है)। नैगमके नौ भेद हैं। पहले पर्याय नैगम, द्रव्य नैगम, द्रव्य पर्याय नैगम ये नैगमके तीन भेद हैं। इनमें अर्थ पर्याय नैगम, व्यंजन पर्याय नैगम और अर्थ व्यंजन पर्याय नैगम ये पर्याय नैगमके तीन भेद हैं। शुद्ध द्रव्य नैगम और अशुद्ध द्रव्य नैगम ये द्रव्य नैगमके दो भेद हैं। तथा शुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगम, शुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगम ये चार द्रव्य पर्याय नैगमके भेद हैं। इन सबको मिलानेसे नैगमके नौ भेद होते हैं। न्याय-वैशेषिकोंका नैगमाभासमें अंतर्भाव होता है। (२) विशेषोंकी अपेक्षा न करके वस्तुको सामान्य रूपसे जाननेको संग्रह नय कहते हैं। जैसे जीव कहनेसे त्रस, स्थावर आदि सब प्रकारके जीवोंका ज्ञान होता है। संग्रह नय पर संग्रह और अपर

---

[1] देवसेनसूरि—नयचक्रसंग्रह १८६, १८७, १८८।

[2] इक्किक्को य सयविहो सत्तनयसया हवंति एमेव।
अन्नो विय आएसो पंचेवसया नयाणं तु ॥ विशेषावश्यक भाष्य २२६४।

[3] ये परस्परविशकलितौ सामान्यविशेषाविच्छान्ति तत् समुदायरूपो नैगमः। सिद्धर्षि न्यायावतार टीका।

[4] यद्वा नैकं गमो योऽत्र सततां नैगमो मतः।
धर्मयोर्धर्मिणो वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः ॥ तत्वार्थश्लोकवार्तिक १–३३–२१।

[5] निगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति लौकिका अर्थाः तेषु निगमेषु भवो योऽध्यवसायः ज्ञानाख्यः स नैगमः। सिद्धसेनगणी तत्वार्थ टीका।

[6] अर्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। पूज्यपाद—सर्वार्थसिद्धि पृ. ७८।

संग्रहके भेदसे दो प्रकारका है। सत्ताद्वैतको मान कर सम्पूर्ण विशेषोंके निषेध करनेको संग्रहाभास कहते हैं। अद्वैत वेदान्तियों और सांख्योंका संग्रहाभासमें अन्तर्भाव होता है। (३) संग्रह नयसे जाने हुए पदार्थोंके योग्य रीतिसे विभाग करनेको व्यवहार नय कहते हैं। जैसे जो सत् है वह द्रव्य या पर्याय है। इसके सामान्य भेदक और विशेष भेदकके भेदसे दो भेद हैं। द्रव्य और पर्यायके एकान्तभेदको मानना व्यवहारभास है। इसमें चार्वाक दर्शन गर्भित होता है। (४) वस्तुकी अतीत और अनागत पर्यायको छोड़ कर वर्तमान क्षणकी पर्यायको जानना ऋजुसूत्र नय है। जैसे इस समय मैं सुखकी पर्याय भोग रहा हूं। सूक्ष्म ऋजुसूत्र और स्थूल ऋजुसूत्रके भेदसे ऋजुसूत्रके दो भेद हैं। केवल क्षण क्षणमें नाश होनेवाली पर्यायोंको मान कर पर्यायके आश्रित द्रव्यका सर्वथा निषेध करना ऋजुसूत्र नयाभास है। बौद्ध दर्शन इसीमें गर्भित होता है। (५) पर्यायवाची शब्दोंमें भी काल, कारक, लिंग संख्या, पुरुष और उपसर्गके भेदसे अर्थ भेद मानना शब्द नय है। जैसे 'आप्' जलका पर्यायवाची होनेपर भी जलकी एक बूंदके लिये 'आप्'का प्रयोग नहीं करना; 'विरमते' और 'विरमति' पर्यायवाची होनेपर भी दूसरेके लिये विरमति परस्मैपदका प्रयोग, और अपने लिये विरमते आत्मनेपदका प्रयोग करना। काल आदिके भेदसे शब्द और अर्थको सर्वथा भिन्न मानना शब्दाभास है (६) पर्यायवाची शब्दोंमें व्युत्पत्तिके भेदसे अर्थ भेद मानना समभिरूढ नय है, जैसे इन्द्र शक्र और पुरन्दर इन शब्दोंके पर्यायवाची होनेपर भी ऐश्वर्यवानको इंद्र, सामर्थ्यवानको शक्र, और नगरोंके नाश करनेवालेको पुरन्दर कहना। पर्यायवाची शब्दोंको सर्वथा भिन्न मानना समभिरूढ़ाभास है (७) जिस समय पदार्थोंमें जो क्रिया होती हो, उस समय क्रियाके अनुकूल शब्दोंसे अर्थके प्रतिपादन करनेको एवंभूत नय कहते हैं। जैसे पूजा करते समय पुजारी, और पढ़ते समय विद्यार्थी कहना। जिस समय पदार्थमें जो क्रिया होती है, उस समयको छोड़ कर दूसरे समय उस पदार्थको उस नामसे नहीं कहना एवंभूत नयाभास है। जैसे जल लानेके समय ही घड़ेको घट कहना, दूसरे समय नहीं।

(४) (क) सात नयोंको द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है। नैगम, संग्रह और व्यवहार नय ये तीन नय द्रव्यार्थिक हैं,

---

१ तार्किकाणां त्रयो भेदा आद्या द्रव्यार्थिनो मताः।
सैद्धांतिकानां चत्वारः पर्यायार्थगताः परे॥ यशोविजय—नयोपदेश १८।

यहां जैन शास्त्रोंमें दो परम्परायें दृष्टिगोचर होती हैं। पहली परम्पराके अनुसार द्रव्यास्तिकके नैगम आदि चार और पर्यायास्तिकके शब्द आदि तीन भेद हैं। इस सैद्धांतिक परम्पराके अनुयायी जिनभद्रगणि, विनयविजय, देवसेन आदि आचार्य हैं। दूसरी परम्परा तार्किक विद्वानोंकी है। इसके अनुसार द्रव्यास्तिकके नैगम आदि तीन, और पर्यायास्तिकके ऋजुसूत्र आदि चार भेद हैं। इसके अनुयायी सिद्धसेन दिवाकर, माणिक्यनन्दि, वादिदेवसूरि, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र, यशोविजय आदि विद्वान हैं।

क्योंकि ये द्रव्यकी अपेक्षा वस्तुका प्रतिपादन करते हैं। तथा ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये चार नय पर्यायार्थिक हैं, क्योंकि ये वस्तुमें पर्यायकी प्रधानताका ज्ञान करते हैं। (ख) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसुत्र चार अर्थनय हैं। इनमें शब्दके लिंग आदि बदल जानेपर भी अर्थमें अन्तर नहीं पड़ता, इस लिये अर्थकी प्रधानता होनेसे ये अर्थनय कहे जाते हैं। शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नयोंमें शब्दोंके लिंग आदि बदलनेपर अर्थमें भी परिवर्तन हो जाता है, इस लिये शब्दकी प्रधानतासे ये शब्दनय कहे जाते हैं। (ग) नय व्यवहार और निश्चय नयमें भी विभक्त हो सकते हैं। एवंभूतका विषय सब नयोंकी अपेक्षा सूक्ष्म है, इस लिये एवंभूतको निश्चय, और बाकीके छह नयोंको व्यवहार नय कहते हैं। (घ) सात नयोंके ज्ञाननय और क्रियानय विभाग भी हो सकते हैं। ये नय सत्यका विचार करते हैं, इस लिये ज्ञान दृष्टिकी प्रधानता होनेके कारण ज्ञाननय, और क्रिया दृष्टिकी प्रधानता होनेसे क्रियानय कहे जाते हैं। नैगम आदि नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्म विषयको जानते हैं।

इदानीं सप्त[१]द्वीपसमुद्रमात्रो लोक इति वावदूकानां तन्मात्रलोके परिमितानामेव सत्त्वानां संभवात्। परिमितात्मवादिनां दोषदर्शनमुखेन भगवत्प्रणीतं जीवानन्त्यवादं निर्दोषतयाभिष्टुवन्नाह—

सात द्वीप और सात समुद्र मात्रको लोक माननेवाले वादियोंके मतमें जीवोंकी संख्या भी परिमित ही हो सकती है। अतएव जीवोंकी परिमित संख्या माननेवाले वादियोंके मतको सदोष सिद्ध करके जिन भगवानद्वारा प्रतिपादित जीवोंकी अनन्तताको निर्दोष सिद्ध करते हैं—

मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवम् भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे।
षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्यमाख्यस्तथा नाथ यथा न दोषः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ—जो लोग जीवोंको अनन्त नहीं मान कर जीवोंकी संख्या परिमित मानते है, उनके मतमें मुक्त जीवोंको फिरसे संसारमें जन्म लेना चाहिये, अथवा यह संसार किसी दिन

---

[१] वैदिकमते जम्बुप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करा इति सप्तद्वीपाः, लवणेक्षुसुरासर्पिर्दधिदुग्धजलार्णवाः इति सप्तसमुद्राश्च; बौद्धमते जम्बुपूर्वविदेहावरगोदानीयोत्तरकुरव इति चतुर्द्वीपाः सप्त सीताश्च; जैनमते असंख्याताः द्वीपसमुद्राः इति।

जीवोंसे खाली हो जाना चाहिये। हे भगवन्, आपने छह कायके जीवोंको अनन्त माना है, इस लिये आपके मतमें उक्त दोष नहीं आते।

मितात्मवादे संख्यातानामात्मनामभ्युपगमे दूषणद्वयमुपतिष्ठते। तत्क्रमेण दर्शयति। मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवमिति। मुक्तो निर्वृतिमाप्तः। सोऽपि वा। अपिर्विस्मये। वाशब्द उत्तरदोषापेक्षया समुच्चयार्थः यथा देवो वा दानवो वेति। भवमभ्येतु संसारमभ्यागच्छतु। इत्येको दोषप्रसङ्गः। भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु। भवः संसारः स वा भवस्थशून्यः संसारिजीवैर्विरहितोऽस्तु भवतु। इति द्वितीयो दोषप्रसङ्गः॥

व्याख्यार्थ—जीवोंको संख्यात माननेमें मुक्त जीवोंको संसारमें फिरसे लौट कर आना चाहिये, अथवा यह संसार किसी दिन संसारी जीवोंसे शून्य हो जाना चाहिये। श्लोकमें 'अपि' शब्द विसय अर्थमें है, और 'वा' शब्द आगेके दोषोंका समुच्चय करता है।

इदमत्र आकूतम्। यदि परिमिता एव आत्मानो मन्यन्ते तदा तत्त्वज्ञानाभ्यासप्रकर्षादिक्रमेणापवर्गं गच्छत्सु तेषु संभाव्यते खलु स कश्चित्कालो यत्र तेषां सर्वेषां निर्वृतिः। कालस्यानादिनिधनत्वाद् आत्मनां च परिमितत्वात् संसारस्य रिक्तता भवन्ती केन वार्यताम्। समुन्नीयते हि प्रतिनियतसलिलपटलपरिपूरिते सरसि पवनतपनातपनजनोदञ्चनादिना कालान्तरे रिक्तता। न चायमर्थः प्रामाणिकस्य कस्यचिद् प्रसिद्धः। संसारस्य स्वरूपहानिप्रसङ्गात्। तत्स्वरूपं हि एतद् यत्र कर्मवशर्तिनः प्राणिनः संसरन्ति समासार्षुः संसरिष्यन्ति, चेति। सर्वेषां च निर्वृतत्वे संसारस्य वा रिक्तत्वं हठादभ्युपगन्तव्यम्। मुक्तैर्वा पुनर्भवे आगन्तव्यम्॥

यदि जीवोंको परिमित माना जाय, तो तत्वज्ञानके अभ्यासकी प्रकृष्टता होनेपर किसी समय सम्पूर्ण जीवोंको मोक्ष मिल जाना चाहिये। अतएव जिस प्रकार जलसे परिपूर्ण तालाब वायु और सूर्यकी गरमीसे जलसे शुष्क हो जाता है, उसी तरह कालके अनादि निधन होनेसे और जीवोंके संख्यात होनेसे किसी समय यह संसार जीवोंसे शून्य हो जाना चाहिये। संसारका जीवोंसे शून्य होना किसी भी प्रामाणिक पुरुषने नहीं माना है, क्योंकि इससे संसार नष्ट हो जाता है। जहां जीव कर्मोंके वश हो कर परिभ्रमण करते हैं, अथवा परिभ्रमण करेंगे, उसे संसार कहते हैं। अतएव सम्पूर्ण संसारी जीवोंका मोक्ष माननेसे संसारको प्राणियोंसे शून्य मानना चाहिये, अथवा मुक्त जीवोंको फिरसे संसारमें जन्म लेना चाहिये।

न च क्षीणकर्मणां भवाधिकारः।

"दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥"[1]

---

[1] तत्त्वार्थाधिगमभाष्ये १०-७।

इति वचनात् । आह च पतञ्जलिः—“ सति[1] मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ” इति । एतट्टीका[2] च—“ सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः । यथा तुषावनद्धा शालितण्डुला अदग्धवीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धवीजभावा वा । तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति । नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशवीजभावो वेति । स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोगः ” इति । अक्षपादोऽप्याह—“ न प्रवृत्तिः[3] प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ” इति ॥

जिन जीवोंके कर्म नष्ट हो गये हैं, वे फिरसे संसारमें नहीं आते । कहा भी है “ जिस प्रकार वीजके जल जानेपर वीजसे अंकुर नहीं पैदा हो सकता, उसी तरह कर्मवीजके जल जानेपर संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता । ” पतंजलिने कहा है “ मूलके रहनेपर ही जाति, आयु और भोग होते हैं । ” टीकाकार व्यासने कहा है “ क्लेशोंके होनेपर ही कर्मोंकी शक्ति फल दे सकती है, क्लेशके उच्छेद होनेपर कर्म फल नहीं देते । जिस प्रकार छिलकेसे युक्त चावलोंसे अंकुर पैदा हो सकते हैं, छिलका उतार देनेसे चावलोंमें पैदा होनेकी शक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार क्लेशोंसे युक्त कर्म शक्ति फल देती है, क्लेशोंके नष्ट हो जानेपर कर्म शक्तिमें विपाक नहीं होता । यह विपाक जाति, आयु और भोगके भेदसे तीन प्रकारका है ” अक्षपाद ऋषिने भी कहा है “ जिसके क्लेशोंका क्षय हो गया है, उसको प्रवृत्ति बंधका कारण नहीं होती । ”

एवं विभङ्गज्ञानिशिवराजर्षिमतानुसारिणो दूषयित्वा उत्तरार्द्धेन भगवदुपज्ञमपरिमितात्मवादं निर्दोषतया स्तौति । षड्जीवेत्यादि । त्वं तु हे नाथ तथा तेन प्रकारेण अनन्तसंख्यमनन्ताख्यसंख्याविशेषयुक्तं षड्जीवकायम् । अजीवन् जीवन्ति जीविष्यन्ति चेति जीवा इन्द्रियादिज्ञानादिद्रव्यभावप्राणधारणयुक्ताः । तेषां “ सङ्घे[4] चानूर्ध्वे ” इति चिनोतेर्घञि आदेश्च कत्वे कायः समूह जीवकायः पृथिव्यादिः । षण्णां जीवकायानां समाहारः षड्जीवकायम् । पात्रादिदर्शनाद् नपुंसकत्वम् । अथवा षण्णां जीवानां कायः प्रत्येकं सङ्घातः षड्जीवकायस्तं षड्जीवकायम् । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसलक्षणषड्जीवनिकायम् । तथा तेन प्रकारेण । आख्यः मर्यादया प्ररूपितवान् । यथा येन प्रकारेण न दोषो दूषणमिति । जात्यपेक्षमेकवचनम् । प्रागुक्तदोषद्वयजातीया अन्येऽपि दोषा यथा न प्रादुःष्यन्ति तथा त्वं जीवानन्त्यमुपदिष्टवानित्यर्थः । आख्यः इति आङ्पूर्वस्य ख्यातेरङि सिद्धिः । त्वमित्येकवचनं चेदं ज्ञापयति यद् जगद्गुरोरेव एकस्येदृक्प्ररूपणसामर्थ्यं, न तीर्थान्तरशास्तृणामिति ॥

इस प्रकार विभंगज्ञानी शिवराज महर्षिके अनुयायियोंकी मान्यता सदोष सिद्ध करके जिन भगवानके कहे हुए अनन्त जीववादको निर्दोष सिद्ध करते हैं । जो भूतकालमें जीते थे, वर्तमानमें जीते हैं, और भविष्यमें जीवेंगे, उन्हें जीव कहते हैं । ये जीव इन्द्रिय

---

१ पातञ्जलसूत्रे २-१३ । २ व्यासभाष्ये । २-१३ । ३ गौतमसूत्रे ४-१-६४ । ४ हैमसूत्रे ५-३-८० ।

आदि दस प्राणोंको और ज्ञान आदि भाव प्राणोंको धारण करते हैं। जीवोंके समूहको जीवकाय कहते हैं। यहां "संघे चानूर्ध्वे" सूत्रसे 'चि' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय होनेपर 'च' के स्थानमें 'क' हो जानेसे 'काय' शब्द बनता है। पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस इन छह प्रकारके जीवोंको 'षट्काय जीव' कहा है। यहां 'पात्र' आदि शब्दोंमें षड्जीवकाय शब्दको मान कर समासमें 'षड्जीवकायं' नपुंसक लिंग बनाया है। अथवा समूह अर्थमें समास न करके 'छह प्रकारके जीवोंका संघात' अर्थ करके 'षड्काय-जीवः' पुल्लिंगान्त समास बनाना चाहिये। अतएव जिन भगवानने ही निर्दोष रीतिसे जीवोंको अनन्त स्वीकार किया है, दूसरे वादियोंने नहीं। आङ् पूर्वक 'ख्या' धातुसे अङ् प्रत्यय लगानेपर 'आख्यः' क्रियापद बनता है।

पृथिव्यादीनां पुनर्जीवत्वमित्थं साधनीयम्। यथा सात्मिका विद्रुमाशिलादि-रूपा पृथिवी, छेदे समानधातूत्थानाद्, अर्शोऽङ्कुरवत्। भौममम्भोऽपि सात्मकम्, क्षतभूसजातीयस्य स्वभावस्य सम्भवात्, शालूरवत्। आन्तरिक्षमपि सात्मकम्, अभ्रादिविकारे स्वतः सम्भूय पातात्, मत्स्यादिवत्। तेजोऽपि सात्मकम्, आहारोपादानेन वृद्ध्यादिविकारोपलम्भात्, पुरुषाङ्गवत्। वायुरपि सात्मकः, अपरप्रेरितत्वे तिर्यग्गतिमत्वाद् गोवत्। वनस्पतिरपि सात्मकः, छेदादिभिर्म्लान्यादिदर्शनात्, पुरुषाङ्गवत्। केषाञ्चित् स्वापाङ्गनोपश्लेषादिविकाराच्च। अपकर्षतश्चैतन्याद् वा सर्वेषां सात्मकत्वसिद्धिः। आप्तवचनाच्च। त्रसेषु च कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिषु न केषाञ्चित् सात्मकत्वे विगानमिति॥

(१) मूंगा पाषाण आदि रूप पृथिवी सजीव है, क्योंकि डाभके अंकुरकी तरह पृथिवीके काटनेपर वह फिरसे उग आती है। (२) पृथिवीका जल सजीव है, क्योंकि मेंडककी तरह जलका स्वभाव खोदी हुई पृथिवीके समान है। आकाशका जल भी सजीव है, क्योंकि मछलीकी तरह बादलके विकार होनेपर वह स्वतः ही उत्पन्न होता है। (३) अग्नि भी सजीव है, क्योंकि पुरुषके अंगोंकी तरह आहार आदिके ग्रहण करनेसे उसमें वृद्धि होती है। (४) वायुमें भी जीव है, क्योंकि गौकी तरह वह दूसरेसे प्रेरित हो कर

---

१ ननु चेतनत्वमपि क्वचिदचेतनत्वाभिमतानां भूतेन्द्रियाणां श्रूयते। यथा 'मृदब्रवीत्' 'आपोऽब्रुवन्' (श. प. ब्रा. ६–१–३–२–४) इति, 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' (छा. ६–२–३, ४) इति चैवमाद्या भूतविषया चेतनत्वश्रुतिः। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्ये २–१–४। वनस्पत्यादीनां चेतनत्वं महाभारते (शांति॰ मो॰ अ॰ १८२ श्लोक ६–१८) मनुस्मृतौ (अ. १ श्लो. ४६–४९) च समर्थितम्।

२ तथा मत्तकामिनीसनूपुरसुकुमारचरणताडनादशोकतरोः पल्लवकुसुमोद्भेदः। तथा युवत्यलिंगनात् पनसस्य। तथा सुरभिसुरागण्डूषसेकाद्बकुलस्य। तथा सुरभिनिर्मलजलसेकाच्चम्पकस्य। तथा कटाक्षवीक्षणात्तिलकस्य। तथा पंचमस्वरोद्गाराच्छिरीषस्य विरहकस्य पुष्पविकिरणम्।

षड्दर्शनसमुच्चय गुणरत्न टीका पृ. ६३।

गमन करती है। (५) वनस्पतिमें भी जीव है, क्योंकि पुरुषके अंगोंकी तरह छेदनेसे उसमें मलिनता देखी जाती है। कुछ वनस्पतियोंमें स्त्रियोंके पादाघात आदिसे विकार होता है, इस लिये भी वनस्पतिमें जीव है। अथवा जिन जीवोंमें चेतना घटती हुई देखी जाती है, वे सब सजीव हैं। सर्वज्ञ भगवानने पृथिवी आदिको जीव कहा है। (६) कृमि, पिपीलिका, भ्रमर, मनुष्य आदि त्रस जीवोंमें सभी लोगोंने जीव माना है।

यथा च भगवदुपक्रमे जीवानन्त्ये न दोषस्तथा दिङ्मात्रं भाव्यते। भगवन्मते हि षण्णां जीवनिकायानामेतद् अल्पबहुत्वम्। सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः। तेभ्यः संख्यातगुणाः तेजस्कायिकाः। तेभ्यो विशेषाधिकाः पृथिवीकायिकाः। तेभ्यो विशेषाधिका अप्कायिकाः। तेभ्योऽपि विशेषाधिका वायुकायिकाः। तेभ्योऽनन्तगुणा वनस्पतिकायिकाः। ते च व्या[1]वहारिका अव्यावहारिकाश्च।

"गोला[2] य असंखिज्जा असंखणिग्गोअ गोलओ भणिओ।
इक्किक्कम्मि णिगोए अणन्तजीवा मुणेअव्वा ॥ १ ॥
सिज्झन्ति जत्तिया खलु इह संववहारजीवरासीओ।
एंति अणाइवणस्सइ रासीओ तत्तिआ तम्मि ॥ २ ॥"

इति वचनाद्। यावन्तश्च यतो मुक्तिं गच्छन्ति जीवास्तावन्तोऽनादिनिगोदवनस्पतिराशेस्तत्रागच्छन्ति। न च तावता तस्य काचित् परिहाणिर्निगोदजीवानन्त्यस्याक्षयत्वात्। निगोदस्वरूपं च समयसागराद् अवगन्तव्यम्। अनाद्यनन्तेऽपि काले ये केचिन्निर्वृताः निर्वान्ति निर्वास्यन्ति च ते निगोदानामनन्तभागे[3]ऽपि न वर्तन्ते

---

[1] द्विविधा जीवा सांव्यवहारिका असांव्यवहारिकाश्चेति। तत्र ये निगोदावस्थात उद्वृत्य पृथिवीकायिकादिभेदेषु वर्तन्ते ते लोकेषु दृष्टिपथमागताः सन्तः पृथिवीकायिकादिव्यवहारमनुपतन्तीति व्यवहारिका उच्यन्ते। ते च यद्यपि भूयोऽपि निगोदावस्थामुपयान्ति तथापि ते सांव्यवहारिका एव, संव्यवहारे पतितत्वात्। ये पुनरनादिकालादारभ्य निगोदावस्थामुपगता एवावतिष्ठन्ते ते व्यवहारपथातीतत्वादसांव्यवहारिकाः। प्रज्ञापनाटीकायां सू. २३४।

[2] छाया—गोलाश्च असंख्येयाः असंख्यनिगोदो गोलको भणितः।
एकैकस्मिन् निगोदे अनन्तजीवा ज्ञातव्याः ॥ १ ॥
सिध्यन्ति यावन्तः खलु इह संव्यवहारजीवराशितः।
आयान्ति अनादिवनस्पतिराशितस्तावन्तस्तस्मिन् ॥ २ ॥

[3] एकणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥

छाया—एकनिगोदशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतो दृष्टा।
सिद्धैरनन्तगुणाः सर्वेण व्यतीतकालेन ॥

गोम्मटसारे जीव. १९५।

नावर्तिषत न वर्त्स्यन्ति । ततश्च कथं मुक्तानां भवागमनप्रसङ्गः, कथं च संसारस्य रिक्तताप्रसक्तिरिति । अभिप्रेतं चैतद् अन्ययूथ्यानामपि । यथा चोक्तं वार्तिककारेण–

"अत एव च विद्वत्सु मुच्यमानेषु सन्ततम् ।
ब्रह्माण्डलोकजीवानामनन्तत्वाद् अशून्यता ॥ १ ॥
अत्यन्यूनातिरिक्तत्वैर्युज्यते परिमाणवत् ।
वस्तुन्यपरिमेये तु नूनं तेषामसम्भवः ॥ २ ॥"

इति काव्यार्थः ॥ २९ ॥

जिन मतमें छह निकायके जीवोंमें सबसे कम त्रस जीव हैं । त्रस जीवोंसे संख्यात गुणे अग्निकायिक, अग्निकायसे विशेष अधिक पृथिवीकायिक, पृथिवीकायसे जलकायिक जलकायसे वायुकायिक और वायुकायसे अनंतगुणे वनस्पतिकायिक जीव हैं । व्यावहारिक और अव्यावहारिकके भेदसे वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं । "गोल असंख्यात होते हैं, एक गोलमें असंख्यात निगोद रहते हैं और एक निगोदमें अनन्त जीव रहते हैं । जितने जीव व्यवहार राशिसे निकल कर मोक्ष जाते हैं, उतने ही जीव अनादि वनस्पति राशिसे निकल कर व्यवहार राशिमें आ जाते हैं ।" इस लिये जितने जीव मोक्ष जाते हैं, उतने प्राणी अनादि निगोद वनस्पति राशिमेंसे आ जाते हैं । अतएव निगोद राशिमेंसे जीवोंके निकलते रहनेके कारण संसारी जीवोंका कभी सर्वथा क्षय नहीं हो सकता । निगोदका स्वरूप 'समयसागर' से जानना चाहिये । जितने जीव अब तक मोक्ष गये हैं, और आगे जानेवाले हैं, वे निगोद जीवोंके अनन्तवें भाग भी न हैं, न हुए हैं और न होंगे । अतएव हमारे मतमें न तो मुक्त जीव संसारमें लौट कर आते हैं, और न यह संसार जीवोंसे शून्य होता है । इसको दूसरे वादियोंने भी माना है ! वार्तिककारने भी कहा है "इस ब्रह्माण्डमें अनन्त जीव हैं, इस लिये संसारसे ज्ञानी जीवोंकी मुक्ति होते हुए यह संसार जीवोंसे खाली नहीं होता । जिस वस्तुका परिमाण होता है, उसीका अंत होता है, वही घटती, और समाप्त होती है । अपरिमित वस्तुका न कभी अंत होता है, न वह घटती, और न समाप्त होती है ।" यह श्लोकका अर्थ है ।

भावार्थ—(१) यदि संसारी जीवोंको बराबर मोक्ष मिलता रहे, (जैन शास्त्रोंके अनुसार छह महीने और आठ समयमें ६०८ जीव मोक्ष जाते हैं) तो कभी यह संसार जीवोंसे खाली हो जाना चाहिये, यह प्रश्न भारतीय दर्शनकारोंके सामने बहुतसे विवादग्रस्त प्रश्नोंमेसे एक था । आजीविक मतके अनुयायी मस्करी[1] (गोशाल) आदिका मत था, कि मुक्त जीव फिरसे संसारमें जन्म लेते हैं । अश्वमित्रने भी इस प्रश्नको ले कर जैन संघमें

---

[1] कर्मांजनसंश्लेषात् संसारसमागमोऽस्तीति मस्करिदर्शनं । गोम्मटसार जीवकांड ६९ टीका । तथा, 'ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य' आदि, देखो पीछे स्याद्वादमंजरी पृ. ४ ।

वाद खड़ा किया था। स्वामी दयानन्दके अनुसार जीव महाकल्प काल पर्यंत मुक्तिके सुखको भोग कर फिरसे संसारमें उत्पन्न होते हैं। इस कथनकी पुष्टिके लिये दयानन्द स्वामीने ऋग्वेद[1] तथा मुण्डक[2] उपनिषद्के प्रमाण उद्धृत किये[3] हैं।

जैन विद्वानोंकी मान्यता है, कि जिस प्रकार बीजके जल जानेपर अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्मोंका सर्वथा क्षय होनेपर जीव फिरसे संसारमें जन्म नहीं लेते। पतंजलि, व्यास, अक्षपाद आदि ऋषियोंकी भी यही मान्यता है। जैन सिद्धांतमें द्वीप और समुद्रोंका असंख्यात परिमाण स्वीकार किया गया है। इन द्वीप-समुद्रोंमें अनन्तानन्त जीव रहते हैं। सबसे कम त्रस जीव हैं, त्रस जीवोंसे संख्यात गुणे अग्निकायिक, अग्निकायिक जीवोंसे अधिक पृथिवीकायिक, पृथ्वीसे जलकायिक, जलसे वायुकायिक और वायुकायिकसे अनन्तगुणे वनस्पतिकायिक जीव हैं। वनस्पतिकायिक जीव व्यावहारिक और अव्यावहारिकके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। जो जीव निगोदसे निकल कर पृथिवीकाय आदि अवस्थाको प्राप्त करके फिरसे निगोद अवस्थाको प्राप्त करते हैं, वे जीव व्यावहारिक कहे जाते हैं। तथा जो जीव अनादि कालसे निगोद अवस्थामें ही पड़े हुए हैं, उन्हें अव्यावहारिक कहते हैं। जैन सिद्धांतके अनुसार असंख्यात गोल होते हैं, प्रत्येक गोलमें असंख्यात निगोद रहते है, और एक निगोदमें अनन्त जीव रहते हैं। जितने जीव व्यवहार राशिसे निकल कर मोक्ष जाते हैं, उतने ही वनस्पति राशिसे व्यवहार राशिमें आ जाते हैं, अतएव यह संसार जीवोंसे कभी खाली नहीं हो सकता। मोक्ष जाते रहते हुए भी संसार खाली नहीं होगा, इसका दूसरी प्रकारसे समर्थन करते हुए जैन विद्वानोंने जीवोंको भव्य और अभव्य[4] दो विभागोंमें विभक्त किया है। जो मोक्षगामी जीव हैं, वे भव्य हैं, तथा जो अनंत काल बीतनेपर भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते, वे अभव्य[5] हैं। अतएव भव्य जीवोंके मोक्ष जाते रहते हुए भी यह संसार जीवोंसे शून्य नहीं हो सकता। सिद्धसेन दिवाकरने आगमके हेतुवाद और अहेतुवाद दो विभाग करते हुए भव्यअभव्यके विभागको अहेतुवादमें गर्भित किया[6] है।

(२) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसके भेदसे जीव छह प्रकारके होते हैं। महीदास[7] आदि वैदिक ऋषियोंने, महाभारत और मनुस्मृतिकार तथा गोशाल[8] प्रभृ-

---

[1] १-२४-१-२। [2] ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे। मुण्डक उ. ३-२-६। [3] देखो सत्यार्थप्रकाश सं. १९८३ पृ. १५५। [4] सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः। तद्विपरीतोऽभव्यः। तत्त्वार्थराजवार्तिक २-७, ७, ८; देखो भव्याभव्यविभाग-व्याख्याप्रज्ञप्ति। बौद्धोंके महायान सम्प्रदायमें भव्याभव्यका विभाग नहीं माना गया है। [5] योऽनंतेनापि कालेन न सेत्स्यति असौ अभव्यः। त. राजवार्तिक २-७-९। [6] सन्मतितर्क ३-४३। [7] देखो एतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय आरण्यक। [8] महीदास, गोशाल और महावीरकी प्राणिशास्त्र संबंधी मिलती जुलती मान्यताओंके लिये देखो प्रो. बरुआकी Pre-Buddhist Indian Philosophy' नामक पुस्तकका २१ वां अध्याय।

तिने भी पृथिवी, जल आदिमें जीव स्वीकार किया है। आधुनिक साइंसके अनुसार वनस्पतिके सचेतन होनेमें अब कोई विवाद नहीं है। अब भारतीय वैज्ञानिक सर जे. सी. बोसने टिन, [2]शीशा, प्लैटिनम आदि धातुओंमे भी प्रतिक्रिया (Response) सिद्ध की है।

अधुना परदर्शनानां परस्परविरुद्धार्थसमर्थकतया मत्सरित्वं प्रकाशयन् सर्वज्ञोपज्ञसिद्धान्तस्यान्योन्यानुगतसर्वनयमयतया मात्सर्याभावमाविर्भावयति—

परस्पर विरुद्ध अर्थको प्रतिपादन करनेवाले अन्य दर्शन एक दूसरेसे ईर्ष्या करते हैं, अतएव सम्पूर्ण नय स्वरूप होनेसे सर्वज्ञ भगवानका सिद्धांत ही ईर्ष्या रहित हो सकता है—

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ॥
नयानशेषानविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ—अन्यवादी लोग परस्पर पक्ष और प्रतिपक्ष भाव रखनेके कारण एक दूसरेसे ईर्ष्या करते हैं, परन्तु सम्पूर्ण नयोंको एक समान देखनेवाले आपके शास्त्रोंमें पक्षपात नहीं है।

प्रकर्षेण उद्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति प्रवादाः। यथा येन प्रकारेण। परे भवच्छासनाद् अन्ये। प्रवादा दर्शनानि। मत्सरिणः अतिशायने [3]मत्वर्थीयविधानात् सातिशयासहनताशालिनः क्रोधकषायकलुषितान्तःकरणाः सन्तः पक्षपातिनः, इतरपक्षतिरस्कारेण स्वकक्षीकृतपक्षव्यवस्थापनप्रवणा वर्तन्ते। कस्माद् हेतोर्मत्सरिणः इत्याह। अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावात्। पच्यते व्यक्तीक्रियते साध्यधर्मवैशिष्ट्येन हेत्वादिभिरिति पक्षः। कक्षीकृतधर्मप्रतिष्ठापनाय साधनोपन्यासः। तस्य प्रतिकूलः पक्षः प्रतिपक्षः। पक्षस्य प्रतिपक्षो विरोधी पक्षः प्रतिपक्षः। तस्य भावः पक्षप्रतिपक्षभावः। अन्योऽन्यं परस्परं यः पक्षप्रतिपक्षभावः पक्षप्रतिपक्षत्वमन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावस्तस्मात् ॥

---

१ तत्र पृथिवीकायिकजातिनामानेकविधम्। तद्यथा। शुद्धपृथिवीशर्करावालुकोपलशिलालवणायस्त्रपुताम्रसीसकरूप्यसुवर्णवज्रहरतालहिङ्गुलकमनःशिलासस्यकांचनप्रवालकाभ्रपटलाभ्रवालिकाजातिनामादि।
तत्त्वार्थाधिगम भाष्य पृ. १५८।

२ It will thus be seen that as in the case of animal tissues and of plants, so also in metals, the electrical responses are exalted by the action of stimulants, lowered by depressants, and completely abolished by certain other reagents. देखो जे. सी. बोसकी 'Response in the Living and Non-living' पृ. १४१ तथा पृ. ८०-१९१।

३ भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संबन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः।'

व्याख्यार्थ—जिसके द्वारा इष्ट अर्थको उत्तमतासे प्रतिपादन किया जाय, उसे प्रवाद कहते हैं। आपके शासनके अतिरिक्त अन्य दर्शन परस्पर पक्ष और प्रतिपक्षका दुराग्रह रखनेके कारण एक दूसरेके पक्षका तिरस्कार करके अपने सिद्धांतको स्थापित करते हैं, अतएव वे लोग अत्यन्त असहनशील होनेके कारण क्रोध कषायसे युक्त हो कर अपने दर्शनोंमें पक्षपात करते हैं। 'मत्सरी' शब्दमें मत्वर्थमें इन् प्रत्यय सातिशय अर्थको द्योतन करनेके लिये किया गया है। जो साध्यसे युक्त हो कर हेतु आदिके द्वारा व्यक्त किया जाय, उसे पक्ष कहते हैं। जो पक्षके विरुद्ध हो, उसे प्रतिपक्ष कहते हैं।

तथाहि। य एव मीमांसकानां नित्यः शब्द इति पक्षः स एव सौगतानां प्रतिपक्षः। तन्मते शब्दस्यानित्यत्वात्। य एव सौगतानामनित्यः शब्द इति पक्षः स एव मीमांसकानां प्रतिपक्षः। एवं सर्वप्रयोगेषु योज्यम्। तथा तेन प्रकारेण। ते तव। सम्यक् एति गच्छति शब्दोऽर्थमनेन इति "पुंन्नाम्नि[1] घः।" समयः संकेतः। यद्वा सम्यग् अवैपरीत्येन ईयन्ते ज्ञायन्ते जीवाजीवादयोऽर्था अनेन इति समयः सिद्धान्तः। अथवा सम्यग् अयन्ते गच्छन्ति जीवादयः पदार्थाः स्वस्मिन् स्वरूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति अस्मिन् इति समय आगमः। न पक्षपाती नैकपक्षानुरागी। पक्षपातित्वस्य हि कारणं मत्सरित्वं परप्रवादेषु उक्तम्। त्वत्समयस्य च मत्सरित्वाभावाद् न पक्षपातित्वम्। पक्षपातित्वं हि मत्सरित्वेन व्याप्तम्, व्यापकं च निवर्तमानं व्याप्यमपि निवर्तयति इति मत्सरित्वे निवर्तमाने पक्षपातित्वमपि निवर्तत इति भावः। तव समय इति वाच्यवाचकभावलक्षणे सम्बन्धे षष्ठी। सूत्रापेक्षया गणधरकर्तृकत्वेऽपि समयस्य अर्थापेक्षया भगवत्कर्तृकत्वाद् वाच्यवाचकभावो न विरुध्यते। "अत्थं[2] भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं" इति वचनात्। अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यप्रपञ्चः समयः। तेषां च भगवता साक्षान्मातृकापदरूपतयाभिधानात्। तथा चार्षम्—"उप्पन्ने वा विगमे वा धुवेति वा" इत्यदोषः॥

जैसे मीमांसकोंके मतमें 'शब्द नित्य है,' यह पक्ष बौद्धोंका प्रतिपक्ष है, क्योंकि बौद्धोंके मतमें शब्द अनित्य है। इसी तरह 'शब्द अनित्य है' यह बौद्धोंका पक्ष मीमांसकोंका प्रतिपक्ष है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। परन्तु आपके समयमें किसी एक पक्षके प्रति अनुराग नहीं देखा जाता। अन्य वादोंमें ईर्ष्या करना ही पक्षपातका कारण है। आपके समयमें ईर्ष्याका अभाव होनेसे पक्षपात नहीं है। व्यापकके न होनेपर व्याप्य भी नहीं होता, अतएव आपके समयमें ईर्ष्या न होनेसे पक्षपातका भी अभाव है। यहां समय शब्दका चार प्रकारसे अर्थ किया गया है। (१) जिससे शब्दका अर्थ ठीक ठीक

---

[1] हैमसूत्रे ५-३-१३०। [2] छाया-अर्थं भाषतेऽर्हन् सूत्रं ग्रथ्नन्ति गणधरा निपुणम्। विशेषावश्यकभाष्ये १११९।

मालूम हो—संकेत। यहां सम्-इ धातुसे "पुंनाम्नि घः" सूत्रसे समय शब्द बनता है; (२) जिससे जीव, अजीव आदि पदार्थोंका भले प्रकारसे ज्ञान हों—सिद्धांत; (३) जिसमें जीव आदि पदार्थोंका ठीक प्रकारसे वर्णन हो—आगम; (४) तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके सिद्धांतको समय कहते हैं। उत्पाद आदिको जिन भगवानने 'अष्ट प्रवचनमाता' कहा है। आर्षवाक्य भी है "उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है, और स्थिर भी रहता है।" यद्यपि आगमोंके सूत्र गणधरोंके बनाये हुए होते हैं, परन्तु "अर्हंत अर्थका व्याख्यान करते हैं, और गणधर उसे सूत्रमें उपनिबद्ध करते हैं" इस वचनसे अर्थकी अपेक्षासे भगवान ही समयके रचयिता हैं। अतएव आपके साथ आगमका वाच्य—वाचक भाव वन सकता है।

मत्सरित्वाभावमेव विशेषणद्वारेण समर्थयति। नयानशेषानविशेषमिच्छन् इति। अशेषान् समस्तान् नयान् नैगमादीन्, अविशेषं निर्विशेषं यथा भवति एवम् इच्छन् आकाङ्क्षन् सर्वनयात्मकत्वादनेकान्तवादस्य। यथा विशकलितानां मुक्तामणीनामेकसूत्रानुस्यूतानां हारव्यपदेशः एवं पृथगभिसन्धीनां नयानां स्याद्वादलक्षणैकसूत्रप्रोतानां श्रुताख्यप्रमाणव्यपदेश इति। ननु प्रत्येकं नयानां विरुद्धत्वे कथं समुदितानां निर्विरोधिता। उच्यते। यथा हि समीचीनं मध्यस्थं न्यायनिर्णेतारमासाद्य परस्परं विवदमाना अपि वादिनो विवादाद् विरमन्ति एवं नया अन्योऽन्यं वैरायमाणा अपि सर्वज्ञशासनमुपेत्य स्याच्छब्दप्रयोगोपशमितविप्रतिपत्तयः सन्तः परस्परमत्यन्तं सुहृद्भूयावतिष्ठन्ते। एवं च सर्वनयात्मकत्वे भगवत्समयस्य सर्वदर्शनमयत्वमविरुद्धमेव, नयरूपत्वाद् दर्शनानाम्॥

आपका सिद्धांत ईर्ष्यासे रहित है, क्योंकि आप नैगम आदि सम्पूर्ण नयोंको एक समान देखते हैं। जिस प्रकार विखरे हुए मोतियोंको एक सूतमें पिरो देनेसे मोतियोंका सुन्दर हार वन कर तैय्यार हो जाता है, उसी तरह भिन्न भिन्न नयोंको स्याद्वाद रूपी सूतमें पिरो देनेसे सम्पूर्ण नय 'श्रुत प्रमाण' कहे जाते हैं। **शंका**—यदि प्रत्येक नय परस्पर विरुद्ध है, तो उन नयोंके एकत्र मिलनेसे उनका विरोध किस प्रकार नष्ट होता है। **समाधान**—जैसे परस्पर विवाद करते हुए वादी लोग किसी मध्यस्थ न्यायीके द्वारा न्याय किये जानेपर विवाद करना वन्द करके आपसमें मिल जाते हैं, वैसे ही परस्पर विरुद्ध नय सर्वज्ञ भगवानके शासनकी शरण ले कर 'स्यात्' शब्दसे विरोधके शान्त हो जानेपर परस्पर मैत्री भावसे एकत्र रहने लगते हैं। अतएव भगवानके शासनके सर्व नय स्वरूप होनेसे भगवानका शासन सम्पूर्ण दर्शनोंसे अविरुद्ध है, क्योंकि प्रत्येक दर्शन नय स्वरूप है।

न च वाच्यं तर्हि भगवत्समयस्तेषु कथं नोपलभ्यते इति। समुद्रस्य सर्वसरिन्मयत्वेऽपि विभक्तासु तासु अनुपलम्भात्। तथा च वक्तृवचनयोरैक्यमध्यवस्य श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः—

"उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः"॥

अन्ये त्वेवं व्याचक्षते। तथा अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावात् परे प्रवादा मत्सरिणस्तथा तव समयः सर्वनयान् मध्यस्थतयाङ्गीकुर्वाणो न मत्सरी। यतः कथंभूतः। पक्षपाती पक्षमेकपक्षाभिनिवेशम् पातयति तिरस्करोतीति पक्षपाती। रागस्य जीवनाशं नष्टत्वात्। अत्र च व्याख्याने मत्सरीति विधेयपदम् पूर्वस्मिंश्च पक्षपातीति विशेषः। अत्र च क्लिष्टाक्लिष्टव्याख्यानविवेको विवेकिभिः स्वयं कार्यः॥ इति काव्यार्थः॥ ३०॥

शंका—यदि भगवानका शासन सर्व दर्शन स्वरूप है, तो यह शासन सब दर्शनोंमें क्यों नहीं पाया जाता! **समाधान**—जिस प्रकार समुद्रके अनेक नदी रूप होनेपर भी भिन्न भिन्न नदियोंमें समुद्र नहीं पाया जाता, उसी तरह भिन्न भिन्न दर्शनोंमें जैन दर्शन नहीं पाया जाता। वक्ता और उसके वचनोंमें अभेद मान कर सिद्धसेन दिवाकरने कहा है "हे नाथ, जिस प्रकार नदियां समुद्रमें जा कर मिलती हैं, वैसे ही सम्पूर्ण दृष्टियों (दर्शन) का आपमें समावेश होता है। जिस प्रकार भिन्न भिन्न नदियोंमें समुद्र नहीं रहता, उसी प्रकार भिन्न भिन्न दर्शनोंमें आप नहीं रहते।" कुछ लोग इस श्लोकका दूसरा अर्थ करते हैं। अन्य दर्शन परस्पर पक्ष और प्रतिपक्ष भाव रखनेके कारण ईर्ष्यालु हैं, परन्तु आप सम्पूर्ण नय रूप दर्शनोंको मध्यस्थ भावसे देखते हैं, अतएव ईर्ष्यालु नहीं है। क्योंकि आप एक पक्षका आग्रह करके दूसरे पक्षका तिरस्कार नहीं करते हैं। पहली व्याख्यामें 'पक्षपाती' विधेय पद था, और दूसरी व्याख्यामें 'मत्सरी' विधेय पद है। इन दोनों व्याख्याओंमें सरल और कठिन व्याख्याका विवेक बुद्धिमानोंको कर लेना चाहिये।

भावार्थ—जैन दर्शन सब दर्शनोंका समन्वय करनेवाला है। जितने वचनोंके प्रकार हो सकते हैं, उतने ही नयवाद होते हैं। अतएव सम्पूर्ण दर्शन नयवादमें गर्भित हो जाते हैं। जिस समय ये नयवाद एक दूसरेसे निरपेक्ष हो कर वस्तुका प्रतिपादन करते हैं, उस समय ये नयवाद परसमय अर्थात् जैनेतर दर्शन कहे जाते हैं। इस लिये अन्य धर्मोंका निषेध करनेवाले वक्तव्यको प्रतिपादन करनेवालेको अजैन दर्शन, और सम्पूर्ण दर्शनोंका समन्वय करनेवालेको जैन दर्शन कहते हैं। उदाहरणके लिये नित्यत्व वादी सांख्य और अनित्यत्व वादी बौद्ध परसमय हैं, क्योंकि ये दोनों दर्शन एक दूसरेसे निरपेक्ष हो कर वस्तु तत्वका प्रतिपादन करते हैं। जैन दर्शन इन दोनोंका समन्वय करता है, इस लिये जैन दर्शन स्वसमय है। जिस समय परस्पर निरपेक्ष वचनोंके प्रकार नयवादोंमें 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है, उस समय ये नय सम्यक्त्व रूप होते हैं। जिस प्रकार धन, धान्य आदिके कारण परस्पर

---

[१] द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकास्तोत्रे ४–१५। यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ इति मुण्डक उ. ३–८। तथा—बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः। त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥ रघुवंशे १०–२१। ४३–४४

विवाद करनेवाले लोग किसी निष्पक्ष आदमीसे समझाये जानेपर शांत हो कर परस्पर मिल जाते हैं, अथवा जिस प्रकार कोई मंत्रवादी विषके टुकड़ोंको विष रहित करके कोढ़के रोगीको अच्छा कर देता है, अथवा जिस प्रकार भिन्न भिन्न मणियोंसे एक सुन्दर रत्नोंकी माला तैय्यार हो जाती है, उसी प्रकार परस्पर निरपेक्ष परसमयोंका जैन दर्शनमें समन्वय होता है। इसीलिये जैन विद्वानोंने कहा है, कि अनेकांतवादका मुख्य ध्येय सम्पूर्ण दर्शनोंको समान भावसे देख कर माध्यस्थ भाव प्राप्त करनेका है। यही धर्मवाद है, और यही शास्त्रोंका मर्म है। अतएव जिस प्रकार पिता अपने सम्पूर्ण पुत्रोंके ऊपर समभाव रखता है, उसी तरह अनेकान्तवाद सम्पूर्ण नयोंको समान भावसे देखता है। इस लिये जिस प्रकार सम्पूर्ण नदियां एक समुद्रमें जाकर मिलती हैं, उसी तरह सम्पूर्ण दर्शनोंका अनेकांत दर्शनमें समावेश होता है। अतएव जैन दर्शन सब दर्शनोंका समन्वय करता है।

इत्थङ्कारं कतिपयपदार्थविवेचनद्वारेण स्वामिनो यथार्थवादाख्यं गुणमभिष्टुत्य समग्रवचनातिशयव्यावर्णने स्वस्यासामर्थ्यं दृष्टान्तपूर्वकमुपदर्शयन् औद्धत्यपरिहाराय भङ्ग्यन्तरतिरोहितं स्वाभिधानं च प्रकाशयन् निगमनमाह—

इस प्रकार कुछ पदार्थोंके विवेचनसे भगवानके यथार्थवाद गुणकी स्तुति करनेके पश्चात् भगवानके सम्पूर्ण वचनातिशयोंका वर्णन करनेमें अपनी असमर्थता बतला कर प्रकारान्तरसे अपने औद्धत्यके दूर करनेके लिये अपने वक्तव्यका उपसंहार करते हैं—

वाग्वैभवं ते निखिलं विवेक्तुमाशास्महे चेद् महनीयमुख्य।
लङ्घेम जङ्घालतया समुद्रं वहेम चन्द्रद्युतिपानतृष्णाम् ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ—हे पूज्य शिरोमणि, आपके सम्पूर्ण गुणोंकी विवेचना करना वेगसे समुद्रको लांघने, अथवा चन्द्रमाकी चांदनीका पान करनेकी तृष्णाके समान है।

---

१ परस्परविरुद्धा अपि सर्वे नयाः समुदिताः सम्यक्त्वं भजन्ति। एकस्य जिनसाधोर्वशवर्तित्वात् यथा नानाभिप्रायभृत्यवर्गवत्। यथा धनधान्यभूम्याद्यर्थं परस्परं विवदमाना बहवोऽपि सम्यग्न्यायवता केनाप्युदासीनेन युक्तिभिर्विवादकारणान्यपनीय मील्यन्ते। तथेह परस्परविरोधिनोऽपि नयान् जैनसाधुर्विरोधं भंक्त्वा एकत्र मील्यति। तथा प्रचुरविषलवा अपि प्रौढमंत्रवादिना निर्विषीकृत्य कुष्ठादिरोगिणे दत्ता अमृतरूपत्वं प्रतिपद्यन्त एव। यशोविजय कृत नयप्रदीप। तथा विशेषावश्यक भाष्य २२६५–७२।

२ यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकांतवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी॥
तेन स्याद्वादमालंब्य सर्वदर्शनतुल्यतां।
मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति सः शास्त्रवित्॥

यशोविजय—अध्यात्मोपनिषद् ६१, ७०।

विभव एव वैभवं । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् । विभोर्भावः कर्म चेति वा वैभवम् । वाचां वैभवं वाग्वैभवं वचनसंपत्प्रकर्षम् । विभोर्भाव इति पक्षे तु सर्वनयव्यापकत्वम् । विभुशब्दस्य व्यापकपर्यायतया रूढत्वात् । ते तव संबन्धिनं निखिलं कृत्स्नं विवेक्तुं विचारयितुं चेद् यदि वयमाशास्महे इच्छामः । हे महनीयमुख्य महनीयाः पूज्याः पञ्च परमेष्ठिनस्तेषु मुख्यः प्रधानभूतः, आद्यत्वात् तस्य संबोधनम् ॥

व्याख्यार्थ—प्रज्ञा आदिसे स्वार्थमें अण् प्रत्यय हो कर विभवसे वैभव शब्द बनता है । अथवा विभुके भाव और कर्मको वैभव कहते हैं । वचनके वैभवको 'वाग्वैभव' अर्थात् वचनोंकी उत्कृष्टता कहते हैं । विभु शब्दका व्यापक अर्थ करनेपर 'वाग्वैभव' शब्दका 'सम्पूर्ण नयोंमें व्यापक' अर्थ करना चाहिये । पांचों परमेष्ठियोंमें अर्हंत भगवान मुख्य हैं, अतएव भगवानको पूज्य शिरोमणि कह कर संबोधन किया है ।

ननु सिद्धेभ्यो हीनगुणत्वाद् अर्हतां कथं वागतिशयशालिनामपि तेषां मुख्यत्वम् । न च हीनगुणत्वमसिद्धम् । प्रव्रज्यावसरे सिद्धेभ्यस्तेषां नमस्कारकरणश्रवणात् । "काऊण नमुक्कारं सिद्धाणमभिग्गहं तु सो गिण्हे" इति श्रुतकेवलिवचनात् । मैवम् । अर्हदुपदेशेनैव सिद्धानामपि परिज्ञानात् । तथा चार्षम्—"अरहंतुवएसेणं सिद्धा णज्झंति तेण अरहाई" इति । ततः सिद्धं भगवत एव मुख्यत्वम् । यदि तव वाग्वैभवं निखिलं विवेक्तुमाशास्महे ततः किमित्याह लङ्घेम इत्यादि । तदा इत्यध्याहार्यम् । तदा जङ्घालतया जाङ्घिकतया वेगवत्तया समुद्रं लङ्घेम किल समुद्रमिव अतिक्रमामः । तथा वहेम धारयेम । चन्द्रद्युतीनां चन्द्रमरीचीनां पानं चन्द्रद्युतिपानम् । तत्र तृष्णा तर्षोऽभिलाष इति यावत् चन्द्रद्युतिपानतृष्णा ताम् । उभयत्रापि सम्भावने सप्तमी । यथा कश्चिच्चरणचङ्क्रमणवेगवत्तया यानपात्रादि अन्तरेणापि समुद्रं लङ्घितुमीहते यथा च कश्चिच्चन्द्रमरीचीरमृतमयीः श्रुत्वा चुलुकादिना पातुमिच्छति, न चैतद् द्वयमपि शक्यसाधनम् । तथा न्यक्षेण भवदीयवाग्वैभववर्णनाकाङ्क्षापि अशक्यारम्भप्रवृत्तितुल्या । आस्तां तावत् तावकीनवचनविभवानां सामस्त्येन विवेचनविधानम्, तद्विषयाकाङ्क्षापि महत् साहसमिति भावार्थः ॥

शंका—अर्हंत भगवानमें सिद्धोंकी अपेक्षा कम गुण हैं, अर्हंत दीक्षाके समय सिद्धोंको नमस्कार करते हैं । श्रुतकेवलियोंने कहा भी है "अर्हंत सिद्धोंको नमस्कार करके दीक्षा ग्रहण करते हैं ।" अतएव अर्हंतोंको मुख्य नहीं कहना चाहिये । **समाधान**—अर्हंत भगवानके उपदेशसे ही सिद्धोंकी पहचान होती है, अतएव अर्हंत ही मुख्य हैं । आगममें कहा

---

१ छाया—कृत्वा नमस्कारं सिद्धेभ्योऽभिग्रहं तु सोऽग्रहीत् ।

२ छाया—अर्हदुपदेशेन सिद्धा ज्ञायन्ते तेनार्हदादिः । विशेषावश्यकभाष्ये ३२१३ ।

भी है “ अर्हंतके उपदेशसे सिद्धोंकी पहचान होती है, अतएव अर्हंत मुख्य हैं । ” जिस प्रकार जहाजके विना ही पैदल चल कर समुद्रको लांघना असंभव है, अथवा जिस प्रकार चन्द्रमाकी अमृत मय किरणोंको केवल चुल्लूसे पान करना असंभव है, उसी तरह आपके वचनोंके वैभवके वर्णनकी इच्छा करना भी असंभव है । अतएव आपके समस्त वचन-वैभवका वर्णन तो दूर रहा, उस वर्णन करनेकी इच्छा करना भी महान साहस है । श्लोकमें ‘ तदा ’ शब्दका अध्याहार करना चाहिये ।

अथवा ‘ लघुं शोषणे ’ इति धातोर्लङ्घेम शोषयेम समुद्रं जङ्घालतया अतिरंहसा । अतिक्रमणार्थलङ्घेस्तु प्रयोगे दुर्लभं परस्मैपदमनित्यं वा आत्मनेपदमिति । अत्र च औद्धत्यपरिहारेऽधिकृतेऽपि यद् आशास्महे इत्यात्मनि बहुवचनमाचार्यः प्रयुक्तवांस्तदिति सूचयति यद् विद्यन्ते जगति मादृशा मन्दमेधसो भूयांसः स्तोतारः, इति बहुवचनमात्रेण न खलु अहङ्कारः स्तोतरि प्रभौ शङ्कनीयः । प्रत्युत निरभिमानताप्रासादोपरि पताकारोप एवावधारणीयः ॥ इति काव्यार्थः ॥ ३१ ॥ एषु एकत्रिंशति वृत्तेषु उपजातिच्छन्दः ॥

अथवा ‘ लघु ’ धातुका अर्थ शोषण करके ‘ समुद्रं जंघालतया लंघेम ’ का अर्थ करना चाहिये, कि जो शीघ्रतासे समुद्रका शोषण करना चाहते हैं । अतिक्रमण अर्थमें ‘ लङ्घि ’ धातु परस्मैपदी नहीं होती, अतएव यहां शोषण अर्थमें ‘ लघु ’ धातुसे परस्मैपदमें लंघेम रूप बनाना चाहिये । अथवा यदि आत्मनेपदको अनित्य माना जाय, तो अतिक्रमण अर्थमें प्रयुक्त लंघि धातुसे भी यह रूप बन सकता है । श्लोकमें ‘ आशास्महे ’ बहुवचनके प्रयोगसे स्तुतिकारका अहंकार प्रगट नहीं होता । इस प्रयोगसे स्तुतिकारका यही अभिप्राय है, कि संसारमें मेरे समान और भी मन्द बुद्धिवाले स्तुति करनेवाले हैं । अतएव इससे आचार्यका निरभिमान ही सिद्ध होता है । यह श्लोकका अर्थ है । इन इकतीस श्लोकोंमें उपजाति छन्दका प्रयोग किया गया है ।

भावार्थ—हेमचन्द्र आचार्य अपनी लघुता बताते हुए कहते हैं, कि जिस प्रकार पैदल चल कर समुद्रको लांघना अथवा चुल्लूसे चन्द्रमाकी चांदनीका पान करना असंभव है, उसी तरह आपके समस्त गुणोंका वर्णन करना असंभव है ।

एवं विप्रतारकैः परतीर्थिकैर्व्यामोहमये तमसि निमज्जितस्य जगतोऽभ्युद्धरणेऽव्यभिचारिवचनतासाध्येनान्ययोगव्यवच्छेदेन भगवत एव सामर्थ्यं दर्शयन् तदुपास्तिविन्यस्तमानसानां पुरुषाणामौचितीचतुरतां प्रतिपादयति—

---

१ हैमधातुपारायणे भ्वादिगणे धा. ९८ ।

वंचक अन्य तैर्थिक लोगोंके उपदेशसे व्यामोह रूप अंधकारमें डूबे हुए जगतका उद्धार करनेके लिये दूसरे मतोंका व्यवच्छेद करनेवाले निर्दोष वचनोंकी आपमें ही सामर्थ्य है, अतएव आपकी उपासनामें लगे हुए मनुष्य ही चतुर हैं—

इदं तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतसे
जगन्मायाकारैरिव हतपरैर्हा विनिहितम्।
तदुद्धर्तुं शक्तो नियतमविसंवादिवचन-
स्त्वमेवातस्त्रातस्त्वयि कृतसपर्याः कृतधियः ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ—इन्द्रजालियोंकी तरह अधम अन्य दर्शनवालोंने इस जगतको तत्व और अतत्वके अज्ञानसे भयानक गाढ़ अंधकारमें डाल रक्खा है। अतएव आप ही इस जगतका उद्धार कर सकते हैं, क्योंकि आपके वचन विसंवादसे रहित हैं। अतएव हे जगतके रक्षक, बुद्धिमान लोग आपकी सेवा करते हैं।

इदं प्रत्यक्षोपलभ्यमानं जगद् विश्वम् उपचाराद् जगद्वर्ती जनः। हतपरैः हता अधमा ये परे तीर्थान्तरीया हतपरे तैः। मायाकारैरिव ऐन्द्रजालिकैरिव शाम्बरीय[1]प्रयोगनिपुणैरिव इति यावत्। अन्धतमसे निबिडान्धकारे। हा इति खेदे। विनिहितं विशेषेण निहितं स्थापितं पातितमित्यर्थः। अन्धं करोतीत्यन्धयति, अन्धयतीत्यन्धं तच्च तत्तमश्चेत्यन्धतमसम्। "समवान्धात् तमसः[2]" इत्यत्प्रत्ययः, तस्मिन् अन्धतमसे। कथंभूतेऽन्धतमसे इति द्रव्यान्धकारव्यवच्छेदार्थमाह तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकराले। तत्त्वं चातत्त्वं च तत्त्वातत्त्वे तयोर्व्यतिकरो व्यतिकीर्णता व्यामिश्रता स्वभावविनिमयस्तत्त्वातत्त्वव्यतिकरस्तेन कराले भयङ्करे। यत्रान्धतमसे तत्त्वेऽतत्त्वाभिनिवेशः अतत्त्वे च तत्त्वाभिनिवेश इत्येवंरूपो व्यतिकरः संजायत इत्यर्थः। अनेन च विशेषणेन परमार्थतो मिथ्यात्वमोहनीयमेव अन्धतमसम्, तस्यैव ईदृक्षलक्षणत्वात्। तथा च ग्रन्थान्तरे प्रस्तुतस्तुतिकारपादाः[3]—

"अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात्" ॥

व्याख्यार्थ—खेद है, कि इन्द्रजालियोंके समान अधम अन्य तीर्थिकोंने प्रत्यक्षसे दृष्टिगोचर होनेवाले इस जगतको तत्व और अतत्वके अभेदसे भयानक गाढ़ अंधकारमें डाल रक्खा है। 'अन्धतमसे' में "समवान्धात् तमसः" सूत्रसे अत् प्रत्यय होता है। यहां मिथ्यात्व मोहनीयको अन्धतमस कहा गया है। हेमचन्द्र आचार्यने योगशास्त्रमें कहा है "अदेवको देव, अगुरुको गुरु, और अधर्मको धर्म मानना मिथ्यात्व है।"

---

[1] माया तु शाम्बरी। शम्बराख्यस्यासुरस्य इयं शाम्बरी। अभिधानचिन्तामणौ। [2] हैमसूत्रे ७-३-८०। [3] हेमचन्द्रकृतयोगशास्त्रे २-३।

ततोऽयमर्थः । यथा किल ऐन्द्रजालिकास्तथाविधसुशिक्षितपरव्यामोहनकलाप्रपञ्चाः तथाविधमौषधीमन्त्रहस्तलाघवादिप्रायं किञ्चित्प्रयुज्य परिषज्जनं मायामये तमसि मज्जयन्ति तथा परतीर्थिकैरपि तादृक्प्रकारदुरधीतकुतर्कयुक्तीरुपदर्श्य जगदिदं व्यामोहमहान्धकारे निक्षिप्तमिति । तज्जगदुद्धर्तुं मोहमहान्धकारोपप्लवात् ऋष्टुम् नियतं निश्चितम् त्वमेव नान्यः शक्तः समर्थः । किमर्थमित्थमेकस्यैव भगवतः सामर्थ्यमुपवर्ण्यते इति विशेषणद्वारेण कारणमाह । अविसंवादिवचनः । कषच्छेदतापलक्षणपरीक्षात्रयविशुद्धत्वेन फलप्राप्तौ न विसंवदतीत्येवंशीलमविसंवादि । तथाभूतं वचनमुपदेशो यस्यासावविसंवादिवचनः । अव्यभिचारिवागित्यर्थः । यथा च पारमेश्वरी वाग् न विसंवादमासादयति तथा तत्र तत्र स्याद्वादसाधने दर्शितम् ॥

अतएव जिस प्रकार दूसरोंको व्यामोहित करनेकी कलामें निपुण इन्द्रजाली लोग औषधि, मंत्र, हाथकी सफाई आदिसे दर्शक लोगोंको माया मय अंधकारमें डाल देते हैं, वैसे ही अन्य वादी लोग अपनी कुतर्क पूर्ण युक्तियोंसे इस संसारको भ्रममें डाल देते हैं। इस लिये मोह महा अन्धकारसे जगतको बचानेके लिये आप ही समर्थ हैं, दूसरा कोई नहीं । क्योंकि आपके वचनोंमें कोई विसंवाद नहीं है । कारण कि आपके वचन कष, छेद और ताप रूप परीक्षाओंसे विशुद्ध हैं, अतएव फलकी प्राप्तिमें आपके वचनोंमें कोई विरोध न होनेसे आपके वचन निर्दोष हैं। आपके वचनोंमें विरोधका अभाव स्याद्वादकी सिद्धि करते समय प्रदर्शित किया जा चुका है ।

कषादिस्वरूपं चेत्थमाचक्षते प्रावचनिकाः—

“[1] पाणवहाईआणं पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो ।
झाणज्झयणाईणं जो य विही एस धम्मकसो ॥ १ ॥
वज्झाणुट्ठाणेणं जेण ण बाहिज्जए तयं णियमा ।
संभवइ य परिसुद्धं सो पुण धम्मम्मि छेउत्ति ॥ २ ॥
जीवाइभाववाओ बंधाइपसाहगो इहं तावो ।
एएहिं परिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुवेइ ॥ ३ ॥”

---

[1] छाया–प्राणवधादीनां पापस्थानानां यस्तु प्रतिषेधः ।
ध्यानाध्ययनादीनां यश्च विधिरेष धर्मकषः ॥ १ ॥
बाह्यानुष्ठानेन येन न बाध्यते तन्नियमात् ।
संभवति च परिशुद्धं स पुनर्धर्मे छेद इति ॥ २ ॥
जीवादिभाववादो बन्धादिप्रसाधक इह तापः ।
एभिः परिशुद्धो धर्मो धर्मत्वमुपैति ॥ ३ ॥

हरिभद्रसूरिकृतपञ्चवस्तुकचतुर्थद्वारे ।

तीर्थान्तरीयास्ता हि न प्रकृतपरीक्षात्रयविशुद्धवादिन इति ते महामोहान्धतमस एव जगत् पातयितुं समर्थाः, न पुनस्तदुद्धर्तुम्। अतः कारणात्। कुतः कारणात्। कुमतध्वान्तार्णवान्तःपतितभुवनाभ्युद्धारणासाधारणसामर्थ्यलक्षणात्। हे त्रातस्त्रिभुवनपरित्राणप्रवीण। त्वयि काक्वावधारणस्य गम्यमानत्वात् त्वय्येव विषये न देवान्तरे। कृतधियः। करोतिरत्र परिकर्मणि वर्तते यथा हस्तौ कुरु पादौ कुरु इति। कृता परिकर्मिता तत्त्वोपदेशपेशलतत्तच्छास्त्राभ्यासप्रकर्षेण संस्कृता धीर्बुद्धिर्येषां। ते कृतधियश्चिद्रूपाः पुरुषाः। कृतसपर्याः। प्रादिकं विनाप्यादिकर्मणो गम्यमानत्वात्। कृता कर्तुमारब्धा सपर्या सेवाविधिर्यैस्ते कृतसपर्याः। आराध्यान्तरपरित्यागेन त्वय्येव सेवाहेवाकितां परिशीलयन्ति ॥ इति शिखरिणीच्छन्दोऽलंकृतकाव्यार्थः ॥ ३२ ॥

॥ समाप्ता चेयमन्ययोगव्यच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवनटीका ॥

धर्मशास्त्रके पंडितोंने कष आदिका स्वरूप निम्न प्रकारसे कहा है—"प्राण वध आदि पापस्थानोंके त्याग, और ध्यान, अध्ययन आदि करनेको कष कहते हैं। जिन बाह्य क्रियाओंसे धर्ममें बाधा न आती हो, और जिससे निर्मलताकी वृद्धि हो, उसे छेद कहते हैं। जीवसे संबद्ध दुःख और बंधको सहन करना ताप है। कष आदिसे शुद्ध धर्म धर्म कहा जाता है। अन्य तैर्थिक लोग कष, छेद और ताप रूप परीक्षाओंसे शुद्ध वचनोंको नहीं बोलते, अतएव वे लोग संसारको महा मोहांधकारमें गिरानेवाले होंते हैं, इस लिये दूसरे वादियोंसे संसारका उद्धार नहीं हो सकता। अतएव हे भगवन्, आपमें कुमत रूप समुद्रमें पडे हुए लोगोंका उद्धार करनेकी असाधारण सामर्थ्य है, इस लिये आप तीनों लोकोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। अतएव तत्वोपदेश और शास्त्राभ्याससे प्रकृष्ट बुद्धिवाले विद्वान लोग आपकी ही सेवा करते हैं, अन्य देवोंकी नहीं। जैसे हाथोंको कर (हस्तौ कुरु), पैरोंको कर (पादौ कुरु) यहां कृ धातु परिकर्म अर्थमें प्रयुक्त हुई है, वैसे ही 'कृतधियः' पदमें 'कृ' धातुका परिकर्म अर्थ है। 'प्र' आदि उपसर्गके विना भी 'कृ' धातुका अर्थ प्रारंभ करना होता है, इस लिये 'कृतसपर्याः' में कृतका प्रारंभ करना अर्थ है। यह शिखरिणी छंद श्लोकका अर्थ है।

भावार्थ—वस्तुका सर्वथा एकान्त रूपसे प्रतिपादन करनेवाले एकान्त वादियोंने इस जगतको अज्ञान-अंधकारमें डाल रक्खा है। अतएव सम्पूर्ण एकान्तवादोंका समन्वय करनेवाले अनेकांतवादसे ही इस जगतका उद्धार हो सकता है। इस लिये अनेकांतवादका प्रतिपादन करनेवाले जिन भगवानमें ही जगत्के उद्धार करनेकी असाधारण सामर्थ्य है।

इति अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका टीका

टीकाकारस्य प्रशस्तिः ।

येषामुज्ज्वलहेतुहेतिरुचिरः प्रामाणिकाध्वस्पृशां
हेमाचार्यसमुद्भवस्तवनभूरर्थः समर्थः सखा ।
तेषां दुर्नयदस्युसम्भवभयास्पृष्टात्मनां सम्भव-
त्यायासेन विना जिनागमपुरप्राप्तिः शिवश्रीप्रदा ॥ १ ॥
चातुर्विद्यमहोदधेर्भगवतः श्रीहेमसूरेर्गिरां
गम्भीरार्थविलोकने यदभवद् दृष्टिः प्रकृष्टा मम ।
द्राघीयः समयादराग्रहपराभूतप्रभूतावमं
तन्नूनं गुरुपादरेणुकणिकासिद्धाञ्जनस्योर्जितम् ॥ २ ॥
अन्यान्यशास्त्रतरुसंगतचित्तहारिपुष्पोपमेयकतिचिन्निचितप्रमेयैः ।
दृब्धां मयान्तिमजिनस्तुतिवृत्तिमेनां मालामिवामलहृदो हृदये वहन्तु ॥ ३ ॥
प्रमाणसिद्धान्तविरुद्धमत्र यत्किंचिदुक्तं मतिमान्द्यदोषात् ।
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः प्रसादमाधाय विशोधयन्तु ॥ ४ ॥
उर्व्यामेष सुधाभुजां गुरुरिति त्रैलोक्यविस्तारिणो
यत्रेयं प्रतिभाभरादनुमितिर्निर्दम्भमुज्जृम्भते ।
किं चामी विबुधाः सुधेति वचनोद्गारं यदीयं मुदा
शंसन्तः प्रथयन्ति तामतितमां संवादमेदस्विनीम् ॥ ५ ॥
नागेन्द्रगच्छगोविन्दवक्षोऽलंकारकौस्तुभाः ।
ते विश्ववन्द्या नन्द्यासुरुदयप्रभसूरयः ॥ ६ ॥ युग्मम् ॥
श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगगनदिनमणिभिः ।
वृत्तिरियं मनुरविमितशाकाब्दे[1] दीपमहसि[2] शनौ ॥ ७ ॥
श्रीजिनप्रभसूरीणां साहाय्योद्भिन्नसौरभा ।
श्रुतावुत्तंसतु सतां वृत्तिः स्याद्वादमञ्जरी ॥ ८ ॥
बिभ्राणे कलिनिर्जयाज्जिनतुलां श्रीहेमचन्द्रप्रभौ
तद्दृब्धस्तुतिवृत्तिनिर्मितिमिषाद् भक्तिर्मया विस्तृता ।
निर्णेतुं गुणदूषणे निजगिरां तन्नार्थये सज्जनान्
तस्यास्तत्त्वमकृत्रिमं बहुमतिः सास्त्यत्र सम्यग् यतः ॥ ९ ॥

इति टीकाकारस्य प्रशस्तिः समाप्ता ॥

समाप्तम्

---

[1] अङ्कानां वामतो गतिः १२१४ मिते शाके । चतुर्दश मनवः द्वादश आदित्याः ।

[2] दीपावल्याम् ।

टीकाकारकी प्रशस्ति

प्रामाणिक मार्गको अनुकरण करनेवाले जिन लोगोंके उज्वल हेतु रूपी शस्त्रोंसे सुन्दर हेमचन्द्राचार्यकी स्तुतिसे उत्पन्न होनेवाले अर्थ रूपी समर्थ मित्र विद्यमान है, वे लोग दुर्नय रूपी लुटेरोंसे नहीं डरते, और वे लोग विना प्रयत्नके ही मोक्ष सुखके देनेवाले जिनागम रूपी नगरको प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥ चारों विद्याओंके समुद्र भगवान श्री हेमचन्द्राचार्यकी वाणीके गंभीर अर्थको अवलोकन करनेमें जो मेरी प्रकृष्ट बुद्धि हुई है, और सतत बहुत समयके आदरसे जो विघ्नोंका नाश हुआ है, वह सब गुरु महाराजके चरणोंकी धूलि रूप सिद्धांजनका फल है ॥२॥ बहुतसे शास्त्र रूपी वृक्षोंके मनोहर पुष्पोंके समान कुछ प्रमेयोंको ले कर मैंने मालाकी तरह यह अन्तिम भगवानकी स्तुतिकी टीकाको बनाया है । निर्मल हृदयवाले पुरुष इसे अपने मनमें धारण करें ॥ ३ ॥ यहां यदि मैंने बुद्धिके प्रमादसे कुछ सिद्धांतके विरुद्ध कहा हो, तो सज्जन लोग वैर भावको छोड़ कर प्रसन्नता पूर्वक संशोधन कर लें ॥ ४ ॥ तीनों लोकोंमें व्याप्त होनेवाली जिसकी प्रतिभाको देख कर लोगोंका अनुमान है, कि यह पृथ्वीपर देवताओंका गुरु जन्मा है, जिसके वचनोंको अमृत समझ कर प्रशंसा करते हुए पंडित लोग जिसकी अविरुद्ध वाणीका विस्तार करते हैं, तथा विष्णुके वक्षस्थलमें कौस्तुभ मणिके समान नागेन्द्र गच्छको शोभित करनेवाले, ऐसे विश्वमें वन्दनीय उदयप्रभ सूरि महाराज समृद्धिको प्राप्त हों ॥ ५–६ ॥ उदयप्रभ सूरिके पद रूपी आकाशमें सूर्यके समान श्री मल्लिषेण सूरिने दीपमालिकाके दिन शनिवारको १२१४ शक संवत्में यह टीका समाप्त की ॥ ७ ॥ श्री जिनप्रभ सूरिकी सहायतासे सुगंधित यह स्याद्वादमंजरी सज्जन पुरुषोंके कानोंके आभूषण रूप हो ॥ ८ ॥ कलिकालके ऊपर विजय प्राप्त करनेसे जिन भगवानके समान श्री हेमचन्द्र प्रभुकी बनायी हुई स्तुतिकी टीका बनानेके बहाने मैंने हेमचन्द्र आचार्यके प्रति अपनी भक्ति प्रकट की है । अतएव अपनी वाणीके गुण और दोषोंका निर्णय करनेके लिये मैं सज्जनोंसे प्रार्थना नहीं करता, क्योंकि इस वाणीमें बहुतसे अकृत्रिम स्वतः विचार उत्पन्न विद्यमान हैं ॥ ९ ॥

॥ टीकाकारकी प्रशस्ति समाप्त ॥

। समाप्त ।

हेमचन्द्राचार्यविरचिता

अयोगव्यवच्छेदिका

महावीर भगवानकी स्तुति—

[1]अगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं वर्चस्विनामक्षवतां परोक्षम् ।
श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपमहं स्तुतेर्गोचरमानयामि ॥ १ ॥

अर्थ—मैं हेमचन्द्र अध्यात्मवेत्ताओंके अगम्य, पंडितोंके अनिर्वचनीय, इन्द्रिय-ज्ञान-वालोंके परोक्ष, और परमात्म स्वरूप श्रीवर्धमान भगवानको अपनी स्तुतिका विषय बनाता हूं।

भगवानके गुणोंके स्तवन करनेकी असमर्थता—

[2]स्तुतावशक्तिस्तव योगिनां न किं गुणानुरागस्तु ममापि निश्चलः ।
इदं विनिश्चित्य तव स्तवं वदन्न बालिशोऽप्येष जनोऽपराध्यति ॥२॥

अर्थ—हे भगवन्, आपकी स्तुति करनेमें योगी लोग भी समर्थ नहीं हैं। परन्तु असमर्थ होते हुए भी योगी लोगोंने आपके गुणोंमें अनुराग होनेके कारण आपकी स्तुति की है। इसी प्रकार मेरे मनमें भी आपके गुणोंमें दृढ़ अनुराग है, इसीलिये मेरे जैसा मूर्ख मनुष्य आपकी स्तुति करता हुआ अपराधका भागी नहीं कहा जा सकता।

स्तुतिकार अपनी लघुता बताते हैं—

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा ।
तथापि यूथाधिपतेः पथस्थः स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः ॥३॥

अर्थ—कहां गंभीर अर्थवाली सिद्धसेन दिवाकरकी स्तुतियां, और कहां अशिक्षित संभाषणकी मेरी यह कला। फिर भी जिस प्रकार बड़े बड़े हाथियोंके मार्गपरसे जानेवाला

---

[1] कीर्त्या महत्या भुवि वर्धमानं त्वां वर्धमानं स्तुतिगोचरत्वं ।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं विशीर्णदोषाशयपाशबन्धम् ॥ युक्त्यनुशासन १।
तथा सिद्धसेन—द्वा. द्वात्रिंशिका १–१, २, ३।

[2] गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्रं नाखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः ।
प्रागेव मादृक्किमुतातिभक्तिर्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥ स्वयंभूस्तोत्र ३०; १५।
तथा भक्तामर ३–६; कल्याणमन्दिर ३–६; द्वा. द्वात्रिंशिका ५–३१।

हाथीका बच्चा मार्गभ्रष्ट होनेके कारण शोचनीय नहीं होता, उसी प्रकार यदि मैं भी सिद्धसेन जैसे महान आचार्योंका अनुकरण करते हुए कहीं स्खलित हो जाऊं, तो शोचनीय नहीं हूं।

आपने जिन दोषोंको नाश कर दिया है, उन्हीं दोषोंको परवादियोंके देवोंने आश्रय दिया है—

जिनेन्द्र यानेव विबाधसे स्म दुरंतदोषान् विविधैरुपायैः ।
त एव चित्रं त्वदसूययेव कृताः कृतार्थाः परतीर्थनाथैः ॥ ४ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र, जिन कठिन दोषोंको आपने नाना उपायोंके द्वारा नाश कर दिया है, आश्चर्य है, कि उन्हीं दोषोंको दूसरे मतावलम्बियोंके गुरुओंने आपकी ईर्ष्यासे ही अच्छे जान कर स्वीकार कर लिये हैं।

भगवानकी यथार्थवादिता—

यथास्थितं वस्तु दिशन्नधीश न तादृशं कौशलमाश्रितोऽसि ।
तुरंगशृंगाण्युपपादयद्भ्यो नमः परेभ्यो नवपण्डितेभ्यः ॥ ५ ॥

अर्थ—हे स्वामिन्, आपने पदार्थोंका जैसेका तैसा वर्णन किया है, इस लिये आपने पर वादियोंके समान कोई कौशल नहीं दिखाया। अतएव घोड़ेके सींगके समान असंभव पदार्थोंको जन्म देनेवाले पर वादियोंके नवीन पंडितोंको हम नमस्कार करते हैं।

भगवानमें व्यर्थकी दयालुताका अभाव—

[2]जगत्यनुध्यानबलेन शश्वत् कृतार्थयत्सु प्रसभं भवत्सु ।
किमाश्रितोऽन्यैः शरणं त्वदन्यः स्वमांसदानेन वृथा कृपालुः ॥६॥

अर्थ—हे पुरुषोत्तम, अपने उपकारके द्वारा जगतको सदा कृतार्थ करनेवाले ऐसे आपको छोड़ कर अन्य वादियोंने अपने मांसका दान करके व्यर्थ ही कृपालु कहे जानेवालेकी क्यों शरण ली है, यह समझमें नहीं आता। यह कटाक्ष बुद्धके ऊपर किया गया है[3]।

---

[1] को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश ।
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः स्वप्नांतरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥ भक्तामर २७ ।

[2] कृपां वहन्तः कृपणेषु जन्तुषु स्वमांसदानेष्वपि मुक्तचेतसः ।
त्वदीयमप्राप्य कृतार्थकौशलं स्वतः कृपां संजनयन्त्यमेधसः ॥ द्वा. द्वात्रिंशिका १–७ ।

[3] देखो—निपत्य ददतो व्याघ्रयाः स्वकायं कृमिसंकुलम् ।
देयादेयविमूढस्य दया बुद्धस्य कीदृशी ॥ हेमचन्द्र–योगशास्त्र २–१ वृत्ति ।

असत्वादियोंका लक्षण—

स्वयं कुमार्गं लपतां नु नाम प्रलम्भमन्यानपि लम्भयन्ति ।
सुमार्गगं तद्विदमादिशन्तमसूययान्धा अवमन्वते च ॥ ७ ॥

अर्थ—ईर्ष्यासे अन्धे पुरुष स्वयं कुमार्गका उपदेश करते हुए दूसरोंको कुमार्गमें ले जाते हैं, तथा सुमार्गमें लगे हुओंका, सुमार्गके जानकारोंका और सुमार्गके उपदेष्टाओंका अपमान करते हैं, यह महान खेद है ।

भगवानके शासनका अजेयपन:—

प्रादेशिकेभ्यः[1] परशासनेभ्यः पराजयो यत्तव शासनस्य ।
खद्योतपोतद्युतिडम्बरेभ्यो विडम्बनेयं हरिमण्डलस्य ॥ ८ ॥

अर्थ—हे प्रभु, वस्तुके अंशमात्रको ग्रहण करनेवाले अन्य दर्शनोंके द्वारा आपके मतकी पराजय करना एक छोटेसे जुगुनूके प्रकाशसे सूर्यमण्डलका पराभव करनेके समान है ।

भगवानके पवित्र शासनमें सन्देह अथवा विवाद करना योग्य नहीं—

शरण्य पुण्ये तव शासनेऽपि संदेग्धि यो विप्रतिपद्यते वा ।
स्वादौ स तथ्ये स्वहिते च पथ्ये संदेग्धि वा विप्रतिपद्यते वा ॥ ९ ॥

अर्थ—हे शरणागतको आश्रय देनेवाले, जो लोग आपके पवित्र शासनमें संदेह अथवा विवाद करते हैं, वे लोग, स्वादु, अनुकूल और पथ्य भोजनमें संदेह और विवाद करते हैं ।

अन्य आगमोंकी अप्रामाणिकता—

हिंसाद्यसत्कर्मपथोपदेशादसर्वविन्मूलतया प्रवृत्तेः ।
नृशंसदुर्बुद्धिपरिग्रहाच्च ब्रूमस्त्वदन्यागममप्रमाणम् ॥ १० ॥

अर्थ—हे भगवन्, आपके आगमके अतिरिक्त अन्य आगमोंमें हिंसा आदि असत् कर्मोंका उपदेश किया गया है, वे आगम असर्वज्ञके कहे हुए हैं, तथा निर्दय और दुर्बुद्धि लोगोंके द्वारा धारण किये जाते हैं, इस लिये हम उन आगमोंको प्रमाण नहीं मानते ।

भगवानके आगमकी प्रमाणिकता—

हितोपदेशात्[2]सकलज्ञक्लृप्तेर्मुमुक्षुसत्साधुपरिग्रहाच्च ।
पूर्वापरार्थेष्वविरोधसिद्धेस्त्वदागमा एव सतां प्रमाणम् ॥ ११ ॥

---

[1] तावद्वितर्करचनापटुभिर्वचोभिर्मेधाविनः कृतमिति स्मयमुद्वहन्ति ।
यावन्न ते जिन वचः स्वभिचापलास्ते सिंहानने हरिणबालकवत् पतन्ति ॥
द्वा. द्वात्रिंशिका २-११ ।

[2] युक्त्यनुशासन ६ । आप्तमीमांसा ६ ।

अर्थ—हे भगवन्, आपका कहा हुआ आगम हितका उपदेश करता है, सर्वज्ञ भगवानका प्रतिपादित किया हुआ है, मुमुक्षु और साधु पुरुषोंके द्वारा सेवन किया जाता है, और पूर्वापर विरोधसे रहित है, अतएव आपका आगम ही सत्पुरुषोंके द्वारा माननीय हो सकता है।

भगवानके यथार्थवाद गुणकी महत्ता—

क्षि[1]प्येत वान्यैः सदृशीक्रियेत वा तवाङ्घ्रिपीठे लुठनं सुरेशितुः।
इदं यथावस्थितवस्तुदेशनं परैः कथंकारमपाकरिष्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—हे जिनेश्वर, भले ही अन्य वादी लोग आपके चरण कमलोंमें इन्द्रके लोटनेकी बातको न मानें, अथवा अपने इष्ट देवताओंमें भी इन्द्रके लोटनेकी कल्पना करके आपकी बराबरी करें, परंतु वे लोग आपके वस्तुके यथार्थ रूपसे प्रतिपादन करनेके गुणका लोप नहीं कर सकते।

भगवानके शासनकी उपेक्षाका कारण—

तद्दु[2]ःषमाकालखलायितं वा पचेलिमं कर्मभवानुकूलम्।
उपेक्षते यत्तव शासनार्थमयं जनो विप्रतिपद्यते वा ॥ १३ ॥

अर्थ—हे भगवन्, जो लोग आपके शासनकी उपेक्षा करते हैं, अथवा उसमें विवाद करते हैं, वे लोग पंचम कालके कारण ही ऐसा करते हैं, अथवा इसमें उनके अशुभ कर्मोंका उदय समझना चाहिये।

केवल तपसे मोक्ष नहीं मिलता—

पर[3]ःसहस्राः शरदस्तपांसि युगांतरं योगमुपासतां वा।
तथापि ते मार्गमनापतन्तो न मोक्ष्यमाणा अपि यान्ति मोक्षम् ॥ १४ ॥

अर्थ—हे भगवन्, चाहे अन्य वादी लोग हज़ारों वर्ष तक तप तपें, अथवा युगांतरों तक योगका अभ्यास करें, परन्तु आपके मार्गका विना अवलम्बन लिये उन लोगोंको मोक्ष नहीं मिल सकता।

---

[1] आप्तमीमांसा १ से ६ कारिका।

[2] कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुर्प्रवक्तुर्वचनाशयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥ युक्त्यनुशासन ५।

[3] तपोभिरेकान्तशरीरपीडनैर्व्रतानुबन्धैः श्रुतसंपदापि वा।
त्वदीयवाक्यप्रतिबोधपेलवैरवाप्यते नैव शिवं चिरादपि ॥ द्वा. द्वात्रिंशिका १—२३।
स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम्।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्या वत विभ्रमंति ॥ युक्त्यनुशासन ३७।

परवादियोंके उपदेश भगवानके मार्गमें बाधा नहीं पहुंचा सकते—

अनाप्तजाड्यादिविनिर्मितित्वसंभावनासंभवविप्रलम्भाः ।
परोपदेशाः परमाप्तक्लृप्तपथोपदेशे किमु संरभन्ते ॥ १५ ॥

अर्थ—हे देवाधिदेव, अनाप्तोंकी मंद बुद्धि द्वारा रचे हुए विसंवाद रूप दूसरोंके उपदेश परम आप्तके द्वारा प्रतिपादित उपदेशोंमें क्या कुछ बाधा पहुंचा सकते हैं, अर्थात् कुछ भी नहीं ।

भगवानके शासनकी निरुपद्रवता—

[1]यदार्जवादुक्तमयुक्तमन्यैस्तदन्यथाकारमकारि शिष्यैः ।
न विप्लवोऽयं तव शासनेऽभूदहो अधृष्या तव[2] शासनश्रीः ॥१६॥

अर्थ—अन्य मतावलम्बियोंके गुरुओंने जो कुछ सरल भावसे अयुक्त कथन किया था, उसे उनके शिष्य लोगोंने अन्यथा प्रकारसे प्रतिपादन किया । हे भगवन्, आश्चर्य कि आपके शासनमें इस प्रकारका विप्लव नहीं हो सका, अतएव आपका शासन अजेय है ।

परवादियोंके देवोंकी मान्यतामें परस्पर विरोध—

देहाद्ययोगेन सदाशिवत्वं शरीरयोगादुपदेशकर्म ।
परस्परस्पर्धि कथं घटेत परोपक्लृप्तेष्वधिदैवतेषु ॥ १७ ॥

अर्थ—हे वीतराग, एक ही ईश्वर देहके अभावसे सदा आनन्द रूप है, और देहके सद्भावसे उपदेशका देनेवाला है, इस प्रकार परवादियोंके देवताओंमें परस्पर विरोधी गुण कैसे रह सकते हैं ।

मोहका अभाव होनेसे भगवान अवतार नहीं लेते—

प्रागेव देवांतरसंश्रितानि रागादिरूपाण्यवमांतराणि ।
न मोहजन्यां करुणामपीश समाधिमास्थाय युगाश्रितोऽसि (?) ॥१८॥

अर्थ—नीच वृत्तिवाले राग आदि दोषोंने पहले ही अन्य देवोंका आश्रय लिया है । इस लिये हे ईश, आप समाधिको प्राप्त करके मोह जन्य करुणाके वश होकर भी युग युगमें अवतार धारण नहीं करते[3] ।

---

[1] स्वपक्ष एव प्रतिबद्धमत्सरा यथान्यशिष्या स्वरुचिप्रलापिनः ।
निरुक्तसूत्रस्य यथार्थवादिनो न तत्तथा यत्तव कोऽत्र विस्मयः ॥
द्वा. द्वात्रिंशिका १-१७; ५-२७ ।

[2] सच्छासनं ते त्वमिवाप्रधृष्यम् । द्वा. द्वात्रिंशिका ५-२६ ।

[3] यहां 'युगाश्रितोऽसि' का अर्थ ठीक नहीं बैठता । श्लोकका यह अर्थ श्रीमद्विजयानंद (आत्मारामजी) विरचित तत्त्वनिर्णयप्रासादके आधारसे लिखा गया है । मुनि चरणविजयजी द्वारा सम्पादित और आत्मानन्द जैन सभाद्वारा प्रकाशित (१९३४) अयोगव्यवच्छेदिकामें 'समाधिमास्थाय' के स्थानपर 'समाधिमाध्यस्थ्य-' पाठ दिया गया है ।

आपने ही संसारके क्षय करनेका यथार्थ उपदेश दिया है—

जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुनर्यथा तथा वा पतयः प्रवादिनाम् ।
त्वदेकनिष्ठे भगवन् भवक्षयक्षमोपदेशे तु परं तपस्विनः ॥ १९ ॥

अर्थ—हे भगवन्, अन्य मतावलम्बियोंके इष्ट देवता लोग चाहे जगतकी प्रलय करें, अथवा जगतका सर्जन करें, परन्तु वे लोग संसारके नाश करनेका उपदेश देनेमें अलौकिक ऐसे आपकी बराबरीमें कुछ भी नहीं हैं।

जिन मुद्राकी सर्वोत्कृष्टता—

वपुश्च पर्यंक[2]शयं श्लथं च दृशौ च नासानियते स्थिरे च ।
न शिक्षितेयं परतीर्थनाथैर्जिनेन्द्र मुद्रापि तवान्यदास्ताम् ॥ २० ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र, आपके अन्य गुणोंका धारण करना तो दूर रहा, अन्यवादी लोगोंके देवोंने पर्यंक आसनसे युक्त शिथिल शरीर और नासिकाके ऊपर दृष्टिवाली आपकी मुद्रा भी नहीं सीखी।

भगवानके शासनकी महत्ता—

यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमो भवादृशानां परमस्वभावम् ।
कुवासनापाशविनाशनाय नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय ॥ २१ ॥

अर्थ—हे वीतराग, जिसके सम्यग्ज्ञानके द्वारा हम लोग आप जैसोंके शुद्ध स्वरूपका दर्शन कर सके हैं, ऐसे कुवासना रूपी बन्धनके नाश करनेवाले आपके शासनके लिये नमस्कार हो।

प्रकारान्तरसे भगवानके यथार्थवाद गुणकी प्रशंसा—

अपक्षपातेन परीक्षमाणा द्वयं द्वयस्याप्रतिमं प्रतीमः ।
यथास्थितार्थप्रथनं तवैतदस्थाननिर्बंध[3]रसं परेषां ॥ २२ ॥

---

[1] तिष्ठन्तु तावदतिसूक्ष्मगभीरबाधाः संसारसंस्थितिभिदः श्रुतवाक्यमुद्रा ।
पर्याप्तमेकमुपपत्तिसचेतनस्य रागार्चिषः शमयितुं तव रूपमेव ॥
द्वा॰ द्वात्रिंशिका २–१५ ।

[2] स्याज्जंघयोरधोभागे पादोपरि कृते सति ।
पर्यंको नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिकः ॥
“ जानुप्रसारितबाहोः शयनं पर्यंकः ” इति पातंजलाः ।
योगशास्त्रं ४–१२५ ।

[3] निर्बंधोऽभिनिवेशः स्यात् । अभिधानचिन्तामणि ६–१३६ ।

अर्थ—हे भगवन्, जब हम निष्पक्ष हो कर परीक्षा करते हैं, तो हमें एक तो आपका यथार्थ रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करना, और दूसरे अन्य वादियोंकी पदार्थोंके अन्यथा रूपसे कथन करनेमें आसक्तिका होना, ये दो बातें निरुपम प्रतीत होती हैं।

अज्ञानियोंके प्रतिबोध करनेकी असामर्थ्य—

अनाद्यविद्योपनिषन्निषण्णैर्विशृंखलैश्चापलमाचरद्भिः।
अमूढलक्ष्योऽपि[1] पराक्रिये यत्त्वत्किंकरः किं करवाणि देव ॥२३॥

अर्थ—हे देव, अनादि विद्यामें तत्पर, स्वच्छंदाचारी और चपल अज्ञानी पुरुषोंको लक्ष्यबद्ध करनेसे भी यदि वे नहीं समझते हैं, तो आपका यह तुच्छ सेवक क्या करे[2]।

देशना भूमिकी स्तुति—

विमुक्तवैरव्यसनानुबंधाः श्रयंति यां शाश्वतवैरिणोऽपि।
परैरगम्यां तव योगिनाथ तां देशनाभूमिमुपाश्रयेऽहं ॥ २४ ॥

अर्थ—हे योगियोंके नाथ, स्वभावके वैरी प्राणिगण भी वैर भाव छोड़ कर दूसरोंके अगम्य आपके जिस समवशरणका आश्रय लेते हैं, उस देशना भूमिका मैं भी आश्रय लेता हूं।

अन्य देवोंके साम्राज्यकी व्यर्थता—

मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन च संमदेन।
पराजितानां प्रसभं सुराणां वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम् ॥ २५ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र, मद, मान, काम, क्रोध, लोभ और रागसे पराजित अन्य देवोंका साम्राज्य रोग बिलकुल वृथा ही है।

बुद्धिमान लोग राग मात्रसे भगवानके प्रति आकर्षित नहीं होते—

स्वकण्ठपीठे[3] कठिनं कुठारं परे किरन्तः प्रलपन्तु किंचित्।
मनीषिणां तु त्वयि वीतराग न रागमात्रेण मनोऽनुरक्तम् ॥२६॥

अर्थ—वादी लोग अपने गलेमें तीक्ष्ण कुठारका प्रहार करते हुए कुछ भी बोलें, परन्तु हे वीतराग, बुद्धिमानोंका मन आपके प्रति केवल रागसे ही अनुरक्त नहीं है।

---

[1] 'अगूढलक्ष्योऽपि' पाठान्तरं।

[2] इस अर्थमें बहुत खींचातानी करनी पड़ती है।

[3] अन्ये जगत्संकथिका विदग्धा सर्वज्ञवादान् प्रवदन्ति तीर्थ्याः।
यथार्थनामा तु तवैव वीर सर्वज्ञता सत्यमिदं न रागः॥ द्वा. द्वात्रिंशिका ५-२३।

अपनेको मध्यस्थ समझनेवाले लोगोंमें मात्सर्यका सद्भाव—

सुनिश्चितं मत्सरिणो जनस्य न नाथ मुद्रामतिशेरते ते ।
माध्यस्थ्यमास्थाय परीक्षका ये मणौ च काचे च समानुबंधाः ॥ २७ ॥

अर्थ—हे नाथ, जो परीक्षक लोग माध्यस्थ वृत्ति धारण करके काच और मणिमें समान भाव रखते हैं, वे लोग भी मत्सरी लोगोंकी मुद्राका अतिक्रमण नहीं करते, यह सुनिश्चित है ।

स्तुतिकारकी घोषणा—

इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणामुदारघोषामवघोषणां ब्रुवे ।
न वीतरागात्परमस्ति दैवतं न चाप्यनेकान्तमृते नयस्थितिः ॥२८॥

अर्थ—मैं (हेमचन्द्र) प्रतिपक्षी लोगोंके सामने यह उदार घोषणा करता हूं, कि वीतराग भगवानको छोड़ कर दूसरा कोई देव, और अनेकांतवादको छोड़ कर वस्तुओंके प्ररूपण करनेका दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

जिन भगवानके प्रति स्तुतिकारके आकर्षणका कारण—

[1]न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीर प्रभुमाश्रिताः स्मः ॥ २९ ॥

अर्थ—हे वीर, केवल श्रद्धाके कारण न आपके प्रति हमारा कोई पक्षपात है, और न द्वेषके कारण अन्य देवताओंमें अविश्वास है, किन्तु यथार्थ रीतिसे आप्तकी परीक्षा करके ही हमने आपका आश्रय लिया है ।

भगवानकी वाणीकी महत्ता—

[2]तमःस्पृशामप्रतिभासभाजं भवन्तमप्याशु विविन्दते याः ।
महेम चन्द्रांशुदृशावदातास्तास्तर्कपुण्या जगदीश वाचः ॥ ३० ॥

---

१ न काव्यशक्तेर्न परस्परेर्ष्यया न वीरकीर्तिप्रतिबोधनेच्छया ।
न केवलं श्राद्धतयैव नूयसे गुणज्ञपूज्योऽसि यतोऽयमादरः ॥ द्वा. द्वात्रिंशिका १–४ ।
न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ ।
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता ॥
किमु न्यायान्यायाप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां ।
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासंगगदितः ॥ युक्त्यनुशासन ६४ ।
बृहत्स्वयंभू स्तो. ५१; हरिभद्र–लोकतत्त्व निर्णय ३२,३३ ।

२ सत्त्वोपघातनिरनुग्रहराक्षसानि वक्तृप्रमाणरचितान्यहितानि पीत्वा ।
अद्वारकं जिन तमस्तमसो विशन्ति येषां न भान्ति तव वाग्द्युतयो मनस्सु ॥
द्वा. द्वात्रिंशिका २–१७ ।

अर्थ—हे जगदीश, जो वाणी अज्ञान-अंधकारमें फिरनेवाले पुरुषोंके अगोचर ऐसे आपको प्रगट करती है, उस चन्द्रमाकी किरणोंके समान स्वच्छ और तर्कसे पवित्र आपकी वाणीको हम पूजते हैं।

भगवानके वीतराग गुणकी सर्वोत्कृष्टता—

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोस्तु ते ॥ ३१ ॥

अर्थ—हे भगवन्, जिस किसी शास्त्रमें, जिस किसी रूपमें, और जिस किसी नामसे जिस वीतराग देवका वर्णन किया गया है, वह आप एक ही हैं, अतएव आपके लिये नमस्कार है।

उपसंहार—

इदं श्रद्धामात्रं तदथ परनिन्दां मृदुधियो
विगाहन्तां हन्त प्रकृतिपरवादव्यसनिनः।
अरक्तद्विष्टानां जिनवर परीक्षाक्षमधिया-
मयं तत्त्वालोकः स्तुतिमयमुपाधिं[1] विधृतवान् ॥ ३२ ॥

अर्थ—कोमल बुद्धिवाले पुरुष इस स्तोत्रको श्रद्धासे बनाया हुआ समझें, वादशील पुरुष इसे दूसरे देवोंकी निन्दा करनेके लिये रचा हुआ मानें, परन्तु हे जिनवर, परीक्षा करनेमें समर्थ राग-द्वेषसे रहित पुरुषोंको तत्वोंके प्रकाश करनेवाला यह स्तोत्र स्तुति रूप धर्मके चिंतनमें कारण है।

। समाप्त ।

---

[1] उपाधिर्धर्मचिन्तनम्। अभिधानचिन्तामणि ६-१७।

जैन परिशिष्ट (क)

अवतरणिका पृ. २ पं. १९ दुःषमार—

पंचम काल। जैन धर्मके अनुसार काल-चक्र उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके दो विभागोंमें विभक्त है। उत्सर्पिणी कालमें जीवोंके शरीरकी ऊँचाई, आयु और शरीरके बलकी वृद्धि होती है। तथा अवसर्पिणी कालमें जीवोंके शरीरकी ऊँचाई, आयु और शरीरके बलकी हानि होती है। उत्सर्पिणीके छह भेद—१ दुःषमदुःषमा २ दुःषमा ३ दुःषमसुषमा ४ सुषमदुःषमा ५ सुषमा ६ सुषमसुषमा। अवसर्पिणीके छह भेद—१ सुषमसुषमा २ सुषमा ३ सुषमदुःषमा ४ दुःषमसुषमा ५ दुःषमा ६ दुःषमदुःषमा।

उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी–कालचक्र

अवसर्पिणी कालके छह आरे	स्थिति	जीवोंकी आयु	शरीरकी ऊँचाई	वर्ण	आहारका अंतर
१ सुषमसुषमा	४ कोडाकोडी सागर	३ पल्यसे २ पल्य	३ कोशसे २ कोश	सूर्यके समान	आठ वेला (३ दिन)
२ सुषमा	३ कोडाकोडी सागर	२ पल्यसे १ पल्य	२ कोशसे १ कोश	चन्द्रमाके समान	छह वेला
३ सुषमदुःषमा	२ कोडाकोडि सागर	१ पल्यसे कोटी पूर्व वर्ष	१ कोशसे ५०० धनुष	प्रियंगु	चार वेला
४ दुःषमसुषमा	४२००० वर्ष कम १ कोडा-कोडि सागर	कोटी पूर्व वर्षसे १२० वर्ष	५०० धनुषसे ७ हाथ	पांचों वर्ण	प्रतिदिन एक बार
५ दुःषमा	२१००० वर्ष	१२० वर्षसे २० वर्ष	७ हाथसे २ हाथ	रूक्ष	बहुत बार
६ दुःषमदुःषमा	२१००० वर्ष	२० वर्षसे १५ वर्ष	२ हाथसे १ हाथ	श्याम	बार बार

सुषमसुषमा आदि प्रथमके तीन कालोंमें भोगभूमि रहती है। भोगभूमिकी भूमि दर्पणके समान मणिमय, और चार अंगुल ऊँचे स्वादु और सुगंधित कोमल तृणोंसे युक्त होती है। यहां दूध, इक्षु, जल, मधु और घृतसे परिपूर्ण बावड़ी और तालाब बने हुए हैं। भोगभूमिमें स्त्री और पुरुषके युगल पैदा होते हैं। ये युगलिये ४९ दिनमें पूर्ण यौवनको प्राप्त होकर परस्पर विवाह करते हैं। मरनेके पहले पुरुषको छींक और स्त्रीको जंभाई आती है। सुषमदुःषमा नामके तीसरे कालमें पल्यका आठवां भाग समय बाकी रहनेपर क्षत्रिय कुलमें चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं। चौथे कालमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, और नौ बलभद्र ये तरेसठ शलाका पुरुष जन्म लेते हैं। दुःषमा नामका पांचवां काल महावीरका तीर्थकाल कहा जाता है। इस कालमें कल्की नामका राजा उत्पन्न होता है। कल्की उन्मार्गगामी होकर जैनधर्मका नाश करता है। पंचम कालके इक्कीस हजार वर्षके समयमें एक एक हजार वर्ष बाद इक्कीस कल्की पैदा होते हैं। अंतिम जलमंथन नामक कल्की जैनधर्मका समूल नाश करनेवाला होगा। धर्मका नाश होनेपर सम्पूर्ण लोग धर्मसे विमुख हो जायँगे। दुःषमदुःषमा नामके छठे कालमें संवर्तक नामकी वायु पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी आदिको चूर्ण करेगी। इस वायुसे समस्त जीव मूर्च्छित होकर मरेंगे। इस समय पवन, अत्यंत शीत, क्षाररस, विष, कठोर अग्नि, धूल और धूंवेकी ४९ दिन तक वर्षा होगी, तथा विष और अग्निकी वर्षासे पृथ्वी भस्म हो जावेगी। इस समय दयावान विद्याधर अथवा देव मनुष्य आदि जीवोंके युगलोंको निर्बाध स्थानमें ले जाकर रख देंगे। उत्सर्पिणी कालके आनेपर फिरसे इन जीवोंसे सृष्टिकी परम्परा चलेगी।

ब्राह्मण ग्रंथोंमें सत्य (कृत), त्रेता, द्वापर, और कलि ये चार युग बताये गये हैं। इन युगोंका प्रमाण क्रमसे १७२८००० वर्ष, १२९६००० वर्ष, ८६४००० वर्ष और ४३२००० वर्ष हैं। कृतयुगमें ध्यान, त्रेतामें ज्ञान, द्वापरमें यज्ञ और कलियुगमें दानकी श्रेष्ठता होती है। इन युगोंमें क्रमसे ब्रह्मा, रवि, विष्णु, और रुद्रका आधिपत्य रहता है। **सत्ययुगमें** धर्मके चार पैर होते हैं। इसमें मत्स्य, कूर्म, वराह, और नृसिंह ये चार अवतार होते हैं। इस युगमें मनुष्य अपने धर्ममें तत्पर रहते हुए शोक, व्याधि, हिंसा, और दंभसे रहित होते है। यहां इक्कीस हाथ परिमाण मनुष्यकी देह और एक लाख वर्षकी उत्कृष्ट आयु होती है। इस युगके निवासियोंकी इच्छा-मृत्यु होती है। इस युगमें लोग सोनेके पात्र काममें लाते हैं। **त्रेतामें** धर्म तीन पैरोंसे चलता है। इस समय वामन, परशुराम और रामचन्द्र ये तीन अवतार होते हैं। यहां चौदह हाथ परिमाण मनुष्यकी देह और दस हजार वर्षकी उत्कृष्ट आयु होती है। इस युगमें चांदीके पात्रोंसे काम चलता है। इस समय

---

१ देखो त्रिलोकसार ७७९-८६७; तथा लोकप्रकाश २८ वां सर्ग और उसके आगे।

लोगोंका कुछ क्लेश बढ़ जाता है। ब्राह्मण लोग वेद-वेदांगके पारगामी होते हैं। स्त्री पतिव्रता और पुत्र पिताकी सेवा करनेवाले होते हैं। **द्वापरयुगमें** धर्मके केवल दो पैर रह जाते हैं। इस युगमें कुछ लोग पुण्यात्मा और कुछ लोग पापात्मा होते हैं। कोई बहुत दुखी होते हैं और कोई बहुत धनी होते हैं। इस युगमें कृष्ण और बुद्ध अवतार लेते हैं। मनुष्योंका देह सात हाथका और एक हजार वर्षकी उत्कृष्ट आयु होती है। लोग तांबेके पात्रोंमें भोजन करते हैं। **कलियुगके** आनेपर धर्म केवल एक पैरसे चलने लगता है। इस युगमें सब लोग पापी हो जाते हैं। ब्राह्मण अत्यन्त कामी और क्रूर हो जाते हैं। तथा क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र अपने कर्त्तव्यसे च्युत होकर पाप करने लगते हैं। कलियुगमें कल्किका अवतार होता है। मनुष्यका शरीर साढ़े तीन हाथका और उत्कृष्ट आयु एकसौ पांच वर्षकी होती है।

बौद्ध लोगोंने अन्तरकल्प संवर्तकल्प, विवर्तकल्प, महाकल्प आदि कल्पोंके अनेक भेद माने हैं। आदिके कल्पमें मनुष्य देवोंके समान थे। धीरे धीरे मनुष्योंमें लोभ और आलस्यकी वृद्धि होती है, लोग वनकी औषध और धान्य आदिका संग्रह करने लगते हैं। बादमें मनुष्योंमें हिंसा, चोरी आदि पापोंकी वृद्धि होती है, और मनुष्योंकी आयु घटकर केवल दस वर्षकी रह जाती है। कल्पके अन्तमें सात दिन तक युद्ध, सात महीने तक रोग, तथा सात वर्ष तक दुर्भिक्ष पड़नेके बाद कल्पकी समाप्ति हो जाती है। इस समय अग्नि, जल और महावायुसे प्रलय (संवर्त्तनी) होती है। प्रलयके समय देवता लोग पुण्यात्मा प्राणियोंको निर्वाध स्थानमें ले जाकर रख देते[2] हैं।

ग्रीक और रोमन लोगोंके यहां भी सुवर्ण, रंजत, पीतल और लौह इस प्रकारसे चार युगोंकी कल्पना पायी जाती है।

श्लो. १ पृ. ६ पं. २४ **केवली**—

चार घातिया कर्मोंके अत्यंत क्षय होनेपर जो केवलज्ञानके द्वारा इन्द्रिय, क्रम, और व्यवधान रहित तीनों लोकोंके सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको साक्षात् जानते हैं, उन्हें केवली कहते हैं। जैन शास्त्रोंमें अनेक तरहके केवलियोंका उल्लेख पाया जाता है—

१ तीर्थंकर—जो चतुर्विध संघ अथवा प्रथम गणधरकी रचना करके जीवोंको संसार-समुद्रसे पार उतारते हैं, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। तीर्थंकर संसारी जीवोंको उपदेश देकर उनका उपकार करते हैं। तीर्थंकर स्वयंबुद्ध होते हैं। तीर्थंकर चौबीस माने गये हैं।

---

[1] कूर्मपु. अ. २८; मत्स्यपु. अ. ११८; गरुडपु. अ. २२७।

[2] अभिधर्मकोश ३-९७ के आगे; विसुद्धिमग्ग अ. १३; हार्डी (Hardy) की Mannual of Buddhism अ. १।

२ गणधर—तीर्थंकरके साक्षात् शिष्य, और संघके मूल नायक होते हैं। गणधर श्रुतकेवली होते हैं। ये अन्य केवलियोंके भूतपूर्व गुरु होते हैं, और अन्तमें स्वयं भी केवली हो जाते हैं। महावीर भगवानके ग्यारह गणधर थे। इन ग्यारह गणधरोंमें अकम्पित और अचल, तथा मेतार्य और प्रभास नामक गणधरोंकी भिन्न भिन्न वाचना नहीं होनेसे भगवानके नौ गणधर कहे जाते हैं।

३ सामान्य केवली—तीर्थंकर और गणधरोंको छोड़कर वाकी केवली सामान्य केवली कहे जाते हैं।

४ स्वयंबुद्ध—जो बाह्य कारणोंके विना स्वयं ज्ञानी होते हैं, वे स्वयंबुद्ध हैं। तीर्थंकर भी स्वयंबुद्धोंमें गर्भित हैं। इनके अतिरिक्त भी स्वयंबुद्ध होते हैं। ये संघमें रहते हैं और नहीं भी रहते। ये पूर्वमें श्रुतकेवली होते हैं, और नहीं भी होते। जिनको श्रुत नहीं होता, वे नियमसे संघसे वाहिर रहते हैं।

५ प्रत्येकबुद्ध—प्रत्येकबुद्ध परोपदेशके विना अपनी शक्तिसे बाह्य निमित्तोंके मिलनेपर ज्ञान प्राप्त करते हैं, और अकेले विहार करते हैं। प्रत्येकबुद्धको कमसे कम ग्यारह अंग और अधिकसे अधिक कुछ कम दस पूर्वका ज्ञान होता है।

६ बोधितबुद्ध—गुरुके उपदेशसे ज्ञान प्राप्त करते हैं। ये अनेक तरहके होते हैं।

७ मुण्डकेवली—ये मूक और अन्तकृत् केवलीके भेदसे दो प्रकारके हैं। मूक केवली अपना ही उद्धार कर सकते हैं, परन्तु किसी शारीरिक दोषके कारण उपदेश नहीं दे सकते, इस लिये मौन रहते हैं। ये केवली बाह्य अतिशयोंसे रहित होते हैं, और किसी सिद्धांतकी रचना नहीं कर सकते। अन्तकृत्केवलीको मुक्त होनेके कुछ समय पहले ही केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है, इस लिये ये भी सिद्धांतकी रचना करनेमें असमर्थ होते हैं।

८ श्रुतकेवली—श्रुतकेवली शास्त्रोंके पूर्ण ज्ञाता होते हैं। श्रुतकेवली और केवली (केवलज्ञानी) ज्ञानकी दृष्टिसे दोनों समान हैं। अन्तर इतना ही है, कि श्रुतज्ञान परोक्ष और केवलज्ञान प्रत्यक्ष होता है। केवली (केवलज्ञानी) जितना जानते हैं, उसका अनंतवां भाग वे कह सकते हैं। और जितना वे कहते हैं, उसका अनन्तवां भाग शास्त्रोंमें लिखा जाता है। इस लिये केवलज्ञानसे श्रुतज्ञान अनन्तवें भागका भी अनन्तवां भाग है। सामान्यतः श्रुतकेवली छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती और केवली तेरहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं। श्रुतकेवलीको केवली पद पानेके लिये आठवें गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थान तक एक श्रेणी चढ़ना पड़ती है। श्रुतकेवली चौदह पूर्वके पाठी होते[1] हैं।

---

[1] महावीर भगवानके निर्वाणके बाद गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए। जम्बूस्वामीके बाद दिगम्बर परम्पराके अनुसार विष्णु, नन्दि, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पांच; तथा श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, सम्भूतविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र ये छह श्रुतकेवली माने जाते हैं स्थूलभद्रको श्रुतकेवलियोंमें नहीं गिननेसे श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार भी पांच श्रुतकेवली माने गये हैं।

योग सहित केवलियोंको सयोगकेवली, और योग रहित केवलियोंको अयोगकेवली कहते हैं। सयोगकेवली तेरहवें और अयोग केवली चौदहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं। सिद्धोंको भी केवली कहा जाता है।

जैनेतर शास्त्रोंमें भी केवलीकी कल्पना पायी जाती है। जिन्होंने बन्धनसे मुक्त होकर कैवल्यको प्राप्त किया है, उन्हें योगसूत्रोंके भाष्यकार व्यासने केवली कहा है। ऐसे केवली अनेक हुए हैं। बुद्धि आदि गुणोंसे रहित ये निर्मल ज्योतिवाले केवली आत्म स्वरूपमें स्थित रहते हैं। महाभारत, गीता आदि वैदिक ग्रंथोंमें भी जीवन्मुक्त पुरुषोंका उल्लेख आता है। ये शुक, जनक प्रभृति जीवन्मुक्त संसारमें जलमें कमलकी नाईं रहते हुए मुक्त जीवोंकी तरह निर्लेप जीवन यापन करते हैं, इसीलिये इन्हें जीवन्मुक्त कहा जाता है।

बौद्ध ग्रंथोंमें बुद्धके बत्तीस महापुरुषके[3] लक्षण, अस्सी अनुव्यंजन और दोसौ सोलह मांगल्य लक्षण बताये गये हैं। बुद्ध भगवान अपने दिव्य नेत्रोंसे प्रतिदिन संसारको छह बार देखते हैं। वे दस बल, ग्यारह बुद्ध धर्म, और चार वैशारद्य सहित होते हैं। वर्तमान बुद्ध चौबीस होते हैं। इन बुद्धोंके अलग अलग बोधि-वृक्ष रहते हैं। बुद्ध दो प्रकारके होते हैं— प्रत्येकबुद्ध और सम्यक्संबुद्ध। **सम्यक्संबुद्ध** अपने पुरुषार्थके द्वारा बोधि प्राप्त करके उसका संसारको उपदेश देते हैं। गौतम सम्यक्संबुद्ध थे। **प्रत्येकबुद्ध** भी अपने पुरुषार्थसे बोधि प्राप्त करते हैं, परन्तु वे संसारमें बोधिका उपदेश नहीं करते, और वन आदि किसी एकांत स्थानमें रहकर मुक्ति सुखका अनुभव करते हैं। प्रत्येकबुद्ध बुद्धसे हरेक बातमें छोटे होते हैं, और वे बुद्धके समय नहीं रहते। जो पटिसंभिदा, अभिज्ञा, प्रज्ञा आदिसे विभूषित होते हैं, उन्हें **अर्हत्** कहते हैं। अर्हत्को खीनासव (क्षीणास्रव) कहा जाता है। अर्हत् फिरसे संसारमें जन्म नहीं लेते। गौतम स्वयं अर्हत् थे। बुद्ध स्वयं अपने पुरुषार्थसे निर्वाण प्राप्त करते है, और अर्हत् बुद्धके पास शिक्षण ग्रहण करके निर्वाण जाते हैं, यही दोनोंमें अन्तर है। जो अनेक जन्मोंके पुण्य-प्रतापसे आगे चलकर बुद्ध होनेवाले हैं, उन्हें **बोधिसत्व** कहते हैं। अर्हत् वीतराग होते हैं, और बोधिसत्वका हृदय करुणासे परिपूर्ण रहता है। बोधिसत्व प्रत्येक प्राणीके निर्वाणके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, और जब तक सम्पूर्ण जीवोंको निर्वाण नहीं मिल जाता, उस समय तक उनकी प्रवृत्ति जारी रहती है। बोधिसत्व जीवोंके प्रति करुणाका प्रदर्शन करनेके लिये पाप करनेमें भी नहीं हिचकते, और नरकमें जाकर नारकी जीवोंका उद्धार करते हैं[5]।

---

[1] गोम्मटसार जीव. १० टीका। [2] पातंजल योगसूत्र १–२४,५१ भाष्य। [3] मज्झिमनिकाय ब्रह्मायुसुत्त। [4] दीपंकर, कोण्ड, मंगल, सुमनस, रेवत, सोभित, अनोमदस्सिन्, पदुम, नारद, पदुमुत्तर, सुमेध, सुजात, पियदस्सिन्, अत्थदस्सिन्, धम्मदस्सिन, सिद्धत्थ, तिस्स, पुस्स, विपस्सिन् सिखिन्, वेस्सभू, ककुसंध, कोणागमन और कस्सप। [5] देखो कर्न (Kern) की Mannual of Buddhism अ. ३ पृ. ६०; तथा सद्धर्मपुण्डरीक अ. २४; बोधिचर्यावतार बोधिचित्तपरिग्रह नामक तृतीय परिच्छेद।

श्लो. १ पृ. ८ पं. २ अतिशय—

सहज अतिशय, कर्मक्षयज अतिशय और देवकृत अतिशय भगवानके ये तीन मूल अतिशय माने गये हैं । इन तीन अतिशयोंके उत्तर भेद मिलाकर अतिशयोंके कुल चौंतीस[1] भेद होते हैं । श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार सहज अतिशयके चार, कर्मक्षयज अतिशयके ग्यारह, और देवकृत अतिशयके उन्नीस भेद स्वीकार किये गये हैं—

सहज अतिशय	कर्मक्षयज अतिक्षय	देवकृत अतिशय
१ सुन्दर रूपवाला, सुगन्धित, नीरोग, पसीना और मल रहित शरीर ।	१ योजन मात्र समवशरणमें कोडाकोडि मनुष्य, देव और तिर्यंचोंका समा जाना ।	१ आकाशमें धर्मचक्रका होना ।
२ कमलके समान सुगन्धित श्वासोच्छ्वास ।	२ एक योजन तक फैलनेवाली भगवानकी अर्धमागधी वाणीका मनुष्य, तिर्यंच और देवताओंका अपनी अपनी भाषामें समझ लेना ।	२ आकाशमें चमरोंका होना ।
३ गौके दूधके समान स्वच्छ और दुर्गंध रहित मांस और रुधिर ।	३ सूर्य प्रभासे तेज सिरके पीछे भामंडलका होना ।	३ आकाशमें पादपीठ सहित उज्वल सिंहासन ।
४ चर्म चक्षुओंसे आहार और नीहारका न दिखना ।	४ सौ योजन तक रोगका न रहना ।	४ आकाशमें तीन छत्र ।
	५ वैरका न रहना ।	५ आकाशमें रत्नमय धर्मध्वज ।
	६ ईति अर्थात् धान्य आदिको नाश करनेवाले चूहों आदिका अभाव ।	६ सुवर्णके कमलोंपर चलना ।
	७ मरी प्लेग वगैरहका न होना ।	७ समवशरणमें रत्न, सुवर्ण और चांदीके तीन परकोट ।
	८ अतिवृष्टि न होना ।	८ चार मुखसे उपदेश।
	९ अनावृष्टि न होना ।	९ चैत्य अशोक वृक्ष
	१० दुर्भिक्ष न पड़ना ।	१० कण्टकोंका अधोमुख होना ।
	११ स्वचक्र और परचक्रका भय न होना ।	११ वृक्षोंका झुकना ।
		१२ दुन्दुभि बजना ।
		१३ अनुकूल वायु ।
		१४ पक्षियोंका प्रदक्षिणा देना ।
		१५ गंधोदककी वृष्टि ।
		१६ पांच वर्णोंके पुष्पोंकी वृष्टि ।
		१७ नख और केशोंका नहीं बढ़ना ।
		१८ कमसे कम एक करोड़ देवोंका पासमें रहना
		१९ ऋतुओंका अनुकूल होना ।

---

[1] समवायांग सूत्र और कुन्दकुन्दके नियमसारमें चौंतीस अतिशयोंके नाम आते हैं ।

दिगम्बर मान्यताके अनुसार दस सहज अतिशय, दस कर्मक्षयज अतिशय और चौदह देवकृत अतिशय माने गये हैं। अतिशयोंकी मान्यतामें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके अनुसार पाठ भेद पाया जाता है।

जैनेतर ग्रंथोंमें भी इस प्रकारके विचार मिलते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्में लघुता, आरोग्य, स्थिरता, वर्णप्रसाद, स्वरकी सुन्दरता, शुभ गन्ध तथा मूत्र और मलका अल्प मात्रामें होना, यह योगकी प्रथम अवस्था कही गई है। पतंजलिके योगसूत्र और व्यास भाष्यमें भूत-भविष्यत् पदार्थोंको जानना, अदृश्य हो जाना, योगी पुरुषकी निकटतामें क्रूर प्राणियोंका वैर भाव छोड़ देना, हाथीके समान बल, सम्पूर्ण भुवनका ज्ञान, भूख और प्यासका अभाव, एक शरीरका दूसरे शरीरमें प्रवेश, आकाशमें विहार, वज्रसंहनन, अजरामरता आदि अनेक प्रकारकी विभूतियाँ बताई गई हैं।

बौद्ध ग्रंथोंमें भी आकाशमें पक्षीकी तरह उड़ना, संकल्प मात्रसे दूरकी वस्तुओंको पासमें ले आना, मनके वेगके समान गति होना, दिव्य नेत्र और दिव्य चक्षुओंसे सूक्ष्म और दूरवर्ती पदार्थोंको जानना आदि ऋद्धियोंका वर्णन मिलता है। जिस समय बोधिसत्व तुषित लोकसे च्युत होकर माताके गर्भमें आते हैं, उस समय लोकमें महान प्रकाश होता है, और दस साहस्री लोकधातु कंपित होती है। बोधिसत्वके माताके गर्भमें रहनेके समय चार देव पुत्र आकर चारों दिशाओंमें बोधिसत्त्व और बोधिसत्वकी माताकी रक्षा करते हैं। बोधिसत्वकी माताको गर्भावस्थामें कोई रोग नहीं रहता। माता बोधिसत्वको अंग-प्रत्यंग सहित देखती है, और बोधिसत्वको खड़े रहकर उत्पन्न करती है। जिस समय श्लेष्म, रुधिर आदिसे अलिप्त बोधिसत्व गर्भसे बाहर निकलते हैं, उस समय उन्हें पहले देव लोग ग्रहण करते हैं। बोधिसत्वके उत्पन्न होनेके समय आकाशसे गर्म और शीतल जलकी धारायें गिरती हैं, जिनसे बोधिसत्व और उनकी माताका प्रक्षालन किया जाता है। उस समय आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होती है और मन्द, सुगन्ध वायु बहती हैं[4]।

क्राइस्टके जन्मके समय भी सम्पूर्ण प्रकृतिका स्तब्ध होना, देवोंका आना आदि वर्णन बाइबिलमें आता है।

श्लोक ५ पृ. २५ पं. १६ एवं व्योमापि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकः—

जैनदर्शनके अनुसार जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त हो, उसे सत् अथवा द्रव्य कहते हैं। इसीलिए जैन दर्शनकरोंने 'अप्रच्युत, अनुत्पन्न और स्थिर रूप' नित्यका लक्षण स्वीकार न करके 'पदार्थके स्वरूप का नाश नहीं होना' (तद्भावाव्ययं नित्यं) नित्यका लक्षण

---

१ श्वेताश्वतर उ० २-१३। २ पतंजलि-योगसूत्र विभूतिपाद; तथा देखो यशोविजय-योगमाहात्म्य द्वात्रिंशिका। ३ अभिधर्मकोश ७-४० से आगे। ४ मज्झिमनिकाय—अच्छरियधम्मसुत्त, पृ० ५१० राहुल सांकृत्यायन; अश्वघोष-बुद्धचरित सर्ग १; तथा देखो निदानकथा, ललितविस्तर आदि।

माना है। इस लक्षणके अनुसार जैन आचार्योंके मतसे प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जाते हैं। आत्मा पूर्व भवको छोड़कर उत्तर भव धारण करती है, और आत्मा दोनों अवस्थाओंमें समान रूपसे रहती है, इस लिए आत्मामें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सिद्ध हो जाते हैं। पुद्गल और काल द्रव्यमें भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका होना स्पष्ट है। परन्तु जीव, पुद्गल और कालकी तरह जैन सिद्धांतके अनुसार धर्म, अधर्म और आकाश जैसे अमूर्त द्रव्योंमें भी स्वप्रत्यय और परप्रत्ययसे उत्पाद और व्यय माना गया है। स्वप्रत्यय उत्पादको समझनेके पहले कुछ जैन पारिभाषिक शब्द जान लेने आवश्यकीय हैं।

१ प्रत्येक पदार्थमें अनंत गुण हैं। इन अनंत गुणोंमें प्रत्येक गुणमें अनन्त अनन्त अविभागी गुणांश हैं। यदि द्रव्यमें गुणांश नहीं माने जांय, तो द्रव्यमें छोटापन, बड़ापन आदि विभाग नहीं किया जा सकता। इन अविभागी गुणांशोंको अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं। २ द्रव्यमें जो अनन्त गुण पाये जाते हैं, इन अनंत गुणोंमें अस्तित्व द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्व, ये छह सामान्य गुण मुख्य हैं। जिस शक्तिके निमित्तसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप अथवा एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप नहीं बदलती, उसे अगुरुलघु गुण कहते हैं। ३ अविभागी प्रतिच्छेदोंके छह प्रकारसे कम होने और बढ़नेको छह गुणी हानि-वृद्धि कहते हैं। अनंत भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, और अनंत गुणवृद्धि; तथा अनंत भागहानि, असंख्यात भागहानि, संख्यात भागहानि, संख्यात गुणहानि, असंख्यात गुणहानि और अनंत गुणहानि यह षट्स्थान पतित हानि-वृद्धि कही जाती है।

जिस समय धर्म, अधर्म और आकाशमें अपने अपने अगुरुलघु गुणके अविभागी प्रतिच्छेदोंमें उक्त छह प्रकारकी हानि-वृद्धिके द्वारा परिणमन होता है, उस समय धर्म, अधर्म और आकाशमें उत्पाद और व्यय होता है। जिस समय धर्म, अधर्म और आकाशमें अगुरुलघु गुणकी पूर्व अवस्थाका त्याग होता है, उस समय व्यय, और जिस समय उत्तर अवस्थाकी उत्पत्ति होती है, उस समय उत्पाद होता है। तथा द्रव्यकी अपेक्षा धर्म, अधर्म और आकाश सदा निष्क्रिय और नित्य हैं, इस लिये इनमें ध्रौव्य रहता है। धर्म आदि द्रव्योंमें यह उत्पाद और व्यय अपने अपने अगुरुलघु गुणके परिणमनसे होता है, इस लिये इसे स्वप्रत्यय उत्पाद कहते हैं। जिस समय स्वयं अथवा किसी दूसरेके निमित्तसे जीव और पुद्गल धर्म,

---

१ षट्स्थान पतित हानि-वृद्धिके स्पष्टीकरणके लिये गोम्मटसार जीवकांड, प्रवचनसारोद्धार गा. ४३२ द्वा. २६०; पं. गोपालदासजी कृत जैनसिद्धांत दर्पण आदि ग्रन्थ देखने चाहिये।

२ क्रियानिमित्तोत्पादाभावेऽपि एषां धर्मादीनामन्यथोत्पादः कल्प्यते। तद्यथा द्विविधः उत्पादः स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्च। स्वनिमित्तस्तावत् अनंतानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च वर्तमानानां स्वभावादेषामुत्पादो व्ययश्च। सर्वार्थसिद्धि पृ. १५१।

अधर्म और आकाशके एक प्रदेशको छोड़कर दूसरे प्रदेशके साथ संबद्ध होते हैं, उस समय धर्म आदि द्रव्योंमें परप्रत्यय उत्पाद और व्यय कहा जाता है।

सिद्धसेन दिवाकरने सन्मतितर्कमें उत्पाद और व्ययके प्रयोगिक (प्रयत्नजन्य) और वैस्रसिक (स्वाभाविक) दो भेद किये हैं। प्रयत्नजन्य उत्पादमें भिन्न भिन्न अवयवोंके मिलनेसे पदार्थोंका समुदाय रूप उत्पाद होता है, इस लिये इसे समुदायवाद कहते हैं। यह उत्पाद किसी एक द्रव्यके आश्रयसे नहीं होता, इस लिये यह अपरिशुद्ध नामसे भी कहा जाता है। सामुदायिक उत्पादकी तरह व्यय भी सामुदायिक होता है। सामुदायिक उत्पाद और व्यय मूर्त द्रव्योंमें ही होते हैं। वैस्रसिक उत्पाद और व्ययके दो भेद हैं—सामुदायिक और ऐकत्विक। बादल आदिमें जो विना प्रयत्नके उत्पत्ति और नाश होता है, उसे वैस्रसिक समुदयकृत उत्पाद-व्यय कहते हैं। तथा धर्म, अधर्म और आकाश अमूर्त द्रव्योंमें दूसरे द्रव्योंके साथ मिलकर स्कंध रूप धारण किये विना जो उत्पाद और व्यय होता है, उसे वैस्रसिक ऐकत्विक उत्पाद-व्यय कहते हैं। धर्म, अधर्म और आकाशमें यह उत्पाद-व्यय अनेकांतसे परनिमित्तक होता है।

श्लोक ६ पृ. ४२ पं. २४ अपुनर्बन्ध—

"जो जीव मिथ्यात्वको छोड़नेके लिये तत्पर और सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये अभिमुख होता है," उसे अपुनर्बंधक कहते हैं। अपुनर्बंधकके कृपणता, लोभ, याञ्चा, दीनता मात्सर्य, भय, माया और मूर्खता इन भवानन्दी दोषोंके नष्ट होनेपर शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान औदार्य, दाक्षिण्य आदि गुणोंमें वृद्धि होती जाती है। अपुनर्बंधकके गुरू, देव, आदिका पूजन, सदाचार, तप और मुक्तिसे अद्वेष रूप 'पूर्वसेवा' मुख्य रूपसे होती है। अपुनर्बंधक जीव शान्त चित्त और क्रोध आदिसे रहित होते हैं, तथा जिस तरह भोगी पुरुष सदा अपनी स्त्रीका चिन्तवन करता रहता है, उसी तरह सतत संसारके स्वभावका विचार करते रहते हैं। इस जीवके कुटुम्ब आदिमें प्रवृत्ति करते रहनेपर भी उसकी प्रवृत्तियां बंधका कारण नहीं होतीं। अपुनर्बंधक वितर्क प्रधान होता है, और इसके क्रमसे कर्म और आत्माका वियोग होकर इसे मोक्ष मिलता है।

श्लो० ९ पृ० ९५ पं० २५ प्रदेश—

पुद्गलके सबसे छोटे अविभागी हिस्सेको परमाणु कहते हैं। यह परमाणु कारण[3] रूप

---

[1] देखो सन्मतितर्क ३--३२,३३; द्रव्यानुयोगतर्कणा ९-२४,२५; शास्त्रवार्त्तासमुचय ७-१ यशोविजय टीका; तत्त्वार्थ भाष्य ५-२९ टीका पृ. ३८३-५।

[2] स्पष्टीकरणके लिये देखो हरिभद्र कृत योगबिन्दु ११५ से आगे; तथा यशोविजय—अपुनर्बन्ध द्वात्रिंशिका।

[3] अकलंक आदि दिगम्बर विद्वानोंने परमाणुको कथंचित् कार्य रूप भी माना है। देखो त. राजवार्तिक ५-२५-५।

अंत्यद्रव्य कहा जाता है। परमाणु नित्य, सूक्ष्म और किसी एक रस, गंध, वर्ण और दो स्पर्शोंसे सहित होता है। परमाणु आकाशके जितने प्रदेशको घेरता है, उसे जैन शास्त्रोंमें प्रदेश कहा गया है। प्रदेशके दूसरे अंशोंकी कल्पना नहीं हो सकती। जैन सिद्धांतमें धर्म, अधर्म और जीव द्रव्योंमें असंख्यात, कालमें अनन्त, पुद्गलमें संख्यात, असंख्यात, अनंत और कालमें एक प्रदेश माने गये हैं। पुद्गल द्रव्यके प्रदेश पुद्गल-स्कंधसे अलग हो सकते हैं, इस लिये पुद्गलके सूक्ष्म अंशोंको अवयव कहा जाता है। पुद्गल द्रव्यके अतिरिक्त अन्य द्रव्योंके सूक्ष्म अंश अपने अपने स्कंधोंसे पृथक् नही हो सकते, इस लिये अन्य द्रव्योंके सूक्ष्म अंशोंको प्रदेश नामसे कहा गया है[1]। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और मुक्त जीव सदा एक समान अवस्थित रहते हैं, इस लिये इनके प्रदेशोंमें अस्थिरता नहीं होती। पुद्गल द्रव्यके परमाणु और स्कंध अस्थिर, तथा अंतिम महास्कंध स्थिर और अस्थिर दोनों होते हैं।

यद्यपि जीव द्रव्य अखंड है, फिर भी वह असंख्यात प्रदेशी है। जैन दर्शनकी मान्यता है, कि जिस प्रकार गुड़के ऊपर बहुतसी धूल आकर इकट्ठी हो जाती हैं, उसी प्रकार एक एक आत्माके प्रदेशके साथ अनंतानंत ज्ञानावरण आदि कर्मोंके प्रदेशोंका संबंध होता है। संसारी जीवोंके प्रदेश चलायमान रहते हैं। ये प्रदेश तीन प्रकारके होते हैं। विग्रह गतिवाले जीवोंके प्रदेश सदा चल होते हैं, अयोग केवलीके प्रदेश सदा अचल होते हैं, और शेष जीवोंके आठ प्रदेश अचल और बाकी प्रदेश चल होते हैं। यदि जीवमें प्रदेशोंकी कल्पना न की जाय, तो जिस तरह निरंश परमाणुका किसी मूर्तमान द्रव्यके साथ संबंध नहीं हो सकता, उसी तरह आत्माका भी मूर्तिमान शरीरसे संबंध नहीं हो सकता। अतएव जिस समय अमूर्त आत्मा लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर होकर भी मूर्त कर्मोंके संबंधसे कार्माण शरीरके निमित्तसे सूक्ष्म शरीरको धारण करता है, उस समय सूखे चमड़ेकी[2] तरह आत्माके प्रदेशोंमें संकोच होता है, और जिस समय यह आत्मा सूक्ष्म शरीरसे स्थूल शरीरको प्राप्त करता है, उस समय जलमें तेलकी तरह आत्माके प्रदेशोंमें विस्तार होता है। अतएव आत्मा अमूर्त होकर भी संकोच और विस्तार होनेकी अपेक्षा शरीरके परिमाण[3] माना जाता है।

---

[1] अतएव च भेदः प्रदेशानामवयवानां च, ये न जातुचिद् वस्तुव्यतिरेकेणोपलभ्यन्ते ते प्रदेशाः। ये तु विशकलिताः परिकलितमूर्तयः प्रज्ञापथमवतरान्ति तेऽवयवा इति। ५-६ तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ३२८।

[2] शुष्कचर्मवत् प्रदेशानां संहारः। तस्यैव बादरशरीरमधितिष्ठतो जले तैलवद्विसर्पणम् विसर्पः। त. श्लोकवार्तिक ५-१६।

[3] तुलना करो—यथा क्षुरः क्षुरधाने हितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये।

एवमेवैष प्राज्ञ आत्मेदं शरीरमनुप्रविष्ट आलोमेभ्यः आनखेभ्यः—

अर्थात् जिस प्रकार छुरा अपने छुरेके बकसमें और अग्नि चूल्हा, अंगीठी आदि अपने स्थानमें व्याप्त होकर रहते हैं, उसी तरह नखोंसे लगाकर बालों तक यह आत्मा शरीरमें व्याप्त है। कौषीतकी उ० ४-१९।

यदि आत्माको अचेतन द्रव्योंके विकारसे रहित सर्वथा अमूर्त माना जाय, तो आत्मामें ध्यान, ध्येय आदिका व्यवहार नहीं हो सकता, तथा आत्माको मोक्ष भी नहीं मिल सकता। अतएव शक्तिकी अपेक्षा आत्माको अमूर्त मानकर भी व्यक्तिकी अपेक्षा आत्माको मूर्तीक ही मानना चाहिये। इस लिये निश्चय नयसे आत्मा लोकके बराबर असंख्यात प्रदेशोंका धारक है, और व्यवहार नयकी अपेक्षा संकोच और विस्तारवाला है।

इस विषयका स्पष्टीकरण करते हुए अन्य स्थलोंपर जैनशास्त्रोंमें आत्माको नैयायिक, मीमांसक आदि दर्शनोंकी तरह प्रदेशोंकी अपेक्षा व्यापक न मानकर ज्ञानकी अपेक्षा व्यवहार नयसे व्यापक[2] माना गया है। इस सिद्धांतकी रामानुजके सिद्धांतसे तुलना की जा सकती है। रामानुज आचार्यके सिद्धान्तमें भी आत्माको ज्ञानकी अपेक्षा संकोच और विकासशील माना गया है। इस मतमें वास्तवमें अणु-परिमाण[3] आत्मामें संकोच-विकास नहीं होता, किन्तु आत्माके कर्म-बंधकी अवस्थामें संकोच और विकास होता है। विकासकी उत्कृष्ट सीमा कर्म-बंधसे रहित मोक्ष अवस्थामें ही हो सकती है। न्यायकन्दलीकार श्रीधर आचार्यने भी आत्माको सर्व व्यापक मानकर आत्माके बुद्धि आदि गुणोंका शरीरमें ही अस्तित्व माना है[4]।

श्लो. ९ पृ. १०३ पं. १५ केवली समुद्धात—

वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मकी स्थितिसे आयु कर्मकी स्थिति कम रह जानेपर वेदनीय आदि और आयु कर्मोंकी स्थिति बराबर करनेके लिए समुद्धात क्रिया की जाती है। समुद्धात करनेसे अन्तमूहूर्त पहले शुभोपयोग रूप ' आवर्जीकरण ' नामकी एक दूसरी क्रिया होती है। इस क्रियाको श्वेताम्बर साहित्यमें ' आयोजिका करण ' और 'आवश्यक करण' नामसे भी कहा गया है। केवली समुद्धातके प्रथम समयमें आत्माके प्रदेश अपनी देहके बराबर स्थूल दण्डके आकारके होते हैं। आत्म-प्रदेशोंका यह आकार लोकके ऊपरसे नीचे तक चौदह रज्जूके

---

[1] शक्त्या विभुः स इह लोकमितप्रदेशो, व्यक्त्या तु कर्मकृतसौवशरीरमानः।
यत्रैव यो भवति दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवद्विशदमित्यनुमानमत्र॥
यशोविजय-न्यायखंडखाद्य।

[2] निश्चयनयतो लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशप्रमाणः। वा शब्देन तु स्वसंवित्तिसमुत्पन्नकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापकः न च प्रदेशापेक्षया नैयायिकमीमांसकसांख्यमतवत्। ब्रह्मदेव-द्रव्यसंग्रहवृत्ति गा० १०।

[3] स्वयमपरिच्छिन्नमेव ज्ञानं संकोचविकासार्हमित्युपपादयिष्यामः। अतः क्षेत्रज्ञावस्थायां कर्मणा संकुचितस्वरूपं तत्तत्कर्मानुगुणतरतमभावेन वर्तते। श्रीभाष्य १-१-१। प्रो० ध्रुव-स्याद्वादमंजरी पृ० ११६ नोट्स।

[4] पीछे स्याद्वादमंजरी पृ० ९४।

[5] पं. सुखलालजी—चौथा कर्मग्रन्थ, पृ. १५५।

परिमाण होता है। ये आत्म-प्रदेश दूसरे समयमें पूर्व और पश्चिममें कपाट (किवाड़) के आकारके हो जाते हैं। तीसरे समयमें इन प्रदेशोंका आकार फैलकर मन्थान (मथनी) के आकारका हो जाता है। और चौथे समयमें ये समस्त लोकमें व्याप्त हो जाते हैं। इसके बाद पांचवें, छठे, सातवें और आठवें समयमें आत्माके प्रदेश क्रमसे मन्थान, कपाट, दण्डके आकार होकर पूर्ववत् अपने शरीरके बराबर हो जाते हैं। जिस समय मोक्ष प्राप्त करनेमें एक अंतर्मुहूर्तका समय वाकी रह जाता है, उस समय केवली समुद्घात करते हैं। रत्नशेखर सूरि आदि विद्वानोंके मतमें जिस जीवकी आयु छह महीनेसे अधिक है, यदि उसे केवलज्ञान हो जाय, तो वह जीव निश्चयसे समुद्घात करता है। तथा अन्य केवलियोंके समुद्घात करनेके संबंधमें कोई नियम नहीं[1] है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने इस मतका विरोध किया[2] है। समुद्घात करनेके पश्चात् केवली मन, वचन, कायका निरोध करके शैलेशी करण करता हुआ अयोगी होकर पांच ह्रस्व अक्षरोंके उच्चारण करनेके समय मात्रमें मोक्ष प्राप्त करते हैं।

हेमचन्द्र[3], यशोविजय आदि विद्वानोंने उपनिषद, गीता आदि वैदिक ग्रन्थोंमें आत्म व्यापकताका अपने सिद्धांतसे समन्वय करके इसे आत्माके गौरवका सूचक कहकर सम्मानित किया[4] है।

कर्मोंकी स्थितिको शीघ्र भोगनेके लिये जैनसिद्धांतमें समुद्घात क्रियासे मिलती जुलती पातंजल[5]-योगदर्शनमें सोपक्रम आयुके विपाकमें वहुकायनिर्माण क्रिया मानी गई है। यद्यपि सामान्य नियमके अनुसार विना भोगे हुए कर्म करोड़ों कल्पोंमें भी क्षय नहीं हो सकते[6],

---

[1] यः षण्मासाधिकायुष्को लभते केवलोद्गमम्।
करोत्यसौ समुद्घातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा ॥ गुणस्थानक्रमारोहण ९४।

[2] कम्मलहुयाए समओ भिन्नमुहुत्तावसेसओ कालो ॥
अन्ने जहन्नमेयं छम्मासुक्कोसमिच्छंति ॥
तं नाणंतरसेलेसिवयणओ जं च पाडिहेराणं।
पच्चप्पणमेव सुए इहरा गहणंपि होज्जाहि ॥ विशेषावश्यक भा. ३०४८, ३०४९।

[3] देखो योगशास्त्र; तथा लोकपूरणश्रवणादेव हि परेषामात्मविभुत्ववादः समुद्भूतः। तथा चार्थवादः— "विश्वश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो वाहुरुत विश्वतः पात्" इत्यादि। तथा चासौ भवति समीकृतभवोपग्राहिकर्मा विरलीकृतार्द्रशाटिकादिज्ञातेन क्षिप्रं तच्छोषोपपत्तेः। शास्त्रवार्त्तासमुच्चय ९-२१ टीका।

[4] देखो पं. सुखलालजी-चौथा कर्मग्रन्थ पृ. १५६।

[5] पाद ४ सू. २२ तथा पाद ४ सू. ४, ५ का भाष्य और टीका; पं. सुखलालजी—चौथा कर्मग्रन्थ पृ. १५६। तथा तुलना करो—तत्त्वार्थभाष्य २—१५।

[6] तुलना करो यशोविजय—क्लेशहानोपाय-द्वात्रिंशिका; तथा—समाधिसमृद्धिमाहात्म्यात्प्रारब्धकर्मव्यतिरिच्यमानानां कृत्स्नामेव कर्मणां विभिन्नविपाकसमयानामपि कायव्यूहेष्वेकदा भोगेन जीवात्ममहत्वं साधयता क्षयाभ्युपगमेनैव व्याकुप्यंत यतो निरुक्ता भगवती श्रुतिः "अचिन्त्यो हि समाधिप्रभावः"। पं. बालकृष्ण मिश्र प्रणीत न्यायसूत्रवृत्ति पर विषमस्थल तात्पर्यविवृत्ति पृ. २१-२२।

परन्तु जिस प्रकार गीले वस्त्रको फैलाकर सुखानेमें वस्त्र बहुत जल्दी सूख जाता है, अथवा जिस प्रकार सूखे हुए घासमें अग्नि डालनेसे हवाके अनुकूल होनेपर घास बहुत जल्दी जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार जिस समय योगी एक शरीरसे कर्मके फलको भोगनेमें असमर्थ होता है, उस समय वह संकल्प मात्रसे बहुतसे शरीरोंका निर्माण करके ज्ञान-अग्निसे कर्मोंका नाश करता है, इसीको योगशास्त्रमें बहुकाय निर्माणद्वारा सोपक्रम आयुका विपाक कहा है। इन बहुतसे शरीरोंमें कभी योगी लोग एक ही अन्तःकरणसे प्रवृत्ति करते हैं। वायु पुराणमें[1] भी जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंको वापिस खींच लेता है, उसी प्रकार एक शरीरसे एक, दो, तीन आदि अनेक शरीरोंको उत्पन्न करके इन शरीरोंको पीछे खींचनेका उल्लेख मिलता है।

श्लो. ९ पृ. १०२ पं. १५ लोक—

जैन धर्मके अनुसार ऊर्ध्व, मध्य और अधो लोक ये लोकके तीन विभाग किये गये हैं। यह लोक चौदह राजू ऊंचा है। मूलसे सात राजूकी ऊंचाई तक अधो लोक, एक लाख चालीस योजन सुमेरु पर्वतकी ऊंचाईके समान ऊंचा मध्य लोक, और सुमेरु पर्वतसे ऊपर एक लाख चालीस योजन कम सात राजू प्रमाण ऊर्ध्व लोक है। मेरुकी जड़के नीचेसे अधो लोक आरंभ होता है। अधो लोकमें रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमोप्रभा, महातमप्रभा नामके सात नरक हैं। इन नरकोंमें नारकी जीव रहते हैं। इनमें ४९ पटल हैं। नरकोंमें छेदन, भेदन आदि महान भयंकर कष्ट सहने पड़ते हैं। नरकमें अकाल मृत्यु नहीं होती। अधो लोकसे ऊपर एक राजू लम्बा, एक राजू चौड़ा और एक लाख चालीस योजन ऊंचा मध्य लोक है। मध्य लोकके बीचमें एक लाख योजनके विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीपको चारों ओरसे बेड़े हुए लवण समुद्र, लवण समुद्रको धातकीखंड, धातकीखंडको कालोदधि समुद्र, और कालोदधिको बेड़े हुए पुष्करद्वीप है। इसी प्रकार आगे आगे एक दूसरेको बेड़े हुए दूने दूने विस्तारवाले असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। अंतमें स्वयंभूरमण समुद्र है। जम्बूद्वीपमें भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रोंमें गंगा, सिन्धू आदि चौदह नदियां बहती हैं। मनुष्य

---

[1] एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः।
भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येकः पुनस्तु सः॥
तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि। वायुपु. ६६–१४३।
एकधा स द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः॥
योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च।
प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्॥
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव। वायुपु. ६६–१५२।

लोकमें पन्द्रह कर्मभूमि और तीस भोगभूमि हैं। ज्योतिष्क देव भी मध्य लोकमें ही निवास करते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, और तारे ये ज्योतिष्क देवोंके पांच भेद हैं। मेरुसे ऊर्ध्व लोकके अन्त तकके क्षेत्रको ऊर्ध्व लोक कहते हैं। उर्ध्व लोकमें बारह स्वर्ग (दिगम्बरोंकी प्रचलित मान्यताके अनुसार सोलह स्वर्ग) होते हैं। इन स्वर्गोंके ऊपर नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच अनुत्तर विमान हैं। सर्वार्थसिद्धिके ऊपर लोकके अंतमें एक राजू चौड़ी, सात राजू लम्बी, आठ योजन मोटी ईषत्प्राग्भार नामक पृथिवी है। इस पृथिवीके बीचमें पैंतालीस लाख योजन चौड़ी, मध्यमें आठ योजन मोटी सिद्धशिला है। इस सिद्धशिलाके ऊपर तनुवातवलयमें मुक्त जीव रहते हैं।

ब्राह्मण पुराणोंमें भू लोक, अन्तरीक्ष लोक और स्वर्ग लोक ये तीन मुख्य लोक माने गये हैं। इनमें स्वर्ग लोकके महर्लोक, जन लोक, तपोलोक और सत्य लोक ये चार भेद मिलानेसे सात लोक होते हैं। अवीचि नामके नरकसे लगाकर मेरुके पृष्ठभाग तक भू लोक कहा जाता है। अवीचि नरकके ऊपर महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र, अंधतामिस्र ये छह नरक हैं। इन नरकोंके ऊपर महातल, रसातल, तलातल, सुतल, वितल, तलातल, और पाताल ये सात पाताल हैं। इस आठवीं भूमिपर जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर ये सात द्वीप हैं। ये सात द्वीप लवण, सुरा, सर्पि, दधि, दुग्ध, और स्वच्छ जल नामक सात समुद्रोंसे परिवेष्टित हैं। मेरुके पृष्ठ भागसे लेकर ध्रुव तक ग्रह, नक्षत्र और तारोंसे युक्त अन्तरीक्ष लोक है। इसके ऊपर पांच स्वर्ग लोक हैं। पहला माहेन्द्र स्वर्ग है। इस स्वर्गमें त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित, वशवर्ती ये छह प्रकारके देव रहते हैं, जो औपपादिक देहको धारण करते हैं। इसके ऊपर महर्लोक नामके दूसरे स्वर्गमें पांच प्रकारके देव रहते हैं, जो ध्यान मात्रसे तृप्त हो जाते हैं और जिनकी हजार कल्पकी आयु होती है। तीसरा स्वर्ग ब्राह्म स्वर्ग कहा जाता है। इस स्वर्गके जन लोक, तपोलोक और सत्य लोक तीन विभाग हैं। जन लोकमें चार प्रकारके, तपोलोकमें तीन प्रकारके, और सत्य लोकमें चार प्रकारके देव रहते हैं।

बौद्धोंके शास्त्रोंमें नरक लोक, प्रेत लोक, तिर्यक् लोक, मानुष लोक, असुर लोक और देव

---

१ तत्त्वार्थभाष्य आदि ग्रंथोंमें अनुदिशोंका उल्लेख नहीं मिलता।

२ नरकोंके विस्तृत वर्णनके लिये देखो मार्कण्डेयपु. १२–३–३९। मार्कण्डेयपुराणमें सात नरकोंके नाम निम्न प्रकारसे हैं– रौरव, महारौरव, तम, निकृन्तन, अप्रतिष्ठ, असिपत्रवन और तप्तकुंभ। ३ पातालोंके वर्णनके लिये देखो पद्मपु. पातालखण्ड १, २, ३; विष्णुपुराण अ. २, ५। ४ द्वीप-समुद्रोंके विशेष वर्णनके लिये देखो भागवत ५–१६, १७, १८; तथा पद्मपु. भूमिखण्ड भूगोल वर्णन अ. १२८।

५ स्वर्गके वर्णनके लिये देखो नृसिंहपु. अ. ३०; पद्मपु. स्वर्गखण्ड। कौषीतकी उपनिषद्में बताया गया है, कि जीव अग्नि लोक, वायु लोक, वरुण लोक, आदित्य लोक, इन्द्र लोक, प्रजापति लोकमें से होकर ब्रह्म लोकमें जाता है। ब्रह्म लोकके वर्णन के लिये देखो १–२ से आगे।

लोक ये छह लोक माने गये हैं। ये लोक कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु इन तीन विभागोंमें विभक्त हैं। सबसे नीचे नरक लोक है। संजीव, कालसूत्र, संघात, रौरव, महारौरव, तपन, प्रतापन और अवीचि ये आठ मुख्य नरक हैं। इन नरकोंकी लंबाई, चौड़ाई और उंचाई दस हजार योजन है। अवीचि नामका नरक सबसे भयंकर है। इस नरकमें अन्तकल्पकी आयु होती है। नरकोंमें गाढ़ अन्धकार रहता है, और वहांके जीवोंको नाना प्रकारके दारुण दुख सहने पड़ते हैं। मानुष लोकमें जम्बू, पूर्वविदेह, अवरगोदानीय और उत्तरकुरु ये चार महाद्वीप हैं। ये महाद्वीप मेरु, युगन्धर आदि आठ पर्वतोंको परिक्षेपण करते हैं, और इन पर्वतोंके बीचमें सात नदियां बहती हैं। कामधातुमें चातुर्महाराजिक, त्रयस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति, परिनिर्मित और वशवर्ती ये छह प्रकारके देव रहते हैं। इन देवोंमें पहले और दूसरे प्रकारके देव परस्परके संयोगसे और बाकीके देव क्रमसे आलिंगन, हाथका संयोग, हास्य और अवलोकन करनेसे कामका भोग करते हैं। रूपधातुके देवोंमें अहोरात्रिका व्यवहार नहीं होता। अरूपधातुके देव चार प्रकारके होते[1] हैं।

श्लो. ११ पृ. १२५ पं. १२ भवतामपि जिनायतनादिविधाने—

राग-द्वेष युक्त असावधान प्रवृत्तिके द्वारा प्राणोंके नाश करनेको जैन शास्त्रोंमें हिंसा कहा है। संक्षेपमें हम हिंसाके द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा ये दो भेद कर सकते हैं। किसी जीवके अत्यन्त यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने भी यदि उससे सूक्ष्म प्राणियोंका घात हो जाता है, तो वह जीव द्रव्य हिंसा करके भी हिंसक नहीं कहा जा सकता। तथा यदि कोई जीव कषाय आदिके वशीभूत होकर जीवोंको मारनेका संकल्प करता है, परन्तु वह जीवोंको द्रव्य रूपसे नहीं मार सकता है, तो भी उसे हिंसक कहा गया है। इसीलिये कहा है, कि "यह जीव दूसरे जीवोंके प्राणोंको नाश करके भी पापसे युक्त नहीं होता," "तथा जीवोंका नाश हो, अथवा नहीं, लेकिन अयत्नाचारसे प्रवृत्ति करता हुआ यह जीव अवश्य ही हिंसक कहा जाता

---

[1] विस्तृत विवरणके लिये देखो अभिधर्मकोश 'लोकधातुनिर्देश' नामक तृतीय कोशस्थान; अभिधम्मत्थ संगहो परि. ५।

[2] वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते।
शिवं च न परोपमर्दपुरुषस्मृतेर्विद्यते।
वधाय न यमभ्युपैति च परान्न निघ्नन्नपि।
त्वयायमतिदुर्गमः प्रथमहेतुरुद्योतितः॥ सिद्धसेन-द्वा. द्वात्रिंशिका ३–१६।
मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स॥ सर्वार्थसिद्धि पृ २०५।
यत्नती जीवरक्षार्थी तत्पीडापि न दोषकृत्।
अपीडनेऽपि पीडैव भवेदयतनावतः॥ यशोविजय-धर्मव्यवस्था द्वात्रिंशिका २९।

है। " अतएव जैन शास्त्रोंमें गृहस्थको केवल संकल्पसे होनेवाली हिंसाको छोड़नेका उपदेश दिया है। इस लिये पाक्षिक श्रावकको अपनी श्रद्धाके अनुसार जिन मंदिर, जिन विहार, आदि बनानेका विधान है । यद्यपि जिन मंदिर आदिके बनानेमें आरंभजन्य हिंसा होती है, परन्तु इससे महान पुण्यका बंध होता है[1]। जिस प्रकार कोई वैद्य रोगीकी चिकित्सा करते समय रोगीको होनेवाले दुखके कारण पापका उपार्जन न करता हुआ पुण्यका ही भागी होता है, इसी तरह जैन मंदिर, जैन मठ, जैन धर्मशाला, जैन वाटिकागृह आदि बनानेसे जीवोंका महान कल्याण होता है, इस लिये जैन मंदिर आदिके निर्माण करानेमें शास्त्रीय दृष्टिसे दोष नहीं है।

श्लो. ११ पृ. १३७ पं. २० आधाकर्म—

जैन शास्त्रोंमें मुनियोंके लिये निर्दोष आहार ग्रहण करनेका विधान किया गया है। साधारणतः यह आहार छियालीस प्रकारके दोषोंसे और आधाकर्म (अधःकर्म) से रहित होना चाहिए। आहार ग्रहण करनेके समय आधाकर्मको महान दोष कहा गया है। आधाकर्ममें प्राणियोंकी विराधना होती है, इस लिये अधोगतिका कारण होनेसे इसे आधाकर्म कहा जाता है।अथवा मुनिके निमित्तसे बनाये हुए भोजनमें पांच सूनाओंसे प्राणियोंकी हिंसा होती है, इस लिये इसे आधाकर्म कहते हैं। यह सामान्य नियम है। परन्तु यदि कोई मुनि रोग आदिके कारण अपने संयमका निर्वाह करनेमें असमर्थ हो गया है, तो ऐसे आपत्कालमें उस मुनिको शास्त्रमें उद्दिष्ट भोजन ग्रहण करनेकी भी आज्ञा दी गई है। यदि आधाकर्मको सर्वथा अधोगतिका कारण मानकर उससे एकान्त रूपसे कर्मबंध माना जाय, तो मुनिको भोजन न मिलनेके कारण मुनिका आर्तध्यानके द्वारा प्राणान्त होना संभव है। उदाहरणके लिये, जिस मुनिकी आंख दुख रही हैं, वह मुनि पृथ्वीको देखकर न चल सकनेके कारण त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं बचा सकता। वैसे ही यदि रोगादिके कारण साधु उद्दिष्ट भोजनका त्याग नहीं कर सकता, तो वह दोषका भागी नहीं है। अदि आपत्कालमें भी इस प्रकारका अपवाद नियम न बनाया

---

[1] यद्यप्यारंभतो हिंसा हिंसाया पापसंभवः।
तथाप्यत्र कृतारंभो महत्पुण्यं समश्नुते ॥
निरालम्वनधर्मस्य स्थितिर्यस्मात्ततः सताम्।
मुक्तिप्रासादसोपानमाप्तैरुक्तो जिनालयः ॥ अशाधर–सागारधर्मामृत २–३५ टिप्पणी।

[2] अतएवाधोगतिनिमित्तं कर्माधःकर्मेत्यन्वर्थोऽपि घटते। तदेतदधःकर्म गृहस्थाश्रितो निकृष्टव्यापारः। अथवा सूनाभिरङ्गिहिंसनं यंत्रोत्पाद्यमाने भक्तादौ तदधःकर्मेत्युच्यते। आशाधर–अनगारधर्मामृत ५-३ वृत्ति।

[3] आहाकम्माणि भुञ्जंति अण्णमण्णे सकम्मुणा।
उवलित्तेत्ति जाणिज्जा णुवलित्तेत्ति वा पुणो ॥ अभिधानराजेन्द्र कोष भाग २ पृ. २४२।

जाय, तो क्लेशित परिणामोंसे आर्तध्यानसे मरकर साधुको दुर्गतिमें जाना पड़े, इससे और भी अधिक पापका बंध हो। अतएव रोगादिके कारण असामान्य परिस्थितिके उत्पन्न होनेपर साधुको आधाकर्म—उद्दिष्ट भोजन ग्रहण करनेकी आज्ञा शास्त्रोंमें दीगई है। इसी प्रकार सामान्यतः शास्त्रोंमें मुनिके लिये नवकोटिसे विशुद्ध आहार ग्रहण करनेकी आज्ञा है, लेकिन यदि मुनि किसी आपदासे ग्रस्त हो जाय, तो वह केवल पांच कोटिसे शुद्ध आहार ग्रहण करके अपना जीवन यापन कर सकता है।

श्लो. २३ पृ. २७२ पं. ७ द्रव्यषट्कं—

जैन दर्शनकारोंने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य स्वीकार किये हैं। इन छह द्रव्योंमें काल द्रव्यको छोड़कर बाकीके पांच द्रव्योंको पंच अस्तिकायके नामसे कहा जाता है। कुछ श्वेताम्बर विद्वान काल द्रव्यको द्रव्योंमें नहीं गिनते। इस लिये उनके मतमें पांच अस्तिकाय ही पांचं द्रव्य माने गये हैं।

काल शब्द बहुत प्राचीन है। वैदिक विद्वान अघमर्षण ऋग्वेदमें काल शब्दको 'संवत्सर' के अर्थमें प्रयुक्त करते हैं। यहां कालको सृष्टिका संहार करनेवाला कहा गया है। अथर्ववेदमें कालको नित्य पदार्थ माना है, और इस नित्य पदार्थसे प्रत्येक वस्तुकी उत्पत्ति स्वीकार की गई है। बृहदारण्यक, मैत्रायण आदि उपनिषदोंमें भी काल शब्दको विविध अर्थोंमें प्रयुक्त किया है। महाभारतमें कालका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। यहां काल शब्दको दिष्ट, दैव, हठ, भव्य भावितव्य, विहित, भागधेय आदि नाना अर्थोंमें प्रयुक्त किया गया है।

वैदिक और बौद्ध दर्शनोंमें काल संबंधी दो प्रकारकी मान्यतायें दृष्टिगोचर होती हैं। (१) न्याय, वैशेषिकोंका मत है, कि काल एक सर्वव्यापी अखंड द्रव्य है। यह केवल उपाधिसे भिन्न भिन्न क्षण, मुहूर्त आदिके रूपमें प्रतीत होता है। पूर्वमीमांसकोंने भी कालको व्यापक और नित्य स्वीकार किया है। इनके मतमें जिस प्रकार वर्ण नित्य और व्यापक होकर भी दीर्घ, ह्रस्व आदिके रूपसे भिन्न भिन्न प्रतीत होता है, उसी तरह काल भी उपाधिके भेदसे भिन्न मालूम देता है। सर्वास्तिवादी बौद्ध भी भूत, भविष्य और वर्तमान

---

[१] विशेषके लिये देखो अभिधानराजेन्द्र कोष भाग २ पृ. २१९–२४२।

[२] वैशेषिक लोगोंके छह पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय।

[३] भगवती २५-४; उत्तराध्ययन २८–७,८; प्रज्ञापना आदि श्वेताम्बर आगम ग्रंथोंमें काल द्रव्य संबंधी दोनों पक्ष मिलते हैं।

[४] १०-१९०। [५] १९-५३,५४। [६] ४-४-१६। [७] ६-१५। [८] देखो डा. सिद्धेश्वर शास्त्रीका कालचक्र पृ. ३९-४८। काल संबंधी वैदिक मान्यताओंके विस्तृत विवेचनके लिये देखो प्रो. वरुआकी Pre-Buddhist Philosophy भाग ३ अ. १३। कालवादियोंके मतके खण्डनके लिए माध्यमिककारिका, सन्मति टीका आदि ग्रंथ देखने चाहिये।

कालका अस्तित्व मानते हैं (२) काल संबंधी दूसरी मान्यताको माननेवाले सांख्य, योग, वेदान्त, विज्ञानवाद और शून्यवाद मतके अनुयायी हैं। इन लोगोंके अनुसार काल कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। सांख्य विद्वान विज्ञानभिक्षुका कथन है, कि नित्यकाल प्रकृतिका गुण है, और खण्डकाल आकाशकी उपाधियोंसे उत्पन्न होता है। योगशास्त्रमें भी कहा है, कि काल कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है, केवल लौकिक व्यवहारके लिए दिन, रात आदिका विभाग किया जाता है। यहां केवल क्षणको काल नामसे कहा गया है। यह क्षण उत्पन्न होते ही नाश हो जाता है, और फिर दूसरा क्षण उत्पन्न होता है। क्षणोंका समुदाय एक कालमें नहीं हो सकता, इस लिये क्षणोंके क्रम रूप जो काल माना जाता है, वह केवल कल्पित है। शांकर वेदान्ती लोग केवल ब्रह्मको ही सत्य मानते हैं। इस लिये इनके मतमें काल भी काल्पनिक वस्तु है। शंकरकी तरह रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ सम्प्रदायवालोंने भी कालको वास्तविक पदार्थ स्वीकार नहीं किया। शांतरक्षित आदि बौद्ध आचार्य भी काल द्रव्यका पृथक् अस्तित्त्व स्वीकार नहीं करते। पाश्चात्य विद्वान भी उक्त काल संबंधी दोनों सिद्धान्तोंको मानते हैं।

जैन ग्रंथोंमें काल संबंधी उक्त दोनों प्रकारकी मान्यतायें उपलब्ध होती हैं। (१) एक पक्षका कहना है, कि काल कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। जीव और अजीव द्रव्योंकी पर्यायके परिणमनको ही उपचारसे काल कहा जाता है, इस लिये जीव, अजीव द्रव्योंमें ही काल द्रव्य गर्भित हो जाता है। (२) जैन विद्वानोंका दूसरा मत है, कि जीव और अजीवकी तरह काल भी एक स्वतंत्र द्रव्य है। इस पक्षका कहना है, कि जिस प्रकार जीव और अजीवमें गति और स्थितिका स्वभाव होनेपर भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायको पृथक् द्रव्य माना जाता है, उसी प्रकार कालको भी स्वतंत्र द्रव्य मानना चाहिये। यह मान्यता श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ग्रंथोंमें मिलती हैं[३]।

---

[१] तत्त्वसंग्रह पृ. २०९।

[२] अत्राहुः केऽपि जीवादिपर्याया वर्तनादयः।
काल इत्युच्यते तज्ज्ञैः पृथग् द्रव्यं तु नास्त्यसौ ॥ लोकप्रकाश २८–५।

दिगम्बर ग्रंथोंमें काल द्रव्यको स्वीकार न करनेका पक्ष कहीं उपलब्ध नहीं होता। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है, कि यहां व्यवहार कालको निश्चय कालकी पर्याय स्वीकार करके व्यवहार कालको जीव और पुद्गलका परिणाम माननेका उल्लेख मिलता है–यस्तु निश्चयकालपर्यायरूपो व्यवहारकालः स जीवपुद्गलपरिणामेनाभिव्यज्यमानत्वात्तदायत्त एवाभिगम्यत इति। अमृतचन्द्र–पंचास्तिकाय टीका गा. २३।

[३] इस पक्षकी चार मान्यताओंका उल्लेख पं. सुखलालजीने 'पुरातत्व' के किसी अंकमें किया है—(क) काल एक और अणु मात्र है; (ख) काल एक है, लेकिन वह अणु मात्र न होकर मनुष्य क्षेत्र लोकवर्ती है; (ग) काल एक और लोकव्यापी है; (घ) काल असंख्य हैं, और सब परमाणु मात्र हैं।

जैन शास्त्रोंमें काल संबंधी मान्यता

सामान्य रूपसे जैन शास्त्रोंमें कालके दो भेद माने हैं—निश्चय काल (द्रव्य रूप) । और व्यवहार काल (पर्याय रूप) । जिसके कारण द्रव्योंमें वर्तना होती है, उसे निश्चय काल कहते हैं । जिस प्रकार धर्म और अधर्म पदार्थोंकी गति और स्थितिमें सहकारी कारण हैं, उसी प्रकार काल भी स्वयं प्रवर्तमान द्रव्योंकी वर्तनामें सहकारी कारण है । जिसके कारण जीव और पुद्गलमें परिणाम, क्रिया, छोटापन, बड़ापन आदि व्यवहार हों, उसे व्यवहार काल कहते हैं । समय, आवली, घड़ी, घंटा आदि सब व्यवहार कालका ही रूप है । व्यवहार काल निश्चय कालकी पर्याय है, और यह जीव और पुद्गलके परिणामसे ही उत्पन्न होता है, इस लिये व्यवहार कालको जीव और पुद्गलके आश्रित माना गया है ।

व्यवहार काल मनुष्य क्षेत्रमें ही होता है । निश्चय काल द्रव्य रूप होनेसे नित्य है, और व्यवहार काल क्षण क्षणमें नष्ट होनेके कारण पर्याय रूप होनेसे अनित्य कहा जाता है । काल द्रव्य अणु रूप हैं । पुद्गल द्रव्यकी तरह काल द्रव्यके स्कंध नहीं होते । जितने लोकाकाशके प्रदेश होते हैं, उतने ही कालाणु होते हैं । ये एक एक कालाणु गति रहित होनेसे लोकाकाशके एक एक प्रदेशके ऊपर रत्नोंकी राशिकी तरह अवस्थित हैं । काल द्रव्यके अणु होनेसे कालमें एक ही प्रदेश रहता है, इस लिये काल द्रव्यमें तिर्यक्-प्रचय न होनेसे कालको पांच अस्तिकायोंमें नहीं गिनाया । आकाशके एक स्थानमें मन्द गतिसे चलनेवाला परमाणु लोकाकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक जितने कालमें पहुंचता है, उसे समय कहते हैं । यह समय बहुत सूक्ष्म होता है, और प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होनेके कारण इसे पर्याय कहते हैं । एक एक कालाणुमें अनंत समय होते हैं । ये कालाणुके अनंत समय व्यवहार नयकी अपेक्षा समझने चाहिये, वास्तवमें काल द्रव्य (निश्चय काल) लोकाकाशके बराबर

---

१ प्रो. ए. चक्रवर्तीने काल द्रव्यकी इस मान्यताकी आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तसे तुलना की है —

The author differentiates between relative time and absolute time. The distinction is quite identical with Newtonian distinction between relative and absolute time.......The author not only admits the reality of time but also recognises its potency. In this respect one is reminded of the great French philosopher Bergson. Bergson has revealed to the world that time is a potent factor in the evolution of Cosmos......... It is also worth noticing that modern realist led by the mathematical Philosophers admits the doctrine that time is real and is made up of instants or moments. Pañchāstikāya sāra पृ. १०५, १०९, २२ ।

असंख्य प्रदेशोंका धारक है, उसे आकाश आदिकी तरह एक और पुद्गलकी तरह अनंत नहीं मान सकते। यह मत दिगम्बर ग्रन्थोंमें और हेमचन्द्रके योगशास्त्रमें मिलता है।

---

१ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें कालाणुके असंख्य प्रदेश नहीं माने गये हैं। कालाणुओंके असंख्यात प्रदेशोंका खंडन युक्तिप्रबोध आदिमें किया गया है—

यत्तु कालाणूनामसंख्यातत्वं मतान्तरीयैः प्रपन्नं तदनुपपन्नं। द्रव्यत्वव्याहतेः। यद् यद् द्रव्यं तदेकमनन्तं वा। यदुक्तमुत्तराध्ययनसूत्रे—

'धम्मो अहम्मो आगासं दव्वं एक्केक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि कालो पोग्गलजंतुणो॥'

प्रत्याकाशप्रदेशं तन्मते कालाणुस्वीकारे शेषद्रव्याणामिवैतदीयस्तिर्यक्प्रचयोऽपि स्यात्। स चानिष्टः। यतो गोम्मटसारवृत्तौ सूत्रे च—

दव्वच्छक्कमकालं पंचत्थिकायसण्णियं होई।
काले पदेसए चउ जम्मा णत्थित्ति णिद्दिट्ठं॥ ६०७॥

कालद्रव्ये प्रदेशप्रचयो नास्तीत्यर्थः। न च अप्रदेशत्वान्न तिर्यक्प्रचय इति वाच्यं। पुद्गलस्यापि तदभावप्रसंगात्। प्रदेशमात्रत्वं अप्रदेशमिति तल्लक्षणस्य तत्रापि विद्यमानत्वात्। अथ पुद्गलस्यास्ति अप्रदेशत्वं द्रव्येण परं पर्यायेण तु अनेकप्रदेशत्वमप्यस्ति। कालस्य तु नैतदिति चेत्। न। अनेनापि प्रसंगापराकरणात्। न हि निर्धूमत्वेन पर्वतेऽग्निमत्वे प्रसज्यमाने यत्किंचिद्धर्माभावे तदभावः प्रतीयते इति स्थितं तिर्यक्प्रचयप्रसंगेन। न चैतत् समयद्रव्याणामानन्त्येऽपि तुल्यं। तदानन्त्यस्य अतीतानागतापेक्षया स्वीकारात्। यदुक्तमुत्तराध्ययने—'एमेव संतइं पप्प' इति। तद्वृत्तौ वादिवैतालापरनामधेयाः श्रीशांतिसूरयोऽप्याहुः—'कालस्यानन्त्यमतीतानागतापेक्षया' इति। श्रीभगवतीवृत्तौ श्रीअभयदेवसूरयोऽपि—एको धर्मास्तिकायप्रदेशोऽद्धासमयैः स्पृष्टश्चेन्नियमादनन्तैः अनादित्वादाद्धसमयानाम्' इति। मेघविजयगणि—युक्तिप्रबोध गा. २३ पृ. १८९।

२ मेघविजयगणि योगशास्त्रमें वर्णन किये हुए काल द्रव्यके सिद्धांतसे श्वेताम्बर मान्यताका समन्वय करते हैं—

एतेन योगशास्त्रावान्तरश्लोकेषु—"लोकाकाशप्रदेशस्था भिन्नाः कालाणवस्तु ये।
भावानां परिवर्ताय मुख्यः कालः स उच्यते।
ज्योतिःशास्त्रे यस्य मानमुच्यते समयादिकम्।
स व्यावहारिकः कालः कालवेदिभिरामतः॥
नवजीर्णादिभेदेन यदमी भुवनोदरे।
पदार्थाः परिवर्त्तन्ते तत्कालस्यैव चेष्टितम्॥
वर्तमाना अतीतत्वं भाविनो वर्तमानतां।
पदार्थाः प्रतिपद्यन्ते कालक्रीडाविडम्बिताः॥"

इत्यादिना कालाणवः परस्परं विविक्ताः प्रतिपादितास्ते पर्यायरूपा इत्युक्तं। न तु तेषां द्रव्यरूपत्वं। अनंतसमयस्वरूपत्वेन तद्विशेषणस्य सूत्रणात्। आगमेऽपि अनंतद्रव्यत्वेन कथनाच्च। यद्यनंतसमयाः द्रव्यसमया इत्यर्थः तदा व्याहतिः स्पष्टैव, कालाणूनां द्रव्यत्वे तेषामसंख्यातत्वात्। युक्तिप्रबोध गा. २३ पृ. १९५; द्रव्यानुयोगतर्कणा ११-१५।

शंका—समय रूप ही निश्चय काल है, इसको छोड़कर कालाणु द्रव्य रूप कोई निश्चय काल नहीं देखा जाता। **समाधान**—समय कालकी ही पर्याय है, क्योंकि वह उत्पन्न और नाश होनेवाला है। जो पर्याय होता है, वह द्रव्यके विना नहीं होता। जिस प्रकार घट रूप पर्यायका कारण मिट्टी है, उसी तरह समय, मिनिट, घंटा आदि पर्यायोंके कारण कालाणु रूप निश्चय कालको मानना चाहिये।

शंका—समय, मिनिट आदि पर्यायोंका कारण द्रव्य नहीं है, किन्तु समयकी उत्पत्तिमें मन्दगतिसे जाने वाले पुद्गल-परमाणु ही समय आदिका कारण हैं। जिस प्रकार निमेष रूप काल पर्यायकी उत्पत्तिमें आंखोंके पलकोंका खुलना और बन्द होना कारण है, इसी तरह दिन रूप पर्यायकी उत्पत्तिमें सूर्य कारण है। **समाधान**—हमेशा कारणके समान ही कार्य हुआ करता है। यदि आंखोंका खुलना और बन्द होना तथा सूर्य आदि निमेष तथा दिन आदिके उपादान कारण होते, तो जिस प्रकार मिट्टीके बने हुए घड़ेमें मिट्टीके रूप, रस आदि गुण आ जाते हैं, उसी तरह आंखोंका खुलना, बन्द होना आदि पुद्गल परमाणुओंके गुण निमेष आदिमें आ जाने चाहिये। परन्तु निमेष आदिमें पुद्गलके गुण नहीं पाये जाते। इस लिये समय आदिका कारण निश्चय कालको मानना चाहिये।

शंका—यदि आप कालाणु द्रव्योंको लोकाकाश व्यापी मानकर उन्हें लोकाकाशके बाहर अलोकाकाशमें व्याप्त नहीं मानते, तो आकाश द्रव्यमें किस प्रकार परिवर्तन होता है। **समाधान**—लोकाकाश और अलोकाकाश दो अलग अलग द्रव्य नहीं हैं। वास्तवमें आकाश एक अखंड द्रव्य है, केवल उपचारसे लोकाकाश और अलोकाकाशका व्यवहार होता है। अतएव जिस प्रकार एक स्पर्शन इंद्रियको विषयसुखका अनुभव होनेसे वह अनुभव सम्पूर्ण शरीरमें होता है, उसी तरह कालाणु द्रव्यके लोकाकाशमें एक स्थानपर रहकर सम्पूर्ण आकाशमें परिणमन होता है, इस लिये काल द्रव्यसे अलोकाकाशमें भी परिणमन सिद्ध होता है।

शंका—काल द्रव्य धर्म, अधर्म आदि द्रव्योंकी तरह निरवयव अखंड क्यों नहीं। काल द्रव्यको अणु रूप क्यों माना है। **समाधान**—काल दो प्रकारका है—व्यवहार और मुख्य। मुख्य काल अनेक हैं, कारण कि आकाशके प्रत्येक प्रदेशोंमें व्यवहार काल भिन्न भिन्न रूपसे होता है। यदि व्यवहार कालको आकाशके प्रत्येक प्रदेशमें भिन्न भिन्न न माना

---

१ द्रव्यतस्तु लोकाकाशप्रदेशपरिमाणकोऽसंख्येय एव कालो मुनिभिः प्रोक्तो न पुनरेक एवाकाशादिवत्। नाप्यनंतः पुद्गलात्मद्रव्यवत् प्रतिलोकाकाशप्रदेशं वर्तमानानां पदार्थानाम् वृत्तिहेतुत्वसिद्धेः। त. श्लोकवार्तिक ५–४०। तुलना करो—न च कालद्रव्यस्य समय इति परिभाषा न युक्ता, समयस्य पर्यायत्वादिति वाच्यं। श्वेताशाम्बरद्वयनयेऽपि सांमत्यात्। यदुक्तं तत्त्वदीपिकायां प्रवचनसारवृत्तौ श्री अमृतचन्द्रैः—'अनुत्पन्नविध्वस्तो द्रव्यसमयः, उत्पन्नप्रध्वंसी पर्यायसमयः'। युक्तिप्रबोध गा. २३ पृ. १८९।

२ विशेष विवेचनाके लिये देखो द्रव्यसंग्रह २१, २२, २५, गाथाकी वृत्ति; द्रव्यानुयोगतर्कणा ११-१४ से आगे; युक्तिप्रबोध कालद्रव्य प्रकरण।

जाय, तो कुरुक्षेत्र, लंका आदिके आकाश प्रदेशोंमें दिन आदिका व्यवहार नहीं हो सकता। इस लिये व्यवहार कालके आकाशके प्रदेशोंमें भिन्न भिन्न होनेसे निश्चय काल भी कालाणु रूपसे भिन्न भिन्न सिद्ध होता है। क्योंकि निश्चय कालके विना व्यवहार काल नहीं होता[1] ।

श्लो. २३ पृ. २७४ पं. १६ **द्वादशांग**---

श्रुतज्ञानके दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। सर्वज्ञ भगवानके कहे हुए प्रवचनके गणधरोंद्वारा शास्त्र रूपमें लिखे जानेको अंगप्रविष्ट कहते हैं। इसके बारह भेद हैं। इसे ही द्वादशांग कहते हैं। द्वादशांगको गणिपिटक भी कहा जाता है। जैन द्वादशांगके मूल उपदेष्टा ऋषभदेव माने जाते हैं। द्वादशांग—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति), ज्ञातधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपादिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। दिगम्बरोंकी मान्यताके अनुसार यह साहित्य लुप्त होगया है। श्वेताम्बर आम्नायमें दृष्टिवादको छोड़कर ग्यारह अंग आज कल भी उपलब्ध हैं।

आचारांग—इसमें मुनियोंके आचारका वर्णन है। इसमें दो श्रुत स्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंधमें आठ और द्वितीय श्रुतस्कंधमें सोलह अध्ययन हैं। द्वितीय श्रुतस्कंधमें महावीरका जीवन चरित्र है। प्रो. जैकोबी आदि विद्वानोंका मत है, कि आचारांग सूत्र सब सूत्रोंसे प्राचीन है। इस अंगको प्रवचनका सार भी कहा जाता है। इसके ऊपर भद्रबाहूकी निर्युक्ति और शीलांककी टीका है।

सूत्रकृतांग—सूत्रकृतांगमें साधुओंकी चर्या और अहिंसा आदिका वर्णन है। इसमें क्रियावादी, अक्रियावादी, वैनयिक, अज्ञानवादी अनेक मतोंकी समीक्षाके साथ ब्राह्मणोंके यज्ञ-याज्ञ आदिकी निन्दा की गई है, इस लिए यह अंग ऐतिहासिक महत्त्वका है। इसमें दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध श्लोकोंमें है। इसमें सोलह अध्ययन हैं। द्वितीय श्रुतस्कंध गद्यमें है। इसमें

---

[1] प्रमेयकमलमार्त्तंड परि. ४ पृ. १६९।

[2] द्वादशांगमें बारह उपांग, दस प्रकीर्णक, छह छेदसूत्र, दो चूलिकासूत्र और चार मूलसूत्रको मिलानेसे मूर्तिपूजक श्वेताम्बरोंके कुल ४५ आगम होते हैं। बारह उपांग—१ औपपातिक, २ राजप्रश्नीय, ३ जीवाजीवाभिगम, ४ प्रज्ञापना, ५ सूर्यप्रज्ञप्ति, ६ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ७ चन्द्रप्रज्ञप्ति, ८ निरयावली, ९ कल्पावतंसिका, १० पुष्पिका, ११ पुष्पचूलिका, १२ वृष्णिदशा। दस प्रकीर्णक—१ चतुःशरण, २ आतुरप्रत्याख्यान, ३ भक्तपरिज्ञा, ४ संस्तार, ५ तंदुलवेतालिक, ६ चंदाविज्झय, ७ देवेन्द्रस्तव, ८ गणिविद्या, ९ महाप्रत्याख्यान, १० वीरस्तव। छह छेदसूत्र—१ निशीथ, २ महानिशीथ, ३ व्यवहार, ४ आचारदशा, (दशाश्रुतस्कंध अथवा दशा), ५ बृहत्कल्प, ६ पंचकल्प (जीतकल्प)। चूलिकासूत्र—अनुयोगद्वार, २ नन्दिसूत्र। चार मूलसूत्र—१ उत्तराध्ययन, २ आवश्यक, ३ दशवैकालिक, ४ पिंडनिर्युक्ति (ओघनिर्युक्ति)।

सात अध्ययन हैं। इसपर भद्रबाहूकी निर्युक्ति और शीलांककी टीका है। दिगम्बरोंके अनुसार इसमें ज्ञान, विनय, प्रज्ञापना आदि व्यवहार धर्मकी क्रियाओंका वर्णन है।

स्थानांग—इसमें बौद्धोंके अंगुत्तरनिकायकी तरह एकसे लेकर दस तक जीव आदिके स्थान बताये गये हैं। इसमें द्रव्योंके स्वरूप आदिका विस्तृत वर्णन है। स्थानांगमें दस अध्याय हैं। इसपर अभयदेव सूरिकी टीका है। दिगम्बरोंके अनुसार इस अंगमें दसकी मर्यादा नहीं है।

समवायांग—इसमें एकसे लगाकर कोड़ाकोड़ि स्थान तककी वस्तुओंका वर्णन है। यहां बारह अंग और चौदह पूर्वोंका वर्णन मिलता है। इस अंगमें पन्द्रह प्रकारकी ब्राह्मी लिपी, उत्तराध्ययनके छत्तीस अध्ययन तथा नान्दिसूत्रका उल्लेख किया गया है। विद्वानोंका अनुमान है, कि यह सूत्र द्वादशांगके सूत्रवद्ध होनेके बाद लिखा गया है। इसपर अभयदेव सूरिकी टीका है। दिगम्बरोंके अनुसार इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार पदार्थोंके सादृश्यका (समवाय) कथन है।

भगवती—इसे व्याख्याप्रज्ञप्ति भी कहते हैं। इस सूत्रमें ४१ शतक हैं। इसमें महावीर और गौतम इन्द्रभूतिके बीचमें होनेवाले छत्तीस हजार प्रश्नोत्तरोंका वर्णन है। इस अंगमें महावीरका जीवन, उनकी प्रवृत्ति, उनके शिष्य, उनके अतिशय आदि विषयोंका विशद वर्णन पाया जाता है। भगवतीमें पार्श्वनाथ, जामालि और गोशाल मक्खलिपुत्तके शिष्योंका वर्णन है। इसपर अभयदेव सूरिकी टीका है। दिगम्बरोंके अनुसार इसमें जीव है, या नहीं, वह अवक्तव्य है, अथवा वक्तव्य, आदि साठ हजार प्रश्नोंके उत्तर हैं।

ज्ञातधर्मकथा—इसे संस्कृतमें ज्ञातृधर्मकथा, नाथधर्मकथा, तथा प्राकृतमें णाणधम्मकहा और णाहधम्मकहा भी कहते हैं। इसमें उन्नीस अध्ययन और दो श्रुतस्कंध हैं। इसमें धर्मकथाओंका उदाहरण सहित वर्णन है। प्रथम श्रुतस्कंधके सातवें अध्यायमें पन्द्रहवें तीर्थंकर मल्लिकुमारीकी और सोलहवें अध्यायमें द्रोपदीकी कथा है। इसपर अभयदेव सूरिने टीका लिखी है। दिगम्बरोंके अनुसार इसमें तीर्थंकरोंकी कथायें अथवा आख्यान-उपाख्यानोंका वर्णन है।

उपासकदशा—इसमें दस अध्ययनोंमें दस उपासकों (श्रावकों) की कथाका वर्णन है। ये दस कथायें सुधर्मा जम्बूस्वामीको कहते हैं। यहां सातवें अध्यायमें गोशाल मक्खलिपुत्तके अनुयायी सद्दालपुत्तकी कथा आती है। यह सद्दालपुत्त पीछेसे महावीरका अनुयायी हो गया था। उपासकदशामें अजातशत्रू राजाके नामका उल्लेख आता है। इसपर अभयदेवकी टीका है। दिगम्बर ग्रन्थोंमें इसे उपासकाध्ययन कहा गया है।

अन्तकृद्दशा—इसमें दस अध्यायोंमें मोक्षगामी साधु और साध्वियोंका वर्णन है। इसपर अभयदेवने टीका लिखी है। दिगम्बर ग्रन्थोंमें इस अंगमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें दारुण उपसर्ग सहकर मोक्ष प्राप्त करनेवाले दस मुनियोंका वर्णन है।

अनुत्तरौपपादिकदशा—इसमें अनुत्तर विमानोंको प्राप्त करनेवाले मुनियोंका वर्णन है। यहां कृष्णकी कथा मिलती है। इसपर भी अभयदेवकी टीका है।

प्रश्नव्याकरण—इसे प्रश्नव्याकरण दशा भी कहते हैं। इसमें दस अध्याय हैं। यहाँ पांच आश्रव द्वार और पांच संवर द्वारका वर्णन किया गया है। टीकाकार अभयदेव सूरि हैं। दिगम्बरोंके अनुसार इसमें आक्षेप और विक्षेपसे हेतु नयाश्रित प्रश्नोंका स्पष्टीकरण है।

विपाकसूत्र—इसमें वीस अध्ययन हैं। बहुतसे दुखी मनुष्योंको देखकर इन्द्रभूति महावीरसे उन मनुष्योंके पूर्व भवोंको पूछते हैं। महावीर मनुष्योंके सुख-दुखके विपाकका वर्णन करते है। इसमें दस कथा पुण्य फलकी, और दस कथायें पाप फलकी पायी जाती हैं। इसपर अभयदेव सूरिका टीका है।

दृष्टिवाद—इसमें अन्य दर्शनोंके ३६३ मतोंका वर्णन था। यह सूत्र लुप्त हो गया है। चौदह पूर्व इसीके भीतर गर्भित हैं। इसके पांच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। श्वेताम्बरोंके अनुसार **परिकर्म**के सात भेद हैं—सिद्धसेणिआ, मणुस्ससेणिआ, पुट्ठसेणिआ, ओगाढ़सेणिआ, उपसंपज्जणसेणिआ, विप्पजहणसेणिआ, चुआचुअसेणिआ। इसमें पहले दोके चौदह चौदह, और पीछेके पांचके ग्यारह ग्यारह अवान्तर भेद होनेसे परिकर्मके कुल ८३ भेद होते हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें परिकर्मके पांच भेद किये गये हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। **सूत्र** बाईस हैं। बाईस सूत्रोंके चार चार भेद होनेसे सब सूत्र अठासी होते हैं। **पूर्वगत**के चौदह भेद हैं—उत्पाद, अग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशाल और लोकविन्दुसार। **अनुयोग**के दो भेद हैं—मूल प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग। अनुयोगको दिगंबर ग्रंथोंमें प्रथमानुयोगके नामसे कहा है। **चूलिका**—श्वेतांबरोंके अनुसार चौदह पूर्वोमें केवल पहले चार पूर्वोंमें ही चूलिका हैं। पहले पूर्वकी चार, दूसरे पूर्वकी बारह, तीसरेकी आठ और चौथे पूर्वकी दस चूलिकायें हैं। दिगम्बर ग्रंथोंमें चूलिकाके पांच भेद मिलते हैं—जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता।

अंगवाह्य—गणधरोंके पीछे होनेवाले आचार्य अल्प शक्तिवाले शिष्योंके लिये अंगवाह्यकी रचना करते हैं। अंगवाह्य अनेक प्रकारका है। श्वेताम्बर ग्रंथोंमें अंगवाह्यके दो भेद किये गये हैं—आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त। आवश्यकके छह भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। आवश्यक व्यतिरिक्तके दो भेद हैं—कालिक और उत्कालिक। उत्तराध्ययन आदि छत्तीस ग्रंथ कालिक, और दशवैकालिक

---

[1] तत्त्वार्थभाष्यमें ऋषियोंके कहे हुए कपिल आदि प्रणीत ग्रंथोंको भी अंगवाह्य कहा गया है।

आदि उनतीस ग्रंथ उत्कालिक हैं। दिगम्बर ग्रंथोंमें अंगबाह्यके चौदह भेद हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक और निषिद्धिका।

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार पहले पहल ये आगम ग्रंथ ईसवी सन् पूर्व ३०० में स्थूलभद्रके अधिपतित्वमें पाटलिपुत्रमें होनेवाली परिषद्में संग्रह किये गये थे। उसके बाद ईसाकी छठी शताब्दिके आरंभमें देवर्धिगणिने वल्लभीमें इनको संशोधन करके लिखा। प्रो. जैकोबी, प्रो. विन्टरनीज़ आदि यूरोपीय विद्वानोंका मत है, कि ये सम्पूर्ण आगम ग्रंथ एक समयमें नहीं लिखे गये हैं। किन्तु भिन्न भिन्न आगमोंका भिन्न भिन्न समय है। इस लिये आगमका प्राचीनतम भाग महावीरके निर्वाण जानेके दो सौ बरस बाद अर्थात् ईसाके पूर्व तीसरी शताब्दिके आरंभमें, तथा आगमका सबसे अर्वाचीन भाग ईसाकी छठी शताब्दिमें देवर्धिगणि क्षमाश्रमणके कालमें लिखा गया है।

श्लो. २७ पृ. ३०६ पं. ९ प्राण—

प्राण शब्द वैदिक शास्त्रोंमें विविध अर्थोंमें प्रयुक्त किया गया है। कहीं प्राण शब्दका प्रयोग आत्माके अर्थमें, कहीं इन्द्रके अर्थमें, कहीं सूर्यके अर्थमें, कहीं सामके अर्थमें इस तरह इस शब्दका प्रयोग नाना अर्थोंमें पाया जाता है। एक जगह उपनिषदोंमें प्राणको आत्माका कार्य कहा है, दूसरी जगह आत्मासे प्राणकी उत्पत्ति बताई गई है। कहीं प्राणको प्रज्ञा कहा गया है, और कहीं प्राण शब्दको मृत्युके पश्चात् जानेवाले सूक्ष्म शरीरका पर्यायवाची बताया गया है। वेदान्ती लोगोंने प्राणको ब्रह्मका पर्यायवाची माना है।

जैन सिद्धान्तमें 'प्राण' एक पारिभाषिक शब्द है। गोम्मटसार जीवकाण्डमें 'प्राण' अधिकार ही अलग है। जिसके द्वारा जीव जीता है, उसे प्राण कहा जाता है। प्राणके दो भेद हैं—द्रव्य प्राण और भाव प्राण। आंखोंका खोलना, बंद करना, श्वासोच्छ्वास लेना, काय-व्यापार आदि बाह्य द्रव्य इन्द्रियोंके व्यापारको द्रव्य प्राण कहते हैं। तथा इन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे होनेवाली चैतन्य रूप आत्माकी प्रवृत्तिको भाव प्राण कहते हैं। ये प्राण दस होते हैं—पांच इंद्रिय, मन, वचन और कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु। एकेन्द्रिय जीवके चार, और संज्ञी पंचेंद्रियके बारहवें गुणस्थान तक दसों प्राण होते हैं। तेरहवें गुणस्थानमें वचन, श्वासोच्छ्वास, आयु और कायबल ये चार प्राण होते हैं। आगे चलकर इसी गुणस्थानमें वचनबलका अभाव होनेसे तीन, और श्वासोच्छ्वासका अभाव होनेसे दो प्राण रह जाते हैं। चौदहवें गुणस्थानमें कायबलका भी अभाव होनेसे केवल एक आयु प्राण अवशेष रह जाता है।

---

[१] देखो प्रो. विन्टरनीज़ (Winternitz) की A History of Indian literature Vol. II, p. 435,51.

सिद्ध जीवोंके मोक्षावस्थामें शरीर नहीं रहता, अतएव सिद्धोंके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि भाव प्राण माने गये हैं। अतएव संसारी जीव द्रव्य प्राणोंकी अपेक्षा, और सिद्ध जीव भाव प्राणोंकी अपेक्षासे जीव कहे जाते हैं।

श्लो. २८ पृ. ३२१ पं. २४ ज्ञानके भेद—

ज्ञानके दो भेद हैं—सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान। सम्यग्ज्ञानके दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्द्रिय आदि सहायताके विना केवल आत्माके अवलम्बनसे पदार्थोंके[1] स्पष्ट जाननेको प्रत्यक्ष, और इन्द्रिय आदिकी सहायतासे पदार्थोंके अस्पष्ट ज्ञान करनेको परोक्ष ज्ञान कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञानके दो भेद हैं—सांव्यवहारिक[2] और पारमार्थिक। वाह्य इन्द्रिय आदिकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको सांव्यवहारिक[3] प्रत्यक्ष कहते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—इन्द्रियोंसे होनेवाला और मनसे होनेवाला। इन्द्रिय[4]जन्य प्रत्यक्ष और अनिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष दोनोंके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार चार भेद[5] हैं। इन्द्रिय और मनके निमित्तसे दर्शनके वाद होनेवाले ज्ञानको अवग्रह कहते हैं। अवग्रहके जाने हुए पदार्थमें विशेष इच्छा रूप ज्ञानको ईहा कहते हैं। जैसे वगुलोंकी पंक्ति और पताकाको देखकर यह ज्ञान होना, कि यह पताका होनी चाहिये। ईहाके वाद

---

[1] जैनेतर दर्शनकारोंने इन्द्रियजनित ज्ञानको प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय ज्ञानको परोक्ष कहा है।

[2] नन्दिसूत्रमें प्रत्यक्षके इन्द्रिय प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष ये दो भेद किये गये हैं। यहाँ पहले तो मतिज्ञानको इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अवधि आदि तीनको नोइंद्रिय प्रत्यक्षमें शामिल किया गया है, और आगे चलकर मतिज्ञानको श्रुतज्ञानकी तरह परोक्ष कहा गया है। अनुयोगद्वारसूत्रमें प्रत्यक्षके दो भेद करके एक भागमें मतिज्ञानको और दूसरेमें अवधि आदि तीनको गर्भित किया गया है। देखो पं० सुखलालजी-न्यायावतार भूमिका (गुजराती)। तथा तुलना करो—अत्राह शिष्यः—"आद्येपरोक्षम्" इति तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वयं परोक्षं भणितं तिष्ठति कथं प्रत्यक्षं भवति। परिहारमाह—तदुत्सर्गव्याख्यानम्। इदं पुनरपवादव्याख्यानम्। यदि तदुत्सर्गव्याख्यानम् न भवति तर्हि मतिज्ञानं कथं तत्त्वार्थे परोक्षं भणितं तिष्ठति। तर्कशास्त्रे सांव्यावहारिकं प्रत्यक्षं कथं जातं। यथा अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानं तथा स्वात्माभिमुखं भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं सत्प्रत्यक्षं भण्यते। ब्रह्मदेव-द्रव्यसंग्रहवृत्ति ५।

[3] सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष वास्तवमें परोक्ष ही है—तद्धीन्द्रियानिन्द्रियव्यवहितात्मव्यापारसंपाद्यत्वात्परमार्थतः परोक्षमेव धूमादग्निज्ञानवद् व्यवधानाविशेषात्। किं चासिद्ध्यनेकान्तिकविरुद्धानुमानाभासवत्संशयविपर्ययानध्यवसायसंभवात्सदनुमानवत्संकेतस्मरणादिपूर्वकनिश्चयसंभवाच्च परमार्थतः परोक्षमेवैतत्। यशोविजय–जैनतर्कपरिभाषा पृ. ११४ भावनगर।

[4] यहां यशोविजयजीने इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षके मति और श्रुत दो भेद करके मतिज्ञानके अवग्रह आदि चार और श्रुतज्ञानके चौदह भेद किये हैं—तदेवं सप्रभेदं सांव्यवहारिकं मतिश्रुतलक्षणं प्रत्यक्षं निरूपितम्। जैनतर्क परिभाषा।

[5] उमास्वाति, पूज्यपाद, अकलंक आदि आचार्योंने मतिज्ञानके इन्द्रियजन्य और अनिन्द्रियजन्य ज्ञान दो भेद करके मतिज्ञानके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद किये हैं।

विशेष चिह्नोंसे पताकाका ठीक ठीक निश्चित रूप ज्ञान होना अवाय (अपाय) है। तथा जाने हुए पदार्थको कालान्तरमें नहीं भूलना, धारणा है। अवग्रहके दो भेद हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। दर्शनके बाद अव्यक्त ग्रहणको व्यंजनावग्रह, और व्यक्त ग्रहणको अर्थावग्रह कहते हैं। व्यंजनावग्रह चक्षु और मनसे नहीं होता, इस लिये वह बाकीकी चार इन्द्रियोंसे ही होता है। अर्थावग्रह पांच इन्द्रिय और मनसे होता है, इस लिये अर्थावग्रहके छह भेद, और व्यंजनावग्रहके चक्षु और मनको निकाल देनेसे चार भेद होते हैं। छह प्रकारके अर्थावग्रहकी तरह ईहा, अवाय और धारणाके भी छह छह भेद हैं। इस प्रकार इन चौबीस भेदोंमें चार प्रकारका व्यंजनावग्रह मिला देनेसे मतिज्ञानके अठाईस भेद होते हैं। यह अठाईस प्रकारका मतिज्ञान बहु, एक, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिसृत, निसृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव, और अध्रुवके भेदसे बारह बारह प्रकारका है। अतएव अठाईसको बारहसे गुणा करनेसे इन्द्रिय और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षके कुल ३३६ भेद होते हैं।

जो ज्ञान केवल आत्माकी सहायतासे हो, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष क्षायोपशमिक (विकल) और क्षायिक (सकल) के भेदसे दो प्रकारका है। जो ज्ञान कर्मोंके क्षय और उपशमसे उत्पन्न होकर सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेमें असमर्थ हो, उसे क्षायोपशमिक कहते हैं। यह ज्ञान अवधि और मनपर्ययके भेदसे दो प्रकारका है। अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेपर इन्द्रिय और मनकी सहायताके विना सम्पूर्ण रूपी पदार्थोंको जाननेवालेको अवधिज्ञान कहते हैं। अवधिज्ञानका विषय तीन लोक है। इसके दो भेद हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थितके भेदसे अवधिज्ञानके छह भेद भी होते हैं। मनपर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेपर इन्द्रिय और मनके विना मानुष क्षेत्रवर्ती जीवोंके मनकी बात जाननेको मनपर्याय ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मुनियोंके ही होता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। क्षायिक अथवा सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष सम्पूर्ण कर्मोंके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न होता है। इसे केवलज्ञान कहते हैं। केवलज्ञानके दो भेद है—भवस्थ केवलज्ञान और सिद्धस्थ केवलज्ञान। भवस्थ केवलज्ञानके दो भेद हैं—सयोग और अयोग। सिद्धस्थ केवलज्ञानके दो भेद हैं—अनंतरसिद्ध और परंपरासिद्ध।

इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होनेवाले अस्पष्ट ज्ञानको परोक्ष कहते हैं। परोक्ष ज्ञानके पांच भेद हैं—स्मृति[1], प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, और आगम।

श्लो. २९ पृ. ३३१ पं. १६ निगोद—

जिन जीवोंके एक ही शरीरके आश्रय अनन्तानन्त जीव रहते हों, उसे निगोद

---

[1] स्मृति आदिके लक्षणके लिये देखो पृ. ३२२।

कहते[1] हैं। निगोद जीवोंका आहार और श्वासोछ्वास एक साथ ही होता है तथा एक निगोद जीवके मरनेपर अनन्त निगोद जीवोंका मरण और एक निगोद जीवके उत्पन्न होनेपर अनन्त निगोद जीवोंकी उत्पत्ति होती है। निगोद जीव एक श्वासमें अठारह बार जन्म और मरण करते हैं, और अति कठोर यातनाको भोगते हैं। ये निगोद जीव पृथिवी, अप्, तेज, वायु, देव, नारकी, आहारक और केवलियोंके शरीरको छोड़कर समस्त लोकमें भरे हुए हैं। असंख्य निगोद जीवोंका एक गोलक होता है। इस प्रकारके असंख्य निगोद जीवोंके असंख्य गोलकोंसे तीनों लोक व्याप्त हैं। ये सूक्ष्म निगोदिया जीव व्यावहारिक[2] और अव्यावहारिक भेदोंसे दो प्रकारके हैं। जिन जीवोंने अनादि निगोदसे एक बार भी निकलकर त्रस पर्यायको प्राप्त किया है, उन्हें व्यावहारिक निगोद जीव कहा गया है। तथा जो जीव कभी भी सूक्ष्म निगोदसे बाहर निकल कर नहीं आये, उन्हें अव्यावहारिक निगोद कहते हैं। जितने जीव अब तक मोक्ष गये हैं, अथवा भविष्यमें जावेंगे, वे सम्पूर्ण जीव निगोद जीवोंके अनन्तवें भाग भी नहीं हैं। अतएव जितने जीव व्यवहारराशिसे निकलकर मोक्षं जाते हैं, उतने जीव अनादि निगोदसे निकलकर व्यवहारराशिमें आ जाते हैं। इस लिये यह संसार कभी भव्य जीवोंसे खाली नहीं होता। जिस प्रकार निगोद राशि अक्षयानंत है, उसी प्रकार भव्यजीव राशि भी अक्षयानंत[3] है।

'सब जीवोंके एक एक करके मोक्ष जानेसे एक दिन संसारका उच्छेद हो जाना चाहिये' यह प्रश्न भाष्यकर व्यासके सामने भी था। भाष्यकारने इस प्रश्नको अवचनीय कोटिमें रक्खा है[4]।

---

[1] नि नियतां गां भूमि क्षेत्रं निवासं अनंतानंतजीवानां ददाति इति निगोदं। गोम्मटसार जीव. १९१ टीका।

[2] गोम्मटसार जीव. आदि दिगम्बर ग्रन्थोंमें इन भेदोंके इतर और नित्य निगोदके नामसे कहा गया है।

[3] विशेष जाननेके लिये देखो लोकप्रकाश ४-१-१०१; प्रज्ञापना १८ पद मलयगिरि वृत्ति। तथा पीछे २९ श्लोकका व्याख्यार्थ और भावार्थ।

[4] अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्न वेति। अवचनीयमेतत्। कथम्। अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः सर्वो जातो मरिष्यति मृत्वा जनिष्यत इति। ओं भो इति।

अथ सर्वो जातो मरिष्यतीति मृत्वा जनिष्यत इति। विभज्य वचनीयमेतत्। प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यत इतरस्तु जनिष्यते। तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसीत्येवं परिपृष्टे विभज्य वचनीयः प्रश्नः पशूनधिकृत्य श्रेयसी देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति। अयं तु अवचनीयः प्रश्नः संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति। पातंजल योगसूत्र भाष्य ४-३३। तुलना करो—ननु अष्टसमयाधिकषण्मासाभ्यंतरे अष्टोत्तरशतजीवेषु कर्मक्षयं कृत्वा सिद्धेषु सत्सु सिद्धराशेर्वृद्धिदर्शनात् संसारिजीवराशेश्च हानिदर्शनात् कथं सर्वदा सिद्धेभ्योऽनंतगुणत्वं एकशरीरनिगोदजीवानां सर्वजीवराश्यनंतगुणकालसमयसमूहस्य तद्योग्यानंतभागे गते सति संसारिजीवराशिक्षयस्य सिद्धराशीबहुत्वस्य च सुघटत्वात् इति चेत्। तन्न। केवलज्ञानदृष्ट्या केवलिभिः श्रुतज्ञानदृष्ट्या श्रुतकेवलिभिश्च सदा दृष्टस्य भव्यसंसारिजीवराश्यक्षयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तर्कविषयत्वाभावात्। गोम्मटसार जीव. गा. १९६ केशववर्णी टीका।

बौद्ध परिशिष्ट (ख)

(श्लोक १६ से १९ तक)

बौद्ध दर्शन

“ बौद्ध दर्शनको सुगत दर्शन भी कहते हैं। बौद्ध लोगोंने विपश्यी, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द, काञ्चन, काश्यप और शाक्यसिंह ये सात सुगत[1] माने हैं। सुगतको तीर्थंकर, बुद्ध अथवा धर्मधातु नामसे भी कहा जाता है। बुद्धोंके कण्ठ तीन रेखाओंसे चिह्नित होते हैं। अंतिम बुद्धने मगध देशमें कपिलवस्तु नामक ग्राममें जन्म लिया था। इनकी माताका नाम मायादेवी और पिताका नाम शुद्धोदन था। बौद्ध लोग बुद्ध भगवानको सर्वज्ञ कहते हैं। बुद्धने दुःख, समुदय (दुःखका कारण), मार्ग और निरोध (मोक्ष) इन चार आर्यसत्योंका उपदेश दिया है। बौद्ध मतमें पांच इन्द्रियां और शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पांच विषय, मन और धर्मायतन (शरीर) ये सब मिलाकर बारह आयतन माने गये हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोंको मानते हैं। बौद्ध लोग आत्माको न मानकर ज्ञानको ही स्वीकार करते हैं। इनके मतमें क्षण क्षणमें नाश होनेवाली संतानको ही एक भवसे दूसरे भवमें जानेवाली मान गया है। बौद्ध साधु चमर रखते हैं, मुण्डन कराते हैं, चमड़ेका आसन और कमण्डलु रखते हैं, तथा घुंटी तक गेरुआ रंगका वस्त्र पहिनते हैं। ये लोग स्नान आदि शौच क्रिया विशेष करते हैं। बौद्ध साधु भिक्षा पात्रमें आये हुए मांसको भी शुद्ध समझकर भक्षण कर लेते हैं। ये लोग जीवोंकी दया पालनेके लिये भूमिको बुहारकर चलते हैं, और ब्रह्मचर्य आदि अपनी क्रियामें खूब दृढ़ होते हैं। बौद्ध मतमें धर्म, बुद्ध और संघ ये तीन रत्न, और सम्पूर्ण विघ्नोंको नाश करनेवाली ताराको देवी स्वीकार किया गया है। वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार और माध्यमिक ये बौद्धोंके चार भेद[2] हैं। ”

बौद्धोंके मुख्य सम्प्रदाय

बुद्धके निर्वाण जानेके बाद बुद्ध संघमें कलहका आरंभ हुआ, और बुद्ध-निर्वाणके सौ वर्ष पश्चात् ईसवी सन् पूर्व ४०० में वैशालीमें एक परिषद्की आयोजना की गई। इस परिषद्में महासंघिक लोग मूल महासंघिक, एकव्यवहारिक, लोकोत्तरवादी, कुकुल्लिक, बहुश्रुतीय, प्रज्ञप्तिवादी, चैत्तिक, अपरशैल और उत्तरशैल इन नौ शाखाओंमें विभक्त हो गये। इधर थेरवादी लोग भी निम्न ग्यारह मुख्य शाखाओंमें बंट गये—हैमवत, सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तिक, महीशासक, काश्यपीय, सौत्रांतिक, वात्सीपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, सम्मितीय, और

---

[1] पाली ग्रंथोंमें कहीं आठ, कहीं सोलह, और कहीं पचीस बुद्धोंके नाम आते हैं। देखो राजवाड़े—दीघनिकाय भाग २ मराठी भाषांतर, पृ. ४६। [2] देखो गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुच्चय टीका और राजशेखरका षड्दर्शनसमुच्चय।

छन्नागरिक। थेरवादियों और महासंघिकोंके उक्त सम्प्रदायोंके सिद्धांतोंके विषयमें बहुत कम ज्ञातव्य बातें मिलती हैं। वैदिक और जैन शास्त्रोंमें भी उक्त सम्प्रदायोंमेंसे सर्वास्तिवादी, सौत्रांतिक और आर्यसमितीय (वैभाषिक) नामके बौद्ध सम्प्रदायोंको छोड़कर अन्य सम्प्रदायोंका उलेख नहीं मिलता।

सौत्रान्तिक

ये लोग टीकाओंकी अपेक्षा बुद्धके सूत्रोंको अधिक महत्व देनेके कारण सौत्रांतिक कहे जाते हैं। सौत्रान्तिक लोग सर्वास्तिवादियों (वैभाषिकों) की तरह बाह्य जगतके अस्तित्वको मानते हैं और समस्त पदार्थोंको बाह्य और अन्तरके भेदसे दो विभागोंमें विभक्त करते हैं। बाह्य पदार्थ भौतिक रूप, और आन्तर पदार्थ चित्त-चैत्त रूप होते हैं। " सौत्रांतिकोंके मतमें पांच स्कंधोंको छोड़कर आत्मा कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। पांच स्कंध ही परलोक जाते हैं। अतीत, अनागत, सहेतुक विनाश, आकाश और पुद्गल (नित्य और व्यापक आत्मा) ये पांच संज्ञा मात्र, प्रतिज्ञा मात्र, संवृति मात्र और व्यवहार मात्र हैं। सौत्रांतिकोंके मतमें पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्षसे न होकर ज्ञानके आकारकी अन्यथानुपपत्ति रूप अनुमानसे होता है। साकार ज्ञान प्रमाण होता है। सम्पूर्ण संस्कार क्षणिक होते हैं। रूप, रस, गंध और स्पर्शके परमाणु तथा ज्ञान प्रत्येक क्षण नष्ट होते हैं। अन्यापोह (अन्य व्यावृत्ति) ही शब्दका अर्थ है। तदुत्पत्ति और तदाकारतासे पदार्थोंका ज्ञान होता है। नैरात्म्य भावनासे जिस समय ज्ञान-संतानका उच्छेद हो जाता है, उस समय निर्वाण होता है। " वसुबंधुके अभिधर्मकोश[३]के अनुसार सौत्रांतिक लोग वर्तमान, और जिनसे अभी फल उत्पन्न नहीं हुआ ऐसी भूत वस्तुको अस्ति रूप, तथा भविष्य, और जिनसे फल उत्पन्न हो

---

१ वसुमित्रने इन बीस भेदोंको हीनयान सम्प्रदायकी शाखा कहकर उल्लेख किया है। परन्तु आगे चलकर ये महासंघिक और थेरवाद सम्प्रदाय क्रमसे हीनयान और महायान कहे जाने लगे। हीनयानी केवल अपने ही निर्वाणके लिये प्रयत्न करते हैं और यहाँ अन्य मनुष्योंकी तरह बुद्धको भी मनुष्य ही माना गया है। इस सिद्धान्तमें 'सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं, पंच स्कंधोंका क्षय हो जाना निर्वाण है,' इसके आगे सिद्धान्तोंका दार्शनिक विकास दृष्टिगोचर नहीं होता। महायान सम्प्रदायके अनुयायी अनन्त काल तक प्राणियोंके मोक्षके लिये प्रयत्नशील रहते हैं। निर्वाणके बाद भी बुद्धकी प्रवृत्ति संसारके निर्वाणके लिये बराबर जारी रहती है। यहां गृहस्थमें रहकर भी विना किसी वर्णभेदके प्राणी मात्रके लिये निर्वाणका द्वार सदा खुला रहता है। इस सम्प्रदायके अनुयायी बुद्धको देवाधिदेव मानकर बुद्धकी भक्ति करते हैं। महायान सम्प्रदायमें प्रत्येक पदार्थको निःस्वभाव और अनिर्वाच्य कहकर तत्त्वोंका दार्शनिक रीतिसे तलस्पर्शी विचार किया गया है। सौत्रांतिक और वैभाषिक हीनयानकी, और विज्ञानवाद और शून्यवाद महायान सम्प्रदायकी शाखाये हैं।

जापानी विद्वान् यामाकामी सोगेन (Yamakami Sogen) के मतानुसार बुद्धके निर्वाणके तीनसौ वरस बाद वैभाषिक, चार सौ वरस बाद सौत्रांतिक, तथा पांच सौ वरस बाद माध्यमिक और ईसाकी तीसरी शताब्दिमें विज्ञानवाद सिद्धांतोंकी स्थापना हुई। प्रो. ध्रुवका मत है, कि असंग और वसुवंधुके पूर्व भी विज्ञानवादका सिद्धांत मौजूद था, इस लिये मध्यमवादके पहले विज्ञानवादको मानकर बादमें माध्यमिकवादकी उत्पत्ति मानना चाहिये। देखो स्याद्वादमञ्जरी भूमिका पृ. ७०-२५।

२ गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुच्चय टीका। ३ इसका रशियन विद्वान प्रो. शैर्वाट्स्की (Stcherbatsky) ने तिब्बतीसे अंग्रेज़ीमें अनुवाद किया है।

चुका है, ऐसी भूत वस्तुको नास्ति रूप मानते हैं। सौत्रांतिक लोगोंके इस सिद्धांतको माननेवाले धर्मत्राता, घोष, वसुमित्र और बुद्धदेव ये चार विद्वान मुख्य समझे जाते हैं। ये लोग क्रमसे भाव परिणाम, लक्षण परिणाम, अवस्था परिणाम और अपेक्षा परिणामको मानते हैं।

धर्मत्राता (१०० ई.स.)—भाव परिणामवादी धर्मत्राताका मत है, कि जिस प्रकार सुवर्णके कटक, कुण्डल आदि गुणोंमें ही परिवर्तन होता है, स्वयं सुवर्ण द्रव्यमें कोई परिवर्तन नहीं होता, इसी तरह वस्तुका धर्म भविष्य पर्यायको छोड़कर वर्तमान रूप होता है, और वर्तमान भावको छोड़कर अतीत रूप होता है, परन्तु वास्तवमें स्वयं द्रव्यमें कोई परिवर्तन नहीं होता[1]। धर्मत्राताको कनिष्ककी परिषद्के मुख्य सदस्य वसुमित्रका मामा कहा जाता है। धर्मत्राताने बुद्ध भगवानके मुखसे कहे हुए एक हज़ार श्लोकोंका धम्मपदमें तैंतीस अध्ययनोंमें संग्रह किया था। धम्मपदका चीनी अनुवाद मिलता है। धर्मत्राताको पंचवस्तुविभाषाशास्त्र संयुक्ताभिधर्महृदयशास्त्र, अवदानसूत्र और धर्मत्रातध्यानसूत्र इन ग्रंथोंका प्रणेता कहा जाता है[2]।

घोष (१५० ई.स.)—लक्षण परिणामवादी घोषका सिद्धांत है, कि जिस प्रकार किसी एक स्त्रीमें आसक्ति करनेवाला पुरुष दूसरी स्त्रियोंमें आसक्तिको नहीं छोड़ देता, उसी तरह भूत धर्म भूत धर्मसे संबद्ध होता हुआ वर्तमान और भविष्य धर्मोंसे संबंध नहीं छोड़ता, तथा वर्तमान धर्म वर्तमान धर्मसे संबद्ध होता हुआ भूत और भविष्य धर्मोंसे संबंध नहीं छोड़ता[3]। घोषने अभिधर्मामृतशास्त्रकी रचना की है। इस ग्रंथका चीनी अनुवाद उपलब्ध है।

बुद्धदेव (२०० ई.स.)—अपेक्षा परिणामवादी बुद्धदेवका कहना है, कि जैसे एक ही स्त्री पुत्री, माता आदि कही जाती है, उसी तरह एक ही धर्ममें नाना अपेक्षाओंसे भूत, भविष्य और वर्तमानका व्यवहार होता है। जिसके केवल पूर्व पर्याय है, उसे भविष्य, जिसके केवल उत्तर पर्याय है, उसे भूत, और जिसने पूर्व पर्यायको प्राप्त कर लिया है और जो उत्तर पर्यायको धारण करनेवाला है, उसे वर्तमान कहते[4] हैं।

वसुमित्र (१००ई.स.)—अवस्था परिणामवादी वसुमित्रका कहना है, कि धर्म भिन्न भिन्न अवस्थाओंकी अपेक्षा ही भूत, भविष्य और वर्तमान कहा जाता है। वास्तवमें द्रव्यमें परिवर्तन नहीं होता। इस लिये जिस समय किसी धर्ममें कार्य करनेकी शक्ति बन्द हो जाती है, उस समय

---

[1] धर्मस्याध्वसु वर्तमानस्य भावान्यथात्वमेव केवलं न तु द्रव्यस्येति। यथा सुवर्णद्रव्यस्य कटककेयूरकुण्डलाद्यभिधाननिमित्तस्य गुणस्यान्यथात्वं न सुवर्णस्य, तथा धर्मस्यानागतादिभावादन्यथात्वम्। तत्त्वसंग्रह पंजिका पृ. ५०४। [2] तत्त्वसंग्रह अंग्रेजी भूमिका पृ. ५६।

[3] धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षणयुक्तोऽनागतप्रत्युत्पन्नाभ्यां लक्षणाभ्यां अवियुक्तः। यथा पुरुष एकास्यां स्त्रियां रक्तः शेषास्वविरक्त एवमनागतप्रत्युत्पन्नावपि वाच्ये। तत्त्वसंग्रहपंजिका।

[4] धर्मोऽध्वसु वर्तमानः पूर्वापरमपेक्ष्यान्योन्य उच्यते इति। यथैका स्त्री माता चोच्यते दुहिता चेति। त. संग्रहपंजिका।

उसे भूत, जिस समय धर्ममें क्रिया होती रहती है, उस समय वर्तमान, और जिस समय धर्ममें क्रिया होनेवाली हो, उस समय उसे भविष्य कहते हैं[1]। वसुमित्र कनिष्ककी परिषद्में आनेवाले पांचसौ अर्हतोंमेंसे एक गिने जाते हैं। वसुमित्रने अभिधर्मप्रकरणपाद, अभिधर्मधातुकायपाद, अष्टादशनिकाय शास्त्र, तथा आर्यवसुमित्रबोधिसत्त्वसंगीतशास्त्र ग्रंथोंकी रचना की है।

धर्मत्राता, घोष, बुद्धदेव और वसुमित्रके सिद्धांतोंका प्रतिपादन और खण्डन तत्वसंग्रहमें त्रैकाल्यपरीक्षा नामक प्रकरणमें किया गया है। वसुबंधुने अभिधर्मकोश[2] (५–२४–६) में आदिके तीन विद्वानोंके मतोंका खण्डन करके वसुमित्रके अवस्था परिणामको स्वीकार किया है।

वैभाषिक

वैभाषिक लोग अभिधर्मकी टीका विभाषाको सबसे अधिक महत्व देनेके कारण वैभाषिक कहे जाते हैं। ये लोग भूत, भविष्य और वर्तमानको अस्ति रूपसे मानते हैं। इनके मतमें ज्ञान और ज्ञेय दोनों वास्तविक हैं। वैभाषिक लोग प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व मानते हैं। “ इनके मतमें प्रत्येक पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति, जरा और मरण इन चार क्षणों तक अवस्थित रहता है। पुद्गलको (आत्मा) में भी ये गुण रहते हैं। ज्ञान निराकार होता है, और यह पदार्थके साथ एक ही सामग्रीसे उत्पन्न होता है। वैभाषिक लोग आर्यसमितीय नामसे भी कहे जाते[3] हैं। ”

वैभाषिक (सर्वास्तिवादी) लोगोंका साहित्य आजकल चीनी भाषामें उपलब्ध है। यह मुख्य साहित्य निम्न प्रकारसे है—१ कात्यायनीपुत्रका ज्ञानप्रस्थानशास्त्र। इसे महाविभाषा भी कहते हैं। २ सारीपुत्रका धर्मस्कंध। ३ पूर्णका धातुकाय। ४ मौद्गलायनका प्रज्ञप्तिशास्त्र। ५ देवक्षेमका विज्ञानकाय। ३ सारीपुत्रका संगीतिपर्याय और वसुमित्रका प्रकरणपाद। इसके अतिरिक्त ईसवी सन् ४२०-५०० में वसुबंधुने अभिधर्मकोश (वैभाषिककारिका) ग्रंथ लिखा और इस ग्रंथपर स्वयं ही अभिधर्मकोशभाष्य रचा। इसमें सौत्रांतिकोंके सिद्धांतोंका खंडन किया गया है। आगे चलकर सौत्रांतिक विद्वान यशोमित्रने इस ग्रंथपर अभिधर्मकोशव्याख्या नामकी टीका लिखी। इसके अलावा वैभाषिक विद्वान संघभद्रने समयप्रदीप और न्यायानुसार (इनका चीनीमें भाषांतर है) नामक

---

[1] धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽवस्थामवस्थां प्राप्यान्योऽन्यो निर्दिश्यतेऽवस्थान्तरतो, न द्रव्यतः, द्रव्यस्य त्रिष्वपि कालेष्वभिन्नत्वात्। तत्त्वसंग्रहपंजिका।

[2] देखो प्रो. शेर्वाट्स्कीका The Central Conception of Buddhism परिशिष्ट १ पृ. ७६–९१।

[3] देखो गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुच्चय टीका पृ. ४६,४७। सर्वास्तिवादके सिद्धान्तोंके विशेष जाननेके लिये यामाकामी सोगेनका Systems of Buddhistic Thought देखना चाहिये।

ग्रन्थ लिखे। धर्मत्राता, घोष, वसुमित्र, आदिने भी वैभाषिक सम्प्रदायके अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। प्रसिद्ध तार्किक दिङ्नाग (लगभग) ने भी प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश, हेतुचक्रहमरु, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा आदि न्याय ग्रंथोंकी रचना की है।

सौत्रांतिक और वैभाषिक दोनों सम्प्रदायोंका परस्पर घनिष्ठ संबंध रहा है। इसीलिये वैदिक ग्रन्थकार इन दोनों सम्प्रदायोंके भिन्न भिन्न सिद्धांतोंमें[1] कोई भेद न समझकर सौत्रान्तिक और वैभाषिकोंका सर्वास्तिवादीके नामसे उल्लेख करते हैं। परन्तु सौत्रांतिक लोगोंने कभी अपने आपको सर्वास्तिवादी नहीं कहा। कारण कि सर्वास्तिवादी और सौत्रांतिक दोनोंके ग्रंथ अलग अलग थे[2]। सौत्रान्तिक और वैभाषिक (सर्वास्तिवादी) दोनों वाह्य पदार्थोंके अस्तित्वको मानते हैं। ये लोग अठारह धातुओंको स्वीकार करते हैं। इन संप्रदायोंकी रुचि विशेष रूपसे क्षणिकवाद, प्रत्यक्ष और अनुमानकी परिभाषा, पदार्थोंका अर्थक्रियाकारित्व, अपोहवाद, अवयववाद, विशेषवाद आदि विषयोंको प्रतिपादन करनेकी ओर अधिक रही है। ये लोग न्याय-वैशेषिक, सांख्य आदि वैदिक दर्शनकारोंके सिद्धांतोंका खण्डन करते थे। वसुबन्धु, यशोमित्र, धर्मकीर्ति (लभभग ६३५ ई. स.), विनीतदेव, शान्तभद्र, धर्मोत्तर (८४१ ई. स.), रत्नकीर्ति, पंडित अशोक, रत्नाकर शांति आदि विद्वान इन सम्प्रदायोंके उल्लेखनीय विद्वान हैं।

सौत्रान्तिक-वैभाषिकोंके सिद्धांत

१ प्रमाण और प्रमाणका फल भिन्न नहीं हैं—जिस समय किसी प्रमाणके द्वारा पदार्थका ज्ञान होनेपर उस पदार्थ संबंधी अज्ञानकी निवृत्ति होती है, उस समय उस पदार्थके प्रति हेय अथवा उपादेयकी बुद्धि होती है। इसी बुद्धिका होना प्रमाणका फल (प्रमिति) कहा जाता है। नैयायिक, मीमांसक और सांख्य लोगोंकी मान्यता है, कि जिस प्रकार काटनेकी क्रियाके विना कुठारको करण नहीं कहा जा सकता, उसी तरह प्रमिति क्रियाके विना प्रमाणको करण नहीं कह सकते। अतएव जिस प्रकार कुठारसे वृक्षको काटनेपर वृक्षके दो टुकड़े हो जाना रूप फल कुठारसे भिन्न है, उसी तरह इन्द्रिय और पदार्थोंका ज्ञान होनेसे जो पदार्थोंका ज्ञान होना रूप फल होता है, उसे भी प्रमाणसे सर्वथा भिन्न मानना चाहिये। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण साधकतम होनेसे करण हैं, और पदार्थोंका हेय-उपादेय रूप ज्ञान होना साध्य होनेसे क्रिया रूप है, अतएव प्रमाणका फल प्रमाणसे सर्वथा भिन्न है। बौद्ध लोग इस सिद्धांतका खंडन करते हैं। उनका कथन है, कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणका स्वरूप पदार्थोंका जानना है, अतएव पदार्थोंको जाननेके

---

[1] सर्वदर्शनसंग्रहकार आदि विद्वानोंके अनुसार वैभाषिक लोग पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्षसे और सौत्रांतिक लोग पदार्थोंका ज्ञान अनुमानसे मानते हैं।

[2] देखो यामाकामी सोगेन (Yamakami Sogen) का Systems of Buddhistic Thought अ. ३।

सिवाय प्रमाणका कोई दूसरा फल नहीं कहा जा सकता, इस लिये प्रमाण और प्रमाणके फलको सर्वथा अभिन्न मानना चाहिये। जिस समय ज्ञान पदार्थोंको जानता है, उस समय ज्ञान पदार्थोंके आकारका होता है। यही ज्ञानकी प्रमाणता है। तथा ज्ञान पदार्थोंके आकारका होकर पदार्थोंको जानता है, यह ज्ञानका फल है। अतएव एक ही ज्ञानको प्रमाण और प्रमाणका फल स्वीकार करना चाहिये। व्यवहारमें भी देखा जाता है, कि जो आत्मा प्रमाणसे पदार्थोंका ज्ञान करती है, उसे ही फल मिलता है। इस लिये प्रमाण और प्रमाणका फल सर्वथा अभिन्न हैं।

२ क्षणिकवाद—बौद्ध लोग प्रत्येक पदार्थको क्षणिक स्वीकार करते हैं। उनका मत है, कि संसारमें कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपने उत्पन्न होनेके दूसरे क्षणमें ही नष्ट हो जाती है, क्योंकि नष्ट होना पदार्थों का स्वभाव है। यदि पदार्थोंका स्वभाव नष्ट होना न माना जाय, तो घड़े और लाठीका संघर्ष होनेपर भी घड़ेका नाश नहीं होना चाहिये। हमें पदार्थ नित्य दिखाई पड़ते है, परन्तु यह हमारा भ्रम मात्र है। वास्तवमें प्रत्येक वस्तु प्रत्येक क्षणमें नाश हो रही है। जिस प्रकार दीपककी ज्योतिके प्रतिक्षण बदलते रहनेपर भी समान आकारकी ज्ञान-परम्परासे 'यह वही दीपक है' इस प्रकारका ज्ञान होता है। उसी प्रकार प्रत्येक वस्तुके क्षण क्षणमें नष्ट होनेपर भी पूर्व और उत्तर क्षणोंमें सदृशता होनेके कारण वस्तुका प्रत्यभिज्ञान होता है। यदि वस्तुको नित्य माना जाय, तो कूटस्थ नित्य वस्तुमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती, और वस्तुमें अर्थक्रिया न होनेसे उसे सत् भी नहीं कहा जा सकता। दसवीं शताब्दिके बौद्ध विद्वान रत्नकीर्तिने क्षणिकवादकी सिद्धिके लिये 'क्षणभंगसिद्धि' नामक स्वतंत्र ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथमें रत्नकीर्तिने शंकर, त्रिलोचन, न्यायभूषण, वाचस्पति आदि विद्वानोंके मतका खंडन करते हुए अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्तिसे क्षणभंगवादकी सिद्धि की है। शान्तरक्षित आचार्यने तत्त्वसंग्रहमें स्थिरभावपरीक्षा नामक प्रकरणमें भी नित्यवादकी मीमांसा करते हुए क्षणिकवादको सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त जैन और वैदिक ग्रंथोंमें भी क्षणिकवादका प्रतिपादन मिलता है।

३ अवयववाद—नैयायिक लोग अवयवीको अवयवोंसे भिन्न मानकर उन दोनोंका संबंध समवायसे स्वीकार करते हैं। परन्तु बौद्धोंका कहना है, कि अवयवोंको छोड़कर

---

१ जैन लोग भी पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा क्षणिकवाद स्वीकार करते हैं—स्याद्वादिनामपि हि प्रतिक्षणं नवनवपर्यायपरंपरोत्पत्तिरभिमतैव। तथा च क्षणिकत्वम्। पीछे पृ. २५१।

२ देखो पीछे पृ. २९९।

३ इस ग्रंथका पं. हरप्रसाद शास्त्रीने विब्लिओथिका इन्डिका कलकत्तामें सम्पादन किया है।

४ देखो षड्दर्शनसमुच्चय गुणरत्नकी टीका पृ. २९,३०,४०; चन्द्रप्रभसूरि—प्रमेयरत्नकोष पृ. ३०।

५ न्यायमंजरी; न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका आदि।

६ बौद्धोंके क्षणिकवादकी फ्रांसके आधुनिक दार्शनिक बर्गसन् (Bergson) के क्षणिकवादके साथ तुलना की जा सकती है।

अवयवी कोई भिन्न वस्तु नहीं है । भ्रमके कारण अवयव ही अवयवी रूप प्रतीत होते हैं । अवयव रूप परमाणु उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाते हैं, इस लिये अवयवोंको छोड़कर अवयवी पृथक् वस्तु नहीं है । जिस समय परस्पर मिश्रित परमाणु ज्ञानसे जाने जाते हैं, उस समय ये परमाणु विस्तृत प्रदेशमें रहनेके कारण स्थूल कहे जाते हैं ।[1] इस लिये परमाणुओंका छोड़कर अवयवीको भिन्न नहीं मानना चाहिये । पं. अशोकने अवयववादकी पुष्टिके लिये ‘ अवयाविनिराकरण ’ नामक ग्रंथ लिखा है ।

४ विशेषवाद—नैयायिक लोग सामान्यको एक, नित्य और व्यापी मानते हैं । बौद्धोंका मत है, कि विशेषको छोड़कर सामान्य कोई भिन्न वस्तु नहीं है । सम्पूर्ण क्षणिक पदार्थोंका ज्ञान उनके असाधारण रूपसे ही होता है, इस लिये सम्पूर्ण पदार्थ स्वलक्षण हैं, अर्थात् पदार्थोंका सामान्य रूपसे ज्ञान नहीं होता । जिस समय हम पांच उंगलियोंका ज्ञान करते हैं, उस समय पांच उंगलियों रूप विशेषको छोड़कर अंगुलित्व कोई भिन्न जाति [2]नहीं माल्म होती । इसी प्रकार गौको जानते समय गौके वर्ण, आकार आदि विशेष ज्ञानेको छोड़कर गोत्व सामान्यका भिन्न ज्ञान नहीं होता, अतएव विशेषको छोड़कर सामान्यको भिन्न वस्तु नहीं मानना चाहिये । क्योंकि विशेषमें ही वस्तुका अर्थक्रियाकारित्व लक्षण ठीक ठीक घटता[3] है । वेदान्तियोंके मतमें भी जातिका प्रत्यक्ष अथवा अनुमानसे ज्ञान नहीं माना गया, अतएव सामान्य भिन्न पदार्थ नहीं है ।

५ अपोहवाद—जिससे दूसरेकी व्यावृत्ति की जाय, उसे अपोह कहते हैं (अन्योऽपोह्यते व्यावर्त्यते अनेन) । बौद्ध लोग अत्यन्त व्यावृत्त परस्पर विलक्षण स्वलक्षणोंमें अनुवृत्ति प्रत्यय करनेवाले सामान्यको नहीं मानते, यह ऊपर कहा गया है । बौद्धोंकी मान्यता है, कि जिस समय हमें किसी शब्दका ज्ञान होता है, उस समय उस शब्दसे पदार्थोंका अस्ति और नास्ति दोनों रूपसे ज्ञान होता है । उदाहरण के लिये, जिस समय हमें गो शब्दका ज्ञान होता है, उस समय एक साथ ही गौके अस्तित्व और गौके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके नास्तित्व रूपका ज्ञान होता है । इस लिये बौद्धोंके मतमें अतद्व्यावृत्ति (अपोह) ही शब्दार्थ माना जाता है ।

---

[1] परमाणव एव पररूपदेशपरिहारेणोत्पन्नाः परस्परसहिता अवभासमाना देशवितानवन्तो भासन्ते, विततदेशत्वञ्च स्थूलत्वम् । पंडित अशोक—अवयविनिराकरण पृ. ७९ ।

[2] प्रत्यक्षभासि धर्म्मसु न पंचस्वंगुलीषु स्थितं
सामान्यं प्रतिभासते न च विकल्पाकारबुद्धौ तथा ।
ता एव स्फुटमूर्तयोऽत्र हि विभासन्ते न जातिस्ततः
सादृश्यभ्रमकारणौ पुनरिमावेकोपलब्धध्वनी ॥
पं. अशोक—सामान्यदूषणदिक् प्रसारिता पृ. १०२ ।

[3] देखो पीछे पृ. १६७,१६८ ।

पंडित अशोकने अपोहवादके ऊपर 'अपोहसिद्धि' नामक स्वतंत्र ग्रंथ लिखा है। मीमांसा श्लोकवार्तिकमें भी अपोहवादपर एक अलग अध्याय है।

शून्यवाद

शून्यवादको माध्यमिकवाद अथवा नैरात्म्यवाद भी कहते हैं। माध्यमिक लोगोंका कथन है, कि पदार्थोंका न निरोध होता है, न उत्पाद होता है, न पदार्थोंका उच्छेद होता है, न पदार्थ नित्य हैं, न पदार्थोंमें अनेकता है, न एकता है, और न पदार्थोंमें गमन होता है, और न आगमन होता है। अतएव सम्पूर्ण धर्म मायाके समान होनेसे निस्स्वभाव हैं। जो जिसका स्वभाव होता है, वह उससे कभी पृथक् नहीं होता, और वह किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता। परन्तु हम जितने पदार्थ देखते हैं, वे सब अपनी अपनी हेतुप्रत्यय-सामग्रीसे उत्पन्न होते हैं, और अपनी योग्य सामग्रीके अभावमें नहीं होते। इस लिये जो लोग स्वभावसे पदार्थोंको भाव रूप मानते हैं, वे लोग अहेतु-प्रत्ययसे पदार्थोंकी उत्पत्ति स्वीकार करना चाहते हैं। अतएव सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर सापेक्ष हैं, कोई भी पदार्थ सर्वथा निरपेक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। अतएव हम पदार्थोंका स्वभावकी अपेक्षा उत्पन्न होना नहीं मान सकते। पदार्थ स्वभावसे भाव रूप नहीं हैं, इस लिये वे परभावकी अपेक्षा भी उत्पन्न नहीं होते, अन्यथा सूर्यसे भी अन्धकारकी उत्पत्ति माननी चाहिये। पदार्थ स्वभाव और परभावकी अपेक्षा उत्पन्न नहीं होते, इस लिये स्वभाव और परभाव दोनों (उभय रूप) से

---

१ अनिरुद्धमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतं।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्॥ माध्यमिकवृत्ति प्रत्ययपरीक्षा।

२ हेतुप्रत्ययं अपेक्ष्य वस्तुनः स्वभावता न इतरथा।

३ यः प्रत्ययैर्जायति स ह्यजातो
न तस्य उत्पादु सभावतोऽस्ति।
यः प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो।
यः शून्यतां जानति सोऽप्रमत्तः॥ बोधिचर्यावतार पंजिका पृ. ३५५।

जैन दर्शनमें वस्तुको स्वभावसे अशून्य और परभावसे शून्य माना गया है—सर्वस्य वस्तुनः स्वरूपादिना अशून्यत्वात्पररूपादिना शून्यत्वात्। अमृतचन्द्र—पंचास्तिकाय १४ टीका। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है, कि पंचाध्यायीकारने वस्तुको सर्वविकल्पातीत कहकर द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे स्वभावसे भी अस्ति रूप और परभावसे भी नास्ति रूप नहीं माना है—

द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्त्वं स्वरूपतोऽपि ततः।
न च नास्ति परस्वरूपात् सर्वविकल्पातिगं यतो वस्तु॥ पंचाध्यायी १–७५८।

सिद्धसेन दिवाकर भगवानको शून्यवादी कहकर स्तुति करते हैं—

त्वमेव परमास्तिकः परमशून्यवादी भवान्।
त्वमुज्ज्वलविनिर्णयोऽप्यवचनीयवादः पुनः॥
परस्परविरुद्धतत्त्वसमयश्च सुश्लिष्टवाक्।
त्वमेव भगवन्नकंप्यसु (मु) नयो यथा कस्तथा॥ द्वा. द्वात्रिंशिका ३–२१।

भी उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। तथा भाव, अभाव और भावाभावसे पदार्थोंका उत्पत्ति न होनेसे अनुभय रूपसे भी पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते। अतएव जिस प्रकार असत् माया-गज सत् रूपसे प्रतीत होता है, जिस प्रकार अपारमार्थिक माया परमार्थ रूपसे मालूम होती है, उसी तरह सम्पूर्ण अतात्विक धर्म अविद्याके कारण तत्व रूपसे दृष्टि गोचर होते हैं। वास्तवमें न पदार्थ उत्पन्न होते हैं, न नष्ट होते हैं, न कहीं लाभ है, न हानि है, न सत्कार है, न पराभव है, न सुख है, न दुख है, न प्रिय है, न अप्रिय है, न कहीं तृष्णा है, न कोई जीव लोक है, न कोई मरनेवाला है, न कोई उत्पन्न होगा, न हुआ है, न कोई किसीका बन्धु है और न कोई मित्र है। जो पदार्थ हमें भाव अथवा अभाव रूप प्रतीत होते हैं, वे केवल संवृति अथवा लोक सत्यकी दृष्टिसे ही प्रतीत होते हैं। परमार्थ सत्यकी अपेक्षासे एक निर्वाण ही सत्य है, और बाकी सम्पूर्ण संस्कार असत्य हैं। यह परमार्थ सत्य बुद्धिके अगोचर है, सम्पूर्ण विकल्पोंसे रहित है, अनभिलाप्य है, अनक्षर है, और अभिधेय-अभिधानसे रहित है। यद्यपि इस परमार्थ धर्मका उपदेश नहीं हो सकता, परन्तु जिस प्रकार किसी म्लेच्छको कोई बात समझानेके लिए म्लेच्छकी ही भाषाका उपयोग करना पड़ता है, उसी प्रकार संसारके प्राणियोंको निर्वाणका मार्ग प्रदर्शन करनेके लिये संवृति सत्यका उपयोग करना पड़ता है, क्योंकि संवृति सत्यका विना अवलम्बन लिये परमार्थका उपदेश नहीं किया जा सकता। इस लिये सम्पूर्ण धर्मोंको निस्स्वभाव—शून्य ही मानना चाहिये। क्योंकि शून्यतासे ही पदार्थोंका होना संभव है।

शंका—यदि सम्पूर्ण पदार्थ शून्य हैं, और न किसी पदार्थका उत्पाद होता है और न निरोध होता हैं, तो फिर चार आर्यसत्योंको, अच्छे और बुरे कर्मोंके फलको, बोधिसत्वकी प्रवृत्तिको और स्वयं बुद्धको भी शून्य और मायाके समान मिथ्या मानना चाहिये। **समाधान**-बुद्धका उपदेश परमार्थ और संवृति इन दो सत्योंके आधारसे ही होता है। जो इन दोनों

---

१ न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकं। बोधि. पंजिका पृ. २५९।

२ एवं शून्येषु धर्मेषु किं लब्धं किं हृतं भवेत्।
सत्कृतः परिभूतो वा केन कः संभविष्यति।
कुतः सुखं वा दुःखं वा किं प्रियम् वा किमप्रियम्।
का तृष्णा कुत्र सा तृष्णा मृग्यमाणा स्वभावतः॥
विचारे जीवलोकः कः को नामात्र मरिष्यति।
को भविष्यति को भूतः को बन्धुः कस्य कः सुहृत्॥ बोधिचर्यावतार ९-१५२,३,४।

३ तस्मात् सकलविकल्पाभिलापविकलत्वादनारोपितमसांवृतमनभिलाप्यं परमार्थतत्त्वं कथमिव प्रतिपादयितुं शक्यते। तथापि भाजनश्रोतृजनानुग्रहार्थं (परिकल्पमुपादाय) संवृत्या निदर्शनोपदर्शनेन किंचिदभिधीयते। बोधिचर्यावतार पंजिका पृ. ३६३।

४ सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते।
सर्वं न युज्यते यस्य शून्यता यस्य न युज्यते॥ माध्यमिक का. २४-१४।

सत्योंके भेदको नहीं समझता, वह बुद्धके उपदेशोंके ग्रहण करनेका अधिकारी नहीं है। बौद्ध दर्शनमें बाह्य और आध्यात्मिक भावोंका प्रतिपादन इन्हीं दो सत्योंके आधारसे किया गया है[1]। साधारण लोग विपर्यासके कारण संवृति सत्यसे स्कंध, धातु, आयतन आदिको तत्त्व रूपसे देखते हैं। परन्तु सम्यग्दर्शनके होनेपर तत्वज्ञ आर्य लोगोंको स्कंध आदि निस्स्वभाव प्रतीत होने लगते हैं। इस लिये 'क्या अनन्त है, क्या अन्त है, क्या अन्त-अनन्त (उभय) है, क्या अनुभय (न अन्त और न अनन्त) है, क्या अभिन्न है, क्या भिन्न है, क्या शाश्वत है, क्या अनित्य है, क्या नित्य-अनित्य है, और क्या अनुभय (न नित्य और न अनित्य) है[2]' ये प्रश्न बुद्धिमानोंके मनमें नहीं उठते। स्वयं निर्वाण भी भाव रूप है, या अभाव रूप, यह हम नहीं जान सकते। क्योंकि निर्वाण न उत्पन्न होता है, न निरुद्ध होता है, न वह नित्य है, और न अनित्य है। निर्वाणमें न कुछ नष्ट होता है, और न कुछ उत्पन्न होता है[3]। जो निर्वाण है, वही संसार है और जो संसार है, वही निर्वाण है[4]। इस लिये भाव, अभाव, उभय, अनुभय इन चार कोटियोंसे रहित प्रपंचोशम रूप निर्वाणको ही माध्यमिकोंने परमार्थ तत्व माना है। यद्यपि सर्व धर्मोंके निस्स्वभाव होनेसे परमार्थ सत्य अनक्षर है, इसलिये तूष्णींभावको ही आर्योंने परमार्थ सत्य कहा[5] है, परन्तु फिर भी व्यवहार सत्य परमार्थ सत्यका उपायभूत है[6]। जिस तरह संस्कृत धर्मोंसे असंस्कृत निर्वाणकी प्राप्ति होती है, उसी तरह संवृति सत्यसे परमार्थ सत्यकी उपलब्धि होती है। वास्तवमें न प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको प्रमाण कहा जा सकता है, और न वास्तवमें पदार्थोंको क्षणिक ही कह सकते हैं। किन्तु जिस तरह कोई पुरुष अपवित्र स्त्रीके शरीरमें पवित्र भावना रखता है, उसी तरह मूर्ख पुरुष माया रूप भावोंमें क्षणिक, अक्षणिक आदि धर्मोंका प्रतिपादन करते हैं[7]। और तो क्या परमार्थ सत्यसे

---

[1] द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥ माध्यमिक का. २४-८।

[2] माध्यमिक कारिका निर्वाणपरीक्षा।

[3] अप्रहीणामसांप्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतं।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमिष्यते॥ माध्यमिक का. निर्वाणपरीक्षा

[4] निर्वाणस्य च या कोटिः कोटिः संसरणस्य च
न तयोरन्तरं किंचित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते॥ माध्यमिक का. निर्वाणपरीक्षा।

[5] परमार्थो हि आर्याणां तूष्णींभावः। चन्द्रकीर्ति-माध्यमिकवृत्ति।

[6] उपायभूतं व्यवहारसत्यं उपेयभूतं परमार्थसत्यं।
तयोर्विभागोऽवगतो न येन मिथ्याविकल्पः स कुमार्गजातः॥
चन्द्रकीर्ति-मध्यमकावतार ७-८०।

[7] अशुच्यादिषु शुच्यादिप्रसिद्धिरिव सा मृषा॥
लोकावतारणार्थं च भावा नाथेन देशिताः।
तत्त्वतः क्षणिका नैते संवृत्या चेद् विरुध्यते॥ बोधिचर्यावतार ९-६, ७।

बुद्ध और उसकी देशना भी मृगतृष्णाके समान है। इस लिये धर्मोंके निस्स्वभाव होनेपर भी प्राणियोंके प्रज्ञप्तिके लिये ही बुद्धने इनका उपदेश किया[1] है।

शंका—शून्यवादियोंके मतमें सम्पूर्ण भाव शून्य हैं, इस लिये शून्यताको भी शून्य मानना चाहिये। **समाधान**—वास्तवमें सम्पूर्ण पदार्थोंके निस्स्वभावत्वके साक्षात्कार करनेके लिये ही बुद्धने शून्यताका उपदेश किया है। शून्यता भाव, अभाव, आदि चार कोटियोंसे रहित है, इस लिये शून्यताको अभाव[2] (शून्य) रूप नहीं कह सकते। हमारे मतमें भव-वासनाका नाश करनेके लिये ही शून्यताका उपदेश है, इस लिये शून्यतामें भी शून्यता बुद्धि रखनेसे नैरात्म्यवादका साक्षात् अनुभव नहीं हो सकता। अतएव हमें भाव-अभिनिवेशकी तरह शून्यतामें भी अभिनिवेश नहीं रखना चाहिये। अन्यथा भाव-अभिनिवेश और शून्यता-अभिनिवेश दोनोंमें कोई अन्तर न रहेगा[3]। जिस समय भाव, अभाव, शुद्धि, अशुद्धि रूप प्रपंच वृत्ति नहीं रहती, उस समय ईंधन रहित अग्निकी तरह सत् और असत्के आलम्बनसे रहित बुद्धि सम्पूर्ण विकल्पोंके उपशम होनेसे शांत हो जाती है।

माध्यमिकवादके प्रधान आचार्य नागार्जुन (१०० ई. स.) माने जाते हैं। नागार्जुनने शून्यवादके स्थापन करनेके लिये चारसौ कारिकाओंमें माध्यमिककारिका नाम ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथके ऊपर नागार्जुनने अकुतोभया नामकी टीका भी लिखी है। इसका अनुवाद तिब्बती भाषामें मिलता है। माध्यमिककारिकाके ऊपर बुद्धपालित और भावविवेकने भी टीकायें लिखी हैं, जो कि तिब्बती भाषामें उपलब्ध हैं। बुद्धपालित शून्यवादके अन्तर्गत प्रासंगिक सम्प्रदायके जन्मदाता कहे जाते हैं। बुद्धपालित शून्यवादके सिद्धातोंको स्थापित करके अन्य मतवालोंका खण्डन करके नागार्जुनके सिद्धांतोंकी रक्षा करना चाहते थे। भावविवेक शून्यवादके दूसरे सम्प्रदाय स्वातंत्रिक मतके प्रतिष्ठाता कहे जाते हैं। ये आचार्य स्वतंत्र तर्कोंसे शून्यवादकी सिद्धि करते थे। माध्यमिककारिकाके ऊपर चन्द्रकीर्तिने (५५०ई. स.) प्रसन्नपदा नामकी संस्कृतमें

---

[1] शून्यं इति न वक्तव्यं अशून्यं इति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥
माध्यमिक का. २२–११।

[2] शून्यवादियोंके ग्रन्थोंमें शून्यताका अन्तद्वयरहितत्व, मध्यमप्रतिपदा, परस्परअपेक्षिता, धर्मधातु आदि शब्दोंसे उल्लेख किया गया है। रशियन विद्वान प्रो. शेर्बात्सकी (Stcherbatsky) 'शून्यता' का अनुवाद 'Relativity'–अपेक्षिता शब्दसे करते हैं। उक्त विद्वान् लेखकने यूरोपके हेगैल (Hegel), ब्रैडले (Bradley) आदि महान् विचारकोंके सिद्धांतोंके साथ 'शून्यवाद' की तुलना की है, और सिद्ध किया है, कि इस सिद्धांतको Nihilism (सर्वथा अभाव रूप) नहीं कहा जा सकता। देखो लेखककी Conception of Buddhist Nirvana. पृ. ४९ से आगे।

[3] सर्वसंकल्पहानाय शून्यतामृतदेशना।
यस्य तस्यामपि ग्राह्यस्त्वयासाववसादितः ॥ बोधिचर्यावतार पंजिका पृ. ३५९।

टीका लिखी है। यह टीका उपलब्ध है। नागार्जुनने सुहृल्लेख, युक्तिषष्टिका आदि बहुतसे ग्रंथ लिखे हैं। शून्यवादके दूसरे महान् आचार्य आर्यदेव कहे जाते हैं। ये नागार्जुनके शिष्य थे। इन्होंने चतुःशतक, चित्तविशुद्धि प्रकरण आदि अनेक ग्रंथ लिखे हैं।

विज्ञानवाद

इसे योगाचार[1] भी कहते हैं। विज्ञानवादी लोग भी शून्यवादियोंकी तरह सब धर्मोंको निस्सभाव[2] मानते हैं। विज्ञानवादियोंके मतमें विज्ञानको छोड़कर बाह्य पदार्थ कोई वस्तु नहीं हैं। जिस प्रकार जलता हुआ काष्ठ (अलातचक्र) चक्र रूपसे घूमता हुआ मालूम होता है, अथवा जिस प्रकार तैमिरिक पुरुषको केशमें मच्छरका ज्ञान होता है, उसी तरह कुदृष्टिसे युक्त लोगोंको अनादि-वासनाके कारण पदार्थोंका एकत्व, अन्यत्व, उभयत्व और अनुभयत्व रूप ज्ञान होता है, वास्तवमें समस्त भाव स्वप्न-ज्ञान, माया और गन्धर्व-नगरकी तरह असत रूप[3] हैं। इस लिये परमार्थ सत्यसे स्वयं प्रकाशक विज्ञान ही सत्य है। यह सब दृश्यमान जगत विज्ञानका ही परिणाम है, और यह संवृति सत्यसे ही दृष्टिगोचर[4] होता है। विज्ञानवादी लोगोंके मतमें चित्तही हमारी वासनाका मूल कारण है। इस चित्तमें सम्पूर्ण धर्म कार्य रूपसे उपनिबद्ध होते हैं, अथवा यह चित्त सम्पूर्ण धर्मोंमें कारण रूपसे उपनिबद्ध होता है, इस लिये इसे

---

[1] विज्ञानवादियोंके मतमें जो योगकी साधना करके बोधिसत्वकी दशभूमिको प्राप्त करते हैं, उन्हींको बोधिकी प्राप्ति होती है, इस लिये इस सम्प्रदायको योगाचार नामसे कहा जाता है। विद्वानोंका कहना है, कि असंगके योगाचारभूमिशास्त्र नामक ग्रंथके ऊपरसे ब्राह्मण लोगोंने विज्ञानवादको योगाचार संज्ञा दी है।

[2] त्रिविधस्य स्वभावस्य त्रिविधां निस्स्वभावतां।
संधाय सर्वधर्माणां देशिता निस्स्वभावता ॥ वसुबंधु–त्रिंशिका २६।

तात्त्विक दृष्टिसे विचार किया जाय, तो विज्ञानवाद और शून्यवादमें कोई अन्तर नहीं है। दोनों सम्पूर्ण पदार्थोंको निस्स्वभाव कहते हैं। अन्तर इतना ही है, विज्ञानवादी बाह्य पदार्थोंको मानकर उन्हें केवल विज्ञानका परिणाम कहते हैं, जब कि शून्यवादी बाह्य पदार्थोंको माया रूप मान कर निस्स्वभाव सिद्ध करनेमें सम्पूर्ण शक्ति लगा देते हैं। परन्तु जब उनसे पूछा जाता है, कि यदि आप लोगोंके मतमें बाह्य पदार्थोंकी तरह माया स्वभावको ग्रहण करनेवाली कोई बुद्धि नहीं मानी गई, तो मायाकी उपलब्धि किस प्रकार होती है? यहां विज्ञानवादी उत्तर देता है, कि ये सम्पूर्ण पदार्थ चित्तके विकार हैं, जो अनादि वासनाके कारण उत्पन्न होते हैं। देखो दासगुप्त (Das Gupta) A History of Indian philosophy पृ. १६६,७ तथा बोधिचर्यावतार पंजिका ९-१५ से आगे।

[3] चित्तं केशोण्डुकं माया स्वप्नगंधर्वमेव च।
अलातं मृगतृष्णा च असन्तः ख्याति वै नृणाम् ॥
नित्यानित्यं तथैकत्वमुभयं नोभयं तथा।
अनादिदोषसंबंधाः बालाः कल्पंति मोहिताः ॥ लंकावतार २-१५७,८।

[4] द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
बाह्योऽर्थः सांवृतं सत्यं चित्तमेकमसांवृतम् ॥

आलयविज्ञान कहते हैं। यह आलयविज्ञान सम्पूर्ण क्लेशोंका वीज है[1]। जिस प्रकार जलका प्रवाह तृण, लकड़ी आदिको बहाकर ले जाता है, उसी तरह यह आलयविज्ञान स्पर्श, मनस्कार आदि धर्मोंको आकर्षित करके अपने प्रवाहसे संसारको उत्पन्न करता है[2]। जिस प्रकार समुद्रमें कल्लोलें उठा करती हैं, वैसे ही दृश्य पदार्थोंको स्वचित्तसे भिन्न समझनेसे, अनादिकालकी वासनासे, पदार्थोंका द्रष्टा और दृश्य रूप समझनेवाली विज्ञान प्रकृतिके स्वभावसे, तथा पदार्थोंका विचित्र अनुभव करनसे[3] आलयविज्ञानमें प्रवृत्ति विज्ञानकी लहरें उठा करती हैं। यह आलयविज्ञान उत्पाद, स्थिति और लयसे रहित[4] है, परन्तु यह क्षणिक धारा है, कोई नित्य पदार्थ नहीं। जिस समय अविद्याके नष्ट होनेसे वासनाका अंकुर नष्ट हो जाता है, उस समय क्षोभोत्पादक ग्राह्य-गाहक भाव भी नहीं रहता। इस दशामें अहंकारसे रहित आलयविज्ञान भी व्यावृत्त हो जाता है और केवल एक निर्मल चित्त अविशिष्ट रहता है। इसी अवस्थाको अर्हत् अवस्थाके नामसे कहा गया[5] है, और यहां योगी लोगोंका चित्त अद्वयलक्षण विज्ञप्तिमात्रमें ही स्थित हो जाता है। इस दशाको विज्ञानवादियोंके शास्त्रोंमें तथता, शून्यता, तथागतगर्भ आदि अनेक नामोंसे कह कर उसका नित्य, ध्रुव, शिव और शाश्वत रूपसे वर्णन किया गया[6] है।

शंका—यदि सम्पूर्ण धर्म केवल विज्ञप्तिमात्र हैं, तो चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रिय रूप आदिको कैसे जानती हैं। **समाधान**—जब तक योगी लोग अद्वयलक्षण विज्ञप्तिमात्रताका

---

[1] सर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानत्वात् आलयः। आलयः स्थानमिति पर्यायौ। अथवा लीयन्ते उपनिबध्यंतेऽस्मिन् सर्वधर्माः कार्यभावेन। तद्वालीयते उपनिबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेषु इत्यालयः। विजानाति विज्ञानं। त्रिंशिका २ स्थिरमति भाष्य पृ. १८।

[2] यथा हि ओघः तृणकाष्ठगोमयादीनाकर्षयन् गच्छति एवं आलयविज्ञानमपि पुण्यापुण्यानेज्यकर्मवासनानुगतं स्पर्शमनास्कारादीनामाकर्षयत् स्रोतसा संसारमव्युपरतं प्रवर्तत इति। त्रिंशिका ४ स्थिरमति भाष्य पृ. २२।

[3] स्वचित्तदृश्यग्रहणानवबोध, अनादिकालप्रपंचदौष्ठुल्यरूपवासनाभिनिवेश, विज्ञानप्रकृतिस्वभाव और विचित्ररूपलक्षणकौतूहल।

[4] उत्पादस्थितिभंगवर्जम्।

[5] तस्यां हि अवस्थायां आलयविज्ञानाश्रितदौष्ठुल्यनिरवशेषप्रहाणादालयविज्ञानं व्यावृत्तं भवति। सैव चार्हदवस्था। त्रिंशिका ४ भाष्य।

[6] असंगने इसका वर्णन निम्न प्रकारसे किया है—

न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा
न जायते व्येति न चावहीयते।
न वर्धते नापि विशुद्ध्यते पुनः
विशुद्ध्यते तत्परमार्थलक्षणम्॥ महायानसूत्रालंकार।

साक्षात्कार नहीं करते, उस समय तक पदार्थोंमें ग्राह्य-ग्राहक रूप प्रवृत्तिका नाश नहीं होता। इस कारण वासनाके कारणही इन्द्रियोंसे पदार्थोंका ग्राह्य-ग्राहक रूप ज्ञान होता है, वास्तवमें समस्त धर्म विज्ञान रूप ही हैं।

शंका—विज्ञानवादी लोग तथागतगर्भका नित्य, ध्रुव आदि विशेषणोंसे वर्णन करते हैं। इसी प्रकार तैर्थिक लोग भी आत्माको नित्य, कर्ता, निर्गुण और विभु कहते हैं। फिर बुद्ध भगवानके नैरात्म्यवाद और तैर्थिकोंके आत्मवादमें क्या अन्तर है ?
समाधान—तथागतगर्भका उपदेश तैर्थिकोंके आत्मवादके तुल्य नहीं है। मूर्ख तैर्थिक लोगोंको नैरात्म्यवादके सुनने से भय उत्पन्न होता है, इस लिये तथागतने सम्पूर्ण धर्मोंको

---

१ यावद् विज्ञप्तिमात्रत्वे विज्ञानं नावतिष्ठति ।
ग्राह्यद्वयस्यानुशयस्तावन्न विनिवर्तते ॥
यावद् अद्वयलक्षणे विज्ञप्तिमात्रे योगिनश्चितं न प्रतिष्ठितं भवति ।
तावद् ग्राह्यग्राहकानुशयो न विनिवर्तते न प्रहीयत । त्रिंशिका २६ भाष्य ।

२ प्रो. शेर्वाट्स्की (Stcherbatsky) ने विज्ञानवादियोंके आलयविज्ञानके सिद्धांतको विचार-संततिको छोडकर प्रच्छन्न रूपसे नित्य आत्मा माननेके सिद्धांतकी ओर आना वताया है—This represents a disguised return from the theory of a stream of the thought to the doctrine of substantial soul.

The conception of Buddhist Nirvana पृ. ३२.

यामाकामी सोगेन (Yamakami sogen) ने आलयविज्ञान और आत्माकी तुलना करते हुए लिखा है—

The Ālayavijñāna of the Buddhists has its counterpart in the Ātman of the orthodox Hindu system of philosophy, with this difference that the Ātman is immutable while the Ālayavijñāna is continuously changing......It might be said to be mutable while the Soul is immutable, but it may be said to resemble soul in its continuity. Our consciousnesses are dependent upon the Ālayavijñāna. They act or stop, but the Ālayavijñāna is continuously a consciousness. It is universal only in the sense that it can go everywhere, while the Ātman is said to be present everywhere. The Ālayavijñāna is said to attain its liberation and amalagamate with the ocean of the 'Great Ātman,' while the Ālayavijñāna is the name given to consciousness in the stage of the common people and of one who has just attained the seventh Bhūmi or realm of Bodhisattva.

Systems of Buddhistic Thought.

अ. ६ पृ. २११,२३७ ।

तथागतगर्भ कहकर तीर्थिकोंको आकर्षण करनेके लिये उपदेश दिया है। इस लिये इसमें बोधिसत्वोंको आत्म-दृष्टि नहीं करना चाहिये।

असंग, वसुबंधु, नन्द, दिङ्नाग, धर्मपाल, शीलभद्र ये विज्ञानवादके प्रधान आचार्य माने जाते हैं। असंग (४८० ई. स.) जिन्हें आर्यसंग भी कहा जाता है, और वसुबंधु दोनों सगे भाई थे। ये पेशावर (परुषपुर) के रहने वाले ब्राह्मण थे। जीवनके प्रारंभमें वसुबंधु सर्वास्तिवादका प्रतिपादन करते थे और अपने जीवनके अंतिम वर्षोंमें अपने बड़े भाई असंगके प्रभावसे विज्ञानवादका प्रतिपादन करने लगे थे। पहले असंगको विज्ञानवादका प्रतिष्ठाता समझा जाता था, परन्तु अब मैत्रेय (मैत्रेयनाथ) ऐतिहासिक व्यक्ति समझने जाने लगे है। मैत्रेय असंगके गुरु थे, और इन्होंने ही योगाचारकी नींव रक्खी। मैत्रेयनाथने सूत्रालंकार, मध्यान्तविभंग, धर्मधर्मताविभंग, महायानउत्तरतन्त्रशास्त्र, अभिसमयालंकारकारिका आदि ग्रंथोंका निर्माण किया है। असंगने महायानसूत्रालंकार, योगाचारभूमिशास्त्र, महायानसूत्र, पंचभूमि, अभिधर्मसमुच्चय, महायानसंग्रह आदि शास्त्र लिखे हैं। वसुबंधुने अभिधर्मकोश, परमार्थसप्तति, विंशतिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, त्रिंशिकाविज्ञप्तिमात्रता तथा सद्धर्मपुण्डरीक, प्रज्ञापारमिता आदि महायानसूत्रोंके ऊपर टीकायें लिखी हैं। महायान सम्प्रदायके प्ररूपण करनेवाले आचार्योंका नाम लेते समय अश्वघोषका स्थान बहुत महत्वका है। अश्वघोष (८० ई. स.) तथतावाद नामके एक नूतन प्रकारके सिद्धांतके जन्मदाता थे। अश्वघोषने लंकावतार सूत्रके आधारसे अपने महायान मार्गके तत्त्वदर्शनकी रचना की है। अश्वघोष अपने जीवनके प्रारंभमें बडे भारी ब्राह्मण विद्वान थे। अश्वघोषका सिद्धांत केवल शून्यविज्ञानवादका सिद्धांत नहीं है, बल्कि उसमें उपनिषदोंके शाश्वतवादकी छाया स्पष्ट मालूम देती है। अश्वघोषने श्रद्धोत्पादशास्त्र, बुद्धचरित, सौंदरानन्द, सूत्रालंकार, वज्रसूचि आदि अनेक बौद्ध शास्त्रोंकी रचना की है।

बौद्धोंका अनात्मवाद

(१) उपनिषद्कारोंका मत है, कि आत्मा नित्य, सुख और आनन्द रूप है, और यह दृश्यमान जगत इस आत्माका ही रूप है। पति पत्नीको और पत्नी पतिको एक दूसरेके सुखके लिये प्यार नहीं करते, परन्तु प्राणी मात्रकी प्रवृत्ति अपनी अपनी आत्माके सुखके

---

[१] भगवानाह। न हि महामते तीर्थकरात्मवादतुल्यो मम तथागतगर्भोपदेशः। किंतु महामते तथागताः शून्यताभूतकोटिनिर्वाणानुत्पादानिमित्ताप्रणिहिताद्यानां महामते पदार्थानां तथागतगर्भोपदेशं कृत्वा तथागता अर्हन्तः सम्यक्संबुद्धाः बालानां नैरात्म्यसंत्रासपदविवर्जितार्थं निर्विकल्पनिराभासगोचरं तथागतगर्भमुखोपदेशेन देशयन्ति। न चात्र महामते अनागतप्रत्युत्पन्नैः बोधिसत्वैर्महासत्वैरात्माभिनिवेशकर्तव्यः।...... एवं हि महामते तथागतगर्भोपदेशमात्मवादाभिनिविष्टानां तीर्थकराणामाकर्षणार्थं तथागतगर्भोपदेशेन निर्दिशन्ति। लंकावतार पृ. ७७।

लिये होती है। अतएव आत्मा सर्वप्रिय है। इस लिये आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये, क्योंकि आत्माके दर्शन, श्रवण, आदिसे समस्त ब्रह्माण्डका ज्ञान होता है। (२) नैयायिक–वैशेषिकोंकी मान्यता है, कि आत्मा नित्य और सर्वव्यापी है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख, और ज्ञान ये आत्माके जाननेके लिंग हैं। आत्मा शरीरसे भिन्न होकर कर्मोंका कर्ता और भोक्ता है। आत्माको चेतनाके संबंधसे चेतन कहा जाता है। (३) मीमांसकोंके मतमें आत्मा चैतन्य रूप है। आत्माके सुख, दुखके संबंधसे आत्मामें परिवर्तन होना कहा जाता है, वास्तवमें नित्य आत्मामें परिवर्तन नहीं होता। (४) सांख्य लोगोंका मत है, कि आत्मा नित्य, व्यापक निर्गुण और स्वयं चैतन्य रूप है। बुद्धि और चैतन्य परस्पर भिन्न हैं। अतएव बुद्धिके संबधसे आत्माको चेतन नहीं कह सकते। आत्मा निष्क्रिय है, इस लिये इसे कर्ता और भोक्ता भी नहीं कह सकते। प्रकृति ही करने और भोगने वाली है। प्रकृति और आत्माका संबंध होनेसे संसारका आरंभ होता है। (४) जैन लोगोंका कथन है, कि यदि आत्माको सर्वव्यापी और सर्वथा अमूर्त मानकर निरवयव माना जाय, तो निरंश परमाणुकी तरह आत्माका मूर्त शरीरसे संबंध तथा आत्मामें ध्यान, ध्येय आदिका व्यवहार और आत्माको मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इस लिये आत्मा व्यवहार नयकी अपेक्षा संकोच और विस्तारवाला होकर सावयव है, तथा निश्चय नयसे अमूर्त होनेके कारण लोकव्यापी है।

बौद्ध लोग आत्मवादियोंकी उक्त सम्पूर्ण मान्यताओंका विरोध करते[2] हैं। उन लोगोंका कथन है, कि आत्माको नित्य स्वतंत्र द्रव्य माननेमें दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्र (Ethical) संबंधी (Metaphysical) दोनों तरहकी कठिनाइयां आती हैं। यदि आत्माको सर्वथा नित्य स्वीकार किया जाय, तो उसमें वन्ध और मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकती है। "यदि आत्माको कूटस्थ नित्य मानें, तो वह अनन्त काल तक एक रस रहनेवाला होगा। भला, सदाके लिये रहनेवाले आत्मापर अनुभवोंका ठप्पा कैसे पड़ सकता है। यदि पड़ सकता है, तो ठप्पा पड़ते ही उसका रूप परिवर्तन हो जायगा। आत्मा कोई जड़ पदार्थ नहीं है जिससे सिर्फ वाह्य अवयवपर ही लांछन होगा। वह तो चेतन मय है, इस लिये ऐसी अवस्थामें इन्द्रिय जनित ज्ञान उसमें सर्वत्र प्रविष्ट हो जायगा। वह राग, द्वेष, मोह-

---

[1] स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।...न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्व प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। वृहदारण्यक उ. २–४–५

[2] आत्मवादियोंके पूर्वपक्ष और उसके खंडनके लिये देखो वोधिचर्यावतार परिच्छेद ९ पृ. ४५२ से आगे; तत्त्वसंग्रह पृ. ७९–१३० आत्मपरीक्षा नामका प्रकरण।

नाना प्रकारोंमेंसे किसी एक रूपवाला हो जायगा। तब फिर वह वही आत्मा नहीं हो सकता, जो ठप्पा लगनेसे पहले था। अतएव वह एक-रस भी नहीं हो सकता। फिर आत्मा नित्य है कैसे ? यदि थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि ठप्पा लगता है, तो वह अभौतिक संस्कार भी नित्य आत्मामें लगकर अविचल हो जायगा। तब फिर शुद्धि या मुक्तिकी आशा कैसे की जा सकती है।........जो लोग पुनर्जन्म भी मानते हैं, और साथ साथ आत्माको नित्य भी, उनकी ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। जब वह नित्य है, तो कूटस्थ भी है, अर्थात् सदा एक-रस रहेगा; फिर ऐसी एक-रस वस्तुको यदि परिशुद्ध मानते हैं, तो वह जन्म मरणके फेरमें कैसे पड़ सकती है। यदि अशुद्ध है, तो स्वभावतः अशुद्ध होनेसे उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है। नित्य कूटस्थ होनेपर संस्कारकी छाप उसपर नहीं पड़ सकती, यह हम पहले कह चुके हैं। यदि छापके लिये मनको मानते हैं, तो आत्मा माननेकी ज़रूरत ही क्या रह जाती है[1]।" नित्य आत्माको माननेमें यह दर्शनशास्त्र संबंधी कठिनाई है। आत्माके माननेमें दूसरी कठिनाई यह आती है, कि प्रिय वस्तुको लेकर ही सम्पूर्ण दुख उत्पन्न होते हैं, इस लिये जिस समय मनुष्यको अपनी आत्मा सर्वप्रिय हो जाती है, उस समय मनुष्य अपनी आत्माकी सुखसाधन सामग्रियां जुटानेके लिये अहंकारका अधिकाधिक पोषण करने लगता है, फलतः मनुष्यके दुखकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती[2] है। अतएव बौद्ध लोगोंने आत्माको कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं मानकर रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पांच स्कंधोंके[3] समूहसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिको आत्मा अथवा विज्ञान नामसे कहा है। यह विज्ञान प्रति-

---

[1] राहुल सांकृत्यायन—मज्झिमनिकाय भूमिका पृ. त।

[2] दुःखहेतुरहंकार आत्ममोहात्तु वर्धते।
ततोऽपि न निवर्त्यश्चेत् वरं नैरात्म्यभावना॥　　बोधिचर्यावतार ९-७८।
साहंकारे मनसि न शमं याति जन्मप्रबंधो। नाहंकारश्चलति हृदयादात्मदृष्टौ च सत्यम्।
अन्यः शास्ता जगति भवतो नास्ति नैरात्म्यवादी। नान्यस्तस्मादुपशमविधेस्त्वन्मतादस्तिमार्गः॥
तत्त्वसंग्रहपंजिका पृ. ९०५।

तुलना करो—जन्मयोनिर्यतस्तृष्णा ध्रुवा सा चात्मदर्शने। तदभावे च नेयं स्याद्बीजाभावे इवांकुरः।
न ह्यपश्यन्नहमिति स्निह्यत्यात्मनि कश्चन। न चात्मनि विना प्रेम्णा सुखहेतुषु धावति॥
यशोविजय—द्वा. द्वात्रिंशिका २५-४,५।

[3] नात्मास्ति स्कंधमात्रं तु कर्मक्लेशाभिसंस्कृतम्।
अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्॥

आत्मेति नित्यो ध्रुवः स्वरूपतोऽविपरिणामधर्मा कश्चित् पदार्थो नास्ति। कर्मभिः अविद्यादिक्लेशैश्च संस्कारमापन्नं पंचस्कंधमात्रमेव, अन्तराभवसन्तानक्रमेण गर्भं प्रविशति। क्षणे क्षणे उत्पद्यमानं विनश्यमानमपि तत् स्कंधपंचकं स्वसन्तानद्वारा प्रदीपकलिकावत् एकत्वं बोधयति। अभिधर्मकोश ३-१८ टीका।

क्षण नदीके प्रवाहकी तरह (नदीसोतोविय) बदलता रहता है । जिस प्रकार दीपककी ज्योति क्षण क्षणमें बदलते रहने पर भी सदृश परिवर्तनके कारण एक अखंड रूपसे माल्रम होती है, अथवा जिस प्रकार नदीमें प्रत्येक क्षण नये नये जलके आते रहनेपर भी नदीके जल-प्रवाहका अविकल रूपसे ज्ञान होता है, उसी तरह बाल, युवा और वृद्ध अवस्थामें विज्ञानमें प्रतिक्षण परिवर्तन होनेपर भी समान परिवर्तन होनेके कारण विज्ञान (आत्मा) का एक रूप ज्ञान होता है। बौद्धोंका कहना है, कि इस विज्ञान-प्रवाह (चित्तसंतति) के माननेसे काम चल जाता है, अतएव आत्माको अलग स्वतंत्र पदार्थ माननेकी आवश्यकता नहीं ।

भवसन्तति

बौद्ध लोग आत्माको न मानकर भी भवकी परम्परा किस प्रकार स्वीकार करते हैं, यह मिलिन्दपण्हके[2] निम्न संवादसे भली भांति स्पष्ट होता है—

मिलिन्द—भन्ते नागसेन, दूसरे भवमें क्या उत्पन्न होता है ?

नागसेन—महाराज, दूसरे भवमें नाम और रूप उत्पन्न होता है ।

मिलिन्द—क्या दूसरे भवमें यही नाम और रूप उत्पन्न होता है ?

नागसेन—दूसरे भवमें यही नाम और रूप उत्पन्न नहीं होता । परन्तु लोग इस नाम और रूपसे अच्छे, बुरे कर्म करते हैं, और इस कर्मसे दूसरे भवमें दूसरा नाम और रूप उत्पन्न होता है ।

मिलिन्द—यदि यही नाम-रूप दूसरे भवमें उत्पन्न नहीं होता, तो हमें अपने बुरे कर्मोंका फल नहीं भोगना चाहिये ?

---

[1] अमेरिकाके मानसशास्त्रवेत्ता प्रो. विलियम जेम्स (William James) ने भी विज्ञान (Consciousness) को विचारोंका प्रवाह मानते हुए नित्य आत्माके स्थानपर चित्त-सन्तति (Stream of Thought) को स्वीकार किया है—The unity, the identity, the individuality, and the immateriality that appear in the psychic life are thus accounted for as phenomenal and temporal facts exclusively, and with no need of reference to any more simple or substantial agent than the present Thought or 'section' of the stream......But the Thought is a perishing and not an immortal or incorruptible thing. Its successors may continuously succeed to it, resemble it, and appropriate it, but they are not it, whereas the soul substance is supposed to be a fixed unchanging thing. The Principles of Psychology अ. १० पृ. ३४४, ३४५ ।

[2] मिलिन्दपण्ह अ. २ पृ. ४६ ।

नागसेन—यदि हमें दूसरे भवमें उत्पन्न न होना हो, तो हमें अपने बुरे कर्मोंका फल न भोगना पड़े, परन्तु हमें दूसरे भवमें उत्पन्न होना है, अतएव हम बुरे कर्मोंसे निवृत्त नहीं हो सकते।

मिलिन्द—कोई दृष्टांत देकर समझाइये।

नागसेन—कल्पना करो, कि कोई आदमी किसीके आम चुरा लेता है। आमोंका मालिक चोरको पकड़कर राजाके पास लाता है और राजासे उस चोरको दण्ड देनेकी प्रार्थना करता है। अब, यदि चोर कहने लगे, कि मैंने इस आदमीके आम नहीं चुराये, क्योंकि जो आम इस आमोंके मालिकने बागमें लगाये थे, वे आम दूसरे थे, और जो आम मैंने चुराये हैं, वे दूसरे हैं, इस लिये मैं दण्डका पात्र नहीं हूँ, तो क्या वह चोर सजाका भागी नहीं होगा?

मिलिन्द—अवश्यही आमोंका चोर दंडका पात्र है।

नागसेन—किस कारणसे?

मिलिन्द—क्योंकि पिछले आम पूर्वके आमोंसे ही प्राप्त हुए हैं।

नागसेन—ठीक इसी प्रकार इस नाम-रूपसे हम अच्छे, बुरे कर्मोंको करते हैं और इस कर्मसे दूसरे भवमें दूसरा नाम और रूप उत्पन्न होता है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता, कि 'यदि यही नाम दूसरे भवमें उत्पन्न नहीं होता, तो हमें अपने बुरे कर्मोंका फल नहीं भोगना चाहिये'।

बौद्धोंका कथन है, कि जिस प्रकार एक दीपकसे दूसरे दीपकके जलाये जानेपर पहला दीपक दूसरे दीपकके रूपमें नहीं बदल जाता, अथवा जिस प्रकार गुरुके शिष्यको विद्या दान करनेपर गुरुका सिखाया हुआ श्लोक शिष्यके सीखे हुए श्लोकमें नहीं परिणत होता, उसी प्रकार विना किसी नित्य पदार्थके माने विज्ञान-सन्ततिके द्वारा भव-परम्परा चलती है। जिस समय जीवकी मृत्यु होती है, उस समय मरनेके समयमें रहनेवाला विज्ञान संस्कारोंकी दृढ़तासे गर्भमें प्रविष्ट होकर फिरसे दूसरे नाम-रूपसे संबद्ध हो जाता है। अतएव एक विज्ञानका मरण और दूसरे विज्ञानका जन्म होता है। जिस प्रकार ध्वनि और प्रतिध्वनिमें, मोहर और उसकी छापमें, पदार्थ और पदार्थके प्रतिबिम्बमें कार्य-कारण संबंध है, उसी तरह एक विज्ञान और दूसरे विज्ञानमें कार्य-कारण संबंध है। विज्ञान कोई नित्य वस्तु नहीं है। इस विज्ञानकी परम्परासे दूसरे भवमें जो मनुष्य उत्पन्न होता है, उस मनुष्यको न पहला ही मनुष्य कह सकते हैं, और न उसे पहले मनुष्यसे भिन्न ही कहा जा सकता है। अतएव जिस प्रकार कपासके बीजको लाल रंगसे रंग देनेसे उस बीजका फल भी लाल रंगका उत्पन्न होता है, उसी तरह तीव्र संस्कारोंकी छापके कारण अविच्छिन्न संतानसे यह मनुष्य दूसरे भवमें भी अपने किये हुए कर्मोंके फलको भोगता है। इस लिये जिस प्रकार डाकुओंसे हत्या किये जाते हुए मनुष्यके

---

[१] मिलिन्दपण्ह अ. २ पृ. ४०-५०। स्पष्टीकरणके लिये देखो बोधिचर्यावतार ९-७३ की पंजिका; तत्वसंग्रह कर्मफलसंबंधपरीक्षा तथा लोकायतपरीक्षा नामक प्रकरण।

टेलीफोनद्वारा पुलिसके थानेमें खबर देनेसे मनुष्यके अंतिम वाक्योंसे मरनेके पश्चात् भी मनुष्यकी क्रियायें जारी रहती हैं, उसी तरह संस्कारकी दृढ़ताके बलसे मरनेके अंतिम चित्त-क्षणसे जन्म लेनेके पूर्व क्षणके साथ संबंध होता है। वास्तवमें आत्माका पुनर्जन्म नहीं होता, किन्तु जिस समय कर्म (संस्कार) अविद्यासे संबद्ध होता है, उस समय कर्मका ही पुनर्जन्म कहा जाता है। इसीलिये बौद्ध दर्शनमें कर्मको छोड़कर चेतना अलग वस्तु नहीं [3] मानी है।

बौद्ध साहित्यमें आत्मासंबंधी मान्यतायें

बौद्ध साहित्यमें आत्माके संबंधमें भिन्न भिन्न मान्यतायें उपलब्ध होती हैं। संक्षेपमें इन मान्यताओंको हम चार विभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। (१) मिलिन्दपण्ह आदि ग्रंथोंके अनुसार पांच स्कंधोंको छोड़कर आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नहीं हैं। इस लिये पंच स्कंधोंके समूहको ही आत्मा कहना चाहिये। (२) पांच स्कंधोंके अतिरिक्त नैयायिक आदि मतोंकी तरह आत्मा एक पृथक् पदार्थ है। (३) आत्माका अस्तित्व तो है, परन्तु इसे 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों नहीं कह सकते। यह मत वात्सीपुत्रीय बौद्धोंका हैं[4]। (४) आत्मा है, या नहीं, यह कहना असंभव है। यहां ये चारों मान्यतायें क्रमसे दिखायी जाती हैं—

(१) आत्मा पांच स्कंधोंसे भिन्न नहीं है—

मिलिन्द—भन्ते, आपका क्या नाम है?

नागसेन—महाराज, नागसेन। परन्तु यह व्यवहार मात्र है, कारण कि पुद्गल[5] (आत्मा) की उपलब्धि नहीं होती।

---

[1] यह उपमा मिसेज़ राइस डैविड्सने दी है। देखो Buddhist Psychology पृ. २५।

[2] देखो वारन (Warren) की 'Buddhism in Translation' पुस्तकका Rebirth and not Transmigration नामक अध्यायं पृ. २३४–२४१।

[3] चेतनाहं भिक्खवे कम्मंति वदामि। अंगुत्तरनिकाय ३–४५।

सत्वलोकमथ भाजनलोकं चित्तमेव रचयत्यतिचित्रं।
कर्मजं हि जगदुक्तमशेषं कर्मचित्तमवधूय न चास्ति ॥ बोधिचर्यावतार पंजिका पृ. ४७२।

कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्मसंभवो।
कम्मा पुनब्भवा होंति एवं लोको पवत्तति ॥
कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्स च वेदको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति एवेतं सम्मदस्सनं ॥

विसुद्धिमग्ग अ. १९।

[4] आत्मवादकी इन तीन मान्यताओंका उल्लेख धर्मपालाचार्यने अपनी विज्ञानमात्रशास्त्रकी संस्कृत टीकामें किया है। यह टीका उपलब्ध नहीं है। जापानी विद्वान यामाकामी सोगेनने यह उल्लेख अपनी Systems of Buddhist thought नामक पुस्तकके १७ वें पृष्ठपर उक्त ग्रंथके हुइनत्सांगके चीनी अनुवादके आधारसे किया है।

[5] पुग्गलो नुपलब्भति। मिलिन्दपण्हमें अत्ता (आत्मा) शब्दके स्थानपर जीव पुग्गल और वेदगू शब्दोंका व्यवहार किया है। देखो मिसेज़ राइस डैविड्सका 'Question of milinda'।

मिलिन्द—यदि आत्मा कोई वस्तु नहीं है, तो आपको कौन पिंडपात (भिक्षा) देता है, कौन उस भिक्षाका भक्षण करता है, कौन शीलकी रक्षा करता है, और कौन भावनाओंका चिन्तवन करनेवाला है ? तथा फिर तो अच्छे, बुरे कर्मोंका कोई कर्ता और भोक्ता भी न मानना चाहिये। आदि।

नागसेन—मैं यह नहीं कहता।

मिलिन्द—क्या रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानको मिलकर नागसेन बने हैं?

नागसेन—नहीं।

मिलिन्द—क्या पांच स्कंधोंके अतिरिक्त कोई नागसेन हैं?

नागसेन—नहीं।

मिलिन्द—तो फिर सामने दिखाई देनेवाले नागसेन क्या हैं?

नागसेन—महाराज, आप यहां रथसे आये हैं, या पैदल चलकर?

मिलिन्द—रथसे।

नागसेन—आप यहां रथसे आये हैं, तो मैं पूछता हूँ कि रथ किसे कहते हैं। क्या पहियोंको रथ कहते हैं, क्या धुरेको रथ कहते हैं, क्या रथमें लगे हुए डण्डोंको रथ कहते हैं?

(मिलिन्दने इनका उत्तर नकारमें दिया।)

नागसेन—तो क्या पहिये, धुरे, डण्डे आदिके अलावा रथ अलग वस्तु है!

(मिलिन्दने फिर नकार कहा।)

नागसेन—तो फिर जिस रथसे आप आये हैं, वह क्या है?

मिलिन्द—पहिये, धुरा, डण्डे आदि सबको मिलाकर व्यवहारसे रथ कहा जाता है। पहिये आदिको छोड़कर रथ कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं।

नागसेन—जिस प्रकार पहिये, धुरे आदिके अतिरिक्त रथका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, उसी तरह रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पांच स्कंधोंको छोड़कर नागसेन कोई अलग वस्तु नहीं है।

---

१ नागसेनोति संखा समञ्ञा पञ्ञत्ति वोहारो नाममत्तं पवत्तति। परमत्थत्तो पन एत्थ पुग्गलो नुपलब्भति। भासितं पन एतं महाराज वजिराय भिक्खुनीया भगवतो सम्मुखा—

यथाहि अंग संभारा होति सद्दो रथो इति।
एवं खन्धेसु सत्तेसु होंति सत्तोति सम्मुति॥ मिलिन्दपण्ह अ. २ पृ.२५ से २८।

तथा—दुखमेव हि न कोचि दुक्खितो।
कारको न किंरियाव विज्जति।
अत्थि निव्वुत्ति न निव्वुत्तो पुमा।
मग्गमत्थि गमको नं विज्जति॥ विसुद्धिमग्ग अ. १६। संयुत्तनिकाय

तथा देखो कथावत्थु १–२; अभिधर्मकोश ३–१८ टीका; . दीघनिकाय–पायासिसुत्त संयुत्तनिकाय ५–१०–६।

(२) आत्मा पांच स्कंधोंसे भिन्न पदार्थ है—बौद्धोंकी दूसरी मान्यता है, कि आत्मा पंचस्कंधोंसे पृथक् पदार्थ है । यह मान्यता नैयायिक आदि दार्शनिकों जैसी ही है। यहां पर आत्मा (पुद्गल) को पांच स्कंध रूप बोझेको ढोनेवाला कहा गया है ।

(३) आत्माको पांच स्कंधोंसे न भिन्न कह सकते हैं, और न अभिन्न—बौद्धोंके आत्मा संबंधी तीसरे सिद्धान्तको माननेवाले पुद्गलवादी वात्सीपुत्रीय बौद्ध हैं । ये लोग आत्माके अस्तित्वको मानते हैं, परन्तु इनके अनुसार जिस तरह अग्निको न जलती हुई लकड़ीसे भिन्न कह सकते हैं, और न अभिन्न कह सकते हैं, परन्तु फिर भी अग्नि भिन्न वस्तु है, उसी तरह यद्यपि पुद्गल भिन्न पदार्थ है, परन्तु यह पुद्गल न पांच स्कंधोंसे सर्वथा भिन्न कहा जा सकता है, और न अभिन्न । यह न नित्य है, और न अनित्य । यह पुद्गल अपने अच्छे, बुरे कर्मोंका कर्ता और भोक्ता है, इस लिये इसके अस्तित्वका निषेध नहीं कर सकते ।

(४) आत्मा अव्याकृत है—इस मान्यताके अनुसार आत्मा क्या पदार्थ है, यह नहीं कहा जा सकता । (क) जिस समय अनुराधने बुद्धसे प्रश्न किया, कि क्या जीव रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानसे बाह्य है, बुद्धने उत्तर दिया, कि तुम इसी लोकमें जीव दिखानेमें समर्थ नहीं, फिर परलोककी बात तो दूर रही । इस लिये मैं ' दुःख, और दुखका निरोध ' इन दो तत्वोंका ही उपदेश करता हूँ । अतएव जिस प्रकार किसी तीरसे आहत मनुष्यका ' यह तीर किसने मारा है, कौनसे समयमें मारा है, कौनसी दिशासे आया है,' आदि प्रश्न करना वृथा है, क्योंकि उस समय उस मनुष्यको इन सब प्रश्नोत्तरोंमें न पड़कर तीरके घावकी रक्षाकी बात सोचनी चाहिये, उसी प्रकार आत्मा क्या है, परलोक क्या है, मरनेके बाद तथागत पैदा होता है या नहीं, आदि प्रश्न अव्याकृत हैं । (ख) बहुतसी जगह आत्माके विषयमें प्रश्न पूछे जानेपर बुद्ध मौन रहते हैं । इस मौनका कारण पूछे जानेपर बुद्ध कहते हैं, कि यदि मैं कहूँ कि आत्मा है, तो लोग शाश्वतवादी हो जाते हैं, और यदि मैं कहूँ कि आत्मा नहीं है, तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं । अतएव एक तरफ शाश्वतवाद और दूसरी ओर उच्छेदवादका निराकरण करनेके लिये मैं मौन रहता हूँ । (ग) बहुतसे बौद्ध सूत्रोंमें आत्माके

---

[१] " भारं वो भिक्षवो देशयिष्यामि भारादानं भारनिक्षेपं भारहारं च । तत्र भारः पंचोपादानस्कंधाः, भारादानं तृप्तिः, भारनिक्षेपो मोक्षः, भारहारः पुद्गलः..." तत्त्वसंग्रहपंजिका आत्मवादपरीक्षा ३४९; तथा धम्मपद अत्तवग्गो ।

[२] संयुत्तनिकाय अनुराधसुत्त; तथा—' स्कंधाः सत्त्वा एव ततो भिन्ना वा ' इति प्रश्नः सत्त्वस्य विषये, सत्त्वश्च नास्त्येव किमपि वस्तु । तेनायं प्रश्नः ' वन्ध्यापुत्रः शुक्ल कृष्णो वा ' इतिवत् स्थापनीय (अनुत्तरितं) एव । अभिधर्मकोश ५-२२ टिप्पणी; बुद्धचर्या पृ. १८६ से आगे ।

[३] किंनु खो गोतम अत्थत्ताति ।
एव वुत्ते भगवा तुण्ही अहोसि ॥
किं पन भो गोतम नत्थत्ताति ॥
दुतियंपि खो भगवा तुण्ही अहोसि । संयुत्तनिकाय ४-१०० ।

[४] अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनं । तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः ॥
माध्यामिक कारिका १८-१० ।

विषयमें प्रश्न किये जानेपर आत्माका स्पष्ट विवेचन न करके बार बार यही कहा गया है, कि रूप आत्मा नहीं, वेदना आत्मा नहीं, संज्ञा आत्मा नहीं, संस्कार आत्मा नहीं, विज्ञान आत्मा नहीं[1]। जो लोग रूप, वेदना आदिको आत्मा समझते हैं, उनके सत्कायदृष्टि[2] कही जाती है। महायान सम्प्रदायवालोंने इसी अनत्तावाद (नैरात्म्यवाद) के ऊपर अपने विज्ञानवाद और शून्यवाद सिद्धांतोंकी स्थापना करके क्लेशावरण और ज्ञेयावरणके नाश करनेके लिये नैरात्म्यवादके प्रतिपादन पूर्वक आत्म-दृष्टिसे क्लेशोंकी उत्पत्ति बतायी है[3]। नागार्जुनने कहा है, कि "बुद्धने यह भी कहा है कि आत्मा है, और यह भी कहा है कि आत्मा नहीं है। तथा बुद्धने आत्मा और अनात्मा किसीका भी उपदेश नहीं किया[4]।"

---

[1] मज्झिमनिकाय महापुण्णम सुत्त १०९।

[2] सत् कायः पंच उपादानस्कंधाः एव। तत्राहं मम दृष्टिः सत्कायदृष्टिः। अभिधर्मकोश ५-७।

[3] सत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान् क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन्।
आत्मानमस्याविषयं च बुद्ध्वा। योगी करोत्यात्मनिषेधमेव॥ माध्यामिक कारिका १८-१८।

[4] आत्मेत्यपि प्रज्ञपितमनात्मेत्यपि देशितः। बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितं॥
माध्यामिक कारिका १९-६।

न्याय-वैशेषिक परिशिष्ट (ग)

(श्लोक ४ से १० तक)

न्याय-वैशेषिकदर्शन

(१) न्याय दर्शनके मूल प्रवर्तक अक्षपाद गौतम कहे जाते हैं। अक्षपादको महायोगी, अहल्यापति आदि नामोंसे भी कहा जाता है[1]। पुराणोंके अनुसार स्वमतदूषक व्यास ऋषिका मुख देखनेके लिए गौतमके पैरोंमें नेत्र थे, इस लिए इनका नाम अक्षपाद पड़ा[2]। प्राचीन मान्यता है, कि गौतम ऋषिके आश्रममें वृष्टिके न होनेपर भी वरुणके वरसे वृक्ष आदि वनस्पतियां सदा हरी भरी रहा करती थीं। नैयायिक लोग यौग, और शैव नामसे भी कहे जाते हैं। नैयायिक दर्शनमें शिव भगवान जगतकी सृष्टि और संहार करते हैं, वे व्यापक, नित्य, एक और सर्वज्ञ हैं, और इनकी बुद्धि शाश्वती रहती है। नैयायिक लोग प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह तत्वोंके ज्ञानसे दुखका नाश होनेपर मुक्ति स्वीकार करते हैं। ये लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और आगम इन चार प्रमाणोंको[3] मानते हैं। (२) वैशेषिक दर्शनके आद्य प्रणेता कणाद कहे जाते है। कणादको कणभक्ष अथवा औलूक्य नामसे भी कहा जाता है। पौराणिक मान्यताके अनुसार कणाद ऋषि रास्तेमें पड़े हुए चावलोंके कणोंका आहार करके कापोती वृत्तिसे अपना निर्वाह करते थे, अतएव इनका नाम कणाद अथवा

---

१ अक्षपादो महायोगी गौतमाख्योऽभवन्मुनिः।
गोदावरीसमानेता अहल्यायाः पतिः प्रभुः ॥
स्कन्दपुराण कुमारिकाखण्ड।

२ पुराणोंमें सांख्य-योगकी तरह अक्षपाद और कणाद प्रणीत शास्त्रोंको श्रुति विरुद्ध कहा है—
अक्षपादप्रणीते च काणादे योगसांख्ययोः।
,त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोऽर्थः। पद्मपुराण। न्यायकोश पृ. २।

३ न्याय ग्रन्थोंमें प्रमाणके लक्षण निम्न प्रकारसे मिलते हैं—

(क) जिस प्रत्यक्ष आदिके द्वारा प्रमाता पदार्थोंको यथार्थ रूपसे जानता है, उसे प्रमाण कहते हैं—प्रमाता येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम्। वात्स्यायन भाष्य १-१-१।

(ख) जो ज्ञानमें कारण हो, उसे प्रमाण कहते हैं—उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्। उद्योतकर-न्यायवार्तिक।

(ग) अव्यभिचारी और असंदिग्ध रूपसे पदार्थोंके ज्ञान करनेवाली बोधाबोध स्वभाववाली सामग्रीको प्रमाण कहते हैं—अव्यभिचारिणीमसंदिग्धार्थोपलब्धिम् विदधति बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्। जयन्त-न्यायमंजरी पृ. १२।

(घ) पदार्थोंके यथार्थ रूपसे जाननेको प्रमा और प्रमाके साधनको प्रमाण कहते हैं—यथार्थानुभवः प्रमा। तत्साधनं च प्रमाणम्। उदयन-तात्पर्यपरिशुद्धि।

(ङ) प्रमासे नित्य संबंध रखनेवाले परमेश्वरको प्रमाण कहते हैं—साधनाश्रयव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम्। सर्वदर्शनसंग्रह अक्षपाददर्शन।

कणभक्ष पड़ा[1]। कणाद ऋषिका दूसरा नाम औलूक्य है। कणादने काश्यप गोत्री उलूक ऋषिके घर जन्म धारण किया था, अतएव इनका नाम औलूक्य पड़ा। वायुपुराणके अनुसार औलूक्य द्वारकाके पास प्रभासके रहनेवाले सोमशर्माके शिष्य थे। वैदिक परम्परका अनुकरण करते हुए हेमचन्द्र, राजशेखर, गुणरत्न आदि जैन विद्वानोंका कथन है, कि स्वयं ईश्वरने उलूू (उलूक) का रूप धारण करके कणाद ऋषिको द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थोंका उपदेश किया था। इस उपदेशके ऊपरसे कणाद ऋषिने जीवोंके उपकारके लिये वैशेषिक सूत्रोंकी रचना की, इसीलिये कणाद ऋषि औलूक्य नामसे कहे जाने लगे[2]। "ईसाकी छठी शताब्दिके चित्साङ् (Ci-tsān) नामक एक चीनी बौद्ध वैशेषिक दर्शनके जन्मदाता उलूकका समय बुद्धसे आठसौ वर्ष पहले बताते हैं। चित्साङ्का कथन है, कि उलूक रातको सूत्रोंकी रचना करते थे, और दिनमें भिक्षावृत्ति करते थे, इस लिये इनका नाम उलूक पड़ा। चित्साङ्ने दूसरी जगह लिखा है, कि उलूकके रचे हुए सूत्र सांख्य दर्शनके सूत्रोंसे बढ़े चढ़े (विशेष) थे, इस लिये उलूकका दर्शन वैशेषिक दर्शनके नामसे प्रसिद्ध हुआ। सूत्रालंकाकरके कर्त्ता अश्वघोषका कहना है, कि जैसे रातमें उलूू शक्तिशाली होता है, वैसे ही संसारमें बुद्धके आनेके पहले यह दर्शन शक्तिशाली था। बुद्धके प्रादुर्भाव होनेपर इस दर्शनका प्रभाव हीन हो गया, इस लिये इस दर्शनको औलूक्य दर्शन कहते हैं[3]।" वैशेषिकोंका दूसरा नाम पाशुपत है। वैशेषिक लोग द्रव्य[4], गुण, कर्म, सामान्य विशेष और समवाय इन छह[5] तत्त्वोंको, और प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणोंको स्वीकार करते हैं।

---

[1] मुनिविशेषस्य कापोतीं वृत्तिमनुष्ठितवतो रथ्यानिपतितांस्तण्डुलकणानादाय कृताहारस्याहारनिमित्तात् कणाद इति संज्ञाऽजनि। षडदर्शनसमुच्चय–गुणरत्न टीका पृ. १०७।

[2] वैशेषिकः स्यादौलूक्यः। नित्यद्रव्यवृत्तयोऽत्र विशेषाः, ते प्रयोजनमस्य वैशेषिकं शास्त्रं तद् वेत्त्यऽधीते वा वैशेषिकः। उलूकस्यापत्यमिव तज्जन्यत्वादौलूक्यं शास्त्रं, उलूकवेषधारिणा महेश्वरेण प्रणीतमिति प्रसिद्धिः। अभिधानचिन्तामणि ३–५२६ वृत्ति।

[3] प्रो. ध्रुव स्याद्वादमंजरी नोट्स पृ. २३–२५।

[4] वैशेषिकोंके द्रव्य, गुण, काल, आत्मा, परमाणु आदिकी मान्यताओंके साथ जैन दर्शनके सिद्धांतोंकी तुलना करनेके लिये देखो वैशेषिकसूत्र और तत्त्वार्थाधिगमसूत्र; तथा प्रो. जैकोबी (Jacobi) का Jain sutras भाग. २ भूमिका पृ. ३३ से ३८।

[5] वैशेषिकसूत्र और प्रशस्तपाद भाष्यमें द्रव्य, गुण आदि छह पदार्थोंका ही उल्लेख पाया जाता है। हरिभद्र, शंकराचार्य आदि विद्वानोंने भी वैशेषिकोंके छह पदार्थोंका उल्लेख किया है। आगे जाकर श्रीधर, उदयन, शिवादित्य आदि विद्वान छह पदार्थोंमें अभाव नामका सातवां पदार्थ मिलाकर सात पदार्थोंको स्वीकार करते हैं। इन विद्वानोंकी मान्यता है, कि अभाव तुच्छ रूप नहीं है। अन्य पदार्थोंकी तरह अभाव भी अलग पदार्थ है। यह अभाव भावके आश्रयसे रहता है, इसीलिये भाष्यकारने अभावको अलग पदार्थ नहीं कहा (अभावस्य पृथगनुपदेशः भावपारतन्त्र्यात् न त्वभावात्—न्यायकंदली पृ. ६)। शिवादित्यने सात पदार्थोंके विवेचन करनेके लिये सप्तपदार्थी नामक स्वतंत्र ग्रंथकी ही रचना की है।

न्याय-वैशेषिकोंके समानतंत्र

नैयायिक और वैशेषिक लोग बहुतसी मान्यताओंमें एकमत हैं, इस लिये इन्हें 'समानतंत्र' कहा गया है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायनने वैशेषिक सिद्धांतको न्यायका 'प्रतितंत्र' सिद्धांत कहा है। बौद्ध विद्वान आर्यदेव और हरिवर्मन् भी न्याय और वैशेषिक सिद्धांतोंका भिन्न भिन्न रूपमें उल्लेख नहीं करते। उद्योतकर अपने न्यायवार्तिकमें वैशेषिक सिद्धांतोंका ही उपयोग करते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि आगे चलकर वरदराज तार्किकरक्षामें, केशवमिश्र तर्कभाषामें, शिवादित्य सप्तपदार्थीमें, लौगाक्षि-भास्कर तर्ककौमुदीमें, विश्वनाथ भाषापरिच्छेद और सिद्धांतमुक्तावलिमें, अन्नंभट तर्कसंग्रहमें और जगदीश तर्कामृतमें न्याय-वैशेषिक सिद्धांतोंका समान रूपसे उपयोग करते हैं। विद्वानोंका मत है, कि प्रशस्तपाद भाष्यकारके समयके वैशेषिक सिद्धांत और उद्योतकरके समयके न्याय सिद्धांतोंमें बहुत कम अन्तर था, परन्तु उत्तरकालके वैशेषिक लोगोंने आत्मा और अनात्माकी 'विशेष' की ओर अधिक ध्यान दिया, और परमाणुवादका विशेष रूपसे अध्ययन किया, तथा उत्तरकालके नैयायिकोंने न्याय और तर्कको वृद्धिंगत करनेमें अपनी शक्ति लगाई, इस लिये आगे चलकर न्याय और वैशेषिक सिद्धांतोंमें परस्पर बहुत अन्तर पड़ता गया। एक समय यह अन्तर इतना बढ़ा, कि वैशेषिकोंके पदार्थोंका खण्डन करनेके लिये नव्य नैयायिक रघुनाथ आदिको 'पदार्थखण्डन' जैसे ग्रंथोंकी रचना करनी पड़ी। गुणरत्नसूरिने नैयायिक और वैशेषिकोंके मतको अभिन्न[1] बताते हुए उनके साधुओंके समान वेष और आचार निम्न प्रकारसे वर्णन किया है—"ये लोग निरन्तर दण्ड धारण करते हैं, मोटी लंगोटी पहिनते हैं, अपने शरीरको कंबलसे ढके रहते हैं, जटा बढ़ाते हैं, भस्म लपटते हैं, यज्ञोपवीत रखते हैं, हाथमें जलपात्र रखते हैं, नीरस भोजन करते हैं, प्रायः वृक्षके नीचे वनमें रहते हैं, तुंबी रखते हैं, कन्दमूल और फलके ऊपर रहते हैं, अतिथ्य कर्ममें रत रहते हैं, कोई सस्त्रीक होते हैं और कोई स्त्री रहित होते हैं, दोनोंमें स्त्री रहित अच्छे समझे जाते हैं। ये लोग पंचाग्नि तप तपते हैं, संयमकी उत्कृष्ट स्थितिमें नग्न रहते हैं और प्रातःकालमें दांत, पेट आदिको साफ करके अंगमें भस्म लगाकर शिवका ध्यान करते हैं। जिस समय इनको यजमान लोग नमस्कार करते हैं, उस समय ये 'ओं नमः शिवाय' बोलते हैं, और सन्यासी लोग केवल 'नमः शिवाय' कहते हैं। ये तपस्वी लोग शैव, पाशुपत, महाव्रतधर और कालमुखके भेदसे चार प्रकारके होते हैं। नैयायिक और वैशोषिकोंका देवताके विषयमें मतभेद नहीं है।"

---

[1] अन्ये केचनाचार्याः नैयायिकमताद्वैशेषिकैः सह भेदं पार्थक्यं न मन्यन्ते। एकदेवतत्त्वेन तत्त्वानां मिथोऽन्तर्भावेनाल्पीयस एव भेदस्य भावाच्च नैयायिकवैशेषिकाणां मिथो मतैक्यमेवेच्छन्तीत्यर्थः। षड्दर्शन-समुच्चय टीका पृ. १२१।

न्याय-वैशेषिकोंमें मतभेद

१ वैशेषिक लोग शब्दको भिन्न प्रमाण नहीं मानते, परन्तु ये लोग वेदोंके प्रामाण्यको स्वीकार करते हैं। नैयायिक शब्दको भिन्न प्रमाण मानकर वेदोंके प्रमाणके अतिरिक्त ऋषि, आर्य और म्लेच्छ आप्तोंको प्रमाण मानते हैं।

२ नैयायिक उपमानको भिन्न प्रमाण मानते हैं, और अर्थापत्ति, संभव और ऐतिह्यको प्रमाण मानकर उनका प्रत्यक्ष, अनुमान आदि चार प्रमाणोंमें अंतर्भाव करते हैं। वैशेषिक सूत्रोंमें उक्त प्रमाणोंका कोई उल्लेख नहीं मिलता। वैशेषिक लोग प्रत्यक्ष और अनुमान केवल दो ही प्रमाण मानते हैं।

३ नैयायिक लोग सोलह पदार्थ मानते हैं। न्यायसूत्रोंमें द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष और समवायके विषयमें कोई चर्चा नहीं आती। वैशेषिक सूत्रोंकी चर्चा प्रधानतया द्रव्य, गुण आदि पदार्थोंके ऊपर ही होती है।

४ वैशेषिक सूत्रोंमें ईश्वरका नाम नहीं आता। न्याय सूत्र ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करते हैं।

५ वैशेषिक लोग मोक्षको निश्रेयस अथवा मोक्ष नामसे कहते हैं, और शरीरसे सदाके लिये संबंध छूट जानेको मोक्ष मानते हैं। नैयायिक लोग मोक्षको अपवर्ग नामसे कहते हैं, और दुखके क्षयको अपवर्ग मानते हैं।

६ वैशेषिक पीलुपाकके सिद्धांतको और नैयायिक पिठरपाकके सिद्धांतको मानते हैं[1]।

वैदिक साहित्यमें ईश्वरका विविध रूप

(१) वैदिक युगके लोग सूर्य, चन्द्र, ऊषा, अग्नि, विद्युत्, आकाश आदिको ही अपना आराध्य देव समझ कर सूर्य आदिकी पूजा और आराधना करते थे। धीरे धीरे सूर्य आदिका स्थान इन्द्र, वरुण आदि देवताओंका मिला। ये इन्द्र, वरुण आदि देवता लोग जिस तरह कोई बढ़ई अथवा सुनार किसी नूतन पदार्थकी सृष्टि करता है, एक साथ अथवा एक एक करके जगतकी सृष्टि करते हैं। कुछ समय बाद वेदोंमें जन, सृज, अण्ड, गर्भ, रेतस आदि शब्दोंका प्रयोग मिलता है, और यहां देवताओंको सृष्टिका सर्जक और शासक कहकर पिता रूपसे उल्लेख किया जाता है। आगे चलकर सृष्टिको देवताओंकी माया कह कर सृष्टिको मनुष्यबुद्धिके बाह्य बताया जाता है। यहां इन्द्र मायाके द्वारा सृष्टिकी रचना करता है, और अपने शरीरसे ही अपने माता-पिताका निर्माण करता है। आगे जाकर वैदिक ऋषि ईश्वरको निश्चित रूप देनेके लिये सत्, असत्; जीवन, मृत्यु आदि परस्पर विरोधी शब्दोंसे

---

[1] देखो दासगुप्तकी A History of Indian Philosophy Vol. I पृ. ३०४-५।

ईश्वरका वर्णन करते[1] हैं । (२) ब्राह्मणोंमें भी ईश्वर संबंधी अनेक मनोरंजक कल्पनायें पायी जाती हैं । (अ) प्रजापतिने एकसे अनेक होनेकी इच्छा की। इसके लिये प्रजापतिने तप किया और तीन लोकोंकी सृष्टि की[2] । (ब) सृष्टिके पहले पृथिवी, आकाश आदि किसी पदार्थका भी अस्तित्व नहीं था । प्रजापतिने एकसे अनेक होनेके लिये तपश्चरण किया । तपश्चरणके बलसे धूम, अग्नि, प्रकाश, ज्वाला, किरणें और बाष्पकी उत्पत्ति हुई, और बादमें ये सब पदार्थ बादलकी तरह जमकर घनीभूत हो गये। इससे प्रजापतिका लिंग फट गया, और उसमेंसे समुद्र टूट निकला। प्रजापति रोने लगे, क्योंकि अब उनके ठहरनेकी कोई जगह नहीं रह गई थी। प्रजापतिकी आंखोंके अश्रु-बिन्दु समुद्रके जलमें गिरे और वे पृथिवी रूपमें परिणत हो गये । बादमें प्रजापतिने पृथिवीको साफ किया और उससे वायुमंडल और आकाशकी उत्पत्ति हुई[3] । (स) प्रजापतिने एकसे अनेक होनेके लिये कठोर तपश्चरण किया । उससे ब्राह्मन् (वेद) और जलकी उत्पत्ति हुई । प्रजापतिने त्रयी विद्याको लेकर जलमें प्रवेश किया, इससे अंडा उत्पन्न हुआ । प्रजापतिने अंडेका स्पर्श किया । बादमें अग्नि, बाष्प, मृत्तिका आदिकी उत्पत्ति हुई[4] । (३) उपनिषद् साहित्यमें भी सृष्टि और सृष्टिकर्ताके विषयमें विविध सिद्धांतोंका प्रतिपादन किया गया है । (अ) केवल बृहदारण्यक उपनिषद्में ही इस विषयकी कई कल्पनायें मिलती हैं । यहां एक स्थलपर असत्, मृत्यु और क्षुधाको एक मानकर मृत्युसे जीवनकी उत्पत्ति मानी गई है, और मृत्युसे जल, पृथिवी, अग्नि, वायु, लोक आदिकी सृष्टि स्वीकार की गई है । दूसरे स्थलपर आत्मा अथवा पुरुषसे सृष्टि मानकर कहा गया है, कि जिस समय आत्मामें संवेदन शक्तिका आविर्भाव हुआ, उस समय आत्मा अपनेको अकेले पाकर भयभीत हुआ । आत्मा पुरुष और स्त्री दो विभागोंमें विभक्त हुआ । स्त्रीने देखा, कि पुरुष उसका सर्जक है और साथ ही उसका प्रेमी भी है । स्त्रीने गौका रूप धारण कर लिया । पुरुषने भी बैलका रूप धारण किया । इसी प्रकार बकरी, बकरा आदि युगलोंकी उत्तरोत्तर सृष्टि होती गई । दूसरे स्थलपर ब्रह्मसे सृष्टिकी रचना मानी गई है । यहां कहा गया है, कि सृष्टिके पहले एक ब्रह्म ही था । ब्रह्मने अपनेको पर्याप्त शक्तिशाली न देखकर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जातियोंकी और सत्यकी सृष्टि[5] की । (ब) छान्दोग्य उपनिषद्में असत्को अंडा बताकर अंडेके फूटनेसे पृथिवी, आकाश, पर्वत आदिकी रचना मानी गई[6] है । (स) प्रश्न उपनिषद्में सृष्टिकर्ताको अनादि मानकर कहा गया है, कि जिस समय ईश्वरको सृष्टिके रचनेकी इच्छा हुई, उस समय ईश्वरने रयि और प्राणके युगलको पैदा किया[7] । (ड) मुण्डक उपनिषद्में

---

१ देखो वेल्वेल्कर और रानाड़े (Belvelker and Ranade) की History of Indian Philosophy Vol. II अ. १ । २ एतरेयब्राह्मण ५–३२ । देखो वही अ. २ । ३ तैत्तरीयब्राह्मण ११–२–९ । वही । ४ शतपथब्राह्मण ६–१–१–८ और आगे । वही । ५ बृहदारण्यक उ. अध्याय १ । ६ छान्दोगय उ. ३–१९–१ । ७ प्रश्न उ. १–४ ।

अक्षरसे सृष्टि मानी गई है। इसी प्रकार अन्य उपनिषदोंमें तम, प्राण, आकाश, हिरण्यगर्भ, जल, वायु, अग्नि आदिसे सृष्टिका आरंभ स्वीकार किया गया है।

भारतीय दर्शन साहित्यमें चार्वाक, बौद्ध, जैन, मीमांसा, सांख्य[3] और योग[4] दर्शनकार ईश्वरको सृष्टिकर्ता स्वीकार नहीं करते। तथा वेदान्त[5], न्याय[6] और वैशेषिक[7] दर्शनोंमें ईश्वरको सृष्टिका रचनेवाला माना गया है।

ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण

ईश्वरवादियोंका मत है, कि इस अचेतन सृष्टिका कोई सचेतन नियन्ता होना चाहिये। परमाणु और कर्मशक्तिसे सृष्टिकी रचना नहीं हो सकती। क्योंकि परमाणु और कर्मशक्ति दोनों अचेतन हैं। इस लिये इस सृष्टिका सचेतन नियन्ता सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, करुणाशील और

---

[1] मुण्डक उ. १-७। [2] देखो रानाड़े और बेल्वलकरकी Constructive survey of the Upanisadic Philosophy अ. २।

[3] सांख्यदर्शनके इतिहासको तीन प्रधान युगोंमें विभक्त किया जाता है—(१) मौलिक अर्थात् उपनिषद्, भगवद्गीता, महाभारत और पुराणोंका सांख्य ईश्वरवादी था। (२) दूसरे युगका अर्थात् महाभारतके अर्वाचीन भागमें, तथा सांख्यकारिका और वादरायणके सूत्रोंमें वर्णित सांख्य 'प्रकृतिवाद' के सिद्धांतसे प्रभावान्वित होकर अनीश्वरवादी हो गया। (३) तीसरे युगका अर्थात् ईसाकी सोलहवीं शताब्दिका सांख्यदर्शन विज्ञानभिक्षुके अधिपतित्वमें फिरसे ईश्वरवादकी ओर झुक गया।

[4] योगको सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। इस मतमें ईश्वरको सृष्टिका कर्ता नहीं मानकर एक पुरुष विशेषको ईश्वर माना गया है। यह पुरुष विशेष सदा क्लेश, कर्म, कर्मोंका फल और वासनासे अस्पृष्ट रहता है।

[5] वेदान्तके अनुसार ईश्वर जगतका निमित्त और उपादान कारण है, इस लिये वेदान्तियोंका मत है, कि ईश्वरने स्वयं अपनेमेंसे ही जगतको बनाया है, जब कि न्याय-वैशेषिकोंके अनुसार सृष्टिमें ईश्वर केवल निमित्त कारण है। इसके अतिरिक्त वेदान्त मतमें अनुमानसे ईश्वरकी सिद्धि न मानकर जन्म, स्थिति और प्रलय तथा शास्त्रोंका कारण होनेसे ईश्वरकी सिद्धि मानी गई है।

[6] गार्बे (Garbe) आदि विद्वानोंके मतके अनुसार न्यायसूत्र और न्यायभाष्यमें ईश्वरवादका प्रतिपादन नहीं किया गया है। यहां ईश्वरको केवल द्रष्टा, ज्ञाता, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिशाली कहा गया है, ईश्वरको सृष्टिका कर्ता नहीं माना गया। परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि न्यायभाष्यमें ईश्वरको पिताके समान कहनेका स्पष्ट उल्लेख मिलता है—यथा पिताऽपत्यानां तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम्। ४-१-२१।

[7] कुछ विद्वानोंका मत है, कि वैशेषिक सूत्रोंमें ईश्वरके विषयका कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। यहां परमाणु और आत्माकी क्रिया अदृष्टके द्वारा प्रतिपादित की जाती है। इस लिये मौलिक वैशेषिक दर्शन अनीश्वरवादी था। अथैली (Athalye) आदि विद्वान इस मतका विरोध करते हैं। उनका कहना है, कि वैशेषिक दर्शन कभी भी अनीश्वरवादी नहीं रहा। वैशेषिक सूत्रोंका ईश्वरके विषयमें मौन रहनेका यही कारण है, कि वैशेषिक दर्शनका मुख्य ध्येय आत्मा और अनात्माकी विशेषताओंको प्ररूपण करना रहा है। Tarka Samgraha पृ. १३६,७—देखो प्रो. राधाक्रिश्ननकी Indian Philosophy Vol. II पृ. २२५।

जीवोंके कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखका फल देनेवाला एक ईश्वर ही हो सकता है। ईश्वरके अस्तित्वमें दिये जानेवाले प्रमाणोंको तीन विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है—कार्यकारण भावमूलक (Cosmological), सत्तामूलक (Ontological), प्रयोजनमूलक (Teleological)।

(१) कार्यकारण भावमूलक—न्याय-वैशेषिकोंका ईश्वरकी सिद्धिमें यह बहुत प्रसिद्ध प्रमाण है। नैयायिकोंका कहना है, कि जितने भर कार्य होते हैं, वे सब किसी बुद्धिमान कर्ताके बनाये हुए देखे जाते हैं। इस लिये 'पृथिवी, पर्वत आदि किसी कर्ताके बनाये हुए हैं, क्योंकि ये कार्य हैं। जो जो कार्य होते हैं, वे किसी कर्ताकी अपेक्षा रखते हैं, जैसे घट। पृथिवी, पर्वत आदि भी कार्य हैं, इस लिये ये भी किसी कर्ताके बनाये हुए हैं[1]'। यह कर्ता ईश्वर ही है। **शंका**—हम जो घट आदि साधारण कार्योंको देखते हैं, उनका तो कोई कर्ता अवश्य है। परन्तु पृथिवी, पर्वत आदि कार्य साधारण कार्योंसे सर्वथा भिन्न हैं। इस लिये घट आदि साधारण कार्योंको देखकर पृथिवी, पर्वत आदि असाधारण कार्योंके कर्ताका अनुमान नहीं किया जा सकता। अतएव 'जो कार्य होते है, वे किसी कारणकी अपेक्षा रखते हैं' यह अनुमान ठीक नहीं है। **समाधान**—हमने उक्त अनुमानमें सामान्य रूपसे व्याप्तिका ग्रहण किया है। जिस प्रकार रसोई घरमें धूम और अग्निकी व्याप्तिका ग्रहण होनेपर उस व्याप्तिसे पर्वत आदिमें भी धूम और अग्निकी व्याप्तिका ग्रहण किया सकता है, उसी तरह घट आदि कार्य और कुम्हार आदि कर्ताका संबंध देखकर पृथिवी, पर्वत आदि सम्पूर्ण कार्योंके कर्ताका अनुमान किया जाता है। उक्त अनुमानमें घट केवल दृष्टांत मात्र है। दृष्टांतके सम्पूर्ण धर्म दार्ष्टांतिकमें नहीं आ सकते। इस लिये जैसे छोटेसे छोटे कार्यका कोई कर्ता है, उसी तरह बड़ेसे बड़े पृथिवी आदि कार्योंका कर्ता भी ईश्वर है। **शंका**—अंकुर आदिके कार्य होनेपर भी उनका कोई कर्ता नहीं देखा जाता, इस लिये उक्त अनुमान बाधित है। **समाधान**—अंकुर आदि कार्य हैं, इस लिये उनका कर्ता भी ईश्वर ही है। ईश्वर अदृश्य है, अतएव हम उसे अंकुर आदिको उत्पन्न करता हुआ नहीं देख सकते। (२) सत्तामूलक—पश्चिमके एन्सेल्म (Anselm) और डेकार्टे (Descarte) आदि विद्वान ईश्वरके अस्तित्वमें दूसरा प्रमाण यह देते हैं, कि यदि ईश्वरकी सत्ता न होती, तो हमारे हृदयमें ईश्वरके अस्तित्वकी भावना नहीं उपजती। जिस प्रकार त्रिभुजकी कल्पनाके

---

[1] ह्यूम (Hume) आदि पश्चिमके विद्वानोंने इस तर्कका खण्डन किया है। इन लोगोंका कहना है, कि जिस प्रकार हम सम्पूर्ण कार्योंके कारणका पता लगाते लगाते आदि कारण ईश्वर तक पहुंचते हैं, उसी प्रकार आगे ईश्वरके कारणका भी पता क्यों न लगाया जाय। यदि हम ईश्वर रूप आदि कारणका पता लगाकर रुक जाते हैं, तो इससे मालूम होता है कि हम ईश्वरको केवल श्रद्धाके आधारपर मान लेना चाहते हैं। यह तर्क जैन, बौद्ध आदि अनीश्वरवादियोंने भी दी है।

लिये यह मानना आवश्यकीय है, कि त्रिभुजके तीन कोण मिलकर दो समकोणके बराबर होते हैं, उसी प्रकार ईश्वरकी कल्पनाके लिये ईश्वरका अस्तित्व मानना अनिवार्य है[1]। (३) प्रयोजनमूलक—ईश्वरके सद्भावमें तीसरा प्रमाण यह है, कि हमें सृष्टिमें एक अद्भुत व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। यह सृष्टिकी व्यवस्था और उसका सामंजस्य केवल परमाणु आदिके संयोगके फल नहीं हो सकते। इस लिये अनुमान होता है, कि कोई ऐसी शक्तिशाली महान् चेतनाशक्ति अवश्य है जिसने इस सृष्टिकी रचना[2] की है।

इसके अतिरिक्त आचार्य उदयनने ईश्वरकी सिद्धिमें निम्न प्रमाणोंका उल्लेख किया है—

(क) सृष्टि कार्य है, इस लिये इसका कोई कारण होना चाहिये। (ख) सृष्टिके आदिमें दो परमाणुओंमें संबंध होनेसे द्व्यणुककी उत्पत्ति होती है, इस आयोजन क्रियाका कोई कर्ता होना चाहिये। (ग) सृष्टिका कोई आधार चाहिये। (घ) बुनने आदि कार्योंको सृष्टिके पहले किसीने सिखाया होगा, इस लिये कोई आदि शिक्षक होना चाहिये। (ङ) वेदोंमें कोई शक्तिका प्रदाता होना चाहिये। (च) कोई श्रुतिका बनानेवाला होना चाहिये। (छ) वेदवाक्योंका कोई कर्ता होना चाहिये। (ज) दो परमाणुओंके संबंधसे द्व्यणुक बनता है, इसका कोई ज्ञाता होना चाहिये[3]।

ईश्वरविषयक शंकायें

शंका[4]—जगतके निर्माण करनेमें ईश्वरकी प्रवृत्ति अपने लिये होती है, अथवा दूसरेके लिये? ईश्वर कृतकृत्य है, उसकी सम्पूर्ण इच्छाओंकी पूर्ति हो चुकी है, अतएव वह अपनी इच्छाओंको पूर्ण करनेके लिये जगतका निर्माण नहीं कर सकता। यदि ईश्वर दूसरोंके लिये सृष्टिकी रचना करता है, तो उसे बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। करुणासे बाध्य होकर भी ईश्वरने सृष्टिका निर्माण नहीं किया, अन्यथा जगतके सम्पूर्ण प्राणियोंको सुखी होना चाँहिये था।

---

[1] काण्ट (Kant) आदि पाश्चिमात्य दार्शनिकोंने इस युक्तिका खण्डन किया है। इन लोगोंका कथन है, कि यदि हम मनुष्य-हृदयमें ईश्वरकी कल्पनाके आधारसे ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करें, तो "संसारमें जितने भिक्षुक हैं, वे मनमें अशर्फियोंकी कल्पना करके करोड़पति हो जांय।"

[2] काण्ट (Kant), स्पेंसर (Spencer), प्रो. टिण्डल (Tyndall), प्रो. नाइट (Knight) आदि विद्वानोंका कहना है, कि हम ससीम ब्रह्माण्डको देखकर उससे असीम उपादान कारणका अनुमान नहीं कर सकते। इस लिये जब तक हम अन्य प्रमाणोंका द्वारा ईश्वरका निश्चय न कर लें, अथवा जब तक स्वयं ईश्वरके समान शक्तिशाली न बन जांय, तब तक ईश्वरके विषयमें हम अपना निर्णय नहीं दे सकते। इस लिये प्रयोजनमूलक अनुमानसे हम विश्वके नियामक अथवा संयोजक ईश्वरका ही अनुमान कर सकते हैं, इससे विश्वके रचयिता अथवा उत्पादक ईश्वरका अनुमान नहीं हो सकता।

[3] कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥ न्यायकुसुमाञ्जलि ५–१।

[4] जे. एस. मिल (J. S. Mill) आदि पश्चिमके विद्वानोंने भी ईश्वरके विरुद्ध यह शंका उपस्थित की है।

ईश्वरवादी—वास्तवमें करुणाके वशीभूत होकर ही ईश्वरकी सृष्टिके निर्माण करनेमें प्रवृत्ति होती[1] है। ईश्वर भिन्न भिन्न प्राणियोंके पुण्य और पाप कर्मोंके अनुसार सृष्टिका सर्जन करता है, इस लिये सर्वथा सुखमय सृष्टिकी रचना नहीं हो सकती। जीवोंके अच्छे और बुरे कर्मोंके अनुसार जगतकी रचना करनेसे ईश्वरकी स्वतंत्रतामें कोई बाधा नहीं पड़ सकती। क्योंकि जिस तरह अपने हाथ, पैर आदि अवयव अपने कार्यमें बाधक नहीं होते, इसी तरह जीवोंके कर्मोंकी अपेक्षा रखकर सृष्टिके निर्माण करनेसे ईश्वरको परावलम्बी नहीं कहा जा सकता। **शंका**—सृष्टिका बनानेवाला ईश्वर शरीर सहित होकर सृष्टि रचता है, अथवा शरीर रहित होकर? यदि ईश्वरको सशरीर माना जाय, तो ईश्वरको अदृष्टका विषय कहना चाहिये। क्योंकि सम्पूर्ण शरीर अदृष्टसे ही निश्चित होते हैं। इसी प्रकार ईश्वरको अशरीरी भी नहीं मान सकते, क्योंकि अशरीरी ईश्वर सृष्टिको उत्पन्न नहीं कर सकता। **ईश्वरवादी**—जिस प्रकार शरीर रहित आत्मा शरीरमें परिवर्तन उत्पन्न करती है, उसी तरह अशरीरी ईश्वर अपनी इच्छासे संसारका सर्जन करता है। ईश्वरमें इच्छा और प्रयत्नकी उत्पत्ति होनेके लिये भी ईश्वरको सशरीरी मानना ठीक नहीं। क्योंकि ईश्वरकी इच्छा और प्रयत्न स्वाभाविक हैं, कारण कि हम लोग ईश्वरकी बुद्धि, इच्छा और प्रयत्नको नित्य स्वीकार करते[2] हैं। अथवा, परमाणुओंको ही ईश्वरका शरीर माना जा सकता है। जिस प्रकार हमारी आत्मामें इच्छा होनेके कारण हमारे शरीरमें क्रिया होती है, उसी तरह ईश्वरकी नित्य इच्छासे परमाणुओंमें क्रिया होती है। **शंका**—ईश्वर प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होता। किसी पदार्थको प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे जाननेके लिये इन्द्रिय और पदार्थोंका संबंध होना आवश्यकीय है। परन्तु ईश्वरका इन्द्रियोंसे संबंध नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वरवादी लोग ईश्वरको इन्द्रियोंके विषयके बाह्य मानते हैं। इस लिये प्रत्यक्षसे ईश्वरको नहीं जान सकते। अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है, इस लिये ईश्वरका प्रत्यक्ष न होनेसे ईश्वरको अनुमानसे भी नहीं जान सकते। आप्तके उपदेशमें और उपमान प्रमाणमें भी प्रत्यक्षकी आवश्यकता पड़ती है, इस लिये उपमान और शब्दसे भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती[3]। **ईश्वरवादी**—ईश्वर हमारे इन्द्रिय-

---

[1] अनुपभुक्तफलानां कर्मणां न प्रक्षयः सर्गमन्तरेण च तत्फलभोगाय नरकादिसृष्टिमारभते दयालुरेव भगवान्। उपभोगप्रवन्धेन परिश्रांतानामंतरांतरा विश्रांतये जंतूनां भुवनोपसंहारमपि करोतीति सर्वमेतत्कृपानिवंधमेव। न्यायमंजरी पृ. २०२।

[2] यत्पुनर्विकल्पितं सशरीर ईश्वरः सृजति जगद् अशरीरो वेति तत्राशरीरस्यैव स्रष्टत्वमस्याभ्युपगच्छामः। ननु क्रियावेशनिवन्धकम् कर्तृत्वं न पारिभाषिकं तदशरीरस्य क्रियाविरहात् कथं भवेत्। कस्य च कुत्राशरीरस्य कर्तृत्वं दृष्टमिति। उच्यते। प्रयत्नज्ञानचिकिर्षायोगित्वं कर्तृत्वमाचक्षते। तच्चेश्वरे विद्यते एवेत्युक्तमेतत्।...

यथा ह्यचेतनः काय आत्मेच्छामनुवर्तते।
तदिच्छामनुवर्त्स्यन्ते तथैव परमाणवः॥ न्यायमंजरी पृ. २०२।

[3] ईश्वरविषयक अन्य शंकाओंके लिये देखो न्यायमंजरी पृ. १९०-४।

प्रत्यक्षका विषय नहीं है, यह ठीक है। परन्तु इससे हम ईश्वरका अभाव सिद्ध नहीं कर सकते। अधिकसे अधिक हम यह कह सकते हैं, कि ईश्वर प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु किसी हालतमें प्रत्यक्षसे ईश्वरका अभाव सिद्ध नहीं होता। अनुमानसे ईश्वरकी सिद्धि और असिद्धि दोनों नहीं हो सकती। उपमान प्रमाणका ईश्वर-सिद्धिसे कोई संबंध नहीं है। तथा शब्द प्रमाणसे ईश्वरकी सिद्धि होती ही है[1]।

ईश्वरके विषयमें आधुनिक पाश्चात्य विद्वानोंका मत

पश्चिमके आधुनिक दार्शनिक विद्वान प्रायः ईश्वरको सृष्टिका कर्ता नहीं मानते हैं। इन लोगोंका कहना है, कि यदि ईश्वर सृष्टिका कर्ता होता, और वह प्राणियोंका शुभचिन्तक होता, तो गत योरूपीय महायुद्धमें असंख्य नर-नारियोंका रक्त पानीकी तरह कभी नहीं बहाया जाता। अतएव यदि सृष्टिकर्ता ईश्वर कृपालु है, तो उसे नाना प्रकारके दुःख और व्याधिओंसे परिपूर्ण सृष्टिकी कभी रचना नहीं करनी चाहिये थी। इस बातको पाश्चिमात्य विद्वानोंने अनेक तरहके उद्गारोंसे प्रगट किया है। एच. जी. वेल्स (H. G. Wells) का कथन है, कि ईश्वरको सर्व शक्तिमान सृष्टिका सर्जक नहीं कह सकते। यदि ईश्वर सृष्टिके प्राणियोंको युद्ध, मृत्यु आदिसे बचानेमें समर्थ होकर भी केवल अपनी क्रीड़ाके लिये ही सृष्टिका निर्माण करता है, तो मैं उसे घृणाकी दृष्टिसे देखता हूं। विलियम जेम्स (William James) के कथनानुसार हमें ऐसे ईश्वरकी आवश्यकता है, जो हमारे जैसा ही हो, और हम उसे अपना मित्र, साथी, नायक, सेनापति और राजा मानकर अपनी असहाय और पतित दशामें उससे सहानुभूति प्राप्त कर सकें। इस विश्वमें ईश्वरीय क्रम दिखाई नहीं देता, इस लिये हम अनादि, अनन्त ईश्वरकी कल्पना नहीं कर सकते। " प्रो. हेल्महोल्ट्ज़ (Prof. Helmholtz) का कहना है, कि आंखमें वे सब-दोष हैं जो किसीके देखनेके यंत्रमें पाये जा सकते हैं, और कुछ अधिक भी। इसमें कुछ अत्युक्ति नहीं है, कि यदि कोई चश्मा बेचनेवाला इन दोषोंवाला चश्मा मुझे देता तो मैं उसकी मूर्खता या असावधानताको बड़े बलपूर्वक दिखाता और उसके चश्मेको लौटा देता। कामटे (Comte) आदिका कहना है, कि सौर्यमण्डल ऐसा नहीं बना जिससे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता। आवश्यकता थी कि चांद पृथिवीके चारों ओर उतने ही समयमें घूमता जितनेमें पृथिवी सूर्यके चारों ओर घूमती है। यदि ऐसा होता तो चांद हर रातको पूरा पूरा चमका करता। लैंग (Lange) और हक्सले

---

[1] कुसुमांजलि स्तवक ३। तथा देखो श्रीधरकी न्यायकंदली पृ. ५४–५७; जयन्तकी न्यायमंजरी पृ. १९४ से आगे। जयन्तने ईश्वरकी सिद्धिमें सामान्यतोदृष्ट अनुमान दिया है—सामान्यतोदृष्टं तु लिंगमीश्वरसत्तायामिदं ब्रूमहे। पृथिव्यादिकार्यं धर्मि तदुत्पत्तिप्रकारप्रयोजनाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकमिति साध्यो धर्मः कार्यत्वात् घटादिवत्।

(Huxley) आदि विद्वानोंका कथन है, सृष्टिमें उतना ही अपव्यय है जितना खेतमें एक खरगोशको मारनेके लिये करोडों तोपें छोड़नेमें होता है। प्लोटिनस (Plotinus) कहा करता था कि मुझे तो अपनी उत्पत्तिकी रीतिका ध्यान करके लज्जा आती है। इससे प्रतीत होता है या तो ईश्वर सृष्टिको न बनाता, या वह बुद्धिमान नहीं है। ईश्वरको चाहिये था कि कान, नाक, या अंगूठा आदिसे सन्तोत्पत्ति करतो।" इसी प्रकार मैक्टैगर्ट (McTaggart) कैनन राशडल (Canon Rashdall) आदि विद्वानोंने ईश्वरको अकर्ता और असर्वव्यापक माना है[2]।

न्याय-वैशेषिक साहित्य

कणादके वैशेषिक सूत्रोंकी रचना अक्षपादके न्यायसूत्रोंसे पहले मानी जाती है। श्रीयुत यूई (Ui) वैशेषिक दर्शनकी उत्पत्ति बुद्धके समय, और कमसे कम ईसाकी प्रथम शताब्दिके अन्तमें वैशेषिक सूत्रोंकी रचनाका समय मानते हैं। प्रशस्तपाद वैशेषिक सूत्रोंके समर्थ भाष्यकार हो गये हैं। इनका समय ईसाकी पांचवी-छठी शताब्दि बताया जाता है। वैशेषिक सूत्रोंके ऊपर रावण भाष्य और भारद्वाज वृत्ति नामके भाष्योंका भी उल्लेख मिलता है। ये भाष्य आजकल लुप्त हो गये हैं। प्रशस्तपाद भाष्यके ऊपर व्योमशेखरने व्योमवती, श्रीधरने न्यायकन्दली, उदयनने किरणावलि और श्रीवत्सने लीलावती, तथा नवद्वीपके जगदीश भट्टाचार्यने भाष्यसूक्ति और शंकरमिश्रने कणादरहस्य टीकायें लिखी हैं। इसके अतिरिक्त शिवादित्यकी सप्तपदार्थी, लौगाक्षिभास्करकी तर्ककौमुदी, विश्वनाथका भाषापरिच्छेद, तर्कसंग्रह, तर्कामृत आदि ग्रंथ वैशेषिक दर्शनका ज्ञान करनेके लिये महत्वपूर्ण हैं।

न्यायसूत्रोंकी रचनाके विषयमें विद्वानोंका बहुत मतभेद है। प्रो. जैकोबीका मत है, कि न्यायसूत्र २००-४५० ईसवी सन्में रचे गये हैं। यूई (Ui) ने इस समयको १५०-२५० ईसवी सन् स्वीकार किया है। प्रो. ध्रुवने उक्त मतोंकी विस्तृत समालोचना करते हुए न्यायसूत्रोंके रचनाके समयको ईसवी सन्के पूर्व दूसरी शताब्दिमें माना है[3]। वात्स्यायन न्यायसूत्रोंके प्रथम भाष्यकार गिने जाते हैं। इनका समय ईसाकी चौथी शताब्दि माना जाता है। वात्स्यायनके ऊपर बौद्ध तार्किक दिङ्नागके आक्षेपोंका परिहार करनेके लिये उद्योतकर (६३५ ई. स.) ने वात्स्यायन

---

१ ये उद्धरण पं. गंगाप्रसाद उपाध्यायकी आस्तिकवाद नामक पुस्तकके १० वें अध्यायमें फ्लिन्ट (Flint) की Theism के आधारसे लिये गये हैं।

२ कहा जाता है, कि जिस समय कुसुमांजलिके कर्ता उदयनके नाना युक्तियोंसे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करनेपर भी ईश्वरने कोई दयालुताका भाव प्रदर्शन नहीं किया, उस समय उदयनने ईश्वरको ऐश्वर्यके मदसे मत्त हुआ कहकर ईश्वरके अस्तित्वकी स्थितिको अपने अधीन बताकर निम्न श्लोककी रचना की—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मां अवज्ञाय वर्तसे।
पराक्रान्तेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

३ देखो प्रो. ध्रुवकी स्याद्वादमंजरी भूमिका पृ. ४१–५४।

भाष्यके ऊपर न्यायवार्तिककी रचना की। न्यायवार्तिकके ऊपर वाचस्पतिमिश्रने (८४० ई. स.) न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका लिखी। वाचस्पतिको न्यायसूचिनिबंध और न्यायसूत्रोद्धारका भी कर्ता कहा जाता है। वाचस्पतिमिश्रने वेदांत, सांख्य, योग और पूर्वमीमांसा दर्शनोंके ऊपर भी ग्रंथोंकी रचना की है। वाचस्पतिके बाद जयंतभट्टका (८८० ई. स.) नाम बहुत महत्वका है। इन्होंने कुछ चुने हुए न्यायसूत्रोंके ऊपर स्वतंत्र टीका लिखी है। जयन्तने न्यायमंजरी, न्यायकलिका आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। मल्लिषेणने स्याद्वादमंजरीमें जयन्तका उल्लेख किया है। उदयन आचार्य दसवीं शताब्दिके विद्वान माने जाते हैं। इन्होंने वाचस्पतिकी तात्पर्यटीकापर तात्पर्यटीकापरिशुद्धि नामकी टीका, तथा न्यायकुसुमांजलि, आत्मतत्त्वविवेक, लक्षणावलि, किरणावलि, न्यायपरिशिष्ट नामक ग्रंथोंकी रचना की है। उदयनकी रचनाओंके ऊपर गंगेश नैयायिकके पुत्र वर्धमान आदिने टीकायें लिखी हैं। इसके अतिरिक्त भासर्वज्ञका न्यायसार, तथा मुक्तावली, दिनकरी, रामरुद्री नामकी भाषापरिच्छेदकी टीकायें, तर्कसंग्रह, तर्कभाषा, तार्किकरक्षा आदि न्यायदर्शनके उल्लेखनीय ग्रंथोंमेंसे हैं। न्यायदर्शनमें नव्यन्यायका जन्म मिथिलाके गंगेश उपाध्यायसे आरंभ होता है। गंगेशका जन्म ई. स. १२०० में हुआ था। गंगेशने तत्त्वचिन्तामणि नामक स्वतंत्र ग्रंथकी रचना की है। इस ग्रंथमें नैयायिकोंके चार प्रमाणोंके ऊपर चर्चा की गई है। तेरहवीं शताब्दिमें गंगेशके तत्त्वचिंतामणिके ऊपर जयदेवने प्रत्यक्षालोक नामकी टीका लिखी। इसके पश्चात् वासुदेव सार्वभौम (ई. स. १५००) ने तत्त्वचिंतामणिव्याख्या लिखी। वासुदेवके चैतन्य, कृष्णानंद, रघुनंदन और रघुनाथ नामके चार उत्तम शिष्य थे। इनमें रघुनाथने तत्त्वचिंतामणिके ऊपर दीधिति, और वैशेषिक मतका खंडन करनेके लिये पदार्थखंडन, तथा ईश्वरकी सिद्धिके लिये ईश्वरानुमान नामक ग्रंथ लिखे। इसके अतिरिक्त मथुरानाथ (१५८० ई. स.), जगदीश (१५९० ई. स.) और गदाधार (१६५० ई. स.) ने तत्त्वचिंतामणिके ऊपर टीकायें लिखकर नव्यन्यायको खूब ही पल्लवित किया।

सांख्य-योग परिशिष्ट (घ)

(श्लोक २५)

सांख्य, योग, जैन और बौद्ध दर्शनोंकी तुलना और उनकी प्राचीनता

सांख्य लोग जैन और बौद्धोंकी तरह वेदोंको नहीं मानते, मीमांसकोंके यज्ञ-याग आदिकी निन्दा करते हैं, तत्वज्ञान और अहिंसाके ऊपर अधिक भार देते हैं, सांसारिक जीवनके दुख रूप साक्षात्कार करनेका उपदेश करते हैं, जातिभेदको स्वीकार नहीं करते, ईश्वरको नहीं मानते, सन्यासको प्रधानता देते हैं, जैनोंकी तरह आत्मबहुत्ववाद और बौद्धोंके क्षणिकवादकी तरह परिणामवादको मानते हैं, तथा जैन और बौद्धोंके तीर्थंकरोंकी तरह कपिलका जन्म क्षत्रिय कुलमें होना स्वीकार करते हैं। इस परसे अनुमान किया जाता है, कि सांख्य, योग, जैन और बौद्ध इन चारों सम्प्रदायोंको जन्म देनेवाली कोई एक बहुत प्राचीन संस्कृति होनी चाहिये। ऋग्वेदमें एक जटाधारी मुनिका वर्णन आता है, इस युगमें एक सम्प्रदाय वैदिक देवता और इन्द्र आदिमें विश्वास नहीं करता । इतना ही नहीं बल्कि यह सम्प्रदाय वेदकी ऋचाओंपर भी कटाक्ष किया करता था। यजुर्वेदमें भी वैदिक धर्मके विरुद्ध प्रचार करनेवाले यतियोंका उल्लेख आता है। एतरेय ब्राह्मण आदि ब्राह्मणोंमें भी वेदको न माननेवाले सम्प्रदायोंकी चर्चा और कर्मकाण्डकी अपेक्षा तपश्चरण, ब्रह्मचर्य, त्याग, इन्द्रियजय आदि भावनाओंकी उत्कृष्टताका उल्लेख किया गया है । उपनिषद् साहित्यमें तो ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं, जहां ब्राह्मण लोग क्षत्रिय गुरुसे अध्ययन करते हैं, ऋषि लोग ब्रह्मचर्यको ही वास्तविक यज्ञ मानते हैं, वेदको अपरा विद्या कहकर यज्ञ, याग आदिका तिरस्कार करते हैं, और भिक्षाचर्याकी प्रधानता बतलाकर ब्रह्मविद्याके महत्वका प्रसार करते हैं। महाभारतमें भी जातिसे वर्णव्यवस्था न मानकर कर्मसे वर्णव्यवस्था माननेके, अपनी आंख और शरीरका मांस आदि काटकर दान करनेके, तथा और भी अनेक तरहकी कठोर तपश्चर्यायें करनेके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं । इस सब परसे ऋग्वेदके ज़मानेमें भी एक ऐसी संस्कृतिके मौजूद रहनेका अनुमान होता है, जो संस्कृति कर्मकाण्डकी अपेक्षा ज्ञानकाण्डको, और गृहस्थधर्मकी अपेक्षा सन्यासधर्मको अधिक महत्व देती[1] थी। इस संस्कृतिको श्रमण अथवा क्षत्रिय संस्कृति कह सकते[2] हैं । उप-

---

[1] अभी हालकी सिन्धमें महेन्जोदारो और हरप्पाकी खुदाईमें पायी जानेवाली ध्यानस्थ मूर्तियोंसे भी इस संस्कृतिकी प्राचीनताका अनुमान किया जाता है ।

[2] ब्राह्मण और श्रमण इन दोनों वर्गोंके इतिहासका मूल बहुत प्राचीन है। जिस तरह ब्राह्मणोंके धर्मशास्त्र, पुराण आदि ग्रंथोंमें श्रमण लोगोंको नास्तिक, असुर आदि कहकर उनको स्पर्श करके सचेल स्नान आदिका विधान किया गया है, उसी तरह जैन, बौद्ध आदिके ग्रंथोंमें ब्राह्मणोंका मिथ्यादृष्टि, कुमार्गगामी, अभिमानी आदि शब्दोंसे तिरस्कार किया गया है। जिनेन्द्रबुद्धि आदि वैयाकरणोंने ब्राह्मण और श्रमण लोगोंके विरोधको सर्प और नकुलकी तरह जाति विरोध कहकर उल्लेख किया है। विशेष जाननेके लिये देखो पं. सुखलालजीकी 'पुरातत्त्व' में प्रकाशित 'साम्प्रदायिकता अने तेना पुरावाओनुं दिग्दर्शन' नामक लेखमाला। इस लेखमालाका इस पुस्तकके लेखकद्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद 'जैनजगत' में भी प्रकाशित हुआ है।

निषदोंका साहित्य अधिकतर इसी संस्कृतिके मास्तिष्ककी उपजे कहा जाता है।

सांख्य-योगदर्शन

सांख्य और योगदर्शन बुद्धके समयके पहिलेके दर्शन माने जाते हैं। पतंजलिके योगसूत्र सांख्यप्रवचनके नामसे कहे जाते हैं, वाचस्पतिमिश्र भी सांख्य-योगके उपदेष्टा वार्षगण्यको 'योगशास्त्रव्युत्पादयिता' कहकर उल्लेख करते हैं, तथा स्वयं महर्षि पतंजलि सांख्य तत्त्वज्ञानके ऊपर ही योग सिद्धांतोंका निर्माण करते हैं। इससे मालूम होता है, कि किसी समय सांख्य और योग दर्शनोंमें परस्पर विशेष अन्तर नहीं था। वास्तवमें सांख्य और योग दोनों दर्शनोंको एक दर्शनकी ही दो धारायें कहना चाहिये। इन दोनोंमें इतना ही अन्तर कहा जा सकता है, कि सांख्यदर्शन तत्वज्ञानके ऊपर अधिक भार देता हुआ तत्वोंकी खोज करता है, और तत्वोंके ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति स्वीकार करता है, जब कि योगदर्शन यम, नियम आदि योगकी अष्टांगी प्रक्रियाका विस्तृत वर्णन करके योगकी सक्रियात्मक प्रक्रियाओंके द्वारा चित्त-वृत्तिका निरोध होनेसे मोक्षकी सिद्धि मानता है। सांख्यदर्शनको कापिल सांख्य और योगदर्शनको पातंजल सांख्य कह सकते हैं।

सांख्यदर्शन

शुद्ध आत्माके तत्वज्ञानको सांख्य कहते हैं। दूसरे स्थानपर सम्यग्दर्शनके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको सांख्य कहा है। बहुतसी जगह पच्चीस तत्वोंका वर्णन करनेके कारण

---

१ विशेष जाननेके लिये देखो सन् १९३४ में बम्बईमें होनेवाली २१ वीं इन्डियन साइंस कांग्रेसके अवसरपर रायबहादुर आर. पी. चन्दा (R. P. Chanda) का श्रमणसंस्कृति (Sramanism) के ऊपर पढ़ा गया लेख; प्रो. विन्टरनीज़की Some Problems in Indian Literature नामक पुस्तकमें Ascetic Literature in Ancient India नामक अध्याय; इलियट (Eliot) की Hinduism and Buddhism भाग २ अ. ६ और ७।

२ वेबर (Weber) आदि विद्वानोंके मतमें सांख्यदर्शन सम्पूर्ण वर्तमान भारतीय दर्शनोंमें प्राचीनतम है। महाभारतमें भी सांख्य और योगदर्शनको 'सनातन' कहकर उल्लेख किया है।

३ सांख्य और योगदर्शनमें भेद प्रदर्शन करनेके लिये सांख्यको निरीश्वर सांख्य और योगको सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। न्यायसूत्रोंके भाष्यकार वात्स्यायनने सांख्य और योग दर्शनोंमें निम्न प्रकारसे भेदका प्रदर्शन किया है—सांख्य लोग असत्की उत्पत्ति और सत्का नाश नहीं मानते। उनके मतमें चेतनत्व आदिकी अपेक्षा सम्पूर्ण आत्मायें समान हैं, तथा देह, इन्द्रिय, मन और शब्दमें; स्पर्श आदि विषयोंमें और देह आदिके कारणोंमें विशेषता होती है। योग मतके अनुयायी सम्पूर्ण सृष्टिको पुरुषके कर्म आदि द्वारा मानते हैं, दोष और प्रवृत्तिको कर्मोंका कारण बताते हैं, आत्मामें ज्ञान आदि गुणोंको, असत्की उत्पत्तिको, और सत्के नाशको स्वीकार करते हैं—नासतः आत्मलाभः न सत आत्महानम्। निरतिशयाश्चेतनाः। देहेन्द्रियमनस्सु विषयेषु तत्कारणेषु च विशेष इति सांख्यानाम्। पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः। कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च। स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः। असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यते। न्यायभाष्य १-१-२९।

४ शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते। न्यायकोश पृ. ९०४ टिप्पणी।

५ न्यायकोश पृ. ९०४।

सांख्यदर्शनको सांख्य कहा जाता है। गुणरत्नने षड्दर्शनसमुच्चयकी टीकामें सांख्य-मतके साधुओंके आचारका निम्न प्रकारसे वर्णन किया है—" सांख्य मतके अनुयायी साधु त्रिदंडी अथवा एकदंडी होते हैं, ये कौपीन धारण करते हैं, गेरुए रंगके वस्त्र पहिनते हैं, वहुतसे चोटी रखते हैं, वहुतसे जटा बढ़ाते हैं, और बहुतसे छुरेसे मुंडन कराते हैं। ये लोग मृगचर्मका आसन रखते हैं, ब्राह्मणोंके घर आहार लेते हैं, पांच ग्रास मात्र भोजन करते हैं, और वारह अक्षरोंकी जाप करते हैं। इन लोगोंके भक्त नमस्कार करते समय ' ओं नमो नारायणाय ' कहते हैं, और साधु लोग केवल ' नारायणाय नमः ' वोलते हैं। सांख्य परिव्राजक जीवोंकी रक्षाके लिए लकड़ीकी मुखवस्त्रिका (वीटा) रखते हैं। ये जीवोंकी दया पालनेके लिये स्वयं जल छाननेका वस्त्र रखते हैं और अपने भक्तोंको पानी छाननेके लिये छत्तीस अंगुल लंवा और वीस अंगुल चौड़ा मजवूत वस्त्र रखनेका उपदेश देते हैं। ये लोग मीठे पानीमें खारा पानी मिलानेसे जीवोंकी हिंसा मानते हैं, और जलकी एक बूंदमें अनंत जीवोंका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इन लोगोंके आचार्योंके साथ ' चैतन्य ' शब्द लगाया जाता है।" सांख्य लोग कर्मकाण्डको, यज्ञ-यागको और वेदको नहीं मानते। ये लोग अध्यात्मवादी होते हैं, हिंसाका विरोध करते हैं और वेद, पुराण, महाभारत, मनुस्मृति आदिकी अपेक्षा सांख्य तत्त्वज्ञानको श्रेष्ठ समझते हैं। इन लोगोंका

---

१ पंचविंशतेस्तत्त्वानां संख्यानं संख्या। तदधिकृत्य कृतं शास्त्रं सांख्यम्। हेमचन्द्र—अभिधान-चिन्तामणि टीका ३–५२६। ग्रीक विद्वान पाइथैगोरस (Pythagoras) भी संख्या (Number) के सिद्धांतको मानते थे। प्रो. विन्टरनीज़ (Winternitz) आदि विद्वानोंके अनुसार पाइथैगोरसके ऊपर भारतीय सांख्य सिद्धान्तोंका प्रभाव पड़ा है। ग्रीक और सांख्य दर्शनकी तुलनाके लिये देखो प्रो. कीथ (Keith) का Sāṁkhya System अ. ६ पृ. ६५ से आगे।

२ य एष आनुश्रविकः श्रौतोऽग्निहोत्रादिकः स्वर्गसाधनतया तापत्रयप्रतीकारहेतुरुक्तः सोऽपि दृष्टवत् अनैकांतिकः प्रतीकारः। तथाहि ' मध्यमपिंडं पुत्रकामा पत्नी प्राश्नीयात् आधत्त पितरो गर्भम् ' इति मंत्रेण। तदेवं वेदवचसा वहून् पिण्डान् परःशतानश्नाति यावदेकोऽपि पुत्रो न जायते। तथा ' पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम् ' इति श्रुतावास्ते। परं गर्भस्थो जातमात्रो वालो युवापि कुमारो म्रियते। किंचान्यत्–स श्रौतो हेतुः अविशुद्धः पशुहिंसात्मकत्वात्। क्षययुक्तः पुनः पातात्। अतिशययुक्तः तत्रापि स्वामिभृत्यभावश्रवणात्। उक्तं च-

षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥

पशुवधोऽग्निष्टोमे मानुषवधः गोसवव्यवस्था सौत्रामण्यां सुरापानं रण्डया सह स्वेच्छालापश्च ऋत्विजाम्। कल्पसूत्रेऽन्यदपि अकृत्यं भूरि कर्तव्यतयोपदिश्यते। ' ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे तस्करं नारकाय वीरहम् ' इत्यादिश्रवणात्। किञ्च—

यथा पंकेन पंकांभः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवेमां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति॥
न हि हस्तावसृग्दग्धौ रुधिरेणैव शुद्ध्यतः।

' तद्यथाऽस्मिन् लोके मनुष्याः पशूनश्नंति तथाभिभुञ्जत एवममुष्मिन् लोके पशव मनुष्यानश्नंति ' इतिश्रुतिशतश्रवणात्। अन्यच्च—

वृक्षान् छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गं नरके केन गम्यते॥

इत्यविशुद्धि सर्वथा श्रौतो दुःखत्रयप्रतीकारहेतुः। सांख्यकारिका २ माठरभाष्य।

मत है, कि यथेष्ट भोगोंका सेवन करनेपर तथा किसी भी आश्रममें रहनेपर भी यदि कपिलके पच्चीस तत्वोंका ज्ञान हो गया है, यदि सांख्य मतमें भक्ति हो गई है, तो बिना क्रियाके भी मुक्ति हो सकती है। सांख्योंके मतमें पच्चीस तत्व, और प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने गये हैं। वैदिक ग्रन्थोंमें कपिलको नास्तिक और श्रुतिविरुद्ध तंत्रका प्रवर्तक कहकर कपिल प्रणीत सांख्य और पतंजलिके योगशास्त्रको अनुपादेय कहा है।

सांख्यदर्शनके प्ररूपक

कपिल—सांख्यदर्शनके आद्य प्रणेता आदि विद्वान कपिल परमर्षि कहे जाते हैं। कपिल क्षत्रिय थे। कुछ लोग कपिलको ब्रह्माका पुत्र बताते हैं। भागवतमें कपिलको विष्णुका अवतार कह कर उन्हें अपनी माता देवहूतिको सांख्य तत्वज्ञानका उपदेष्टा कहा गया है। विज्ञानभिक्षुने कपिलको अग्निका अवतार बताया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में कपिलका हिरण्यगर्भके अवतार रूपमें उल्लेख आता है। रामायणमें कपिल योगीको वासुदेवका अवतार और सगरके साठ हजार पुत्रोंका दाहक बताया गया है। अश्वघोष बुद्धके जन्मस्थान कपिलवस्तुको कपिल ऋषिकी बसाई हुई नगरी कहकर उल्लेख करते हैं। कपिलने अपने पवित्र और प्रधान दर्शनको सर्व प्रथम आसुरिको सिखाया था। आसुरिने पंचशिखको सिखाया और पंचशिखने इस दर्शनको विस्तृत किया। पंचशिखके पश्चात् यह दर्शन भार्गव, वाल्मीकि, हारीत और देवल प्रभृतिने और ईश्वरकृष्णने सीखा। कपिलको सांख्यप्रवचनसूत्र और तत्त्वसमास नामके ग्रंथोंका प्रणेता

---

१ पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः।
शिखी मुण्डी जटी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥ पंचशिख।
भावागणेश–तत्त्वयाथार्थ्यदीपन।

२ अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तन्त्रं वेदविरुद्धं वेदानुसारि मनुवचनविरुद्धं च। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २–१–१। तथा–नास्तिककपिलप्रणीतसांख्यस्य पतञ्जलिप्रणीतयोगशास्त्रस्य चानुपादेयत्व·मुक्तं भारते मोक्षधर्मेषु—

सांख्यं योगः पाशुपतं वेदारण्यकमेव च।
ज्ञानान्येतानि भिन्नानि नात्र कार्या विचारणा॥
गीता. मध्वभा. अ. २ श्लो. ३९। न्यायकोश पृ. ९०४ टिप्पणी।

३ सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः पुरातनः।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। महाभारत मोक्षधर्म।
प्रो. राधाक्रिश्नन् आदि विद्वान सांख्य–सिद्धांतके अव्यक्त बीजका ऋग्वेदमें पाये जानेका उल्लेख करते हैं।

४ कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम्। भागवत ३–२५–१।

कहा जाता है। परन्तु इस कथनका कोई आधार नहीं जान पड़ता। अर्ध-ऐतिहासिक कपिलका समय महावीर और बुद्धके पूर्व वताया जाता है।

आसुरि—आसुरि कपिलके साक्षात् शिष्य और पंचशिखके गुरु कहे जाते हैं। आसुरिका मत था, कि सुख और दुख बुद्धिके विकार हैं, और ये जिस प्रकार चन्द्रमाका प्रतिविम्व जलमें पड़ता है, उसी तरह पुरुषमें प्रतिविम्वित होते हैं। आसुरिके सिद्धांतोंके विषयमें विशेष पता नहीं लगता। आसुरिका समय ईसाके पूर्व ६०० वर्ष कहा जाता है।

पंचशिख—वाचस्पतिमिश्र, भावागणेश आदि टीकाकार पंचशिखका उल्लेख करते हैं। भावागणेशकी योगसूत्रवृत्तिसे माल्म होता है, कि तत्त्वसमासके ऊपर पंचशिखने विवरण अथवा व्याख्या लिखी थी। पंचशिखका वर्णन महाभारतमें आता है। कहा जाता है, कि पंचशिख अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय आत्माके शिखास्थानमें रहनेवाले ब्रह्मको जानते थे, इस लिये उनका नाम पंचशिख पड़ा। कपिल मतका अनुसरण करनेके कारण पंचशिख कापिलेय नामसे भी कहे जाते थे। चीनके वौद्ध सम्प्रदायके अनुसार पंचशिखको [३]षष्टितंत्रका प्रणेता कहा जाता है, परन्तु यह ठीक नहीं है। पंचशिख चौबीस तत्त्वोंको स्वीकार करते हैं, और भूतोंके समूहसे आत्माकी उत्पत्ति मानते हैं। प्रो. दासगुप्तका मत है, कि ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिकाका और महाभारतमें वर्णन किये हुए सांख्यसिद्धान्तोंका चरक (७८ ई. स.) में कोई उल्लेख नहीं मिलता, इस लिये महाभारतमें आया हुआ पंचशिखका सांख्य मौलिक सांख्यदर्शन है, तथा सांख्यकारिकाका ईश्वरकृष्णका सांख्य सांख्यदर्शनका अर्वाचीनका रूप है। गार्वे (Garbe) पंचशिखको ईसाकी प्रथम शताब्दिका विद्वान कहते हैं।

वार्षगण्य—वार्षगण्य विन्ध्यवासीके गुरु थे। महाभारतमें वार्षगण्यको सांख्य-योगके प्रणेताओंमेंसे माना गया है। वाचस्पतिने इनका योगशास्त्रका व्युत्पादयिता कहकर उल्लेख किया है। अहिर्बुध्न्यसंहितामें और वाचस्पति आदिने वार्षगण्यको षष्टितंत्रका रचयिता कहा है। इनका समय ईसवी सन् २३०-३०० कहा जाता है।

---

१ सांख्यसूत्र सर्वप्रथम अनिरुद्ध (१५०० ई. स.) की वृत्ति सहित और कुछ समय वाद विज्ञानभिक्षुके भाष्य (१६५० ई. स.) सहित देखनेमें आते हैं। अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षुके पूर्ववर्ती ईश्वरकृष्ण, शंकर, वाचस्पतिमिश्र, माधव आदि विद्वान सांख्यसूत्रोंका उल्लेख नहीं करते, इसपरसे विद्वान लोग सांख्यसूत्रोंको चौदहवीं शताब्दिके वाद वना हुआ अनुमान करते हैं।

२ देखो पीछे पृ. १८६।

३ वाचस्पतिमिश्र आदि विचारकोंके अनुसार षष्टितंत्र वार्षगण्यका वनाया हुआ है। षष्टितंत्रका भगवती आदि जैन आगमोंमें भी उल्लेख आता है। जैन कथाके अनुसार षष्टितंत्र आसुरिका बनाया हुआ कहा जाता है। जैन टीकाकारोंने षष्टितंत्रका अर्थ कापिलीय शास्त्र किया है।

विन्ध्यवासी—विन्ध्यवासीका उल्लेख मीमांसाश्लोकवार्तिक और तत्त्वसंग्रहपंजिकामें आता है। इनका असली नाम रुद्रिल था। वसुबंधुके जीवनचरितके लेखक परमार्थके अनुसार विन्ध्यवासीने वसुबंधुके गुरु बुद्धमित्रको शास्त्रार्थमें पराजित करके अयोध्याके विक्रमादित्य राजासे पारितोषिक प्राप्त किया था। विन्ध्यवासी जय प्राप्त करके विन्ध्याचलको लौट गये और वहीं पर उन्होंने शरीर छोड़ा। इनका समय ई. स. २५०-३२० कहा जाता है।

ईश्वरकृष्ण—ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिकाके कर्ता हैं। सांख्यकारिको सांख्यसप्तति भी कहते हैं। यह ग्रंथ षष्टितंत्रके आधारसे रचा गया है। सांख्यकारिकाके ऊपर माठर और गौड़पादने टीकायें लिखी हैं। बौद्ध साधु परमार्थ छठी शताब्दिमें सांख्यकारिकाको चीनमें ले गये थे, और वहां उन्होंने इसका चीनी अनुवाद करके इसके ऊपर टीका लिखी थी। पहले ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासीको एक ही व्यक्ति समझा जाता है, परन्तु कमलशील तत्त्वसंग्रह पंजिकामें ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासीका अलग अलग उल्लेख करते हुए विन्ध्यवासीका रुद्रिल नामसे उल्लेख करते हैं, तथा गुणरत्न भी विन्ध्यवासी और ईश्वरकृष्णको अलग अलग नामसे कहते हैं, इस लिये ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासीको एक व्यक्ति नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग ईश्वरकृष्णका समय वार्षगण्यके पूर्व मानकर ईश्वरकृष्णका समय दूसरी शताब्दि मानते हैं। दूसरे दलका कहना है, कि महाभारतके वार्षगण्य ईश्वरकृष्णसे बिलकुल अनभिज्ञ हैं, इस लिये वार्षगण्यको ईश्वरकृष्णके उत्तरकालीन नहीं कहा जा सकता। इन विद्वानोंके मतमें ईश्वरकृष्णका समय ईसवी सन् ३४०-३८० माना जाता है।

वाचस्पतिमिश्र—नवमी शताब्दिमें वाचस्पतिने न्याय-वैशेषिक दर्शनोंकी तरह सांख्यकारिकाके ऊपर सांख्यतत्त्वकौमुदी और व्यासभाष्यके ऊपर तत्त्ववैशारदी नामक टीकाकी रचना की है।

विज्ञानभिक्षु—वाचस्पतिमिश्रके पीछे विज्ञानभिक्षु अथवा विज्ञानयति एक प्रतिभाशाली सांख्य विचारक हो गये हैं। इन्होंने सांख्यसूत्रोंके ऊपर सांख्यप्रवचनभाष्य तथा सांख्यसार, पातंजल भाष्यवार्तिक, ब्रह्मसूत्रके ऊपर विज्ञानामृतभाष्य आदि ग्रंथोंकी रचना की है। बहुत से सिद्धांतोंमें विज्ञानभिक्षुका वाचस्पतिमिश्रसे भिन्न अभिप्राय था। विज्ञानभिक्षुने पंचशिख और ईश्वरकृष्णके समयमें लुप्त हुए ईश्वरवादका सांख्यदर्शनमें फिरसे प्रतिपादन किया है। इनके भावागणेशदीक्षित, प्रसादमाधवयोगी और दिव्यसिंहमिश्र नामके तीन प्रधान शिष्य थे।

इनके अतिरिक्त सनक, नन्द, सनातन, सनत्कुमार, अंगिरा वोढु आदि अनेक सांख्य विचारक हो गये हैं, जिनका अब केवल नामशेष रह गया है।

---

१ तत्त्वसंग्रह अंग्रेजी भूमिका।

योगदर्शन

योगशब्द ऋग्वेदमें अनेक स्थलोंपर आता है, परन्तु यहां यह शब्द प्रायः जोड़नेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय, कठ, मैत्रायणी आदि प्राचीन उपनिषदोंमें योग समाधिके अर्थमें पाया जाता है। यहां योगके अंगोंका वर्णन किया गया है। आगे जाकर शांडिल्य, योगतत्त्व, ध्यानबिन्दु, हंस, अमृतनाद, वराह, नादबिन्दु, योगकुण्डली आदि उत्तरकालकी उपनिषदोंमें यौगिक प्रक्रियाओंका सांगोपाग वर्णन मिलता है। सांख्यदर्शनके कपिल मुनिकी तरह हिरण्यगर्भ योगदर्शनके आदि वक्ता माने जाते हैं। हिरण्यगर्भको स्वयंभू भी कहते हैं। महाभारत और श्वेताश्वतर उपनिषद्में हिरण्यगर्भका नाम आता है। पतंजलि आधुनिक योगसूत्रोंके व्यवस्थापक समझे जाते हैं[1]। व्यासभाष्यके टीकाकार वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु भी पतंजलिको योगसूत्रोंके कर्ता रूपमें उल्लेख नहीं करते। प्रो. दासगुप्त आदि विद्वानोंके मतानुसार व्याकरण महाभाष्यकार और योगसूत्रकार पतंजलि दोनों एक ही व्यक्ति थे। पतंजलिका समय ईसाके पूर्व दूसरी शताब्दि माना जाता है। पतंजलिके योगसूत्रोंके ऊपर व्यासने भाष्य लिखा है। व्यासका समय ईसाकी चौथी शताब्दि कहा जाता है। ये व्यास महाभारत और पुराणकार व्याससे भिन्न व्यक्ति माने जाते हैं। व्यासके भाष्यके ऊपर वाचस्पतिमिश्रने तत्त्ववैशारदी नामकी टीका लिखी है। व्यासभाष्यपर भोज (दसवीं शताब्दि) ने भोजवृत्ति, विज्ञानभिक्षुने योगवर्तिक और नागोजी भट्ट (सतरहवीं शताब्दि) ने छायाव्याख्या नामकी टीकायें लिखी हैं। योगकी अनेक शाखायें हैं। सामान्यसे योगके दो भेद हैं—राजयोग और हठयोग। पतंजलि ऋषिके योगको राजयोग कहते हैं। प्राणायाम आदिसे परमात्माके साक्षात्कार करनेको हठयोग कहते हैं। हठयोगके ऊपर हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता आदि शास्त्र मुख्य हैं। ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगके भेदसे योगके तीन भेद भी होते हैं। योगतत्त्व उपनिषदमें मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग इस तरह योगके चार भेद किये हैं।

जैन और बौद्ध दर्शनमें योग

महाभारत, पुराण, भगवद्गीता आदि वैदिक ग्रंथोंके अतिरिक्त जैन और बौद्ध साहित्यमें भी योगका विशद वर्णन मिलता है। जैन आगम ग्रंथ और प्राचीन जैन संस्कृत साहित्यमें योग

---

[1] तुलना करो—ननु

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

इति याज्ञवल्क्यस्मृतेः पतंजलिः कथं योगस्य शासितेति चेत्—अद्धा। अतएव तत्र तत्र पुराणादौ विशिष्य योगस्य विप्रकीर्णतया दुर्गाह्यार्थत्वं मन्यमानेन भगवता कृपासिंधुना फणिपतिना सारं संजिघृक्षुणानुशासनमारब्धं न तु साक्षाच्छासनम्। सर्वदर्शनसंग्रह १५।

शब्द प्रायः ध्यानके अर्थमें प्रयुक्त किया गया है। यहां ध्यानका लक्षण, भेद, प्रभेद आदिका विस्तृत वर्णन मिलता है। योगविषयक साहित्यको पल्लवित करनेमें सर्वप्रथम हरिभद्रसूरिका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। हरिभद्रने योगके ऊपर योगविन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका, षोड़शक आदि ग्रंथोंके लिखनेके साथ पतंजलिके योगशास्त्रका पांडित्य प्राप्त करके पतंजलिके योगसूत्रोंके साथ जैनयोगकी प्रक्रियाओंकी तुलना की है। हरिभद्रके योगदृष्टिसमुच्चयमें मित्रा, तारा आदि आठ दृष्टियोंका स्वरूप जैन साहित्यमें बिलकुल अभूतपूर्व है। जैन योगशास्त्रके दूसरे विद्वान हेमचन्द्रसूरि हैं। इन्होंने योगके ऊपर योगशास्त्र नामक स्वतंत्र ग्रंथ लिखकर बहुतसी जैन यौगिक प्रक्रियाओंका पतंजलिकी प्रक्रियाओंसे समन्वय किया है। हेमचन्द्रके योगशास्त्रमें शुभचन्द्र आचार्यके ज्ञानार्णवमें आये हुए ध्यान आदिके वर्णनके साथ ध्यान, आसन आदिका विस्तृत वर्णन मिलता है। जैनयोग-साहित्यको वृद्धिंगत करनेवाले सतरहवीं सदीके अंतिम विद्वान यशोविजय उपाध्याय माने जाते हैं। यशोविजयजीने योगके ऊपर अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, तथा योगलक्षण, पातंजलयोगलक्षणविचार, योगभेद, योगविवेक, योगावतार, मित्रा, तारादित्रय, योगमाहात्म्य आदि द्वात्रिंशिकायें लिखनेके साथ हरिभद्रकी योगविंशिका और षोड़शकपर टीका लिखकर पतंजलिके योगसूत्रोंपर जैन प्रक्रियाके अनुसार वृत्ति लिखी है। यशोविजयजीने उक्तग्रंथोंमें भगवद्गीता, योगवासिष्ठ, तैत्तिरीय उपनिषद्, पातंजल योगसूत्र आदि वैदिक ग्रंथोंका उपयोग किया है और साथ ही जैन और पतंजलिके योगकी प्रक्रियाओंकी तुलना करते हुए अनेक स्थलोंपर पतंजलिकी प्रक्रियाका प्रतिवाद किया है।

बौद्ध ग्रंथोंमें भी योगका वर्णन मिलता है। स्वयं बुद्धने बोधि प्राप्त करनेके पूर्व योगका अभ्यास किया था। पातंजल योगदर्शनकी तरह बौद्ध शास्त्रोंमें भी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदिको धर्मके प्रधान अंग मानकर इनके विशद वर्णनके साथ हेय, हेयहेतु, हान और हानोपायकी तरह दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्योंका उपदेश दिया है। महायान सम्प्रदायकी विज्ञानवाद शाखा योगाभ्यासके ऊपर विशेष ध्यान देनेके कारण ही योगाचार नामसे कही जाती थी। योगाचार सम्प्रदायमें बोधिसत्वकी दस भूमियोंको प्राप्त करनेके बाद योगके अभ्यासीको ही बोधिकी प्राप्ति मानी गई है। महायान सम्प्रदायमें ध्यान, पारमिता, समाधि आदि प्रक्रियाओंका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। बौद्धतन्त्रकी क्रियातंत्र, चर्यातंत्र, योगतन्त्र, और अनुत्तरयोग तंत्र इन चार शाखाओंमें योगतंत्रका नाम बहुत महत्वका है। अनुत्तरयोगतन्त्रके पंचक्रममें भी योगकी पांच दशाओंका वर्णन आता है। हीनयान सम्प्रदायमें भी योगाभ्यासको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

---

[1] जैन योगके विषयमें विशेष जाननेके लिए देखो पं. सुखलालजीकी योगदर्शन और योगविंशिकाकी भूमिका।

[2] हीनयानके योगसंबंधी सिद्धांतोंके लिये देखो मिसेज़ राइस डैविड्सका Yogāvchara's Mannual पाली टैक्स्ट सोसायटी १९१६।

मीमांसक परिशिष्ट (ङ)

(श्लोक ११ और १२)

मीमांसकोंके आचार विचार

मीमांसक दर्शनको जैमिनीय दर्शन भी कहते हैं। मीमांसक लोग उपनिषदोंके पूर्ववर्ती वेदोंको ही प्रमाण मानते हैं, इस लिये ये पूर्वमीमांसक कहे जाते हैं। मीमांसक लोग धूम-मार्गके अनुयायी होते हैं। ये लोग यज्ञ-यागके द्वारा देवताओंको प्रसन्न करके स्वर्गकी प्राप्ति ही अपना मुख्य धर्म समझते हैं। मीमांसक वैदिक हिंसाको हिंसा नहीं मानते, पितरोंको तृप्त करनेके लिये श्राद्ध करते हैं, देवताओंके प्रसन्न करनेके लिये मांसकी आहुति देते हैं, तथा अतिथियोंका मधुपर्क आदिसे सत्कार करते हैं। पूर्वमीमांसावादियोंको कर्ममीमांसक भी कहते हैं। " मीमांसक साधु कुकर्मसे रहित होते हैं, यजन आदि छह कर्मोंमें रत रहते हैं, ब्रह्मसूत्र रखते हैं, और गृहस्थाश्रममें रहते हैं। ये लोग सांख्य साधुओंकी तरह एक दण्डी अथवा त्रिदंडी होते हैं। ये लोग गेरुआ रंगके वस्त्र पहिनते हैं, मृगचर्मके ऊपर बैठते हैं, कमण्डलु रखते हैं और सिर मुंडाते हैं। इन लोगोंका वेदके सिवाय और कोई गुरु नहीं है। इस लिये ये स्वयं ही सन्यास धारण करते हैं। मीमांसक साधु यज्ञोपवीतको धोकर पानीको तीन बार पीते हैं। ये लोग ब्राह्मण ही होते हैं, और ये शूद्रके घर भोजन नहीं करते "। अर्वाचीन पूर्वमीमांसक तीन प्रकारके हैं—प्रभाकर (गुरु), कुमारिलभट्ट (तुतात) और मण्डन मिश्र। भट्ट छह और प्रभाकर पांच प्रमाणोंको अंगीकार करते हैं।

मीमांसकोंके सिद्धांत

१ वेद—वेदको श्रुति, आम्नाय, छन्द, ब्रह्म, निगम, प्रवचन आदि नामोंसे भी कहते हैं। वेदान्ती लोगोंकी जिज्ञासा ब्रह्मके लिये होती है, जब कि मीमांसक लोगोंका अंतिम ध्येय धर्म ही होता है। मीमांसकोंका मत है, कर्तव्य रूप धर्म अतीन्द्रिय है, वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे नहीं जाना जा सकता। इस लिये धर्मका ज्ञान वेदवाक्योंकी प्रेरणा (चोदना) से ही होता है। उपनिषदोंका प्रयोजन भी वेदवाक्योंके समर्थन करनेके लिये ही है[2]। अतएव वेदोंको ही प्रमाण मानना चाहिये। वेदोंका कोई कर्ता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होता है। जिन शास्त्रोंका कोई कर्ता देखा जाता है, उन शास्त्रोंको प्रमाण नहीं कहा जा सकता,

---

[1] देवतां उद्दिश्य द्रव्यत्यागो यागः। यागादिरेव श्रेयसाधनरूपेण धर्मः।

[2] एतेन क्रत्वर्थकर्तृप्रतिपादकप्रतिपादनद्वारेणोपनिषदां नैराकांक्ष्यं व्याख्यातम्। तन्त्रवार्तिक पृ. १३।

इस लिये अपौरुषेय होनेके कारण वेदको ही प्रमाण कहा जा सकता है। वेद नित्य हैं, अबाधित हैं, धर्मके प्रतिपादक होनेसे ज्ञानके साधन हैं, तथा अपौरुषेय होनेके कारण स्वतः प्रमाण हैं। वेदवाक्योंका अनुमान प्रमाणसे खण्डन नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमान प्रमाण वेद प्रमाणोंसे बहुत निम्न कोटिका है। वेदके अपौरुषेय होनेपर भी अव्यच्छिन्न अनादि सम्प्रदायसे वेदवाक्योंके अर्थका ज्ञान होता है। वेदवाक्य लौकिक वाक्योंसे भिन्न होते हैं। जैसे 'अग्निमीळे पुरोहितम्', 'ईषे त्वोर्जे त्वा', 'अग्न आयाहि वीतये' आदि। वेद दो प्रकारका होता है—मंत्र रूप और ब्राह्मण रूप। यह मंत्र और ब्राह्मण रूप वेद विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध और अर्थवादके भेदसे पांच प्रकारका होता है। विधिसे धर्म संबंधी नियमोंका

---

१ नैयायिक लोग वेदको ईश्वरप्रणीत मान कर वेदके अपौरुषेयत्वका खंडन करते हैं—

वेदस्य कथमपौरुषेयत्वमभिधीयते। तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्। अथ मन्येथा अपौरुषेया वेदाः संप्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवदिति। तदेतन्मंदम्। विशेषणासिद्धेः। पौरुषेयवेदवादिभिः प्रलये संप्रदायविच्छेदस्य कक्षीकरणात्। किंच किमिदमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं नामाप्रमीयमाणकर्तृकत्वमस्मरणगोचरकर्तृकत्वं वा। न प्रथमः कल्पः। परमेश्वरस्य कर्तुः प्रमितेरभ्युपगमात्। न द्वितीयः। विकल्पासहत्वात्। तथाहि। किमेकेनास्मरणमभिप्रेयते सर्वैर्वा। नाद्यः। यो धर्मशीलो जितमानरोष इत्यादिषु मुक्तिकोक्तिषु व्यभिचारात्। न द्वितीयः। सर्वास्मरणस्यासर्वज्ञदुर्ज्ञानत्वात्। पौरुषेयत्वे प्रमाणसंभवाच्च। वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात्कालिदासादिवाक्यवत्। वेदवाक्यान्याप्तप्रणीतानि प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वान्मन्वादिवाक्यवदिति। ननु—

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा॥

इत्यनुमानं प्रतिसाधनं प्रगल्भत इति चेत्। तदपि न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे।

भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं।
भारताध्ययनत्वेन सांप्रताध्ययनं यथा॥

इत्याभाससमानयोगक्षेमत्वात्। ननु तत्र व्यासः कर्तेति स्मर्यते।

को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत्।

इत्यादाविति चेत्। तदप्यसारम्। ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत (तै. आ. ३-१२) इति पुरुषसूक्ते वेदस्य सकर्तृकता प्रतिपादनात्। किं चानित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद्घटवत्। नन्विदमनुमानं स सवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाप्रमाणप्रतिहतमिति चेत्। तदतिफल्गु। लूनपुनर्जातकेशदलितकुन्दादाविवप्रत्यभिज्ञायाः सामान्यविषयत्वेन वाधकत्वाभावात्। नन्वशरीरस्य परमेश्वरस्य ताल्वादिस्थानाभावेन वर्णोच्चारणासंभवात्कथं तत्प्रणीतत्वं वेदस्य स्यादिति चेत्। न तद्भद्रम्। स्वभावतोऽशरीरस्यापि तस्य भक्तानुग्रहार्थं लीलाविग्रहग्रहणसंभवात्। तस्माद्वेदस्यापौरुषेयत्ववाचोयुक्ति न युक्ता। सर्वदर्शनसंग्रह—जैमिनिदर्शन।

२ वेदान्ती लोग वेदको अपौरुषेय और आदिमान्, तथा सांख्य लोग वेदको पौरुषेय और आदिमान् मानते हैं।

३ मन्त्र और ब्राह्मण रूप वेदके चार भेद हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेदकी दस, यजुर्वेदकी छियास्सी, सामवेदकी एक हज़ार (ये अनध्यायके दिनोंमें पढ़ी जानेके कारण इन्द्रके वज्रसे नष्ट हो गई हैं) और अथर्ववेदकी नौ शाखायें हैं। ऋग्वेदका आयुर्वेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, सामवेदका गान्धर्ववेद और अथर्ववेदका अर्थशास्त्र (स्थापत्य) ये चारों वेदोंके चार उपवेद होते हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छह वेदके अंग, और पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र ये चार उपांग हैं। ऋग्वेदका एतरेय ब्राह्मण, यजुर्वेदका तैत्तिरीय औरं शतपथ, ब्राह्मण, सामवेदका गोपथ ब्राह्मण तथा अथर्ववेदका ताण्ड्य ब्राह्मण ये वेदोंके ब्राह्मण हैं।

ज्ञान होता है । जैसे ' स्वर्गके इच्छुकको यज्ञ करना चाहिये ' यह विधि है । अपूर्व, नियम, परिसंख्या, उत्पत्ति, विनियोग, प्रयोग, अधिकरण आदिके भेदसे विधिके अनेक भेद होते हैं । मंत्रसे याज्ञिकको यज्ञ संबंधी देवताओं आदिका ज्ञान होता है । नामधेयसे यज्ञसे मिलनेवाले फलका ज्ञान होता है । निषेध विधिका ही दूसरा प्रकार है । निन्दा, प्रशंसा, परकृति और पुराकल्पके भेदसे अर्थवाद चार प्रकारका होता है ।

२ शब्दकी नित्यता—मीमांसक लोग वेदको नित्य और अपौरुषेय मानते हैं, इस लिये इनके मतमें शब्दको भी नित्य और सर्वव्यापक स्वीकार किया गया है[1] । मीमांसकों का कहना है, कि हमें एक स्थानपर प्रयुक्त गकार आदि वर्णोंका सूर्यकी तरह प्रत्यभिज्ञानके द्वारा सब जगह ज्ञान होता है, इस लिये शब्दको नित्य मानना चाहिये । तथा, एक शब्दका एक बार संकेत ग्रहण कर लेनेपर कालान्तरमें भी उस संकेतसे शब्दके अर्थका ज्ञान होता है । यदि शब्द नित्य न होता, तो हमारे पितामह आदिसे निश्चित किये हुए शब्दोंके संकेतसे हमें उसी अर्थका ज्ञान न होता, इस लिये शब्दको नित्य ही मानना चाहिये । यदि कहो, कि शब्दको नित्य स्वीकार करनेपर सब लोगोंको हमेशा शब्द सुनाई देने चाहिये, तो यह ठीक नहीं । क्योंकि जिस समय प्रत्येक वर्ण संबंधी तालु, ओष्ठ आदिका वायुसे संबंध होता है, उसी समय शब्दकी अभिव्यक्ति होती है । जिस समय मनुष्य यत्नसे किसी शब्दका उच्चारण करता हैं, उस समय वायु नाभिसे उठकर, उरमें विस्तीर्ण होकर, कण्ठमें फैलकर, मस्तकमें लगकर वापिस आती हुई नाना प्रकारके शब्दोंकी अभिव्यक्ति करती है, इस लिये शब्दकी व्यंजक वायुमें ही उत्पत्ति और विनाश होता है, अतएव शब्दको नित्य मानना चाहिये ।

३ ईश्वर और सर्वज्ञ—मीमांसक लोग ईश्वरको सृष्टिका कर्ता और संहार करनेवाला नहीं मानते । उनके मतमें अपूर्व ही यज्ञ आदिका फल देनेवाला है, इस लिये ईश्वरको जगतका कर्ता माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती । वेदोंको बनानेके लिये भी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वेद अपौरुषेय होनेसे स्वतः प्रमाण हैं । मीमांसकोंका कथन है, कि यदि ईश्वर शरीर रहित होकर सृष्टिका सर्जन करता है, तो अशरीरी ईश्वरके जगतके सर्जन करनेकी इच्छाका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता । यदि ईश्वर शरीर सहित होकर जगतको बनाता है, तो ईश्वरके शरीरका भी कोई दूसरा कर्ता मानना चाहिये । परमाणुओंको ईश्वरका शरीर

---

[1] शब्दो नित्यः व्योममात्रगुणत्वात् व्योमपरिमाणवत्–प्रभाकर ।
शब्दो नित्यः निस्स्पर्शद्रव्यत्वात् आत्मवत्–भट्ट ।

२ नैयायिक लोग ' सकारणक होनेसे, ' ऐन्द्रियक होनेसे ' और ' विनाशी होनेसे ' शब्दको अनित्य मानते हैं । देखो न्यायसूत्र २–२–१३ । न्यायदर्शनमें ' वीचीतरंग ' न्यायसे और ' कदम्बकोरक ' न्यायसे शब्दकी उत्पत्ति मानी गई है । वैयाकरण अकार आदि वर्णको नित्य मानते हैं—वर्णो नित्यः ध्वन्यन्यशब्दत्वात् स्फोटवत् ।

मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि बिना प्रयत्नके परमाणुओंमें क्रिया नहीं हो सकती। तथा ईश्वरके प्रयत्नको नित्य माननेसे परमाणुओंमें सदा ही क्रिया होती रहनी चाहिये। ईश्वरको धर्म-अधर्मका अधिष्ठाता भी नहीं मान सकते। क्योंकि संयोग अथवा समवाय किसी भी संबंधसे धर्म और अधर्मका ईश्वरके साथ संबंध नहीं हो सकता। तथा, यदि ईश्वर सृष्टिका कर्ता है, तो वह दुखी जगतकी क्यों रचना करता है ? जीवोंके भूत कर्मोंके कारण ईश्वर द्वारा दुखी जीवोंकी सृष्टि मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि जिस समय ईश्वरने सृष्टि की, उस समय कोई भी जीव मौजूद नहीं था। दयासे प्रेरित होकर भी ईश्वरकी सृष्टि रचनाको नहीं मान सकते, क्योंकि सृष्टिको बनानेके समय प्राणियोंका अभाव था। फिर भी यदि अनुकंपाके कारण जगतका सर्जन माना जाय, तो ईश्वरको सुखी प्राणियोंको ही जन्म देना चाहिये था। क्रीड़ाके कारण भी सृष्टिका निर्माण नहीं मान सकते। क्योंकि ईश्वर सर्वथा सुखी है, उसे क्रीड़ा करनेकी आवश्यकता नहीं है। ईश्वर सृष्टिकी रचना करके फिर उसका संहार क्यों करता है, इसका कारण भी समझमें नहीं आता। इस लिये बीज-वृक्षकी तरह अनादि कालसे सृष्टिकी परंपरा माननी चाहिये। वास्तवमें नित्य और अपौरुषेय वेदोंके वाक्य ही प्रमाण हैं। कोई अनादि ईश्वर न सृष्टिका निर्माण और न सृष्टिका संहार करता है। मीमांसक लोग सर्वज्ञको भी नहीं मानते। मीमांसकोंका कहना है, कि सर्वज्ञकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे उपलब्धि नहीं होती, इस लिये उसका अभाव ही मानना चाहिये। तथा मनुष्यकी प्रज्ञा, मेधा आदिमें थोड़ा बहुत ही अतिशय पाया जा सकता है। जिस प्रकार व्याकरण शास्त्रका प्रकृष्ट पंडित ज्योतिष शास्त्रका ज्ञाता नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार वेद, इतिहास आदिका विद्वान स्वर्गोंके देवताओंको प्रत्यक्षसे जाननेमें पंडित नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार आकाशमें दश योजन कूदनेवाला मनुष्य

१　　सर्वज्ञवन्निषेध्या च स्रष्टुः सद्भावकल्पना।
न च धर्मादृते तस्य भवेल्लोकाद्विशिष्टता॥
न चाऽननुष्ठितो धर्मो नाऽनुष्ठानमृतेः मतेः।
न च वेदादृते सा स्याद्वेदो न च पदादिभिः॥
तस्मात् प्रागपि सर्वेऽमी स्रष्टुरासन् पदादयः।

न हि स्रष्टुरस्मदादिभ्योऽतिशयः सहजः संभवति पुरुषत्वादस्मदादिवदेव। अतो धर्मनिमित्तो वक्तव्यः न चाऽननुष्ठितो धर्मः कार्यं करोति। न चाऽसतिज्ञानेऽनुष्ठानं संभवति। न च वेदादृते ज्ञानं। न च वेदः पदपदार्थसंबंधैर्विना शक्नोति अर्थमवबोधयितुं। अतः प्रागपि सृष्टेः सन्त्येव पदादयः। यथाह मनुः—

सर्वेषां च स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

श्लोकवार्तिक संबंधाक्षेपपरिहार श्लोक ११४–११६ न्यायरत्नाकर टीका।

सैकड़ों प्रयत्न करनेपर भी एक हज़ार योजन नहीं कूद सकता, जिस प्रकार कर्ण इन्द्रियमें अतिशय होनेपर भी उससे रूपका ज्ञान नहीं हो सकता, उसी तरह प्रकृष्टसे प्रकृष्ट ज्ञानी भी अपने विषयका अतिक्रमण न करके ही इन्द्रिय जन्य पदार्थोंका ही ज्ञान कर सकता है। कोई भी प्राणी संपूर्ण लोकोंके संपूर्ण समयोंके संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञाता नहीं हो सकता। अतएव कोई अतीद्रिय पदार्थोंके साक्षात्कार करनेवाली सर्वज्ञ नहीं है।

४ प्रमाणवाद—मीमांसक लोग पहले नहीं जाने हुए पदार्थोंको जाननेको प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर मतके अनुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति ये पांच, और कुमारिल भट्ट इन पांच प्रमाणोंमें अभावको मिलाकर छह प्रमाण स्वीकार करते हैं। मीमांसक लोग स्मृतिज्ञानके अतिरिक्त सम्पूर्ण ज्ञानोंको स्वतः प्रमाण मानते हैं। मीमासकोंका कहना है, कि ज्ञानकी उत्पत्तिके समय ही हमें पदार्थोंका ज्ञान (ज्ञप्ति) होता है। अतएव ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें और पदार्थोंके प्रकाश करनेमें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता। जिस समय हमें कोई ज्ञान होता है, वह ज्ञान स्वतः ही प्रमाण होता है, और ज्ञानके स्वतः प्रमाण होनेसे ही हमारी पदार्थोंमें प्रवृत्ति होती है। इसीलिये ज्ञानके उत्पन्न होते ही ज्ञानके प्रामाण्यका पता लग जाता है यदि ऐसा न हो, तो हमारी पदार्थोंमें प्रवृत्ति न होनी चाहिये। परन्तु अप्रामाण्य ज्ञानमें यह वात नहीं होती। कारण कि मिथ्या ज्ञानमें हमारी इन्द्रियों आदिमें दोष होनेके कारण उत्तरकालमें होनेवाले बाधक ज्ञानसे ही हमारे ज्ञानकी अप्रमाणता सिद्ध होती है। अतएव मीमांसकोंके मतमें स्मृति ज्ञानको छोड़कर प्रत्येक ज्ञान, जब तक कि वह उत्तरकालमें किसी बाधक ज्ञानसे अप्रमाण रूप सिद्ध नहीं होता, स्वतः प्रमाण कहा जाता है, और उत्तरकालमें वही ज्ञान अप्रमाण सिद्ध होनेपर परतः कहा जाता है। नैयायिक लोग मीमांसकोंके स्वतः प्रामाण्यवादका विरोध करते हैं और प्रामाण्य ओर अप्रामाण्य दोनोंको परतः मानते हैं। सांख्य लोग

---

[१] संभवतः मीमांसक लोग ईश्वर और सर्वज्ञका सद्भाव न माननेके कारण 'लोकायत' 'नास्तिक' आदि नामोंसे कहे जाने लगे थे। कुमारिल भट्टने इस आक्षेपको दूर करनेके लिये श्लोकवार्तिककी रचना करके उसमें 'आत्मवाद' नामक भिन्न प्रकरण लिखा है—

प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया॥ श्लोकवार्तिक पृ. ४ श्लोक १०।

तथा—इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णु-
रात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः
प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥ पृ. ७२८ श्लोक १४८।

CC0.In Public Domain. Digitized by Sárayu Trust/eGangotri

प्रामाण्य और अप्रामाण्यको स्वतः, जैन लोग दोनोंको कथंचित् स्वतः और कथंचित् परतः, तथा बौद्ध लोग अप्रामाण्य ज्ञानको स्वतः और प्रामाण्यको परतः मानते है ।

आत्मा—मीमांसक लोग आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं । इनके मतमें आत्माको शरीर, इन्द्रिय और बुद्धिसे भिन्न मानकर आत्मबहुत्ववादके सिद्धांतको स्वीकार किया गया है। मीमांसक विद्वान कुमारिलभट्ट और प्रभाकरके आत्मा संबंधी सिद्धांतोंमें मतभेद पाया जाता है। कुमारिलके मतमें आत्माको कर्ता, भोक्ता, ज्ञानशक्तिवाला, नित्य, विभु और परिणामी मानकर अहंप्रत्ययका विषय माना जाता है । प्रभाकर भी आत्माको कर्ता, भोक्ता और विभु स्वीकार करते हैं, परन्तु वे आत्मामें परिवर्तन नहीं मानते । प्रभाकरके सिद्धांतके अनुसार आत्मा ज्ञाता है, और पदार्थ ज्ञेय हैं । ज्ञाता और ज्ञेय एक नहीं हो सकते, इस लिये आत्मा कभी स्वसंवेदनका विषय नहीं हो सकता। यदि आत्माको स्वसंवेदक माना जाय, तो गाढ़ निद्रामें भी ज्ञान मानना चाहिये ।

मोक्ष—गौतमधर्मसूत्र आदि धर्मशास्त्रोंमें धर्म, अर्थ और काम केवल इन तीन पुरुषार्थोंको मानकर धर्मको ही मुख्य पुरुषार्थ स्वीकार किया गया है । मीमांसा दर्शनके प्राचीन आचार्य धर्मको संम्पूर्ण सुखोंका कारण मानकर उससे स्वर्गकी प्राप्ति करना ही अपना अन्तिम ध्येय समझते थे । इन लोगोंके सामने मोक्षका प्रश्न इतना बलवान नहीं था । परन्तु उत्तरकालके मीमांसक आचार्य मोक्ष संबंधी प्रश्नसे अछूते न रह सके । प्रभाकरके मतके अनुसार संसारके कारण भूतकालीन धर्म और अधर्मके नाश होने पर शरीरके आत्यन्तिक रूपसे नाश होनेको मोक्ष कहा है । जिस समय जीवके शम, दम, ब्रह्मचर्य आदिके द्वारा आत्मज्ञान होनेसे देहका अभाव हो जाता है, उस समय मोक्षकी प्राप्ति होती है। मोक्ष अवस्थाको आनन्द रूप नही कह सकते, क्योंकि निर्गुण आत्मामें आनन्द नहीं रह सकता । इस लिये सुख और दुख दोनोंके क्षय होनेपर स्वात्मस्फुरण रूप अवस्थाको ही मोक्ष कहते हैं । कुमारिल

---

१ परापेक्षं प्रमाणत्वं नात्मानं लभते क्वचित् ।
मूलोच्छेदकरं पक्षं को हि नामाध्यवस्यति ॥

यदि हि सर्वमेव ज्ञानं स्वविषयतथात्वावधारणे स्वयमसमर्थं विज्ञानान्तरमपेक्षेत ततः कारणगुणसंवादार्थक्रियाज्ञानान्यपि स्वविषयभूतगुणाद्यवधारणे परमपेक्षेरन्, अपरमपि तथेति न कश्चिदर्थो जन्मसहस्रेणाप्यध्यवसीयेतेति प्रामाण्यमेवोत्सीदेत् । शास्त्रदीपिका पृ. २२ ।

२ ज्ञानशक्तिस्वभावोऽतो नित्यः सर्वगतः पुमान् ।
देहान्तरक्षमः कल्प्यः सोऽगच्छन्नेव योक्ष्यते ॥   मी. श्लोकवार्तिक आत्मवाद ७३ ।

३ बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्न आत्मा विभुर्ध्रुवः ।
नानाभूतः प्रतिक्षेत्रमर्थवित्तिषु भासते ॥   प्रकरणपंचिका पृ. १४१ ।

४ अतो नाविद्यास्तमयो मोक्षः । आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेषधर्माधर्मपरिक्षयानिबंधनो मोक्ष इति सिद्धम् । प्रकरणपंचिका पृ. १५६ ।

भट्टके अनुसार परमात्माकी प्राप्तिकी अवस्था मात्रको मोक्ष कहा गया है। कुमारिल भी मोक्षको आनद रूप नहीं मानते। पार्थसारथिमिश्र आदिने भी सुख-दुख आदि समस्त विशेष गुणोंके नाश होनेको मुक्ति माना है।

मीमांसक और जैन

मीमांसक लोग याज्ञिक हिंसाको, जातिसे वर्णव्यवस्थाको, और वेदके स्वतः प्रमाणको स्वीकार करते है। परन्तु जैन लोग सांख्य, बौद्ध, आजीविक आदि श्रमण सम्प्रदायोंकी तरह उक्त वातोंका विरोध करते हैं। जैन लोग हिंसाके उग्र विरोधी हैं। ये लोग जातिसे वर्ण व्यवस्थाको नहीं मानते। ब्राह्मण लोगोंकी मान्यता है, कि सबसे पहले ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई, उसके वाद ब्रह्माके दूसरे दूसरे अवयवोंसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जन्मे, इस लिये ब्राह्मण ही सर्वपूज्य हैं। परन्तु आदिपुराण आदि जैन पुराणोंमें इससे विरुद्ध कल्पना देखनेमें आती है। आदिपुराणके अनुसार पहले पहल जब ऋषभदेव भगवानने असि, मसि आदि छह कर्मोंका उपदेश किया, उस समय उन्होंने पहले क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकी सृष्टि की, और वादमें व्रतधारी श्रावकोंमेंसे ब्राह्मण वर्णका जन्म हुआ। वास्तवमें किसीको जातिसे ऊंच अथवा नीच नहीं कहा जा सकता, इस लिये गुण और कर्मके अनुसार ही वर्णव्यवस्था माननी चाहिये। वैदिक लोग वेदको अपौरुषेय और नित्य होनेके कारण प्रमाण मानते हैं, और वेदविहित याज्ञिक हिंसाको पाप रूप नहीं गिनते। जैन लोगोंका मानना है, कि पहले आर्यवेद हिंसाके विधानसे रहित, और पहले यज्ञ दयामय होते थे। वर्तमान हिंसा प्रधान वेद पछिसे महाकाल असुरने रचे हैं, और हिंसामय यज्ञोंका भी पीछेसे प्रचार हुआ है। जैन लोग प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार वेदोंको मानते हैं। सिद्धसेन दिवाकरने वेदोंके ऊपर द्वात्रिंशिकाकी रचना की है। भगवानके निर्वाणोत्सवके बाद स्वयं इन्द्र और देवोंने श्रावक ब्रह्मचारियोंको गार्हपत्य, परमाहवनीयक और दक्षिणाग्नि नामके तीन कुंड वनाकर उनमें त्रिसंध्य अग्नि स्थापित करके अग्निहोत्रद्वारा जिन भगवानकी पूजा करनेका उपदेश किया था।

---

१ सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्ष प्रकल्प्यते।
स्वर्ग एव भवेदेष पर्यायेण क्षयी च सः॥
न हि कारणवत्किंचिदक्षयित्वेन गम्यते।
तस्मात्कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते॥
न ह्यभावात्मकं मुक्त्वा मोक्षनित्यत्वकारणम्।

भावरूपं सर्वमुत्पत्तिधर्मकं घटादिक्षयधर्मकमेव। अतो न सुखात्मिका मुक्तिरात्मज्ञानेन क्रियते इति।... सिद्धयति चाभावात्मकत्वे मोक्षस्य नित्यता न त्वानन्दात्मकत्वे।

श्लोकवार्तिक संबंधाक्षेपपरिहार श्लोक १०५–१०७ न्यायरत्नाकर टीका।

जैन और मीमांसक लोगोंके सिद्धान्तोंकी तुलना करते समय यह बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है, कि कुमारिलभट्ट प्रकारान्तरसे जैनोंके अनेकांतवादके सिद्धांतको स्वीकार करते हैं। कुमारिलका पदार्थोंको उत्पाद, व्यय और स्थिति रूप सिद्ध[1] करना, अवयवोंको अवयवीसे भिन्नाभिन्न[2] मानना, वस्तुको स्वरूप-पररूपसे सत्-असत्[3] स्वीकार करना, तथा सामान्य और विशेषको सापेक्ष[4] मानना, स्पष्ट रूपसे कुमारिलके अनेकांतवादके समर्थन करनेको सूचित करता है। तत्त्वसंग्रहकारके कथनसे भी यही मालूम होता है, कि निर्ग्रंथ जैनोंकी तरह विप्रमीमांसक भी अनेकांतवादके सिद्धांतको मानते[5] थे। गुणरत्न भी मीमांसकोंके प्रकारान्तरसे अनेकांतके मानने उल्लेखका करते[6] हैं।

---

[1] वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्। श्लोकवार्तिक वनवाद २१-२२।

[2] पूर्वोक्तादेव तु न्यायात्सिध्येदत्रावयव्यपि।
तस्याप्यत्यन्तभिन्नत्वं न स्यादवयवैः सह॥ ७५॥

[3] स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद्रूपं किंचित्कदाचन।

सर्वं हि वस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चासद्रूपं। यथा घटो घटरूपेण सन् पटरूपेणासन्। पटोऽप्यसद्रूपेण भावान्तरे घटादौ समवेतः तस्मिन् स्वीयाऽसद्रूपाकारां बुद्धिं जनयति। योऽयं घटः स पटो न भवतीति। मी. श्लोकवार्तिक अभावपरिच्छेद १२ न्यायरत्नाकर।

[4] अन्योन्यापेक्षिता नित्यं स्यात्सामान्यविशेषयोः।
विशेषाणां च सामान्यं ते च तस्य भवन्ति हि॥
निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि॥
एवं च परिहर्तव्या भिन्नाभिन्नत्वकल्पना॥
केनचिद्व्यात्मनैकत्वं नानात्वं चास्य केनचित्।

गोत्वं हि शावलेयात्मना बाहुलेयाद्भिद्यते। स्वरूपेण च न भिद्यते। तथा व्यक्तिरपि गुणकर्मजात्यन्तरात्मना गोत्वाद्भिद्यते। स्वरूपेण च न भिद्यते। तथा व्यक्त्यन्तरादपि व्यक्तिः जात्यात्मना न भिद्यते। स्वरूपेण च भिद्यते इति। अपेक्षाभेदादविरोधः। समाविशन्ति हि विरुद्धान्यपि एकत्वापेक्षाभेदात्। एकमपि हि किंचिदपेक्ष्य ह्रस्वं किंचिदपेक्ष्य दीर्घं। तथैकोऽपि चैत्रो द्वित्वापेक्षया भिन्नोऽपि स्वात्मापेक्षया न भिद्यते। अनेन एकानेकत्वमपि परिहर्तव्यं। तदेव हि वस्तु स्वरूपेण सर्वत्र सर्वदा चैकमपि शावलेयादिरूपेणानेकं भवतीति न विरोधः। मी. श्लोकवार्तिक आकृतिवाद ९-१० तथा ५६ न्यायरत्नाकर।

देखो पं. हंसराज शर्मा—दर्शन और अनेकांतवाद।

[5] कल्पनारचितस्यैव वैचित्र्यस्योपवर्णने।
को नामातिशयः प्रोक्तो विप्रनिर्ग्रन्थकापिलैः॥ तत्त्वसंग्रह पृ. ५०१।

[6] मीमांसकास्तु स्वयमेव प्रकारान्तरेणैकानेकाद्यनेकान्तं प्रतिपद्यमानास्तत्प्रतिपत्तये सर्वथा पर्यनुयोगं नार्हन्ति। षड्दर्शनसमुच्चयटीका।

मीमांसा दर्शनका साहित्य

मीमांसासूत्रोंके रचयिता जैमिनी माने जाते हैं। वैदिक परम्पराके अनुसार जैमिनी ऋषि वेदव्यासके शिष्य थे। वेदव्यासने मूल वेदकी चार संहिताओंकी रचना की, और सामवेदकी संहिताको जैमिनीको पढ़ाया। जैमिनीका समय ईसाके पूर्व २०० वर्ष माना जाता है। जैमिनीसूत्रोंके ऊपर भर्तृमित्र, भवदास, हरि और उपवर्ष नामके विद्वानोंने टीकायें लिखीं हैं, जो आजकल उपलब्ध नहीं हैं। जैमिनीसूत्रोंपर भाष्य लिखनेवाले शबरस्वामीका नाम मुख्य रूपसे उल्लेखनीय है। यह शबरभाष्य उत्तरकालके मीमांसक लेखकोंका खास आधार रहा है। शबरस्वामीके सिद्धांतोंका तत्वसंग्रहमें खण्डन किया गया है। प्राच्य विद्वान शबरको वात्स्यायनका समकालीन और नागार्जुनका उत्तरकालवर्ती मानते हैं। दूसरे लोग शबरके समयको ईसाकी चौथी शताब्दि मानते हैं। शबरभाष्यके बाद मीमांसक दर्शनके मुख्य विचारक प्रभाकर और कुमारिलभट्ट हो गये हैं। प्रभाकरने (ई. स. ६५०) शबरभाष्यके ऊपर बृहती नामकी टीका लिखी है। शास्त्रीय परम्पराके अनुसार प्रभाकर कुमारिलके शिष्य कहे जाते हैं। इन दोनोंके विचारोंमें मतभेद होनेकें कारण दोनोंके सिद्धांतोंकी अलग अलग शाखायें हो गईं हैं। प्रभाकरका मत गुरूमत के नामसे प्रसिद्ध है। बृहती लिखते हुए प्रभाकर कुमारिलके सिद्धांतोंका उल्लेख नहीं करते, जब कि कुमारिल बृहतीकारके मतका उल्लेख करते हुए मालूम होते हैं। इससे विद्वानोंका मत है, कि प्रभाकर कुमारिलके शिष्य नहीं थे, किन्तु वे कुमारिलके पूर्ववर्ती हैं। प्रभाकरकी बृहतीके ऊपर प्रभाकरके शिष्य कहे जाने वाले शालिकानाथमिश्रने ऋजुविमला नामकी टीका, और प्रभाकरके सिद्धांतोंके विवेचन करनेके लिये प्रकरणपंचिका नामक ग्रंथ लिखे हैं। प्रभाकरकी बृहती और शालिकानाथकी ऋजुविमला अभी सम्पूर्ण रूपसे प्रकाशमें नहीं आये, इस लिये प्रकरणपंचिका ही प्रभाकरके सिद्धांतोंको जाननेका एक आधार है। कुमारिलभट्ट, भट्टपाद और वार्तिककारके नामसे भी कहे जाते हैं। तिब्बती ग्रंथोंमें इनको कुमारलील कहा गया है। कुमारिल (ई. स. ७००) ने शबरभाष्यके ऊपर स्वतंत्र रूपसे टीका लिखी है। यह टीका श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और तुप्टीका नामके तीन खंडोंमें विभक्त है। कुमारिल और उद्योतकर बौद्ध दर्शन और बौद्ध न्यायके खंडन करनेके लिये अद्वितीय समझे जाते

---

१ कहा जाता है, कि कुमारिलभट्ट ' अत्र तुनोक्तम् तत्रापिनोक्तम् इति पौनरुक्तम् ' इस वाक्यका अर्थ नहीं समझ सके थे। कुमारिलने इसका अर्थ किया, कि ' यहां भी नहीं कहा गया, वहां भी नहीं कहा गया, इस लिये फिर कहा गया '। प्रभाकरने कहा, कि इस वाक्यका यह अर्थ करना ठीक नहीं है। इस वाक्यका अर्थ इस तरह करना चाहिये, कि ' यहां यह ' तु ' से सूचित किया गया है, और वहां ' अपि ' से सूचित किया गया है, इस लिये फिर कहा गया है'। कुमारिल इससे बहुत प्रसन्न हुए और अपने शिष्य प्रभाकरको 'गुरु' कहने लगे।

थे। शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें कुमारिलका खंडन किया है। कुमारिल धर्मकीर्ति और भवभूतिके समकालीन कहे जाते हैं। कुमारिलके पश्चात् कुमारिलके अनुयायी मंडनमिश्रका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। मंडनमिश्रने विधिविवेक, भावनाविवेक, मीमांसानुक्रमणी और कुमारिलकी तन्त्रवार्तिककी टीका लिखी है। कहा जाता है, कि ये मण्डनमिश्र आगे जाकर वेदान्तमतके अनुयायी हो गये। इसके अतिरिक्त, पार्थसारथिमिश्रने कुमारिलकी श्लोकवार्तिकके ऊपर न्यायरत्नाकर, तथा शास्त्रदीपिका, तन्त्ररत्न और न्यायरत्नमाला; सुचरितमिश्रने श्लोकवार्तिककी टीका और काशिका; तथा सोमेश्वरभट्टने तन्त्रवार्तिककी टीका और न्यायसुधा नामके ग्रंथ लिखे। मीमांसादर्शनका ज्ञान करनेके लिये माधवका न्यायमालाविस्तर, आपदेवका मीमांसान्यायप्रकाश, लौगाक्षिभास्करका अर्थसंग्रह और खण्डदेवकी भाट्टदीपिका आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं।

वेदान्त परिशिष्ट (च)

(श्लोक १२)

वेदान्तदर्शन

वेदान्तदर्शनका निर्माण वेदोंके अंतिम भाग उपनिषदोंके आधारसे हुआ है, इस लिये इसे वेदान्त कहते हैं। वेदान्तको उत्तरमीमांसा अथवा ब्रह्ममीमांसा भी कहते हैं। यद्यपि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों दर्शन मौलिक रूपसे भिन्न भिन्न हैं, परन्तु बोधायनने इन दर्शनोंको 'संहित' कहकर उल्लेख किया है, तथा उपवर्षने दोनों दर्शनोंपर टीका लिखी है, इससे विद्वानोंका अनुमान है, कि किसी समय पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा एक ही समझे जाते थे। "उत्तरमीमांसक साधु अद्वैतवादी होते हैं। ये लोग ब्राह्मण ही होते हैं। इनके नामके पीछे भगवत् शब्द लगाया जाता है । ये साधु कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंसके भेदसे चार प्रकारके होते हैं। कुटीचर लोग मठमें वास करते हैं, त्रिदण्डी होते हैं, शिखा रखते हैं, ब्रह्मसूत्र पहनते हैं, गृहत्यागी होते हैं और यजमानोंके घर आहार लेते हैं, तथा एकाध बार अपने पुत्रके यहां भी भोजन करते हैं। बहूदक साधुओंका वेष कुटीचरोंके समान होता है। ये लोग ब्राह्मणोंके घर नीरस भोजन लेते हैं, विष्णुकी जाप करते है, और नदीके जलमें स्नान करते है। हंस साधु ब्रह्मसूत्र और शिखा नहीं रखते, कषाय वस्त्र धारण करते हैं, दण्ड रखते हैं, गांवमें एक रात और नगरमें तीन रात रहते हैं, धूंआ निकलना बंद होनेपर और आगके बुझ जानेपर ब्राह्मणोंके घर भोजन करते हैं, तप करते हैं और देश देशमें भ्रमण करते है। जिस समय हंस आत्मज्ञानी हो जाते है, उस समय वे परमहंस कहे जाते हैं। ये चारों वर्णोंके घर भोजन लेते हैं, इनके दंड रखनेका नियम नहीं है, ये लोग शक्ति हीन हो जानेपर भोजन ग्रहण करते हैं[1]।" वेदान्तके माननेवाले आजकल भी भारतवर्ष और उसके बाहर पाये जाते हैं। जब कि न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि अन्य भारतीय दर्शनोंकी परम्परा नष्टप्राय हो गई है। ई. स. १६४० में दाराशिकोहने उपनिषदोंका फारसी भाषामें अनुवाद किया था। जर्मन तत्त्ववेत्ता शोपेनहोर (Schopenhauer) ने औपनिषदिक तत्त्वज्ञानसे प्रभान्वित होकर भारतीय तत्त्वज्ञानकी मुक्तकंठसे प्रशंसा की है। शांकर वेदान्तके सिद्धांतोंकी तुलना पश्चिमके आधुनिक विचारक ब्रैडले (Bradley) के सिद्धांतोंके साथ की जा सकती है।

वेदान्तसाहित्य

वेदान्त दर्शनका साहित्य बहुत विशाल है। सर्व प्रथम वेदान्तदर्शन उपनिषदोंमें, और उपनिषदोंके बाद महाभारत और गीतामें देखनेमें आता है। तत्पश्चात् औडुलोमि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न, कार्ष्णाजिनि, बादरि, आत्रेय और जैमिनी वेदान्तदर्शनके प्रतिपादक

---

[1] गुणरत्नसूरि–षड्दर्शनसमुच्चय टीका।

कहे जाते हैं। इन विद्वानोंका उल्लेख बादरायणने अपने ब्रह्मसूत्रमें किया है। वेदान्तदर्शनके प्रतिपादकोंमें बादरायणके ब्रह्मसूत्रोंका नाम बहुत महत्वका है। ब्रह्मसूत्रोंको वेदान्तसूत्र अथवा शारीरकसूत्रोंके नामसे भी कहा जाता है। वेदान्तसूत्रोंके समयके विषयमें विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। आजकल वेदान्तसूत्रोंका समय ईसवी सन् ४०० के लगभग माना जाता है। वेदान्तसूत्रोंके ऊपर अनेक आचार्योंने टीकायें लिखी हैं। बादरायणके पश्चात् ब्रह्मसूत्रोंके वृत्तिकार बोधायनका नाम सबसे पहले आता है। बहुतसे विद्वान बोधायन और उपवर्ष दोनोंको एक ही व्यक्ति मानते हैं। बोधायन ज्ञानकर्मसमुच्चयके सिद्धांतको मानते थे। द्रमिडाचार्यने छान्दोग्य उपनिषद्के ऊपर टीका लिखी थी। इस टीकाका उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद्की शंकरकी टीकाके टीकाकार आनन्दगिरिने किया है। द्रमिड़ाचार्य 'भाष्यकार' के नामसे भी कहे जाते थे। टंक 'वाक्यकार' के नामसे प्रसिद्ध हो गये हैं। टंकको आत्रेय अथवा ब्रह्मनन्दिन् नामसे भी कहा जाता है। भर्तृप्रपंच भेदाभेद और ब्रह्मपरिणामवादके सिद्धांतको मानते थे। शंकर और आनंदतीर्थने भर्तृप्रपंचका बृहदारण्यककी टीकामें उल्लेख किया है। औपनिषदिक ऋषियोंके पश्चात् अद्वैत वेदान्तका सुनिश्चित रूप सर्वप्रथम गौड़पादकी माण्डूक्यकारिकामें देखनेमें आता है। गौड़पादका समय ईसवी सन् ७८० के लगभग माना जाता है। शंकर गौड़पाद आचार्यके शिष्य गोविन्दके शिष्य थे। शंकर केवलाद्वैतके प्रतिष्ठापक महान् आचार्य माने जाते हैं। शंकराचार्यने अनेक शास्त्रोंकी रचना की है। इन शास्त्रोंमें ईशा, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक इन दस उपनिषदोंपर, तथा भगवद्गीता और वेदान्तसूत्रोंके ऊपर टीकाओंका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। शंकरका समय ईसवी सन् ८०० माना जाता है। मंडन अथवा मंडनमिश्र शंकरके समकालीन माने जाते हैं। मंडनने ब्रह्मसिद्धि आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथोंकी रचना की है। मंडन दृष्टिसृष्टिवादके प्रतिष्ठापक कहे जाते हैं। ब्रह्मसिद्धिके ऊपर वाचस्पति आदि अनेक विद्वानोंने टीकायें लिखी हैं। सुरेश्वर शंकरके साक्षात् शिष्य थे। सुरेश्वरका समय ईसवी सन् ८२० माना जाता है। इन्होंने नैष्कर्म्यसिद्धि, बृहदारण्यक उपनिषद्-भाष्यवार्तिक आदि ग्रंथ लिखे हैं। नैष्कर्म्यसिद्धिके ऊपर चित्सुख आदिने टीकायें लिखी हैं। पद्मपाद सुरेश्वरके समकालीन माने जाते हैं। पद्मपाद भी शंकराचार्यके साक्षात् शिष्य थे। पद्मपादने पंचपादिका आदि ग्रंथोंकी रचना की है। पंचपादिकाके ऊपर प्रकाशात्मन् आदिने टीकायें लिखी हैं। वेदान्त दर्शनके प्रतिपादकोंमें मैथिल पंडित वाचस्पतिमिश्रका नाम भी बहुत महत्त्वका है। वाचस्पतिमिश्रने शांकरभाष्यके ऊपर अपनी पत्नीके नामपर भामती, और मण्डनकी ब्रह्मसिद्धिके ऊपर तत्त्वसमीक्षा टीका लिखी है। सर्वज्ञात्ममुनि सुरेश्वराचार्यके शिष्य थे। सर्वज्ञात्ममुनिने शांकर वेदान्तके सिद्धांतोंके प्रतिपादन करनेके लिये संक्षेपशारीरक नामका ग्रंथ लिखा है। इनका समय ईसवी सन् ९००

माना जाता है। इसके अतिरिक्त आनन्दबोध (११–१२ शताब्दि) का न्यायमकरन्द और न्यायदीपावलि, श्रीहर्ष (ई. स. ११५०) का खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखाचार्य (ई. स. १२५०) की चित्सुखी, विद्यारण्य (ई. स. १३५०) की पंचदशी और जीवन्मुक्तिविवेक, तथा मधुसूदनसरस्वती (१६ वीं शताब्दि) की अद्वैतसिद्धि, अप्ययदीक्षित (१७ वीं शताब्दि) का सिद्धांतलेश, और सदानन्दका वेदान्तसार आदि ग्रंथ वेदान्त दर्शनके अभ्यासियोंके लिये महत्त्वपूर्ण हैं।

वेदान्त दर्शनकी शाखायें

भर्तृप्रपंच—शंकरके पूर्व होनेवाले वेदान्त दर्शनके प्रतिपादकोंमें भर्तृप्रपंचका नाम बहुत महत्त्वका गिना जाता है। भर्तृप्रपंचका इस समय कोई मूल ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। सुरेश्वरकी वार्तिकके उल्लेखोंसे माल्रम होता है, कि भर्तृप्रपंच अग्निवैश्वानरके उपासक थे, और इन्हें अग्निवैश्वानरके प्रसादसे उच्च कोटिका तत्वज्ञान प्राप्त हुआ था। भर्तृप्रपंच अद्वैतमतका प्रतिपादन करते हैं। ये शंकरकी तरह ब्रह्मके पर और अपर दो भेद करते हैं, परन्तु दोनों प्रकारके ब्रह्मको सत्य मानते हैं। भर्तृप्रपंचका समय ईसाकी सातवीं शताब्दि माना जाता है।

शंकर—शंकराचार्य केवलाद्वैत अथवा ब्रह्माद्वैतका स्थापनकरनेवाले महान प्रतिभाशाली विचारकोंमें गिने जाते हैं। शंकरके मतमें व्यवहारिक और पारमार्थिकके भेदसे दो प्रकारके सत्य माने गये हैं। परमार्थ सत्यसे संसारके सम्पूर्ण व्यवहार अविद्याके कारण ही होते हैं, इस लिये सब मिथ्या हैं। परमार्थसे एक केवल सत्, चित्, और आनन्द रूप ब्रह्म ही सत्य है। जिस प्रकार प्रकाशमान सूर्यके जलमें प्रतिबिम्बित होनेसे सूर्य नाना रूपमें दिखाई देता है, उसी तरह ब्रह्म भी अध्यास अथवा अविद्याके कारण नाना रूपमें प्रतिभासित होता है। केवलाद्वैतके प्रतिपादक शंकरके पूर्ववर्ती अनेक आचार्य हो गये हैं, परन्तु उपलब्ध साहित्यमें शंकरका अद्वैतवाद ही सर्वप्रधान गिना जाता है।

रामानुज—ये विशिष्टाद्वैतके जन्मदाता माने जाते हैं। रामानुजके मतमें परब्रह्मका स्वरूप उसके विशेषणोंसे ही समझमें आ सकता है, निर्विशेष वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। इस लिये जीव, जगत और ईश्वर इन तीन पदार्थोंको मानना चाहिये। जीव और जगत शरीर रूप हैं, और परब्रह्म शरीरी है। रामानुजका समय ११ वीं शताब्दि माना जाता है।

वल्लभ—ये शुद्धाद्वैतके मुख्य प्रवर्तक गिने जाते हैं। इनके मतमें यह जगत परब्रह्मका ही अविकृत परिणाम है। इसे माया रूप कह कर ब्रह्मकी विवर्त नहीं कह सकते।

---

[१] विशेष जाननेके लिये देखो प्रो. दासगुप्तकी A History of Indian Philosophy vol II अ. ११।

इस लिये ब्रह्मको माया रहित मानना चाहिये। ब्रह्मन् अंशी है, तथा जीव और जड़ ब्रह्मके अंश हैं। जीव भक्तिके द्वारा ही परब्रह्मको प्राप्त करता है। शुद्धाद्वैतको अविकृत ब्रह्मवाद भी कहते हैं। वल्लभका समय ईसाकी १५ वीं शताब्दि माना जाता है।

विज्ञानभिक्षु—ये अविभागाद्वैतके स्थापक माने जाते हैं। ये केवलाद्वैत और शुद्धाद्वैतका खंडन करते हैं। इनके मतमें जिस प्रकार जलमें शक्कर डालनेसे शक्कर जलके साथ अविभक्त हो जाती है, उसी तरह पर जड़-अजड़ जगत परब्रह्ममें अविभक्त रूपसे रहता है। विज्ञानभिक्षुका समय ईसाकी १७ वीं शताब्दि माना जाता है।

श्रीकंठाचार्य—शक्तिविशिष्ट अद्वैतको मानते हैं। यह अद्वैतवाद केवलाद्वैतके साथ मिलता जुलता है। परन्तु यहां ब्रह्मको सविशेष भावसे प्रधान, और निर्विशेष भावसे गौण माना गया है। ब्रह्मतत्व चित् शक्ति और आनन्द शक्तिसे युक्त है। यहाँपर यह शक्तितत्व माया रूप अथवा अविद्या रूप न माना जाकर चिन्मय माना गया है। श्रीकंठका समय १५ वीं शताब्दि माना जाता है।

भट्टभास्कर—औपाधिक भेदाभेदको मानने वाले हैं। भट्टभास्कर भेद और अभेद दोनोंको सत्य मानते हैं। ब्रह्म और जगतमें कार्य-कारण संबंध है। इस लिये कार्य और कारण दोनों ही सत्य हैं। कारणको सत्य और कार्यको कल्पित नहीं कहा जा सकता। भट्टभास्करका समय ईसाकी १० वीं शताब्दि माना जाता है।

निम्बार्क—स्वाभाविक भेदाभेदको मानते हैं। इनके मतमें जगत ब्रह्मका परिणाम है, इसे काल्पनिक नहीं कह सकते। निम्बार्कके मतमें जीव और जगतको न ईश्वरसे सर्वथा अभिन्न कह सकते हैं, और न सर्वथा भिन्न। अतएव चेतन और अचेतनको ईश्वरसे भिन्नाभिन्न मानना चाहिये। निम्बार्कका समय ११ वीं शताब्दि माना जाता है।

मध्व—मध्व द्वैत वेदान्ती माने जाते हैं। मध्वके अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे भेदकी ही सिद्धि होती है। पदार्थ दो तरहके होते हैं—स्वतंत्र और परतंत्र। ईश्वर स्वतंत्र पदार्थ है। परतंत्र पदार्थ भाव और अभावके भेदसे दो प्रकारके हैं। भावके दो भेद है—चेतन और अचेतन। चेतन और अचेतन ईश्वरके आधीन हैं। मध्वको पूर्णप्रज्ञ अथवा आनन्दतीर्थ भी कहा जाता है। मध्वका समय ईसाकी १२ वीं शताब्दि माना जाता है।

शंकरका मायावाद

कुछ लोगोंका कहना, कि शंकराचार्यने मायावादके सिद्धांतोंकी रचना बौद्धोंके विज्ञानवाद और शून्यवादके आधारसे की है। बादरायणके ब्रह्मसूत्रोंमें, भगवद्गीतामें और बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि उपनिषदोंमें मायावादके सिद्धांत नहीं पाये जाते, विज्ञानभिक्षु

---

१ विशेषके लिये देखो नर्मदाशंकरका हिंदतत्त्वज्ञाननो इतिहास उत्तरार्ध पृ. १७४–१८८।

शंकराचार्यको ‘ प्रच्छन्नबौद्ध ’ कहकर उल्लेख करते हैं, पद्मपुराणमें ‘ मायावाद ’ को असत् शास्त्र कहा गया है, तथा मध्व शून्यवादियोंके शून्य और मायावादियोंके ब्रह्मको एक बताते हैं, इससे माल्म होता है, कि शंकर अपने परमगुरु गौड़पादके सिद्धांतोंसे प्रभावान्वित हुए थे। प्रो. दासगुप्तके अनुसार ये गौड़पाद स्वयं बौद्ध विद्वान थे, और वे उपनिषदों और बुद्धके सिद्धांतोंमें भेद नहीं समझते थे। गौड़पादने माण्डूक्य उपनिषद्के ऊपर माण्डूक्यकारिका टीका लिखकर बौद्ध और औपनिषदिक सिद्धांतोंका समन्वय किया है। आगे चलकर गौड़पादके सिद्धांतोंका उनके शिष्य शंकराचार्यने प्रसार कियां[1]। प्रो. ध्रुव इस मतसे सहमत नहीं हैं। ध्रुवका मत है, कि हीनयान बौद्धदर्शन ब्राह्मणदर्शनसे प्रभावान्वित होकर ही महायान बौद्धदर्शनके रूपमें विकसित हुआ[2] है।

* * *

---

[1] गौड़पाद आचार्यकी माण्डूक्यकारिका और नागार्जुनकी माध्यामिककारिकाकी तुलनाके लिये देखो प्रो. दासगुप्तकी A History of Indian Philosopy Vol. I पृ. ४२३ से ४२८।

[2] देखो प्रो. ध्रुवकी स्याद्वादमंजरी पृ. ६२ भूमिका।

चार्वाक परिशिष्ट (छ)

(श्लोक २०)

चार्वाक मत

चार्वाक लोग पुण्य-पाप आदि परोक्ष वस्तुओंको स्वीकार नहीं करते, इस लिये इन्हें चार्वाक कहते हैं[1]। सुन्दर वाणी होनेके कारण भी ये लोग चार्वाक कहे जाते हैं[2]। चार्वाक लोग सामान्य लोगोंके समान आचरण करनेके कारण लोकायत अथवा लोकायतिक कहे जाते हैं[3]। ये लोग पुण्य-पापको नहीं मानते, इस लिये इन्हें नास्तिक भी कहते हैं[4]। ये लोग आत्मा नहीं मानते, इस लिये इन्हें अक्रियावादी कहते हैं। चार्वाक बृहस्पतिके शिष्य थे। बृहस्पतिने देवताओंके शत्रु असुरोंको मोहित करनेके लिये चार्वाक मतकी सृष्टिकी थी। धूर्त चार्वाक और सुशिक्षित चार्वाकके भेदसे चार्वाक दो प्रकारके होते हैं। धूर्त चार्वाक पृथिवी, अप्, तेज और वायु इन चार भूतोंको छोड़कर आत्माको अलग पदार्थ नहीं मानते। सुशिक्षित चार्वाक शरीरसे भिन्न आत्माका अस्तित्व मानते हैं, परन्तु उनके मतमें यह आत्मा शरीरके नाश होनेके साथ ही नष्ट हो जाता है। कोई चार्वाक लोग चतुर्भूत रूप जगतको न मानकर आकाशको पांचवां भूत स्वीकार करके संसारको पंचभूत रूप मानते हैं। "चार्वाक मतके साधु कापालिक होते हैं। ये लोग शरीरपर भस्म लगाते हैं, और ब्राह्मणसे लेकर अत्यंज तक किसी भी जातिके हो सकते हैं। ये लोग मद्य और मांसका भक्षण करते हैं, व्यभिचार करते हैं, प्रत्येक वर्ष इकट्ठे होकर स्त्रियोंसे क्रीड़ा

---

[1] चर्वन्ति, भक्षयन्ति तत्त्वतो न मन्यन्ते पुण्यपापादिकं परोक्षं वस्तुजातमिति चार्वाकाः। गुणरत्नसूरि।

[2] चारुः लोकसंमतः वाकः वाक्यम् यस्य सः। वाचस्पत्यकोश।

[3] लोकाः निर्विचाराः सामान्यलोकास्तद्वदाचरन्ति स्मेति लोकायता लोकायतिका इत्यपि। गुणरत्न।

[4] नास्ति पुण्यं पापमिति मतिरस्य नास्तिकः। हेमचन्द्र।

यहां यह ध्यान देने योग्य है, कि वैदिक पुराणोंमें अद्वैत वेदान्तके प्रतिपादक शंकराचार्यको चार्वाक, जैन और बौद्धोंकी तरह नास्तिक बताकर शंकरके मायावादको असत् शास्त्र कहा है—

मायावादी वेदान्ती (शंकर भारती) अपि नास्तिक एव पर्यवसाने संपद्यते इति ज्ञेयम्।

अत्र प्रमाणानि सांख्यप्रवचनभाष्योदाहृतानि पद्मपुराणवचनानि यथा—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयंल्लोकगर्हितम्।
कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते॥
सर्वकर्मपरिभ्रंशान्नैष्कर्म्यं तत्र चोच्यते।
परमात्मजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते॥

सांख्यप्रवचन भाष्य १-१ भूमिका। न्यायकोश पृ. ३७२।

करते हैं, तथा कामको छोड़कर और कोई धर्म नहीं मानते[1]।" परयोगी आनंदघनजीने चार्वाक[2] मतकी उपमा जिनेन्द्रकी कोखसे दी है, यह बात विशेष रूपसे ध्यान आकर्षित करनेवाली है।

चार्वाक लोगोंके सिद्धांत

चार्वाक लोग आत्माको नहीं मानते। इनके मतमें चैतन्य विशिष्ट देहको ही आत्मा माना गया है। जिस समय भौतिक शरीरका नाश होता है, उस समय आत्माका भी नाश हो जाता है, अतएव कोई परलोक जानेवाली आत्मा भिन्न वस्तु नहीं है। इसीलिये चार्वाकोंका सिद्धांत है, कि जब तक जीना है, तब तक खूब आनंदके साथ जीवनको यापन करना चाहिये, क्योंकि मरनेके बाद फिरसे जीवका जन्म नहीं होता। चार्वाक लोग धर्म, अधर्म और पुण्य, पापको नहीं मानते। इनके मतमें एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। इस लिये इन लोगोंका मत है, कि संसारसे बाह्य कोई स्वर्ग, नरक, मोक्ष और ईश्वर जैसी वस्तु नहीं है। वास्तवमें कांटा लग जाने आदिसे उत्पन्न होनेवाला दुख ही नरक है, लोकमें प्रसिद्ध राजा ही ईश्वर है, देह का छोड़ना ही मोक्ष है, और स्त्रीका अलिंगन करना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। चार्वाक वेदको नहीं मानते, तथा याज्ञिक हिंसाका और श्राद्ध आदि कर्मोंका घोर विरोध करते हैं।

चार्वाक साहित्य

चार्वाक साहित्यका आज कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इस लिये चार्वाकोंके सिद्धांतोंके प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करनेके आज कोई साधन नहीं है। आजीविक आदि सम्प्रदायोंकी तरह चार्वाक मतका थोड़ा बहुत ज्ञान जैन, बौद्ध और ब्राह्मणोंके ग्रंथोंसे होता है। चार्वाक सिद्धांतोंके आद्य प्रणेता बृहस्पति कहे जाते हैं। गुणरत्न और जयन्तभट्ट दो चार्वाक-सूत्रोंका उल्लेख करते हैं, इससे अनुमान होता है, बृहस्पतिने चार्वाकशास्त्रकी रचना सूत्र रूपमें की थी। शान्तरक्षित तत्त्वसंग्रहमें चार्वाक सम्प्रदायके प्ररूपक कम्बलाश्वतरके एक सूत्रका उल्लेख करते[3] हैं। विद्वानोंका कहना है, कि बौद्ध सूत्रोंमें वर्णित अजितकेशकम्बली और कम्बलाश्वतर दोनों एक ही व्यक्ति[4] थे। इनका समय ईसवी सन् पूर्व ५५०–५०० बताया जाता है। चार्वाकके सिद्धांतोंका संक्षिप्त वर्णन जयन्तकी न्यायमंजरी, माधवका सर्वदर्शनसंग्रह, गुणरत्नकी षड्दर्शनसमुचय टीका और महाभारत आदि ग्रंथोंमें पाया जाता है।

---

[1] गुणरत्न षड्दर्शनसमुच्चय टीका।

[2] "लोकायतिक कूख जिनवरनी, अंश-विचार जो कीजे;
तत्त्व-विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण केम पीजे" श्रीनमिनाथजीनुं स्तवन, गा. ४।
पं. बेचरदास–जैनदर्शन पृ. ८० भूमिका।

[3] कायादेव ततो ज्ञानं प्राणापानाद्यधिष्ठितात्।
युक्तं जायत इत्येतत्कम्बलाश्वतरोदितम्॥
तथा च सूत्रम्–कायादेवेति। तत्त्वसंग्रह श्लोक १८६४ पंजिका।

[4] तत्त्वसंग्रह अंग्रेजी भूमिका।

विविध परिशिष्ट (ज)

श्लो १ पृ. ४ पं. २१ आजीविक

भारतके अनेक सम्प्रदायोंकी तरह आजीविक सम्प्रदायका नाम भी आज निश्शेष हो चुका है। आजीविक मतके माननेवालोंके क्या सिद्धांत थे, इस मतके कौन कौन मुख्य आचार्य थे, उन्होंने किन किन ग्रंथोंका निर्माण किया था, आदिके विषयमें प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आज कोई भी साधन नहीं हैं। इस लिये आजीविक सम्प्रदायके विषयमें जो कुछ थोड़े बहुत सत्य अथवा अर्धसत्य रूपमें जैन और बौद्ध शास्त्रोंमें उल्लेख मिलते हैं, हमें उन्हींसे संतोष करना पड़ता है। ई. स. पूर्व ३९१ में अशोकका आजीविकोंको एक गुफा प्रदान करनेका उल्लेख मिलता है। ईसाकी ६ ठी शताब्दिके विद्वान वराहमिहिर अपने बृहज्जातकमें आजीविकोंको एकदण्डी कहकर उल्लेख करते हैं। ई. स. ५७६ में शीलांक, ई. स. ५९० में हलायुध आजीविक और दिगम्बरोंको, और मणिभद्र आजीविक और बौद्धोंको पर्यायवाची मानकर उल्लेख करते हैं, तथा ई. स. १२३५ में राजराज नामके चोल राजाके शिलालेखोंपर से आजीविकोंके ऊपर कर लगानेका अनुमान किया जाता है। जैन और बौद्ध साहित्यमें नंदवच्छ, किससंकिच्च और मक्खलि गोशाल इन तीन आजीविक पंथके नायकोंका कथन आता है। मक्खलि गोशाल बुद्ध और महावीरके समकालीन प्रतिस्पर्धियोंमें से माने जाते हैं। भगवती आदि जैन आगमोंके अनुसार गोशाल महावीरकी तपस्याके समय महावीरके शिष्य बनकर छह वर्ष तक उनके साथ रहे, और बादमें महावीरके प्रतिस्पर्धि बनकर आजीविक सम्प्रदायके नेता बने। गोशालक भाग्यवादी थे। इनके मतमें सम्पूर्ण जीव अवश, दुर्बल, निर्वीर्य हैं, और भवितव्यताके वशमें हैं। जीवोंके संक्लेशका कोई हेतु नहीं है, बिना हेतु और बिना प्रत्ययके प्राणी संक्लेशको प्राप्त होते हैं। गोशालक आत्माको पुनर्जन्मको और जीवके मुक्तिसे लौटनेको स्वीकार करते थे। उनके मतमें प्रत्येक पदार्थमें जीव विद्यमान हैं। गोशालकने जीवोंको एकेन्द्रिय आदिके विभागमें विभक्त किया था, वे जीव हिंसा न करनेपर भार देते थे, मुख्य योनि चौदह लाख मानते थे। भिक्षाके वास्ते पात्र नहीं रखते थे, हाथमें भोजन करते थे, मद्य, मांस, कंदमूल और उद्दिष्ट भोजनके त्यागी होते थे, और नग्न रहा करते थे। आजीविक लोगोंका दूसरा

---

१ प्रो. होर्नेल ईसाकी छठी शताब्दितक आजीविकदर्शनके स्वतंत्र आचार्योंके होनेका अनुमान करते हैं।

नाम तेरासिय (त्रैराशिक) भी है। ये लोग प्रत्येक वस्तुको सत्, असत् और सदसत् तीन तरहसे कहते थे, इस लिये ये तेरासिय कहे जाने लगे।

श्लोक १५ पृ. १९३ पं. १८ संवर-प्रतिसंवर

क्षेमेन्द्रने सांख्यतत्त्वविवेचनमें संवर (संचर) और प्रतिसंवर (प्रतिसंचर) का लक्षण निम्न प्रकारसे किया है—

संचर—

साम्यवस्थागुणानां या प्रकृति सा स्वभावतः।
कालक्षोभेण वैषम्यात् क्षेत्रे परयुते पुरा
बुद्धिस्ततश्चाहंकारस्त्रिविधोऽपि व्यजायत।
तन्मात्राणीन्द्रियाणि महाभूतानि च क्रमात्॥
एवं क्रमेणैवोत्पत्तिः संचरः परिकीर्तितः।

प्रतिसंचर—

व्युत्क्रमेणैव लीयन्ते तन्मात्रे भूतपंचकम्।
तन्मात्राणीन्द्रियाणि अहंकारे विलीयते।
अहंकारोऽथ बुद्धौ तु बुद्धिरव्यक्तसंज्ञके।
अव्यक्तं न क्वचिल्लीनं प्रतिसंचर इति स्मृतः।

श्लो. २० पृ. २८६ पं. १ क्रियावादी-अक्रियावादी

क्रियावादी लोग जीवोंके अपने अपने कर्मोंके अनुसार फल मिलनेके सिद्धान्तको मानते हैं। अक्रियावादियोंका सिद्धांत इस सिद्धांतसे बिलकुल उल्टा है। जैन और बौद्ध आगम ग्रंथोंमें पकुधकात्यायन और मक्खलि गोशालको अक्रियावादी कहकर उल्लेख किया गया है। निगंठ नातपुत्त बुद्धको क्रियावाद और अक्रियावाद दोनों सिद्धान्तोंके माननेवाला कहते[2]

---

१ प्रो. जैकोवी और प्रो. वरुआ आदि विद्वानोंके अनुसार महावीरके जैनधर्मके सिद्धान्तोंके ऊपर गोशालके सिद्धान्तोंका प्रभाव पड़ा है। विशेष जाननेके लिये देखो प्रो. वरुआकी Pre-Buddhist Indian philosophy भाग ३ अ. २१; प्रो. होर्नेल—Encyclopedia of Religion and Ethics जि. १ पृ. २२९।

२ तेव्हां नातपुत्त म्हणाला, ' तूं क्रियावादी असून अक्रियावादी अशा श्रमण गौतमाला भेटण्याची कां इच्छा करितोस ? ' तरीहि सिंह गेलाच. तेव्हां बुद्धानें त्यास आपणांस क्रियावादी व अक्रियावादी ही दोन्हीं विशेषणें कशी लागूं पडतील हें अनेक प्रकारांनीं सांगितलें (महावग्ग ६-३१ अंगुत्तर ८-१२)—देखो राजवाडेका दीघनिकाय भाग १ मराठी भाषांतर पृ. १००।

हैं । प्रो. बेनीमाधव बरुआ आदि विद्वानोंका मत है, कि जैन धर्मका मौलिक नाम किरियावाद (क्रियावाद) था । क्रियावादी महावीर अक्रियावादी और अज्ञानवादियोंका विरोध करते थे, पुण्य-पाप, आस्रव-बंध, निर्जरा-मोक्षको स्वीकार करते थे, और पुरुषार्थको प्रधान मानते थे । जैन ग्रंथोंमें परमतवादियोंके ३६३ मतोंमें क्रियावादी और अक्रियावादियोंके मतोंको गिनाया गया है । क्रियावादी आत्माको मानते हैं । इनके मतमें दुःख स्वयंकृत है, अन्यकृत नहीं । इनके कौत्कल, कांडविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांछयिक, रोमस, हारित, मुंड और अश्वलायन आदि १८० भेद हैं । अक्रियावादी प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्तिके पश्चात् ही पदार्थका नाश मानते हैं । अक्रियावादी आत्माके अस्तित्वको नहीं मानते, और अपने माने हुए तत्त्वोंका निश्चित रूपसे प्ररूपण नहीं कर सकते । राजवार्तिककारने अक्रियावादियोंके मरीच, कुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्धलि, मौद्गाल्यन, माठर प्रभृति ४० भेद माने हैं ।

* * *

---

१ देखो Pre-Buddhist Indian Philosophy.

स्याद्वादमंजरीके अवतरण (१)

श्लोक १

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम् ।
गत्वागच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥ [ ] पृ. ४ ।

सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥
तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे ॥ [वैशेषिकवचन] पृ. ५ ।

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ ।
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ॥
[आचारांग १–३–४–१२२] पृ. ५ ।

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥ [ ] पृ. ५ ।

अभ्रादित्वात् (अभ्रादिभ्यः) [हैमशब्दानुशासन ७–२–४६] पृ. ८ ।
शाखादेर्यः [हैमशब्दानुशासन ७–१–११४] पृ. ८ ।
श्रीवर्धमानाभिधमात्मरूपम् [अयोगव्यवच्छेदिका १] पृ. ११ ।

श्लोक २

तादर्थ्ये चतुर्थी [हैमशब्दानुशासन २–२–५४] पृ. १२ ।

स्पृहेर्व्याप्यं वा [हैमशब्दानुशासन २–२–२६] पृ. १२ ।

श्लोक ३

अदसस्तु विप्रकृष्टे [हैमव्याकरण संग्रहश्लोक] पृ. १४ ।

* रूसउ वा परो मा वा विसं वा परियत्तऊ ।
भासियव्वा हिया भासा सपक्खगुणकारिया ॥
[हेमचन्द्र–श्रेणिकचरित्र २–३२] पृ. १५ ।

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात् ।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥
[वाचकमुख्य उमास्वाति–तत्त्वार्थभाष्य कारिका २९] पृ. १५ ।

---

* इस अंकके अवतरण सम्पूर्णतया उपलब्ध न होकर कुछ अंशमें ही उपलब्ध होते हैं ।

श्लोक ४

गम्ययपः कर्माधारे [हैमशब्दानुशासन २–२–७४] पृ. १८।

श्लोक ५

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् [तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ५--२९] पृ. २०।

अवकाशदमाकाशम् [उत्तराध्ययन भावविजयगणिवृत्ति २८--९] पृ. २४।

अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति [ ] पृ. २४।

अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम् [ ] पृ. २५।

तद्भावाव्ययं नित्यं [तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ५--३०] पृ. २५।

* द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा ॥
[सन्मतितर्क १--१२] पृ. २६।

* त्रिविधः खल्वयं धर्मिणः परिणामो धर्मलक्षणावस्थारूपः ।
.... इत्युभयमुपपन्नमिति [योगसूत्र ३--१३ व्यासभाष्य] पृ. २८।

सा तु द्विविधा नित्याऽनित्या च....त्वनित्या
[प्रशस्तपादभाष्य पृथिवीनिरूपण] पृ. २९।

शब्दकारणत्ववचनात् संयोगविभागौ
[प्रशस्तपादभाष्य आकाशनिरूपण] पृ. २९।

यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः ।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥ [ ] पृ. ३३।

भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः ।
तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते ॥ [ ] पृ. ३६।

श्लोक ६

सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः [हेमहंसगणि–हेमचन्द्रव्याकरण न्याय ४४] पृ. ४१।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।
अन्यो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ॥
[महाभारत वनपर्व] पृ. ४१।

अपगतमले हि मनसि............शूलमभव्यस्य
[कादम्बरी पूर्वार्ध पृ. १०३] पृ. ४२।

सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य
यल्लोकबान्धव तवापि खिलान्यभूवन् ।
तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु

सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥

[सिद्धसेन-द्वात्रिंशिका २–१३] पृ. ४३ ।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पात् ।

[शुक्लयजुर्वेद संहिता १७–१९] पृ. ४७ ।

किरणा गुणा न दव्वं तेसिं पयासो गुणो न वा दव्वं ।
जं नाणं आयगुणो कहमदव्वो स अन्नत्थ ॥
गन्तूण न पिरिछिन्दइ नाणं णेयं तयम्मि देसम्मि ।
आयत्थं चिय नवरं अचिंतसत्ती उ विण्णेयं ॥
लोहोवलस्स सत्ती आयत्था चेव भिन्नदेसंपि ।
लोहं आगरिसंती दीसइ इह कज्जपच्चक्खा ॥
एवमिह नाणसत्ती आयत्था चेव हंदि लोगंतं ।
जइ परिछिंदइ सम्मं को णु विरोहो भवे तत्थ ॥

[हरिभद्र–धर्मसंग्रहणी ३७०--३७३] पृ. ४९ ।

न हिंस्यात् सर्वभूतानि [छान्दोग्य उपनिषद् अ. ८] पृ. ५१ ।

षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनात् न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ [ ] पृ. ५१ ।

अग्निषोमीयं पशुमालभेत [ऐतरेय आरण्यक ६--१३] पृ. ५१ ।

सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत [तैत्तिरीय संहिता १–४] पृ. ५१ ।

नानृतं ब्रूयात् [ ] पृ. ५२ ।

ब्राह्मणार्थेऽनृतं ब्रूयात् [ ] पृ. ५२ ।

* न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पंचानृतान्याहुरपातकानि ॥

[वसिष्ठधर्मसूत्र १६–३६] पृ. ५२ ।

परद्रव्याणि लोष्ठवत् [ ] पृ. ५२ ।

* यद्यपि ब्राह्मणो हठेन........स्वं ददाति

[मनुस्मृति १–१०१] पृ. ५२ ।

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति [देवी भागवत] पृ. ५२ ।

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥ [आपस्तंभ] पृ. ५२ ।

श्लोक ७

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां [कुमारसंभव ३–५४] पृ. ५९।

उद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम् [शिशुपालवध] पृ. ५९।

प्राप्तानामेव प्राप्तिः समवायः [ ] पृ. ५९।

अव्यभिचारी मुख्योऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरंगश्च।
विपरीतो गौणोऽर्थः सति मुख्ये धीः कथं गौणे॥
[ ] पृ. ६३।

ईहाद्याः प्रत्ययभेदतः [हैमलिंगानुशासन पुंस्त्री. ५] पृ. ६४।

श्लोक ८

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशः कालो दिगात्मा मन इति नव द्रव्याणि
[वैशेषिकसूत्र १–१–५] पृ. ६५।

रूपरसगंधस्पर्शसंख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धिः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च
[वैशेषिकसूत्र १–१–६ तथा प्रशस्तपादभाष्य] पृ. ६५।

अन्तेषु भवा अन्त्याः........तेऽन्त्या विशेषाः
[प्रशस्तपादभाष्य पृ. १६८] पृ. ६८, ६९।

* द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता [वैशेषिक सूत्र १–२–७] ,, ७०।

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥
[उदयानाचार्य–किरणावलि द्रव्यप्रकरण पृ. १६१] ,, ७१।

न हि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।
अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः॥
[छान्दोग्य उपनिषद् ८–१२] ,, ७२।

यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः।
तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्न विकल्प्यते॥
धर्माधर्मनिमित्तो हि संभवः सुखदुःखयोः।
मूलभूतौ च तावेव स्तंभौ संसारसद्मनः॥
तदुच्छेदे च तत्कार्यशरीराद्यनुपप्लवात्।
नात्मनः सुखदुःखे स्तः इत्यसौ मुक्त उच्यते॥
इच्छाद्वेषप्रयत्नादि भोगायतनबंधनम्।

उच्छिन्नभोगायतनो नात्मा तैरपि युज्यते ॥
तदेवं धिषणादीनां नवानामपि मूलतः ।
गुणानामात्मनो ध्वंसः सोऽपवर्गः प्रतिष्ठितः ॥

ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्मावशिष्यते ।
स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ॥

ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः ।
संसारबंधनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम् ॥
कामक्रोधलोभगर्वदंभहर्षा—ऊर्मिषट्कमिति ।
[जयन्त—न्यायमंजरी पृ. ५०८] पृ. ७२,७३ ।

सूत्रं तु सूचनाकारि ग्रंथे तन्तुव्यवस्थयोः ।
[हेमचन्द्र—अनेकार्थसंग्रह २–४५८] पृ. ७४ ।

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता चिरम् [ ] ,, ७४ ।

कारणं द्विविधं ज्ञेयं बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः ।
यथा लुनाति दात्रेण मेरुं गच्छति चेतसा ॥ [लाक्षणिक] ,, ७९ ।

नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः [ ] ,, ८२ ।

* सुखमात्यन्तिकं यत्र बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
तं वै मोक्षं विजानीयाद् दुष्प्रापमकृतात्मभिः ॥ [भगवद्गीता] ,, ८६ ।

वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवांछितम् ।
न तु वैशेषिकीं मुक्ति गौतमो गन्तुमिच्छति ॥ [ ] ,, ८६ ।

मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तमः [ ] पृ. ८८ ।

नट्ठंमि य छाउमत्थिए नाणे [आवश्यक पूर्वविभाग ५३९] ,, ८९ ।

पुण्यपापक्षयो मोक्षः [आगमवचन] ,, ८९ ।

श्लोक ९

सर्वगतत्वेऽप्यात्मनो देहप्रदेशे ज्ञातृत्वम् । नान्यत्र शरीरस्योपभोगायतनत्वात् ।
अन्यथा तस्य वैयर्थ्यात् [श्रीधर—न्यायकन्दली] पृ. ९४ ।

* नानात्मनो व्यवस्थातः [वैशेषिकसूत्र ३–२–२०] पृ. ९५ ।

आकाशोऽपि सदेशः सकृत्सर्वमूर्ताभिसंबंधार्हत्वात्
[द्रव्यालंकार] पृ. ९८ ।

श्लोक १०

ईयकारके [हैमशब्दानुशासन ३-२-१२१] पृ. १०६।

बहुभिरात्मप्रदेशैरधिष्ठाता देहावयवा मर्माणि [ ] पृ. १०६।

गुणादस्त्रियां न वा [हैमशब्दानुशासन २-२-७७] पृ. १०७।

लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्याद् दुःस्थितेनामहात्मना।
छलजातिप्रधानो यः स विवाद इति स्मृतः॥
[हरिभद्रसूरि-अष्टक १२-४] पृ. १०७।

अभ्युपेत्य पक्षं यो न स्थापयति स वैतण्डिक इत्युच्यते
[उद्योतकर—न्यायवार्तिक १-१-१] पृ. १०७।

दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपमण्डिताः॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः।
मा गादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः। [ ] पृ. १०८।

प्रमाणप्रमेय........निःश्रेयसाधिगमः
[गौतम न्यायसूत्र १-१-१] पृ. १०८।

अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम् [वात्स्यायनभाष्य] पृ. १०९।

सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम् [भासर्वज्ञ—न्यायसार] पृ. १०९।

स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् [प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और प्रमाणमीमांसा] पृ. १०९।

प्रवृत्तिदोषजनितं सुखदुःखात्मकं मुख्यं फलं तत्साधनं तु गौणम्
[जयन्त—न्यायमंजरी] पृ. ११०।

द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयम् [प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार] पृ. ११०।

साधर्म्यवैधर्म्य........कार्यसमाः [गौतम न्यायसूत्र ५-१-१] पृ. ११२।

श्लोक ११

महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्
[याज्ञवल्क्यस्मृति आचार १०९] पृ. १२२।

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हारिणेन तु।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनेह पंच तु॥
[मनुस्मृति ३-२६८] पृ. १२२।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्
[चाणक्य १-७] पृ. १२३।

संबद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना
[मी. श्लोकवार्तिक ४–८४] पृ. १२४ ।

पुढवाइयाण जइवि हु होइ विणासो जिणालयाहिन्तो ।
तव्विसया विसुदिट्ठिस्स णियमओ अत्थि अणुकंपा ॥
एयाहिंतो बुद्धा विरया रक्खन्ति जेण पुढवाई ।
इत्तो निव्वाणगया अवाहिया आभवमिमाणं ॥
रोगिसिरावेहो इव सुविज्जकिरिया व सुप्पउत्ताओ ।
परिणामसुंदरच्चिय चिट्ठा से बाहजोगे वि ॥
[जिनेश्वरसूरि–पंचलिंगी ५८, ५९, ६०] पृ. १२६ ।

श्वेतं वायव्यमजमालभेत भूतिकामः [शतपथ ब्राह्मण] पृ. १२७ ।

औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यंचः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुनः ॥
[मनुस्मृति ५–४०] ,, १२७ ।

यूपं छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ॥ [ ] ,, १२७ ।

अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः [ ] ,, १२८ ।

आरोग्गवोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु [आवश्यक २४–६] ,, १२९ ।

देवोपहारव्याजेन यज्ञव्याजेन येऽथवा ।
घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् ॥
[ ] ,, १३० ।

अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे ।
हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति ॥ [ ] ,, १३० ।

अग्निर्मामेतस्माद्धिंसाकृतादेनसो मुञ्चतु [ ] ,, १३० ।

ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते ब्रह्मचर्यदयाम्भसि ।
स्नात्वाऽतिविमले तीर्थे पापपंकापहारिणि ॥
ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे दममारुतदीपिते ।
असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तमम् ॥
कषायपशुभिर्दुष्टैर्धर्मकामार्थनाशकैः ।
शममन्त्रहुतैर्यज्ञं विधेहि निहितं बुधैः ॥

प्राणिघातात् तु यो धर्ममीहते मूढमानसः ।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥ [महाभारत] ,, १३० ।

चतुर्थ्यन्तं पदमेव देवता [ ] ,, १३१ ।

शब्देतरत्वे युगपद् भिन्नदेशेषु यष्टृषु ।
न सा प्रयाति सांनिध्यं मूर्तत्वादस्मदादिवत् ॥ [मृगेन्द्र] ,, १३१ ।

अग्निमुखा वै देवाः [आश्वलायन गृह्यसूत्र ४] ,, १३२ ।

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारणम् ।
तन्निर्वाणप्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम् ॥ [ ] ,, १३४ ।

अतीन्द्रियाणामर्थानां साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते ।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः ॥ [ ] ,, १३६ ।

ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च ।
पुंसश्च ताल्वादि ततः कथं स्यादपौरुषेयोऽयमितिप्रतीतिः ॥
[ ] ,, १३६ ।

अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः [तैत्तिरीय संहिता] ,, १३६ ।

न हिंस्यात् सर्वभूतानि [छान्दोग्य अ. ८] ,, १३७ ।

सव्वत्थसंजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा ।
मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही नयाऽविरई ॥ [ ] ,, १३८ ।

उत्पद्यते हि सावस्था देशकालामयान् प्रति ।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं तु वर्जयेत् ॥
[ ] ,, १३९ ।

कालाविरोधि निर्दिष्टं ज्वरादौ लङ्घनं हितं ।
ऋतेऽनिलश्रमक्रोधशोककामकृतज्वरान् ॥ [ ] ,, १३९ ।

पूजया विपुलं राज्यमग्निकार्येण संपदः ।
तपः पापविशुद्ध्यर्थं ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥
[व्यास—महाभारत] ,, १४० ।

श्लोक १२

* सत्संप्रयोगे इन्द्रियबुद्धिजन्मलक्षणं ज्ञानं, ततोऽर्थप्राकट्यं, तस्मादर्थापत्तिः, तया प्रवर्तकज्ञानस्योपलंभः [जैमिनीसूत्र १–१–४५] पृ. १४७ ।

श्लोक १३

ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः ।
[रघुवंश १०–६] पृ. १५३ ।

सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन ॥
[छान्दोग्य उपनिषद् ३–१४] पृ. १५४ ।

आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः ।
नैकत्व आगमस्तेन प्रत्येक्षण प्रबाध्यते ॥ [ ] ,, १५५ ।

अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥
[मी. श्लोकवार्तिक प्रत्यक्षसूत्र ११२] ,, १५७ ।

यदद्वैतं तद् ब्रह्मणो रूपं [ ] ,, १५७ ।

प्रत्यक्षाद्यवतारः स्याद् भावांशो गृह्यते यदा ।
व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षते ॥
[मी. श्लोकवार्तिक अभाव. १७] ,, १५८ ।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥
[ऋग्वेद पुरुषसूक्त] ,, १५९ ।

यदेजति यन्नैजति यद्दूरे यदन्तिके ।
यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥
[ईशावास्य उपनिषद्] ,, १५९ ।

* श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः अनुमन्तव्यो
[बृहदारण्यक उपनिषद्] ,, १५९ ।

सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन ॥
[छान्दोग्य ३–१४] ,, १५९ ।

* निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि ॥
[मी. श्लोकवार्तिक आकृति १०] ,, १६० ।

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद् हेतुसाध्ययोः ।

हेतुना चेद् विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥
[आप्तमीमांसा २–२६] पृ. १६१ ।

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं विरुध्यते ।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥
[आप्तमीमांसा २–२५] ,, १६२ ।

श्लोक १४

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥
[भर्तृहरि–वाक्यपदीय १–१२४] ,, १६४ ।

एतासु पंचस्ववभासनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु ।
साधारणं रूपमवेक्षते यः शृंगं शिरस्यात्मन ईक्षते सः ॥
[अशोक–सामान्यदूषणदिक् प्रसारिता] ,, १६७ ।

अभिहाणं अभिहेयाउ होई भिण्णं अभिण्णं च ।
खुरअग्गिमोयगुच्चारणम्मि जम्हा उ वयणसवणाणं ॥
नवि छेओ नवि दाहो ण पूरणं तेण भिन्नं तु ।
जम्हा य मोयगुच्चारणम्मि तत्थेव पच्चओ होइ ॥
न य होइ स अन्नत्थे तेण अभिन्नं तदत्थाओ ।
[भद्रबाहु] ,, १७५ ।

विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पा शब्दयोनयः ।
कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि ॥ [ ] ,, १७५ ।

सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः ॥ [ ] ,, १७६ ।

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ ।
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ॥
[आचारांग १–३–४–१२२] ,, १७६ ।

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः
सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः
एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥ [ ] ,, १७६ ।

स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः
[प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ४–११] पृ. १७९ ।

अपोहः शब्दलिंगाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते । [दिङ्नाग] पृ. १८० ।

श्लोक १५

तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥
[सांख्यकारिका ६२] ,, १८३ ।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥
[सांख्यकारिका ३] ,, १८४ ।

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥ [ ] ,, १८६ ।

शुद्धोपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुश्यति तमनुपश्यन्
अतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते [व्यासभाष्य] ,, १८६ ।

सर्वो व्यवहर्ता आलोच्य............बुद्धेरसाधारणो व्यापारः
[सांख्यतत्त्वकौमुदी २३] ,, १८६ ।

बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहति ।
तदेव भोक्तृत्वमस्य न त्वात्मनो विकारापत्तिः
[वादमहार्णव] ,, १८६ ।

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥ [आसुरि] ,, १८६ ।

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥
[विन्ध्यवासी] ,, १८६ ।

अपरिणामिनी भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे
प्रतिसंक्रान्ते च तद्वृत्तिमनुभवति [व्यासभाष्य] ,, १८८ ।
[वैशेषिकसूत्र] ,, १९० ।
शब्दगुणमाकाशम्

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा
इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥
[मुण्डक उपनिषद् १–२–१०] पृ. १९१ ।

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥
[सांख्यकारिका ५९] ,, १९२ ।

श्लोक नं. १६

× उभयत्र तदेव ज्ञानं प्रमाणफलमधिगमरूपत्वात् [न्यायप्रवेश पृ. ७] ,, १९६ ।

× उभयत्रेति प्रत्यक्षेऽनुमाने च तदेव ज्ञानं प्रत्यक्षानुमानलक्षणं फलम् कार्यम् । कुतः । अधिगमरूपत्वादिति परिच्छेदरूपत्वात् । तथाहि । परिच्छेदरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यते । न च परिच्छेदादृतेऽन्यद् ज्ञानफलम्, भिन्नाधिकरणत्वात् । इति सर्वथा न प्रत्यक्षानुमानाभ्यां भिन्नं फलमस्तीति ।
[हरिभद्रसूरि—न्यायप्रवेशवृत्ति पृ. ३६] पृ. १९६ ।

द्विष्ठसंबंधसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।
द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति संबंधवेदनम् ॥ [ ] ,, १९७ ।

अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणं । तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेः
[न्यायबिन्दु १–१९, २०] ,, १९८ ।

नीलनिर्भासं हि विज्ञानं....नीलसंवेदनरूपम् [न्यायबिन्दु टीका] ,, १९८ ।

नाकारणं विषयः [ ] ,, २०६ ।

ण णिहाणगया भग्गा पुंजो णत्थि अणागए ।
णिव्वुया णेव चिट्ठंति आरग्गे सरिसवोपमा ॥ [ ] ,, २०७ ।

अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।
तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ॥ [ ] २०९ ।

भूर्तिर्येषां क्रिया सैव कारणं सैव चोच्यते [ ] २१२ ।

प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः [ ] २१२ ।

स्वाकारबुद्धिजनका दृश्या नेन्द्रियगोचराः [ ] २१४ ।

यदि संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते ।
न चेत् संवेद्यते नीलं कथं बाह्यं तदुच्यते ॥
[प्रज्ञाकरगुप्त—प्रमाणवार्तिकालंकार] ,, २१५ ।

नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति तस्या नानुभवो परः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥

× इन अवतरणोंके लिये मुनि हिमांशुविजयजीने मेरा ध्यान आकर्षिक किया है ।

बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते ।
वासनालुठितं चित्तमर्थाभासे प्रवर्तते ॥ [ ] ,, २१५ ।

अणुहूयदिट्ठचिंतिय सुयपयइवियारदेवयाणू वा ।
सुमिणस्स निमित्ताइं पुण्णं पावं च णाभावो ॥
[जिनभद्रगणि-विशेषावश्यकभाष्य १७०३ ।] ,, २१६

आशामोदकतृप्ता ये ये चास्वादितमोदकाः ।
रसवीर्यविपाकादि तुल्यं तेषां प्रसज्यते ॥ [ ] ,, २१६ ।

श्लोक १७

सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभावेन
न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते [दिङ्नाग] पृ. २२७ ।

यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ।
यदेतद् स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥ [ ] ,, २३१ ।

सुखादि चेत्यमानं हि स्वतंत्रं नानुभूयते ।
मतुबर्थानुवेधात्तु सिद्धं ग्रहणमात्मनः ॥
इदं सुखमिति ज्ञानं दृश्यते न घटादिवत् ।
अहं सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका ॥
[न्यायमंजरी पृ. ४३३] ,, २३२ ।

देशितो नाशिनो भावा दृष्टा निखिलनश्वराः ।
मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत् एवं रागादयो मताः ॥ [ ] ,, २३६ ।

रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् ।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥ [ ] ,, २३७ ।

एगे आया [ठाणांग १-१] ,, २३७ ।

नासन्न सन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकं ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥ [ ] ,, २३८ ।

श्लोक १८

यच्चित्तं तच्चित्तान्तरं प्रतिसंधत्ते यथेदानीन्तनं चित्तं चित्तं च
मरणकालभावि [मोक्षाकरगुप्त] ,, २४२ ।

निखिलवासनोच्छेदे विगतविषयाकारोपप्लवविशुद्धज्ञानोत्पादो मोक्षः ,, २४४ ।
[ ]

यस्मिन्नेव हि संताने आहिता कर्मवासना ।
फलं तत्रैव संधत्ते कर्पासे रक्तता यथा ॥ [ ] ,, २४६ ।

इत्येकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥ [ ] ,, २४७ ।

श्लोक १९

प्रत्येकं यो भवेद् दोषो द्वयोर्भावे कथं न सः [ ] ,, २५०

श्लोक २०

नास्तिकास्तिकदैष्टिकम् [हैमशब्दानुशासन ६–४–६६] ,, २५६ ।

वयः शक्तिशीले [हैमशब्दानुशासन ५–२–२४] ,, २५८ ।

न चायं भूतधर्मः सत्त्वकठिनत्वादिवत् ।........
धर्मः फलं च भूतानां उपयोगो भवेद् यदि ।
प्रत्येकमुपलंभः स्यादुत्पादो वा विलक्षणात् ॥
[द्रव्यालंकार] पृ. २५९–६१ ।

श्लोक २१

वातातीसारपिशाचात्कश्चान्तः [हैमशब्दानुशासन ७–२–६१] पृ. २६३ ।

सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ॥
[तत्त्वार्थभाष्य ५–२९] पृ. २६४ ।

यद्युत्पादादयः भिन्नाः कथमेकं त्रयात्मकं ।
अथोत्पादादयोऽभिन्नाः कथमेकं त्रयात्मकम् ॥ [ ] पृ. २६५ ।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥
पयोव्रतो न दध्यात्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ॥ [आप्तमीमांसा५९,६०] पृ. २६६ ।

श्लोक २२

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् [तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ५–२९] पृ. २७० ।

श्लोक २३

भागा एव हि भासंते संनिविष्टास्तथा तथा ।
तद्वान्नैव पुनः कश्चिन्निर्भागः संप्रतीयते ॥ [ ] पृ. २७३ ।

अर्पितानर्पितसिद्धेः [तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ५–३१] ,, २७३ ।

सदसदविसेसणाउ भवहेउजहिच्छिओवलंभाउ ।
णाणफलाभावाउ मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं ॥
[विशेषावश्यकभाष्य ११५] ,, २७४ ।

विज्ञानघन एवैतेम्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति
न प्रेत्य संज्ञास्ति [बृहदारण्यक उपनिषद् २-४-१२] ,, २७४ ।

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषाभूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ [मनुस्मृति ५-५६] ,, २७५ ।

आमासु य पक्कासु य विपच्चमाणासु मंसपेसीसु ।
आयंतिअमुववाओ भणिओ उ निगोअजीवाणं ॥

मज्जे महुम्मि मंसम्मि णवणीयम्मि चउत्थए ।
उप्पज्जंति अणंता तव्वण्णा तत्थ जंतूणो ॥
मेहुणसण्णा रुढो णवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं ।
केवलिणा पण्णत्ता सद्दहिअव्वा सया कालं ॥
[रत्नशेखर—संबोधसप्ततिका ६६,६५,६३] पृ. २७६ ।

इत्थीजोणीए संभवंति बेइंदिया उ जे जीवा ।
इक्को व दो व तिण्णि व लक्खपुहुत्तं उ उक्कोसं ॥
पुरिसेण सह गयाए तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं ।
वेणुगदिट्ठं तेणं तत्तायसलागणाएणं ॥
पंचिदिया मणुस्सा एगणरभुत्तणारिगब्भम्मि ।
उक्कोसं णवलक्खा जायंति एगवेलाए ॥
णवलक्खाणं मज्झे जायइ इक्कस्स दोण्ह व समत्ती ।
सेसा पुण एमेव य विलयं वच्चंति तत्थेव ॥ [ ] पृ. २७६,७ ।

तुः स्याद् भेदेऽवधारणे [अमरकोश ३-२३९] ,, २७७ ।

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खोदद् यस्तयोस्तुल्यं भवेत् फलम् ॥ [मनुस्मृति५-५३] ,, २७७ ।

एकरात्रौषितस्यापि या गतिर्ब्रह्मचारिणः ।
न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर ॥ [ ] ,, २७७ ।

वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये ।
कर्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात् तस्य कुत्रचित् ॥
[त. श्लोकवार्तिक १-६-५३] ,, २७९ ।

सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात्प्रतीयते ।
यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ॥
[त. श्लोकवार्तिक १-६-५६] ,, २७९ ।

अर्पितानर्पितसिद्धेः [तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ५-३१] ,, २८० ।

श्लोक २६

शक्तार्हे कृत्याश्च [हैमशब्दानुशासन ५-४-३५] पृ. ३०० ।

श्लोक २७

अप्राप्तानां प्राप्तिः [प्रशस्तपाद] ,, ३०२ ।

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चमर्ण्यस्ति तयोः फलम् ।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः ॥ [ ] ,, ३०३ ।

यस्मिन्नेव हि संताने आहिता कर्मवासना ।
फलं तत्रैव संधत्ते कर्पासे रक्तता यथा ॥ [ ] पृ. ३०३ ।

परिणामोऽवस्थान्तरगमनं न च सर्वथा ह्यवस्थानम् ।
न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥ [ ] ,, ३०५ ।

अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः
[व्यासभाष्य ३-१३] ,, ३०५ ।

तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशः [ ] ,, ३०६ ।

श्लोक २८

प्रमाणनयैरधिगमः [तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १-६] ,, ३०७ ।

शास्त्यसूवक्तिख्यातेरङ् [हैमशब्दानुशासन ३-४-६०] ,, ३०९ ।

श्वयत्यसूवचपतः श्वास्थवोचपप्तम् [हैमशब्दानुशासन ४-३-१०३] ,, ३०९ ।

स्वरादेस्तासु [हैमशब्दानुशासन ४-४-३१] ,, ३०९ ।

जावइआ वयणपहा तावइआ चेव हुंति नयवाया [सन्मतितर्क ३-४७] ,, ३१० ।

लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहार [तत्त्वार्थभाष्य १-३५] ,, ३१२ ।

यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् [ ] ,, ३१२ ।

अन्यदेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम् ।
विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते नैगमो नयः ॥
सद्रूपतानतिक्रान्तं स्वस्वभावमिदं जगत् ।

सत्तारूपतया सर्वं संगृह्णन् संग्रहो मतः ॥
व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तुव्यवस्थिताम् ।
तथैव दृश्यमानत्वाद् व्यापारयति देहिनः ॥
तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्याद् शुद्धपर्यायसंश्रिता ।
नश्वरस्यैव भावस्य भावात् स्थितिवियोगतः ॥
विरोधलिंगसंख्यादिभेदाद् भिन्नस्वभावताम् ।
तस्यैव मन्यमानोऽयं शब्दः प्रत्यवतिष्ठते ॥
तथाविधस्य तस्यापि वस्तुनः क्षणवर्तिनः ।
ब्रूते समभिरूढस्तु संज्ञाभेदेन भिन्नताम् ॥
एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते ।
क्रियाभेदेन भिन्नत्वाद् एवंभूतोऽभिमन्यते ॥ [ ] पृ. ३१५,३१६ ।

नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्य अर्थस्य अंशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नय इति ।......................सप्तभंगीमनुव्रजति
[प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ७-१-५३] ,, ३१६-२० ।

नयास्तव स्यात्पदलांछना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥
[समन्तभद्र-स्वयंभूस्तोत्र विमलनाथस्तव ६५] ,, ३२१ ।

तच्च द्विविधं प्रत्यक्षं परोक्षं च........आत्ममात्रापेक्षम्
[प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार २--१,४,५,६,१८] ,, ३२१ ।

तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूत........परार्थानुमानमुपचारात्
[प्रमाणनय. ३--३-२३] ,, ३२१, ३२२ ।

आप्तवचनाद् च आविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः । उपचाराद्
आप्तवचनं च [प्रमाणनय. ४-१, २] ,, ३२२ ।

श्लोक २९

दग्धे बीजं यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥ [ ] ,, ३२८ ।
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः [योगसूत्र २-१३] ,, ३२९ ।
सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो............जातिरायुर्भोगः [व्यासभाष्य] ,, ३२९ ।
न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य [अक्षपाद ४-१-६४] ,, ३२९ ।
संघे वानूर्ध्वे [हैमशब्दानुशासन ५-३-८०] ,, ३२९ ।
गोला य असंखिज्जा असंखणिग्गोअ गोलओ भणिओ ।
इक्किक्कम्मि णिगोए अणन्तजीवा मुणेअव्वा ॥
सिज्झन्ति जत्तिया खलु इह संववहारजीवरासीओ ।
एंति अणाइवणस्सइ रासीओ तत्तिआ तम्मि ॥ [ ] ,, ३३१ ।

अतएव च विद्वत्सु मुच्यमानेषु सन्ततम् ।
ब्रह्माण्डलोकजीवानामनन्तत्वाद् अशून्यता ॥
अत्यन्यूनातिरिक्तत्वैर्युज्यते परिमाणवत् ।
वस्तुन्यपरिमेये तु नूनं तेषामसंभवः ॥ [वार्तिककार] ,, ३३२ ।

श्लोक ३०

पुन्नाम्नि घः [हैमशब्दानुशासन ५–३–१३०] ,, ३३५ ।

अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं
[विशेषावश्यकभाष्य १११९] ,, ३३५ ।

उप्पन्ने वा विगमे वा धुवेति वा [ ] ,, ३३५ ।

उदधाविव सर्वसिंधवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥
[सिद्धसेन द्वा. द्वात्रिंशिका ४-१५] ,, ३३७ ।

श्लोक ३१

काऊण नमुक्कारं सिद्धाणमभिग्गहं तु सो गिण्हे [ ] ,, ३३९ ।

अरहन्तुवएसेणं सिद्धा णज्झंति तेण अरहाई
[विशेषावश्यकभाष्य ३२१३] ,, ३३९ ।

श्लोक ३२

समवान्धात् तमसः [हैमशब्दानुशासन ७–३–८०] ,, ३४१ ।

अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या ।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥
[हेमचन्द्र–योगशास्त्र २–३] ,, ३४१

पाणवहाईआणं पावट्ठाणाण जो उ पडिसेहो ।
झाणज्झयणाईणं जो य विही एस धम्मकसो ॥
बज्झाणुट्ठाणेणं जेण ण बाहिज्जए तयं णियमा ।
संभवइ य परिसुद्धं सो पुण धम्मम्मि छेउत्ति ॥
जीवाइभाववाओ बंधाइपसाहगो इहं तावो ।
एएहिं परिसुद्धो धम्मो धम्मत्तणमुवेइ ॥

[हरिभद्र—पंचवस्तुक चतुर्थद्वार] ,, ३४२ ।

नोट—इन अवतरणोंके अतिरिक्त मल्लिषेणने स्याद्वादमंजरीमें हरिभद्रकी न्यायप्रवेशवृत्ति, हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा, देवसूरिका स्याद्वादरत्नाकर, रत्नप्रभाचार्यकी स्याद्वादरत्नावतारिका आदि ग्रंथोंके वाक्योंका शब्दशः उपयोग किया है । मल्लिषेणने इन वाक्योंको अवतरण रूपमें उल्लेख नहीं किया ।

* * *

स्याद्वादमंजरीमें निर्दिष्ट ग्रन्थ और ग्रन्थकार (२)

१ जैन—

भद्रबाहु—दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंके अनुसार भद्रबाहु श्रुतकेवली माने जाते हैं। भद्रबाहु महावीरके निर्वाणके १७० वर्ष बाद मोक्ष गये थे । भद्रबाहुने आचारांग, सूत्रकृतांग, सूर्यप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, दशाश्रुतंस्कंध, कल्पसूत्र, व्यवहार और ऋषिभाषित सूत्रोंके ऊपर निर्युक्तियोंकी रचना की है । दिगम्बर परम्परामें दो भद्रबाहु माने जाते हैं। भद्रबाहु मौर्य चन्द्रगुप्तके समकालीन थे। इनका समय ईसाके पूर्व चौथी शताब्दि माना जाता है।

आचारांग—सब सूत्रोंमें प्राचीन है । समय आदिके लिये देखो पीछे।

स्थानांग—यह द्वादशांगका तीसरा सूत्र है।

उत्तराध्ययन—उत्तराध्ययन चार मूल सूत्रोंमें प्रथम सूत्र है । इसमें छत्तीस अध्ययन हैं। इन अध्ययनोंमें केशी-गौतमका संवाद, राजीमतीका नेमिनाथको उपदेश करना, कपिलका जैन मुनिका शिष्यत्व, कर्मसे जाति मानना आदि विषय महत्वपूर्ण हैं।

आवश्यक—यह मूल सूत्रोंमें दूसरा सूत्र है। इसमें गृहस्थोंके सामायिक, स्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान इन छह आवश्यकोंका वर्णन पाया जाता है। आवश्यक सूत्र बहुत प्राचीन माना जाता है।

निशीथचूर्णि—यह अनेक चूर्णियों (प्राकृत टीका) के रचयिता जिनदासगणि महत्तरकी कृति है। जिनदासगणिका समय ई. स. ६७६ के लगभग माना जाता है।

वाचकमुख्य—उमास्वाति ही वाचकमुख्यके नामसे कहे जाते हैं। इन्होंने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और उसके ऊपर भाष्य लिखा है। उमास्वाति प्रशमरति, श्रावकप्रज्ञप्ति आदि ग्रंथोंके भी कर्ता कहे जाते हैं। उमास्वातिको दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय पूज्य दृष्टिसे देखते हैं। दिगम्बर इन्हें उमास्वामिके नामसे कहते हैं, और कुन्दकुन्द आचार्यके शिष्य अथवा वंशज मानते हैं। दिगम्बरोंके अनुसार तत्त्वार्थभाष्य उमास्वामिका बनाया हुआ नहीं माना जाता। तत्त्वार्थाधिगम सूत्रोंमें दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार पाठभेद पाया जाता है। इन सूत्रोंके ऊपर दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द आदिने तथा श्वेताम्बर आचार्य सिद्धसेनगणि, हरिभद्र, यशोविजय आदिने टीकायें लिखी हैं। उमास्वातिका समय ईसवी सन्‌की प्रथम शताब्दि माना जाता है।

सिद्धसेन दिवाकर—ये श्वेताम्बर सम्प्रदायके महान तार्किक और प्रतिभाशाली विद्वान माने जाते हैं। सिद्धसेनने प्राकृत भाषामें सन्मतितर्क और संस्कृतमें न्यायावतार और द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की है। सन्मतितर्कपर अभयदेवने, और न्यायावतारपर सिद्धर्षिने

टीका लिखी है। सिद्धसेन अपने समयके महान स्वतंत्र विचारक माने जाते थे। इन्होंने श्वेताम्बर आगमकी नयवाद और उपयोगवादकी मूल मान्यताओंका विरोध करके अपने स्वतंत्र मतका स्थापन किया है। सिद्धसेनने वेद, तथा न्याय, वैशेषिक, बौद्ध और सांख्य दर्शनोंपर द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की है। पं. सुखलालजी सिद्धसेनका समय ईसवी सन्‌की चौथी शताब्दि मानते हैं।

समंतभद्र—समंतभद्रका नाम दिगम्बर सम्प्रदायमें बहुत महत्वका है। सिद्धसेन श्वेताम्बर सम्प्रदायमें और समन्तभद्र दिगम्बर सम्प्रदायमें आदिस्तुतिकार गिने जाते हैं। समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचार, आप्तमीमांसा, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र आदि ग्रंथोंकी रचना की है। सिद्धसेन और समंतभद्रकी कृतियोंमें कई श्लोक समान रूपसे पाये जाते हैं। प्रायः सिद्धसेन और समंतभद्र दोनों समकालीन माने जाते हैं। प्रो. के. बी. पाठकके अनुसार समंतभद्र ईसाकी आठवीं शताब्दिके पूर्वार्धमें, तथा पं. जुगलकिशोरजीके मतमें समंतभद्र सिद्धसेनके पूर्ववर्ती हैं, और वे ईसाकी तीसरी शताब्दिमें हुए हैं।

जिनभद्रगणि—जिनभद्रगणि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भाष्यकार और क्षमाश्रमणके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये जैन आगमोंके आचार्य महान सैद्धांतिक विद्वान गिने जाते थे। जिनभद्रगणिने विशेषावश्यकभाष्य, विशेषणवती, जीतकल्प आदि ग्रंथोंकी रचना की है। इनका समय ईसवी सन्‌की पांचवीं शताब्दि माना जाता है।

गन्धहस्ति सिद्धसेनगणि—पहले सिद्धसेन दिवाकरको उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार मानकर सिद्धसेन दिवाकरको ही गन्धहस्ति कहा जाता था। परन्तु अब यह प्रायः निश्चित हो गया है, कि गंधहस्ति तत्त्वार्थभाष्यके ऊपर बृहद्वृत्ति रचनेवाले भास्वामिके शिष्य सिद्धसेन गणिका ही विशेषण है। यह तत्वार्थभाष्यकी वृत्ति भाष्यमहोदधिके नामसे भी प्रसिद्ध है। सिद्धसेनगणि जैन सिद्धांतशास्त्रके महान विद्वान थे। सिद्धसेनगणि तत्त्वार्थभाष्यपर वृत्ति लिखते समय उमास्वातिके आगम-विरुद्ध मंतव्योंपर टीका करते हुए उमास्वातिका सूत्रानभिज्ञ, प्रमत्त आदि शब्दोंसे उल्लेख करते हैं। इनका समय विक्रमकी सातवीं और नौवीं शताब्दिके वीचमें माना जाता है।

हरिभद्रसूरि—श्वेताम्बर सम्प्रदायके महान प्रतिष्ठित उदार विद्वान गिने जाते हैं। इन्होंने षड्दर्शनसमुच्चय, अनेकांतजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, धर्मसंग्रहणी, पंचवस्तुक, अष्टक आदि अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। हरिभद्र बुद्ध, कपिल, पतंजलि और व्यास आदि वैदिक विद्वानोंके प्रति भगवान्, सर्वव्याधिभिषग्वर, महामुनि और महर्षि आदि महत्वसूचक शब्दोंसे सन्मान प्रदर्शित करते हैं। हरिभद्र नामके अनेक जैन विद्वान हो गये हैं। प्रस्तुत याकिनीसूनु हरिभद्रका समय ईसाकी नौंवी शताब्दि माना जाता है।

विद्यानन्द—इनको विद्यानन्दि अथवा पात्रकेसरि भी कहा जाता है। विद्यानन्द अपने समयके महान तार्किक दिगम्बर विद्वान थे। इन्होंने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि ग्रंथोंकी रचना की है। विद्यानन्दने मीमांसकोंके द्वारा जैनदर्शनपर किये जानेवाले आक्षेपोंका बहुत विद्वत्तासे उत्तर दिया है।

न्यायाकुमुदचन्द्रोदय—इस ग्रंथके कर्ता दिगम्बर विद्वान प्रभाचन्द्र आचार्य हैं। इस ग्रंथका माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमालाकी ओरसे प्रकाशित करानेकी आयोजना हो रही है। प्रभाचन्द्रने माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखसूत्रोंके ऊपर प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। प्रभाचन्द्रका समय ई. स. १० वीं शताब्दि माना जाता है।

पंचलिंगीकार—जिनेश्वरसूरिने पंचलिंगी ग्रंथकी रचना की है। इनका समय विक्रम संवत् १२०४ माना जाता है।

वादिदेव—वादिदेवसूरि वादशक्तिमें अद्वितीय माने जाते थे। इन्होंने कुमुदचन्द्र नामक दिगम्बर विद्वानसे शास्त्रार्थ किया था। वादिदेवने प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और उसकी टीका स्याद्वादरत्नाकर आदि ग्रंथोंकी रचना की है। वादिदेवका समय ईसवी सन्‌की १२ वीं सदी माना जाता है।

हेमचन्द्र—हेमचन्द्राचार्य १३ वीं सदीके एक महान प्रतिभाशाली श्वेताम्बर आचार्य हो गये हैं। हेमचन्द्र कलिकालसर्वज्ञके नामसे प्रसिद्ध थे। इन्होंने न्याय, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, छन्द, योग आदि विविध विषयोंपर अनेक शास्त्रोंकी रचना की है। इन ग्रंथोंमें योगशास्त्र, हैमशाव्दानुशासन, हैमव्याकरण, अनेकार्थसंग्रह, प्रमाणमीमांसा आदि ग्रंथ मुख्य हैं।

द्रव्यालंकार—रामचन्द्र और गुणचन्द्रने स्वोपज्ञवृत्ति सहित द्रव्यालंकारकी रचना की है। रामचन्द्र और गुणचन्द्र दोनों हेमचन्द्राचार्यके शिष्य थे।

समयसागर ?—

२ बौद्ध—

दिङ्नाग—दिङ्नाग विज्ञानवादके प्रतिपादक महान तार्किक बौद्ध विद्वान हो गये हैं। इन्होंने न्यायप्रवेश, प्रमाणसमुच्चय आदि बौद्ध न्यायपर अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। दिङ्नागका समय ईसवी सन्‌की पांचवीं शताब्दि बताया जाता है।

न्यायबिंदु—इसके कर्ता धर्मकीर्ति आचार्य हैं। इनका समय ईसवी सन् ६३५ माना जाता है।

न्यायविन्दुटीका—धर्मोत्तरने न्यायबिन्दुके ऊपर टीका लिखी है। इनका समय ईसवी सन् ८४७ माना जाता है।

अशोक—पं. अशोकका समय ईसवी सन् ९०० माना जाता है। इन्होंने अपोहसिद्धि, सामान्यदूषणदिक् प्रसारिता और अवयविनिराकरण नामके ग्रंथ लिखे हैं।

प्रज्ञाकरगुप्त—प्रज्ञाकरगुप्तका समय ईसवी सन् ९४० माना जाता है। मल्लिषेणने इन्हें अलंकारकार कहकर उल्लेख किया है। प्रज्ञाकरगुप्तने प्रमाणवार्तिकालंकारकी रचना की है।

मोक्षाकरगुप्त—मोक्षाकरगुप्तका मल्लिषेणने दो जगह उल्लेख किया है। इनका समय ई. स. ११०० के लगभग माना जाता है।

तत्त्वोपप्लवसिंह—यह ग्रंथ पाटणके जैन भंडारसे मिला है। इसके कर्ता जयराशिभट्ट हैं। ये जयराशिभट्ट तत्त्वोपप्लववादी अथवा तत्त्वोपप्लवसिंहके नामसे कहे जाते थे।

३ न्याय—

अक्षपाद—न्यायसूत्रोंके प्रणेता माने जाते हैं। इन्हें गौतम भी कहा जाता है। न्यायदर्शन यौगदर्शनके नामसे भी प्रसिद्ध है। कुछ विद्वान न्यायसूत्रोंकी रचनाको ईसवी सन्के पूर्व और कुछ लोग इन्हें ईसवी सन्के पश्चात् स्वीकार करते हैं।

न्यायवर्तिक—न्यायवार्तिकके कर्ता प्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकर हैं। इनका समय ईसवी सन्की ७ वीं शताब्दिका पूर्वार्ध माना जाता है।

जयन्त—जयन्त न्यायमंजरीके कर्ता हैं। इनका समय ईसवी सन् ८८० माना जाता है।

न्यायभूषणसूत्र—इसे न्यायसार भी कहा जाता है। न्यायसारके कर्ता भासर्वज्ञ हैं। इनका समय ईसवी सन्की दसवीं शताब्दिका आरंभ माना जाता है।

उदयन—उदयन आचार्य दसवीं शताब्दिके उत्तर भागमें हुए हैं। इन्होंने वाचस्पतिमिश्रकी न्यायतात्पर्यटीकाके ऊपर न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि, किरणावलि आदि ग्रंथोंकी रचना की है।

४ वैशेषिक—

कणाद—कणाद वैशेषिक सूत्रोंके रचयिता माने जाते हैं। कणादको कणभक्ष अथवा औलूक्य नामसे भी कहा जाता है। वैशेषिक सूत्रोंकी रचनाका समय कमसे कम ईसाकी प्रथम शताब्दि माना जाता है।

प्रशस्तपाद—प्रशस्तपादने वैशेषिक सूत्रोंके ऊपर प्रशस्तपादभाष्य लिखा है। इनका समय ईसवी सन्की चौथी-पांचवीं शताब्दि माना जाता है।

श्रीधर—इन्होंने प्रशस्तपादभाष्यके ऊपर न्यायकन्दलीकी रचना की है। इनका समय ई. स. ९९१ माना जाता है।

५ सांख्य—

कपिल—सांख्यमतके आद्यप्रणेता कपिल कहे जाते हैं। कपिलको परमर्षि भी कहते हैं। कपिल अर्ध-ऐतिहासिक व्यक्ति माने जाते हैं।

आसुरि—आसुरि कपिलके साक्षात् शिष्य थे। इनका समय ईसवी सन्के पूर्व माना जाता है।

विन्ध्यवासी—विन्ध्यवासीका वास्तविक नाम रुद्रिल था। इनका समय ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दि बताया जाता है।

ईश्वरकृष्ण—ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिका अथवा सांख्यसप्ततिके कर्ता हैं। इनके समयके विषयमें विद्वानोंमें मत भेद है। कोई लोग ईश्वरकृष्णको ईसवी सन्के पूर्व प्रथम शताब्दिका विद्वान मानते हैं, दूसरे लोग इस समयको ईसाकी चौथी शताब्दि कहते हैं।

गौड़पादभाष्य—गौड़पाद शंकराचार्यके गुरू गोविन्दके गुरू थे। गौड़पाद ईसवी सन्की ८ वीं शताब्दिके आरंभमें हुए हैं।

वाचस्पति—सर्वतन्त्रस्वतंत्र वाचस्पतिने सांख्यदर्शनपर सांख्यकारिकाके ऊपर सांख्य-तत्त्वकौमुदी नामकी टीका लिखी है। वाचस्पतिमिश्रने न्याय, योग, पूर्वमीमांसा और वेदान्त दर्शनोंके ऊपर भी ग्रंथ लिखे हैं। इनका समय ईसवी सन् ८५० माना जाता है।

वादमहार्णव ?—

६ योग—

पतंजलि—पतंजलि आधुनिक योगसूत्रोंके व्यवस्थापक माने जाते हैं। बहुतसे विद्वान महाभाष्यकार और योगसूत्रोंके कर्ता पतंजलिको एक ही व्यक्ति मानते हैं। इन विद्वानों-के मतमें पतंजलिका समय ईसवी सन्के पूर्व १५० वर्ष माना जाता है।

व्यास—व्यासने पतंजलिके योगसूत्रोंपर टीका की है। मल्लिषेणने इन्हें पातंजल-टीकाकार कहकर उल्लेख किया है। इनके समयके विषयमें भी विद्वानोंके दो मत हैं। कुछ लोग व्यासको ईसवी सन्के पूर्व प्रथम शताब्दिमें ले जाते हैं, और कुछ लोग इन्हें ईसवी सन्की चौथी शताब्दिका विद्वान कहते हैं।

७ पूर्वमीमांसा—

जैमिनी—जैमिनी मीमांसासूत्रोंके रचयिता माने जाते हैं। इनका समय ईसाके पूर्व २०० वर्ष माना जाता है।

भट्ट—भट्टको कुमारिलभट्ट भी कहा जाता है। कुमारिलने शबरभाष्यके ऊपर टीका लिखी है। यह टीका श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और तुपूटीका इन तीन भागोंमें विभक्त है। कुमारिलका समय ८ वीं शताब्दिका पूर्वभाग माना जाता है।

मृगेन्द्र ?—

वेद—ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद और यजुर्वेद इन चारों वेदोंमें ऋग्वेद संसारके उपलब्ध साहित्यमें प्राचीनतम माना जाता है। ऋग्वेदके समयके विषयमें बहुत मतभेद है। ऋग्वेदका समय ईसवी सन्के पूर्व ४५०० वर्ष माना जाता है। यजुर्वेदकी शुक्ल यजुर्वेदसंहिता और कृष्ण यजुर्वेदसंहिता नामकी दो संहिता हैं।

ब्राह्मण—चारों वेदोंके ब्राह्मण अलग अलग माने जाते हैं। एतरेय ब्राह्मण ऋग्वेदका, और तैत्तिरीय ब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेदका ब्राह्मण माना जाता है। ब्राह्मण साहित्यका समय बुद्धके पूर्व माना जाता है।

सूत्र—सूत्र साहित्य वेदका अंग माना जाता है आश्वलायन ऋषिने आश्वलायनगृह्यसूत्र और वशिष्ठ ऋषिने वसिष्ठधर्मसूत्रकी रचना की है।

८ वेदान्त—

उपनिषद्—बृहदारण्यक, छान्दोग्य, मुण्डक, ईशावास्य उपनिषदें प्राचीन ग्यारह उपनिषदोंमेंसे मानी जाती हैं। इनपर शंकराचार्यने टीका लिखी हैं। प्राचीन उपनिषदोंका समय गौतम बुद्धके कुछ शताब्दियों पूर्व माना जाता है।

शंकर—ब्रह्माद्वैत अथवा केवलाद्वैतके प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। इन्होंने उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्रपर टीकायें लिखी हैं। शंकरका समय ८ वीं शताब्दि माना जाता है।

नोट—इसके अतिरिक्त मल्लिषेणने स्याद्वादमंजरीमें महाभारतकार व्यास, मनुस्मृति, भर्तृहरिकी वाक्यपदीय, कालिदासका कुमारसंभव, माघका शिशुपालवध, बाणकी कादम्बरी, वार्तिककार, अमर, त्रिपुरार्णवके उद्धरण दिये हैं, अथवा इनका साक्षात् उल्लेख किया है।

अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोंकी सूचि (३)

	श्लोक	पृ.
अ		
अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वं	२२	२६७
अनन्तविज्ञानमतीतदोषं	१	३
अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं	१४	१६४
अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्	३०	३३४
अपर्ययं वस्तु समस्यमानं	२३	२७१
अयं जनो नाथ तव स्तवाय	२	१२
आ		
आदीपमाव्योम समस्वभावं	५	२०
इ		
इदं तत्त्वातत्त्व	३२	३४१
उ		
उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं	२४	२८९
क		
कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः	६	३८
कृतप्रणाशाकृतकर्मभोग	१८	२४०
ग		
गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी	३	१४
च		
चिदर्थशून्या च जडा च बुद्धिः	१५	१८२
न		
न तुल्यकालः फलहेतुभावो	१६	१९६
न धर्मधर्मित्वमतीवभेदे	७	५८
न धर्महेतुर्विहितापि हिंसा	११	१२१
नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ	२७	३०१
प		
प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि	२१	२६२
म		
माया सती चेद् द्वयतत्त्वसिद्धिः	१३	१५२
मुक्तोऽपि वाम्येतु भवम् भवो वा	२९	३२७
य		
य एव दोषाः किल नित्यवादे	२६	२९७
यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र	९	९२
व		
वाग्वैभवं ते निखिलं विवेक्तुं	३१	३३८
विनानुमानेन पराभिसन्धिम्	२०	२५६
विना प्रमाणं परवन्न शून्यः	१७	२२६
स		
सतामपि स्यात् क्वचिदेव सत्ता	८	६५
सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिधार्थो	२८	३०७
सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च	१९	२४९
स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो	४	१६
स्वयं विवादग्रहिले वितण्डा	१०	१०६
स्याद् नाशि नित्यं सदृशं विरूपं	२५	२९५
स्वार्थावबोधक्षम एव हेतुः	१२	१४३

अन्ययोगव्यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची (४)

शब्द श्लोक
अ
अकृतकर्मभोग १८
अतीतदोष १
अद्वैत १६
अनन्तधर्म २२
अनन्तविज्ञान १
अनुमान २०
अनुवृत्ति ४
अनुशासक ६
अनेक १४
अनंतसंख्य २९
अबाध्यसिद्धान्त १
अमर्त्यपूज्य १
अम्बर १५
असत् २५
आ
आत्मतत्त्व ९
आदेशभेद २३
आप्तमुख्य १
उ
उत्पादविनाश २१
उपाधि २४
ए
एक १४
एकान्तवाद २७
औ
औपाधिक ९
क
कर्ता ६
कृतप्रणाश १८
कृतान्त १७
क्षणसन्तति १९
क्षणभंग १८
च
चित् १५
चैतन्य ८
ज
जड १५
जिन १
ज्ञान १२
त
तन्मात्रा १५
द
दुर्नीति २७,२८
ध
धर्मधर्मि ७
न
नय २८
नाशि २५
नास्तिक २०
नित्य २५
नित्यवाद २६
प
पक्षपाती ३०
पुरुष १५
प्रपंच १३
प्रमाण २८
प्रमोक्ष १८
ब
बन्ध १५
बुद्धि १५
बोध १२
ब्रह्मचारी ११
भ
भव १८,२९
म
माया १०,१३
मितात्मवाद २९
मुक्त २९
मुक्ति ९
मुनि १०
मोक्ष १५
य
यथार्थवाद २
व
वर्धमान १
वाचक १४
वाच्य १४
वासना १९
वितण्डा १०
विनाशवाद २६
विरूप २५
विवाद १०
वृत्ति ७
व्यतिवृत्ति ४
श
शून्य १७
ष
षड्जीवकाय २९
स
सत् २५,२८
सत्ता ८
सदृश २५
सप्तभंग २३
सुगत १६
संवित् ९,१६
संविदद्वैत (विज्ञानाद्वैत) १६
स्मृतिभंग १८
स्याद्वाद ५
स्वयंभू १
ह
हिंसा ११

स्याद्वादमंजरीके न्याय (५)

न्याय	श्लोक	पृ.
१ अदित्सोर्वणिजः प्रतिदिनं पत्रलिखितश्वस्तनदिनभणनन्यायः ।	१६	२०२
२ अन्धगजन्यायः ।	१४, १९	१७०,२५४
३ अर्धजरतीयन्यायः ।	८	७४
४ इतो व्याघ्र इतस्तटी ।	१७	२३९
५ इत्यादि बहुवचनान्ता गणस्य संसूचका भवन्ति ।	२२	२७१
६ उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलीयान् ।	११	१३७
७ उपचारस्तत्त्वचिन्तायामनुपयोगी ।	१५	१८८
८ गजनिमीलिकान्यायः ।	१८,२८	२४१,३०८
९ घटकुट्यां प्रभातम् ।	६	५३
१० घण्टालालान्यायः ।	६	५६
११ डमरुकमणिन्यायः ।	११	१३८
१२ तटादर्शिशकुन्तपोतन्यायः ।	१९	२५३
१३ तुल्यबलयोर्विरोधः ।	११	१३९
१४ न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम ।	९	९३
१५ स्तेनभीतस्य स्तेनान्तरशरणस्वीकरणम् ।	१८	२४७
१६ सर्वं हि वाक्यं सावधारणं ।	४	१६
१७ सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः ।	६	४१
१८ साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेत् ।	६	४४
१९ सापेक्षमसमर्थम् ।	५	३०
२० सुन्दोपसुन्दन्यायः ।	२६	३००

स्याद्वादमंजरीके विशेष शब्दोंकी सूची (६)

अ — पृ.

अकृतकर्मभोग २४१
अक्रियावादिन् २५६
अक्षपाद १०६,१०८,११३,११८,१६५
अर्चिमार्ग १२१
अज २७४
अतिथि १२२,१३१
अतिशय ८
—चत्वारो मूलातिशयाः ४
—चतुस्त्रिंशद् अतिशयाः ८
अर्थक्रियाकारित्व ३०,१६८
—एकान्तनित्यानित्यपक्षयोर्न घटते ३०
अर्थाकारता (अर्थसारूप्यम्) १९९
—निश्चयरूपं अनिश्चयरूपं वा न घटते १९९
अर्थप्राकट्य १४६
अदत्तादान ५२
अदृष्ट (आत्मनो विशेषगुणः) ९५
अद्वैत १५३
—द्रव्यास्तिकनयानुपातिनः अद्वैतवादिनः १६५
—संग्रहाभिप्रायप्रवृत्त अद्वैतवाद ३१६
—ब्रह्माद्वैत १५२
--पुरुषाद्वैत १६१
--ज्ञानाद्वैत १९५,२११
--संविदद्वैत २२१–२
अधिष्ठातृदेवता ९३
अधिष्ठाता आत्मा २३४
अध्ययन २७५
अनन्तचतुष्क ९
अनन्तदर्शन (केवलदर्शन) १०
अनन्तधर्मात्मकत्व २६७, २६८
--आत्माधर्मास्तिकायघटादिपदार्थेषु अनन्तधर्मात्मकत्वं २६८,२६९
अनवस्था ७०,७५,७८,१४३,१४८,२३०,२९२
अनादिनिगोद ३३१
अनित्यवादी २९८
—नित्यवादखंडन २९८
अनित्यैकान्तवाद ३३–३५, ३०२
--अनित्यवादे सुखदुःखपुण्यपापबन्धमोक्षयोरनुपपत्तिः ३०३–३०५
अनित्यशब्दवादिन् १७४
अनुप्रवेश १००
अनुभूति १४६
अनुमान १९६, २५६
अनुयोग ३०९
—उपक्रमनिक्षेपानुगमनयद्वाराणि ३०९
अनुवृत्ति १७, ७०, ७४
अनृतभाषण ५२
अनेकान्तवाद २६२–६, २७८–३०६
अनेषणीय १३८
अन्तर्व्याप्ति २१७,२६७
अन्त्यसंयोग ९७
अन्ययोगव्यवच्छेद २, ५७
अन्योन्याश्रय २२०
अपवर्ग १८३,२७७
अपस्मार १०७,२६३
अपुनर्बन्ध ४२
अपोह १८०
अपौरुषेय ६, १३६
अभावप्रमाण १५८
अभिलाप्यानभिलाप्यवाद २९७,३०५
अम्बर १८२
अयोगव्यवच्छेद २
अलंकारकार २१४
अलि १७९
अवयवावयवि २११–२२२
अवयव ९८
—अवयवप्रदेशयोर्भेदः ९८
अविद्या (माया) १५२
अविरति १९१
अव्यक्त (प्रधान) १८४
अव्यावहारिक ३३१
अशक्ति १९३

पृ.
अश्वमेध ५१, १२२
अष्टसमय (केवलिसमुद्घाते) १०३
अष्टादश (दोष) ४
असत्यामृषा (भाषा) १२९
अहंकार १८४
अर्हत् ३३९

आ
आकर्षण ९३
आगम ३९,५१,८५,१२७,१३६,१३८,२३६, २७६, ३२२, ३३५
आचारांग २३४
आजीविक ४
आत्मब्रह्म १५४
आत्मा (चेतन–क्षेत्रज्ञ–जीव–पुद्गल) २३५
—आत्मज्ञानसंबंध ७१,७२,७७–८३
—आत्मविभुत्व ९२–१०३
—आत्मबहुत्व ९५
—आत्मसिद्धिः २३२–२३६
—आत्मनः कथंचित् पौद्गलिकत्वं १७४
—बौद्धमते आत्मा २४१
—चार्वाकमते आत्मानिषेध २६१
आद्यकर्म ९७
आधाकर्म १३७
आप्त (सर्वज्ञ) ८, ११, २३६
—सर्वज्ञसिद्धिः २३७
आप्तवचन ३२२
आयुर्वेद १३९
आर २
आर्तध्यान १२३
आर्हतीकृत २
आलयविज्ञान (वासना) २५२
आवश्यकभाष्य ३०९
आश्विनमास १७८
आसुरि १८६

इ
इज्याध्ययनदानादि २७५
इतरेतराश्रय ४६, ५६
इतिहास १२५

पृ.
इन्द्रभूति (गणधर) २७४
इन्द्रिय (एकादश) १८५
ईश्वर ३८–५६, ९४–९६
—कर्ता ३८–४०, ४२–४५
—एक ४०, ४६
—सर्वव्यापक ४१, ४७–४९
—सर्वज्ञ ४१, ५०–५२
—स्ववश ४१, ५३
—नित्य ४१, ५४–५६
ईश्वरकृष्ण १८४

उ
उच्चाटन ९३
उत्पादव्ययध्रौव्य २०,२४,२५,२८,२६४–२६६
उत्पत्ति (ज्ञानस्य) १४४
उदयन (प्रामाणिकप्रकाण्ड) ७०, २२८
उदयप्रभसूरि १, ३४४
उपयोग ८१, १४७, २३२
—उपयोगलक्षण आत्मा ८१, २३२
—लब्ध्युपयोगलक्षण भावेन्द्रिय १४७
उपवास १७९
उपशान्तमोहगुणस्थान ८
उपादानोपादेयभाव २०४
उपाधि २९१
—औपाधिक ७१

ऊ
ऊर्मिषट्क ७३

ए
एकादशी १७९
एकान्तवाद ३०–३२, ३०१–३०६
—नित्यैकान्तपक्षे दूषणम् ३०–३२, ३०१–३०३
—अनित्यैकान्तपक्षे दूषणम् ३३-३५,३०३-३०६
एकेन्द्रिय २३४

औ
औत्सर्गमार्ग (सामान्यविधि) १३७
औदारिकशरीर १३१
औलूक्यमत १६,१०६

पृ.

क

कणादमत ७४
—नैगमनयानुरोधिनः काणादाः १६५
कर्कटी १७८
कर्म (पञ्च) ६६
कर्मयोनि (पंच) १९३
कषच्छेदताप–उपाधित्रय २३६
—कषादीनां लक्षणं ३४२
कषाय १९१
कादम्बरी ४२
कापिल १८३
काय (शरीर–तनु) परिमाण आत्मा ९५
कारीरी यज्ञ १२२,१३३
कारुण्य ५६
कालादि (अष्ट) २८४–५
किरणानां गुणत्वम् ४८
कुमार १७८
कुमारपाल २
कुमारसंभव १३६
कुक्कुटसर्प २५०
कृतप्रणाश २४१
केवलज्ञान (क्षायिकं) ३,४,३३७
केवलिन् ६,८,३३९
—मूकान्तकृत्मुण्डकेवलिनः ६
—सामान्यकेवलिन् ८
—श्रुतकेवलिन् ८,३३९
क्रमभावी २६७
क्रियावादिन् २५६
क्षणभंगवाद (क्षणिकवाद) ३३-३७,२०१-२०६, २४०-२४७
—क्षणिकवादे अर्थक्रियाया अभावः ३३–३७
—क्षणिकवादे कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभव-प्रमोक्षस्मृतिभंगदोषाः २४०-२४७
क्षयोपशम २०९,२३२,३२१
क्षीणसर्वदोष (सर्वज्ञ–आप्त) २३६
क्षीणमोह (अप्रतिपातिगुणस्थान) ८
क्षुद्रदेवता १३३

पृ.

ख

खण्डितावयव १०२,१०३
ख्याति १५४
—असत्ख्यातिविपरीतख्यातिसतत्ख्यातयः १५४

ग

गणधर २७४, ३३५
गर्भजपंचेन्द्रिय २७६
गर्भाधान १२८
गयाश्राद्ध १३४
गुण (चतुर्विंशति) ६५
गुणस्थान ८
गोमेध १२२
गोविन्द ३४४
गौडपादभाष्य १९३
गौतम ८६
गंधहस्ति ९८, ३२०
ग्रह १८३
ग्लानाद्यसंस्तर १३७

च

चतुःक्षणिकं वस्तु (वैभाषिकमते) २४७
चातुर्विद्य २
चार्वाक (लौकायतिक–अक्रियावादी-नास्तिक) २५६,२५८
—व्यवहारनयानुपातिचार्वाकदर्शनम् ३१६
चित् (चैतन्यशक्ति–पुरुष) १८२, १८४, १८६–१८९
चित्त २४२
चौर १७८

छ

छल १०७
—छललक्षण १११
—वाक्सामान्योपचारछलाः १११

ज

जन्यजनकभाव २१०
जयन्त ११०
जातकर्म १२८
जाति (दूषणाभास) १११
—चतुर्विंशतिभेदाः ११२-३
जिन (रागादिजेता) २,८, २६३

पृ.
जिनप्रभसूरि ३४४
जिनायतनविधान १२५
जीतकल्प १७९
जीवानन्त्यवाद ३२७
--परिमितात्मवादे दूषणम् ३२८
जैन १३८,१७८
जैमिनीय १२१,१३१
ज्ञप्ति (ज्ञानस्य) १४४
ज्ञान (चैतन्य) ६५,७१,७२,७७-८३
--ज्ञानात्मनोः व्यतिरिक्तत्वसमर्थनम् ७१,७२
--तत्खंडनम् ७७-८३
ज्ञानस्य स्वपरप्रकाशकत्वं १४३-१५०
ज्ञानफल १९६
ज्ञानाद्वैत (संविदद्वैत) १९५,२११-२२

त

तत्त्व (पंचविंशति) १८४
तत्त्वोपप्लवसिंह २३१
तदुत्पत्तितदाकारता २०९
तथागत ३१६
--ऋजुसूत्राकूतप्रवृत्तबुद्धयः ताथागताः ३१६
तन्मात्रा (पंच) १८३, १८५
तमस् २१-२३
--तमसः पौद्गलिकत्वम् २१-२३
तामस १८४
तीर्थिक ४,३४१
तुरुष्क १३२
तुष्टि (नवधा) १९३
त्रिपुटीप्रत्यक्ष (भट्टानां कल्पना) १४८
त्रिपुरार्णव १७९
त्रिशंकु १३५
त्रेताग्नि १३२

द

दर्शन १०
दान २७५
दीपमहस् ३४४
दुःख (त्रय) १८३
दुर्नय ३०७,३१६-३१८
दुःषमा (पंचमकाल) २

पृ.
देवता १२२
—त्रयस्त्रिंत्रशत्कोटि १३२
देवसूरि ३१६
देवाधिदेव ७
दैवसर्ग (अष्टविध) १९३
द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यषट्पदार्थाः ६५
—द्रव्यादीनां लक्षणं ६७-६९
द्रव्यक्षेत्रकालभाव १३८
—स्वरूपेण सत्वं पररूपेण असत्वं १७७,२७८
द्रव्यषट्क (जैनानां मते) १६५,२७२
द्रव्यालंकारकारौ ९८,२५९
द्रव्यास्तिकनय (द्रव्यार्थिकनय) १६५,३१७
द्वादशांग २७४,३००
द्वादशी १७९
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका २
द्वीन्द्रिय २७६
द्वीप ९४
—सप्तद्वीपसमुद्रमात्रो लोकः ३२७
द्वैतसिद्धि १५७, १६१

ध

धर्मधर्मिसंबंध ५८-६४
धर्मसंग्रहणी ४८
धर्मास्तिकायादिषु अनन्तधर्मात्मकत्वं २६९
धर्मोत्तर १९८
धारावाहिज्ञान १५०
धूममार्ग १२१
धृति १७९,१९३
ध्वनि १७५,१८०

न

नय ३०५,३०७-२०
—अनन्ताः नयाः ३१०
—अर्थनयाः शब्दनयाः ३१०
—नैगमसंग्रहादिसप्तनयाः ३१०-३२०
—नयाभासाः (दुर्नयाः) १६५,३१६-३१९
—द्रव्यार्थिकनयाः पर्यायार्थिकनयाः ३१७
नयवाक्य (विकलादेश) २८३
नरक १२७

पृ.
नरमेध १२२
नरसिंह २५०
नवकोटि १३८
नागेन्द्रगच्छ ३४४
नास्तिक २५६
निकाचितकर्म ४२
निग्रहस्थान १०६-१०७
—द्वाविंशतिविधम् ११८
नित्यानित्यपक्षयोः दूषणानि २०-३७,२९७–३००
—प्रदीपादौ नित्यानित्यत्वसिद्धिः २१-२४
—आकाशादौ नित्यानित्यत्वसिद्धिः २४-२७
—नित्यलक्षणम् २५
—पातंजलयोगप्रशस्तकारमतानुसारेण नित्यानित्यवस्तुकल्पना २८-२९
—एकान्तनित्यानित्यपक्षयोः अर्थक्रियाकारित्वाभावः ३०-३५
—नित्यानित्यवादिनोः पूर्वपक्षौ २९८, २९९
नित्यशब्दवादिन् १७४
नित्यपरोक्षज्ञानवादिन् (मीमांसकभट्ट) १४३
नियोग १८०
निरन्वयविनाश २०५
निर्विकल्प (प्रत्यक्ष) १५७
निलयन ३११
निशीथचूर्णि ८
निःश्रेयस १०९
निस्स्वभावत्व (अनिर्वाच्यत्व) १५४
नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूताः नयाः ३१०–३२०
नैयायिक १०६,३१६
न्यायकुमुदचन्द्रोदय १८०
न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि २२८
न्यायबिन्दुसूत्र १९८
न्यायविन्दुटीका १९८
न्यायभूषणसूत्रकार ११०
न्यायवार्तिक १०७
न्यायावतार ३२०

प

पतंजलि १८६,१८८,३२९
पदार्थ ६५–७१, ७४–७७, १०८–११८
––वैशेषिकमते षट्पदार्थाः ६५–७१
––अक्षपादमते षोडशपदार्थाः १०८–११८
परब्रह्म १५७
परमपुरुष १५९
परमाणु २३,९७–८,२१२–७
परमाणुपाकजरूप ८४
परमेष्ठी (पंच) ३३९
परलोक २४२
––परलोकनिषेध २५८
परलोकिन् २४२
पर्याय २७२
पर्यायास्तिकनय (पर्यायार्थिकनय) १६५, २७२
पशुवध १२७
पातंजलटीकाकार ३०५
पारमार्ष (सांख्य) १२७
पितृ १२२,१३१,१३४
पिण्ड १३४
पिशाच २६३,२७७
पिशाचकी २६३
पुराण १२५,१७९
पुरोडाश (विप्रेभ्यः) १२६
पुरुष १८६–१८८
पुरुषाद्वैत १६१
पौरुषेय ६,१२७,१३६
––वेदस्यापौरुषेयत्वखण्डनम् १३६
पंचलिंगीकार १२६
प्रकरणसम ३९
प्रकृति १८३–१९२
प्रज्ञापना ३०९
प्रतिसंक्रम १८८
प्रतिसंवर १९३
प्रतिसंधेयप्रतिसंधायकभाव २४३
प्रथमद्वात्रिंशिका (अयोगव्यवच्छेदाभिधान) ११
प्रदीपकलिका २४९
प्रदेश ९८,२६८
––प्रदेशाष्टकनिश्चलता २६८
प्रमाण १०८–९,२२९,२३८–९,३०७,३२१
—नैयायिकमते प्रमाणलक्षणम् १०९
—जैनमते प्रमाणम् ३२१–२

पृ.
—शून्यवादिमते प्रमेयाभावे प्रमाणस्याप्यभावः २२९–३०
प्रमाणफल १९५–२०१
—बौद्धमते प्रमाणफलयोरैक्यम् २००
—नैयायिकमते प्रमाणात् प्रमाणफलं भिन्नं २०१
प्रमाणवाक्य (सकलादेश) २८३
प्रमेय ११०,२२९,२३८
—नैयायिकमते द्वादशविधं ११०
—शून्यवादिमते प्रमेयस्याभावः २२९
प्रमाता २२९,२३२–२३५
—शून्यवादिनां मते प्रमातुः (आत्मनः) निषेधः २२९
—प्रमातुः सिद्धिः २३२-२३५
प्रमाद १९१
प्रमिति २२९,२३०,२३८
प्रमोक्षभंगदोष २४१,२४३
प्रयोगविस्रसा २४,९३
प्रवाद ३३४
प्रवृत्तिविज्ञान (षड्विधं) २५२
प्रशस्तकार २९,६८
प्रस्थ ३११
प्राण ३०६
—सम्यग्ज्ञानादयो भावप्राणाः ३०६
—दशविधद्रव्यप्राणाः ३०६
प्रायश्चित्त १७८
प्रेत्य १२७
प्रैष (प्रेरणा) १८०

ब

बन्ध १८३
—त्रिविधबन्ध १९१
बंधमोक्ष (एकान्तनित्यानित्येऽसंभवः) ३०२,३०५
बाण ४२
बाह्यार्थ २११–२२
बुद्धिसुखदुःखादिगुण ७२
—बुद्धिः ज्ञानम् ८८
—सांख्यमते बुद्धिः १८२,१८५
बोधिलाभ १२६
बौद्ध १९६,२११,२४४
ब्रह्माद्वैत १५२-१५९

पृ.
ब्राह्मण ५२,१११

भ

भद्रबाहुस्वामिन् १७५
भट्ट (कुमारिल) १४३–४
भवपरंपरा २४२
भवभंगदोष २४१–२
भवाभिनन्दिन् १०८
भव्य १२६
भारती (माता) १
भावनाप्रचय (मोक्षकारणम्) २४४
भावप्राण ३०६
भावाग्निहोत्र १४०
भावाभावात्मक (सर्वभावानां) १७६
भावारोग्य १२९
भावेन्द्रिय (लब्ध्युपयोगलक्षण) १४७
भाषा (असत्यामृषा) १२९
भाषावर्गणा (शब्दपर्यायस्याश्रयः) १७३
भाष्यमहोदधि-गन्धहस्तिटीका ३२०
भासर्वज्ञ (न्यायभूषणसूत्रकार) १०९
भूतचिद्वाद २५९
भूतसर्ग (चतुर्दशधा) १९३
भोगायतन ९६

म

मद्य २७५–७
मधु १७९
मधुपर्क १२२
मध्यस्थ ३३६–७
मन्त्र ९३, १२४, १२८
मन्त्रमयदेह १३१
मल्लिषेण ३४४
महत् (बुद्धिः) १८२–५
महाज १२२, १३३
महाप्रातिहार्य ४
महाभाष्यकार २१५
महाभूत १८५
महोक्ष १२५, १३३
मातृकापद ३३५
मानुष (एकविध) १९३

पृ.
मायापुत्र–मायातनय (बुद्ध) २२२
मांस १२७,२७५–७
मांसदान १२७
मांसभक्षण २७५–७
मिथ्यादर्शन १९१,२७३
मिथ्यात्वमोहनीय ३४१
मिथ्याश्रुत २७४
मीमांसक १४३,१६५,३३५
मुक्त (मुक्तस्य पुनर्भवे आगमनं) ३२७–८
मुक्तामणि ३३६
मुक्तावलि २०४,२४९
मुक्ति ७२,८४–८९
—मोक्ष १८३, २४४, ३०२
मृगेन्द्र १३१
मोक्षाकरगुप्त २०५
मैथुन १७९,२७५–६

य

यक्ष १८३,१९३
यथार्थवाद १३,३३८
याज्ञिक १२४,१३१
युधिष्ठिर २७७
योग १९१
योगिन् २०७,२११
योगिप्रत्यक्ष २१६
योग्यता (आवरणक्षयोपशमलक्षणा) २०९
योनि १७८,२७६
—कर्मयोनि (पंच) १९३
यौग १०६,१४३,१४८,१७३,१७८,२०१

र

रज्जु (चतुर्दशरज्ज्वात्मको लोकः) १०३
रघुवंश १५३
राक्षस १८३,१९३

ल

लक्षण (अंतरंग-बाह्य) ८
लब्धि ८९,१४७
लाक्षणिक ७९
लाघवोपष्टंभगौरव १८४
लोक १०३
लोकायतिक २५६
लंघन १३९

पृ.

व

वर्धमान २,८,११,२७४
वर्ण (वर्णात्मकं शास्त्रं) ५१
वाक्यार्थ (विधि) १८०
वाचकमुख्य १५,२०,२७३,२८०,३१२
वाचस्पति १८६
वाच्यवाचकयोः एकानेकत्वं १६४,१७२
वात (रोगविशेषः) २६३
वाद (विवाद) १०७
वादमहार्णव १८६
वार्तिककार ३३२
वासना (संतान–क्षणसंतति) २२०,२४९–२५४
—भेदाभेदानुभयपक्षेषु दोषाः २५०
विकलादेश (नयवाक्य) २७३,२८३
विकल्पविज्ञान २५२
विज्ञानाकार २१८
वितण्डा १०७
विधि १८०
विधिनिषेध. २७८
विन्ध्यवासिन् १८६
विपर्यय (पंचधा) १९३
विभगज्ञानं १३५
—विभंगज्ञानिन् ३२९
विभु ३३९
—आत्मनो विभुत्वं ९२–१०३
विमलनाथस्तव ३२१
विरोधवैयधिकरण्यानवस्थासंकरव्यतिकरसंशयाप्रतिपत्तिविषयव्यवस्थाहानिरित्येते दोषाःस्याद्वादिनां मते २९०–३
विवर्त १५३
विवाह १२८
विवेकख्याति १९२
विशेष १७, ६८–९
—विशेषैकान्तवादी बौद्धः १६७, १६८, १७०
विस्रसा २४, ९३
वीर १
वीर्यान्तराय ८९, २३४
वृक्ष (वृक्षे सात्मकत्वं) २३४
वृत्ति (समवाय) ५८
वृन्दावन ८६

पृ.
वेद १२३, २७४
—वेदविहिता हिंसा १२३,१३०,१४१
वेदनीयकर्म ८९
वेदान्त ७२
—वेदान्तवादिनः सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्नाः १३०
वैक्रियकशरीर १३१
वैताण्डिक १०७
वैनाशिक (सौगत) २४१
वैयाकरण ३१६
वैशेषिक ५,३६,१०६
व्यर्थविशेष्य १४८
व्यंतर १३५
व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभाव १९९
व्यावहारिक (जीवाः) ३३१
व्यावृत्ति १७,१६६
व्यास १३०, १४०
व्रात्य १११

श

शब्द १७२–३
—एकानेकत्वम् १७२
—पौद्गलिकः शब्दः १७३
—शब्दनय ३१०
शक्तिपदार्थ १७९
शाक्य २४९
शाकाब्द ३४४
शाब्दिक ५९,१६४
शाम्बरीयप्रयोग ३४१
शिवराजर्षि ३२९
शुक्र २७६
शून्यवाद २२७,२३१
शून्यवादिन् (माध्यमिक) २२६,२२९,२३९
शोणित २७६
शंभु (शंभोरष्टगुणाः) ५५
श्रद्धा १७९,१९३
श्राद्ध १२२,१३४–५
श्रीधरभट्ट ९४
श्रुतकेवलिन् ८,३३९
श्रुति १२४,१३६

पृ.
श्रोत्रिय १२२

ष

षड्गुरु १७९
षड्ज १८५
षड्जीवकाय ३
(पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयस्त्रसाः) ३२९–३०

स

सकलादेश (प्रमाणवाक्यं) २८३
सत्ता (भाव–महासामान्य) ६६-७,७४-७६
सत्वरजस्तम १८४
सदसद् २९७,३०५
सन्निकर्ष ३२२
सप्तभंगी २७८–२८६
—अनन्तसप्तभंगी २८२
—सप्तानामेव भंगानां संभवः २८२
—सकलादेशविकलादेशस्वभावा सप्तभंगी २८३
—कालात्मरूपादीनां भेदाभेदवृत्तिः २८४–६
समन्तभद्र ३२१
समवाय (वृत्ति) ५८–६४,६९
—एको नित्यः सर्वव्यापक अमूर्तश्च ६०
—मुख्यगौणसमवायः ६२
समनन्तरज्ञान २१०
समयसागर ३३१
सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्नाः वेदान्तवादिनः १३०
सम्यग्ज्ञान (भावप्राण) ३०६
सम्यक्श्रुत २७४
समाधि १२६
समानतंत्र १०६
समानजातीयज्ञान २१०
समुद्घात (केवलि) १०३
समुद्र (सप्त) ३२७
सर्वज्ञ (आप्त) ४१,५१,२३६–७
—सर्वज्ञसिद्धि २३७
सर्पि १७९
सर्वशून्य (परंतत्त्वं) २३०
सविकल्प (प्रत्यक्ष) २५७
सहभावी २६७
सहोपलंभनियम २१९

पृ.
सामान्य १६–१९, ६६, १६७, १६९, २९७
—द्विविधं सामान्यं ६६
—सामान्यैकान्तवादः १६७
—स्वतंत्रसामान्यविशेषवादः १६९
साम्यावस्था १८४
सारस्वतमंत्र १
सावयवत्वं (आत्मनः) ९८
सिद्ध ३०६, ३३९
—सिद्धेषु जीवव्यपदेशः ३०६
सिद्धि (सिद्धयस्तित्वः) १९३
सिद्धिक्षेत्र ८५
सिद्धसेन २, ४३, ३३६
सुगत २२२
सुन्दोपसुन्द ३००
सृष्टि (रजोगुणात्मक) ५५
सौगत ३६, १६५, १७७, २०१, २४१, ३३५
सौधर्म ११
संकेत १७८
संतान ३४, ८३, २४६, २४९–५५
संयम १३८
संवर १९३
संविदद्वैत २२१
संहरण (तमोगुणात्मक) ५५
संहनन १७९
सांख्य १६५, १८३, ३१६
सांख्यतत्त्वकौमुदी १९३
सांवृत (सत्य) २३९
स्तुतिकार २२१,२६७,२९६,३२१,३४१

पृ.
स्थावर ५०, १८३
स्थिति (सात्विक) ५५
स्मार्त २७५
स्मृति १२४
स्मृतिप्रमाण २०८
स्मृतिभंगदोष २४५
स्यात् २७८
स्याद्वाद २६७, २९३, २७८–३०६
स्याद्वादमंजरी ३४४
स्याद्वादरत्नाकर ३२२
स्वर्ग १२५,१२७,२७७
स्वयंभू ९
स्वभावहेतु २०३
स्वसंवेदन १४७
स्वार्थानुमान २५६,३२२
स्वायंभुव २८
स्वाध्याय १३५

ह

हरिभद्रसूरि (भगवान्) ४८,१०७
हस्तलाघव ३४२
हितोपदेशप्रवृत्ति १५
हिंसा १२१-१४१
—वेदविहिता हिंसा धर्महेतुः १२२
–जिनायतनादिविधाने पृथिव्यादिजन्तुघातनम् १२५
—सांख्यवेदान्तवादिभिः वैदिकहिंसाविरोधः १२७, १३०
हेमचन्द्र-हेमसूरि-हेमाचार्य १,२,३४४
हेय ८७
होम १२२

स्याद्वादमंजरीकी संस्कृत और हिन्दी अनुवादकी टिप्पणीमें उपयुक्त ग्रंथ और ग्रंथकार (७)

अ		
अध्यात्मोपनिषद्	यशोविजय (३२६)	३३८
अनुयोगद्वारसूत्र		३२४
अभिधर्मकोश	वसुबन्धु	२४७
अभिधानचिन्तामणि	हेमचन्द्र	३,४,८,१८५,३४१
अमरकोष	अमर	१३२,२३७
अष्टसहस्री	विद्यानन्द (३२६)	१८०
आ		
आदिपुराण	जिनसेन	१९३
		१२२
आवश्यकटिप्पण	हरिभद्र	३११
उ		
उत्तराध्ययन		२५६
क		
कर्मग्रन्थ	देवेन्द्रसूरि	८
ग		
गीता		१२१,१३०
गोम्मटसार (कर्म.)	नेमिचन्द्र	४२
गोम्मटसार (जीव.)	,,	३३१,३३२
———	गोशाल	३३३
गौतमसूत्र	अक्षपाद	३९
छ		
छान्दोग्य उपनिषद्		१३०
त		
तर्कभाषा	केशवमिश्र	१४७
तत्त्वसंग्रह	शांतरक्षित	२४२,२४८
तत्त्वार्थभाष्य	उमास्वाति	२४,२६९,३२४,३३४
तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति	सिद्धसेनगणि	३२५
तत्त्वार्थराजवार्तिक	अकलंक	१०३,२३२,२६८,२९५,३३३
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	विद्यानन्द	३२३,३२४,३२५
तत्त्वार्थसूत्र	उमास्वाति	८९,१३५
त्रिलोकसार	नेमिचन्द्र	१०३
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित	हेमचन्द्र	२७५
द		
दशवैकालिक		१६
दशवैकालिकनिर्युक्ति	भद्रवाहु	२३५
द्रव्यसंग्रह	नेमिचन्द्र	२६८
द्रव्यसंग्रहवृत्ति	ब्रह्मदेव	२६८,२७०
द्रव्यानुयोगतर्कणा	भोजदेव	३२४
ध		
धर्मसंग्रह	हरिभद्र	४२
धर्मसंग्रहणीटीका	मलयगिरि	२७२
न		
नयचक्रसंग्रह	देवसेन (३२६)	३२५
नयप्रदीप	यशोविजय	३३८
नयोपदेश	यशोविजय	३२६
न्यायप्रदीप	पं. दरबारीलाल	११७,१२०
न्यायप्रवेश	दिङ्नाग	१९६
न्यायप्रवेशवृत्ति	हरिभद्र	१९६
न्यायप्रवेशवृत्तिपंजिका	पार्श्वदेव	१९६
न्यायविन्दु	धर्मकीर्ति	२११
न्यायविन्दुटीका	धर्मोत्तर	२११
न्यायावतार टीका	सिद्धर्षि	३२५
प		
पुरातत्त्व		२३१
प्रज्ञापनासूत्र		३०६,३३१
———	प्रभाचन्द्र	३२६
प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	वादिदेव (३२६)	२५६
प्रवचनसार	कुन्दकुन्द	५
प्रवचनसारोद्धार	नेमिचन्द्रसूरि	४
पंचाध्यायी	राजमल्ल	३२
व		
वृहदारण्यक उपनिषद्		१३०
———	पं. बेचरदास	२३१
बोधिचर्यावतार	शांतिदेव	२४१
बोधिचर्यावतारपंजिका	प्रज्ञाकरमति	२३९, २४५
ब्रह्मसूत्रभाष्य	शंकर	२७५,३३०
भ		
भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति)		३२४,३३३

म

मनुस्मृति मनु १२२,३३०

महाभारत व्यास १३०,३३०

——— महीदास ३३३

——— माणिक्यनान्दि ३२६

माध्यमिककारिका नागार्जुन २३२

मुण्डक उपनिषद् १३०,३३०,३३७

य

योगसूत्र पतंजलि १९३

र

रघुवंश कालिदास ३३७

ल

लोकप्रकाश विनयविजय (३२६) १२९, १४७

लंकावतार शाक्यमुनि २३१,२५२

व

——— वाचस्पातीमिश्र १९३

विशेषावश्यकभाष्य जिनभद्रगणि (३२६) ३२४,३२५,३२६,३३८

श

शब्दकल्पद्रुम राधाकान्तदेव २६३

ष

षड्दर्शनसमुच्चयटीका गुणरत्नसूरि २५६,३३०

स

सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्द ३३३

सन्मतितर्क सिद्धसेन (३२६) ३३३

सन्मतिटीका अभयदेवसूरि ३२४

सप्तभंगीतरंगिणी विमलदास २९२

समवायांगटीका अभयदेवसूरि ३२४

सर्वार्थसिद्धि पूज्यपाद १७४,३२५

सूत्रकृतांग ८९

स्थानांगटीका अभयदेवसूरि २३७,३२४

Response in Living and Non-living —J. C. Bose ३३४

A History of Pre-Buddhist Indian Philosophy —B. M. Barua ३३३

अयोगव्यवच्छेदिकाके श्लोकोंकी सूची (८)

श्लोक — श्लोक नं.

अ

अगम्यमध्यात्मविदामवाच्यं १
अनाद्यविद्योपनिषन्निषण्णैः २३
अनाप्तजाड्यादिविनिर्मितित्व १५
अपक्षपातेन परीक्षमाणा २२

इ

इदं श्रद्धामात्रं ३२
इमां समक्षं प्रतिपक्षसाक्षिणां २८

क

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था ३
क्षिप्येत वान्यैः सदृशीक्रियेत १२

ज

जगत्यनुध्यानबलेन शश्वत् ६
जगन्ति भिन्दन्तु सृजन्तु वा पुनः १९
जिनेन्द्र यानेव विबाधसे स्म ४

त

तद्दुःषमाकालखलायितं वा १३
तमःस्पृशामप्रतिभासभाजं ३०

द

देहाद्ययोगेन सदाशिवत्वं १७

न

न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो २९

प

परःसहस्राः शरदस्तपांसि १४
प्रागेव देवांतरसंश्रितानि १८
प्रादेशिकेभ्यः परशासनेभ्यः ८

म

मदेन मानेन मनोभवेन २५

य

यत्र तत्र समये यथा तथा ३१
यथास्थितं वस्तु दिशन्नधीश ५
यदार्जवादुक्तमयुक्तमन्यैः १६
यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमो २१

व

वपुश्च पर्यंकशयं श्लथं च २०
विमुक्तवैरव्यसनानुबंधाः २४

श

शरण्य पुण्ये तव शासनस्य ९

स

सुनिश्चितं मत्सरिणो जनस्य २७
स्तुतावशक्तिस्तव योगिनां न किं २
स्वकण्ठपीठे कठिनं कुठारं २६
स्वयं कुमार्गं लपतां नु नाम ७

ह

हितोपदेशात्सकलज्ञक्लृप्तेः ११
हिंसाद्यसत्कर्मपथोपदेशात् १०

अयोगव्यवच्छेदिकाके शब्दोंकी सूची (९)

अगम्य १
अधिदेवता १७
अध्यात्म १
अनाप्त १५
अनेकान्त २८
अपक्षपात २२
अमूढ २३
अवघोषणा २८
अवाच्य १
अविद्या २३
असर्ववित् १०

आ

आगम १०,११
आर्जव १६
आप्तत्व २९

उ

उपाधि ३२

क

किंकर २३
कुवासना २१
कुमार्ग ७
कृपालु ६
क्रोध २५

ख

खद्योत ८

ज

जगदीश ३०
जिनवर ३२
जिनेन्द्र ४,२०

त

तत्त्वालोक ३२
तप १४
तपस्विन् १९

द

दुःषमा १३
देशनाभूमि २४
द्वेष २९

न

नय २८
नवपंडित ५
निर्बंध २२
नृशंस १०

प

पक्षपात २९
पथ्य ९
परतीर्थनाथ ४
परमाप्त १५
परोक्ष १
पर्यंक २०

भ

भगवन् ३१
भवक्षय १९

म

मद २५
मनोभव २५
माध्यस्थ्य २७
मान २५
मांसदान ६
मुद्रा २०,२७
मोक्ष १४
मोह १८

य

युग १८
युगांतर १४
योग १४
योगिन् २

र

राग १८

ल

लोभ २५

व
विप्लव १६
वीतराग २६,२८
वीर २९
श
शासन ८,९,१३,२१
स
सदाशिव १७
समाधि १८
सम्यक्त्व २१
सिद्धसेन ३
सुरेश १२
सुमार्ग ७
संमद २५
ह
हितोपदेश ११
हिंसा १०

अयोगव्यवच्छेदिकाकी टिप्पणीमें उपयुक्त ग्रन्थ (१०)

अभिधानचिन्तामणि	हेमचन्द्र
अयोगव्यवच्छेदिका	सं. चरणविजयजी
आप्तमीमांसा	समंतभद्र
कल्याणमन्दिरस्तोत्र	सिद्धसेन
तत्त्वनिर्णयप्रासाद	आत्मारामजी
द्वा. द्वात्रिंशिका	सिद्धसेन
भक्तामरस्तोत्र	मानतुंग
युक्तयनुशासन	समंतभद्र
योगशास्त्र	हेमचन्द्र
लोकतत्त्वनिर्णय	हरिभद्रसूरि
स्वयंभूस्तोत्र	समंतभद्र

परिशिष्टोंके विशेष शब्दोंकी सूची (११)

अतिशय ३६२–३६३
—मूल तीन अतिशय ३६२
—चौंतीस अतिशय ,,
—श्वेताश्वतर उपनिषद् और पातंजल योगसूत्रोंमें अतिशय ३६३
—मज्झिमनिकाय आदि बौद्ध शास्त्रोंमें अतिशय ,,
आजीविक (तेरासिय) ४४५–६
—नंदवच्छ, किससंकिच और मक्खलिगोशाल—तीन मुख्य नायक ४४५
—गोशालके सिद्धांतोंका भगवती आदि जैन ग्रंथोंमें उल्लेख ,,
आधाकर्म (अधःकर्म) ३७२–३
अपुनर्बन्ध ३६५
उत्पादव्ययध्रौव्य ३६३–५
—स्वप्रत्यय और परप्रत्यय उत्पादव्यय ३६४
—षट्स्थानपतितहानिवृद्धि ,,
—प्रायोगिक और वैस्रसिक उत्पादव्यय ३६५
केवली ३५९–६१
—विविध केवली ,,
—वैदिक ग्रंथोंमें केवली ३६१
—बौद्ध ग्रंथोंमें बुद्ध, अर्हत् और बोधिसत्वकी कल्पना ,,
केवलीसमुद्घात ३६७–९
—जैन आचार्योंमें मतभेद ३६८
—उपनिषदोंकी आत्मव्यापकतासे समन्वय ,,
—पातंजल योगदर्शनकी बहुकायनिर्माण क्रियासे तुलना ३६८–९
क्रियावादी-अक्रियावादी ४४६–७
—जैन और बौद्ध शास्त्रोंमें क्रियावाद और अक्रियावाद ,,
चार्वाकमत (लोकायत–नास्तिक–अक्रियावादी) ४४३–४
—दो भेद ४४३
—चार्वाक साधु ,,
नास्तिक शंकराचार्य (टि.) ,,
—आनन्दघनजी और चार्वाकमत ४४४
—चार्वाकोंके सिद्धांत ,,
—चार्वाक साहित्य ,,
ज्ञानके भेद ३८२–३
—प्रत्यक्ष-परोक्षकी परिभाषा ३८२
—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ,,
—मतिज्ञानके ३३६ भेद ३८३
दुःषमार (पंचम काल) ३५७–९
—उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-काल ३५७
—कर्मभूमि-भोगभूमि ३५८
—चतुर्थ कालमें तरेसठशलाका पुरुष ,,
—पंचम कालमें कल्कीका जन्म ,,
—प्रलय ,,
—ब्राह्मण ग्रंथोंमें चार युग ३५८–९
—बौद्ध शास्त्रोंमें अनेक कल्प ,,
द्रव्यषट्क (छह द्रव्य) ३७३–३७८
—श्वेताम्बर विद्वानोंमें कालके संबंधमें मतभेद ३७३
—षट्दर्शनमें काल संबंधी मान्यता ३७३–४
—जैन ग्रंथोंमें कालके विषयमें चार मत (टि.) ३७४
—दिगम्बर ग्रन्थ और हेमचन्द्रका काल संबंधी सिद्धांत ३७५–६
—शंका-समाधान ३७७–७८
द्वादशांग ३७८–३८१
—बारह अंग ३७८–८०
—दिगम्बर-श्वेताम्बरोंका मतभेद ३७८
—आगमोंका समय ३८१
निगोद ३८३–४
न्यायवैशेषिक दर्शन ४०८–१९
—अक्षपाद और कणाद ४०८–९
—प्रमाणके लक्षण (टि.) ४०८
—सात पदार्थ (टि.) ४०९
—न्याय-वैशेषिकोंके समानतंत्र ४१०
—मतभेद ४११
—वैदिक साहित्यमें ईश्वरका रूप ४११–३
—दर्शनोंमें ईश्वर संबंधी मान्यता ४१३
—ईश्वरके अस्तित्वमें तीन मुख्य प्रमाण ४१३–५
—इन प्रमाणोंकी समीक्षा (टि.) ४१४–५
—ईश्वरके संबंधमें शंका-समाधान ४१५–७
—आधुनिक पाश्चिमात्य विद्वानोंका मत ४१७–८
—न्यायवैशेषिक साहित्य ४१८–९

प्रदेश ३६५–६७
—प्रदेश और अवयव ३६६
—आत्माके प्रदेश ,,
—प्रदेशोंमें संकोच-विस्तार ३६६–७
—आत्माका मध्यमपरिणाम ,,
—रामानुजके सिद्धांतके साथ तुलना ३६७
प्राण ३८१–२
—विविध अर्थ ३८१
—द्रव्यप्राण-भावप्राण ,,
—सिद्धोंके प्राण ३८१–२
बौद्धदर्शन ३८५–४०७
—बौद्धोंके सिद्धांत और आचार विचार ३८५
—मुख्य सम्प्रदाय ३८५–६
सौत्रांत्रिक आदि सम्प्रदायोंका समय (टि.) ३८६
—सौत्रांतिकोंके सिद्धांत और उनके आचार्य ३८६–८
—वैभाषिक (सर्वास्तिवादी) ३८८–९
—सौत्रांतिक और वैभाषिकोंके समान सिद्धांत ३८९–२
—शून्यवाद (मध्यमवाद–नैरात्म्यवाद) ३९२–५
—शंका-समाधान पूर्वक प्ररूपण ३९२–५
—शून्यवाद और स्याद्वाद (टि.) ३९२
—शून्यवादके मुख्य प्ररूपक आचार्य ३९५–६
—विज्ञानवाद (योगाचार) ३९६–९
—शून्यवाद और विज्ञानवाद (टि.) ३९६
—विज्ञानवादका शंका–समाधान पूर्वक प्रतिपादन ३९६–९
—नैरात्म्यवाद और आत्मवाद ३९८–९
—आत्मा और आलयविज्ञान (टि.) ३९८
—विज्ञानवादके मुख्य आचार्य ३९९
—अश्वघोषका तथतावाद ३९९
—अनात्मवाद ३९९–४०७
—आत्मवादियोंके सिद्धांत ३९९–४००
—पंचस्कंध रूप आत्मा ४००–२
—विज्ञानप्रवाह और आधुनिक मानसशास्त्र (टि.) ४०२
—भवसंतति ४०२–४
—बौद्ध साहित्यमें आत्मा संबंधी चार मान्यतायें ४०४–७
मीमांसादर्शन (पूर्वमीमांसा) ४२८–४३७
—मीमांसकोंके आचार विचार ४२८
—मीमांसक सिद्धांत ४२८–४३४
—वेदका अपौरुषेयत्व ४२९
वेद और नैयायिक आदि दर्शन (टि.) ४२९
—मीमांसक और जैन ४३४–५
—कुमारिलभट्ट और अनेकांतवाद ४३५
—मीमांसादर्शनके मुख्य प्ररूपक ४३६–७
वेदान्तदर्शन (उत्तरमीमांसा) ४३८–४४२
—वेदान्ती साधुओंका आचार विचार ४३८
—वेदान्त दर्शनकी व्यापकता ४३८
—वेदान्त दर्शनका साहित्य ४३८–४४०
—वेदान्त दर्शनकी शाखायें ४४०–४४१
—शंकरका मायावाद तथा विज्ञानवाद और शून्यवाद ४४१–२
लोक ३६९–७१
—तीनलोक ३६९–७०
—वैदिकलोक ३७०
—बौद्धलोक ३७०–१
सांख्ययोगदर्शन ४२०–७
—सांख्य, योग, जैन और बौद्ध ४२०–१
—श्रमण और ब्राह्मण संस्कृति ४२०–१
—सांख्य और योगदर्शन ४२१
—सांख्योंके आचार विचार ४२१–३
—सांख्योंका वेदोंको न मानना ४२२
—सांख्यदर्शनके मुख्य प्ररूपक ४२३–५
—योगदर्शन और उसका साहित्य ४२६
—जैन और बौद्ध दर्शनमें योग ४२६–७
हिंसा ३७१–२
—जैन शास्त्रोंमें हिंसा ,,
—संकल्पी हिंसा ३७२

परिशिष्टोंमें उपयुक्त ग्रंथोंकी सूची (१२)

अ
अनगारधर्मामृत पं. आशाधर ३७२
अनुयोगद्वारसूत्र ३८२
अभिधर्मकोश वसुबन्धु ३५९, ३६३, ४०१, ४०५, ४०६, ४०७
अभिधम्मत्थसंगहो (पाली) अनुरुद्ध ३७१
अभिधानचिन्तामणि हेमचन्द्र ४०९
अभिधानराजेन्द्रकोष राजेन्द्रसूरि ३७२, ३७३
अवयविनिराकरण पं. अशोक ३९१
आ
आस्तिकवाद (हिन्दी) पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय ४१८
उ
उत्तराध्ययन ३७३
क
कर्मग्रन्थ चौथा देवेन्द्रसूरि ३६७, ३६८
कालचक्र (हिन्दी) डा. सिद्धेश्वर शास्त्री ३७३
कूर्मपुराण ३५९
कौषीतकी उपनिषद् ३६६
ग
गरुड़पुराण ३५९
गुणस्थानक्रमारोहण राजशेखरसूरि ३६८
गोम्मटसार नेमिचन्द्र ३६४
गोम्मटसारटीका केशववर्णी ३६१, ३८४
छ
छान्दोग्य उपनिषद् ४१२
ज
जैनजगत् ४२०
जैनदर्शन (गुज.) अनु. पं. बेचरदास दोशी ४४४
जैनतर्कपरिभाषा उपाध्याय यशोविजय ३८२
जैनसिद्धांतदर्पण (हिन्दी) पं. गोपालदास बरैया ३६४
त
तत्त्वसंग्रह शांतरक्षित ३७४, ३८७, ४००, ४०३, ४२५, ४३५
तत्त्वसंग्रहपंजिका कमलशील ३८७, ३८८, ४०१, ४०६
तत्त्वयाथार्थ्यदीपन क्षेमेन्द्र ४२३
तत्त्वार्थभाष्य उमास्वाति ३६८, ३८०, ४४४
तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति सिद्धसेनगणि ३६५, ३६६
तत्त्वार्थराजवार्तिक अकलंक ३६५
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक विद्यानन्द ३६६, ३७७
तन्त्रवार्तिक कुमारिल ४२८
त्रिलोकसार नेमिचन्द्र ३५८
त्रिंशिका वसुबन्धु ३९६
त्रिंशिकाभाष्य स्थिरमति ३९७, ३९८
द
दर्शन और अनेकांतवाद पं. हंसराज शर्मा ४३५
दीघनिकाय (मराठी) अनु. प्रो. राजवाड़े ३८५, ४०५, ४४६
द्रव्यसंग्रहवृत्ति ब्रह्मदेव ३६७, ३७७, ३८२
द्रव्यानुयोगतर्कणा भोजदेव ३६५, ३७६, ३७७
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका सिद्धसेन दिवाकर ३७१, ३९२
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका उ. यशोविजय ३६३, ३६५, ३६८, ३७१, ४०१
ध
धम्मपद ४०६
न
नन्दिसूत्र ३८२
नियमसार कुन्दकुन्द ३६२
नृसिंहपुराण ३७०
न्यायकोष भीमाचार्य ४०८, ४२१, ४२३, ४४३
न्यायकंदली श्रीधरभट्ट ४०९, ४१७
न्यायकुसुमांजलि उदयन ४१५, ४१७
न्यायखंडखाद्य उ. यशोविजय ३६७
न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि उदयन ४०८
न्यायभाष्य वात्स्यायन ४०८, ४१३, ४२१
न्यायमंजरी जयन्त ३९०, ४०८, ४१७
न्यायवार्तिक उद्योतकर ४०८
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका वाचस्पतिमिश्र ३९०
न्यायसूत्रवृत्तितात्पर्यविवृत्ति पं बालकृष्ण ३६८
न्यायावतार (गुजराती) पं. सुखलालजी ३८२
प
पद्मपुराण ३७०

पुरातत्त्व (गुजराती) ३७४,४२०
पंचाध्यायी राजमल्ल ३९२
पंचास्तिकायटीका अमृतचन्द्र ३७४,३९२
प्रकरणपंचिका शालिकानाथ ४३३
प्रज्ञापनासूत्रवृत्ति मलयगिरि ३७३,३८४
प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रभाचन्द्र ३७८
प्रमेयरत्नकोष चन्द्रप्रभसूरि ३९०
प्रवचनसारोद्धार नेमिचन्द्रसूरि ३६४
प्रश्न उपनिषद् ४१२

ब

बुद्धचर्या सं. राहुलसांकृत्यायन ४०६
बुद्धचरित अश्वघोष ३६३
बृहदारण्यक उपनिषद् ४००,४१२
बोधिचर्यावतार शान्तिदेव ३६१,३९२,
३९४,४००,४०१
बोधिचर्यावतारपंजिका प्रज्ञाकरमति ३९२,३९३,
३९५,४०३,४०४

भ

भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) ३७३
भागवत ३७०,४२३

म

मज्झिमनिकाय (हिन्दी) अनु. राहुलसांकृत्यायन
३६१,३६३,४०७
मध्यमकावतार चन्द्रकीर्ति ३९४
मत्स्यपुराण ३५९
महाभारत व्यास ४२३
महायान सूत्रालंकार असंग ३९७
मार्कण्डेय पुराण ३७०
माध्यमिककारिका नागार्जुन ३७३,३९३,
३९४,३९५,४०६,४०७
माध्यमिकवृत्ति चन्द्रकीर्ति ३९२,३९४
मिलिन्दपण्ह (पाली) ४०२,४०३,४०५
मीमांसाश्लोकवार्तिक कुमारिल ४३२,४३३,४३५
मीमांसाश्लोकवार्तिकटीका पार्थसारथिमिश्र ४३१,
४३४
मुण्डक उपनिषद् ४१३

य

योगदर्शन और योगविंशिका सं. पं. सुखलालजी
४२७
युक्तिप्रबोध मेघविजयगणि ३७६,३७७
योगबिन्दु हरिभद्रसूरि ३६५
योगशास्त्र हेमचन्द्र ३६८
योगसूत्र पतंजलि ३६३,३६८
योगसूत्रभाष्य व्यास ३६१,३६८,३८४

ल

लोकप्रकाश विनयविजय ३५८,३७४
लंकावतार शाक्यमुनि ३९६,३९९

वायुपुराण ३६९
विशेषावश्यकभाष्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ३६८
विष्णुपुराण ३७०
विसुद्धिमग्ग (पाली) बुद्धघोष ३५९,४०४,४०५

श

शास्त्रदीपिका पार्थसारथिमिश्र ४३३
शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका उ. यशोविजय ३६५,३६८
श्वेताश्वतर उपनिषद् ३६३

ष

षड्दर्शनसमुच्चय राजशेखर ३८५
षड्दर्शनसमुच्चयटीका गुणरत्न ३८५,३८६,३८८,
३९०,४०९,४१०,४३५,
४३८,४४३,४४४

स

सन्मतितर्कटीका अभयदेव ३६५,३७३
समवायांगसूत्र ३६२
सर्वदर्शनसंग्रह माधवाचार्य ४०८,४२६,४२९
सवार्थसिद्धि पूज्यपाद ३६४,३७१
सागारधर्मामृत पं. आशाधर ३७२
सामान्यदूषणदिक्प्रसारिता पं. अशोक ३९१
संयुत्तनिकाय (पाली) ४०५,४०६
सांख्यकारिकाभाष्य माठर ४२२
सांख्यप्रवचनभाष्य विज्ञानभिक्षु ४४३
स्कंदपुराण ४०८

ह

हिंदतत्वज्ञाननो इतिहास (गुजराती) नर्मदाशंकर मेहता
४४१

A History of Indian Philosophy Vol. I (S. N. Das Gupta.) ३९६,४११,४४२
A History of Indian Philosophy Vol. II (,,) ४४०
A History of Indian Literature Vol. II (M. Winternitz.) ३८१
A History of Pre-Buddhist Indian Philosophy (B. M. Barua.) ३७३,४४६,७
Buddhism in Translation (Warren) ४०४
Buddhist Psychology (Mrs. Rhys Davids.) ४०४
Constructive Survey of the upaniṣadic Philosophy (Ranade.) ४१३
Encyclopedia of Ethics and Religion ४४६
Hinduism and Buddhism (Charles Eliot.) ४२१
History of Indian Philosophy Vol. II (Ranade & Belvelkar.) ४१२
Indian Philosophy Vol. II (S. Radhakrishnan.) ४१३
Jain Sutras Part II (Jacobi.) ४०९
Milinda Questions (Mrs. Rhys Davids.) ४०४
Mannual of Indian Bhuddhism (Kern.) ३५९,३६१
Pañcāstikāya Sāra (A. Chakravarti.) ३७५
Syādvāda Mañjarī (A. B. Dhruva.) ३६७,३८६,४०९,४१८,४४२
Systems of Buddhistic Thought (Yamakami Sogen.) ३८६,३८८,३८९,३९८,४०४
Some problems in Indian Literature (M. Winternitz.) ४२१
Sāṃkhya System (A. B. Keith.) ४२२
Shramaṇism (R. P. Chanda.) ४२१
The Principle of Psychology Vol. I (W. James) ४०२
The Central Conception of Buddhism (Stcherbatsky.) ३८८
The Conception of Buddhist Nirvāṇa (,,) ३९५,३९८
Yogāvacara Mannual (Mr. Rhys Davids.) ४२७

सम्पादनमें उपयुक्त ग्रंथोंकी सूची (१३)

अध्यात्मोपनिषद्	(जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
अनगारधर्मामृत	(माणिकचन्द ग्रंथमाला बम्बई)
अनुयोगद्वारसूत्र	(आगमोदयसमिति सूरत)
अभिधर्मकोश	(सं. राहुलसांकृत्यायन काशी विद्यापीठ)
अभिधम्मत्थसंगहो (पाली)	(सं. धर्मानन्द कोसंबी गुजरात पुरातत्त्वमंदिर)
अभिधानचिन्तामणि	(यशोविजय ग्रंथमाला काशी)
अभिधान राजेन्द्रकोष	(रतलाम)
अमरकोष	(निर्णयसागर प्रेस बम्बई)
अयोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका	(भावनगर, भीमासिंह माणेक मुंबई)
अवयविनिराकरण	(सं. हरप्रसादशास्त्री सिक्सबुद्धिस्ट न्यायटैक्स्ट बिब्लिओथेका इंडिका)
अष्टसहस्री	(गांधी नाथारंग जैन ग्रंथमाला बम्बई)
आप्तमीमांसा	(सनातन जैन ग्रंथमाला काशी)
आदिपुराण	(जैनेन्द्रप्रेस कोल्हापुर)
आस्तिकवाद	(अलाहबाद)
आवश्यक हरिभद्रीय	(आगमोदयसमिति सूरत)
उत्तराध्ययनसूत्र	(देवचंद लालभाई सूरत)
कर्मग्रन्थ द्वितीय	(आत्मानंद जैन प्रकाशक मण्डल आगरा)
कर्मग्रन्थ चौथा	(,,)
कल्याणमन्दिरस्तोत्र	(काव्यमाला सप्तमगुच्छक निर्णयसागर बम्बई)
कालचक्र	(शारदामंदिर देहली)
कौषीतकी उपनिषद्	(निर्णयसागर बम्बई)
गुणस्थानक्रमारोहण	(जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
गोम्मटसार जीवकांड	(रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई)
गोम्मटसार जीवकांड केशववर्णीटीका	(जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता)
गोम्मटसार कर्मकाण्ड	(रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई)
गौतमसूत्र (न्यायदर्शन)	(हरिकृष्णदास गुप्त काशी)
छान्दोग्य उपनिषद्	(निर्णयसागर बंबई)
जैनतर्कपरिभाषा	(जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)

जैनसिद्धांतदर्पण	(अनन्तकीर्ति जैन ग्रंथमाला)
जैनदर्शन (गुजराती)	(पं. बेचरदास)
तत्त्वसंग्रह-पंजिका	(गायकवाड़ ग्रंथमाला बड़ौदा)
तत्त्वयाथार्थ्यदीपन	(चौखंभा काशी)
तत्त्वार्थभाष्य	(आर्हतमत प्रभाकर पूना)
तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति	(देवचंद लालाभाई सूरत)
तत्त्वार्थराजवार्तिक	(सनातन जैन ग्रंथमाला काशी)
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	(गांधी नाथारंग जैन ग्रंथमाला)
तन्त्रवार्तिक	(काशी)
त्रिलोकसार	(माणिकचन्द ग्रंथमाला वम्बई)
त्रिंशिका	(सं. सिल्वन् लेवी पेरिस)
त्रिंशिकाभाष्य	(,,)
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित	(जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
दर्शन और अनेकांतवाद	(आत्मानन्द जैन प्रकाशक मण्डल आगरा)
दशवैकालिकसूत्र-निर्युक्ति	(देवचंद लालाभाई सूरत)
दीघनिकाय (मराठी)	(सं. राजवाड़े बड़ौदा)
द्रव्यसंग्रह-वृत्ति	(जैन पब्लिशिंग हाउस आरा)
द्रव्यानुयोगतर्कणा	(रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला वम्बई)
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका—सिद्धसेन	(जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर)
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका—यशोविजय	(,,)
धर्मसंग्रहणीवृत्ति	(देवचंद लालाभाई सूरत)
धम्मपद (पाली)	(गुजरात पुरातत्त्वमंदिर)
नन्दिसूत्रटीका	(देवचंद लालाभाई सूरत)
नयचक्रसंग्रह	(माणिकचंद जैन ग्रंथमाला वम्बई)
नयप्रदीप	(जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर)
नयोपदेश	(जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर)
नियमसार	(जैनग्रंथरत्नाकर कार्यालय वम्बई)
न्यायकुसुमांजलि	(कलकत्ता)
न्यायकोश	(संस्कृत सीरीज़ वम्बई १८९३)
न्यायकंदली	(विजयनगर ग्रंथमाला)
न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि	(चौखंभा काशी)

न्यायप्रदीप	(हिन्दीग्रंथरत्नाकर कार्यालय बम्बई)
न्यायप्रवेश-वृत्ति-पंजिका	(गायकवाड़ ग्रंथमाला बड़ौदा)
न्यायबिन्दु–टीका	(चौखंभा काशी)
न्यायभाष्य	(विद्याविलास प्रेस)
न्यायमंजरी	(विजयनगर संस्कृत सीरीज़)
न्यायवार्तिक	(विद्याविलास प्रेस काशी)
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका	(विजयनगर संस्कृत सीरीज़)
न्यायसूत्रवृत्तितात्पर्यविवृत्ति	(हरिकृष्णदास गुप्त काशी)
न्यायावतार	(हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावलि, जैनसाहित्य संशोधक कार्यालय अहमदाबाद)
पातंजलयोगसूत्र-भाष्य	(संस्कृत और प्राकृत सीरीज़ बम्बई)
पुराण	(श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई)
पंचाध्यायी	(नाथारंगजी गांधी शोलापुर)
पंचास्तिकाय-टीका	(रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई)
प्रकरणपंचिका	(चौखंभा काशी)
प्रज्ञापनासूत्र मलयगिरिवृत्ति	(देवचंद लालाभाई सूरत)
प्रमेयकमलमार्तण्ड	(निर्णयसागर बम्बई)
प्रमेयरत्नकोष	(जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर)
प्रवचनसार टीका	(रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई)
प्रवचनसारोद्धार	(देवचंद लालाभाई सूरत)
प्रश्न उपनिषद्	(निर्णयसागर बम्बई)
बुद्धचर्या	(ज्ञानमण्डल बनारस)
बुद्धचरित	(Ed. Cowell Aryan series)
बृहदारण्यक उपनिषद्	(आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज़ पूना)
बोधिचर्यवतार–पंजिका	(बिब्लिओथेका इंडिका)
ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य	(निर्णयसागर बम्बई)
भक्तामरस्तोत्र	(काव्यमाला सप्तमगुच्छक निर्णयसागर)
भगवतीसूत्र टीका	(आगमोदय समिति सूरत)
मज्झिमनिकाय	(अनु. राहुलसांकृत्यायन महाबोधिसभा बनारस)
मध्यमकावतार	(सं. पूसिन्)

मनुस्मृति	(निर्णयसागर बम्बई)
महाभारत	(,,)
महायान सूत्रालंकार	(सं. सिल्वन् लेवी पेरिस)
माध्यमिककारिका-वृत्ति	(पीटर्सबर्ग)
मिलिन्दपण्ह (पाली)	(V. Trenckner London 1880)
मीमांसाश्लोकवार्तिक टीका	(चौखंभा काशी)
मुण्डक उपनिषद्	(निर्णयसागर बम्बई)
युक्तिप्रबोध	(रतलाम)
युक्त्यनुशासन	(माणिकचंद जैन ग्रंथमाला बम्बई)
योगविन्दु	(सं. सुआली भावनगर)
योगशास्त्र	(जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर)
रघुवंश	(निर्णयसागर बम्बई)
लोकप्रकाश	(हीरालाल हंसराज जामनगर)
लोकतत्त्वनिर्णय	(आत्मानंद जैन सभा भावनगर)
लंकावतारसूत्र	(नंजिओ क्योटो १९२३)
विशेषावश्यकभाष्य	(यशोविजय ग्रंथमाला काशी)
विसुद्धिमग्ग (पाली)	(पालीटैक्स्ट सोसायटी लंडन)
शब्दकल्पद्रुम	(हरिचरणवसु कलकत्ता)
शास्त्रदीपिका	(निर्णयसागर बम्बई)
शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका	(देवचंद लालाभाई सूरत)
श्वेताश्वतर उपनिषद्	(निर्णयसागर बम्बई)
षड्दर्शनसमुच्चय–राजशेखर	(यशोविजय ग्रंथमाला काशी)
षड्दर्शनसमुच्चय–मणिरत्नटीका	(चौखंभा काशी)
षड्दर्शनसमुच्चय–गुणरत्नटीका	(आत्मानंद सभा भावनगर)
सन्मतितर्क (गुजराती)	(पूंजाभाई जैन ग्रंथमाला अहमदाबाद)
सन्मतितर्कटीका	(गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद)
सत्यार्थप्रकाश	(अजमेर सं. १८९३)
सप्तभंगीतरंगिणी	(रायचंद्र ग्रंथमाला बम्बई)
समवायांगसूत्र–टीका	(आगमोदय समिति सूरत)
सर्वदर्शनसंग्रह	(प्राच्यविद्यासंशोधन मंदिर पूना)

सर्वार्थसिद्धि (जैनेन्द्र मुद्रणालय कोल्हापुर)
सागारधर्मामृत (माणिकचंद ग्रंथमाला बम्बई)
सामान्यदूषणदिक् प्रसारिता (सं. हरप्रसाद सिक्स बुद्धिस्ट टैक्स्ट)
सूत्रकृतांगसूत्र–टीका (आगमोदय समिति सूरत)
स्थानांगसूत्र–टीका (,,)
संयुत्तंनिकाय (पाली) (पालिटैक्स्ट सोसायटी १८९८)
सांख्यकारिका माठरभाष्य (चौखंभा काशी)
सांख्यप्रवचनभाष्य (विद्याविलास प्रेस काशी)
स्याद्वादमंजरी-लिखित —रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला
हिंदतत्त्वज्ञाननो इतिहास (गुजराती) (गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी अहमदाबाद)
A History of Indian Philosophy Vol. I (Cambridge University 1922)
A History of Indian Philosophy Vol. II (,, ,, 1932)
A History of Indian Literature Vol. II (Calcutta University 1933)
A History of Pre-Buddhist Indian Philosophy (Calcutta 1921)
Buddhism In Translation (Harvard Oriental Series 1922)
Buddhist Psychology (London 1914)
Construtctive Survery of the Upaniṣdic Philosophy (Poona 1926)
Encyclopedia of Ethics and Religion
Hinduism and Buddhism (London 1921)
History of Indian Philosophy Vol. II (Poona 1927)
Indian Philosophy Vol. II (Library of Philosophy 1927)
Jain Sutras Vol. II (S. B. E. XLV)
Milinda Questions (London 1930)
Mannual of Indian Buddhism (Strassburg 1896)
Pañcāstikāyasāra (Jain Publishing House Arrah 1920)
Response in Living and Non-living (London 1902)
Shramaṇism (Indian Science Congress 1934)
Syādavāda Mañjarī (Bombay Sanskrit and Prakrit Series 1933)
Systems of Buddhistic Thought (Calcutta University 1912)
Some problems of Indian Literature (Calcutta University 1925)
Sāmkhya system (Cal. 1918)
The Principles of Psychology (London 1890)
The Central Conception of Buddhism (London 1923)
The Conception of Buddhist Nirvāṇa (Leningrad 1927)

शुद्धाशुद्धिपत्र ।

पृ. १ पं. ५ विरचिताके स्थानपर विरचित– ।

पृ. १८ पं. ११ और पृष्ठ १९ पं. २७ में सामान्यकी जगह समवाय ।

पृ. १८ पं. १२ और पृ. १९ पं. २८ में विशेषकी जगह समवाय ।

पृ. १०४ पं. ३० में छहकी जगह असंख्यात ।

पृ. २५९ पं. २३ नम्बर ३ की टिप्पणीमें जैनजगतका नाम छूट गया है ।

इसके अतिरिक्त टाइपके उड़ जाने आदिसे जो अशुद्धियाँ रह गई हों, उन्हें पाठक सुधार लें ।

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाका महत्त्वपूर्ण नया प्रकाशन

श्रीमद् राजचन्द्र

गुजरातके सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी शतावधानी कवि रायचन्द्रजीके
गुजराती ग्रन्थका हिन्दीअनुवाद
अनुवादकर्त्ता—**पं० जगदीशचन्द्र शास्त्री** एम० ए०
प्रस्तावना और संस्मरणलेखक—विश्ववन्द्य **महात्मा गाँधी**

एक हजार पृष्ठोंके बड़े साइजके बढ़ियाँ जिल्द बँधे हुए ग्रन्थकर्त्ताके पाँच चित्रों सहित ग्रन्थका मूल्य सिर्फ ६) जो कि लागतमात्र है। डांकखर्च १।-)

महात्माजीने अपनी आत्मकथामें लिखा है—

"मेरे जीवनपर मुख्यतासे कवि रायचन्द्रभाईकी छाप पड़ी है। टाल्स्टाय और रस्किनकी अपेक्षा भी रायचन्द्रभाईने मुझपर गहरा प्रभाव डाला है।"

रायचन्द्रजी एक अद्भुत महापुरुष हुए हैं। वे अपने समयके महान् तत्त्ववेत्ता और विचारक थे। जैनसम्प्रदायमें जन्म लेकर भी उन्होंने तमाम धर्मोंका गहराईसे मनन किया था और उनके सारभूत तत्त्वोंपर अपने विचार बनाये थे। उनकी स्मरणशक्ति गज़ब की थी। किसी भी ग्रन्थको एक बार पढ़कर वे हृदयस्थ कर लेते थे। शतावधानी तो वे थे ही, अर्थात् सौ बातोंमें एक साथ उपयोग लगा सकते थे।

इस ग्रन्थमें उनके मोक्षमाला, भावनाबोध, आत्मसिद्धि आदि छोटे मोटे ग्रन्थोंका संग्रह तो है ही, सबसे महत्त्वकी चीज है उनके ८७४ पत्र, जो उन्होंने समय समयपर अपने परिचित मुमुक्षुजनोंको लिखे थे और उनकी डायरी, जो वे नियमित रूपसे लिखा करते थे और महात्मा गान्धीजीका आफ्रिकासे किया हुआ पत्रव्यवहार भी, इसमें है। जिनागममें जो आत्मज्ञानकी पराकाष्ठा है उसका सुन्दर विवेचन इसमें है। अध्यात्मके विषयका तो यह खजाना ही है। उनकी रायचन्द्रजीकी कवितायें भी अर्थसहित दी हैं। मतलब यह कि रायचन्द्रजीसे संबंध रखनेवाली कोई भी चीज छूटी नहीं है।

गुजरातीमें इस ग्रन्थके अबतक सात एडीशन हो चुके हैं। हिन्दीमें यह पहली बार ही **महात्मा गाँधीजीके** आग्रहसे प्रकाशित हो रहा है। ग्रन्थारंभमें विस्तृत विषय-सूची और श्रीमद् राजचन्द्रकी जीवनी है। ग्रन्थान्तमें ग्रन्थार्गत विषयोंको स्पष्ट करनेवाले छह महत्त्वपूर्ण मौलिक परिशिष्ट हैं, जो मूल ग्रंथमें नहीं है।

प्रत्येक विचारशील और तत्त्वप्रेमीको इस ग्रन्थका स्वाध्याय करना चाहिए।

लाभकी बात

जो भाई **श्रीमद् राजचन्द्र** की दो प्रतियाँ एक साथ मँगायँगे, उन्हें **सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र** भाषाटीका ३) का ग्रंथ **भेंट** दिया जायगा। पर उन्हें दो प्रतियोंका दाम १२) और पोस्टेज रजिष्ट्री पेकिंगके ॥) ऐसे कुल १२॥) पेशगी भेजना होंगे। वी० पी० न किया जायगा। ग्रंथ रेल्वेपार्सलसे भेजे जायँगे। भाड़ा उन्हें ही देना होगा। यह रियायत दो प्रतियाँ मँगानेवालोंको है। एक प्रति मँगानेवालोंके लिए नहीं।

१ **उपदेशछाया और आत्मसिद्धि**—श्रीमद्राजचन्द्रविरचित गुजराती ग्रंथका हिन्दीअनुवाद पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम्० ए० ने किया है।

उपदेशछायामें मुख्य चर्चा आत्मार्थके संबंधमें है, अनेक स्थलोंपर तो यह चर्चा बहुत ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी है। इसमें केवलज्ञानीका स्वउपयोग, शुष्क ज्ञानियोंका अभिमान, ज्ञान किसे कहते हैं? कल्याणका मार्ग एक है, निर्धन कौन? आत्मार्थ ही सच्चा नय है, आदि गहन विषयोंका सुन्दर वर्णन है।

आत्मसिद्धिमें श्रीमद्रायचन्द्रजीकी अमर रचना है। यह ग्रंथ लोगोंका इतना पसंद आया कि इसके अंग्रेजी मराठी अनुवाद हो गये हैं। इसमें आत्मा है, वह नित्य है, वह कर्त्ता है वह भोक्ता है, मोक्षपद है, और मोक्षका उपाय है, इन छह पदोंको १४२ पद्योंमें युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है। ऊपर गुजराती कविता है, नीचे उसका विस्तृत हिन्दी-अर्थ है। इस ग्रंथका विषय बहुत ही जटिल और गहन है, किन्तु लेखन-शैलीकी सरलता तथा रोचकताके कारण साधारण पढ़े लिखे लोगोंके लिये भी बोधगम्य और उपयोगी हो गया है। प्रारंभमें ग्रन्थकर्त्ताका सुन्दर चित्र और संक्षिप्त चरित भी है। पृष्ठसंख्या १०४, मूल्य सिर्फ ॥) है।

२ **पुष्पमाला मोक्षमाला और भावनाबोध**—श्रीमद्राजचन्द्रकृत गुजराती ग्रन्थका हिन्दीअनुवाद पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए० ने किया है।

पुष्पमालामें सभी अवस्थावालोंके लिए नित्य मनन करने योग्य जपमालाकी तरह १०८ दाने (वचन) गूँथे हैं।

मोक्षमालाकी रचना रायचन्द्रजीने १६ वर्षकी उम्रमें की थी, यह पाठ्य-पुस्तक बड़ी उपयोगी सदैव मनन करने योग्य है, इसमे जैन-मार्गको यथार्थ रीतिसे समझाया है। जिनोक्त-मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं लिखा है। वीतराग-मार्गमें आबाल वृद्धकी रुचि हो, और उसका स्वरूप समझें, इसी उद्देशसे श्रीमद्ने इसकी रचना की थी। इसमें सर्वमान्य धर्म, मानवदेह, सदेव, सद्धर्म, सद्गुरुतत्त्व, उत्तम गृहस्थ, जिनेश्वरभक्ति, वास्तविक महत्ता, सत्य, सत्संग, विनयसे तत्त्वकी सिद्धि, सामायिक विचार, सुखके विषयमें विचार, बाहुबल, सुदर्शन, कपिलमुनि, अनुपम क्षमा, तत्त्वावबोध, समाजकी आवश्यकता, आदि एकसे एक बढ़कर १०८ पाठ हैं। गुजरातीकी हिन्दी अर्थ सहित अनेक सुन्दर कवितायें हैं। इस ग्रंथको स्याद्वाद-तत्त्व-बोधरूपी वृक्षका बीज ही समझिये।

भावनाबोधमें वैराग्य मुख्य विषय है, किस तरह कषाय-मल दूर हो, इसमें उसीके उपाय बताये हैं। इसमें अनित्य, अशरण, अत्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जर आदि बारह भावनाओंके स्वरूपको, भिखारीका खेद, नमिराजर्षि, भरतेश्वर, सनत्कुमार, आदिकी कथायें देकर बड़ी उत्तम रीतिसे विषयको समझाया है। प्रारंभमें श्रीमद् रायचन्द्रजीका चित्र और संक्षिप्त चरित्र भी है। भाषा बहुत ही सरल है। पृष्ठसंख्या १२०, मूल्य सिर्फ ।॥) है। ये दोनों ग्रंथ श्रीमद् राजचन्द्रमेंसे जुदा निकाले गये हैं।

परमात्मप्रकाश और योगसार [जैन रहस्यवादी और अध्यात्मवेत्ता श्री-योगीन्दुदेवकृत अपभ्रंश दोहे, उनकी संस्कृतछाया, श्रीब्रह्मदेवसूरिकृत संस्कृतटीका, स्व० पं० दौलतरामजीकृत भाषाटीका, प्रो० उपाध्यायकी ९२ पृष्ठकी अंग्रेजी भूमिका, उसका हिन्दी-सार, विभिन्न पाठभेद, अनुक्रमणिकायें, और हिन्दीअनुवादसहित ' योगसार ']

सम्पादक और संशोधक–पं. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय, एम्. ए.

अर्द्धमागधी प्रोफेसर राजाराम कालेज, कोल्हापुर।

परमात्मप्रकाश अपभ्रंश भाषा-साहित्यका सबसे प्राचीन और अमूल्य रत्न है, आधुनिक हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भाषायें इसी अपभ्रंशसे उत्पन्न हुई हैं, अतः भाषा-शास्त्रके जिज्ञासुओंके लिए यह बड़े कामकी वस्तु है। भाषा-साहित्यके नामी विद्वान् प्रो० उपाध्यायजीने अनेक प्राचीन प्रतियोंके आधारसे इसका संशोधन संपादन करके सोनेमें सुगंधकी कहावत चरितार्थ की है। पहले संस्करणसे यह संस्करण बहुत विस्तृत और शुद्ध है। इसकी भूमिका तो एक नई वस्तु है–ज्ञानकी खान है। इसमें परमात्मप्रकाशका विषय, भाषा, व्याकरण, ग्रन्थकारका चरित, समय-निर्णय और उनकी रचनाओंका परिचय, टीकाकार और उनका परिचय, बड़ी छान-बीनसे किया गया है। अंग्रेजी भूमिकाका हिन्दीसार पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है।

ग्रन्थमें योगीन्दुदेवने तत्कालीन जनसाधारणकी भाषामें बड़ी ही सरल किन्तु प्रभावोत्पादक शैलीमें परमात्माके स्वरूपका व्याख्यान किया है। इसमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्माका लक्षण, परमात्माके रूप जाननेकी रीति, शुद्धात्माका मुख्य लक्षण, शुद्धात्माके ध्यानसे संसार-भ्रमणका रुकना, परमात्मप्रकाशका फल आदि सैकड़ों ज्ञातव्य विषयोंका वर्णन है। समाधि-मार्गका अपूर्व ग्रन्थ है। इसकी हिन्दटिका भी बड़ी सरल और विस्तृत है। मामूली पढ़ा लिखा भी आसानीसे समझ सकता है। ऐसी उत्तम पद्धतिसे सम्पादित ग्रन्थ आपने अभीतक न देखा होगा। ग्रन्थराज स्वदेशी कागजपर बड़ी सुन्दरता और शुद्धतासे छपाया गया है। ऊपर कपड़ेकी सुन्दर मज़बूत जिल्द बँधी हुई हैं। पृष्ठसंख्या ५५०, मूल्य केवल ४॥) है।

योगसार–यह श्रीयोगीन्दुदेवकी अमर रचना है; इसमें मूल अपभ्रंश दोहे, संस्कृत-छाया, पाठान्तर और हिन्दीटीका है। १०८ दोहोंके छोटेसे ग्रंथमें आध्यात्मिक गूढ़वादके तत्त्वोंका बड़ा ही सुन्दर विवेचन है। यह ग्रन्थ साक्षात् मोक्षका सोपान है। इसका सम्पादन और संशोधन प्रोफेसर ए० एन्० उपाध्यायने किया है। पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम्० ए० ने सरल हिन्दीटीका लिखी है। बहुत अच्छे मोटे कागजपर सुन्दरतापूर्वक छपा है। पृष्ठसंख्या २८, मूल्य सिर्फ।) परमात्मप्रकाशके अंतमें यह ग्रन्थ है। उसीमेंसे जुदा निकाला है।

YOGĪNDU, HIS PARAMĀTMAPRAKĀŚA AND OTHER WORKS अर्थात् योगीन्दुदेव और उनकी रचनायें

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्यायका बड़ी गवेषणासे लिखा हुआ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अंग्रेजी ग्रंथ है। पृष्ठसंख्या १०८. मूल्य १) है। यह परमात्मप्रकाशके प्रारंभमें हैं, उसीमेंसे जुदा निकाला गया है।

प्रवचनसार—[श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्राकृत मूल गाथायें, श्रीअमृतचन्द्राचार्य और श्रीजयसेनाचार्यकृत संस्कृतटीकाद्वय, पांडे हेमराजजीकृत हिन्दीटीका, प्रोफेसर उपाध्यायकृत अंग्रेजी अनुवाद, १२५ पृष्ठोंकी अति विस्तृत अंग्रेजी भूमिका, विभिन्न पाठ-भेदोंकी और ग्रन्थकी अनुक्रमणिका आदि अलंकारों सहित संपादित।]

सम्पादक—**पं० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय** एम० ए०, प्रोफेसर राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर

यह अध्यात्मशास्त्रके प्रधान आचार्यप्रवर श्रीकुन्दकुन्दका ग्रन्थ है, केवल इतना ही आत्मज्ञानके इच्छुक मुमुक्षु पाठकोंको आकर्षित करनेके लिए काफी है। यह जैनागमका सार है। इसमें ज्ञानाधिकार, ज्ञेयतत्त्वाधिकार, और चारित्राधिकार ऐसे तीन बड़े बड़े अधिकार हैं। इसमें ज्ञानको प्रधान करके शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका कथन है, अर्थात् और सब विषयोंको गौण करके प्रधानतः आत्माका ही विशेष वर्णन है। इस ग्रन्थका एक संस्करण पहले निकल चुका है। इस नये संस्करणको प्रोफेसर उपाध्यायजीने बहुतसी पुरानी सामग्रीके आधारसे संशोधित किया है, और उसमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका जीवनचरित, समय, उनकी अन्य रचनाओं, टीकाओं, भाषा, दार्शनिकता आदिपर गहरा विवेचन किया है। इसकी अंग्रेजी भूमिका भाषा-शास्त्र और दर्शनशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिए तो ज्ञानकी खान है, और धैर्ययुक्त परिश्रम और गहरी खोजका एक नमूना है। इस भूमिकापर **बम्बई विश्वविद्यालयने २५०) पुरस्कार दिया है,** और इसे अपने बी० ए० के पाठ्यक्रममें रखा है। इस ग्रन्थकी छपाई स्वदेशी कागजपर निर्णयसागर प्रेसमें बहुत ही सुन्दर हुई है। पृष्ठसंख्या ६००, ऊपर कपड़ेकी मज़बूत और सुन्दर जिल्द बँधी है। मूल्य सिर्फ ५) है।

स्याद्वादमञ्जरी—कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यकृत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाकी श्रीमल्लिषेणसूरिकृत विस्तृत संस्कृतटीका स्याद्वादमञ्जरीके नामसे प्रसिद्ध है। इसी टीकाका पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री, एम० ए० कृत सरल और विस्तृत हिन्दीअनुवाद है। मल्लिषेणसूरिने इस ग्रन्थमें न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, बौद्ध, और चार्वाक नामके छह दर्शनोंके मुख्य मुख्य सिद्धान्तोंका अत्यन्त सरल, स्पष्ट और मार्मिक भाषामें प्रतिपादनपूर्वक खण्डन करके सम्पूर्ण दर्शनोंका समन्वय करनेवाले स्याद्वाद-दर्शनका प्रौढ युक्तियोंद्वारा मण्डन किया है। दर्शनशास्त्रके अन्य ग्रंथोंकी अपेक्षा इस ग्रंथकी यह एक असाधारण विशेषता है कि इसमें दर्शनशास्त्रके कठिनसे कठिन विषयोंका भी अत्यन्त सरल, मनोरंजक और प्रसाद गुणसे युक्त भाषामें प्रतिपादन किया है। इस ग्रंथके संपादन और अनुवादकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है। अनुवादक महोदयने स्याद्वादमंजरीमें

आये हुए विषयोंका वर्गीकरण करनेके साथ कठिन विषयोंको, वादी प्रतिवादीके रूपमें शंका समाधान उपस्थित करके, प्रत्येक श्लोकके अन्तमें उसका भावार्थ देकर समझाया है, और इस तरह ग्रंथको संस्कृत और हिन्दीकी अनेक टीका-टिप्पणियोंसे समलंकृत बनाया है। सम्पादक महोदयने जैन, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा, वेदान्त, चार्वाक और विविध परिशिष्ट नामके आठ परिशिष्टोंद्वारा इस ग्रंथको और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। इन परिशिष्टोंमें छह दर्शनोंके मूल सिद्धातोंका नये दृष्टिकोणसे विवेचन किया गया है, और साथ ही इनमें दर्शनशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिये पर्याप्त सामग्री उपस्थित की गई है। इस ग्रंथके आरंभमें ग्रंथ और ग्रंथकारका परिचय देते हुए, ‘ स्याद्वादका जैनदर्शनमें स्थान ’ यह शीर्षक देकर, स्याद्वादका तुलनात्मक दृष्टिसे विवेचन किया गया है। स्याद्वादमंजरीके अतिरिक्त इस संस्करणमें हेमचन्द्राचार्यकी अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका भी हिन्दीअनुवाद सहित दी गई है। इस ग्रंथके प्राक्कथन-लेखक हिन्दूविश्वविद्यालयके दर्शनाध्यापक श्रीमान् पं० भिक्खनलालजी आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट हैं। अन्तमें आठ परिशिष्ट, तथा तेरह अनुक्रमणिकायें हैं।

यह ग्रंथ हिन्दूयूनिवर्सिटी काशीके एम० ए० के कोर्समें, और कलकत्ता यूनिवर्सिटीके न्यायमध्यमाके कोर्समें नियत है। कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। पृष्ठसंख्या ५३६ है, मूल्य भी सिर्फ ४॥) है।

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र—अर्थात् अर्हत्प्रवचनसंग्रह-मोक्षशास्त्र–तत्त्वार्थसूत्रका संस्कृतभाष्य और उसकी प्रामाणिक भाषाटीका।

श्रीउमास्वातिकृत मूल सूत्र स्वोपज्ञभाष्य, (संस्कृतटीका) और विद्यावारिधि पं० **खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत भाषाटीका** सहित। जैनियोंका यह परमाननीय ग्रन्थ है, इसमें जैनधर्मके सम्पूर्ण सिद्धान्त आचार्यवर्यने बड़े लाघवसे संग्रह किये हैं। सिद्धान्तरूपी सागरको मथके गागर (घड़े) में भर देनेका कार्य अपूर्व कुशलतासे किया है। ऐसा कोई तत्त्व नहीं, जिसका निरूपण इसमें न हो। इस ग्रन्थको जैनसाहित्यका जीवात्मा कहना चाहिए। गहनसे गहन विषयका प्रतिपादन स्पष्टतासे इसके सूत्रोंमें स्वामीजीने किया है। इस ग्रंथपर अनेक आचार्योंने अनेक भाष्य—संस्कृतटीकायें रची हैं। प्रचलित हिन्दीमें कोई विशद और सरल टीका नहीं थी, जिसमें तत्त्वोंका वर्णन स्पष्टताके साथ आधुनिक शैलीसे हो। इसी कमीकी पूर्तिके लिये यह टीका छपाई गई हैं। विद्यार्थियोंको, विद्वानोंको, और मुमुक्षुओंको इसका अध्ययन, पठन-पाठन, स्वाध्याय करके लाभ उठाना चाहिए। यह ग्रन्थ कलकत्ता यूनिवर्सिटीके न्यायमध्यमाके कोर्समें है। ग्रन्थारंभमें विस्तृत **विषयसूची है,** जिसे ग्रंथका सार ही समझिये। इसमें **दिगम्बर श्वेताम्बर सूत्रोंका भेदप्रदर्शक कोष्टक** और **वर्णानुसारी सूत्रोंकी सूची** भी है, जिससे बड़ी सरलता और सुभीतेसे पता लग जाता है कि कौन विषय और सूत्र कौनसे पृष्ठमें है। ग्रंथराज स्वदेशी कागजपर बड़ी शुद्धता और सुन्दरता पूर्वक छपा है। ऊपर कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। इतनी सब विशेषतायें होते हुए भी बड़े आकारके ४७६+२४=५०० पृष्ठोंके ग्रंथका मूल्य लागतमात्र

सिर्फ **तीन रुपया है,** जो ग्रंथको देखते हुए कुछ नहीं है। मूल्य इसी लिये कम रखा है, जिससे सर्वसाधारण सुभीतेसे खरीद सकें।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—श्रीअमृतचन्द्रस्वामीविरचित मूल श्लोक और पं० नाथूरामजी प्रेमीकृत सान्वय सरल भाषाटीका सहित। इसमें आचारसम्बन्धी बड़े बड़े गूढ़ रहस्योंका वर्णन है। अहिंसा तत्त्व और उसका स्वरूप जितनी स्पष्टता और सुन्दरतासे इस ग्रंथमें वर्णित हैं, उतना और कहीं नहीं है। तीन बार छपकर विक चुका है, इस कारण चौथी बार छपाया गया है। न्योछावर सजिल्दकी १।)

पञ्चास्तिकाय—श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल गाथायें, तथा श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वदीपिका, श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति ये दो संस्कृत टीकायें, और पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत अन्वय अर्थ भावार्थ सहित भाषाटीका। इसकी भाषाटीका स्वर्गीय पांडे हेमराजजीकी भाषा-टीकाके अनुसार नवीन सरल भाषामें परिवर्तित की गई है। इसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँचों द्रव्योंका उत्तम रीतिसे वर्णन है। तथा काल द्रव्यका भी संक्षेपमें वर्णन किया गया है। बम्बईयूनिवर्सिटीके बी० ए० के कोर्समें है। दूसरी बार छपी है। मूल्य सज्जिदका २)

ज्ञानार्णव—श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत मूल श्लोक और स्व० पं० जयचन्दजीकी पुरानी भाषावचनिकाके आधारसे पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत हिन्दी भाषाटीका सहित। योगशास्त्र संबंधीं यह अपूर्व ग्रंथ है। इसमें ध्यानका वर्णन बहुत ही उत्तमतासे किया है, प्रकरणवश ब्रह्मचर्यव्रतका वर्णन भी विस्तृत है। तीसरी बार छपा है। प्रारंभमें ग्रंथकर्त्ताका शिक्षाप्रद ऐतिहासिक जीवनचरित है। उपदेशप्रद बड़ा सुन्दर ग्रंथ है। मूल्य सजिल्दका ४)

सप्तभंगीतरंगिणी—श्रीमद्विमलदासकृत मूल और पं० ठाकुरप्रसादजी शर्माकृत भाषाटीका। यह न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें ग्रंथकर्त्ताने स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, आदि सप्तभंगीनयका विवेचन नव्यन्यायकी रीतिसे किया है। स्याद्वाद क्या है, यह जाननेके लिये यह ग्रंथ अवश्य पढ़ना चाहिये। दूसरी बार सुन्दरतापूर्वक छपी है। न्यो० १)

बृहद्द्रव्यसंग्रह—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, श्रीब्रह्मदेवसूरिकृत संस्कृतटीका और पं० जवाहरलालजी शास्त्रीकृत भाषाटीका सहित। इसमें जीव, अजीव, आदि छह द्रव्योंका स्वरूप अति स्पष्ट रीतिसे दिखाया है। दूसरी बार छपी है। कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बँधी है। मूल्य २।)

गोम्मटसार कर्मकाण्ड—श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथायें और पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया तथा भाषाटीका सहित। इसमें जैनतत्त्वोंका स्वरूप कहते हुए जीव तथा कर्मका स्वरूप इतने विस्तारसे किया गया हैं, जिसकी वचनद्वारा प्रशंसा नहीं हो सकती है। देखनेसे ही मालूम हो सकता है। जो कुछ संसारका झगड़ा है, वह इन्हीं दोनों (जीव कर्म) के सबन्धसे है, इन दोनोंका स्वरूप दिखानेके लिये यह ग्रंथ-रत्न अपूर्व सूर्यके समान है। दूसरी बार पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीद्वारा संशोधित हो करके छपा है। मूल्य सजिल्दका २॥)

गोम्मटसार जीवकाण्ड—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें और पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत संस्कृतछाया तथा बालबोधिनी भाषाटीका सहित । इसमें गुणस्थानोंका वर्णन, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा, उपयोग, अन्तर्भाव, आलाप आदि अनेक अधिकार हैं । सूक्ष्म तत्त्वोंका विवेचन करनेवाला यह अपूर्व ग्रंथ है । दूसरी बार संशोधित होकर छपा है । मूल्य साजिल्दका २॥)

लब्धिसार—(क्षपणासार गर्भित) श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दी भाषाटीका सहित। यह ग्रंथ गोम्मटसारका परिशिष्ट है । इसमें मोक्षके मूलकारण सम्यक्त्वके प्राप्त होनेमें सहायक क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण इन पाँच लब्धियोंका वर्णन है। मूल्य सजिल्दका १॥)

द्रव्यानुयोगतर्कणा और समयसार—ये दो ग्रंथ अप्राप्य हैं । समयसार तो पुनः सुसम्पादित होके छपेगा ।

गुजराती ग्रंथ

श्रीमद्‌राजचन्द्र--आं पुस्तकमां श्रीमद्राजचन्द्रनी हयातीमां तेओश्रीने जुदे जुदे प्रसंगे मुमुक्षुभाईओ, सज्जनों अने मुनिश्रीओ वगैरे तरफथी भिन्न भिन्न विषयों प्रत्ये पुछेला सवालोना जवाबना पत्रोना संग्रह, तथा बाल्यावस्थामां रचेला **भावनाबोध,मोक्षमाला,आत्मसिद्धि** ग्रंथोंनो संग्रह छे, श्रीमद्नी सोळा वर्ष पहेलानी वयथी देहोत्सर्ग पर्यन्तना विचारोना आ भव्य ग्रंथमां संग्रह छे, जैनतत्त्वज्ञानको महान ग्रंथ छे, जैनतत्त्वज्ञाननो उंडो अभ्यास समजवा माटे आ ग्रंथ खास उपयोगी छे, बीजी आवृत्ति संशोधनपूर्वक बहार पाडी छे. अने तेनी अंदर श्रीमद्ना अप्रगट लखाणे पण दाखल करवामां आव्या छे. ग्रंथारंभमां **महात्मा गांधी**जीए लखेली महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना छे । आ पुस्तक सारामां सारा कागळ ऊपर सुप्रसिद्ध **निर्णयसागर प्रेस**नी अन्दर खास तैयार करावेला **देवनागरी**मां छपाव्युं छे. सुन्दर बाईंडिंगथी सुशोभित छे. दरेक ग्रन्थभण्डार, लाईब्रेरीमां राखवा योग्य छे, तेमज साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाओने खास वाँचवा लायक अने मनन करवा योग्य आ महान ग्रन्थ छे, रॉयल चार पेजी साइजना ८२५ पृष्ठवाला दळदार ग्रन्थना मूल्य फक्त ५ पाँच रुपया, लागतमात्र थी अर्धा राखेला छे। ५ चित्र छे।

भावनाबोध—आ ग्रंथना कर्त्ता उक्त महापुरुष छे, वैराग्य ए आ ग्रंथनो मुख्य विषय छे, पात्रता पामवानुं अने कषायमल दूर करवानुं आ ग्रंथमां उत्तम साधन छे, आत्मगवेषीओने आ ग्रंथ आनंदोल्लास आपनार छे, आ ग्रंथनी पण आ त्रीजी आवृत्ति छे, आ बन्ने ग्रंथों खास करीने प्रभावना करवा सारू अने पाठशाला, ज्ञानशाला, तेमज स्कूलोमां विद्यार्थियोने विद्याभ्यास अने प्रभावना करवामाटे अति उत्तम ग्रन्थ छे, अने तेथी सर्व कोई लाभ लई सके, ते माटे गुजराती भाषामां अने बालबोध टाईपमां छपावेलुं छे । मूल्य सजिल्दनुं फक्त चार आना ।

रिपोर्ट—प. प्र. मं. नी. सं. १९७३ थी. सं. १९९० सुधीनो रिपोर्ट अने महात्मा गांधीने लखेली श्रीमद् राजचन्द्र ग्रंथनी गुजराती और हिन्दी प्रस्तावना मफत मळशे जे भाईओने जोइये, ते मंगावी लेशो ।

निवेदन

स्वर्गवासी तत्त्वज्ञानी शतावधानी कविवर **श्रीरायचन्द्र**जीने श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, श्रीउमास्वाति (मी) मुनीश्वर, श्रीसमन्तभद्राचार्य, श्रीनेमिचन्द्राचार्य, श्रीअकलङ्कस्वामी, श्रीशुभचन्द्राचार्य, श्रीअमृतचन्द्रसूरि, श्रीहरिभद्रसूरि, श्रीहेमचन्द्राचार्य, श्रीयशोविजय आदि महान् आचार्योंके रचे हुए अतिशय उपयोगी और अलभ्य जैनतत्त्व-ग्रन्थोंका सर्वसाधारणमें सुलभ मूल्यमें प्रचार करनेके लिये **श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल**की स्थापना की थी, जिसके द्वारा उक्त कविराजके स्मरणार्थ **श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला** ३० वर्षोंसे निकल रही है। इस ग्रंथमालामें ऐसे अनेक प्राचीन जैन-ग्रंथ राष्ट्रभाषा हिन्दी टीकासहित प्रकट हुये हैं, जो तत्त्वज्ञानाभिलाषी भव्यजीवोंको आनंदित कर रहे हैं।

उभय पक्षके महात्माओंद्वारा प्रणीत सर्वसाधारणोपयोगी उत्तमोत्तम ग्रन्थोंके अभिप्राय विज्ञ पाठकोंको विदित हों, इसके लिये इस शास्त्रमालाकी योजना की गई है। इसीलिये आत्मकल्याणके इच्छुक भव्य जीवोंसे निवेदन है कि इस पवित्र शास्त्रमालाके ग्रन्थोंके ग्राहक बनकर वे अपनी चल लक्ष्मीको अचल करें, और तत्त्वज्ञानपूर्ण **जैनसिद्धान्त-ग्रन्थोंके** पठन-पाठन द्वारा प्रचार कर हमारी इस परमार्थ-योजनाके परिश्रमको सफल करें। प्रत्येक मन्दिर, सरस्वतीभण्डार, सभा और पाठशालाओंमें इनका संग्रह अवश्य करें। जैनधर्म और जैनतत्त्वज्ञानके प्रसारसे बढ़कर दूसरा और कोई पुण्यकार्य प्रभावनाका नहीं हो सकता, इसलिए अधिकसे अधिक द्रव्यसे सहायता कर पाठक भी इस महत्कार्यमें हमारा हाथ बटावें। पाठकगण जितने अधिक ग्रन्थ खरीदकर हमारी सहायता करेंगे, उतने ही अधिक ग्रन्थ प्रकाशित होंगे।

इस शास्त्रमालाकी प्रशंसा मुनियों, विद्वानों तथा पत्रसंपादकोंने तथा पाश्चात्य विदेशी विद्वानोंने मुक्तकंठसे की है। यह संस्था किसी स्वार्थ-साधन लिये नहीं है, केवल परोपकारके वास्ते है। जो द्रव्य आता है, वह इसी शास्त्रमालामें उत्तमोत्तम ग्रन्थोंके उद्धारके काममें लगा दिया जाता है। हमारे सभी ग्रन्थ बड़ी शुद्धता और सुन्दरतापूर्वक अपने विषयके विद्वानोंद्वारा हिन्दी टीका करवाके अच्छे कागज़पर छपाये गये हैं। मूल्य भी अपेक्षाकृत कम अर्थात् लागतके लगभग रखा जाता है। उत्तमताका यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि कई ग्रन्थोंके तीन तीन चार चार संस्करण हो गये हैं। भविष्यमें श्रीउमास्वामी, श्रीभट्टाकलंकदेव, स्वामी समन्तभद्र, श्रीसिद्धसेनदिवाकरके ग्रंथ निकलेंगे। कई ग्रंथोंका उत्तमतापूर्वक सम्पादन हो रहा है।

नोट—रायचन्दजैनशास्त्रमालाके ग्रन्थ इकट्ठे मँगानेवालोंको और प्रचार करनेवालोंको बहुत किफायतसे भेजे जाते हैं। इसके लिए वे हमसे पत्रव्यवहार करें।

सहायता भेजने और ग्रंथोंके मिलनेका पता—

निवेदक—ऑ० व्यवस्थापक—

श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल (श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला)

खाराकुवा, जौहरीबाजार, बम्बई नं० २

न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस, ६ केळेवाडी, गिरगांव, मुंबई नं. ४.